

BIBLIOTHECA IND
A
COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY

THE ASIATIC SOCIETY OF BENGAL

NEW SERIES, Nos. 44, 85, 95, 101, 115, 142, 154, 174, & 203

The Aphorisms of the Mīmāṃsā

BY JAIMINI,

WITH

THE COMMENTARY OF ŚAVARA-SVĀMIN,

EDITED BY

PANDITA MAHESĀCHANDRA NYĀYARATNA,

PROFESSOR OF HINDI LAW AND LITERATURE, BANSHIJI COLLEGE, CALCUTTA

VOL. I.

ADHĪYASI-VI.

CALCUTTA:

PRINTED AT THE GANGES PRESS

1873.

मीमांसा-दर्शनम् ।

जैमिनि-मणीतम्

श्रीशवरस्वामिकृतेन भाष्येन सहितम् ।

षड्भूदेशीयाभियाटीकसमाजानुमतिभाष्यारण्यभ्याम्

न्यायलिख

कश्चिन्मा १९२२तद्विद्वत्पदभूतारण्यभाष्यपदेन

श्रीमद्देशचन्द्र-न्यायसूत्रेण

वर्तितोऽस्ति ।

मदमातृ षष्ठाध्याय-पर्यन्तम्

(पृष्ठः षट्कः) ।

कश्चिन्मा

१९२२ तद्विद्वत्पदभूतारण्यभाष्यपदेन

६४५५ १९११

PREFACE

The present edition of the *Mīmāṃsā Darśana* was undertaken so long ago as the year 1863. The extraordinary delay in bringing it out, and that in part only, has resulted from various causes, which it is needless here to detail. There has been an irregularity also in publishing nearly three *Adhyāyas* of the second part (*Uttara Shatka*) before the completion of the first part (*Purvā Shatka*). This has been owing to the troublesome character of the work of preparing an Index to the first Part, and a desire not to stop the publication until it was ready, the bulk of Indian readers being perfectly indifferent about indexes.

The MSS collated in the preparation of this edition are the following —

- 1 MS in the Library of the Asiatic Society of Bengal
 - 2 " " " Sanskrit College of Calcutta
 - 3 " " " Sanskrit College of Benares
 4. " procured by the editor from a Tailangi Panit at Benares.
- The last has been referred to in the notes as गि. ग. and also as का. की.

From the Calcutta and Benares College Libraries the editor also obtained MSS of some of the *Adhyāyas*, but they were not of any value. The MSS from the Colleges are recent and inaccurate. The other two MSS mentioned above are old and very correct.

The *Mīmāṃsā Bhāṣya* is written in an archaic form of the Sanskrit language. It is not easy of comprehension, besides, owing to the manner in which its arguments and their solutions are introduced. It is difficult to find out where an objection to an argument begins, and where the argument is which is intended to meet the objection. There are other difficulties also of a similar character. To overcome them to some extent the editor has

particular care about the punctuation, and has marked the objections raised by means of inverted commas. For facilitating comprehension, he has, also separated, in several cases, words originally united together by *Sandhi*. Thus *विद्वन्नेन चतुर्थं वक्ष्यते* has been broken up into *विद्वन्नेन चतुर्थं वक्ष्यते*. 'In this part of the editor's work there must doubtless be several faults—of omission at any rate. The difficulty of the task can, however, be appreciated by only those who would take the trouble of comparing the printed copy with a MS.

There are grave discrepancies between the readings of the several MSS. in regard to passages quoted from the *Vedas*. The editor has not been able to compare all such passages with the original texts, and he fears, therefore, there must be several errors in them.

It struck the editor only after the first *Páda* of the first *Adhyaya* had gone through the press that there would be an advantage in putting the different *Adhikaranas* under different headings. From the second *Páda* onward, this plan has been uniformly followed. The *Adhikaranamálá* of *Madhaváchárya* has been of great help to him in this part of his undertaking.

The *Mimāṃsā-Darsana*, though styled a *Darsana*, has in fact very little of a *Darsana* or philosophical system in it. It may very properly be styled a commentary on the *Vedas*, for it almost wholly occupies itself with expounding and commenting on texts quoted from the *Vedas*. But, though dealing so largely with the sacred scriptures of the Hindus and thus commanding a large share of their respect, oddly enough, it prebonds a godless system of religion. The main drift of its arguments is to show that if bliss be the fruit of good works, the interposition of a Deity is simply superfluous.

A brief summary of the doctrines of the *Mimāṃsā-Darsana* will be annexed to the concluding fasciculus of the second part.

सङ्केत सूचनम् ।



| | | |
|-------------|-----|-----------------------------|
| सङ्केतः | ... | अर्थः |
| अ० | ... | अधिकरणम् । |
| अ० पा० अ० | ... | अध्याये पादे अधिकरणम् । |
| अ० पा० अधि० | ... | ” ” ” |
| आ० | ... | आशङ्का वा आपत्तिः । |
| आ० नि० | ... | आशङ्कायाः आपत्तेर्वा निरासः |
| आभा० | ... | आभासः । |
| आश० | ... | आशङ्का । |
| आ० सो० | ... | आसियाटिक् सोसाइटी |
| उ० | ... | उत्तरम् |
| उप० | ... | उपसहारः । |
| उ० यु० | ... | उत्तरे युक्तिः । |
| क० स० | ... | कालिकाता संस्कृतकलेज् । |
| का० श्री० | .. | काश्यां क्रीतम् । |
| का० स० | ... | काशीसंस्कृतकलेज् |
| द्वि० | ... | द्वितीयम् । |
| द्वि० पू० | ... | द्वितीयः पूर्वपद्यः । |
| नि० | ... | निराकरणम् । |
| पा० | ... | पादः । |
| पु० | | पुस्तकम् । |
| पु० पा० | ... | पुस्तकस्य पाठः । |

| | | |
|------------------|-----|------------------------------|
| पूर्व० | ... | पूर्वपक्षः । |
| पूर्व० व्या० नि० | ... | पूर्वपक्षे व्याशङ्कानिरासः । |
| पूर्व० नि० | ... | पूर्वपक्षनिरासः । |
| पूर्व० पूर्व० | ... | पूर्वपक्षे पूर्वपक्षः ॥ |
| पूर्व० दु० | ... | पूर्वपक्षे युक्तिः । |
| प्र० | ... | प्रथमम् । |
| प्र० पूर्व० | ... | प्रथम पूर्वपक्षः । |
| प्रा० पूर्व० | ... | प्राचीनपुस्तकम् । |
| भा० | ... | भाष्यम् । |
| व्या० | ... | व्याख्या । |
| सि० | ... | सिद्धान्तः । |
| सि० व्या० | ... | सिद्धान्ते व्याख्या । |
| सि० व्या० नि० | ... | सिद्धान्ते व्याशङ्कानिरासः । |
| सि० दु० | ... | सिद्धान्ते युक्तिः । |
| सि० हे० | ... | सिद्धान्ते हेतुः । |
| सू० | ... | सूत्रम् । |
| हे | ... | हेतुः । |

मीमांसादर्शनस्य पूर्वपट्कस्याधिकरण-सूचीपत्रम् ॥



अधिकरणम् ।

| | प्रश्ना । | पङ्क्ति । |
|---|-----------|-----------|
| अद्यदाभ्ययोरपि सादनादिधर्मवत्त्वस्य | ४०६ | ११ |
| अग्निषयनस्य सकारताया | १८६ | १ |
| अग्निचिद्वर्षणादिप्रतीतिनां ज्ञानानुष्ठानस्य | ४०७ | १२ |
| अग्निविहरणादिप्रकाशकमन्त्राणां तत्रैव विनियोगस्य | १४१ | २ |
| अग्निहोत्रादिवज्जीवकर्षणस्य सकाजिमात्रकर्मव्यवस्थाया | ६४८ | १ |
| अग्निहोत्रादिभूतानां यागनामधेयताया | ८६ | ७ |
| अग्निहोत्रादीनां सकाशादहव्या व्याहृते | ६४६ | ११ |
| अग्निहोत्रोपस्थाने प्राज्ञतानां मन्त्राणां विनियोगस्य | १४८ | ६ |
| अग्निहोत्रीयपशौ प्रधानानुयाजयोः पावभेदस्य | ४६९ | १२ |
| अग्ने प्रकृतिविलितिसर्वार्थताया | ४०६ | ६ |
| अह्नस्तस्य मुख्यक्रमानुसारिताया | ४४५ | १५ |
| अह्नैकस्य काम्यस्य निष्कलत्वस्य | ६४६ | ६ |
| अह्नामन्यद्वाराऽनुष्ठानस्य | १८५ | १८ |
| अह्नापूर्वभेदस्य | १०७ | ९ |
| अह्नेषु मुख्यमन्त्रोपेक्षया पाठस्तस्य बलवत्त्वस्य | ४४६ | ५ |
| अधिकविश्राब्दैकत्वस्य यागनामधिकारस्य | ६९८ | ८ |
| अह्नादे परिवाणानामुपसमयस्य | ४६० | ४ |
| अद्याभ्यादीनां प्रवृत्तताया | १८८ | १ |
| अनादिताग्निरूपमयनहोत्रस्य | ७६५ | ११ |
| अनादिताग्नौरेव चतुर्होत्रहोत्राधिकारस्य | ७६९ | १ |
| अनादितेऽग्रावयकोर्णिपश्चनुष्ठानस्य | ७६६ | १० |
| अनादितेऽग्नौ स्थपनीयता | ७६८ | १ |
| अनिवर्तेऽप्यभ्युदयता | ७०६ | |
| अनिवर्तेऽभ्युदये वैकृतीभ्यो निर्वापस्य | ७०७ | |
| अनुयाजादीनामाग्निमात्रमोर्द्धकास्तथा | ५ | |

अधिकरणम् ।

| अधिकरणम् । | पृष्ठा । | पङ्क्ति । |
|---|----------|-----------|
| आग्नेयादिक म्येष्ट्या | १८१ | ८ |
| आग्नेयादिशब्दानां ब्राह्मणादिस्मृत्यर्थताया | १०२ | १३ |
| आग्नेयादीनामनामताया | ८२ | ८ |
| आग्नेयाष्टाकपालचरोद्धवदानभावस्य संतव्यताया | २३६ | १ |
| आधारादीनामङ्गताया | ५२० | १ |
| आधाराद्यपूर्वताया | १४६ | १० |
| आधाराद्याग्नेयादीनामङ्गाङ्गभावस्य | १४० | ० |
| आव्यस्य सोमादनुत्कर्षस्य | ५८२ | १८ |
| आधानस्य पवसानेष्टनङ्गताया | २०० | १८ |
| आधानस्य विधेयत्वस्य | १०४ | १४ |
| आधानस्य मर्त्यार्थताया | २०१ | १४ |
| आधाने गानस्योपाश्रुताया | २८० | १६ |
| आधानेऽपरिमितं देयमित्यनेन सङ्ग्रहान्तरविधानस्य | ०५१ | ४ |
| आध्वर्यवादिषु अध्वर्यादीनां कर्तृतानियमस्य | ४०६ | ४ |
| आनुपूर्वेषोपच्छेदे उत्तरापच्छेदनिमित्तप्रापयित्तानुष्ठानस्य | ०२३ | ३ |
| आसनसोमानां माह पचायणङ्गताया | ५१८ | १ |
| आद्युर्दादिमन्त्राणां याजमानताया | ४१८ | १ |
| आरब्धकाम्यकर्म्मणोऽपि समाप्तिनिश्चयस्य | ६४० | १२ |
| आरब्धलौकिककर्म्मणं समाप्तेरनियमस्य | ६४३ | १ |
| आरुणादिगुणानामङ्गीर्णताया | २१५ | १ |
| आश्रयिणामदृष्टार्थताया | ४४० | ५ |
| आह्वानप्रकाशकमन्त्राणामाह्वाने विनियोगस्य | २४८ | २० |
| इति च स्रत्यादिपरकृतिपुराकल्पानामर्थवादताया | ०५३ | १४ |
| इन्द्रपीतस्येत्यादिमन्त्राणां सर्वेषु भक्ष्येषु कचेन विनियोगस्य | ३३६ | १ |
| इन्द्रप्रकाशकमन्त्राणां मार्चपत्ये विनियोगस्य | २४६ | १० |
| इष्टिरुद्धताप्रापयित्रीवाद्यनुष्ठानस्य | ५०६ | १ |
| इष्टिभोगयोः पौर्वापर्यायनियमस्य | ५८८ | ० |
| उकथ्यानुरोधेन षोडशशुत्कर्षस्य | ४५५ | ० |

अधिकरणम् ।

पृष्ठा । पङ्क्ति ।

| | | |
|--|-----|----|
| अक्षरानादीनां वेदधर्मताया | १०८ | ९ |
| अद्वैतानुसारेणैव प्रतिज्ञातानुष्ठानस्य | ११८ | १ |
| अज्ञानादपराधस्यैव सर्वसद्विज्ञानस्य | १२४ | ४ |
| अज्ञानात् सद् धृवाच्चक्षेत्रेण भवस्य | १४० | १८ |
| अहिंसादिब्रह्मदाना यामनासनाया | ८५ | ९ |
| उपगम्याश्चक्रस्य | ४०१ | ३ |
| उपपत्तिरिति द्विषतुर्गतीनामपराधस्य | ४१३ | ४ |
| उपवीतस्य प्राकरक्षिकानुष्ठानाया | १२४ | ११ |
| उपायानुष्ठानेऽपि देवतापूजयस्य | १०५ | १ |
| उपायानुष्ठानपूर्वताया | १२४ | १ |
| उपाकरणादीनामप्रीयेमीधधर्माताया | १३३ | ६ |
| उपादानमन्त्रताया | १२८ | १ |
| अष्टावक्रस्य | १२८ | १० |
| अष्टावक्रापाकरणस्य ब्राह्मणचरित्रवैश्यानां नित्यताया | ६४१ | ३ |
| अन्तिमितिनाम्नाऽसर्वगामिताया | ४०९ | १ |
| अन्तिमा स्मासिपुत्रद्वयत्वस्य | ४०५ | १४ |
| अन्तिममेव अथमवचस्य | ६०६ | ३ |
| एकपात्राणामनुष्ठानस्य | ६४६ | १६ |
| एकपात्रत्वस्य | १२१ | १० |
| एकस्यैव पुत्र आधानाधिकारस्य | ६१५ | १९ |
| एकद्विविधतायैव पञ्चभारतनिर्वापस्य | ६८२ | १८ |
| एकादशाधिकरणास्तस्य उपसंहारस्य | १०६ | १३ |
| ऐन्द्रब्राह्मणस्य द्वि शेषभक्त्यस्य | १४८ | ४ |
| ऐन्द्रब्राह्मणस्यानुष्ठानताया | १०५ | १ |
| और्वधत्त और्वध्या जलजलभयानुष्ठानार्थताया | ४६१ | १४ |

अधिकरणम् ।

| अधिकरणम् । | पृष्ठा । | पङ्क्ति । |
|---|----------|-----------|
| कपालानां तुषोपवापाप्रयुक्तताया | ४४९ | १० |
| करणमन्त्रेषु कर्मार्थफलस्य षड्विंशधर्मताया | ४९६ | १६ |
| करणमन्त्रेषु क्षामिकलस्याग्निनयताया | ४९४ | ४ |
| कर्मदेशकान् वधीना नियमार्थताया | ४८१ | १० |
| कर्मणा गुरुप्रधानभावविभागस्य | ११३ | २० |
| कल्पसूत्राव्यक्त प्रामाण्यस्य | ७९ | १ |
| काम्ययाज्यानुवाक्याकारानां काम्यमावाह्यताया | ९४६ | १० |
| काम्यानां यथोक्तकाम्यफलकत्वस्य | ५०९ | १० |
| काम्यानामैहिकामुक्तिकफलवत्त्वस्य | ४०६ | १५ |
| काम्येष्टिषु उपायुलधर्मस्य प्रधानार्थताया | ४३० | १० |
| काम्येष्टीनामनियमेनानुष्ठानस्य | ४८० | ७ |
| किञ्चिद्विषयेऽभ्युदयेऽग्निष्टस्य तृष्णीनिष्ठापस्य | ७०८ | १४ |
| कुत्तायादौ प्रतिपदोत्कर्षस्य | ९८७ | १९ |
| क्षौद्रैकदेशभेदे प्रायश्चित्तानुष्ठानस्य | ६७७ | १८ |
| कृत्यपुरुषार्थलक्षणस्य | ४८५ | १० |
| क्रमनियमस्य | ४९७ | ९ |
| क्रमस्य क्वचित्पाठानुसारिताया | ४४० | ७ |
| क्रमस्य क्वचित्प्रथमप्रवृत्त्यनुसारिताया | ४४९ | ९० |
| क्रमस्य क्वचित्स्थानानुसारिताया | ४४४ | ८ |
| क्रमस्य क्वचिदनियमस्य | ४४० | १ |
| क्रमस्य क्वचिदार्थिकत्वस्य | ४९८ | ४ |
| क्रमस्य विनियोजकताया | ९८३ | १ |
| क्रमस्य क्षामिकर्मताया | ४९९ | ९ |
| क्षामे सर्वदाष्टे प्रायश्चित्तानुष्ठानस्य | ६८० | १९ |
| गवामयनस्य पदकर्मप्रयुक्तताया | ४४१ | ७ |
| गवामयने माधपौर्णमास्या पुरणादीनाया | ७१९ | ११ |
| गायवच्छन्दस — इत्यादिमन्त्राणामनेकच्छन्दस्के विनियोगस्य | ९७६ | १ |
| गुर्वनुगमनादीनां प्रतिनिभिषमाहने | ६५० | १ |
| गुर्वनुगमनादीनामुपनयनोपरकाष्टककर्मताया | | |

अधिकरणम् ।

| अधिकरणम् । | पृष्ठा । | पङ्क्ति । |
|---|----------|-----------|
| मोक्षोक्तं दोषा प्रकृतिसंज्ञितम् | १३० | १ |
| प्रज्ञापनाया श्रुतिष्टोमाज्ञाया | १५८ | ९ |
| प्रवेष्टकादीना क्रान्तिप्रवेष्टनाया | ५०२ | १९ |
| भावस्तत्त्वैर्गपि मोक्षमवधारय | ७५९ | १९ |
| वर्ममन्त्राणि अश्वत्थो कर्तव्याया | २४० | १४ |
| धर्मसाधौ मन्त्रार्थोपदेशस्य | ४०८ | ७ |
| धर्मसाधूणां दशमस्तुतिरियमस्य | १५० | १ |
| धर्मसाधूणां प्रयत्नस्य | २८८ | १४ |
| धर्मसाधूणां वज्रनिन्दनस्य | २८८ | १४ |
| धर्मसिद्धिनाम शेषमवधारय | २८८ | ७ |
| धातुवर्णातिरिक्तस्य रथकारस्याधाने अधिकारस्य | २४० | १९ |
| चित्रादिमण्डानां शान्तिनामधेयताया | ६२० | २ |
| चित्रिणादीनां मन्त्रसंवितावुपधानस्य | ८७ | १४ |
| चित्रिणादीष्टकानामग्रज्ज्ञताया | ५०४ | १५ |
| | २८० | १९ |
| कारणैवाग्नीषोमीयपशुताया | | |
| वेदनस्य शास्त्रप्रयुक्तताया | ७७२ | २० |
| | ४०२ | ३ |
| जज्ञभ्यमानधर्माणां प्रकरणं निवर्तय | | |
| जयादीनां वैदिककथाज्ञताया | २९१ | २२ |
| जायन्त्या अनन्तपक्षे | ७९८ | ७ |
| जुहादीनां भाष्यारण्यस्य | १८८ | ८ |
| श्रुतिष्टोमविकाराणां श्रुतिष्टोमसूक्तताया | ७३८ | १९ |
| श्रुतिष्टोमस्य धातुवैदिकताया | ५८९ | १४ |
| श्रुतिष्टोमाद् धातुवैदिक्येति नित्यताया | ५८९ | १४ |
| श्रुतिष्टोमादिषु पद्याज्ञादीनामपि नित्यताया | ७७१ | ५ |
| श्रुतिष्टोमे दोषबोधादीनामज्ञताया | ७७२ | ८ |
| श्रुतिष्टोमोन्वये प्रतिदोमाननुष्ठानस्य | ५४४ | १८ |
| | ७९७ | १ |

अधिकारसप्त ।

| अधिकारसप्त । | पृष्ठा । | पङ्क्ति । |
|---|----------|-----------|
| तत्रैवागन्तूनां भाषायां मध्ये निवेशस्य | १७७ | १८ |
| तत्परो राजमानताया | १७८ | १ |
| तत्रैव पयसि दधानयनस्यामिवाप्रदुक्तताया | १७९ | १ |
| चैवर्तिकमिदस्य विषादस्य रौद्रयोगाधिकारस्य | १८० | ११ |
| साधुपानीवतस्य पर्याप्तिकरणगुणकत्वस्य | १८१ | १ |
| दक्षिणाधिकारसोमानपक्षस्य | १८२ | ११ |
| दण्डदानम्यार्थकर्मताया | १८३ | १ |
| दधिप्रदस्य नित्यताया | १८४ | १ |
| दध्यादिद्रव्यमफलत्वस्य | १८५ | ८ |
| दध्यादेर्निमित्तनैमित्तिकोभयार्थताया | १८६ | १८ |
| दर्शपूर्णमासयोः व्याप्येदमैवाधिकारस्य | १८७ | १ |
| दर्शपूर्णमासादीनां प्रतिफलं श्रवणमुष्ठानस्य | १८८ | १३ |
| दर्शपूर्णमासादीनां सर्वकामाद्यताया | १८९ | १४ |
| दर्शदौ कवकानिदमस्य | १९० | ११ |
| दर्शदौ भेदाद्याहत्या सोमाहते | १९१ | ० |
| दर्शभुदयेष्टौ नैमित्तिकदवतापनयस्य | १९२ | १ |
| दाक्षादक्षादीनां गुणताया | १९३ | १ |
| दातुर्वाचणीष्टे | १९४ | १० |
| दिग्विभागस्यानुवादताया | १९५ | ५ |
| दीक्षणीयाद् धर्मशामादिष्टोत्तमताया | १९६ | ८ |
| दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थताया | १९७ | १५ |
| दीक्षादक्षिणायाश्चोक्तनामेव त्रिणादीनां मन्त्रदर्शित्वस्य | १९८ | ११ |
| दीक्षापरिम रस्य द्वादशाहवतिदमस्य | १९९ | ११ |
| दीक्षाया इष्टिमिदताया | २०० | १४ |
| दीक्षात्वे तादृशमानासमुत्कर्षस्य | २०१ | १ |
| दृष्टमूलककृतप्रमाणस्य | २०२ | १ |
| देवताभेदेष्टकर्मस्य | २०३ | १ |
| देवतामन्त्रक्रियाशामपचार प्रतिनिधभावस्य | २०४ | १० |
| देवकर्माशामदग्धनादिकान्ताया | | |

अधिकरणम् ।

| | प्रका. | पङ्क्ति. |
|---|--------|----------|
| १. दैवतायवदानेषु पदार्थानुगमयस्य | ४११ | ११ |
| द्रव्यगुणविधानस्य नियमार्थताया | ४८२ | १० |
| द्रव्यदेवताधुक्तानां यागान्तरताया | १८१ | १० |
| द्रव्यभेदेऽपि कर्मभेदस्य | ४१० | १० |
| द्रव्यविशेषानुक्तिजनकर्मत्वस्य | १४८ | १ |
| द्रव्यसम्बन्धकर्मणां तत्त्वयन्ताया | ४८७ | ९ |
| द्रव्यसंस्कारस्याङ्गशेषान् यन्ताया | ४२७ | ११ |
| द्रव्यापचारे वैकल्पिकद्रव्यान्तरानुपादानस्य | ४६० | १ |
| हादयद्वन्द्वानामाध्वर्यवत्वस्य | ४९० | १८ |
| इन्द्रोपमताया अक्षीनाङ्गताया | ५८६ | ११ |
| इन्द्रास्त्रातस्योपमप्रयोग्यताया | ४१८ | १ |
| धर्मजिज्ञासाप्रतिज्ञाया (प्रथमसूत्रेण) | १ | ९ |
| धर्मो प्रत्यक्षस्याप्रमाणताया (चतुर्थसूत्रेण) | ६ | १० |
| धर्मो प्राप्त्यस्य परीक्ष्यताया तृतीयसूत्रेण | ४ | ८ |
| धर्मो लक्षणस्य (द्वितीयसूत्रेण) | ३ | ९४ |
| धर्मो वेदस्य प्राप्त्यस्य (प्रथमसूत्रेण) | ७ | १ |
| ध्रुवाव्यादिभिः निरुक्तवादिशेषाननुष्ठानस्य | ४४२ | २ |
| ननु प्रतीयेदित्यादिना भौमकालबन्धस्य | ४८२ | ८ |
| नामाभीमेष्टौ धनसूत्रादीनां तन्त्रताया | ४६९ | १२ |
| नारिकेलमन्त्रापरोक्षपूम्बताया | ४६४ | १२ |
| निगदानां यजुस्त्वस्य | १९८ | १४ |
| नित्यकर्मणोऽनित्यपारम्पर्यकर्मणश्च द्रव्यापचारे प्रतिनिधिना भूमापनस्य | ६४८ | ८ |
| नित्ये यथाशक्त्यङ्गानुष्ठानस्य | ६४९ | ९ |
| निनयनस्य प्रतिपत्तिकर्मताया | ४७७ | १ |
| निर्गन्त्याश्रयस्य धौमिकत्वस्य | ८४ | १ |
| निर्वपनादीनामर्थानुभावेण व्यवस्थितविषयताया | २११ | १० |
| निर्वीतस्य यन्त्रादनाश | ४१२ | २ |
| नैऋतिकालां वाहद्विगादीनामनित्याद्यत्वस्य | ४१९ | १ |

सूचीपत्रम् ।

अधिकरणम् ।

पृष्ठा । पङ्क्ति ।

| | | | |
|--|-------|-----|----|
| प्रतिनिधिष्वपि मुख्यधर्मानुष्ठानस्य | | १८१ | १० |
| प्रतिनिधिपचारे उपात्तद्रव्यसदृशस्य पुन प्रतिनिधित्वस्य | | १९८ | ८ |
| प्रतिनिधिरूपधर्मानुष्ठानप्रतिष्ठापानस्य | .. . | १८४ | १९ |
| प्रतिनिधिरूपस्य प्रतिनिधित्वाभावस्य | . .. | १९९ | १८ |
| प्रतिज्ञेयमे साधनप्रतिज्ञावप्रत्युत्पत्त्यारम्भस्य | . .. | २१८ | १३ |
| प्रथमादीनां तिर्यङ्गानुपपत्त्या स्वरूपानुष्ठाने | . . | १९८ | ४ |
| प्रथमकर्मसंलक्षणस्य | . .. | १९४ | ८ |
| प्रथमनिर्वाचकत्वे अङ्गनिर्वाहापर्याप्तस्यापि मुख्यस्थापानस्य | | १९९ | १८ |
| प्रथमादीनाम एकादशादिचतुष्टयायाः सर्वसम्पाद्यतायाः | . . | १९८ | १ |
| प्रयोगवचनात् चोदकस्य बहवत्वस्य | . .. | १९७ | ७ |
| प्रयोजनायोग्यस्य मुख्यस्य मन्वेऽपि प्रतिनिध्यादानस्य | | १९९ | ७ |
| प्रवर्तनविधेयस्य प्रथमप्रयोगविषयतायाः | . . | १९४ | ९ |
| प्रथमा मोक्षकादीनां कैमिकपूर्वमावृत्ततायाः | . . | १९८ | १९ |
| प्राक्तनपुरोडाशादीनां निधानस्य | | १९८ | १८ |
| प्राणभृदादिशब्दानां भुत्यर्थतायाः | . .. | १९४ | १ |
| प्राथमिकशेषात् सिष्टकृदाद्यनुष्ठानस्य | .. . | १९८ | ४ |
| प्राप्तनस्य प्रतिपत्तिकर्मातायाः | . . | १९८ | १८ |
| प्राचक्षादिपदानां कैमिकतायाः | . . | १९४ | ८ |
| प्रेषप्रेषार्थयोः शक्यतायाः | .. . | १९९ | १ |
| प्रेषप्रेषार्थयोः दयाकरसाध्यर्थेव प्रीतितायाः | . . | १९४ | ४ |
| फलचक्रस्य दशाधिकारतायाः | . . | १९९ | ४ |
| बाह्येन स्वरूपपदेण्य | . . | १९४ | ९ |
| बाह्यनिर्वचनस्य | | १९७ | १ |
| बाह्यपादानं सन्वपादस्य अनीयत्वस्य | . . | १९८ | १९ |
| बाह्यपादापोहितास्य | . . | १९७ | १ |
| | | १९८ | १९ |

अधिकरणम् ।

प्रश्नाः पङ्क्तिः ।

| | | | | |
|--|----|----|-----|----|
| वाजपेयपशूनां सर्वेषामेकदोषाकरणादिधर्मानुष्ठानस्य | . | . | ५५० | १ |
| वाजपेयादिशब्दानां नामधेयताया | . | .. | ८१ | १२ |
| वारणवैकङ्कतादिपात्राणां छत्त्रयागगुणताया | . | .. | २७६ | १२ |
| वारयन्तीयादीनां कर्मान्तरताया | . | .. | १६२ | १ |
| यार्चध्यायनुवाक्यानामाज्यभागाद्व्यताया | .. | . | १२८ | ६ |
| विकृतमग्नदशमामधेनोषु वर्षत्रयाधिकारस्य | . | .. | ७४० | १ |
| विकृतानामैन्द्राग्रादीनां सद्यस्कालताया | . | .. | ४८५ | १ |
| विकृतौ क्वचित् प्रकृतिधर्मानतिदेशस्य | .. | . | ५४८ | ७ |
| विदेवनस्य छत्त्रराजसूयाद्व्यताया | . | .. | ५१७ | ८ |
| विदेवनादीनामभिषेकपूर्व्यताया | . | . | ५६५ | १८ |
| विधिवन्निगदस्य | .. | . | ५० | १ |
| विधृतिपवित्रयोः परिभोजनीयवर्द्धिषा कर्तव्यताया | . | .. | ४२८ | ३ |
| विश्वजिति अथादीनामदेयताया | . | .. | ७४४ | ५ |
| विश्वजिति दक्षिणाकाले विद्यमानानामेव सर्वस्वानां देयताया | . | . | ७४६ | ८ |
| विश्वजिति दक्षिणादानोत्तराह्वानामनुष्ठानस्य | . | .. | ७४७ | १ |
| विश्वजिति द्वादशमतन्यूनधनस्यानधिकारस्य | .. | . | ७४० | १ |
| विश्वजिति धर्मायमेवकशूद्रस्यादेयताया | . | . | ७४५ | २१ |
| विश्वजिति पित्रादीनामदेयत्वस्य | . | . | ७४२ | १ |
| विश्वजिति श्रद्धया अदेयत्वस्य | .. | .. | ७४२ | १२ |
| विश्वजिति विद्यमानानामेव सर्वस्वानां दानस्य | . | . | ७४४ | १५ |
| विश्वजिदादीनां सफलत्वस्य | . | . | ४८६ | १ |
| विश्वजिदादीनां स्वर्गफलताया | . | . | ५०० | १० |
| विश्वजिदादीनामेकफलताया | . | .. | ४८८ | १८ |
| वृष्टिकामताया याजमानताया | .. | . | ४१७ | १ |
| वेदस्य अपौरुषेयताया | .. | .. | ६६ | १ |
| वेदस्य अर्थप्रत्यायकताया | .. | . | ६२ | ६ |
| वैकृतभूपकर्मावापकर्मस्य | . | . | ४५१ | २० |
| वैदिकपानव्यापदि सौमेन्द्रवद्विधानस्य | . | . | ६७३ | १८ |
| वैदिकवचनेनामुष्णापनस्य | . | .. | ६४८ | १६ |
| वैदिकवाक्येन प्रतिवचनस्य | .. | .. | ६४८ | १७ |

अधिकरणम् ।

पृष्ठा । पङ्क्ति ।

| | | |
|---|-----|----|
| पट्टाश्रितनेमिनिकत्वस्य | ५२२ | २१ |
| योऽङ्गिमस्ये प्रातरग्निहोत्रप्रभृत्यनुष्ठानस्य | ७१८ | ५ |
| सव्याहृतकर्माभेदस्य | १५३ | २१ |
| सज्ञाहृतकर्माभेदस्य | १५५ | १४ |
| मन्यपि भस्कारयोग्येऽप्युच्ये मुख्यस्यैवोपादानस्य | ६७१ | १४ |
| मन्त्राय प्रष्टतमानस्य विश्वजित | ७११ | ७ |
| मन्त्रायार्ग्याप्रष्टतस्य विश्वजिदानुग्रहकताया | ६८३ | ६ |
| मन्त्रे आहिताग्नेरेवाधिकारस्य | ७३७ | १ |
| मन्त्रे कस्यचित्तस्वामिनोऽपचारे प्रतिनिध्यादानस्य | ६६४ | १ |
| मन्त्रे प्रतिनिहितस्य यजमानधर्मप्राप्तित्वस्य | ६६५ | १८ |
| मन्त्रे प्रतिनिहितस्यास्वामित्वस्य | ६६४ | १० |
| मन्त्रे प्रत्येकस्य मन्त्रिण फलसम्बन्धस्य | ६२४ | १ |
| मन्त्रे ब्राह्मणमात्रस्याधिकारस्य | ७३२ | १० |
| मन्त्रे विद्यामित्रतत्समानकल्पानामवाधिकारस्य | ७३५ | १८ |
| मन्त्रे समानकल्पाना रुद्राधिकारस्य | ७३६ | १ |
| मन्त्रदर्शनस्य समस्यानिवेशपस्य | ४०१ | ६ |
| मन्त्रयदमन्त्रयदुभयस्यैवाभ्युदये प्रायश्चित्तस्य | ७१० | १ |
| मन्त्रद्वारलिताया पाठधर्मताया | ९३२ | १ |
| मन्त्राख्यायातकर्तृत्वस्यापि क्वचिद्वाधस्य | ४०७ | ८ |
| मन्त्राख्याया विनियोजकताया | ९८४ | ४ |
| मन्त्रानयनस्याव्यधर्मप्रयोजकताया | ४१० | १ |
| मन्त्रिदाद्यपूर्वभेदस्य | ७७८ | ६ |
| मन्त्रुधितयोरनुवचनप्रेषणैर्निवावर्णककर्तृत्वस्य | ४०८ | ५ |
| मन्त्रार्जनादीनामप्रधानताया | ११५ | ४ |
| मन्त्रशृष्टेः स्त्रियुक्तदिवादीना मन्त्रदनुष्ठानस्य | ३४७ | १० |
| मन्त्रशाखाप्रत्ययेककर्माताया | १८७ | ७ |
| मन्त्रशृष्टेः शिष्टकदनुष्ठानस्य | ३४८ | १ |
| मन्त्रेषां षष्ठादीना मन्त्रागादे | ९२४ | ९० |
| मन्त्रेषामकानेकलोमकानामग्निष्टोमपूर्वकताया | ५८४ | ८ |

मीमांसा-दर्शनम् ॥

समाख्यम् ॥

प्रथमेऽध्याये १ पादः ।

स. अथातो धर्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

भा. लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि, तानि (सति सम्भवे) तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम् ; नाथाहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः परिभाषितश्चो वा । एवं वेदवाक्यान्त्येव एभिर्वाख्यायन्ते ; इतरथा वेदवाक्यानि व्याख्येयानि, स्वपदार्थाश्च व्याख्येयाः, 'प्रयत्नगोरवं प्रसज्येत । तत्र लोकेभ्यमयशब्दो वृत्तादनन्तरस्य प्रक्रियार्थो दृष्टः, नचेह किञ्चिद्वृत्तमुपलभ्यते ; भवितव्यन्तु तेन, यास्मिन् सति अनन्तरं धर्मजिज्ञासाऽवकल्प्यते ; तथाहि प्रसिद्धपदार्थकः स कल्पितो भवति, तत्तु वेदाध्ययनं, तस्मिन् हि सति साऽवकल्प्यते । 'नैतदेवं, अन्यस्यापि कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा युक्ता प्रागपि च वेदाध्ययनात्' । उच्यते, — मादृशान्तु धर्मजिज्ञासां अधिहृत्यायशब्दं प्रयुक्तवानाचार्यः, या वेदाध्ययनमन्तरेण न सम्भवति । कथं ? । वेदवाक्यानामनेकविधो विचार इह वर्तितव्यः । अपिच नैव वयमिह

* अथ इतीति पाठो भवितुं युक्तः । प्रयत्न इत्यत्र स्वयम् इति का० म० ॥

दाध्ययनात् पूर्वं धर्मजिज्ञासाया प्रतिषेधं शिष्य, परस्ताच्चा-
नन्तर्यम् न ह्येतदेक वाक्य पुरस्ताच्च वेदाध्ययनात् धर्मजिज्ञासा
प्रतिषेधिरिति, परस्ताच्चानन्तर्यं प्रकरिष्यति, भिद्येत हि तथा
वाक्यम् अन्या हि वचनव्यक्तिरस्य पुरस्तात् वेदाध्ययनाद्धर्म-
जिज्ञासा प्रतिषेधत अन्या च परस्तादानन्तर्यमुपदिशत,
'वेदानधीत्य — इति एकस्या विधीयते अनूद्य आनन्तर्यं,
विपरीतमन्यस्याम् अर्थैकत्वाच्च एकवाक्यता वक्ष्यति। किञ्चा-
धीते वेदे इयमापतति गुरुकुलाच्च समावर्तितस्य वेदवाक्यानि
च विचारयितव्यानि तत्र 'गुरुकुलान्मा समावर्तिष्ये', कथं नु
वेदवाक्यानि विचारयेत्? इत्येवमर्थोऽप्यमुपदेशः । 'यद्येव न
तर्हि वेदाध्ययनं पूर्वं गम्यते, एव हि समामनन्ति 'वेदमधीत्य
ज्ञायात् — इति, इह च वेदमधीत्य ज्ञास्येन धर्म जिज्ञासमान
इममाग्नायमतिक्रामेत्! न चाग्नायो नाम अतिक्रामितस्य'।
तदुच्यते — अतिक्रमिष्याम इममाग्नाम् अनतिक्रामन्तो वेद-
मर्थवन्तः सन्तमनर्थकमवकल्पयेम दृष्टो हि तस्यार्थं कर्माव-
बोधनं नाम। न च तस्याध्ययनभावात् तत्रभवन्तो याज्ञिका
फलं समामनन्ति यदपि च समामनन्तीव, तत्रापि 'द्रव्य-
संस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्' — इत्यर्थ-
वादतां वक्ष्यति। न च 'अधीतवेदस्य ज्ञानानन्तर्यमेतत्
विधीयते'। न ह्यज्ञानानन्तर्यस्य वक्ता कश्चिच्छब्दोऽस्ति? पूर्वं
कालतरयां त्वा स्मर्यते, न आनन्तर्ये। दृष्टार्थता वाध्ययनस्य,
आनन्तर्ये ष्याद्वन्येत। लक्षणया त्वेषोऽर्थः स्यात्, न वेद-
ज्ञानमदृष्टार्थं विधीयते, किन्तु लक्षणया अज्ञानादिनियमस्य
पर्यवसानं वेदाध्ययनसमकालमाहुः 'वेदमधीत्य ज्ञायात्,
'गुरुकुलात् मा समावर्तिष्ये' — इति अदृष्टार्थतापरिहारायेव।

भा तस्मात् वदाध्ययनमेव पूर्वमभिनिवर्त्यानन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य
—इति अथशब्दस्य सामर्थ्यम् । नच ब्रूमोऽन्यस्य कर्मणोऽनन्तरं
धर्मजिज्ञासा न कर्तव्येति ; किंतु वेदमधीत्य त्वरितेन न ज्ञातव्यं,
अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्यः—इति अथशब्दस्यार्थः ॥

अतःशब्दो वृत्तस्यापदेशको हेत्वर्थः, यथा, चेमसुभिचोऽप्यम्,
अतोऽहमस्मिन् देशे प्रतिवसामीति, एव, अधोतो वेदो धर्म-
जिज्ञासायां हेतुर्ज्ञातः, अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इति अतः-
शब्दस्य सामर्थ्यम् । धर्माय हि वेदवाक्यानि विचारयितुमनधी-
तवेदो न शक्नुयात्, अतः (एतस्मात् कारणात्) अनन्तरं धर्मं
जिज्ञासितुमिच्छेदित्यतःशब्दस्यार्थः ॥

धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा, सा हि तस्य ज्ञातुमिच्छा ।
स कथं जिज्ञासितव्यः ? । को धर्मः, कथंलक्षणः, कान्यस्य साध-
नानि, कानि साधनाभासानि, किंपरश्चेति । तत्र को धर्मः, कथं-
लक्षणः—इति एकेनैव सूत्रेण व्याख्यातं—‘चोदनालक्षणोऽर्थो
धर्मः’—इति । कानि अस्य साधनानि, कानि साधनाभासानि,
किंपरश्चेति शेषलक्षणेन व्याख्यातं, क पुरुषपरत्वं, क वा पुरुषो
गुणभूतः ?—इत्येतासां प्रतिज्ञानां पिण्डस्यैतत् सूत्रम् ‘अथातो-
धर्मजिज्ञासा’—इति । ‘धर्मः प्रसिद्धो वा स्यात्, अप्रसिद्धो वा ? स
चेत्प्रसिद्धः, न जिज्ञासितव्यः ; अथाप्रसिद्धः, नतरां ; तदेतदनर्थकं
धर्मजिज्ञासाप्रकरणं, अथवार्थवत् ? । धर्मं प्रति हि विप्रतिपन्ना
यज्जविदः,—केचिदन्यं धर्ममाहुः, केचिदन्यं ; सोऽयमविचार्य
प्रवर्त्तमानः कञ्चिदेवोपाददानो विहन्येत, अनर्थं च’ अष्टच्छेत्,
तस्माद्धर्मो जिज्ञासितव्य इति ; स हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुन-
क्तोति प्रतिजानीमहे । तदभिधीयते

स. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥ २ ॥

भा. ‘चोदना’—इति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनेमाहुः, आचार्य-

भा चोदित करोमिति हि दृश्यते । लक्ष्यते येन तल्लक्षण धूमो
लक्षणमग्निरिति हि वदन्ति । तथा यो लक्ष्यते, सोऽर्थं पुरुष
निःशेषेण सयुनतीति प्रतिजानीमहे । चोदना हि भूत,
भवन्त भवितव्यन्त सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रहाष्टमित्येवजातीयकमर्थं
गन्तोत्यवगमयितुं नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्, नच तद्याभूतमप्यर्थं
ब्रूयाच्चोदना, यथा यत्किञ्चन लौकिक वचन,—नद्यास्तीरे
फलानि सन्ति—इति, तत् तद्वयमपि भवति, वितथमपि भव
तीति । उच्यते, विप्रतिसिद्धमिदमुच्यते,—‘ब्रवीति वितथश्च’
इति, ब्रवीति—इति उच्यतेऽर्थबोधयति (बुद्धमानस्य निमित्तं
भवति) इति, यस्मिन्निमित्तभूते सति अवबुध्यते सोऽवबोध
यति, यदि च चोदनाया सत्यामग्निहोवात् सर्गा भवतीति
गम्यते कथमुच्यते,—न तथा भवतीति अथ न तथा भवतीति,
कथमवबुध्यते ? असन्तमर्थमवबुध्यते—इति विप्रतिसिद्धम् । नच
‘सुर्गकामो यजेत’—इत्यतो वचनात् सन्दिग्धमवगम्यते,—
भवति वा सर्गा न वा भवति—इति । नच निश्चितमवगम्य
मानमिदं मिथ्या स्यात्, यो हि जनित्वा प्रध्वसते—नैतदेव
मिति, स मिथ्याप्रत्यय, नचैष काळान्तरे, पुरुषान्तरे, अव
स्थान्तरे, देशान्तरे वा विपर्ययति । तस्मादवितथ । यत्तु
लौकिक वचनं, तथेत् प्रत्ययितात् पुरुषात्, इन्द्रियविषय वा,
अवितथमेव तत्, अथाप्रत्ययितात् अनिन्द्रियविषय वा, तावत्
पुरुषबुद्धिमभवमप्रमाणम् अथवा हि तत् पुरुषेण ज्ञातुमृते
वचनात् । ‘अपरस्मात्पौरुषेयावचनात् तदवगतम्’—इति चेत् ।
तदपि तेनेव मुख्यम्, नैवजातीयकैश्वर्येषु पुरुषवचनं प्रामाण्य
मुपैति, आत्यन्धानामिदं वचनं रूपविशेषेषु ‘नच विदुषामुपदेशो
नावश्यक्यते, उपदिष्टवक्तव्यं मन्वादयस्तस्मात् पुरुषात् सन्तो
विदितवक्तव्यं, यथा वक्तव्यं रूपमुपसृज्यते इति दर्शनादेवाव
गतम् ।’ उच्यते । उपदेशा हि यामोक्षादपि भवन्ति, असति

भा. ध्यामोहे वेदादपि भवन्ति । अपिच पौरुषेयावचनात् 'एवं
 अयं पुरुषो वेद'—इति भवति प्रत्ययः, न 'एवं अयमर्थः'
 —इति ; विप्रवते हि खल्वपि कश्चित् पुरुषकृतात् वचनात्
 प्रत्ययः, नतु वेदवचनस्य मिधात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति । 'ननु
 सामान्यतोदृष्टं पौरुषेयं वचनं वितथमुपलभ्य वचनसाम्यादि-
 दमपि वितथमवगम्यते' । न अन्यत्वात् ; न ह्यन्यस्य वितथभावे-
 न्यस्य चैतदयं भवितुमर्हति, अन्यत्वादेव, न हि देवदत्तस्य
 श्यामत्वे यज्ञदत्तस्यापि श्यामत्वं भवितुमर्हति । अपि च 'पुरुष-
 वचनसाधर्म्यात् वेदवचनं वितथम्'—इति अनुमानं व्यपदेशा-
 दवगम्यते, प्रत्यक्षस्तु वेदवचनेन प्रत्ययः, नचानुमानं प्रत्यक्ष-
 यिरोधि प्रामाणं भवति । तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थः श्रेयस्करोः ।
 'एवं तर्हि श्रेयस्करो जिज्ञासितयः, किं धर्मजिज्ञासया?' । उच्यते,
 —य एव श्रेयस्करोः, स एव धर्मशब्देनोच्यते । कथमवगम्यतां ? ।
 यो हि यागमनतिष्ठति, तं 'धार्मिकः'—इति समाचक्षते, यस्य
 यस्य कर्त्ता, स तेन व्यपदिष्यते, यथा पावकः, लावक इति ;
 तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति, स धर्मशब्देनोच्यते । न
 केवलं लोके, वेदेऽपि 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, तानि धर्माणि
 प्रथमान्यासन्'—इति यजतिशब्दाच्चरमेव धर्मं समामनन्ति ।
 उभयमिह चोदनया लक्ष्यते, अर्थानर्थश्च इति ; कोऽर्थः ?
 यो निःश्रेयसाय, ज्योतिष्टोमादिः । कोऽनर्थः ? यः प्रत्यवायाय,
 श्येनो, वयः, इषुरित्येवमादिः । तत्र 'अनर्थो धर्म उक्तो मा
 भूत् इति अर्थवक्ष्यमाणम् । कथं पुनरसावनर्थः ? । हिंसा हि सा ;
 हिंसा च प्रतिषिद्धेति । कथं पुनरनर्थः कर्त्तव्यतयोपदिष्यते ? ।
 उच्यते । नैव श्येनादयः कर्त्तव्या विश्रायन्ते, 'यो हि हिंसितु-
 मिच्छेत्, तस्यायमभ्युपायः'—इति हि तेषामुपदेशः, श्येने-
 नाभिचरन् यजेत—इति हि समामनन्ति, न 'अभिचरितथम्'
 —इति । ननु 'अशक्तं इदं सूत्रं, इमावर्थावभिषदितुं,—चोदना-

भा लक्षणो धर्मः, न इन्द्रियादिलक्षणः; अर्थश्च धर्मः, न अनर्थ इति; एकं होदं वाक्यं, तदेवंसति भिद्येत' । उच्यते,—यत्र वाक्यादर्थोऽवगम्यते, तत्रैवम्, तत्तु वैदिकेषु, न सूत्रेषु, अन्यतोऽवगतेर्धे 'सूत्र एवमर्थमिदम्'—इत्यवगम्यते, तेन च 'एकदेशः सूच्यते'—इति सूत्रं, तत्र भिन्नयोरेव वाक्ययोरिमावेकदेशाधित्यवगन्तव्यम् । अथवा अर्थस्य सतश्चोदनालक्षणस्य धर्मत्वमुच्यते इति एकार्थमेवेति ।

सू. तस्य निमित्तपरीष्टिः ॥ ३ ॥

भा उक्तमस्माभिः 'चोदनानिमित्तं धर्मस्य ज्ञानम्' इति, तत् प्रतिज्ञामात्रेणोक्तम्, इदानीं तस्य निमित्तं परीक्षिष्यामहे,— किं चोदनेवेति, अन्यदपीति, तस्मान्न तावन्निश्चीयते 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'—इति । तदुच्यते

सू. सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्
अनिमित्तं विद्यमानोपलभनत्वात् ॥ ४ ॥

भा इदं परीच्यते,—प्रत्यक्षं तावदनिमित्तं । किं कारणं? । एवंलक्षणकं हि तत्, सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म, तत् प्रत्यक्षं (सति इन्द्रियार्थसम्बन्धे या पुरुषस्य बुद्धिर्जायते, तत् प्रत्यक्षं), भविष्यन् च एयोर्धे न ज्ञानकालेऽस्तीति, सतश्चैतदुपलभनं, नासतः । अतः प्रत्यक्षमनिमित्तं । बुद्धिर्वा, जन्म वा, भविकर्षो चेति त्रैषा कस्यचिदवधारणार्थमेतत् सूत्रं, सति इन्द्रियार्थसंप्रयोगे, नासति इत्येतावदवधार्यते, अनेकस्तिन्नवधार्यमाणे भिद्येत वाक्यं । प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानोपमानार्थापत्तीनामप्यकारणत्वमिति ॥

अभावोऽपि नास्ति यतः

स. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुप-
देशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं
वादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥ ५ ॥

भा 'औत्पत्तिकः'—इति नित्यं ब्रूमः, उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते
लक्षणया* । अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धः, नोत्पन्नयोः
पश्चात् सम्बन्धः, औत्पत्तिकः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः, तस्य (अग्नि-
होत्रादिलक्षणस्य धर्मस्य) निमित्तं प्रत्यक्षादिभिरनवगतस्य ।
कथं ? उपदेशो हि भवति, 'उपदेशः' इति विशिष्टस्य शब्दस्य
उच्चारणं । अव्यतिरेकश्च ज्ञानस्य, न, हि तदुत्पन्नं ज्ञानं
विपर्येयं । यच्च नाम ज्ञानं न विपर्येयं, न तत् शक्यते वक्तुं
'न एतदेवम्'—इति ; यथा विज्ञायते, न तथा भवति, यथै-
तन्न विज्ञायते, तथैतदिति, अन्यदस्य हृदये, अन्यद्वाचि स्यात्,
एवंवदतो विरुद्धमिदं गम्यते,—अस्ति नास्ति वेति । तस्मात्
तत् प्रमाणमनपेक्षत्वात् । न ह्येवंसति प्रत्ययान्तरमपेक्षितं,
पुरुषान्तरं वापि, अयं प्रत्ययोद्यसौ । वादरायणयच्छणं वाद-
रायणस्येदं मतं कीर्त्तयते वादरायणं पूजयितुं, नात्मीयं मतं
पर्युदक्षितुम् ॥

वृत्तिकारस्तु अन्यथेमं ग्रन्थं वर्णयांचकार 'तस्य निमित्तप-
रोष्टिः'—इत्येवमादिं,—न परीक्षितं निमित्तं, प्रत्यक्षादीनि
हि प्रसिद्धानि प्रमाणानि, तदन्तर्गतं च शास्त्रं, अतस्तदपि न
परीक्षितम् । 'अत्रोच्यते,—व्यभिचारात् परीक्षितं,—
सुश्रुतिं हि रजतवत् प्रकाशते यतः, तेन प्रत्यक्षं व्यभिचरति,
तन्मूलत्वाच्चानुमानादीन्यपि । तत्रापरीक्ष्य प्रवर्त्तमानोर्धात्
विद्वन्धेयः, अनर्थं चाप्नुयात् कदाचित्' । नैतदेयं,—यत् प्रत्यक्षं,

भा न तत व्यभिचरति, यत् व्यभिचरति, न तत प्रत्यक्षं । किं तर्हि प्रत्यक्षं ? 'तत्संप्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षं', यद्विषय ज्ञानं, तेनैव संप्रयोगे इन्द्रियाणां, पुरुषस्य बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षं, यदन्वयविषयज्ञानमन्यसंप्रयोगे भवति, न तत प्रत्यक्षं । कथं पुनरिदमवगम्यते ? इदं तत्संप्रयोगे, इदमन्य संप्रयोगे इति । यत न अन्यसंप्रयोगे, तत् तत्संप्रयोगे, एतद्विषयौ तमन्यसंप्रयोग इति । 'कथं ज्ञेयं ? यत्सुक्तिकायामपि रजतं मन्यमानो रजतसनिहृत मे चक्षुरिति मन्यते । बाधकं हि यत्र ज्ञानमुत्पद्यते,—नैतदेवं, मिथ्याज्ञानमिति, तत अन्यसंप्रयोगे, विपरीतं तत्संप्रयोगे इति । 'प्राग्बाधकज्ञानोत्पत्ते कथमवगम्यते ? यदा न तत्काले सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्य वा कश्चिद्विशेषः' । यदा हि चक्षुरादिभिरुपहृत मनो भवति, इन्द्रियं वा तिमिरादिभिः, सौक्ष्मादिभिर्बाधो वा विषयः, ततो मिथ्याज्ञानं, अनुपहृतेषु हि सम्यक्ज्ञानं, इन्द्रियमनोर्ध्वसन्निकर्षो हि सम्यक्ज्ञानस्य हेतुः, असति तस्मिन्मिथ्याज्ञानं, तदुभयगतो दोषो मिथ्याज्ञानस्य हेतुः, दुष्टेषु हि ज्ञानं मिथ्या भवति । कथमवगम्यते ? दोषापगमे संप्रतिपत्तिदर्शनात् । कथं दुष्टादुष्टावगमः ? इति चेत् । प्रत्यक्षेनान्विच्छन्तो न चेदोषमवगच्छेमहि, प्रमाणाभावादुदुष्टमिति मन्येमहि । तस्मात् यस्य च दुष्टं करणं, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययो नान्य इति ।

ननु 'सर्वं एव निरात्म्यत्वेन सुप्रवृत्तप्रत्ययः, प्रत्ययस्य हि' निरात्म्यत्वेनता—सुभाव उपलक्षितं स्वप्ने जायतोऽपि 'स्तम्भ'—इति वा 'कुक्ष'—इति वा प्रत्यय एव भवति, तस्मात्सोऽपि निरात्म्यत्वेन' । उच्यते,—'स्तम्भ'—इति जाग्रतो बुद्धिः सुपरिनिश्चिता कथं विपर्यसिष्यतीति ? 'स्वप्नेऽप्येवमेव सुपरिनिश्चिताभसीत, प्राक्प्रबोधनात् न तत्र कश्चिद्विशेष इति' । न, स्वप्ने विपर्ययदर्शनात्, अविपर्ययः

भा. याच्च इतरस्मिन् । 'तत्सामान्यादितरत्रापि भवित्यति' इति चेत् । यदि प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययस्य मिथ्याभावः, जायत्प्रत्ययस्यापि तथा भवितुमर्हति । अयं* 'प्रतीतिस्तथाभावस्य हेतुः' । न शक्यते 'प्रत्ययत्वात् अयमन्यः'—इति वक्तुं । अन्यतस्तु स्वप्नप्रत्ययस्य मिथ्याभावो विपर्ययादवगतः† । कुतः?—इति चेत् । सनिद्रस्य मनसो दौर्बल्याग्निद्रा मिथ्याभावस्य हेतुः स्वप्नादौ स्वप्नान्ते च । सुषुप्तस्याभाव एव‡; अचेतयन्नेव हि 'सुषुप्तः'—इत्युच्यते । तस्माज्जायतः प्रत्ययो न मिथ्येति ॥ ननु 'जायतोऽपि करणदोषः स्यात्' । यदि स्यात्, अवगम्येत ॥ 'स्वप्नदर्शनकालेऽपि नावगम्यते'—इति चेत् । तत्र प्रबुद्धो ह्यवगच्छति 'निद्राक्रान्तं मे मनः आसीत्'—इति ।

'अन्यस्तु । कथं ? । अर्थज्ञानयोराकारभेदं नोपलभामहे । प्रतरक्षा च नो बुद्धिः, अतस्तद्विघ्नमर्थरूपं नाम न किञ्चिदस्तीति पश्यामः' । स्यादेतदेवं, यद्यर्थाकारा बुद्धिः स्यात्; निराकारा तु नो बुद्धिः, आकारवान् बाह्योऽर्थः; स हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमुपलभ्यते । अर्थविषया हि प्रत्यक्षबुद्धिः, न बुद्धान्तरविषया; क्षणिका हि सा, न बुद्धान्तरकालमवस्थास्यते इति । 'उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते, ज्ञापयति च अर्थान्तरं, प्रदोषवत् इति'—यत् उच्येत । तत्र । न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते । ज्ञाते तु अनुमानादवगच्छति, तत्र योगपद्यमनुपपन्नं । ननु 'उत्पन्नायामेव बुद्धौ 'ज्ञातोऽर्थः'—इत्युच्यते, नानुत्पन्नायां, अतः पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, पश्चात् ज्ञातोऽर्थः' । सत्यं, पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, न

* अथ 'प्रत्येतीति' इति अधिकं का० सं० ।

† 'प्रत्ययात्' इति का० श्री० पाठः ।

‡ 'विपर्ययवशादागतः' इति प्रा० पु० ।

§ 'स्वप्नादौ स्वप्नान्ते च विपर्ययदर्शनात् सुषुप्ताभाव एव' इति का० सं० ।

भा. तु पूर्वं ज्ञायते। भवति हि कदाचिदेतत्, यतः ज्ञातोऽपर्ययः सन्
 'अज्ञातः'—इत्युच्यते। न चार्थव्यपदेशमतरेण बुद्धेः रूपोप-
 लम्बनं। तस्माच्च व्यपदेश्या बुद्धिः, अथपदेश्यं च नाप्रत्यक्षं।*।
 तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः॥ अपिच काममेकरूपत्वं बुद्धेरेवाभावः,
 नार्थस्य प्रत्यक्षस्य सतः। नच ऐकहृष्यं, अनाकारमेव
 हि बुद्धिमनुमिमीमहे, साकारं चार्थं प्रत्यक्षमेवावगच्छामः।
 तस्मादर्थालम्बनः प्रत्ययः॥ अपिच नियतनिमित्तः तन्तुष्वेव
 उपादीयमानेषु षट्प्रत्ययः। इतरथा तनवादानेऽपि कदाचित्
 षट्बुद्धिरविकलेन्द्रियस्य स्यात्; नचैवमस्ति, अतो न निरा-
 लम्बनः प्रत्ययः। अतो न व्यभिचरति प्रत्यक्षं॥

अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निहृष्टेऽर्थे
 बुद्धिः। तत्तु द्विविधं—प्रत्यक्षतोऽदृष्टसंबन्धं, सामान्यतोऽदृष्ट-
 संबन्धं च। प्रत्यक्षतोऽदृष्टसंबन्धं यथा, धूमाह्वातिदर्शनादग्राह्यति-
 विज्ञानं। सामान्यतोऽदृष्टसंबन्धं यथा, देवदत्तस्य गतिपूर्विकां
 देशान्तरमाप्तिमुपलभ्यादित्यगतिस्मरणं॥ शास्त्रं शब्दविज्ञानात्
 असन्निहृष्टेऽर्थे विज्ञानं॥ उपमानमपि (सादृश्यं) असन्निहृष्टेऽर्थे
 बुद्धिमुत्पादयति। यथा, गवयदर्शनं गोस्मरणस्य॥ अर्थापत्ति-
 रपि 'दृष्टः, श्रुतो वार्थान्यथा नोपपद्यते'—इत्यर्थकल्पना।
 यथा, जीवति देवदत्तो गृह्णाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य
 कल्पना॥ अभाविः अपि प्रमाणाभावो 'नारित'—इत्यस्यार्धस्या-
 सन्निहृष्टस्य॥ तस्मात् प्रसिद्धत्वात् न परीक्षितव्यं निमित्तं।

ननु "प्रत्यक्षादीन्यन्यानि भवन्तु नाम प्रमाणानि,
 शब्दस्तु न प्रमाणी। कुतः? 'अनिमित्तं विद्यमानोपलम्बनत्वात्'
 (६।११)। अनिमित्तं (अप्रमाणं) शब्दः। यो ह्युपलम्बनविषयः

* अथ न प्रत्यक्षमिति पाठो भवितुं युक्तः।

† 'जीवतो देवदत्तस्य' इति का० सं०।

‡ एतत्पूर्वमर्थव्यपदेश्यमिति ७।११।१७। पङ्क्तौ।

भा. नोपलभ्यते, स नास्ति, यथा शशस्य विषाणं । उपलभ्यमानानि चेन्द्रियाणि पञ्चादीनां, नच, पशुकामेष्टनन्तरं पशवः उपलभ्यन्ते । अतो नेष्टिः पशुफला । कर्मकाले च फलेन भवितव्यं, यत्कालं हि मर्द्दनं, तत्कालं मर्द्दनसुखं । 'कालान्तरे फलन्दास्यति' इति चेत् । न । 'न कालान्तरे फलमिष्टेः'—इत्यवगच्छामः* कुतः ? । यदा तावदसौ विद्यमाना आसीत्, तदा फलं न दत्तवती ; यदा फलमुत्पद्यते, तदासौ नास्ति ; असती कथं दास्यति ?† ।

प्रत्यक्षं च फलकारणमन्यत् उपलभामहे । नच दृष्टे कारणे सति, अदृष्टं कल्पयितुं शक्यते, प्रमाणाभावात् । एवं दृष्टापचारस्य वेदस्य स्वर्गाद्यपि फलं न भवतीति मन्यामहे ॥ दृष्टविरुद्धमपि भवति किञ्चिद्वचनं,—पाचयनं विधाय आह—“स एष यज्ञायुधी यजमानोऽन्नं स्वर्गं लोकं याति”—इति प्रत्यक्षं शरीरकं व्यपदिशति, नच तत् स्वर्गं लोकं यातीति, प्रत्यक्षं हि तत् दृश्यते, “नचैष याति” इति विधिशब्दः । एवंजातीयकं प्रमाणविरुद्धं वचनमप्रमाणं ; अम्बुनि भजति अलावूनि, यावाणः भवन्ते—इति यथा । तत्सामान्यादग्निहोत्रादिचोदनाख्यनाशवासः । तस्मान्न चोदनालक्षणोर्ध्वो धर्मः” ॥

‘ओत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धस्तस्य ज्ञानं’ (७।१) । तु-शब्दः पक्षं व्यावर्तयति । अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन संबन्धः । तस्य (अग्निहोत्रादिलक्षणस्यार्थस्य) ज्ञानं प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानस्य । तथा च चोदनालक्षणः सम्यक्संप्रत्ययः इति । पौरुषेये हि शब्दे यः प्रत्ययः, तस्य‡ मिथ्याभाव आशङ्कोत ; परंप्रत्ययो

* ‘कालान्तरे फल मिथ्येत्यवगच्छामः’ इति का० सं० ॥

† ‘अपिच तत्काल एव फलं भूयते, यागः करणमिति वाक्यादवगम्यते, कारणं चेदुत्पन्नं, कार्येण भवितव्यं’ इति अधिकं प्रा० पु० ॥

‡ ‘पौरुषेये हि सति सम्बन्धे यदास्य प्रत्ययः, तदा’ इति का० सं० ॥

हितदा स्यात् । अथ शब्दे ब्रुवतिकथं मिथ्येति ? नहि तदानीं
 अन्यतः पुरुषादवगतिमिच्छाम । ब्रवीतीत्युच्यते—बोधयति
 (बुद्ध्यमानस्य निमित्तं भवति) इति शब्दे च निमित्ते स्वयं बुध्यते,
 कथं विप्रलब्धं ब्रूयात् ?—‘नेतदेव—इति । नचास्य चोदना
 ‘स्यादा न वा’ इति—साशयिकं प्रत्ययमुत्पादयति । नच ‘मिथ्ये
 तत्’—इति कालान्तरे देशान्तरे ध्वस्यान्तरे पुरुषान्तरे वा पुनर-
 त्यपदेश्यप्रत्ययो भवति ? । योऽस्य प्रत्ययविपर्ययात् दृष्ट्वा
 अत्रापि विपर्ययसिध्यति—इत्यानुमानिकं प्रत्यय उत्पद्यते,*
 सोऽस्यनेन प्रत्यक्षेण प्रत्ययेन विरुध्यमानो बाध्यते । तस्मा
 चोदनालक्षण एव धर्मः ॥

‘स्यादेतदेव, नेव शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः, कुतोऽस्य पौरोषेयता
 अपौरोषेयता वेति । कथं ? । स्याच्चेदर्थेन सम्बन्धः, क्षुरमोदक
 शब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे स्यात्ता । । यदि सञ्ज्ञेयलक्षण
 सम्बन्धमभिप्रेत्योच्यते । कार्यकारण—निमित्तनैमित्तिकाभ्य-
 याथयिभाव—सयोगादयस्तु† सम्बन्धा शब्दस्यानुपपन्ना
 एवेति ॥

भा उच्यते । यो ह्यत्र व्यपदेश्य सम्बन्धः, तमेकं न व्यपदिशति
 भवान्, प्रत्याख्यस्य, प्रत्यायकस्य च यः सङ्गासङ्गिलक्षणः‡ इति ।
 ‘आह यदि प्रत्यायक शब्दः, प्रथमश्रुतं किं न प्रत्याययति ? ।
 उच्यते । सर्वं नो दर्शनं प्रमाणं ‘प्रत्यायक—इति हि
 प्रत्ययं दृष्ट्वा भवच्छाम ‘न प्रथमश्रुत—इति प्रथमश्रवणे प्रत्यय-
 मद्भूता, यावत्कृत्वश्रुतेन ‘इयं सञ्ज्ञा अयं सञ्ज्ञी—इत्यवधारितं
 भवति, तावत्कृत्वश्रुतादध्यावगम इति । यथा चक्षुः दृष्टुं न
 वाचेन प्रकाशेन विना प्रकाशयतीति श्रुष्टुं न भवति ॥ यदि

* ‘उत्पाद्यते’ इति प्रा० पु० । † ‘यौनादयस्तु’ इति का० स० ।

‡ ‘लक्षणः त’ इति का० श्री० ।

भा. प्रथमश्रुतो न प्रतगाययति, हतकस्तर्हि शब्दसगर्थेन संबन्धः ।
 कुतः ? । स्वभावतो ह्यसंबन्धावेतौ शब्दार्थौ, मुखे हि शब्दमुप-
 लभामहे, भूमावर्थः, 'शब्दोऽर्थं न त्वर्थः, अर्थोऽर्थं न शब्दः'—
 इति च व्यपदिशन्ति रूपभेदोऽपि भवति । 'गौः'—इतीमं शब्द-
 मुच्चारयन्ति, साक्षादिमन्तमर्थमवबुध्यन्ते इति । पृथग्भूतयोश्च
 यः संबन्धः, स हतको दृष्टः, यथा रज्जुघटयोरिति ॥

अथ 'गौः'—इत्यत्र कः शब्दः ? । गकारौकारविसर्जनीया इति
 भगवानुपवर्णः ; औचयक्षणे हि अर्थे लोके शब्दशब्दः प्रसिद्धः,
 ते च औचयक्षणाः ॥ "यद्येवं, अर्थप्रत्ययो नोपपद्यते ।। कथं ? ।
 एकेकाक्षरविज्ञानेऽर्थो नोपलभ्यते ; नचाक्षरव्यतिरिक्तोऽर्थः
 कश्चिदस्ति समुदायो नाम ; यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात् । यदा
 गङ्गाः, न तदा औकारविसर्जनीयौ, यदौकारविसर्जनीयौ, न
 तदा गङ्गाः । अतो* गङ्गादिव्यतिरिक्तोऽर्थो गोशब्दोऽस्ति,†
 यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात् । 'अन्तर्हिते शब्दे स्मरणार्थप्रतिपत्तिः
 चेत्' । न, स्मृतेरपि चाणकत्वादक्षरैस्तुल्यता । पूर्ववर्णज-
 नितसंस्कारसहितोऽन्तरो वर्णः प्रत्यायकः—इत्यदोषः ॥ 'नन्वेवं
 'शब्दादर्थं' प्रतिपद्यामहे—इति लौकिकं वचनमनुपपन्नं स्यात् ।
 उच्यते । यदि नोपपद्यते, अनुपपन्नं नाम । न हि 'लौकिकं
 वचनमनुपपन्नं'—इत्येतावता प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः
 शक्नोत्युपगन्तुं । लौकिकानि वचनान्युपपन्नार्थानि, अनुपपन्ना-
 र्थानि च दृश्यन्ते । यथा, 'देवदत्त! ग्रामभ्याज'—इत्येवमादीनि,
 'दश दाडिमानि षट् अपूपाः,‡ इत्येवमादीनि च ॥

ननु च 'शास्वकारा अप्येवमाज्जः, पूर्वापरीभृतं भावमाख्याते-

* यत्र नकारो ऽस्ति व्यधिकः का० स्त्री० पुस्तके ॥

† 'गङ्गादिव्यतिरिक्तः कश्चिदस्ति समुदायः' इति प्रा० पु० ।

‡ 'भूजगाजिनं' इति व्यधिकं प्रा० पु० ।

भा नाचष्टे 'व्रजति, पचति'—इत्युपक्रमप्रवृत्ति अपवर्गपर्यन्तमिति यथा'। न शास्त्रकारवचनमपि अत्र इममर्थमप्रमाणमुपपादयितुं ॥

अपिच नेव एतत् अनुपपन्नार्थं, 'अचरेभ्य सस्कारा, सस्कारादर्थप्रतिपत्ति —इति सम्भवति अर्थप्रतिपत्तौ अचराणि निमित्तं। 'गौण एवार्थप्रतिपत्तौ शब्द' * इति चेत्। न गौणोऽचरेषु निमित्तभावः, तद्भावे भावात्, तदभावे चाभावात् ॥

अथापि 'गौण स्यात्'। न, गौण शब्दो नाभूत्—इति प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः शक्यः परिकल्पयितुः। न हि 'अग्निर्माणवक —इत्युक्ते अग्निशब्दो, 'गौणो ना भूत् —इति 'ज्वलन एव माणवक,—इत्यथवसीयते। नच प्रत्यक्षा 'गकारादिभ्यो ण्यो गोशब्द' इति, भेददर्शनाभावात्, अभेददर्शनाच्च। गकारादीनि, हि प्रत्यक्षाणि। तस्मात् 'गौ'—इति गकारादिविसर्जनीयान्तं पदं अचराण्येव। अतो न तेभ्यो व्यतिरिक्तं अन्यत् पदं नामिति ॥ ननु 'सस्कारकल्पनायामप्यदृष्टकल्पना। उच्यते। शब्दकल्पनाया सा च, शब्दकल्पना च। तस्मादचराण्येव पदं ॥

अथ 'गौ —इत्यस्य शब्दस्य कोऽर्थः ?। 'साक्षाद्विशिष्टा इति'—इति ब्रूम ॥ ननु 'आहति साध्याश्रितं वा न वा इति ?। न प्रत्यक्षा सती साध्या भवितुमर्हति, 'रचकः, सुस्तिको, चङ्गमानक —इति हि प्रत्यक्षं दृश्यते।' 'व्यामोक्ष —इति चेत्। न। न असत्प्रत्ययविपर्ययात् 'व्यामोक्ष —इति शक्यते वक्तुः। 'असत्यप्यर्थान्तरे एवजातीयको भवति प्रत्ययः, 'पक्तिः, यूयं धन —इति यथा इति' चेत्। न, असंबद्धमिदं वचनमुपन्यस्यते, किं असति वने धनप्रत्ययो भवति इति ?। प्रत्यक्षमेवाक्षिप्यते,—'दृष्ट्वा अपि न सन्ति' इति। यद्येव, प्रत्युक्तं स

भा. माहाजानिकः* पक्षः। अथ 'किमाकृतिसङ्गाववादी उपाल-
भ्यते, सिद्धान्तान्तरं ते दुष्यति इति वनेऽपि सति† वनप्रत्ययः
प्राप्नोति—इति'। एवमपि, प्रकृतं दूषयितुमशक्नुवतस्तत्-
सिद्धान्तान्तरदूषणे निग्रहस्थानमापद्यते, असाधकत्वात्। स हि
वक्ष्यति—दुष्यतु, यदि दुष्यति; किं तेन दुष्टेन, अदुष्टेन वा
प्रकृतं त्वया साधितं भवति, मदीयो वा पक्षो दूषितो भवति?
इति। न च 'वृक्षव्यतिरिक्तं वनं यस्मात् न उपलभ्यते, अतो 'वनं
नास्ति' इत्यवगम्यते'। यदि वने अन्येन हेतुना सङ्गावविपरीतः
प्रत्यय उत्पद्यते, मिथ्यैव वनप्रत्ययः—इति; ततो 'वनं नास्ति'
इत्यवगच्छामः। नच गवादिषु प्रत्ययो विपर्येति! अतो वैयर्थ्यं।
अथ वनादिषु नैव विपर्येति, न 'ते न सन्ति'—इति। तस्मात्
असंबन्धः पंक्तिवनोपन्यासः। अत उपपन्नं जैमिनिवचनं. "आ-
कृतिः शब्दार्थः" इति। यथाच आकृतिः शब्दार्थः, तथोपरिष्ठात्
(१ अ०। ३ पा०) निपुणतरमुपपादयिष्याम इति ॥

अथ 'संबन्धः कः?' इति। यत्, शब्दे विज्ञातेर्था विज्ञायते,
स तु 'कृतकः'—इति पूर्वं (१३।१) उपपादितं। तस्मात्
मन्यामहे—'केनापि पुरुषेण शब्दानामर्थैः सह संबन्धं कृत्वा
संबन्धवद्भूतं वेदा प्रणीता' इति'। तदिदानीं उच्यते—अपौ-
रुषेयत्वात् सम्बन्धस्य सिद्धं इति। कथं पुनरिदमवगम्यते
'अपौरुषेयः एषः सम्बन्धः'—इति? पुरुषस्य सम्यन्तुरभावात्।
कथं संबन्धा नास्ति? प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्याभावात्, तत्पूर्व-
कत्वाच्चेतरेषां। ननु 'चिरवृत्तत्वात् प्रत्यक्षस्याविषयो भवेत्
इदानीन्तनानां'। न हि चिरवृत्तः सन् न स्मर्येत। न च हिमव-
दादियु कूपारामादिवत् अस्मरणं भवितुमर्हति ॥ पुरुषविद्योगो

* 'माहायानिकः' इति बङ्गवु दृश्यते ।

† सतीत्यत्र 'ते हि' इति प्रा० पु० ।

भा हि तेषु भवति, देशोत्सादेन कुलोत्सादेन वा । न च, शब्दार्थं व्यवहारवियोगो पुरुषाणामस्ति ॥ स्यादेतत् 'सम्बन्धमावयवहारिणो निप्रयोजन कर्तृस्मरणमनाद्रियमाना विसृरेयु इति । तन्न । यदि हि पुरुष कृत्वा सम्बन्ध व्यवहारयेत्, व्यवहारकाले अवश्य स्मर्त्तव्यो भवति । सप्रतिपत्तौ हि कर्तृव्यवहर्त्तार्यं सिध्यति, न विप्रतिपत्तौ । न हि वृद्धिशब्देन अपाणिनेर्यवहारत आदेच प्रतीयेरन * पाणिनिह्यतिमननुमन्यमानस्य वा । तथा मकारेण अपिङ्गलस्य न सर्वगुरुस्त्वक प्रतीयेत, पिङ्गलह्यतिमननुमन्यमानस्य वा । तेन कर्तृव्यवहर्त्तारौ सप्रतिपद्येते । तेन वेदे व्यवहारद्विरवश्य स्मरणीय संबन्धस्य कर्त्ता स्यात्, व्यवहारस्य च । न हि " विसृते वृद्धिरादैच (पाणि० १ सू०) इत्यस्य सूत्रस्य कर्त्तरि 'वृद्धिर्यस्याच्चात्मादि' (पा० १ अ०) १ पा० । ३२ सू०) इति किञ्चित् प्रतीयेत ॥

तस्मात्कारणादवगच्छाम — न, कृत्वा संबन्ध व्यवहारार्थं केनचिदेदा प्रणीता — इति । यद्यपि च विसृरणमुपपद्येत, तथापि न प्रमाणमन्तरेण संबन्धार्थं प्रतिपद्येमहि, यथा, विद्यमानस्याप्यनुपलम्भनं भवतीति, नैतावता विना प्रमाणेन गमविषाण प्रतिपद्यामहे ॥ तस्मादपीरूपेय शब्दस्यार्थेन संबन्ध इति ॥ ननु 'अर्थापत्त्या संबन्धार्थं प्रतिपद्येमहि न दृष्टत-संबन्धाच्चङ्गादयं प्रतिपद्यमानान् उपपन्नमामहे । । प्रतिपदार्थ-येत् प्रथमग्रहणेऽपि प्रतिपद्येरन्, तदनुपलम्भनादवगमं भवितव्य संबन्धा' इति चेत् । न, सिद्धवदुपदेशात् । यदि संबन्धुरभावात् नियोक्तो नाद्या उपपन्नेरन ततोऽर्थापत्त्या

* 'प्रतिपद्येरन्' इति वा०की० सू० ।

† 'मा तिरुज' इति सिद्धमूल 'मस्तिमूल' इति हलायुधकृततात्पर्यात् ॥

भा. संबन्धारमवगच्छामः । अस्ति तु अन्यः प्रकारः ; 'वृद्धानां स्वार्थेन संव्यवहारमाणानां' उपशृण्वन्तो बालाः प्रत्यक्षमर्थं प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते । तेषु वृद्धा यदा बाला आसन्, तदान्येभ्यो वृद्धेभ्यः ; तेष्वन्येभ्यः—इति नास्त्यादिः—इत्येवं वा भवेत्, अथ वा ; 'न कश्चिदेकोऽपि शब्दस्यार्थेन संबन्धः आसीत्, अथ केनचित् संबन्धाः प्रवर्तिताः'—इति ; अत्र वृद्धव्यवहारे सति नार्थादापद्येत संबन्धस्य कर्त्ता ॥ अपि च व्यवहारवादिनः प्रत्यक्षमुपदिशन्ति, कल्पयन्ति इतरे संबन्धारं ; नच, प्रत्यक्षे प्रत्यर्थिनि कल्पना साध्वी ! तस्मात् संबन्धुरभावः ।

'अव्यतिरेकश्च' (७।२) यथा अस्मिन् देशे, साक्षादिमति गोशब्दः, एवं सर्वेषु दुर्गमेष्वपि ; बहवः संबन्धारः कथं सगंस्यते ? एको न शक्नुयात्, अतो नास्ति संबन्धस्य कर्त्ता ॥ (अपरः आह 'अव्यतिरेकश्च' न हि, संबन्धव्यतिरिक्तः कश्चित्कालोऽस्ति' यस्मिन् न कश्चिदपि शब्दः केनचिदर्थेन संबद्ध आसीत् । कथं ? । संबन्ध-क्रियैव हि नोपपद्यते,—अवश्यमनेन संबन्धं कुर्वता केनचिच्छब्देन कर्त्तव्यः ; येन क्रियेत, तस्य केन हतः ? अथान्येन केनचित्हातः ; तस्य केनेति, तस्य केनेति ? नैवावतिष्ठते । तस्मादवश्यमनेन संबन्धं कुर्वता अहातसंबन्धाः केचन शब्दाः वृद्धव्यवहारसिद्धाः अभ्युपगन्तव्याः । अस्ति चेत् व्यवहारसिद्धिः, न नियोगतः संबन्धा भवितव्यमिति अर्थापत्तिरपि नास्ति) ।

स्यादेतत्, 'अप्रसिद्धसंबन्धाः बालाः कथं वृद्धेभ्यः प्रतिपद्यन्ते ?' इति । नास्ति दृष्टेः नुपपन्नं नाम ; दृष्टाः हि बालाः वृद्धेभ्यः प्रतिपद्यमानाः ; न च प्रतिपन्नसंबन्धाः संबन्धस्य कर्तुः । तस्मादप्यर्थः ।

'अर्थेऽनुपलब्धे' (७।२) अनुपलब्धे च देवदत्तादावर्थेऽन्यकं

भा संज्ञाकरणं, अशक्यं च। विशेषान् प्रतिपत्तुं हि संज्ञाः क्रियन्ते
विशेषाद्योद्दिश्य; तद्विशेषेष्वज्ञायमानेषु उभयमप्यनवकृत्तं।
तस्मादपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन संबन्धः। अतश्च 'तत् प्रमाणं'
(७।२) 'अनपेक्षत्वात्' (७।३) न च, एवं सति पुरुषान्तरे
प्रत्ययान्तरस्य अपेक्ष्यते। तस्माच्चोदनालक्षणः एव धर्मा
नान्यलक्षणः। वादरायणपक्षेणमुक्तं (७।१५)* ॥

अथ, यदुक्तं (१०।२४) 'अनिमित्तं शब्दः कर्मकाले फलादर्श-
नात् कालान्तरे च कर्माभावात्प्रमाण नास्ति'—इति। तदुच्यते—
न स्यात्प्रमाणं, यदि पक्षैव प्रमाणान्यभविष्यन्; येन येन हि
प्रमोयते तत्तत् प्रमाणं, शब्देनापि प्रमोयते; ततः शब्दोऽपि
प्रमाणं, यदैव प्रत्यक्षं। न च, 'प्रमाणेनावगतं प्रमाणान्तरेणा-
नवगतं'—इत्येतावता अनवगतं भवति। न चैवं श्रूयते—'ह्यते
कर्मणि तावतैव फलं भवति; किन्तु 'कर्मणः फलं प्राप्यते'—इति,
यच्च (११।८) 'कालान्तरे फलस्यान्यत्प्रत्यक्षं कारणमस्ति'—
इति। नैष दोषः, तथैव हि तत्र कारणं, शब्दस्येति ॥

यत्तु प्रत्यक्षविरुद्धं यच्चनमुपन्यस्तं (११।११) "स एष यज्ञा-
युधी यजमानोऽग्निसा स्वर्गं लोकं याति"—इति प्रत्यक्षं
शरीरकं यद्यदिशति—इति। तदुच्यते, शरीरसंबन्धात्, यस्य
तच्छरीरं सोऽपि तैर्यज्ञायुधै 'यज्ञायुधी'—इत्युच्यते। 'आह—
कोऽसावन्यो!' नैतमुपलभामहे'। प्राणादिभिरेनमुपलभामहे,
योऽसौ प्राणिति, अपानिति, उच्छ्वसिति, निमिशिति, इत्यादि
चेष्टितवान्, सोऽव शरीरे 'यज्ञायुधी'—इति। ननु 'शरीरमेव
प्राणिति अपानिति च'। न, प्राणादयः शरीरगुणविधर्माणीत्या-
वच्छरीरभावितात्, यावच्छरीरं, तावदस्य गुणाः स्यादयः।
तस्मात्तदुक्तं यद्यपि शरीरे न भवति। सखादयश्च स्वयमुप-

भा. लभ्यन्ते, न रूपादयः इव शरीरगुणाः परेणापीति । तस्मा—
च्छरीरगुणवेधमर्यादन्यः शरीरात् यज्ञायुधीति ।

आह,—“कुतः एयः संप्रत्ययः ?—सुखादिभ्योऽन्यस्तद्वान्
अस्तीति, न हि सुखादिप्रत्याख्याननेन तस्य स्वरूपमुपलभामहे ।
तस्मात् शशविषाणवत् असौ नास्ति । अथोच्यते, ‘तेन विना कस्य
सुखादयः ?’ इति । ‘न कस्यचिदपि’—इति वक्ष्यामः । न हि
यो यः* उपलभ्यते, तस्य तस्य संबन्धिना भवितव्यं । यस्य संबन्धो-
ऽप्युपलभ्यते, संयंधी च ‘तस्यायं संबन्धी’—इति गम्यते । न हि,
चन्द्रमसं, आदित्यं वा उपलभ्य संबन्धान्वेषणा भवति—‘कस्यायं’
—इति । ‘न कस्यचिदपि’ इत्यवधार्यते । तस्मान्न सुखादिभ्योऽन्यः
तद्वान् अस्तीति । अथ ‘उपलब्धस्यावश्यं कल्पयितव्यः संबन्धी
भवति’ । ततः आत्मानमप्यनेन प्रकारेणीपलभ्य, ‘कस्यायं’ ?—
इति संबन्ध्यन्तरमन्वित्वेमा† । ‘तमपि कल्पयित्वा, अन्यमपि
कल्पयित्वा, अन्यं’—इत्यव्यवस्थैव स्यात् । अथ कश्चित् कल्प-
यित्वा न संबन्ध्यन्तरमपि कल्पयिष्यसि, तावत्येव विरंस्यसि,
तावता च परितोष्यसि ; ततो विज्ञाने एव परितुष्य तावत्येव
विरंतुमर्हसि” ।

अथोच्यते । यदि विज्ञानादन्यो नास्ति, कर्तुर्हि ‘जानाति’
—इत्युच्यते ? । ज्ञानस्य कर्तुरभिधानं अनेन शब्देनोपपद्यते ।
‘तदेयः शब्दोऽर्थवान् कर्तव्यः’—इति ज्ञानादगतिरिक्तमात्मानं
कल्पयिष्यामः इति ।

आह ‘वेदाः‡ एनं शब्दमर्थवानं कल्पयिष्यन्ति, यदि कल्प-
यितव्यं प्रमंस्यन्ते । बह्वः खल्विह जनाः ‘अस्ति आत्मा, अस्ति
आत्मा’—इति—आत्मसत्तावादिनः एव शब्दस्य प्रत्यक्षवक्तारो

* यत्र ‘योऽय’ इति का० क्री० ‘यो य’ इति प्रा० पु० ।

† ‘अन्वित्वेमा’ इति का० क्री० । ‡ ‘देवाः’ इति का० सं० ।

भा. अत्राह 'स्मृतिरपि इच्छावत् पूर्वज्ञानसदृशं विज्ञानं, पूर्व-
विज्ञानविषयं वा 'स्मृतिः'—इत्युच्यते; तच्च द्रष्टरि विनष्टेऽपि
अपरेद्युष्टपक्षमानं नानुपपन्नं, प्रत्यक्षावगतत्वादेव । अन्य-
स्मिन्* स्तब्धघनेऽन्येन स्तब्धघनेन यत् ज्ञानं, तत्संततिजेनान्ये-
नोपलभ्यते, नातत्संततिजेनान्येन । तस्माच्छून्याः स्तब्धघनाः
इति । अथास्मिन्नर्थे—(दृ० उ० ६ अ० ५ ब्रा०) ब्राह्मणं भवति,
“विज्ञानघन एवेतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति
न मेत्य संज्ञास्ति” इति ।

उच्यते नैतदेवं; अन्येद्युर्दृष्टेऽपरेद्यः 'अहमिदमदर्श'—इति
भवति प्रत्ययः; प्रत्यगात्मनि चैतद्भवति, न परञ्च, अपरोक्षसौ
अन्येद्युर्दृष्टवान् । तस्मात् तद्वतिरित्तोऽन्योऽस्ति, यत्रायं 'अहं'
—शब्दः ॥

आह—'परत्राप्यहंशब्दो भक्त्या दृश्यते; यथा अहमेव पुत्रः,
अहमेव देवदत्तः, अहमेव गच्छामि' इति । अत्रोच्यते, न वयं
'अहं'—इतोमं शब्दं प्रयुज्यमानमन्यस्मिन्नर्थे हेतुत्वेन व्यपदि-
शामः; किं तर्हि शब्दाद्वतिरित्तं प्रत्ययं प्रतीमो वयं, 'इममर्थ'
वयमेवान्येद्युरुपलभामहे, वयमेवाद्य स्मरामः' इति । तस्माद्वय-
मिममर्थमवगच्छामः,—'वयमेव ह्यः, वयमेवाद्य' इति । ये ह्यः,†
अद्य च न ते विनष्टाः । अथाप्यस्मिन्नर्थे ब्राह्मणं भवति,—(दृ०
उ० ४ अ० ५ ब्रा०) “स वा अयमात्मा”—इति प्रकृत्य आमर्नन्ति
“अशीर्यो न हि शीर्यते” इति, तथा (दृ० उ० १ ६ अ०
ब्रा० ५) “अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छिन्तिधर्मा”
इति । विनश्यरं च विज्ञानं । तस्मादिनश्वरादन्यः स इत्य-

* 'एकस्मिन्' इति का० सं० ।

† 'परोक्षसौ, योऽन्येद्युर्दृष्टवान्' इति प्रा० पु० ।

‡ 'ये चामी ह्यः' इति का० क्री० ।

§ दृष्टशब्दस्य वर्गवकारोऽपि कस्यचित् सम्मतः ।

भा वगच्छाम । न च शक्यमेवमवगन्तु—यथोपलभ्यन्ते अर्था न
तथा भवतीति यथा तु खलु नोपलभ्यन्ते तथा भवन्तीति ।
तथा हि सति शशो नास्ति शशस्य विषाणमस्तीत्यवगम्येत ॥
नच अहमत्ययो व्यामोह —इति शक्यते वक्तुं बाधक
प्रत्ययाभावात् । तस्मात् सखादिभ्य व्यतिरिक्तोऽस्ति । एवञ्चेत
स एव 'यज्ञायुधो'—इति व्यपदिश्यते ।

आह— यदि विज्ञानादन्यदस्ति विज्ञातृ विज्ञानमपास्य
तन्निदर्शयतां—'इदं तत् ईदृशं च'—इति न च तत् निदर्शयते ।
तस्मान्न ततोऽन्यदस्ति' इति । अचोचरते स्वसवेद्यं स भवति
नासावन्धनं शक्यते द्रष्टुं कथमसौ निदर्शयते ? इति यथा च
कश्चित् चक्षुर्मान स्वयं रूपं पश्यति न च शक्नोत्यन्यस्मै जात्य
न्धाय तत् निदर्शयितुं । न च तत् न शक्यते निदर्शयितुं
—इत्येतावता नास्ति—इत्यवगम्यते ॥ एवमसौ पुरुष
स्वयमात्मानमुपलभते न चान्यस्मै शक्नोति दर्शयितुं अन्यस्य
द्रष्टुस्तं पुरुषं प्रति दर्शनशक्तभावात् सोऽन्यस्य पुरुष
स्वयमात्मानमुपलभते, न च परात्मानं । तेन सर्वं स्वेन
स्वेनात्मना आत्मानमुपलभमाना सन्तेऽव (यद्यपि परपुरुषं
नोपलभन्ते) इति । अथास्मिन्नर्थे ब्राह्मणं (ह० उ० ६ अ ३ ब्रा)
भवति— शाताया वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुष आत्म
ज्योति सन्नादिति होवाच * इति । 'परेण नोपलभ्यते—
इत्यत्रापि ब्राह्मणं (ह० उ० ५ अ १८ ब्रा) भवति— अगृह्यो
नहिं गृह्यते' इति । परेण न गृह्यते—इत्येतदभिप्राय
मेतत् । कुत ? स्वयज्योतिरववचनात् । अथापि ब्राह्मणं (ह०
उ० ६ ब्रा ७) भवति 'अत्रापि पुरुष स्वयज्योतिर्भवति' इति ।
'केन पुनरुपायेनायमन्यस्मै कथ्यते—इति ? । तच्चाप्युपाये

* मुद्रितपुस्तके उद्धृतब्राह्मणानां पाठभेदलक्ष्यमस्ति ।

मा. ब्राह्मणं (ट० उ० ६ अ २ ब्रा) भवति, “स एष ‘न’—इति, ‘न’—इति आत्मेति होवाच” इति । ‘असौ एवरूपः’—इति न शक्यते निदर्शयितुं । यच्च परः पश्यति, तत्प्रतिषेधस्तस्य उपदेशोभायः; शरीरं परः पश्यति, तेनात्मा उपदिश्यते, —‘शरीरं नात्मा, अस्ति शरीरादन्यः इति, स चात्मा’—इति—शरीरप्रतिषेधेनोपदिश्यते । तथा प्राणादयो नात्मानः, तत्प्रतिषेधेन तेभ्योन्यः उपदिश्यते । तथा परस्थाः सुखादयः परेण लिंगैरुपलभ्यते, ‘तेभ्यो नात्मानः’—इति—तत्प्रतिषेधेनान्यः उपदिश्यते । ‘यः स्वयं पश्यति, न ततोभ्यः पुरुषः’—इत्येतदपि पुरुषप्रवृत्त्यानुमीयते,—यदाभसौ पुरुषः पूर्वेषु सामिहिकतानामर्थानां प्रतिसमाधाने शेषानुष्ठाने च यतते, अतः प्रवृत्त्याभ्यगम्यते—‘नूनमसावनित्यान् नित्यमवगच्छति’ इति ॥

उपमानाच्चोपदिश्यते, यादृशं भवान् स्वयमात्मानं पश्यति, अनेनोपमानेनावगच्छ—‘अहमपि तादृशमेव पश्यामि’—इति । यथा कश्चिदात्मीयां वेदनां परस्मै आचक्षीत,—दृष्टमानस्येव मे भवति, यात्यमानस्येव मे भवति, रुद्धमानस्येव मे भवतीति । अतः स्वयमवगम्यमानत्वादस्ति तद्वतिरिक्तः पुरुषः इति ॥

यदुच्यते—“विज्ञानमपास्य तत् निदर्शयता” (२२ । १३) इति । यदुपायमेव नियेधसि, न शक्यमुपायमन्तरेणोपेयमुपेतं; अयमेवाभ्युपायो ज्ञातव्यानामर्थानां—‘यो यथा ज्ञायते स तथा’ इति । तत् यथा, कः शुको नाम? । यच्च शुक्लत्वमस्ति । किं शुक्लत्वं नाम? । यच्च शुक्लशब्दप्रवृत्तिः । ‘क तस्य प्रवृत्तिः?’ । यच्छुक्लशब्दे उच्चरिते प्रतीयते । तस्मान्न विज्ञानं प्रत्याख्याय कस्यचिद्रूपं निदर्शयितुं शक्यं । न च, नियोगतः प्रत्यये प्रतीते प्रत्ययार्थः प्रतीतो भवति । अप्रतीतेऽपि हि प्रत्यये सति अयः प्रतीयते एव । न हि, विज्ञानं प्रत्यक्षं । विज्ञेयोर्थः प्रत्यक्षः इति । एतत् पूर्वमेवोक्तं (८ । १५) ।

भा खेधपङ्कवे काम विज्ञानमपक्रुयेत। नार्था इत्येतदुक्तमेव (१०।

४)। तस्मादस्ति शुद्धादिभ्योऽन्यो नित्य पुरुष इति ॥

अथ यदुक्त (२१।११) “विज्ञानघन एवेतेभ्यो भूतेभ्य समुत्पाद्य तान्येवानुविनश्यति न मेत्य सञ्जागस्ति—इति’। अत्रोच्यते। ‘अथैव मा भगवान मोक्षान्तमपीपदत्’* इति—परिचोदनोत्तरकाले अपक्रुत्य मोक्षाभिप्रायमस्य वर्णितवान्—‘न वा अरे मोक्ष ब्रवीमि, अविनाशो वा अरेभ्यमात्मानुच्छि त्तिधर्मा माचाससर्गस्त्वस्य भवति’ (वृ० उ० ६ अ० ५ ब्रा) इति। तस्मान्न विज्ञानमात्र, तस्मादेवम्य ॥ यदुक्त (११।१४) ‘नचैष याति—इति विधिशब्द इति। मा भूदिधिशब्द “सर्गकामो यजेत”—इति वचनातरेणावगतमनुवदित्यते। तस्मादविरोध ॥

स कर्मके तत्र दर्शनात् ॥ ६ ॥ (पू० १)

भा उक्त (७।४) ‘नित्य शब्दार्थयो संबध इति। तदनुपपन्नं, शब्दस्यानित्यत्वात् विनष्ट शब्द, पुनरस्य क्रियमाणस्यार्थेन असतक संबधो नोपपद्यते, न हि प्रथमश्रुताकृदात् कश्चिदर्थ मयेति ॥ ‘कथं पुनरनित्य शब्द ?। प्रयत्नादुत्तरकाले दृश्यते यत। अत प्रयत्नानन्तर्यात् तेन क्रियते—इति गम्यते। ननु ‘अभिव्यज्यात स एन। नेति ब्रूम। नहि अस्य प्राक् अभिव्यंज नात् सङ्क्षेपे किंचन प्रमाणमस्ति ॥ सन च अभिव्यज्यते, नासन (पू० १) ॥

स अस्यानात् ॥ ७ ॥ (पू० २)

भा नो! खल्वप्युच्चरितं मुहूर्तमप्युपलभामहे। अतो ‘विनष्ट—इत्यवगच्छाम। नच सन् न उपलभ्यते! अनुपलभकारणाना

* ‘आपीपिपत्’ इति का० की०। † ‘नचैवमुच्चरित’ इति का० की०।

भा. व्यवधानादीनामभावेऽप्यनुपलम्भनात् ; न च, असौ विषयम-
प्राप्तः । आकाशविषयत्वात् ; कर्णच्छिद्रेऽप्यनुपलम्भनात् (पू०
२) ॥

सू. करोतिशब्दात् ॥ ८ ॥ (पू० ३)

भा. अपि च 'शब्दं कुरु, मा शब्दं कारीः'—इति—व्यवहर्त्तारः
प्रयुजंते, न ते नूनमवगच्छन्ति—'स एवायं शब्दः'—इति
(पू० ३) ॥

सू. सत्वान्तरे च यौगपद्यात् ॥ ९ ॥ (पू० ४)

भा. नानादेशेषु च युगपच्छब्दमुपलभामहे, तत् एकस्य नित्यस्या-
नुपपन्नमिति । असति विशेषे नित्यस्य न अनेकत्वं ; कार्याणान्तु
बहूनां नानादेशेषु क्रियमाणानामनुपपद्यतेऽनेकदेशसंबन्धः,
तस्मादप्यनित्यः (पू० ४) ॥

सू. प्रकृतिविद्यत्योश्च ॥ १० ॥ (पू० ५)

भा. अपि च 'दध्यत्र'—इत्यत्र 'इकारः प्रकृतिः, यकारो विद्यतिः'—
इत्युपदिशन्ति ; यद्विक्रियते, तदनित्यं ; इकारसादृश्यं च
यकारस्योपलभ्यते, तेनापि तयोः प्रकृतिविकारभावो लक्ष्यते
(पू० ५) ॥

सू. दृष्टिय कर्तृभूत्वाऽस्य ॥ ११ ॥ (पू० ६)

भा. अपि च बह्वभिरुच्चारयद्भिर्महान् शब्दः श्रूयते ; स यदि अभि-
ध्यज्यते, बह्वभिरुच्चार्यमाणस्तावानेवोपलभ्येत । अतो
मन्यामहे,—नूनमस्य एकैकेन कश्चिदवयवः क्रियते, यत्प्रचयादयं
महान् उपलभ्यते (पू० ६) ॥

स समन्तु तच्च दर्शनम् ॥ १२ ॥ (उ० १)

भा तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते । यदुक्तं (पू० १) 'प्रयभादुत्तर-
काक्षे दर्शनात् छतकोभ्यं'—इति । यदि विस्पष्टेन हेतुना
शब्दस्य नित्यत्वं वक्तुं शक्यामः ; ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात्
'प्रयत्नेनाभिव्यज्यते'—इति भविष्यति ; यदि प्रागुच्चारणा-
दनभिव्यक्तं प्रयत्नेनाभिव्यज्यते । तस्मादुभयोः पक्षयोः सम-
मेतत् (उ० १) ॥

स सतः परम् अदर्शनं विषयानाम्मात् ॥ १३ ॥ (उ० २)

भा यदपरं कारणमुक्तं (पू० २) 'उच्चरितमध्वस्तः'—इति ।
अत्रापि यदि शक्यामो नित्यतामस्य विस्पष्टं वक्तुं, ततो नित्य-
प्रत्ययसामर्थ्यात् कदाचिदुपलंभं, कदाचिदनुपलंभं दृष्ट्वा किञ्चि-
दुपलम्भस्य निमित्तं कल्पयिष्यामः, तच्च संयोगविभागसद्भावे
सति भवतीति 'संयोगविभागावेवाभिव्यञ्जकौ'—इति वक्ष्यामः ।
'उपरतयोः संयोगविभागयोः श्रूयते' इति चेत् । नेतदेवं । न
नूनमुपरमंति संयोगविभागाः, यतः उपलभ्यते शब्दः—इति,
न हि ते प्रत्यक्षाः इति ॥

“यदि शब्दं संयोगविभागाः एवाभिव्यञ्जन्ति, न कुर्वन्ति,
आकाशविषयत्वाच्छब्दस्य, आकाशस्यैकत्वात्, यः एवायमन्व
योवाकाशः, स एव देशान्तरेष्वपीति शुद्धस्यैः संयोगविभागैर-
भिव्यक्तः पाटलिपुत्रेष्वुपलभ्येत ।। यस्य पुनः कुर्वन्ति, तस्य
वायवीयाः संयोगविभागाः वायवाश्रितत्वादायुष्वेव करिष्यन्ति ।
यथा, तन्तवः तन्तुत्वेव पटं, तस्य पाटलिपुत्रेष्वनुपलंभो युक्तः,
शुद्धस्यत्वात्तेषां । 'यस्याप्यभिव्यञ्जन्ति, तस्याप्येष न दोषः,
दूरे सत्याः कर्णशक्त्याः अनुपकारकाः संयोगविभागाः, तेन
दूरे यच्छेषं, तेन नोपलभ्यते' इति । नेतदेवं, अत्राप्ताश्चेत्

भा. संयोगविभागाः ओचस्योपकुर्युः ; सन्निहृष्टविप्रहृष्टदेशस्थौ युग
पच्छब्दमुपलभेयातां ! न च युगपदुपलभेते । तस्मान्नाप्राप्ताः
उपकुर्वन्ति ; न चेदुपकुर्वन्ति, तस्मादनिमित्तं शब्दोपलभने
संयोगविभागौ इति” ।

नेतदेवं, अभिघातेन हि प्रेरिताः वायवस्तिमितानि वाय्व-
न्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतोदिक्कान् संयोगविभागान् उत्-
पादयन्ति, यावद्देगमभिप्रतिष्ठन्ते । ते च वायोरप्रत्यक्षत्वात्
(संयोगविभागाः) नोपलभ्यन्ते । अनुपरतेष्वेव तेषु शब्दः उप-
लभ्यते, नोपरतेषु । अतो न दोषः । अत एव चानुवातं दूरादु-
पलभ्यते शब्दः (उ० २) ॥

ख प्रयोगस्य परम् ॥ १४ ॥ (उ० ३)

भा. यदपरं कारणमुक्तं—‘(पू० ३) ‘शब्दं कुरु, मा कार्योः’—इति
अवहर्त्तारः प्रयुज्जन्ते । यद्यसंशयं नित्यः शब्दः, शब्दप्रयोगं
कुर्वन्ति भविष्यति ; यथा गोमयात् कुर्वन्ति संहारे* (उ० ३) ॥

ख आदित्यवद्यौगपद्यम् ॥ १५ ॥ (उ० ४)

भा. यत्तु (पू० ४।) ‘एकदेशस्य सतो नानादेशेषु युगपद्दर्शन-
मनुपपन्न’—इति । आदित्यं पृथग् देवानांप्रियः † एकः सन्
अनेकदेशावस्थित इव लक्ष्यते । ‘कथं पुनरवगम्यते ‘एकः
आदित्यः’—इति ?’ । उच्यते, प्राङ्मुखो देवदत्तः पूर्वाङ्के
संप्रति पुरस्तादादित्यं पश्यति ; तस्य दक्षिणतोऽवस्थितो न द्वौ
पश्यति, आत्मनश्च संप्रति न तिरश्चीनः ‡ देवदत्तस्यार्जवे ।

* ‘सवाहे’ इति का० क्री० । † ‘देवानां प्रियो यः’ इति का० सं० ।

‡ ‘आत्मनश्च संप्रतिस्थिते तिरश्चीनः’ इति का० सं० । आत्मनश्च
संप्रति न तिरश्चीनः’ इति तु का० क्री० ।

भा. तस्मादेक आदित्य इति । दूरत्वादस्य देशो नावधार्यते ; अतो व्यामोहः । एवं शब्देऽपि व्यामोहादनवधारणं देशस्य । यदि श्रोत्र सयोगविभागदेशमागत्य शब्दं गृह्णीयात्, तथापि ताव-
दनेकदेशता कदाचिदवगम्येत, न च, तत् संयोगदेशमागच्छति !
प्रत्यक्षा हि कर्णशृङ्गुली तद्देशा गृह्यते ; वायवीयाः पुनः
सयोगविभागाः अप्रत्यक्षस्य वायोः, कर्णशृङ्गुलीप्रदेशे प्रादुर्भ-
वन्तो नोपलभ्यन्ते—इति नानुपपन्नं । अत एव व्यामोहः,—यत्,
नानादेशेषु शब्दः इति । आकाशदेशस्य शब्दः—इति, एकं च
पुनराकाश, अतोऽपि न नानादेशेषु । अपि च ऐक्यस्ये सति
देशभेदेन कामं देशा एव भिन्ना , न तु शब्दः । तस्मादयमप्य-
दोषः (उ० ४) ॥

ख. वर्णान्तरमविकारः ॥ १६ ॥ (उ० ५)

भा. न च, 'दध्यव'—इत्यत्र प्रकृतिविकारभावः (पू० ५) ।
शब्दान्तरं इकारात् यकारः । न हि, यकारं प्रयुज्जाना इका-
रमुपाददते ! यथा, कटं चिकीर्षन्ती वीरणानि । न च, सादृश्य-
मात्रं दृष्ट्वा प्रकृतिः, विहृतिर्वा उच्यते । न हि, दधिपिटकं
दृष्ट्वा कुन्दपिटकं च, प्रकृतिविकारभावोऽवगम्यते । तस्मादय-
मप्यदोषः (उ० ५) ॥

ख. नादवृद्धिपरा ॥ १७ ॥ (उ० ६)

भा. 'यथेतत् 'मङ्गभिर्भेरीमाध्मनद्भिः शब्दमुच्चारयन्निर्ममं हान् शब्दः
उपलभ्यते, तेन प्रतिपूर्यं शब्दावयवप्रचय इति गम्यते' (पू० ६) ।
नैवं ; निरवयवो हि शब्दः, अवयवभेदानवगमात्, निरव-
यवत्वाच्च महत्त्वानुपपत्तिः,—अतो न वर्धते शब्दः । मृदुरेकेन,

भा. बज्रभियोच्चार्यमाणे तान्येवाक्षराणि (कर्णशङ्कुलीमण्डलस्य सर्वां नेमिं व्याप्नुवद्भिः संयोगविभागैर्नैरन्तर्येण अनेकशो ग्रहणात्) महान् इव, अवयववान् इवोपलभ्यन्ते ; संयोगविभागाः नैरन्तर्येण क्रियमाणाः शब्दमभिव्यञ्जन्तो नादशब्दवाचकाः । तेन नादस्यैषा वृद्धिः, न शब्दस्येति (उ० । ६) ॥

ख. नित्यस्तु स्यादर्शनस्य परार्थत्वात् ॥ १८ ॥ (सि०)

भा. नित्यः शब्दो भवितुमर्हति । कुतः ? 'दर्शनस्य परार्थत्वात्' दर्शनमुच्चारणं, तत् परार्थं, (परं अर्थं प्रत्याययितुं,) उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे न, चाप्यन्योन्यान् अर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात् ; अतः न परार्थमुच्चार्यत ।। अथ न विनष्टः, ततो बह्वक्षः उपलब्धत्वादधीयगमः—इति युक्तं । 'अर्थवत्सादृश्यादर्थावगमः' इति चेत् । न कश्चिदर्थवान्, सर्वेषां नवत्वात् । 'कस्यचित्पूर्वस्य ह्यत्रिमः संबन्धो भविष्यति' इति चेत् । तदुक्तं 'सदृशः' इति चावगते व्यामोहात्प्रत्ययो व्यावर्त्तत ; मालाशब्दात् मालाप्रत्ययः इव । 'यथा गावोऽशब्दात् साक्षादिमति प्रत्ययस्यानिवृत्तिः, तद्वद्विष्यति' इति चेत् । न हि, गोशब्दं तत्रोच्चारयितुमिच्छा ; नेहान्यशब्दोच्चारयिष्या । न चैकेनोच्चारणायत्नेन संबन्धवद्धारश्चार्थसंबन्धश्च शक्यते कर्तुं । तस्मादर्शनस्य परार्थत्वात् नित्यः शब्दः ॥

ख सत्त्वच यौगपद्यात् ॥ १९ ॥

भा. गोशब्दे उच्चरिते सर्वगावोपु युगपत् प्रत्ययो भवति । अतः आह्वतियचनोऽयं । न चाह्वत्या शब्दस्य संबन्धः शक्यते कर्तुं, निर्दिश्य हि आह्वतिं कर्त्ता संबन्धीयात् ; गोपिंडे च बह्वनामाह्वतीनां सद्भावात्तदमन्तरेण गोशब्दवाचकां विभक्तामाह्वतिं केन प्रकारेणोपदेक्ष्यति ।। नित्ये तु सति गोशब्दे बज्रहन्त्वः

भा उच्यतेः श्रुतपूर्वस्याभ्यास गोचरिषु अन्वयव्यतिरेकाभ्यामा-
हतिवचनमवगमयिष्यति ; तस्मादपि नित्यः ॥

घ संख्याभावात् ॥ २० ॥

भा 'अष्टकत्वो गोशब्द उच्यते' इति वदन्ति, नाष्टौ गोशब्दाः
इति । 'किमतः? यद्येवं' । अनेन वचनेनावगम्यते,—प्रत्यभि-
जानन्तीति ; वयं तावत्प्रत्यभिजानोमो न नः करणदौर्बल्याः
एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति—स एवायमिति । प्रत्यभि-
जानानां वयमिवान्येऽपि 'नान्यः'—इति वक्तुमर्हन्ति ॥ अथ
'मतं, अन्यत्वे सति सादृश्येन व्यामूढाः 'सः'—इति वच्यन्ति' ।
तन्न, न हि ते 'सदृशः'—इति प्रतियन्ति, किं तर्हि 'स एवायं'
—इति । विदिते च स्फुटेऽन्यत्वे, व्यामोहः—इति गम्यते । न
च, 'अयमन्यः' इति प्रत्यक्षं, अन्यदा प्रमाणमस्ति ॥

स्यादेतत् 'बुद्धिकर्मणी अपि ते प्रत्यभिज्ञायेते, ते अपि
नित्ये प्राप्नुतः' । नैष दोषः । न हि ते प्रत्यक्षे, यद्य प्रत्यक्षे
नित्ये एव । 'क्षयस्तस्य शब्दस्य विनाशान् अन्योऽद्यतनः'—
इति चेत् । नैष विनष्टः, यतः एतत् पुनरपलभ्यमानं न
हि, प्रत्यक्षदृष्टं मुहूर्तमदृष्टा पुनरपलभ्यमानं प्रत्यभिजानन्ती
विनष्ट परिकल्पयन्ति । परिकल्पयन्ती द्वितीयसंदर्शने मात्रि,
आयायां, पितरि वा नाश्वस्यु । न हि अनुपलम्भभावेण
'नास्ति'—इति अवगम्य, नष्टः—इत्येव—कल्पयन्ति । अप्रमा-
णतायां विदितायां 'नास्ति'—इत्यवगच्छामः । न हि, प्रमाणे
प्रत्यक्षे सति, अप्रमाणता श्रूयते । अस्तीति पुनः अव्यामोहे-
नावगम्यमाने न कश्चिदप्यभावः, न चासिद्धेभावे व्यामोहः,
न च सिद्धोभावः । तस्मादसति व्यामोहे, नाभावः । तदे-

भा तदानुपूर्व्या सिद्धं । तस्मात्पुरस्तादनुच्चरितं अनुपलभमाना अपि न विनष्टः—इत्यवगन्तुमर्हन्ति । यथा, गृह्णाक्षिर्गताः सर्वगृहजनमपश्यन्तः पुनः प्रविश्य उपलभमाना अपि न (प्राक् प्रवेशात्) विनष्टः—इत्यवगच्छन्ति ; तद्वत् एनमपि न 'अन्यः'—इति वक्तुमर्हन्ति । येषां सर्वेषां भावानां प्रतिक्षणं विनाशमभ्युपगच्छन्ति, तेषां न शक्नुवन्ति शब्दस्य वदितुं, अन्ते हि क्षयदर्शनात् ते मन्यन्ते, न च शब्दस्यान्तः, न च क्षयो लक्ष्यते । सः—इति प्रत्यक्षः प्रत्ययः, सदृशः—इत्यानुमानिकः, न च, प्रत्यक्षविरुद्धं अनुमानमुदेति, स्वकार्यं वा साधयति । तस्माच्चित्यः ॥

छ. अनपेक्षत्वात् ॥ २१ ॥

भा येषामनवगतोत्पत्तीना द्रव्याणां भाव एव लक्ष्यते, तेषामपि केषाञ्चिदनित्यता गम्यते, (येषां विनाशकारणमुपलभ्यते) । यथा, अभिनवं पटं दृष्ट्वा ; न चेनं क्रियमाणमुपलब्धवान् । अथ वा अनित्यत्वमवगच्छति रूपमेव दृष्ट्वा,—तन्नुत्पत्तिपङ्गुजनितोऽयं तन्नुत्पत्तिपङ्गुविनाशात् तन्नुविनाशाद्वा विनश्यति—इत्यवगच्छति । नैवं शब्दस्य किञ्चित्कारणमवगम्यते । यद्विनाशाद्विनश्यतीत्यवगम्यते ॥

छ प्रख्याभावाच्च योगस्य ॥ २२ ॥

भा इदं पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रं । 'ननु वायुकारणकः स्यादिति, वायुरङ्गतः सयोगविभागेः शब्दो भवतीति, तथा च शिक्षाकाराः आहुः 'वायुरापद्यते शब्दतां' इति । नैतदेवं, वायवीयस्यैव शब्दो भवेत्, वायोः सञ्ज्ञिवेशविशेषः स्यात् । न च, वायवीयान् अवयवान् शब्दे सतः प्रत्यभिजानीमः । यथा, पटस्य तन्तुमयान् । नक्षैवं भवति । स्याच्चेदेवं, स्पर्शने

भा उच्चरितः श्रुतपूर्वश्चान्यास गोशब्दोऽत्र श्रवणव्यतिरेकाभ्याम् ।
कृतिवचनमवगमयित्यति ; तस्मादपि नित्यः ॥

संख्याभावात् ॥ २० ॥

भा. 'अष्टकत्वं गोशब्द उच्चरितः' इति वदन्ति, नाष्टौ गोशब्दाः
इति । 'किमतः' यद्येवं । अनेन वचनेनावगम्यते,—प्रत्यभि-
जानन्तीति ; वयं तावत्प्रत्यभिजानीमो न नः करणदौर्बल्याः
एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति—स एवायमिति । प्रत्यभि-
जानाना* वयमिवान्येऽपि 'भान्यः'—इति वक्तुमर्हन्ति ॥ अत्र
'मतं, अन्यत्वे सति सादृश्येन व्यामृढाः 'सः'—इति वक्ष्यन्ति ।
तत्र, न हि ते 'सदृशः'—इति प्रतियन्ति, किं तर्हि 'स एवायं'
—इति । विदिते च स्फुटेऽन्यत्वे, व्यामोहः—इति गम्यते । न
च, 'अयमन्यः' इति प्रत्यक्षं, अन्यदा प्रमाणमस्ति ॥

स्यादेतत् 'बुद्धिकर्मणी अपि ते प्रत्यभिज्ञायिते, ते अपि
नित्ये प्राप्नुतः' । नैष दोषः । न हि ते प्रत्यक्षे, अथ प्रत्यक्षे
नित्ये एव । 'छस्तनस्य शब्दस्य विनाशात् अन्योऽद्यतनः'—
इति चेत् । नैष विनष्टः, यतः एतं पुनरुपलभामहे ; न
हि, प्रत्यक्षदृष्टं मुहूर्तमदृष्टा पुनरुपलभ्यमानं प्रत्यभिजानन्ती
विनष्ट परिकल्पयन्ति ॥ परिकल्पयन्ती द्वितीयसंदर्शने मातरि,
जायायां, पितरि वा नाश्वस्युः ॥ न हि अनुपलम्भमात्रेण
'नास्ति'—इति अवगम्य, नष्टः—इत्येव—कल्पयन्ति ॥ अप्रमा-
णतायां विदितायां 'नास्ति'—इत्यवगच्छामः । न हि, प्रमाणे
प्रत्यक्षे सति, अप्रमाणता श्रूयते ॥ अस्तीति पुनः अव्यामोहे-
नावगम्यमाने न कश्चिदप्यभावः, न चासिद्धेऽभावे व्यामोहः,
न च सिद्धोऽभावः ॥ तस्मादस्ति व्यामोहे, नाभावः । तदे-

भा. तदानुपूर्व्यां सिद्धं । तस्मात्पुरस्तादनुचरितं अनुपलभमाना अपि न विनष्टः—इत्यवगन्तुमर्हन्ति । यथा, गृह्णान्निर्गताः सर्वगृहजनमपश्यन्तः पुनः प्रविश्य उपलभमाना अपि न (प्राक् प्रवेशात्) विनष्टः—इत्यवगच्छन्ति ; तद्वत् एनमपि न 'अन्यः'—इति वक्तुमर्हन्ति । येषमपि सर्वेषां भावानां प्रतिक्षणं विनाशमभ्युपगच्छन्ति, तेषमपि न शक्नुवन्ति शब्दस्य वदितुं, अन्ते हि क्षयदर्शनात् ते मन्यन्ते, न च शब्दस्यान्तः, न च क्षयो लक्ष्यते ।। सः—इति प्रत्यक्षः प्रत्ययः, सदृशः—इत्यानुमानिकः, न च, प्रत्यक्षविरुद्धं अनुमानमुदेति, स्वकार्यं वा साधयति ।। तस्मान्नित्यः ॥

ख. अनपेक्षत्वात् ॥ २१ ॥

भा. येषामनवगतोत्पत्तीनां द्रव्याणां भाव एव लक्ष्यते, तेषामपि केषाञ्चिदनित्यता गम्यते, (येषां विनाशकारणमुपलभ्यते), यथा, अभिनवं पटं दृष्ट्वा ; न चेनं क्रियमाणमुपलब्धवान् ।। अथ वा अनित्यत्वमवगच्छति रूपमेव दृष्ट्वा,—तन्नुत्पत्तिपङ्गुजनितोभयं तन्नुत्पत्तिपङ्गुविनाशात् तन्नुविनाशाद्वा विनश्यति—इत्यवगच्छति । नैवं शब्दस्य किञ्चित्कारणमवगम्यते । यद्विनाशाद्विनश्यतीत्यवगम्यते ॥

ख. प्रत्याभावाच्च योगस्य ॥ २२ ॥

भा. इदं पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रं । 'ननु वायुकारणकः स्यादिति, वायुरद्भुतः संयोगविभागेः शब्दो भवतीति, तथा च शिक्षाकाराः आहुः 'वायुरापद्यते शब्दतां' इति । नैतदेवं, वायवीयश्चेत् शब्दो भवेत्, वायोः सन्निवेशविशेषः स्यात् । न च, वायवीयान् अवयवान् शब्दे सतः प्रत्यभिजानीमः । यथा, पटस्य तन्तुमयान् । नचैवं भवति ।। स्याच्चेदेवं, स्पर्शनै-

भा नोपलभेमहि । न च, वायवीयानवयवान् शब्दगतान् स्पृशामः ।
तस्माच्च वायुकारणक । अतो नित्य ॥

ख लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २३ ॥

भा लिङ्गं चैव भवति, 'वाचा विरूपनित्यया' इति, अन्यपरं
ह्रीद् वाक्यं वाचो नित्यतामनुवदति । तस्माच्चित्य शब्द ॥

ख उत्पत्तौ वाऽवचनाः* स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात्
॥ २४ ॥ (पू०)

भा यद्यप्यौत्पत्तिक (नित्य) शब्दोर्ध्वसंबन्धश्च, तथापि न
चोदनालक्षणो धर्मः, चोदना हि वाक्यं, न हि, 'अग्निहोत्रं
जुहुयात् सुर्गकाम'—इत्यतो वाक्यादन्यतमस्नात्पदात् 'अग्नि
होत्रात् सुर्गो भवति'—इति गम्यते । गम्यते तु पदत्रये
उच्चरिते । न चात्र चतुर्थं शब्दोर्ध्वं नित्यत अतः । (पदत्रय
समुदायात्) न चायं समुदायोर्ध्वं लोके । यतोऽस्य व्यवहारा
दर्शोऽवगम्यते । पदानि अमूनि प्रयुक्तानि, तेषां नित्योर्ध्वं,
अप्रयुक्तस्य समुदायः, तस्मात् समुदायस्यार्थं क्वचिमो व्यामोहो
वा । न च पदार्था एव वाक्यार्थं सामान्ये हि पदं प्रवर्तते,
विशेषे वाक्यं अन्यच्च सामान्यं, अन्यो विशेषः । न च,
पदार्थावाक्यार्थावगतिः, असंबन्धात् । अस्ति चेतः संबन्धे,
कस्मिंश्चित्पदार्थेऽवगतिः स्थान्तरमवगम्येत, एकस्मिन्नवगते सर्वं
भवगतं स्यात् । न चेतदेव भवति । तस्मादन्यो वाक्यार्थः ॥

स्यादेतत्, 'अप्रयुक्तादपि वाक्यादस्ति समन्वे स्वभावादर्थो
वगमः—इति । यदि कल्प्येत—'शब्दो धर्ममात्मीय व्युत्क्रामेत् ।
नचेप शब्दधर्मः, यत्, अप्रयुक्तादपि शब्दादर्थं प्रतीयते, न हि,

भा प्रथमश्रुतात् कुतश्चिच्छब्दात् केचिदर्थं प्रतियन्ति ।'। तदभि-
धीयते—पदधर्मोभ्यं न वाक्यधर्मः ; वाक्याद्वि प्रथमावगतादपि
प्रतियन्तोर्ध्वं दृश्यन्ते ॥ नैतदेवं, यदि प्रथमश्रुतादवगच्छेयुः, अपि
तर्हि सर्ववगच्छेयुः । (पदार्थविदोभ्ये च) न त्वपदार्थविदोभ्य
गच्छन्ति । तस्मान्नैतदेवं ॥ ननु 'पदार्थविकिराद्यवगच्छद्विरहत
एव वाक्यार्थसंबन्धो भविष्यति, पदार्थवेदनेन हि संस्कृताः
अवगमिष्यन्ति, यथा तमेव पदार्थं द्वितीयादिश्रवणेन' इति ।
नेति ब्रूमः ; यदि वाक्येभ्यो वर्णः पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितः
पदार्थेभ्योर्ध्वान्तरं प्रत्याययति, उपकारस्तु तदानीं पदार्थ—
ज्ञानादवकश्यते । तस्मात् ह्यविमो वाक्यार्थप्रत्ययो व्यामोक्षो
वा, न पदार्थद्वारेण संभवति वाक्यार्थज्ञानमिति ॥

ननु 'एवं भविष्यति—सामान्यवाचिनः पदस्य 'गौः'—इति
वा 'अश्वः'—इति वा, विशेषकं 'शुक्लः'—इति वा 'हृष्णः'
—इति वा पदं अन्तिकादुपनिपतति यदा, तदा वाक्यार्था-
वगम्यते' । तत्र ; न हि, कथमिव, गौरिति वा अश्वः—इति
वा सामान्यवाचिनः पदात् सर्वगवीषु सर्वाश्वेषु च बुद्धिरुप-
सर्पन्ती श्रुतिजनिता, वाक्यानुरोधेन कुतश्चिद्विशेषादपवर्तेत ।
न च, शुक्लः—इत्यादेर्विशेषवचनस्य हृष्णादिनिवृत्तिर्भवति
शब्दार्थः । न च, अनर्थको मा भूदित्यर्थपरिकल्पना शक्या ।
अतो न पदार्थजनितो वाक्यार्थः । तस्मात् ह्यविमः । पद-
संघाताः खल्वेते, संघाताश्च पुरुषकृता दृश्यन्ते, यथा, "नीलोत्-
पलवनेत्वद्य चरन्तश्चारुसंरवाः । नीलकौशेयसवीताः प्रणश्य-
न्तीवा कादवाः"† । अतो वेदिका अपि पुरुषकृता इति ॥ (पू०) ॥

* 'रामा' इति प्रा० पु० 'समा' इति का० श्री० ।

† 'प्रहृणन्तीव' इति का० सं० ।

‡ एवमेव सर्वत्र पाठः ।

स तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्त-
त्वात् ॥ २५ ॥ (उ०)

भा तेष्वेव (पदार्थेषु) 'भूतानां' वर्तमानानां (पदानां) क्रियार्थेन
समुच्चारणं । न, अनपेक्ष्य पदार्थान्, पार्थगर्थेन वाक्यमर्थान्-
न्तरप्रसिद्धं । कुतः ? । प्रमाणाभावात्, न किञ्चन प्रमाणमस्ति,
येन प्रमिमोमहे ; न हि, अनपेक्षितपदार्थस्य वाक्यान्तरवर्णस्य
पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितस्य शक्तिरस्ति पदार्थभ्योऽर्थांतरे
वर्तितं । इति ॥

ननु 'अर्थापत्तिरस्ति, यत्, पदार्थव्यतिरिक्तमर्थमवगच्छामः,
न च शक्तिमतरेण तदवकल्प्यते' इति । तच्च । 'अर्थस्य
तन्निमित्तत्वात्,' भवेद्दर्थापत्तिः, यद्यसत्यामपि शक्तौ नान्यन्न-
मित्तमवकल्प्येत ; अवगम्यते तु निमित्तं । किं ? । पदार्थाः ;
पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि ;
अपेक्षानो पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति ।
कथं ? । यच्च हि 'शुक्लः'—इति वा 'कृष्णः'—इति वा गुणः
प्रतीतो भवति, भवति खल्वसावष्ट गुणवति प्रत्ययमाधातुं ;
तेन गुणवति प्रत्ययमिच्छन्तः केवलं गुणवचनमुच्चारयन्ति,^४
सपत्यते एषां यथासकृत्पितोऽभिप्रायः, भविष्यति विब्रिटार्थ-
संप्रत्ययः, विब्रिटार्थमप्रत्ययस्य वाक्यार्थः,—एवं चेत्, अवगम्यते
अत्यंत एव वाक्यार्थः ; को जातुचित् 'अदृष्टा पदसमुदायरस्य
शक्तिः, अर्थात् अवगम्यते'—इति वदित्वात् । अपि च अन्वय-
व्यतिरेकाभ्यामेतदवगम्यते, भवति हि कदाचिदियमवस्था,—
मानकादव्याघातात् यत्, उच्चरितेभ्यः पदेभ्यो न पदार्था
अवधार्यन्ते, तदानो नियोगतो वाक्यार्थं नावगच्छेयुः । यद्यप्य

भा. अपार्थगर्थमभविष्यत्,* नियोगतस्तु नावगच्छन्ति । अपि च
 अन्तरेणापि पदोच्चारणं, यः शीतयमवगच्छति, अवगच्छत्येवासी
 मुक्तगुणकं । तस्मात्पदार्थप्रत्यये एव वाक्यार्थः । नास्य पद-
 समुदायेन संबन्धः । यत्तु (३३ । १७) 'श्रौतः पदार्थो न
 वाक्यानुरोधेन कुतश्चिद्विशेषादपवर्तितुमर्हति' इति । सत्यं,
 एवमेतत्; यत्र 'केवलः पदार्थः प्रयुज्यमानः प्रयोजनाभावा-
 दनर्थकः संजायते'—इत्यवगतं भवति, तत्र वाक्यार्थोऽपि
 तावद्भवत्विति विशिष्टार्थतावगम्यते; न सर्वत्र । एवं च सति,
 'गुणान्तरप्रतिषेधो न शब्दार्थः'—(३३ । १८)—इत्येतदपि
 परिहृतं भवति । अपि च प्रातिपदिकात् उच्चरन्ती† द्वितीयादि-
 विभक्तिः 'प्रातिपदिकार्था विशेषकः'—इत्याह; सा च विशेष-
 य्युतिः सामान्यश्रुतिं बाधेत । यच्च (३३ । २१) 'एते पदसंघाताः
 पुरुषद्वयता दृश्यन्ते'—इति । परिहृतं तत् अस्मरणादिभिः
 (१५ । २३) । अपि च एवंजातीयकेभ्य वाक्यानि सञ्चर्तुं न
 किञ्चन पुरुषाणां बीजमस्ति ॥ (उ०) ॥

सू. लाके सन्नियमात्प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ॥

०६ ॥ (सि०)

भा. लौकिकेषु पुनरर्थेषु प्रत्यक्षेणार्थमुपलभ्य 'सन्नियमः,' सन्न-
 यन्धनं शक्यं तत्र सञ्चर्तुं, एवजातीयकानि वाक्यानि 'नीलोत्-
 पलवनेष्वद्य' (३३ । २१) इति । तस्मात् 'अग्निहोत्रं जुज्यात्
 स्वर्गकामः'—इत्येतेभ्य एव पदेभ्यो ये अर्था अवगताः, तेभ्यः
 एवैतदवगम्यते,—अग्निहोत्रात्स्वर्गो भवतीति । पदेभ्य एव
 पदार्थप्रत्ययः, पदार्थेभ्यो वाक्यार्थ इति ॥ (सि०) ॥

* 'यद्यस्य पारार्थमभविष्यत्' इति का० सं० ।

† 'उच्चारिता' इति प्रा० पु० ।

ख वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या ॥ २७ ॥ (पू० १)

भा उक्तं (०।१०।१) — 'चोदनालक्षणेभ्यो धर्म इति, यतो न पुरुषवत् शब्दस्यार्थेन संबन्धः' । तत्र पदवाक्याभ्यां आक्षेपः परिहृतः । इदानीमन्यथाश्चेष्ट्याम — पौरुषेयाश्चोदना इति वदामः, — सन्निहाष्टकाद्या वृत्तका वेदा इदानीन्तना, ते च चोदनानां समूहाः, तत्र पौरुषेयाश्चिदेदाः, असंशयं पौरुषेया चोदनाः । 'कथं' पुनः 'वृत्तका वेदा' — इति केचिन्नग्न्यन्ते । यतः 'पुरुषाख्या', पुरुषेण हि समाख्यायन्ते वेदाः, — काठक कालापकं पेप्पलादकं मौञ्जलमिति, न हि सवन्धादृते समाख्यानं, न च पुरुषस्य शब्देन अस्ति संबन्धः, अन्यतः 'कर्त्ता पुरुषः, कार्यं शब्दः' — इति । ननु 'प्रवचनलक्षणा' समाख्या स्यात् । नेति ब्रूमः, असाधारणं हि विशेषणं भवति, एक एव हि कर्त्ता बह्वदोऽपि प्रभूयुः, अतोऽस्मयं माणोऽपि चोदनायाः कर्त्ता स्यात् । तस्माच्च प्रमाणं 'चोदना लक्षणेभ्यो धर्मः' इति ॥ (पू० १) ॥

ख अनित्यदर्शनाच्च ॥ २८ ॥ (पू० २)

भा जननमरणवत्तस्य वेदार्था नृयन्ते — 'यवरः प्रावाहणिर कामयत' 'युयुषिर्विन्दः' श्रौहान्तविरकामयत' — इत्येवमादयः । ईहान्तकरयापत्यं गम्यते श्रौहान्तिकं, यद्येव, प्राक् श्रौहान्तिकं जन्मनः, नायं अन्यो भूतपूर्वः, एवमन्यनित्यता ॥ (पू० २) ॥

* 'पुरुषवत्पुरुषः' इति का० जी० प्र० ।

† 'यवरः' इति का० जी० ।

‡ 'युयुषिर्विन्दः' इति का० प्र० । 'कामयति' इति का० जी० ।

स उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम् ॥ २६ ॥ (सि०)

भा उक्तं (१० । १४) अस्माभिः शब्दपूर्वत्वमध्येतृणां । केवलं
आक्षेपपरिहारो वक्तव्यः, सोऽभिधीयते ॥ (सि०) ॥

स आख्या प्रवचनात् ॥ ३० ॥ (उ० १)

भा यदुक्तं (१ पू०) कर्तृलक्षणा समाख्या काटकाद्येति । तदुच्यते ।
नेयमर्थापत्तिः, अकर्तृभिरपि ह्येनामाचक्षीरन्, प्रकर्षेण वचनं
(अनन्यसाधारणं) कठादिभिरनुष्ठितं स्यात्, तथापि हि समा-
ख्यातारो भवन्ति । स्मर्यते च,—वेश्मयायनः सर्वशाखाध्यायी,
कठः पुनरिमां केवलां शाखामध्यापयामभूवेति । स वज्रशाखा
ध्यायिनां सन्निधावेकशाखाध्यायी अन्यां शाखामनधीयानः,
तस्यां प्रकृष्टत्वाद्साधारणमुपपद्यते विशेषणं ॥ (उ० १) ॥

स परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥ ३१ ॥ (उ० २)

भा. यच्च (२ पू०) प्रावाहणिरिति । तन्न, प्रवाहणस्य पुरुषस्या-
सिद्धत्वात् न प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणः । प्रशब्दः प्रकर्षे
सिद्धः, वदतिश्च प्रापणे, (नत्वस्य समुदायः कश्चित्सिद्धः*)
इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धः, तथा क्रियायामपि कर्तरि; तस्मात्
यः प्रवाहयति, स प्रावाहणः । 'ववरः' इति । शब्दानुवृत्तिः ।
तेन यो नित्योर्ध्वः, तमेवैतौ शब्दौ वदित्यतः । अत उक्तं—
'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रं' इति ॥ (उ० २) ॥

स कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सत्त्वन्धात् ॥ ३२ ॥

भा. अथ 'कथमवगम्यते—नायमुन्मत्तवाचवाक्यसदृश इति ? । तथा

* 'कश्चित् सिद्धः' इति का० स० ।

† 'वाचुदीरितशब्दानुवृत्तिः' इति प्रा० पु० ।

भा. हि पश्यामः,—‘वनस्पतयः सचमासत, सर्पाः सचमासत’ इति, यथा, ‘जरङ्गवो गायति मत्तकानि’, कथं नाम जरङ्गवो गायेत् ?। कथं वा वनस्पतयः सर्पा वा सचमासीरन्निति’ । उच्यते,— विनियुक्तं हि दृश्यते, परस्परेण संबन्धार्थं । कथं ?। ‘ज्योति-
ष्टोमः’—इत्यभिधाय ‘कर्त्तव्यः’—इत्युच्यते । केन ?—इत्या-
काञ्चिते ‘सोमेन’ इति । किमर्थं ?—इति, ‘सुर्गाय’ इति ।
कथमिति ?। इत्थं, (अनया इतिकर्त्तव्यतया) इति । एवमव-
गच्छन्तः, पदार्थे रेभिः संस्कृतं पिंडितं वाक्यार्थं कथमुन्मत्तबाल-
काक्यसदृशं—इति वक्ष्यामः ? ॥

ननु ‘अनुपपन्नमिदं दृश्यते,—‘वनस्पतयः सचमासत’ इत्येव-
मादि’ । नानुपपन्नं ;—न, अनेन ‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः’
—इत्येवमादयोऽनुपपन्नाः स्युः । अपि च ‘वनस्पतयः सचमा-
सत’—इत्येवमादयोऽपि नानुपपन्नाः,—स्तुतयो ह्येताः सचस्य,
वनस्पतयो नामाश्चेतना इदं सचमुपासितवन्तः, किं पुनर्विद्वांसो
ब्राह्मणाः । तद्यथा लोके,—सन्ध्यायां मृगा अपि न चरन्ति,
किं पुनर्विद्वांसो ब्राह्मणा इति । अपि च अविगीतः सुहृदुप-
देशः* सुप्रतिष्ठितः कथमिवाशङ्केत—उन्मत्तबालवाक्यसदृशः—
इति ?। तस्माच्चोदनालक्षणोर्ध्वा धर्म इति सिद्धं ॥

इति श्रीमच्छंकरस्वामिनः छतौ मीमांसाभाष्ये प्रथमस्य
अध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ तर्कपादोर्ध्वं ॥ * * ॥

* ‘शुद्ध उपदेशः’ इति प्रा० पु० ।

द्वितीयः पादः ॥

४. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्माद-
नित्यमुच्यते ॥ १ ॥ (पृ० १)

भा. 'सोऽरोदीत्, यदरोदीत्, तत् रुद्रस्य रुद्रत्वं' (१) 'प्रजापतिः
आत्मनो वषामुदखिदत्',* (२) 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय
दिशो न प्रजानन्'—(३)—इत्येवमादीनि समाग्नातारः समाम-
नन्ति वाक्यानि । तानि किं कश्चित् धर्मं प्रमिमते? उत न? इति
भवति विचारणा । तदभिधीयते,—क्रिया कथमनुष्ठेया? इति
तां वदितुं समाग्नातारो वाक्यानि समामनन्ति । तत्, यानि
वाक्यानि क्रियां नावगमयन्ति, क्रियासंबद्धं वा कश्चित्; एवमेव
भूतमर्थमन्याचक्षते—रुद्रितवान् रुद्रः, (१) वषामुच्छिखेद् प्रजा-
पतिः, (२) देवा वै दिशो न प्रजञ्जिरेऽ (३)—इत्येवंजातीयकानि,
तानि कं धर्मं प्रमिमोरन्? । अथोच्यते,—'अध्याहारेण वा
विपरिणामेन वा व्यवहितकल्पनया वा व्यवधारण—कल्पनया
वा गुणकल्पनया वा कश्चिदर्थः कल्पयिष्यते'—इति । स कल्प-
मानः कः कल्पेत्॥? रुद्रः किल रुद्रोद्, अतोऽन्येनापि रोदि-
तत्वं, (१) उच्छिखेद् आत्मवषां प्रजापतिः, अतोऽन्योऽप्युच्छिखे-
द् आत्मनो वषां, (२) देवा वै देवयजनकाले दिशो न प्रज्ञातवन्तः,
अतोऽन्योऽपि दिशो न प्रजानीयात् (३)—इति, तच्चाशक्यं,—
इष्टवियोगेनाभिघातेन वा यत् वाष्पनिर्माचनं, तत् रोदन-
मित्युच्यते, न च, तत् इच्छातो भवति! (१) । न च, कश्चि-

* 'स आत्मनो वषामुदखिदत्' इति मुद्रित तैत्तिं स० २ का० १ प्र०
१ थ० ध्यञ उदखिदत् इति पाठः साधुः ॥ † 'प्रमिमोरन्' इति का० स० ॥
‡ 'मनुष्ठीयेत' इति का० सं० ॥ § 'प्रजानन्' इति ध्या० सो० ॥
॥ 'कल्प्यमाण एव एव कः कल्पेत्' इति का० सं० ॥

भा दात्मनो वपामुत्खिद्य तामग्नौ मधृत्य तत उत्थितेन तूपरेण*
 पशुना यष्टु शक्नुयात्' (२) । न च, देवयजनाध्यवसानकाले
 केचित् दिशो मुद्देयु' (३) । अत एषामानर्थक्यं । तस्मादेवं
 जातीयकानि वाक्यानि 'अनित्यानि'—इत्युच्यन्ते (यद्यपि
 च नित्यानि, तथापि न नित्यमर्थं कुर्वन्ति) इति । स एष
 वाक्यैकदेशस्याक्षेपः, न दृष्टस्य वाक्यस्य । ननु 'एकदेशादिना
 साक्षात् पदसमूहो न पर्याप्त खल्वे प्रयोजनाय, अत
 आक्षिप्त एव' इति । नेव, भवति हि कश्चित् पदसमूह
 योर्धवादेश्यो विनापि विदधाति कचिदर्थं, यानि पुन
 ते सह संयुज्य अर्थान्तरे वर्तन्ते तान्येकदेशाक्षेपेणाक्षिप्यन्ते ॥
 (पृ० १) ॥

ख शास्त्रदृष्ट-विरोधाच्च । २ ॥ (पृ० २)

भा 'स्तेन मन (१) 'अनृतवादिनी वाक' (२)—इत्यैवजाती
 यकाना धर्मं प्रति अप्रामाण्यं भूतानुवादात् । विपरिणामादि
 भिरपि कल्प्यमाने स्तेय मृषोद्यश्च कर्तव्यमित्यापतति, तथा
 शक्य स्तेयानृतवादप्रतिषेधमवाधमानेनानुष्ठानं । न च विकल्पः,
 वेपम्यात्, एव कल्प्यो विधिः, एक प्रत्यक्षः । ॥

अथ दृष्टविरोधः †—'तस्मात् धूम एवाग्नेर्द्वा ददृशे नार्चं ।
 तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्त ददृशे न धूम'—इति 'अस्माहोकादुत्त्र
 म्याश्चिरादित्य गतः, रात्रौ‡ आदित्यस्त इत्येतदुपपादयितु
 मिदं, उभयमपि दृष्टविरुद्धमुच्यते । तस्मान्नेपावधारणा
 सिध्यति इति (१) । अपरो दृष्टविरोधः,—'नचेतद्दिशो वय

* 'शङ्करहितेनेति माधवः । † 'सप्तः' इति का० स० ।

‡ 'प्रयत्नविरोधश्च' इति का० स० । § 'रात्रौ' इति का० स० नास्ति ।

॥ 'तस्मात्' इति अधिक आ० सो० ।

भा. ब्राह्मणा वा स्मः, अब्राह्मणा वा' इति अक्रियार्थत्वादनर्थकं ।
 अध्यायमर्थः—नैवैतत् ज्ञायते किं वा ब्राह्मणा वयं उताब्राह्मणा
 एवेति, प्रत्यक्षविरुद्धमप्रमाणं (२) । अपरः शास्त्रदृष्टेन विरोधः
 —'को हि तद्वेद, यत् अमुष्मिन्लोकेऽस्ति वा, न वा' इति, यदि
 मश्याभ्यं, अक्रियार्थत्वादनर्थकः । अथानवकृतिः, शास्त्रदृष्टेन
 विरोधः । अतः प्रत्यक्षविरुद्धमप्रमाणं (३) ॥ (पू० २) ॥

स. तथाफलाभावात् ॥ ३ ॥ (पू० ३)

भा. गर्गाचिराच्चब्राह्मणं प्रकृत्योच्यते 'शीभतेऽस्य मुखं य एवं वेद'
 —इति यदि भूतानुवादः, अनर्थकः । अथाध्ययनफलानुवादः,
 ततोऽसदनुवादः । 'कालान्तरे फलं भविष्यतीति' चेत् । न हि
 अत्र प्रमाणमस्ति । 'विधिः स्यादिति' चेत् । नैष विधिपरः ;
 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु' (३ अ० २ पा०) इति चिन्तयिष्यति एतदु-
 परिष्ठात्—किं फलविधिरुतार्थवादः?—इति । इह तु किं
 भूतानुवादः, क्रियार्थो वा?—इति* ॥ 'आभ्यां प्रजायां वाजी
 जायते य एवं वेद' इति चोदाहरणं ॥ (पू० ३) ॥

स. अन्यानर्थक्यात् ॥ ४ ॥ (पू० ४)

भा. 'पूर्णाङ्गत्या सर्वान् कामानवाप्नोति' (१), 'प्रशुबन्धयाजी
 सर्वान् लोकानभिजयति' (२), 'तरति मृत्युं, तरति ब्रह्माक्षत्यां
 योगेश्वमेधेन यजते, य उ चैनमेवं वेद' (३). इति, यदि
 भूतानुवादमात्रमनर्थकं । अथ फलविधिः, इतरेषां आनर्थक्यं,
 —न हि, अकृत्वा पूर्णाङ्गतिं, अग्निहोत्रादयः क्रियन्ते । न

* 'तेन न फलविधित्वात् निराकृतस्य इह अनर्थकोऽर्थवादविचारः'
 इति अधिकं पा० स० ।

| 'अग्न्य' इति ह्यसिद्धम् ।

भा च, अनिष्टा अग्नीषोमीयेन, सोमेन यजन्ते ।। न च, अनधीत्य,
अश्वमेधेन यजन्ते ।। तद्यथा, पयिजाति अर्के मधु उत्सृज्य, तेनैव
पया मध्वर्थिनः पर्वतं न गच्छेयुः, तादृशं हि तत् । अपि चाहुः
—“अर्के चेन्मधु विन्देत, किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ? । इष्टस्यार्थस्य
संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्” इति ॥ (पू० ४) ॥

स अभागि-प्रातपेधाच्च ॥ ५ ॥ (पू० ५)

भा. ‘न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि’—इत्यप्रतिषेध-
भागिनमर्थं प्रतिषेधन्ति । विज्ञायते एवैतत्,—अन्तरिक्षे, दिवि
चाग्निर्न चीयते—इति । पृथिवीचयनप्रतिषेधार्थं च यद्वाक्यं,
भवेत् चयनप्रतिषेधार्थमेव तत् । अद्याप्रमाणं, नैप विरोधो
भवति । कथं तत् प्रमाणं ? यत् विध्यन्तरमाकुलयेत्, स्वयं
चाकुलं स्यात्,—न चेतव्यं, हिरण्यं निधाय चेतव्यमिति ।
(पू० ५) ॥

स अनित्यसंयोगात् ॥ ६ ॥ (पू० ६)

भा अनित्यसंयोगश्च (विदप्रमाण्ये सति) “परन्तु श्रुति—सामान्य-
मात्रं” (१ अ० १ पा० २१ सू०) इति परिहृतः । इदानीं
वेदेकदेशानामाक्षिप्तानां पुनरुपोदलक उत्तिष्ठति,—‘ववरः
प्रावाहणिरकामयत्’—इति ॥ (पू० ६) ॥

स विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ॥
७ ॥ (सि०)

भा. इदं समागन्नायते,—‘वायवं श्वेतमालभेत भूतिकामः, वायुर्वै
क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवेनं
भूतिं गमयति’—इति । ‘वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता’—इत्यतो यद्यपि
क्रिया नावगम्यते, क्रियासंबन्ध वा किञ्चित् ; तथापि विशुद्देशे-

भा नेकवाक्यत्वात् प्रमाणं ; 'भूतिकामः'—इत्येवमन्तो विधुद्देशः,
तेनैकवाक्यभूतो 'वायुर्वे' चेपिष्ठा देवता—इत्येवमादिः । 'कथ-
मेकवाक्यभावः?' । पदानां साकाङ्क्षत्वाद्विधेः स्तुतेऽनेकवाक्यत्वं
भवति,—भूतिकाम आलभेत, (कस्मात् ?) यतो वायुः चेपिष्ठेति ।
नायमभिसंबन्धो विवक्षितः,—'भूतिकामेनालब्धमिति । कथं
तर्हि आलभेत ? । यतः, ततो भूतिः'—इति, भिन्नाविभावर्थौ,
उभयाभिधाने वाक्यम्भिद्येत ॥

'किमर्था स्तुतिरिति' चेत् । कथं रोचेत ?, नोऽनुष्ठेयेत* ।—
इति । 'ननु प्राक् स्तुतिवचनात्, अनुष्ठानं भूतिकामान्तात्सिद्धं,
स्तुतिवचनमनर्थकं' । न हि ; यदा स्तुतिपदाभिसन्निधानं, तदा
पूर्वणैव विधिः ; यदा स्तुतिपदसंबन्धः, न तदा भूतिकाम-
स्यालम्भो विधीयते । यथा, पटो भवति—इति, पट उत्पद्यते
इत्यर्थः, निराकाञ्चं च पदद्वयं । यदा च तस्मिन्नेव 'रक्तः'—
इत्यपरं श्रूयते, तदा रागसंबन्धो भवतीत्यर्थः, भवति च रक्तं
मत्याकाङ्क्षा । एवं यदा न स्तुतिपदानि, विधिशब्देनैव तदा
प्ररोचना, यदा स्तुतिवचनं, तदा स्तवनेन ॥ ननु 'एवं सति,
किं स्तुतिवचनेन ?, यस्मिन् सति अविधायकं, मा भूत् तत्,
तदभावेऽपि पूर्वविधिनेव प्ररोचयिष्यते'—इति । सत्यं, विना-
ऽपि तेन, सिध्येत् प्ररोचनं ; अस्ति तु तत्, तस्मिन् विद्यमाने
योग्ये वाक्यस्य, सोऽवगम्यते स्तुतिप्रयोजनं, तयोः तस्मिन्
अविद्यमाने विधिना प्ररोचनमिति ॥

ननु "सत्स्वपि स्तुतिपदेषु पूर्वस्य विधिस्वरूपत्वाद्विधिरभि-
मेतः स्यात्", न विवक्ष्येत स्तुतिपदसंबन्धः । 'आह—स्तुति-
पदानि अनर्थकान्यभविष्यन् साकाङ्क्षाणि' । भवन्त्यनर्थकानि—
इति चेत् । न, गम्यमानेऽर्थे अविवक्षितार्थानि भवितुमर्हन्ति ।

भा योऽसौ विधुद्देशः स शक्नोति निरपेक्षोऽर्थं विधातुं शक्नोति
च स्तुतिपदानां वाक्यश्रेयो भवितुं प्रत्यक्षस्य वाक्यश्रेयभावः ।
अतोऽस्यादिधेः स्तुतिमवगच्छामः ॥

ननु 'निरपेक्षादपि विधिमवगमिष्यामः । भवतु एव नैव
सति कश्चिद्विरोधः किन्तु अशक्यं स्तुतिपदसंबन्धे सति विधेर्यो
विवर्त्तितुं वाक्यं हि संबन्धस्य विधायकं द्वौ चेत्संबन्धौ विद-
धातुं—भूतिकाम आलभेत (१) आलम्बेन च एष गुणो
भविष्यति (२) इति भिद्येत तर्ह्येव सति वाक्यः ॥ अथ
यदुक्तं (३६।६) 'न क्रिया गम्यते, न तत्सबद्धं वा किञ्चित्'—
इति । स्तुत्यर्थेन विधीना स्युः स्तुतिशब्दाः स्तुवन्तः प्रिया
प्ररोचयमाणा अनुष्ठातृणामुपकरिष्यन्ति प्रियायाः । एव
मिमाम्नि सर्वाण्येव पदानि वञ्चिदर्थं स्तुवन्तः विदधति ।
अतः प्रमाण एव—जातीयकानि वायुर्वेत्तेपिष्टा दवता—
इति ॥ (सि०) ॥

ख तुल्यं च साम्प्रदायिकं ॥ ८ ॥ (उ० १)

भा अथोच्यते—प्राक् स्तुतिपदेभ्यः निराकाङ्क्षाणि विधाय-
कानि विधिस्वरूपत्वात् स्तुतिपदानि तु प्रमादपाठ इति ।
तत् न एव अर्थोपगमात्, तुल्यञ्च साम्प्रदायिकं समुदाय-
(प्रयोजनं) येना धर्माणां सर्वे ते विधिपदानां अर्थवादपदानां
च तुल्या—अथायानध्यायते। गुहमुखात्मनिपत्तिः शिष्योपा-
ध्यायता च सर्वस्मिन्नेवजातीयके अविघ्नार्थं तुल्यमाद्रियन्ते
स्मरणं च दृढं । अतो न प्रमादपाठ इति ॥ (उ० १) ॥

* 'भावानां इति का० सु० ।

† 'अथायानध्यायते इति का० म० । 'अथायानध्यायते इति
आ० मो० ।

स. अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छ-
द्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ॥ ६ ॥ (उ० २)

भा. अपि च, या एषा अनुपपत्तिरुक्ता (४०।११) “शाखदृष्ट-
विरोधात्”—इत्येवमाद्या, सा ‘सोऽरोदीत्’—इत्येवमादिषु न
प्राप्नोति । कुतः ? प्रयोगे हि स्तेयादीनामुच्यमाने विरोधः
स्यात्, शब्दार्थस्तु अप्रयोगभूतः, तस्मादुपपद्येत ‘स्तेनं मनः,
अनृतवादिनी वाक्’—इति ॥ (उ० २) ॥

स. गुणवादस्तु ॥ १० ॥ (उ० ३)

भा. ‘यदुक्तं—(४३।७) ‘विधेयस्य प्ररोचनार्था स्तुतिः’ इति ;
तदिह कथमवकल्येत ? यत्रान्यद्विधेयं, अन्यच्च स्तूयते, यथा,
‘वेतसशाखयाऽवकाभिश्चाग्निं विकर्षति’—इति वेतसावके विधी-
येते, आपश्च स्तूयन्ते,—‘आपो वै शान्ताः’—इति । तदुच्यते,
—‘गुणवादस्तु,’ गौण एष वादो भवति, यत् संबन्धिनि
स्तोतये संबन्धन्तरं स्तूयते । अभिजनो ह्येष वेतसावकयोः,
ततस्ते जाते । अभिजनसंस्तवेन चाभिजातः स्तुतो भवति ।
यथा, अस्माकाभिजनो देवदत्तोऽस्माकेषु स्तूयमानेषु स्तूत-
मात्मानं मन्यते, एवमत्रापि द्रष्टव्यं ॥ (१ व्या०) ॥

‘अथ ‘सोऽरोदीत्’—इति कस्य विधेः शेषः ?’ । ‘तस्माद्वर्हिषि
रजतं न देयं’—इत्यस्य । कुतः ? साकाङ्क्षत्वात्पदानां,
‘सोऽरोदीत्, यदरोदीत्, तत्, रुद्रस्य रुद्रत्वमित्यत्र सः’—इति
प्रकृतापेक्षः, तत्प्रत्ययात् । ‘तस्य यदशु अशीर्यत’—इति ‘तस्य’
—इति पूर्वप्रकृतापेक्ष एव । उपपत्तिश्चोपरितनस्य, यो वर्हिषि
रजतं दद्यात्, पुराणस्य संवत्सरात्, गृहे रोदनं भवतीत्यस्य
हेतुत्वेनायं प्रतिनिर्दिश्यते,—‘तस्माद्वर्हिषि रजतं न देयं’—
इति ; एवं सर्वाणि साकाङ्क्षाणि ॥ ‘कथं विधिरूपकुर्वन्तीति ?’

भा. गुणवादेन,—रोदनप्रभवं रजतं वर्त्तिषि ददतो रोदनमापद्यते । तत् प्रतिषेधस्य गुणः; यत् अरोदनमिति ॥ 'कथं पुनरुदति 'अरोदीत्'—इति भवति? (१) । कथं वा अनशुप्रभवे रजते-
शुप्रभवमिति वचनं? (२) । पुराभ्य संवत्सरादसति रोदने,
कथं रोदनं भवतीति? (३) । तदुच्यते,—'गुणवादस्तु,' गौणा
एते शब्दाः,—एदः—इति रोदननिमित्तस्य शब्दस्य दर्शनात्
'यदरोदीत्' इत्युच्यते (१) । वर्णसारूप्यात् निन्दन् अनशु-
प्रभवमप्यशुप्रभवमित्याह (२) । निन्दन्नेव च धनत्यागे दुःख-
दर्शनात्पुराभ्य संवत्सरात् गृहे रोदनं भवतीत्याह (३) ॥
(२ व्या०) ॥

तथा, 'यः प्रजाकामः पशुकामो वा स्यात्, स एतं प्राजापत्यं
तूपुर*मानमेत' इति, आकाङ्क्षितत्वादस्य विधेः शेषोऽर्थः,—'स
आत्मनो वषामुदक्खिदत्'—इति । 'कथं गुणवादः? इत्थं नाम
न आसन् पशवः, यत्, आत्मनो वषामुदक्खिददिति' । एतच्च
कर्मणः सामर्थ्यं, यत्, अग्नौ प्रहृतमावायां वषायामजस्तूपुर
उदगात्, इत्थं पशवः पशवो भवन्तीति । 'कथं पुनरनुत्खि-
न्नायां वषायां प्राजापतिरात्मनो वषामुदक्खिदत्—इत्याह?' ।
उच्यते,—असदृत्तान्तान्वाख्यानं, स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमान-
त्वात् । इहान्वाख्याने वर्त्तमाने, द्वय निष्यद्यते,†—यच्च हत्तान्त-
ज्ञानं, (१) यच्च कस्मिंश्चित्प्ररोचना, द्वेपो वा (२) । तत्र
हत्तान्तान्वाख्यानं न प्रवर्त्तकं, न निवर्त्तकं च इति प्रयोजना-
भावात् अनर्थकं—इति अविवक्षितं; प्ररोचनया तु प्रवर्त्तते,
द्वेपात् निवर्त्तते इति तयोर्विवक्षा । हत्तान्तान्वाख्यानेऽपि
विधीयमाने आदिमत्ता दोषो वेदस्य प्रसज्येत । 'कथं

तूपुरः शङ्कररहित इतिमाधव । † 'भूता इति' इति का० स० ।

'आपठति' इति का० स० ।

‡ 'ज्ञानं' इति का० स० ।

भा. पुनरिदं निरालम्बनमन्वाख्यायते ? इति । उच्यते,—नित्यः कश्चिदर्थः प्रजापतिः स्यात्,—वायुः, (१) आकाशः, (२) आदित्यो वा (३) । 'स आत्मनो वषामुदक्खिदत्'—इति दृष्टिं (१) वायुं (२) रश्मिं वा (३) ; तामग्नौ प्रागृक्तात्, वैद्युते (१) आर्चीसे (२) लौकिके वा (३) । ततोऽजइत्यन्नं, (१) बीजं, (२) विरुत् (३) वा* तमालम्ब्य (तमुपयुज्य) प्रजाः पशून्प्राप्नोतीति गौणाः शब्दाः ॥ (३ व्या०) ॥

'आदित्यः प्रापणीयश्चररादित्य उदपनीयश्चरः'—इत्यस्य विधेः शेषो 'देवा वै देवयजनमथवसाय दिशो न प्रजानन्'—इति, आकाङ्क्षितत्वात् । सर्वव्यामोहानामादित्यश्चरर्नाशयिता, अपि दिङ्मोहस्येति स्तुतिः । 'कथमसति दिङ्मोहे दिङ्मोहशब्दः' इति । उच्यते,—अप्राकृतस्य बहोः कर्मसमूहस्योपस्थितत्वात् गौणो मोहशब्दोऽवधारणावकाशदानादिभिर्ज्ञापयतीति गौणता (४ व्या०) ॥ (उ० ३) ॥

स. रूपात्प्रायात् ॥ ११ ॥ (उ० ४)

भा. 'हिरण्यं हस्ते भवति, अथ गृह्णाति'—इति, साकाङ्क्षत्वादस्य विधेः शेषः—'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्'—इति । निन्दावचनं हिरण्यस्तुत्यर्थेन, यथा, किं ऋषिणा, देवदत्त एव भोजयितव्यः । 'कथं पुनरस्तेनं मनः निन्दितुमपि स्तेनशब्देनोच्यते, वाचं चाननृतवादिनी अपि 'अनृतवादिनी'—इति ब्रूयात् ?' । गुणवादस्तु 'रूपात्,' यथा, स्तेनाः प्रच्छन्नरूपाः, एवं च मनः इति गौणः शब्दः । 'प्रायात्' च, अनृतवादिनी वागिति ॥ (उ० ४) ॥

* 'विरुदिति गौणाः शब्दाः' इति तु व्या० नो० ।

सू दूरभूयस्त्वात् ॥ १२ ॥ (उ० ५)

भा दृष्टविरोधे उदाहरणं, (४०।१७) 'तस्माद्भूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे, नार्चि, तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्त ददृशे, न धूम — इति, 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्नि साक्षा—इति साय जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योति सूर्य साक्षा—इति प्रातः,—इति मिश्रलिङ्ग मन्त्रयोर्विधानस्याकाङ्क्षितत्वाच्चेष्ट । उभयोर्देवतयो सन्निधाने होम — इति स्तुतेरुपपत्ति । 'दूरभूयस्त्वात्,' धूमस्याग्नेश्चा दर्शने गौण शब्द ॥ (उ० ५) ॥

सू अपराधात् कर्तुंश्च पुत्रदर्शनं ॥ १३ ॥ (उ० ६)

भा दृष्टविरोधे एव उदाहरण (४०।२१) 'न चेतद्विद्म — इति, ततः 'प्रवरे प्रवियमाणे देवा पितर इति ब्रूयात् — इत्याकाङ्क्षितत्वादस्य विधे शेष । अब्राह्मणोऽपि ब्राह्मण प्रवरानुमन्त्रणेन स्यादिति स्तुति । दुर्ज्ञानत्वादज्ञानवचन गौण स्त्वपराधेन कर्तुंश्च पुत्रदर्शनेन, 'अप्रमत्ता रक्षत मनुमेन — इत्यादिना दुर्ज्ञान ॥ (उ० ६) ॥

सू आकालिकेप्सा ॥ १४ ॥ (उ० ७)

भा शास्त्रदृष्टविरोधे उदाहरण (४१।३) 'को हि तदेद — इति 'दिक्ष्वती काज्ञान करोति — इति साकाङ्क्षत्वादस्य विधे शेष । प्रत्यक्षफलत्वेन स्तुति । अनवकृप्तिवचन विप्रकृष्टकालफलत्वाद्गौण ॥ (उ० ७) ॥

सू विद्याप्रशसा ॥ १५ ॥ (उ० ८)

भा 'तथाफलाभावात् (२ पा० ३ सू०) इत्येव उदाहृत—
• 'शोभतेभ्य मुख — इति गर्गविराचाविधेराकाङ्क्षितत्वाच्चेष्ट ।

भा. वेदानुमन्त्रणस्य च 'आयस्य प्रजायां वाजी जायते'—इति शेषः ।
मुखशोभा वाजिमत्त्वं च गुणवचनत्वाद्गौणः शब्दः, शोभते इव
शिष्येणोच्यमाणः; कुले सन्तताध्ययनश्रवणान्मेधावी जायते—
इति स प्रतिग्रहादन्नं प्राप्नोतीति ॥ (उ० ८) ॥

स. सर्व्वत्वमाधिकारिकं ॥ १६ ॥ (उ० ९)

भा. अन्यानर्थक्यवाक्ये उदाहरणं,—'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान-
वाप्नोति'—इति, 'पूर्णाहुतिं जुहोति'—इत्याकाङ्क्षितत्वादस्य
विधेः शेषः । 'य उ चैनमेवं वेद'—इति, 'तरति मृत्युं'—
इत्यस्याकाङ्क्षितत्वाच्चेष्टः । फलवचनं स्तुतिः, सर्वकामफलस्य
निमित्ते सर्वकामावाप्तिवचनं गौणं । असर्वेषु सर्ववचनं अधि-
क्षतापेक्षं । (उ० ९) ॥

स. फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः फल-
विशेषः स्यात् ॥ १७ ॥ (उ० १०)

भा. अन्वारुद्ध वचनमिदं (४६।६) यद्यपि विधिः, तथापि अर्थ-
वत्ता परिमाणतः सारतो वा फलविशेषात् ॥ (उ० १०) ॥

स. अन्ययोर्यथोक्तं ॥ १८ ॥ (उ० ११)

भा. 'अभाशिप्रतिषेधात्'—इत्यादानुदाहृतं—'न पृथिव्यामग्नि-
श्चेतस्यो नान्तरिक्षे न दिवि'—इति, 'हिरण्यं निधाय चेतस्यं'
—इत्याकाङ्क्षितत्वात् अस्य विधेः शेषः । पृथिव्यादीनां निन्दा
हिरण्यस्तुत्यर्था । असति प्रसङ्गे प्रतिषेधो नित्यानुवादः । यच्च
(६ पू०) अनित्यदर्शनं 'ववरः प्रावाहणिरकामयत'—इति,
तत् परिहृतं, अर्थवादाक्षेपेण पुनस्त्यक्तं, इदानीमर्थवाद-
प्रामाण्ये तेनैव परिहारेण परिहरिष्यते—इति ॥ (उ० ११) ॥
(इति अर्थवादाधिकरणं, १ अ० । २ पा० । १ अधि०) ॥

अथ विधिर्वनिगदाधिकरणम् ।

स. विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकं ॥ १९ ॥ (पू०)

भा. इह ये विधिवत् निगदा अर्थवादाः, ते उदाहरणं,—‘ओदुं वरो यूषो भवत्यूर्वा उदुंवर ऊर्कपशव ऊर्जैवास्त्रा ऊर्जं पशून्नाप्नोति ऊर्जोऽवश्यै’—इति । किमस्य विधिः कार्यं, उता-स्यापि स्तुतिरिति ? किं तावत्प्राप्तं ?—‘विधिर्वा स्यादपूर्व-त्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकं’ । विधिर्वनिगदेवेवंजातीयकेषु फलविधिः स्यात्, फलं ह्यवगम्यते, तथा हि अपूर्वं अर्थं विधास्यति, इतरथा स्तुतिवादमात्रं अनर्थकं स्यात्, स्तुतश्च अस्तुतश्च तावानेव सोऽर्थः । अपि च ‘ऊर्जोऽवश्यै’—इति प्रयोजनं श्रूयते ; न च, ‘प्रशस्तोऽयमर्थः’—इति कश्चिच्छब्दोऽस्ति । लक्षणाया तु स्तुतिर्गम्यते, श्रुतिश्च लक्षणायाः ज्ञायसीति ॥ (पू०) ॥

स. लोकवदिति चेत् ॥ २० ॥ (पूर्वपक्षे आशङ्का ॥)

भा. इति चेत् पश्यसि,—‘स्तुतिरनर्थिका, न च शब्देनावगम्यते’—इति । लौकिकानि वाक्यानि भवन्तो विदाकुर्वन्तु । तत् यथा, ‘इयं गौः क्रेतव्या देवदत्तीया, एषा हि ब्रह्मक्षीरा स्तुत्यपत्या अनष्टप्रजा च’ इति । ‘क्रेतव्या’—इत्यभ्युक्ते गुणाभिधानात् प्रवर्तन्तेतरां क्रेतारः ; ब्रह्मक्षीरेति च गुणाभिधानमवगम्यते ; तद्वत् वेदेऽपि भविष्यति ॥ (पू० आ०) ॥

स. न पूर्वत्वात् ॥ २१ ॥ (आशङ्का-निरासः ॥)

भा. नैतदेवं, लोके विदितपूर्वा अर्था उच्यन्ते ब्रह्मक्षीरादयः,

भा. तेषां विज्ञानमेव न प्रयोजनं, अतः प्रशंसा गम्यते । अवि-
दितवादे न अङ्गीरन् ! पूर्ववचनादिव । विदितत्वादेव च
प्ररोचयन्ते ; वैदिकेषु पुनर्यदि विधिशब्देन न प्ररोचयन्ते, न—
तरामर्थवादेन ! जाताशङ्को हि विधिशब्दे स तदानीं । अथ
विधिशब्देन प्ररोचितः, किं अर्थवादशब्देन ? । अपि च वेदे
व्यक्तमसंवादः,—‘जर्जोऽम्बरुद्वौ’ इति अप्रसिद्धं वचनं, ‘जग्वां
उदुम्बरः’—इति हेतुत्वं चाप्रसिद्धं,—यस्मात् जर्जुदुम्बरः, तस्मात्
तन्मयो यूषः कर्तव्य इति ; ‘जर्जुदुम्बरः’—इति—अनृतवचनात्
‘अन्यदस्थानृतं’—इति परिकल्प्येत ! ॥ (आ० नि०) ॥

ख. उक्तान्तु वाक्यशेषत्वं ॥ २२ ॥ (सि०) .

भा. उक्तं (४२।१८) अस्माभिर्वाक्यशेषत्वं,—‘विधिना त्वेकवाक्य-
त्वात्’—इति । ‘ननूक्तं (५०।१०) फलवचनं इह गम्यते, न
स्तुतिः’ इति । यत् इह फलवचनं, तत् औदुम्बरस्य यूषस्य,
न च, अविहित औदुम्बरो यूषोऽस्ति । तत्र फलवचनमेवानर्थकं ।
‘स्तुतिवचनः शब्दो नास्ति’ इति चेत् । इह फलवचने फल-
वत्ता प्रतीयते, फलवांश्च प्रशस्त इति, तत्र फलवत्तायामानर्थक्य-
मिति यो द्वितीयोऽर्थः, प्रशंसा नाम स गम्यते । लक्षणेति चेत् ।
न, लक्षणायामपि अर्थवत्ता भवत्येव लक्षणापि हि लौकिकी ।
‘ननूक्तं (५१।६) असंवादो वेदे, न जर्जुदुम्बर इति’ । गुणवादेन
प्ररोचनार्थतां ब्रूमहे,—गौणत्वात्संवादः । किं ? । सादुभ्यं,—
यथाभ्रं प्रीतिः साधनं, एवमिदमपि प्रीतिसाधनशक्तियुक्तं
भा. प्रशंसितुं प्रशंसावाचिना *शब्देन उच्यते, शक्यते हि तत् पक्व-
फलसंबन्धाद्गतिं वक्तुं ॥ (सि०) ॥

स विधिश्चानर्थकः क्वचित्, तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत, तत्-
सामान्यादितरेषु तथात्व ॥ २३ ॥ (सि० युक्ति. १ ॥)

भा 'अप्सुयोनिर्वा अश्वो अप्सुजो वेतस'—इति, अप्सुयोनिरश्व
कर्त्तव्य—इति—विधेरशक्यत्वादानर्थक्यं तत्रावश्यं स्तुति कल्प-
यितव्या,—शमयित्रीभिरङ्गिरश्वस्य अवकाना च संबन्धो यज-
मानस्य कष्टं शमयतीति । 'तत्सामान्यादितरेषु तथात्वं,' तथेति
यावत्, तावत् तथात्वमिति । किं तत् सामान्यं ? विधिसम्भव
स्तुतिसम्भवश्च ॥ (सि० यु० १) ॥

स प्रकरणे सम्भवन् अपकर्षो न कल्प्येत, विध्यानर्थक्य
हि तं प्रति ॥ २४ ॥ (सि० यु० २)

भा इतश्च पन्थाम स्तुतिरिति । कुत ? इदं समामनन्ति,
—'यो विदग्ध, स नेर्हत, योऽदत, स रौद्र, य ष्टत,
स दैवत, तस्मादविदग्धता अपयितव्य, स दैवतत्वाय'—इति,
यदि स्तुति, दर्शपूर्णमासयोरेव ष्टत स्ताविष्यते । तथा
सम्भवन् अपकर्षो न कल्प्येत, (अपहृत्यते इत्यपकर्षः) । विधि
पक्षे तु यत्र नेर्हत, तत्र विदग्धता नीयेत । तथा सति
प्रकरणं बाधितं भवेत् । दर्शपूर्णमासकर्म प्रति नेर्हताभावात्
विदग्धविधानं अनर्थकं स्यात्, तस्मात् स्तुतिरेव ॥ (सि० यु० २) ॥

स विधौ च वाक्यभेदः स्यात् ॥ २५ ॥ (सि० यु० ३)

भा 'औदुम्बरो यूषो भवति'—इति—'विधावतस्त्रिधाश्रीयमाणे
भा 'जर्जोऽवर्ह्य'—इत्येतस्त्रिषु वाक्ये भिद्येत । इत्य औदुम्बरो
यूषं प्रशस्तं स चोर्जोऽवर्ह्य—इति । तस्मात् विधिवन्निगदा
नामपि स्तुतिरेव कार्यमर्थवादना—इति ॥ (सि० यु० ३) ॥
• (इति विधिवन्निगदाधिकरणं । १ अ० । २ पा० । २ अ०) ॥

अथ हेतुवन्निगदाधिकरणं ॥

छ. हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्यां ॥ २६ ॥ (पू०)

भा. अथ ये हेतुवन्निगदाः—‘सूर्येण जुहोति, तेन हि अन्नं क्रियते’—इत्येवमादयः ; तेषु सन्देहः,—किं स्तुतिस्तेषां कार्यं, उत हेतुः?—इति। किं प्राप्तं?—हेतुः स्यादन्नकरणं होमस्य। ननु ‘अप्रसिद्धे कार्यकारणभावे न हेतूपदेशः’। सत्यमेवं लोके, विधायित्यते तु वचनेन वेदे,—सूर्येण होमे कर्तव्ये अन्नकरणं हेतुरित्युपदिश्यते। किं प्रयोजनं?। अन्यदपि दर्विषोठरादि अन्नकरणं यत्, तेनापि नाम कथं होमः क्रियेत?—इति। कुतः?। तस्याप्यन्नक्रियायामर्थवत्ता, शक्यते च तेनाप्यन्नं कर्तुं, एतद्वि ‘क्रियते’ (५३।४)—इत्युच्यते। न हि, वर्तमानकालः कश्चिदस्ति! यस्यायं प्रतिनिर्देशः। हेतौ च श्रुतिः शब्दः, स्तुतौ लक्षणा। यदि च, ‘दर्विषोठरादि न साक्षादन्नं करोतीति नान्नकरणं—इत्युच्यते’। व्यर्थं तस्मिन् सूर्यस्तुतिरनर्थिका स्यात्! सूर्यमपि हि न साक्षादन्नं करोतीति तेन विनानर्थेन सूर्यस्य स्तुतिर्नोपपद्यते ॥ (पू०) ॥

छ. स्तुतिस्तु, शब्दपूर्वत्वात्, अचोदना च तस्य ॥ २७ ॥
(सि०)

भा. न तु एतदस्ति, शब्दपूर्वकोऽयमर्थः,—अन्नकरणं हेतुः—इति, शब्दश्च ‘अन्नकरणं सूर्यहोमे हेतुः’—इत्याह, न च दर्विषोठर-होमे ; तेन शब्दपूर्वं सूर्यं, न च दर्विषोठरादेत्योदना ॥ (सि०) ॥

छ. व्यर्थं स्तुतिरन्याय्येति चेत्* ॥ २८ ॥ (सि० आ०)

भा. इति पुनर्यदुक्तं, (५३।१४) तत् परिहर्तव्यं ॥ (सि० आ०) ॥

* का० सं० पुस्तके मेदं सूत्रं सूत्रतया उद्धृतं, किन्तु भाष्यरूपेणैव

सू. अर्थस्तु, विधिशेषत्वात् यथा लोके ॥ २६ ॥ (आ० नि०)

भा. अस्मात्पक्षेऽर्थास्ति, वाक्यशेषो हि स विधेस्तदा भवति । संवादस्य श्रुतिवचनत्वेन,—यथा वयं सूर्येण अन्नं क्रियमाणं जानीमः, तथा सूर्येणान्नं क्रियते—इत्येव गम्यते; तदा च अवर्तमानं स्तौतुं वर्तमानमित्युपदिशति । त्वत्पक्षे एष दोषः, यस्य ते हेतुविधिः; विधौ हि न परः शब्दार्थः प्रतीयते; न च, वर्तमानं उपदिशन् वेदः शक्यमर्थं विदध्यात् ।। अस्मात्पक्षे तु एष परशब्दः परत्र वर्तते; यथा लोके, बलवान् देवदत्तो यज्ञदत्तादीन् प्रसहने—इति महाष्टवलेऽपि बलवच्छब्दो वर्तमानो न सिंहं शार्दूलं वा अपेक्ष्य प्रयुज्यते; ये देवदत्तास्तु निष्ठाष्टवलाः, तान् अपेक्ष्य भवति । एवं, 'तेन हि अन्नं क्रियते'—इति महाष्टान्नकरणेन संस्तवः सूर्यस्य, निष्ठाष्टानि अन्यानि अन्नकरणानि अपेक्ष्य भविष्यति ॥ (आ० नि०) ॥

सू. यदि च हेतुः, अवतिष्ठेत निर्देशात्, सामान्यादिति चेत्, अथवस्था विधीनां स्यात् ॥ ३० ॥ (सि० यु०)

भा. यद्यपि च भवेदन्नकरणं हेतुः द्रविपिठरप्रकाराणां, तथापि सूर्य एवावतिष्ठेत, शब्दात् 'अन्नकरणं हेतुः'—इति विज्ञायते, शब्दस्य सूर्यस्याह, न द्रविपिठरादीनां; तद्धि निर्दिश्यते,—यस्मात् सूर्येणान्नं क्रियते, तस्मात् सूर्येण जुहोति—इति । यथा, यस्मात् बलवदुष्मातोऽग्निः, तेन मे गृहं दग्धमिति, न, 'अनग्निरपि बलवदुष्मातो दहति'—इति गम्यते । अथ 'मतं,—येन येन अन्नं क्रियते प्रणाद्या, सूर्यादन्येनापि तेन तेनापि होमः क्रियते' इति । 'अथवस्था विधीनां स्यात्,' न केनचित् । प्रणाद्यान्नं क्रियते, तत्र यावदुक्तं स्यात्, जुहोति—इति तावदेवान्नकरणेन जुहोति—इति । अस्मात्पक्षे पुनः सूर्यं

भा. स्तूयन्ते ; 'तेन ह्यन्नं क्रियते'—इति वृत्तान्तान्वाख्यानं न च वृत्तान्तज्ञापनाय, किं तर्हि प्ररोचनायैव । तस्माद्धेतुवन्निगद-स्यापि स्तुतिरेव कार्य्यं इति ॥ (सि० यु०) ॥ . (इति हेतुवन्निगदाधिकरणं । १ अ० । २ पा० । ३ अ०) ॥

अथ मन्त्रलिङ्गाधिकरणम् ।

सू. तदर्थशास्त्रात् ॥ ३१ ॥ (पू० १)

भा. अथ इदानीं, किं विवक्षितवचना मन्त्राः, उताविवक्षित-वचनाः ? (१) । किमर्थप्रकाशनेन यागस्य उपकुर्वन्ति, उत उच्चारणमात्रेण ? (२) इति ;—यद्युच्चारणमात्रेण, तदा न नियो-गतो 'वर्हिर्देवसदनन्दामि'—इत्येष वर्हिर्लवने विनियुज्येत ! अभिधानेन चेत्, प्रकरणेन विज्ञाताङ्गभावो नान्यत्रोपकर्तुं शक्नोति—इत्यन्तरेणापि वचनं, वर्हिर्लवन एव विनियुज्येत !—इति ॥ तदेवमवगच्छामः,—उच्चारणमात्रेणैवोपकुर्वन्तीति । कुतः ? । 'तदर्थशास्त्रात्,' यदभिधानसमर्था मन्त्राः, तत्रैवैनं शास्त्रं निवध्नाति,—'उरुप्रथा उरु प्रथस्व—इति पुरोडाशं प्रथयति'—इति, वचनमिदं अनर्थकं, यदि अर्थाभिधानेनोपकुर्वन्ति ; अथोच्चारणमात्रेण, ततो वक्तव्यो विनियोगः, उक्तश्च । अतो नार्थाभिधानेन ; यथा, साद्यः पुरुषः परेण चेन्नीयते, नून-मक्षिभ्यां न पश्यति—इति गम्यते ।

'नन्वर्थवादाय' भविष्यतीति' चेत् । न हि, येन विधीयते, तस्य वाक्यशेषोऽर्थवादः—इत्युक्तं । न च, निरपेक्षेण विहिते अर्थवादेन किञ्चिदपि प्रयोजनं क्रियते ! । अतो नार्थवादाय वचनं (१) ।

तथाभ्यादानसमर्था मन्त्राः उदाहरणं । लिङ्गादेव आदाने प्राप्ता वचनेन विधीयन्ते,—'तां चतुभिरादत्ते'—इति । 'चतुः संख्यामिति' चेत् । न, समुच्चयशब्दाभावात् (२) ।

भा तथा 'इमामगुणन रसनामृतस्य—इत्युच्चाभिधानीमादत्ते—इत्युदाहरणं,—रसनादाने प्राप्तस्य रसनादाने एव शास्त्रविनियोजकं तत् विवक्षितार्थत्वे न घटेत्!—इति।

ननु 'गर्भभरसना परिस्रस्थायति'। न शक्नोति परिस्रस्थानं, परिस्रश्चाणो हि स्वार्यं च जज्ञात परार्थश्च कल्पेत, मार्तं च बाधेत। (३)।

तस्मात् न विवक्षितवचना मखा, अतो न प्रमाणं, 'वर्हिर्देवमदन दामि'—इत्यस्य रूपं वर्हिर्लवने विनियोगस्य ॥ (पू०) ॥

स वाक्यनियमात् ॥ ३२ ॥ (पू० २)

भा नियतपदक्रमा हि मखा भवन्ति—'अग्निर्मुहूर्ता दिव—इति न विपर्ययेण। यद्यर्थप्रत्यायनार्था, विपर्ययेणाप्यर्थं प्रतीयते,—इति नियमोऽनर्थकः स्यात्। अथ उच्चारणविशेषार्था, विपर्यये अन्यदुच्चारण—इति नियमः आसीद्यते। तेन यतरस्मिन् पक्षे नियमो अर्थवान् स नूनं पक्ष इति। ननु 'अर्थवत्स्यपि नियमो दृश्यते—यथा, 'इन्द्राग्रो'—इति'। युक्तं तत्र तत् विपर्ययेऽर्थप्रत्ययाभावात् ॥ (पू० २) ॥

स बुद्धशास्त्रात् ॥ ३३ ॥ (प० ३)

भा बुद्धेः खन्वपि पाठादर्थे तदभिधानसमर्था मखो भवति 'अग्नीद अग्नीद विचरेत् इति। स बुद्धे किं बोधयेत्?। अथ नु उच्चारणविशेषार्था, बुद्धेः पुनरुच्चारणविशेषोऽवकल्प्येतेति। ननु 'पुनर्वचनात् संस्कारविशेषो भविष्यति'। एव, अस्मत्पक्षमेवात्र तौसि वचनमुच्चारणं तद्धि शक्यते कर्तुं नार्थप्रत्यायनं, तत् प्रतीतेः शब्दं यथा, सोपानात्के पादे द्वितीयामुपानक्षमशक्यत्वाद्योपादत्ते ॥ (पू० ३) ॥

सू. अविद्यमानवचनात् ॥ ३४ ॥ (पू० ४)

भा. यज्ञे साधनभूतः प्रकाशयितव्यः, न च, तादृशोऽर्थोऽस्ति !
यादृशमभिदधति*, यथा 'चत्वारि षडङ्गा'—इति । न हि,
चतुःषडङ्गं विपादं द्विशिरस्कं सप्तहस्तं किञ्चित् यज्ञसाधन-
मस्ति !। तद्वाभिधानार्थः किमभिदध्यात् ?। उच्चारणार्थं
त्वयकल्प्यते । तथा 'मा मा हिंसीः'—इत्यसत्यामपि हिंसायां
किमभिदध्यात् ? ॥ (पू० ४) ॥

सू. अचेतनेऽर्थवन्धनात् ॥ ३५ ॥ (पू० ५)

भा. अचेतनेऽर्थे खल्वर्थं निबध्नन्ति,—'ओषधे चायस्वेन'—इति,
अभिधानेनोपकुर्वन्त एवंजातीयका ओषधिं पशुवाणाय प्रति-
पादयेयुः, न च, असावचेतना शक्या प्रतिपादयितुं !। उच्चा-
रणार्थं तु नैष दोषो भवति । तस्मात् उच्चारणार्थाः । 'षडणोत
यावाणः' इति च उदाहरणं ॥ (पू० ५) ॥

सू. अर्थविप्रतिशेधात् ॥ ३६ ॥ (पू० ६)

भा. अर्थविप्रतिशेधोऽपि भवति,—'अदितिद्यौरदितिरन्तरिचं'—
इति, सैव द्यौः, तदेवान्तरिचं—इति को जातुचिदवधारयेत् ?।
अनवधारयंश्च किमभिधानेनोपकुर्यात् ?। उच्चारणमात्रे तु नैष
विरोधो भवति । तस्मात् उच्चारणार्था मन्वाः । 'एको रुद्रः,
न द्वितीयोऽप्युत्तरश्च, असंख्यातः स ह्यखाणि वै रुद्रा अधिभूम्वाः'
—इति चोदाहरणं ॥ (पू० ६) ॥

* 'अभिवदन्ति केचित् मन्वाः' इति का० स० 'अभिवदन्त्येते मन्वा
इति' इति च क्वचित् पाठः ।

स स्वाध्यायवदवचनात् ॥ ३७ ॥ (पू० ७)

भा स्वाध्यायकाले पूर्णिकावहन्ति करोति, माणवकोवहन्तिमख मधीते, नासी तेन मध्ये तदभिधानमभ्यस्यति, अक्षरानुपूर्व्या अवधारणे एव यतते, येन च नाम प्रयोजनं, तदभ्यसितव्य, अत उच्चारणाभ्यासात् उच्चारणेन प्रयोजन इत्यवगच्छाम' ॥ (पू० ७) ॥

स अविज्ञेयात् ॥ ३८ ॥ (पृ० ८)

भा अपि च केपाक्षिन्मखाणा अशक्य एवार्थो वेदितु यथा, 'अम्यक सीत इन्द्र वहाष्टरस्ते' इति, 'सृण्येव जर्भरी तुर्परीतू' इति, 'इन्द्र सोमस्य काण्डिका' इति च, एते कि प्रत्याययेयु ? उच्चारणार्थे तु न दोष । तस्मात् उच्चारणार्था मखा इति ॥ (पू० ८) ॥

स अनित्यसयोगान्मन्त्रानर्थक्यं ॥ ३९ ॥ (पू० ५)

भा अनित्यसयोग खल्वपि भवेत् मध्येष्वभिधानार्थेषु, यथा, 'किं ते शृण्वन्ति कीकटेषु गाव'—इति कीकटा नाम जनपदा (१) । 'नेचाशाग नाम नगरं प्रमद्गदो राजा—इति, यद्यभिधानार्था, प्राक् प्रमद्गदात् नार्थं मद्योऽनुभूतपृथं इति (२) गम्यते । तदेतैस्तदर्थमाशादिभि कारणैर्मखाणा अविवाचितवचनता ॥ (पू० ५) ॥

स अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥ ४० ॥ (सि०)

भा अविशिष्टस्तु श्लोके प्रयुज्यमानानां वेदे च पदानामर्थ म यद्येव श्लोके विवक्षित, तथेव वेदेऽपि भवितुमर्हति ॥ 'नैव, श्लोके मेरुर्देवबुद्धे मंथवद्वाह, इह देयताभिरप्रत्यक्षाभि

भा. र्यज्ञाङ्गैश्चाचेतनैः संलापे न कश्चित् यज्ञस्योपकारः । यद्यदृष्टं परिकल्प्येत, उच्चारणादेव तद्वद्वितुमर्हति । यद्वि कर्त्तव्यं, तत् प्रयोजनवत्, उच्चारणं च न कथञ्चित् न कर्त्तव्यं, यद्यपूर्वाय । यद्यर्थाय, यद्यर्था न प्रत्यास्यते, न किञ्चित् अनर्थकं, यदि न प्रयुज्यते, समान्नानानर्थक्यं । तस्मात् उच्चारणादपूर्वं, तथा च तदर्थशाखादि (पूर्व) उक्तं । तदुच्यते,—अर्थप्रत्यायनार्थमेव यज्ञे मन्त्रोच्चारणं । यदुक्तं—‘न देवताभिर्यज्ञाङ्गैश्च संलापे प्रयोजनमस्ति’—इति, यज्ञे यज्ञाङ्गप्रकाशनमेव प्रयोजनं । कथं ? । न हि, अप्रकाशिते यज्ञे यज्ञाङ्गे च यागः शक्योऽभिनिर्वर्त्तयितुं । तस्मात्तन्निर्णेत्यर्थमर्थप्रकाशनं महानुपकारः कर्मणः, तच्च करोतीत्यवगम्यते । तस्मादस्त्यस्य प्रयोजनं । तच्च दृष्टं न शक्यमपवदितुं,—‘न अर्थाभिधानं प्रयोजनं’—इति । ननु ‘अर्थाभिधानेनोपकुर्वत्सु ‘तां चतुर्भिरादत्ते’—इत्येवमादि अनर्थकं भवति’ । काममनर्थकं भवतु, न जातुचित् अपजानोमहे दृष्टं अर्थाभिधानस्योपकारकत्वं ॥ (सि०) ॥

अथ किं तच्छास्त्रं अनर्थकमेव ? । न हि,

स. गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥ ४१ ॥ (उ० १)

भा. यदुक्तं (५६।४) ‘तां चतुर्भिरादत्ते’—इति समुच्चयशब्दाभावात् न समुच्चयार्थः इति । ‘चतुःसंख्याविशिष्टमादानं कर्त्तव्यं’—इति वाक्यादवगम्यते, तदेकेन मन्त्रेण गृह्यन् न यथाश्रुतं गृह्णीयादिति ॥ (उ० १) ॥

स. परिसंख्या ॥ ४२ ॥ (उ० २)

भा. ‘परिसंख्यायां च ‘इमामगृह्णन्नित्यग्वाभिधानोमादत्ते’ इति च यो दोषाः (५६।४) प्रादुःस्युः’—इति । नैवं संयन्धः,—इत्यादत्ते—इति । कथं तर्हि ? । ‘इत्यग्वाभिधानो’—इति ।

भा लिङ्गाद्गणनामात्रे, शब्दात्तु विशेषे अश्वाभिधान्या इति, सति च वाक्ये लिङ्ग विनियोजक तच्चास्य प्रकरणान्नानानुमित वाक्य नास्ति। कतरत्तत ?। एतेन मन्वेणादानं कुर्यादिति, (यस्मिन् सति रशनामात्रे लिङ्गात् प्राप्नोति)। अश्वाभिधान्यान्तु प्रत्यक्षमेव वचन, अस्मिन् सति तत् आनुमानिक नास्ति। तेन गर्दभरशनाया न प्राप्तिरेवेति ॥ (उ० २) ॥

स अर्थवादो वा ॥ ४३ ॥ (उ० ३)

भा 'उक्प्रथा उक् प्रथस्वेति पुरोडाश प्रथयति'—इति अर्थवादोर्ध्वेन पुन श्रुति,—यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति—इति। ननु 'नाथ मन्त्रस्य वाक्यशेष, न च प्राप्तस्य स्तुत्या प्रयोजन। सत्य, नाथ मन्त्रस्य विधि, न संस्तव, प्रथनमेव तत्र स्तूयते। मन्त्र पुन रूपादेव प्राप्त इच्छानूद्यते प्रथनं स्तोतु,—इत्य प्रथनं प्रशस्तं, यत् त्रियमाण एवरूपेण मन्त्रेण क्रियते। कस्तदा भवति गुण ?। यज्ञपतिमेव तत् प्रजया पशुभि प्रथयति। किमेतदेवास्य फलं भवति ?। नेति ब्रूम, स्तुति कथं भविष्यति ?—इति एवमुच्यते। कथमसति प्रथने प्रथयतीति शब्द ?। मन्त्राभिधानात्—मन्त्रेण पुरोडाश अध्वयु प्रथस्वेति ब्रूते, यद्देव प्रथस्वेति ब्रूते, स प्रथयति, यथा य कूर्वाति ब्रूते, स वारयति ॥ (उ० ३) ॥

स अविरुद्ध पर ॥ ४४ ॥ (उ० ४)

भा यदुक्त—(२ पू०)—'पदनियमस्यार्थवत्त्वादविवक्षितार्था मन्त्रा इति। काममनघंको नियम, न दृष्टमप्रामाण'। 'नियतोच्चारण मद्दृष्टाय—इति चेत् अविरुद्धाद्दृष्टवत्पना अस्मत्पक्षेऽपि एवं प्रत्याख्यमानमभ्युदयकारि भवति—इति ॥ (उ० ४) ॥

स संप्रये कर्मगर्हानुपालम्भः संस्कारत्वात् ॥ ४५ ॥
(उ० ५) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—(३ पू०)—‘प्रोक्षणीरासादयेति—युद्धबोधनम-
शक्यं, अत उच्चारणाददृष्टं’—इति । तन्न, कर्त्तव्यं—इत्यपि
विज्ञाते अनुष्ठानकाले स्मृत्या प्रयोजनं, उपायान्तरेणापि
सा प्राप्नोति,—अतोऽनेनोपायेन कर्त्तव्येति—नियमार्थमाभिनानं,
संस्कारत्वात् ॥ (उ० ५) ॥

स अभिधानेऽर्थवादः ॥ ४६ ॥ (उ० ६)

भा. ‘चत्वारि शृङ्गा’ (४ पू०) इत्यसदभिधाने गौणः शब्दः,
गौणीकल्पनाप्रमाणवत्त्वात् ; उच्चारणाददृष्टमप्रमाणं । चतस्रो
होवाः शृङ्गाणीवाभ्यः । ‘त्रयोभ्य पादाः’—इति सवनाभि-
प्रायं । ‘द्वे शीर्षे’—इति पत्नीयजमानौ । ‘सप्त हस्तास’ इति
छन्दांसि अभिप्रेत्य । ‘त्रिधा बद्धः’ इति त्रिभिर्वदैर्बद्धः । ‘ष्टपभः
कामान् वर्धतीति रोरवीति शब्दकर्मा महो देवो मर्त्यान् आवि-
वेश’—इति मनुष्याधिकाराभिप्रायं । तत् यथा, ‘चक्रायाकस्तनी
हंसदन्तावली काशवत्ता शैवालकेशी नदी’—इति नद्याः स्तुतिः ।

यज्ञसमृद्धये साधनानां चेतनसादृश्यं उपपादयितुकाम
आमन्त्रणशब्देन लक्षयति,—‘औपधे ! चायस्वैनं’—इति (५ पू०)
‘शृणोत यावाणः’ इति, अतः परं प्रातरनुवाकानुवचनं भवि-
ष्यति, यत्राचेतनाः सन्ती यावाणोर्भपि शृणुयुः, किं पुनर्विर्वासी-
ऽपि ब्राह्मणाः—इति, इत्थं च अचेतना अपि यावाण आस-
वन्ते ॥ (उ० ६) ॥

स गुणाद्विप्रतिषेधः स्यात् ॥ ४७ ॥ (उ० ७)

भा. ‘अद्वितीयोः’—इति (६ पू०) गौण एषः शब्दः, अतो

भा विप्रतियेध । यथा त्वमेव माता, त्वमेव पितेति, तथैकरुद्र
 दैवत्ये एको रुद्र, शतरुद्रदैवत्ये शतं रुद्रा इति अविरोध ॥
 (उ० ७) ॥

ख विद्यावचनममयोगात् ॥ ४८ ॥ (उ० ८)

भा यत्तु (पू० ७)—‘अकर्मकाले’ भवहन्तिमन्त्रेण माणवको न
 पूर्णिकाभवहन्ति प्रकाशयितुमिच्छति—इति । अयज्ञसयोगात्,
 न यज्ञोपकारायेतत् प्रकाशयितुमिच्छति । ननु ‘प्रकाश
 नानभ्यासोच्चराभ्यासश्च परिचोदित’ । उच्यते,—सौकर्यात्
 प्रकाशनानभ्यास, दुर्पक्षत्वाच्चाचराभ्यास ॥ (उ० ८) ॥

ख सतः परमविज्ञानम् ॥ ४९ ॥ (उ० ९)

भा विद्यमानोऽप्यर्थं प्रमादानस्यादिभिर्नोपलभ्यते, निगमनिर्वा
 क्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थं कल्पयितव्यं, यथा, ‘ऋण्येव
 जर्भरी तुर्परीतू—इत्येवमादीनि (८ पू०) अश्विनोरभिधानानि
 दिवचनान्तानि लक्ष्यन्ते । अनेन ‘अश्विनो कामममा’—
 इत्याश्विन सूक्तमवगम्यते । देवताभिधानानि च घटन्ते,
 जर्भरीत्येवमादीनि, अवयवप्रसिद्धा च लौकिकेनार्थेन विज्ञे
 यन्ते एव सर्वत्र ॥ (उ० ९) ॥

ख उक्तश्चानित्यसंयोगः ॥ ५० ॥ (उ० १०)

भा ‘परन्तु श्रुतिवामान्यमात्र (१ अ० । १ पा० । २५ सू०) इत्यत्र
 इति ॥ (उ० १०) ॥

• ‘अकर्मकाले’ इति सूचितम् ।

† ‘जर्भरी भर्भरी इत्यर्थः, तुर्परीतू धत्तारी इत्यर्थः’ इति
 च्युमेदुटीयायां माधवः ।

स. लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् ॥ ५१ ॥ (सि० यु० १)

भा. 'आग्नेय्याः शोधमुपतिष्ठते'—इति विधानात्, विवक्षितार्थानामेव मन्त्राणां भवति लिङ्गोपदेशः, यदि तेऽग्निप्रयोजनाः, ततस्ते आग्नेय्याः, नाग्निशब्दसन्निधानात् ॥ (सि० यु० १) ॥

स. ऊहः ॥ ५२ ॥ (सि० यु० २)

भा. ऊहदर्शनं च विवक्षितार्थानामेव भवति । किमुहदर्शनं ? ।
'न पिता वर्द्धते, न माता'— इति ; अन्ये वर्द्धन्ते इति गम्यते,
प्रत्यक्षं कौमारयोवनस्याधिरेः* वर्द्धन्ते मात्रादयः, शब्दो न
वर्द्धते—इति ब्रूते । का पुनः शब्दस्य वृद्धिः ? । यद्विचन—
वज्रवचनसंयोगः ॥ (सि० यु० २) ॥

स. विधि-शब्दाश्च ॥ ५३ ॥ (सि० यु० ३)

भा. विधिशब्दाश्च विवक्षितार्थानामेव मन्त्राननुवदन्ति,—'शतं
हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यासमित्येतदेवाह'—इति ॥ (सि०
यु० ३) ॥ इति मन्त्रलिङ्गाधिकरणं । १ अ० । २ पा० । ४ अ० ॥

इति श्रीमदाचार्ये—श्रीशवरसामिहृतो मोमांसाभाष्ये प्रथ-
मस्य द्वितीयः पादः ॥ अर्थवादपादोऽयं ॥ * * ॥

* 'यौवनावस्थाभिरेव' इति घा० सो० । का० क्री० पु० ॥

तृतीय पाद ॥

यथ स्मृतिप्रामाण्याधिकरण ॥

स धर्मस्य शब्दमूलत्वात् अशब्दमनपेक्षं स्यात् ॥ १ ॥

(पू०)

भा एवन्तावत्कृत्वस्य वेदस्य प्रामाण्यमुक्तं, अथ इदानीं यच्च न वैदिक शब्द उपलभेमहि, अथ च स्मरन्ति,—एवमयमर्थोऽनुष्ठातव्य, एतस्मै च प्रयोजनाय—इति, किं असौ तथैव स्यात्, न वा? इति। यथा ‘अष्टका कर्त्तव्या’ ‘गुरुननुगन्तव्य’ ‘तडाग खनितव्य’ ‘प्रपा प्रवर्त्तयितव्या’ ‘शिखाकर्म कर्त्तव्य’—इत्येवमादयः ॥ तदुच्यते,—‘धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्य स्यात्—इति। शब्दलक्षणो धर्म—इत्युक्तं ‘चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म—इति, अतो निर्मूलत्वान्नपेक्षितव्यमिति। ननु ‘ये विदुः,—इत्यसौ पदार्थ कर्त्तव्य इति, कथमिव ते वदिष्यन्ति—अकर्त्तव्य एवाय—इति?। स्मरणानुपपत्त्या, न हि अननुभूतोऽश्रुतो वार्थ स्मर्यते, न च, अस्यावैदिकस्या लौकिकस्य च स्मरणमुपपद्यते। पूर्वविज्ञानकारणाभावादिति, या हि वधा स्मरेत्,—इदं मे दौहित्रव्रतमिति, न मे दुहिता भस्ति—इति मत्वा, न जातुचिदसौ प्रतीयात्,—सम्यगेतत् ज्ञान—इति। ‘एवमपि यथैव पारम्पर्येणाविच्छेदात् ‘अथ वेद—इति प्रमाणमेवा स्मृति, एव इयमपि प्रमाणं भवित्यति—इति। नैतदेव, प्रत्यक्षेणोपलब्धत्वात्प्राप्त्यस्य, नानुपपन्न पूर्वविज्ञान, अष्टकादिषु त्वदृष्टार्थेषु पूर्वविज्ञानकारणाभावात् व्यामोहस्मृतिरेव शक्यते, तत् यथा, कश्चित् जात्यन्धो वदेत्,—स्मराम्यहं अस्य रूपविशेषस्य—इति, कुतस्ते पूर्वविज्ञानं?—इति च पर्यनुयुक्तो जात्यन्धमेवापरं विनिर्दिशेत्, तस्य

भा. कुतः? जात्यन्धान्तरात्,—एवं जात्यन्धपरम्परायामपि सत्यां नैव जातुचित्संप्रतीयुर्विद्वांसः सम्यग्दर्शनमेतत्—इति । अतो न आदत्तव्यमेवंजातीयकमनपेक्ष्यं स्यादिति ॥ (पू०) •

स. अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥ २ ॥
(सि०)

भा. अपि वा—इति पक्षो व्यावर्तयते । प्रमाणं स्मृतिः, विज्ञानं हि तत्, किमिति अन्यथा भविष्यति? । ‘पूर्वविज्ञानमस्य नास्ति, कारणभावात्’—इति चेत् । अस्या एव स्मृतेर्द्रष्टृभिः कारणं अनुमास्यामहे ; तत्तु न अनुभवर्त, अनुपपत्त्या, न हि, मनुष्या इहेव जन्मनि एवंजातीयकमर्थमनुभवितुं शक्नुवन्ति ! जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते ; यन्वस्तु अनुमीयेत, कर्तृ-सामान्यात् (स्मृतिवैदिकपदार्थयोः) । तेन उपपन्नो वेदसंयोग चैवर्णिकानां ।

ननु ‘नोपलभन्ते एवंजातीयकं यन्त्रं’ । अनुपलभमाना अप्यनुमिमोरन्, विस्मरणमप्युपपद्यते—इति, तदुपपन्नत्वात् पूर्वविज्ञानस्य चैवर्णिकानां स्मरतां, विस्मरणस्य च उपपन्नत्वात् यन्धानुमानमुपपद्यते—इति प्रमाणं स्मृतिः ।

अष्टकालिङ्गाश्च मन्वा वेदे दृश्यन्ते,—‘यां जनाः प्रतिनन्दन्ति’—इत्येवमादयः ॥ तथा प्रत्युपस्थितनियमानामाचाराणां दृष्टार्थत्वादेव प्रामाण्यं,—गुरोरनुगमात् प्रीतो गुरुः अध्यापयिष्यति, यन्त्रं यन्त्रिभेदिनस्य न्यायान् परितुष्टो वध्यति—इति ; तथा च दर्शयति,—‘तस्मात् अेषां सं पूर्वं यन्त्रं आपीद्यान् पश्चादन्वेति’—इति । प्रपास्तडागानि च परोपकाराय, न धर्माय,—इत्येवावगम्यते । तथा च दर्शनं,—‘धन्वन्निव प्रपा

भा. असि—इति, तथा 'स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति'—इति च। गोव-
चिह्नं शिखाकर्म, दर्शनञ्च,—'यत्र बाणाः सम्पतन्ति'—इति।
• तेन ये दृष्टार्थाः, ते तत एव प्रमाणं, ये त्वदृष्टार्थाः, तेषु
वेदिकशब्दानुमानमिति ॥ (इति स्मृतिप्रामाण्याधिकरणं । १।
३। १।) ॥

अथ श्रुतिषाबल्याधिकरणम् ।

स विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यात्, असति ह्यनुमानं ॥ ३ ॥

भा. अथ यत्र श्रुतिविरोधः, तत्र कथं? यथा, औदुम्बरा-
सर्ववेष्टनं 'औदुम्बरी स्पृक्षोद्गायेत्'—इति श्रुत्या विरुद्धं (१)।
अष्टाक्षरवारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यचरणं 'जातपुत्रः क्षणिकेशो-
ग्नीनादधीत'—इत्यनेन विरुद्धं (२)। क्रीतराजको भोज्यान्नः
—इति 'तस्मात् अग्नीषोमीये संस्थिते यजमानस्य गृहे भक्षणार्थं'
—इत्यनेन विरुद्धं (३)। तत् प्रमाणं, कर्तृसामान्यात्,—इत्येवं
प्राप्ते ब्रूमः,—अशक्यत्वाद्यामोहः,—इत्यवगम्यते। कथम-
शक्यता? स्पर्शविधानात् न सर्वा शक्या वेष्टयितुं, उद्गायता
स्पृष्टा। तामुद्गायता स्पृष्टव्यामवगच्छन्तः केनेमं संप्रत्ययं
याधेमहि सर्ववेष्टनस्मरणेन?—इति ब्रूमः।

ननु 'निर्मूलत्वादयामोहः तत् स्मरणं—इति वैदिकं वचनं
मूलं भविष्यति'—इति। भवेद्वैदिकं वचनं मूलं, यदि स्पर्शनं
यामोहः; अयामोहे त्वशक्यत्वात् अनुपपन्नं। यथा, अनुभवनं
अनुपपन्नं—इति न कल्प्यते, तथा वैदिकमपि वचनं। कथं
तर्हि सर्ववेष्टनस्मरणं? यामोहः। कथं यामोहकल्पना?।
श्रौतविज्ञानविरोधात्। अथ 'किमर्थं नेमौ विधी विकल्पे

भा.ते व्रीहियववत् दृष्टद्रव्यन्तरवद्वा ?'। नासति व्यामोहविज्ञाने विकल्पो भवति,—यदि सर्ववेष्टनविज्ञानं प्रमाणं, स्पर्शनं व्यामोहः, यदि स्पर्शनं प्रमाणं, स्मृतिर्यामोहः । विकल्पन्तु वदन् स्पर्शनस्य पक्षे तावत्प्रमाण्यमनुमन्यते, तस्य च मूलं श्रुतिः, सा चेत्प्रमाणमनुमता, न पाक्षिकी । पाक्षिकं च सर्ववेष्टनस्मरणं पक्षे तावन्न शक्नोति श्रुतिं परिकल्पयितुं. स्पर्शविज्ञानेन बाधितत्वात् । ततश्च अव्यामोहे च तस्मिन्न शक्या श्रुतिः कल्पयितुं । न चाव्यामोहः पक्षे, पक्षे व्यामोहो भविष्यति—इति, यदेव हि तस्यैकस्मिन् पक्षे मूलं, तदेवेतरस्मिन्नपि, एकस्मिंश्चेत्पक्षे न व्यामोहः, श्रुतिप्रामाण्यतुल्यत्वादितरत्राप्यव्यामोहः ; न च, असावेकस्मिन् पक्षे श्रुतिर्निवद्धाचरा हि सा 'न प्रमादपाठः'—इति शक्या गदितुं ।। तेन, न एतत्पक्षे विज्ञानं व्यामोहात् पक्षान्तरं संक्रान्तं—इत्यवगम्यते । तत्र दुःश्रुतस्वप्नादिविज्ञानमूलत्वं तु सर्ववेष्टनस्य—इति विरोधात् कल्प्यते ; न हि, तस्य सति विरोधे प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यं—इति किञ्चिदस्ति प्रमाणं ।। तस्मात् यद्येवैकस्मिन् पक्षे न शक्या श्रुतिः कल्पयितुं, एवं ऽपरस्मिन्पक्षे, तुल्यकारणत्वात् ।

अपि चेतरेतराश्रयेभ्यतःपरिच्छेदात् । केयमितरेतराश्रयता ? । प्रमाणायां स्मृतौ स्पर्शनं व्यामोहः, स्पर्शने प्रमाणे स्मृतिर्यामोहः, तदेतदितरेतराश्रयं भवति । तत्र स्पर्शनस्य कृतं मूलं, कल्प्यं स्मृतेः, सोऽवगम्यतःपरिच्छेदः, कल्प्यमूलत्वात् स्मृतिप्रामाण्यमनवकृतं ; तदप्रामाण्यात् स्पर्शनं न व्यामोहः, तदव्यामोहात् स्मार्तश्रुतिकल्पनाभ्युपपन्ना प्रमाणाभावात् । ननु 'एवं सति व्रीहिसाधनत्वविज्ञानस्यापि अव्यामोहात् यवश्रुतिर्नापपद्येत !' । सत्यं नोपपद्यते, यद्यप्रत्यक्षा स्यात्, प्रत्यक्षा त्वेषा, न हि, प्रत्यक्षमनुपपन्नं नामास्ति' इयोस्तु भावात्, द्वे स्तेन वाक्ये, तत्रैकेन केवल्यवसाधनता

भा एकेन केवलमीहिसाधनता । न च, वाक्येनावगतोर्थोऽप्यङ्गयते ॥
 तस्मात् बोद्धव्यवयोरुपपन्नो विकल्पः, दृष्टद्वयन्तरयोश्च । तस्मात्
 उक्तं श्रुतिविरुद्धा स्मृतिरप्रमाणं—इति । अतश्च सर्ववेष्टनादि
 नादरणीयं ॥ (इति श्रुतिप्राबल्याधिकरणं । १ अ० । ३ पा० ।
 २ अ०) ॥

अथ दृष्टमूलकस्मृत्यप्रमाण्याधिकरणं ॥

सू

हेतु-दर्शनाच्च ॥ ४ ॥

भा लोभादास आदित्समाना औदुम्बरीं हस्त्यां वेष्टितवन्तः
 केचित्, तत् स्मृतेर्वीजं (१) । बुभुक्षमाणाः केचित् क्रीतराजकस्य
 भोजनमाचरितवन्तः (२) । अपुंस्त्वं प्रच्छादयन्तश्चाष्टाचत्वा-
 रिंशद्वर्षाणि वेद्ब्रह्मचर्यं चरितवन्तः (३) । तत एषा स्मृतिः
 —इत्यवगम्यते ।

अधिकरणान्तरं वा, 'वैसर्जनक्षोमीयं वासोऽध्ययगुंक्लाति'—
 इति, 'यूपक्षस्तिनो दानमाचरन्ति'—इति, तत् कर्तृसामान्यात्
 प्रमाणं—इति प्राप्तेऽप्रमाणं स्मृतिः, अत्रान्यन्मूलं,—लोभादा-
 चरितवन्तः केचित्, तत एषा स्मृतिः । उपपन्नतरक्षेतत् वैदिक-
 वचनकल्पनात् ॥ (इति दृष्टमूलकस्मृत्यप्रामाण्याधिकरणं । १ ।
 ३ । ३) ॥

अथ पदार्थप्राबल्याधिकरणम् ॥

सू शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत् ॥ ५ ॥ (पूर्वपक्षे पृ०)

भा 'आचान्तेन कर्तव्यं' 'यज्ञोपवीतिना कर्तव्यं' 'दक्षिणाचारेण
 कर्तव्यं'—इत्येवंसंक्षेपानि उदाहरणानि । किमेतानि श्रुति
 विरुद्धानि न कर्तव्यानि, उताविरुद्धानि कार्याणि?—इति ।

भा. इति चेत् पथ्यासि,—तैरप्यनुष्ठेयमानैर्वेदिकं किञ्चिन्न कुप्यति ;
तस्मात् अविद्वानि—इति ॥ (पू० । पू०) ॥

स न, शास्त्रपरिमाणत्वात् ॥ ६ ॥ (पू०) ,

भा. नैतदेवं, शास्त्रपरिच्छिन्नं हि क्रमं बाधेरन् ।। कथं ?। 'वेदं
छत्वा वेदिं कुर्वीत'—इतीमां श्रुतिमुपगन्ध्यात् ! अन्तरा वेदं*
वेदिं च, अनुष्ठेयमानमाचमनादि । दक्षिणेन चैकहस्तैना-
नुष्ठेयमानेषु पदार्थेषु कदाचित् प्रधानं स्वकालं अतिक्रामेत्,
उभाभ्यां हस्ताभ्यां अनुतिष्ठन् प्रधानकालं संभावयिष्यति ॥
(पू०) ॥

स अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् ॥ ७ ॥
(सि०)

भा. अपि वा—इति पक्षव्यावृत्तिः । अगृह्यमाणकारणा एवं-
जातीयकाः प्रमाणं । ननु 'क्रमकालौ विरुद्धन्ति' । विरुद्धन्तु,
नैष दोषः,—आचमनं पदार्थः, पदार्थानां च गुणः क्रमः, न च,
गुणानुरोधेन पदार्था न कर्तव्यो भवति ।। अपि च प्राप्तानां
पदार्थानां उत्तरकालं क्रम आपतति, यदा पदार्थः प्राप्नोति,
तदा क्रम एव नास्ति, केन सह विरोधो भविष्यति ?—इति ।
तथा यदि दक्षिणेन नाचर्यते, कालो मा विरोधीत्—इति, तत्र
कालानुरोधेन पदार्था नाभ्यगच्छात्वमभ्युपगच्छेत् । प्रयोगाङ्गं हि
कालः पदार्थानामुपकारकः, अतो न कालानुरोधेन व्यथयितव्यः
पदार्थः । अपि च शौचं दक्षिणाचारता यज्ञोपवीतित्वं च—
एवंजातीयका अर्थाः व्यवधातारो न भवन्ति, सर्वपदार्थानां

* 'वेदो नाम दर्भमयः संमार्जनसाधनः, वेदिराहवणीयगार्हपत्य-
मध्यवर्तिनी चतुरङ्गुलस्ता भूमिरिति माधवः ।

भा. शेषभूतत्वात् । तस्मात् आचमनादीनां प्रामाण्यं ॥ (इति पदार्थप्राप्त्याधिकरणं । १ । ३ । ४ ।) ॥

शास्त्रप्रसिद्धपदार्थप्रामाण्याधिकरणम् ।

सू. तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात् ॥ ८ ॥

(पू०)

भा. 'यवमयश्चरः' 'वाराही उपानहौ' 'वैतसे कटे प्राजापत्यान् सचिनोति'—इति यववराहवैतसशब्दान् समामनन्ति । तत्र केचिद्दीर्घश्रुकेषु यवशब्दं प्रयुजन्ते, केचित् प्रियङ्गुषु, वराहशब्दं केचित् श्रुकरे, केचित् हाष्पशकुनौ; वैतसशब्दं केचित् वङ्गुलके, केचित् जम्बवा, तत्रोभयथा पदार्थावगमाद्विकल्पः ॥ (पू०) ॥

सू. शास्त्रस्या वा तन्निमित्तत्वात् ॥ ९ ॥ (मि०)

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । यवशब्दो यदि दीर्घश्रुकेषु, सादृश्यात् प्रियङ्गुषु भविष्यति, यदि प्रियङ्गुषु, सादृश्यात् यवेषु । किं सादृश्यं ? पूर्वसंख्ये क्षीणे भवन्ति दीर्घश्रुकाः प्रियङ्गवश्च, एतत् तयोः सादृश्यं । कः पुनरत्र निश्चयः ? यः शास्त्रस्यानां, स शब्दार्थः । के शास्त्रस्याः ? श्रिष्टाः, तेषामविच्छिन्ना स्मृतिः शब्देषु वेदेषु च ; तेन श्रिष्टा निमित्तं श्रुतिस्मृत्यवधारणे । ते स्तेष्वं समामनन्ति,—यवमयेषु करम्भपात्रेषु विहितेषु वाक्शेषे, —'यवान्या ओषधयो ज्ञायन्ते, अथेते मोदमाना इवोत्तिष्ठन्ति'—इति, दीर्घश्रुकान् यवान् दर्शयति वेदः । वेदे दर्शनात् अविच्छिन्नपारम्पर्या दीर्घश्रुकेषु यवशब्दः—इति गम्यते । तस्मात् प्रियङ्गुषु गौणः, तस्मात् दीर्घश्रुकानां पुरोडाशः कर्तव्यः । 'तस्माद्वराह गावोऽनुधावन्ति'—इति श्रुकरे वराहशब्दं दर्शयति, 'अप्सुजो वैतसः'—इति वङ्गुलसे वैतसशब्दः ।

भा. शूकरं हि गावोऽनुधावन्ति, वज्रलोभसु जायते, जम्बूद्वयः स्थले
गिरिनदीषु वा ॥ (इति शास्त्रप्रसिद्धपदार्थप्रामाण्याधिकरणं ।
१।३।५) ॥

अथ श्लेच्छप्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरणं ॥

सू. चोदितन्तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन ॥ १० ॥

भा. अथ यान् शब्दान् आर्या न कस्मिंश्चिदर्थे आचरन्ति, श्लेच्छास्तु
कस्मिंश्चित् प्रयुज्जन्ते, यथा पिक-नेम-सत-तामरसादिशब्दाः
तेषु सन्देहः,—किं निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्प-
यितव्यः, उत यत्र श्लेच्छा आचरन्ति, स शब्दार्थः?—इति ॥
शिष्टाचारस्य प्रामाण्यं उक्तं, नाशिष्टस्मृतेः; तस्मान्निगमादि-
वशेनार्थकल्पना, निगमादीनां चैवं अर्थवत्ता भविष्यति । अन-
भियोगश्च शब्दार्थैस्वशिष्टानां, अभियोगश्चेतरेषां । तस्माद्धातु-
तोऽर्थः कल्पयितव्यः—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—चोदितमशिष्टेरपि
शिष्टानवगतं प्रतीयेत, यत् प्रमाणेनाविरुद्धं, तत् अवगम्यमानं
न न्याय्यं त्यक्तुं । यत्तु शिष्टाचारः प्रमाण—इति, तत् प्रत्यक्षा-
नवगतेऽर्थे । यत्तु अभियुक्ताः शब्दार्थेषु शिष्टाः—इति, तत्रोच्यते,
—अभियुक्ततराः पक्षिणां पोषणे बन्धने च श्लेच्छाः । यत्तु
निगमनिरुक्तव्याकरणानामर्थवत्तेति, तत्रेपामर्थवत्ता भविष्यति,
न यत्र श्लेच्छैरप्यवगतः शब्दार्थः । अपि च निगमादिभिरर्थे
कल्प्यमानेभ्यश्च स्थितः शब्दार्थो भवेत्, तत्र अनिश्चयः स्यात् ।
तस्मात् पिक—इति कोकिलो याच्छः, नेमोऽर्द्धः, तामरसं पद्मं,
सत—इति दारुमयं पात्रं, परिमण्डलं शतछिद्रं ॥ (इति श्लेच्छ-
प्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरणं । १।३।६।) ॥

अथ कल्पसूत्राख्यत प्रामाण्याधिकरणम् ।

सू प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ॥ ११ ॥ (पू०)

भा इह कल्पसूत्राण्युदाहरण,—‘माशक, चास्तिक, कौण्डिन्यव’
—इति, एवञ्चणकानि किं प्रमाणमप्रमाणं वा ?—इति सदि
ग्धानि । किं प्राप्तं ?—प्रयोगस्य शान्त्वं प्रमाणमेवजातीयक—इति
ब्रूम । सत्यवाचांमेतानि वचनानि । कथमवगम्यते ? वैदिके
रेषा सवादो भवति, य एव हि वेदे यद्वा, त एवेह या
एव वेदे इष्टका*, ता एवेह । तस्मात् सत्यवाच आचार्या,
‘आचार्यवचं प्रमाण—इति च श्रुति । प्रत्यक्षत प्रामाण्य
मनवगत—इति यद्युच्येत प्रमाणान्तरेण वचनेनावगत—इति न
दोषः । वेदवाक्येषु तस्य आदरः, तस्मात् प्रमाण ॥ (पू०) ॥

सू न, असन्नियमात् ॥ १२ ॥ (सि०)

भा , नैतदेव, असन्नियमात् न एतत्सम्यग्निबन्धन, मुराभावात् ॥
(सि०) ॥

सू अवाक्यशेषाच्च ॥ १३ ॥ (सि० य०)

भा ‘अत्विजो हवीते, हता यजन्ति देवयजनमथवश्यन्ति’—
इति नाथ पिधिर्गम्यते वर्तमानवाचप्रत्ययनिर्देशात् न चाथ
याक्यमेव स्तापकोक्तिः, तस्मात् अप्रमाणं । यच्च आदर
उक्तं यं नागरीयकात्वात् वेदवाक्यमिदमप्रमाणानात् । यत्तु
श्रुति—इति, नैतत् अर्थवाट्यात् । कथमर्थवादः ? विध्य
कारं हि श्रुति—‘आग्नेयोपस्थाकपात्र—इति । आचार्यो
वेदोभिधेयः, आग्निनोत्तरस्य मुक्ति—इति । यदा आचार्यवचनं

प्रमाणं तदपेक्षम् । कतरत्ततः ? । यत प्रमाणगम्यम् ॥ (सि० यु०) ॥

यद्योक्तं,—सत्यवाचामेतानि वचनानि—इति ; तच्च,

सू. सर्व्वत्र च प्रयोगात् सन्निधान-शास्त्राच्च ॥ १४ ॥ (उ०)

भा. आचार्यवचनं हि भवति पूर्वपक्षे 'सर्वास्तु तिथिस्वमावास्या'—इति, सन्निहितञ्च शास्त्रं,—'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यायाममावास्या यजेत'—इति, तेन श्रुतिविरुद्ध-वचनान्न सत्यवाचः, तस्मात् अप्रमाणं ॥ (उ०) ॥ (इति कल्प-सूत्रास्तःप्रामाण्याधिकरणम् । १ । ३ । ७ ।) ॥

अथ होलाकाधिकरणम् ।

(सामान्यश्रुतिकल्पनाधिकरणम्) ॥

सू. अनुमानव्यवस्थानात्तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात् ॥ १५ ॥

(पू०)

भा. अनुमानात् स्मृतेराचाराणां च प्रामाण्यमिष्यते, येनैव हेतुना ते प्रमाणं, तेनैव व्यवस्थिताः प्रामाण्यमर्हन्ति । तस्मात् होलाकादयः प्राचैरैव कर्तव्याः, आह्नीनैवुकादयो दाक्षिणा-त्येरेव, उद्गुपभयज्ञादयो उदीचैरैव ; यथा शिखाकल्पो व्यव-तिष्ठते,—केचित् त्रिशिखाः, केचित् पञ्चशिखाः—इति ॥ (पू०) ॥

सू. अपि वा सर्व्वधर्मः स्यात्, तन्न्यायत्वाद्विधानस्य ॥ १६ ॥

(सि०)

भा. अपि वा—इति पक्षव्यावृत्तिः, एवंजातीयकः सर्व्वधर्मः स्यात् । कुतः ? । 'तन्न्यायत्वात् विधानस्य,' (विधीयतेऽग्नेन—इति) विधानं शब्दः, सोऽनुमीयते स्मृत्या ; न च तस्याऽऽवृत्तिवचनता न्याय्या, न च व्यक्तिवचनता, न सर्व्वेषामनुष्ठातृणां यदेकं

सामान्यं, तस्य वाचकः कश्चित् शब्दोऽस्ति, योऽनुमीयेत। तस्मात् सर्वधर्मता विधेर्न्याय्या। कुतः?। पदार्थाः कर्तव्याः—इति प्रमाणमस्ति, व्यवस्थायान्तु न किञ्चित् प्रमाणमस्ति॥ (सि०)॥

अथ यदुक्तं, —यथा शिखाकल्पो व्यवतिष्ठते—इति,

सू दशनादिनियोगः स्यात् ॥ १७ ॥ (उ० १)

भा. गोचरवस्थया शिखाकल्पव्यवस्थायां दर्शनं स्पष्टं ॥ (उ० १)॥

सू लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य ॥ १८ ॥ (सि० यु०)

भा. इदं पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रं। कानि तानि पदानि?। 'अथ किमर्थं न लिङ्गाद्व्यवस्था? यथा, शुक्लो होता—इति। नास्ति तत् नित्यमेयां लिङ्गं, यत् यथादर्शनमनुवर्तते। येषां न्यामा वृद्धन्तो लोहिताच्चाः, तेभ्यो न सर्वे आक्रीनेषुकादीन् कुर्वते। अनेवलिङ्गा अपि चानुतिष्ठन्ति। तस्माच्च व्यवस्था; शुक्लो होता—इति तु प्रत्यक्षा श्रुतिः॥ (सि० यु०)॥

सू आख्या हि देशसंयोगात् ॥ १९ ॥ सि० आ० नि०)

भा. अथ 'कस्माच्च समाख्या नियमः?—ये 'दाक्षिणात्याः'—इति समाख्याताः, ते आक्रीनेषुकादीन् करिष्यन्ति, ये 'उदीचराः'—इति समाख्याताः, ते उद्वृषभयक्षादीन्, ये 'प्राचराः'—इति, ते होलाकादीन्, यथा, 'राजा राजसूयेन'—इति। नैतदेवं, देशसंयोगात् आख्या भवति, दक्षिणदेशान्निर्गतः प्राक्षु वा उद्वृषु वाभवस्थितः आक्रीनेषुकादीन् करोत्येव। उदीचराश्च देशान्तरे उद्वृषभयक्षादीन्, प्राचराश्च होलाकादीन्, अन्यदेशस्थ देशान्तरगतो न नियोगतः परपदार्थान् करोति। तस्माच्च व्यवस्था। 'राजा राजसूयेन'—इति तु नियता जातिः॥ (सि० आ० नि०)॥

सू. न स्याद्देशान्तरेष्विति चेत् ॥ २० ॥ (सि० आ०)

भा. इति चेत् पश्यसि,—यदि देशसंयोगात् आख्या भवेत्, देशान्तरस्थस्य न भवेत्! भवति च देशान्तरस्थस्य 'माथुरः'—इत्यसंबन्धस्यापि मथुरया; तस्मान्न देशसंयोगात् आख्या ॥ (सि० आ०) ॥

सू. स्याद्योगाख्या हि माथुरवत् ॥ २१ ॥ (आ० नि०)

भा. देशसंयोगनिमित्तायामप्पाख्यायां देशान्निर्गतस्य तदाख्या न विरुद्धा, यत एषा योगाख्या (योगमात्रापेक्षा), न भूतवर्तमान—भविष्यत्संबन्धापेक्षा, यतो दृश्यते,—मथुरामभिप्रस्थितो 'माथुरः'—इति, मथुरायां वसन्, माथुराया निर्गतश्च । यस्य तु अतोऽन्यतमः संबन्धो नास्ति, न स माथुरः, तस्मान्न समाख्यया व्यवस्था ॥ (आ० नि०) ॥

सू. कर्मधर्मौ वा प्रवणवत् ॥ २२ ॥ (आ०)

भा. अथ कस्मान्न कर्माङ्गं देशः?—यः ह्यणमृत्तिकाप्रायः, स आक्रीनेषुकादीनां, यथा 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत'—इति ॥ (आ०) ॥

सू. तुल्यन्तु कर्तृधर्मेण ॥ २३ ॥ (आ० नि०)

भा. यथा कर्त्तरि अव्यवस्थितं लिङ्गं श्यामादि न पदार्थैः संवाद-मुपैति, तद्वत् देशलिङ्गं अव्यवस्थितं; ह्यणमृत्तिकाप्रायेभ्यन्ये न कुर्वन्ति, तथा अन्यलिङ्गेऽपि कुर्वन्ति; तस्मान्न देशतो व्यवस्था । प्राचीनप्रवणन्तु श्रुत्या नियतं वैश्वदेवस्य ॥ (इति ह्योलाकाधि-करणं । १ अ० । ३ पा० । ८ अ०) ॥

अथ साधुपदप्रयत्नव्यधिकरणम् ।

स प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात् ॥

२४ ॥ (पू०)

भा 'गी गावी गोणी गोपोतलिका'—इत्येवमादय शब्दा उदाहरण । गोशब्दो यथा साक्षादिमति प्रमाण, किं तथा गाद्यादयोऽपि, उत न ?—इति सन्देह, किमत्रेक शब्दो विच्छिन्नपारम्पर्याभ्यांभिधायी, इतरे अपभ्रंशा, उत सर्वे भेदादयः ?। सर्वे—इति ब्रूम । कुत ?। प्रत्ययात्, प्रतीयते हि गाद्यादिभ्य साक्षादिमान् अर्थः—तस्मात् इतो वर्णशतेभ्य स्यार्थस्य सम्बन्ध आसीदेव तत परेण, ततश्च परतरेणेति अनादिता, कर्त्ता चाग्न्य सम्बन्धस्य नास्ति—इति व्यवस्थितमेव । तस्मात् सर्वे साधवः, सर्वेभाषितव्य सर्वे हि साधयन्तार्थं, यथा, हस्त कर पाणि --इति ।

अर्थाय ह्येते उच्चार्यन्ते, न अदृष्टाय, न हि, एवामुच्चारणे शास्त्रमस्ति ।। तस्मान्न यवतिष्ठेत्,—कश्चिदेक एव साधु, इतरेऽसाधवः,—इति ॥ (पू०) ॥

स शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् ॥२५॥ (सि०)

भा महता प्रयत्नेन शब्द उच्चरन्ति,—वायुर्नाभेरुत्थित, उरसि विस्तीर्ण, कण्ठे विवर्तित, मूर्ध्निानमाद्यत्य, पराहत, वक्त्रे विचरन् विविधान शब्दानभिच्यनक्ति । तत्रापराधेनापि उच्चारयिता, यथा शुक्ले पतित्यामि—इति कर्दमे पतति, सशत उपस्पृश्यामि—इति हि उपस्पृशति । ततोऽपराधात् प्रहता गाद्यादयो भवेयुः, न नियोगतोऽविच्छिन्नपारम्पर्या एव—इति ॥ (सि०) ॥

सू. अन्गायश्चानेकशब्दत्वम् ॥ २६ ॥ (सि० यु०)

भा. न चेय न्यायः,—यत्, 'सदृशाः शब्दाः एकमर्थं अभिनिविश-
मानाः, सर्वविच्छिन्नपारम्पर्या एव'—इति, प्रत्ययमात्रदर्शना-
दभ्युपगम्यते, सादृश्यात् साधुशब्दे*भ्यवगते प्रत्ययोऽवकल्प्यते ।
तस्मात् अमीपामेकोऽनादिः, अन्येष्वंशाः । हस्तः करः पाणिः
—इत्येवमादिषु तु अभियुक्तोपदेशात् अनादिरमीपामर्थेन
संबन्धः—इति ॥ (सि० यु०) ॥

सू. तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात् स्यात् ॥ २७ ॥
(आ० नि०)

भा. कथं पुनः तत्र तत्त्वं शक्यं विज्ञातं? । शक्यं—इत्याह, अर्थिनो
हि अभियुक्ता भवन्ति, दृश्यते चाभियुक्तानां गुण्यतामविस्मरणं
उपपन्नं । प्रत्यक्षस्यैतत् गुण्यमानं न भव्यते—इति । तस्मात्
यमभियुक्ता उपदिशन्ति,—एय एव साधुः—इति, साधुः—
इत्यवगतव्यः ॥ (आ० नि०) ॥

सू. तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् ॥ २८ ॥ (उ० १)

भा. अथ यदुक्तं,—(७६।८) 'अर्थोऽभ्यगम्यते गाद्यादिभ्यः, अतः
एषामप्यनादिरर्थेन संबन्धः'—इति, तदशक्तिरेषां गम्यते,—
गोशब्दमुच्चारयितुकामेन केनचित् अशक्त्या गावी—इत्युच्चारितं,
अपरेण ज्ञातं,—साक्षादिमान् अस्य विवक्षितः, तदर्थं गौः—
इत्युच्चारयितुकामो गावी—इति उच्चारयति, ततः शिक्षित्वा
अपरेऽपि साक्षादिमति विवक्षिते गावी—इति उच्चारयन्ति ;

तेन गाथादिभ्य साप्तादिमान अवगम्यते , अनुरूपो हि गाथादिर्गोशब्दस्य । (उ० १) ॥

स एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात् ॥ २६ ॥ (उ० यु०)

भा अत एव हि विभक्तिव्यत्ययेऽपि प्रत्ययो भवति — अश्मकैरा गच्छामि—इति अश्मकशब्देकदेशे उपलब्धे अश्मकेभ्य —इत्येव शब्द स्मर्यते, तत अश्मकेभ्य —इत्येषोर्भ्य उपलभ्यते—इति, एव गाथादिदर्शनात् गोशब्दस्मरण, तत साप्तादिमान अव गम्यते ॥ (उ० । यु०) । (इति साधुपदप्रयुक्त्यधिकरण । १ अ० । २ पा० । ६ अ०) ॥

अथ लोकवेदयो शब्दैक्याधिकारणम् ।

आहतिशत्रयधिकरण मारम्भस्य ॥

स प्रयोगचोदनाभावाद्यर्थैकत्वमविभागात् ॥ ३० ॥ (पू० १)

भा अथ गो—इत्येवमादय शब्दा किमाहते प्रमाण उत यत्ने ?—इति सन्देह । उच्यते, इदं तावत् परीक्ष्यतां— किं य एव लौकिका शब्दा, त एव वैदिका उतान्ये ?—इति, यदा न एव तदापि किं त एवैषामर्था, ये लोके उतान्ये ?—इति सशय । तत्रान्ये लौकिका शब्दा, अन्ये वैदिका, अन्ये वैषामर्था—इति सूत्रम् । कुत ?। व्यपदेशभेदात् रूपभेदाच्च इमे लौकिका, इमे वैदिका—इति व्यपदेशभेद । ‘अग्निर्होत्राणि जह्वनत्—इत्यन्यत् इदं रूपं लौकिकात् अग्निशब्दात्, शब्दान्यत्वाच्च न त एवार्था । अपि च समामनति—‘उत्ताना वि देवगवा वहन्ति—इति य देवानां गावः त उत्ताना वहन्ति—इत्युक्ते गम्यते एव,—ये उत्ताना वहन्ति ते गोशब्देन उच्यन्ते

—इति। तस्मात् अन्यो वैदिकगोशब्दस्यार्थः। तथा 'देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्णे प्रदिवस्ते अर्थः'—इति, हिरण्यपर्णे देवो वनस्पतिर्वेदे; 'एतत् वै देवं मधु, यत् घृतं'—इति वेदे घृते मधुशब्दः तस्मादमोषामन्येर्थाः—इति प्राप्ते,

ब्रूमः,—य एव लौकिका शब्दाः, त एव वैदिकाः, त एवैषामर्था—इति। कुतः?। 'प्रयोगचोदनाभावात्,' एवं, प्रयोगचोदना संभवति, यदि त एव शब्दाः; त एवार्थाः, इतरथा शब्दान्यत्वर्थो न प्रतीयेत। तस्मादेकशब्दत्वमिति। उच्यते प्रयोजनमिदं, हेतुर्थपदिश्यतां?—इति, ततो हेतुः उच्यते,—'अविभागात्'—इति, न तेषां एषाञ्च विभागं उपलभामहे! अत एव एकशब्दत्वं, तांश्च तांश्चार्थान् अवगच्छामः; अतो नान्यत्वञ्च वदामः। यच्चोक्तं (७८। २२) ये उत्ताना वहन्ति, ते देवगवाः, यत् घृतं, तन्मधु, यो हिरण्यपर्णः, स वनस्पतिः—इति; नास्ति वचनं, यत् उत्तानानां वहतां गोत्वं ब्रूयात्, ये गावः, ते उत्ताना वहन्ति—इत्येवं तत्; यदि च अनेन वचनेन गोत्वं विधीयते, 'उत्ताना वहन्ति'—इत्यनुवादः स्यात्; न च, उत्ताना वहन्तः प्रसिद्धाः केचित्! ते नियोगतो विधातव्याः, तेषु विधीयमानेषु न शक्यं गोत्वं विधातुं, भिद्यते हि तथा वाक्यं। यदि चान्ये वैदिकाः, तत उत्तानादीनामर्थो न गम्येत, तत्र नतरां शक्यताविज्ञातलक्षणं गोत्वं विज्ञातं! न चोत्तानवहनवचनमप्यनर्थकं, स्तुत्यर्थेनार्थवत् भविष्यति—इति। एवं घृतस्य मधुत्वं, हिरण्यपर्णता च वनस्पतेः। तस्मात् त एव शब्दा अर्थाश्च ॥ (इति लोकवेदयोः शब्दैक्याधिकरणं। १ अ०। ३ पा०। १० अ०। अन्तर्गतं) ॥

यदि, लौकिकास्त एवार्थाः, तदा सन्देहः,—किमाहतिः शब्दार्थाभ्य व्यक्तिः?—इति। (का पुनराहतिः, का व्यक्तिः?—इति। इत्थगुणकर्मणां सामान्यमात्रमाहतिः, असाधारणविशेषा

व्यक्तिः ।) कुत सशयः ?। गौ —इत्युक्ते सामान्यप्रत्ययात्, व्यक्तौ च त्रिधासम्बन्धात् ।

तदुच्यते,—व्यक्ति शब्दार्थः—इति । कुत ?। ‘प्रयोगचोदनाभावात्’ आलम्भनप्रोक्षणविशसनादीनां प्रयोगचोदना आहृत्यर्थे न सम्भवेयुः ।। ‘यत्रोच्चारणानर्घक्यं तत्र व्यक्त्यर्थः’, अतोऽन्यत्राहतिवचन —इति चेत् । उक्त (७७।१) ‘अन्या यस्यानेकार्थत्व—इति । कथं सामान्यावगतिः ?—इति चेत् । व्यक्तिपदार्थकस्याहतिस्थिकभूता भविष्यति,—य एवमाहतिक, स गौरिति, यथा यस्य दण्डोऽस्ति, स दण्डी—इति, न च दण्डवचनो दण्डिशब्दः, एव इच्छामि ॥ (पू०) ॥

स अद्रव्यशब्दत्वात् ॥ ३१ ॥ (पू० २)

भा द्रव्याश्रयस्य शब्दो द्रव्यशब्दः, न तत्र द्रव्याश्रयवचनं शब्दो भवेत् यद्याहति शब्दार्थो भवेत्—‘षड् देया द्वादश देया चतुर्विंशतिर्दया—इति, न हि, आहति षडादिभिः संख्याभिः युज्यते ! तस्मादाहतिवचनं ॥ (पू० २) ॥

स अन्यदर्शनाच्च ॥ ३२ ॥ (पू० ३)

भा ‘यदि पशुकपाहतं पलायेत अन्यं तदणं तद्व्यसमासमेत’—इति यद्याहतिवचनं शब्दो भवेत्, अन्यस्यालम्भो नोपपद्येत ! अन्यस्यापि पशुद्रव्यस्य सेवाहतिः तस्मात् व्यक्तिवचनं इति ॥ (पू० ३) ॥

प आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् ॥ ३३ ॥ (सि०)

भा तुल्यं पक्षं व्यावर्तयति । आहति शब्दार्थः । कुत ?। क्रियादेरत्वात् ‘यदचितं चिन्वीत’—इतिवचनमाहती सम्भति यद्याहृत्यर्थं श्येनशब्दः, व्यक्तिपक्षे तु न चयनेन श्येनव्यक्ति

भा. कृत्पादयितुं शक्यते—इति अशक्यार्थवचनात् अनर्थकः । तस्मात्
आहतिवचनः ।

ननु 'श्येनव्यक्तिभिश्चयनमनुष्ठायते' । न साधकतमः श्येन-
शब्दार्थः, ईप्सिततमो ह्यसौ श्येनशब्देन निर्दिश्यते ; अतश्चय-
नेन श्येनो निवर्त्तयितव्यः, स आहतिवचनत्वेऽवकल्प्यते ।

ननु उभयत्र क्रियाया असम्भव एव व्यपदिश्यते,—नाहतिः
शब्दार्थः, कुतः ? क्रिया न सम्भवेदाहतौ शब्दार्थे 'ग्रीहीन्-
प्रोचति'—इति । तथा न व्यक्तिः शब्दार्थः, क्रियेव न सम्भवेत्
यक्तेः शब्दार्थत्वे 'श्येनचितं चिन्वीत'—इति । यदप्युच्येत,—
'ग्रीहीन्प्रोचति'—इति व्यक्तिवचनार्था आहतिः—इति ; शक्य-
मन्यत्रापि 'श्येनचितं चिन्वीत'—इति वदितुम् आहतिवच-
नार्था व्यक्तिः—इति । किं पुनरत्र ज्यायः ? ।

आहतिः शब्दार्थः इति ; यदि व्यक्तिः शब्दार्था भवेत्,
व्यक्त्यन्तरे न प्रयुज्येत ! अथ व्यक्त्यन्तरे प्रयुज्यते, न तर्हि व्यक्तिः
शब्दार्थः, सर्वसामान्यविशेषविनिर्मुक्ता हि व्यक्तिरिति । 'उच्यते,
—नैष दोषः,—व्यक्त्यन्तरे सर्वसामान्यविशेषविनिर्मुक्ते एव प्रव-
र्त्तिष्यते' । यदि व्यक्त्यन्तरे सर्वसामान्यविशेषवियुक्ते प्रवर्त्तिष्यत,*
सामान्यमेव तर्हि तत् । 'न—इत्युच्यते,—यो हि अर्थः सामा-
न्यस्य विशेषाणाञ्चाश्रयः, सा व्यक्तिः, व्यक्तिवचनश्च शब्दो न
सामान्ये, न विशेषे वर्त्तते ; तेषां त्वाश्रयमेवाभिदधाति, तेन
व्यक्त्यन्तरे वृत्तिरदोषः, न हि तत् सामान्यम्' ।

यदि व्यक्त्यन्तरेष्वपि भवति, सर्वसामान्यविशेषवियुक्ताया
अश्वव्यक्तौ गोशब्दः किमिति न वर्त्तते ? । 'आह,—येष्वेव
प्रयोगो दृष्टः, तेषु वर्त्तिष्यते, न सर्वत्र ; न च, अश्वव्यक्तौ
गोशब्दस्य प्रयोगो दृष्टः' । तस्मात्तत्र न वर्त्तिष्यते' । यदि यत्र

* 'यदि सर्वसामान्यविशेषवियुक्तम्,' इति का० स० पु० द्वयम् ।

भा प्रयोगो दृष्ट, तत्र वृत्ति, अद्यजाताया गवि प्रथमप्रयोगो न प्राप्नोति' तत्रादृष्टत्वात् सामान्यप्रत्ययश्च न प्राप्नोति—इयमपि गौ—इति इयमपि गौ—इति। इय वा गौ—इति इय वा गौ—इति स्यात् भवति तु सामान्यप्रत्यय अदृष्टपूर्वायामपि गोव्यक्तौ, तस्माच्च 'प्रयोगापेक्षो गोशब्दो व्यक्तिवचन—इति शक्यते आश्रयितुम्। एव तर्हि शक्तं स्वभाव एष,—यत् कस्याश्चित् व्यक्तौ वर्त्तत, कस्याश्चिन्न, यथा, अग्निरूप उदक शीतम् एवमेतत् भविष्यति—इति। नैव सिद्ध्यति न हि, एतत् गम्यते कस्याश्चिद्व्यक्तौ वर्त्तते, कस्याश्चित् न—इति।

'सत्यमेतत् गोत्व लक्षणं भविष्यतीति यत्र गोत्व तस्या व्यक्ताविति'। एव तर्हि विशिष्टा व्यक्ति प्रतीयेत' यदि च विशिष्टा पूर्वतर विशेषण अवगम्येत! न हि, अप्रतीते विशेषणे विशिष्ट केचन प्रत्येतुमर्हन्ति—इति। 'अस्तु विशेषणत्वेनास्तीति वक्ष्यति विशेष्यत्वेन व्यक्ति, न हि आह्वतिपदार्थकस्य व्यक्तिर्न पदार्थ, व्यक्तिपदार्थकस्य वा न आह्वति! उभयमुभयस्य पदार्थ कस्यचित् किञ्चित्प्राधान्येन विवक्षितं भवति तेन अत्राह्वतिगुणभावेन व्यक्ति प्रधानभावेन विवक्ष्यते—इति।

नेतदेवम् उभयोरुच्यमानयोर्गुणप्रधानभाव स्यात् यदि चात्राह्वति प्रतीयते शब्देन, तदा व्यक्तिरपि पदार्थ—इति न शक्यते वदितुम्। कुत? आह्वतिर्हि व्यक्त्या नित्यसंबद्धा, संबन्धिन्याश्च तस्यामवगतायां संबन्धान्तरमवगम्यते तदेतत् आत्मप्रत्यक्ष—यत् शब्दे उच्चरिते व्यक्ति प्रतीयते—इति किं शब्दात् उत आह्वते?—इति विभागो न प्रत्यक्ष सोऽन्वय्यतिरेकाभ्यामवगम्यते—अन्तरेणापि शब्द य आह्वतिमवबुध्येत, अवबुध्येतेवासौ व्यक्ति यस्तु उच्चरितेऽपि शब्दे मानसादपचारात् कदाचिदाह्वति नोपसमेत, न जातुचिदसौ इमा व्यक्तिमवगच्छेत। 'ननु व्यक्तिविशिष्टायां आह्वतौ वर्त्तते।

भा. व्यक्तिविशिष्टायाश्चेत् वर्तते, व्यक्त्यन्तरविशिष्टा न प्रतीयते ।
तस्मात् शब्द आह्वतिप्रत्ययस्य निमित्तं, आह्वतिप्रत्ययो व्यक्ति
प्रत्ययस्य—इति ।

‘ननु गुणभूता प्रतीयते इत्युक्तं (८२।१७)’ । न गुण-
भावोऽस्मत्पक्षस्य बाधकः, सर्वथा तावत् प्रतीयते, अर्थात्
गुणभावः प्रधानभावो वा, स्वार्थं चेत् उच्चार्यते, प्रधानभूता.
अथ न स्वार्थं, परार्थमेव; ततो गुणभूता, न तत्र शब्द-
व्यापारोऽस्ति ।

‘ननु च दण्डो—इति न तावत् दण्डिशब्देन दण्डोऽभिधीयते,
अथ च दण्डविशिष्टोऽवगम्यते, एवमिहापि न तावदाह्वतिरभि-
धीयेत, अथ चाह्वतिविशिष्टा व्यक्तिर्गम्येत—इति नैतत् साधु
उच्यते’ । सत्यं दण्डिशब्देन दण्डो नाभिधीयते, नत्वप्रतीयते
दण्डे दण्डिप्रत्ययोऽस्ति, अस्ति तु दण्डिशब्देकदेशभूतो दण्ड-
शब्दः, येन दण्डः प्रत्यायितः; तस्मात् साधु एतत्, यत्,—प्रतीयते
विशेषणे विशिष्टः प्रतीयते—इति ।

‘ननु गोशब्दाद्ययवः कश्चिदाह्वतेः प्रत्यायकः, अन्यो व्यक्तेः;
यत उच्येत, तत आह्वतिरवगता; न गोशब्द आह्वतिवचनः’—
इति । न च, यथा दण्डिशब्दो न दण्डे प्रयुक्तः, एवं गोशब्दो
न आह्वतौ; तदर्थमेव निर्दिष्टं, (८०।१२)—केवलाह्वत्यभि-
धानः श्येनशब्दः—इति, तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां असति श्येन
व्यक्तिसंबन्धे श्येनशब्दोच्चारणात् आह्वतिवचन इति गम्यते; न
तु ब्रीह्याह्वतिसंबन्धमन्तरेण ब्रीहिव्यक्तौ शब्दस्य प्रयोगो दृष्टः ।
तस्मात् आह्वतिवचनः शब्दः—इत्येतज्ज्ञायः ॥ (सि०) ॥

स. न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं न द्रव्यमिति
चेत् ॥ ३४ ॥ (उ० १)

भा. अथ यदुक्तं—न क्रिया सम्भवेत्,—‘ब्रीह्यीन् मोचति’—इति

भा. (१ पू०) ; न द्रव्यशब्दः स्यात्,—‘षड् देया’—इति (२ पू०) ;
 अन्यदर्शनवचनञ्च न स्यात्—‘अन्यं तद्रूपं’—इति (३ पू०) ।
 तत् परिहर्तव्यम् ॥ (उ० १) ॥

छ तदर्थत्वात् प्रयोगस्याविभागः ॥ ३५ ॥ (उ० २)

भा. आहृत्यर्थत्वात् शब्दस्य, यस्याः व्यक्तेराहृत्या संबन्धः, तत्र
 प्रयोगः, प्रोक्षणं हि द्रव्यस्य कर्तव्यतया श्रूयते, कतमस्य ? यत्
 यजतिसाधनम् । अपूर्वप्रयुक्तत्वात्तस्य, न आहृतेः, अशक्यत्वात् ।
 तत्र वीहिशब्द आहृतिवचनः प्रयुज्यते प्रोक्षणाशयविशेषणाय ;
 स हि आहृतिं प्रत्याययिष्यति, आहृतिः प्रतीता सती प्रोक्षणा-
 शयं विशेद्यति—इति, तेनाहृतिवचनं न विरुध्यते—इति ।
 एवं ‘षड् देया गावो दक्षिणा’—इति दक्षिणाद्रव्ये सखाया
 प्रयोक्तये गाव इत्याहृतिवचनो विशेषकः । तथा ‘अन्यं’—इति
 विनष्टस्य प्रतिनिधेरन्यत्वसंबन्धः, तत्र पशुशब्द आहृतिवचनः,
 आहृत्या विशेद्यति—इति । तस्माद्गौरश्वः—इत्येवमादयः
 शब्दाः आहृतेरभिधायका इति सिद्धम् ॥ (उ० २) (इति
 आहृतिशब्दधिकरणम् । १ अ० । ३ पा० । १० अ०) ॥

इति श्रीशबरस्वामि—कृतौ मीमांसाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य
 तृतीयः पादः ॥ स्मृतिपादोऽयम् ॥ * * ॥

चतुर्थः पादः ॥

अथ उद्भिदादिशब्दानां यागनामताधिकरणम् ॥

सू. उक्तं समाम्नायैदमर्थं तस्मात् सर्वं तदर्थं
स्यात् ॥ १ ॥ (पू०)

भा. 'उद्भिदा यजेत' 'बलभिदा यजेत' 'अभिजिता यजेत'
'विश्वजिता यजेत'—इति समामनन्ति; तत्र सन्देहः,—किं
उद्भिदादयो गुणविधयः, आहोस्वित् कर्मनामधेयानि?—इति ।
कुतः संशयः? । उभयथापि प्रतिभातो वाक्यात्,—उद्भिदा—
इत्येष शब्दो यजेत—इत्यनेन संबध्यते, स किं वैयधिकरण्येन
संबन्धमुपैति,—उद्भिदा द्रव्येण यागमभिनिर्वर्त्तयेदिति, उत
सामानाधिकरण्येन,—उद्भिदा यागेन यजेत—इति द्वेधापि
एतस्मिन् प्रतिभाति वाक्ये, सम्भवति संशयः ।

किं तावत् प्राप्तम्?—उक्तमस्माभिः,—समाम्नायस्येदमर्थं,—
कश्चिदस्य भागो विधिः, योऽविदितमर्थं वेदयति, यथा 'सोमेन
यजेत'—इति; कश्चिदर्थवादः, यः प्ररोचयन् विधिं स्तौति,
यथा 'वायुर्वे' क्षेपिष्ठा देवता—इति; कश्चिन्मन्त्रः, यो विहित-
मर्थं प्रयोगकाले प्रकाशयति, यथा 'वर्हिर्देवसदनन्दामि'—
इत्येवमादि; तस्मादुद्भिदादयोऽभीपां प्रयोजनानामन्यस्म
प्रयोजनाय भवेयुः; तत्र तावन्नार्थवादः, वाक्यशेषो हि स
भवति विधातव्यस्य; न च मन्त्रः, एवंजातीयकस्य प्रकाशयि-
तव्यस्य अभावात्, पारिशेष्यात् गुणविधिः,—उद्भिद्गुणता यागरय
विधीयते । कुतः? । प्रसिद्धेरनुग्रहात्, गुणविधेरर्थवत्त्वात्,
प्रवृत्तिविशेषकरत्वाच्च । न च, एषां यागार्थता लोकेऽवगम्यते !
न च, वेदेन परिभाष्यते ! अतो गुणविधयः । 'यदि गुणविधिः,
न तर्हि कर्म विधीयते, अविहिते च कर्मणि तत्र गुणविधान-

भा. मनर्थकं । न—इति ब्रूमः,—प्रवृत्तौ ज्योतिष्टोमे गुणविधान-
मर्थवद्भवित्यति, यदि नामधेयं स्यात्,—यावदेव यजेत—इति,
तावदेव उद्भिदा यजेत—इति, न प्रवृत्तौ कश्चित् गुणविशेष-
स्यात् । गुणविधौ च गुणसयोगात् अन्यधिकमर्थं विदधत
उद्भिदादयः शब्दा अर्थवन्तो भविष्यन्ति; तस्मात् गुणविधय
इत्येव प्राप्तम् । (पू०) ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः,

अपि वा नामधेयं स्यात् यदुत्पत्तावपूर्वमविधायक-
त्वात् ॥ २ ॥ (सि०)

भा अपि वा—इति पक्षो विपरिवर्तते । 'नामधेयं स्यात् इति
प्रतिजानीमहे, एवमविहितमर्थं विधास्यति ज्योतिष्टोमात्'
यागान्तरं, श्रुतिश्चैवं यागमभिधास्यति; इतरथा श्रुतिरुद्भिदा-
दीन् वक्ष्यन्ती उद्भिदादिमतो लक्षयेत् । उद्भिदता यागेन कुर्या-
दिति । यागेन कुर्यात्—इति 'यजेत'—इत्यर्थार्थं, करणं
हि याग', उद्भिदाद्यपि तृतीयानिर्देशात् करणं, तच्च उद्भिदा
यागेन—इति कर्मनामधेयत्वेन सामानाधिकरण्यसामञ्जस्यं,
द्रव्यवचनत्वे मत्वर्थलक्षणया सामानाधिकरण्यं स्यात् । श्रुति-
लक्षणाविशेषे च श्रुतिर्ज्यायसी । तस्मात् कर्मनामधेयम् । 'ननु
प्रसिद्धं द्रव्यवचनत्वमपङ्कथेत, अप्रसिद्धं कर्मवचनत्वं प्रतिज्ञायेत' ।
उच्यते,—तृतीयानिर्देशात् कर्मवचनता । कुतः? । करण-
वाचिनो हि प्रातिपदिकात् तृतीया भवन्ति, करणं च याग',
तेन यागवचनमिममनुमास्यामहे ।

"नेतव्यम्,—यदि तृतीयानिर्देशे सति उद्भिदादिभ्य-
शब्देभ्यो यागे बुद्धिरुत्पद्येत, स्यादेतदेवं; न हि नो बुद्धि-
रुत्पद्यते, तस्मात् अयुक्तं । 'तृतीयावचनं अन्यथा नोपपद्यते'
—इति चेत् । कामं नोपपादि, न जातुचित् अनवगम्यमाने-

भा. अपि यागवचनो भविष्यति, तस्मात् गुणविधयः । लक्षणेति चेत्, वरं लक्षणा कल्पिता, न यागाभिधानं, लौकिकी हि लक्षणा, हठोऽप्रसिद्धकल्पनेति । अपि च यदि नामधेयं विधीयते, न यागः ; अथ यागः, न नामधेयम् ; उभयविधाने वाक्यभेदः— इति । उच्यते, न नामधेयं विधायिष्यते, अनुवादा हि उद्भिदादयः । कुतः प्राप्तिः ?—इति चेत् । ततोऽभिधीयते,— उच्छब्दसामर्थ्यात् भिच्छब्दसामर्थ्याच्च उद्भिच्छब्दः क्रियावचनः,— उक्तेदनं प्रकाशनं पशूनामनेन क्रियते—इत्युद्भित् यागः, एवमाभिमुख्येन जयात् अभिजित्, विश्वजयात् विश्वजित्, एवं सर्वत्र । अतः कर्मनामधेयम् । यत्त्वप्रवृत्तिविशेषकरोऽनर्थकः— इति, नामधेयमपि गुणफलोपबन्धेनार्थवत्, तस्मात् कर्मनामधेयान्धेवंजातीयकानि—इति सिद्धम् ॥ (सि०) ॥ (इति उद्भिदादिशब्दानां यागनामधेयताधिकरणम् । १ । ४ । १ अ०) ॥

अथ चित्रादिशब्दानां यागनामधेयताधिकरणम् ।

सू. यस्मिन् गुणोपदेशः प्राधानतोऽभिसंवन्धः ॥ ३ ॥

भा. 'चित्रया यजेत पशुकामः' 'चित्रदह्निपवमानं' 'पञ्चदशान्याज्यानि' 'सप्तदश पृष्ठानि'—इत्युदाह्वणं । किं चित्राशब्दः, पवमानशब्दः, आन्ध्रशब्दः, पृष्ठशब्दस्य गुणविधयः, उत कर्मनामधेयानि ?—इति संशयः । प्रसिद्धेः, अर्थवत्त्वात्, प्रवृत्तिविशेषकरत्वाच्च गुणविधयः, न चेते कर्मणि प्रसिद्धाः, न चामीयौगिकाः । जातिशब्दा ह्येते, चित्रा—इति च गुणशब्दः ; चित्रया यजेत—इति च यागानुवादः, विज्ञातत्वात् न यागविधिः । गुणै फलकल्पनायां यजतेर्न विवक्षा, तथा आन्ध्यानि भवन्ति, पृष्ठानि भवन्ति—इति च । गुणविधिकल्पनायामपि न लक्षणा ; तस्मात् गुणविधयः—इत्येवं प्राप्तम् ।

भा एवं प्राप्ते ब्रूमः,—यस्मिन् गुणविधिर्नामधेयम्—इति संदिग्धे गुणोपरः उपदिश्यते, प्रधानेन कर्मणा तस्य संबन्धः, कर्म-नामधेयम्—इत्यर्थः। गुणविधौ हि सति वाक्यम् भिद्येत। पुंशो प्राप्ते स्त्रीपशुः, पशवः फलं, चित्रो गुणः—इति न शक्यमेकेन वाक्येन विधातुम्। चित्रो गुणो विधीयमानः स्त्रियां विधीयेत, नासावश्रीषोमीये पशुकामे च विधीयेत, सोऽपि नाश्रीषोमीये। तथा पञ्चदशानि आज्यानि भवन्तीति आज्येषु पञ्चदशता, न चाविहितानि स्तोत्रैस्वाज्यानि भवन्ति, न चान्यद्विधायकं वाक्यं, तच्चेतदाज्यानि विदध्यात्, विहितेषु च पञ्चदशता। गम्यते च पञ्चदशताया आज्यानां च संबन्धः; स्तोत्रसंबन्धश्चाज्या-नामविज्ञातः पञ्चदशतासंबन्धश्च, द्वावेतावर्थावेकवाक्यस्याशक्यौ विधातुम्। अथ नु कर्मनामधेय, नेप विरोधो भवति, केवलं सख्यासंबन्धस्तदानीं विधीयते। अपि चाज्यानि स्तोत्राणी-त्यनेन शब्देन सप्तण्येव गुणो विधीयेत। अतः कर्मणा नाम-धेयानि (वाक्यान्तरेः 'आज्येः स्तुवते, पृष्ठेः स्तुवते'—इत्येव मादिभिर्विहितानाम्)। यत्तु 'अप्रसिद्धं कर्मणां नामधेयम्'—इति, अवयवप्रसिद्धा आजिगमनादाज्यानि। कथमाजि-गमनम्?—इति। अर्थवादवचनात्,—'यदाजिमीयुस्तदाज्या-नामाज्यत्वम्'—इति। स्पर्शवचनात्पृष्ठानि। पयमानार्ध-मप्यकत्वादहिःसंबन्धाच्च वह्निःपयमानम्। 'दधि मधु पयो घृत धानास्तण्डुला उदकम्'—इति नानाविधद्रव्यत्वाच्चिन्ना। तस्मादेवंजातीयकानि कर्मनामधेयानि—इति। 'अथ कस्माच्च पञ्चदशसंख्याविशिष्टानि आज्यानि स्तोत्रकर्मसु विधीयन्ते?'। विशिष्टानां वाचकस्य शब्दस्याभावात्।

'ननु पदद्वयमिदं वाचकं भविष्यति,—पञ्चदशान्याज्यानि—

भा. इति विशिष्टानां, तदेतेषु स्तोत्रेषु विधास्यति' । न एतत्पद-
द्वयमपि विधायकम्,—एकमत्र विधायकं, एकमुद्देशकम्, उभय-
स्तिन्विधायके परस्परेण संबन्धो न स्यात्; अविधायके स्तोत्र-
संबन्धो न विधीयते, न च, अत्रैकं पदं विशेषणं मतिं उद्देशकं,
स्तोत्रं मतिं विधायकं भवितुमर्हति ! वचनव्यक्तिभेदादतोभ्यम-
समाधिः ॥ (१।४।२ अ०) ॥

अथ अग्निहोत्रादिशब्दानां यागनामधेयताधिकरणम् । (तत्प्रत्यन्यासः)

स तत्प्रत्यन्यासशब्दम् ॥ ४ ॥

भा. 'अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः'—इति 'आधारमाधारयति'
--इति च समामनन्ति; तत्र संशयः,—किं अग्निहोत्रशब्दः
आधारशब्दश्च गुणविधौ, उत कर्मनामधेये?—इति । गुणविधौ
—इति ब्रूमः । कुतः? । गम्यते हि अग्नये होत्रमस्मिन्—
इति, तथा क्षरणसमर्थं द्रव्यं घृतादि आधारमाधारयति—
इति,—प्रसिद्धिरेवमनुग्रहीष्यते । गुणविधिश्च दर्विहोत्रे, आधा-
रयोपांशुयाजे, तत्रैतयोरर्थवत्ता प्रवृत्तिविशेषकरत्वञ्च । न
च 'गुणविधिपक्षे लक्षणा भवति, यद्योद्भिदा यजेत'—इति ।
अग्निहोत्रे समासेन अवगतं गुणविधानं; आधारेऽपि 'आधारं
निर्वर्त्तयति'—इति—श्रुत्यैव गुणो विधीयते । तस्मात् गुणविधौ
—इत्येवं प्राप्ते

ब्रूमः,—'तत्प्रत्यन्यासशब्दं', यौ गुणावेताभ्यां विधीयेते—
इत्याशंक्यते, तावन्यत एव अवगतौ, 'यदग्नये च प्रजापतये च
सायं जुहोति'—इति देवताविधानं; 'चतुर्गृहोतं वा एतद्भूत-
स्थाधारमाधार्य'—इति आधारे च द्रव्यविधिः; अविदित-
वेदनश्च विधिः—इत्युच्यते, विदितं चात्रान्यतो गुणविधानं;
तस्मान्न गुणविधौ, कर्मनामधेये तु सम्भवतः, यस्मिन्नग्नये होत्रं

भा होमो भवति तदग्निहोत्र दीर्घधारा चरणक्रिया प्रसिद्ध एवा
 धार तस्मात् कर्मनामधेये प्रसिद्धादयश्चोक्तोत्तरा (१।४।
 १ अ० २ अ०)। प्रजापतिनिवृत्त्यर्थमग्निविधानं भविष्यति—
 इति चेत्। नेतदेवम अग्निं हि एष विधातुं शक्नोति न
 प्रजापतिं प्रतिषेद्धुं प्रतिषिध्यमानस्य च प्रजापतेर्विधानमनर्थकं
 स्यात् प्रजापतिर्देवता—इति गम्यते गम्यमानं च न शक्यं
 मिथ्येति कल्पयितुम् अतोऽयमसमाधिः। उच्यते—आधार
 माधारयति—इति द्रव्यपरा चोदना येस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते—
 इति द्रव्यं स्वनया क्रियया चार्यते चारितं च याग साधयति
 तत्कस्य प्रधानस्य कर्मणो नामधेयम्?—इति। उच्यते एत
 द्वाधारणं प्रधानकर्म। नन्वस्य द्रव्यदेवतं नास्ति। अस्ति
 —इति ब्रूम तस्याधारमाधारा—इति आज्यं द्रव्यं मास्रं
 वर्णिको देवता इन्द्रो जर्द्धाङ्गिर—इत्याधारमाधारयति—
 इति मन्त्रो हि अभिदधत् कर्मं तत्साधनं वा कर्मणि समवेति
 एष च मन्त्र इन्द्रमभिधातुं शक्नोति स यदि इन्द्रं तत्साधनं
 भवेत् एव अनेन मन्त्रेणाधारं शक्यते कर्तुम् तस्मात् इन्द्रो
 देवता द्रव्यदेवतासयुक्त आधारणं तस्मात् यजति तस्य
 यजतेर्नामधेयम्—इति ॥ (१।४।३ अ०) ॥

अथ श्वेनादिशृङ्गाणाम् यागनामधेयाधिकरणम् ॥ (तद्व्यपदेशन्यायः)

सू

तद्व्यपदेशं च ॥ ५ ॥

भा अथैष ग्देनेन अभिचरन्त्यजेत' अथपि सन्देहेन अभिचरन्त्य
 जेत' 'अथैष गवाभिचरन्त्यजेत—इति समाम्नायन्ते तत्र
 गुणविधिः, कर्मनामधेयम्—इति सन्देहः। प्रसिद्धादिभिः पूर्व
 पक्षः, उद्भिदादीनामिव ते तृद्भिदादयः क्रियानिमित्ता
 शक्नुवन्ति यागं वदितुम्, इमे पुनर्जातिनिमित्ता न शक्नुवन्ति

भा. तेन गुणविधयः—इत्येवं प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘तद्व्यपदेशश्च’ तेन श्येनादिना (प्रसिद्धेन) यस्य व्यपदेशः, तच्च कर्मनामधेयं, श्रुतिर्हि नामधेयत्वे, लक्षणा गुणविधौ । यत्तु ‘जातिशब्दा इमे न यागमभिवदन्ति’—इति, सादृश्यव्यपदेशादभिवदित्यन्ति, एवं हि व्यपदेशो भवति,—यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते, एवमयं द्विपत्तं भ्रातृत्वं निपत्यादत्ते, यमभिचरन्ति श्येनेन—इति, निपत्यादत्ते—इत्यनेन सादृश्येन श्येनशब्दो यागे; यथा सिंघो देवदत्तः—इति, तस्मात् कर्मनामधेयम् ॥ सन्दंशे सन्दंशेन यथा दुरादानमादत्ते—इति, गवि यथा गावो गोपायन्ति—इति, तस्मात् सन्दंशशब्दोऽपि कर्मनामधेयं, गोशब्दोऽपि ॥ (१।४।४ अ०) ॥

अथ वाजपेयदिशब्दानां नामधेयताधिकरणम् ।

ख. नामधेये गुणश्रुतेः स्याद्विधानम्—इति चेत् ॥ ६ ॥ (पु०)

भा. ‘वाजपेयेन साराज्यकामो यजेत’—इति श्रूयते; तत्र किं गुणविधिः, कर्मनामधेयम्—इति सन्देहः । एवं चेत् सन्देहः, दृश्यते गुणविधिः, न सन्देहः, श्रूयते हि गुणः, सोऽवगम्यमानो न शक्यो नास्ति—इति वदितुं, तस्मात् गुणविधिः ॥ (पू०) ॥

ख. तुल्यत्वात् क्रिययोर्न ॥ ७ ॥ (सि०)

भा. नेतदेवं, तुल्ये हि इमे क्रिये स्यातां,—या च वाजपेयक्रिया, या च दर्शपूर्णमासक्रिया, उभयत्र दर्शपूर्णमासिको विध्यन्तः स्यात्, तथा च दीक्षाणामुपसदाश्च दर्शनं नावकलयेत्! ‘सप्तदशदीक्षो वाजपेयः’—इति, ‘सप्तदशोपसत्को वाजपेयः’—इति ।

अथ वा ‘तुल्यत्वात् क्रिययोर्न’—इति यदि न गुणविधिः, ततस्तुल्येया वाजपेयक्रिया न्योतिष्ठीमक्रियया; तत्र दीक्षाणा-

भा. मुपसदाञ्च दर्शनमुपपन्नं; तस्मात् कर्मनामधेयमिति, लिङ्गं त्वेतत्प्राप्तिः पुनरुत्तरसूत्रेण ॥ (सि०) ॥

सू. एकशब्दे परार्थवत् ॥ ८ ॥ (सि० य०)

भा. यदि गुणविधिः स्यात्, स्वार्थवत् परार्थवच्चाभिधानं विप्रति-
 यिध्येत यजेतेत्यस्य शब्दस्य । यदि 'स्वाराज्यकामो यजेत'—
 इति स्वाराज्यकामस्य यागं विधातुं स्वार्थमुच्यते, न तर्हि
 वाजपेयेन गुणेन संबन्धुं परार्थमनूद्येत । यागेन वाजपेयगुणकेन
 —इति, भिद्येत हि तथा वाक्यं । 'ननु हे एवेते वाक्ये प्रत्यक्ष-
 मुपलभामहे,—'स्वाराज्यकामो यजेत'—इत्येतदेकं प्रत्यक्षं
 पदद्वयं, 'यजेत वाजपेयेन'—इत्येतदपि प्रत्यक्षमेव । नैतदेवम्,
 एवं सति चत्वारि पदान्युपलभेमहि, चोणि चैतान्युपलभ्यन्ते ।
 "उच्यते,—यजेत—इत्येतदुभाभ्यां संभत्स्यते । 'कथं सहादुष्वा-
 रितं संवन्धमुभाभ्यामेत्यति?'—इति । रूपाभेदात्, ईदृशमे-
 वास्य रूपं स्वाराज्यकामेन संबध्यमानस्य, ईदृशमेव वाजपेयेन,
 अतः तद्वेषोभाभ्यां संभत्स्यते"—इति । नैतदस्ति,—ईदृशेनैव
 रूपेण—इति यद्यज्ञातः, ततो विधिः, यदि ज्ञातः, ततोऽनु-
 वादः, न च ज्ञातोऽज्ञातश्च युगपत् सम्भवति—इति । 'आह,
 —'यदिदमुक्तं,—गुणविधिपक्षेऽनुवादो यजेत'—इति । यद्य-
 यमनुवादः, केन—इदानीं गुणो विधीयते ? । वाजपेयशब्देन
 —इति भावोचः, न आख्यातमन्तरेण ह्यर्थं वा नाम
 शब्दार्थस्य व्यापारो विधीयते । यद्यावाख्यातशब्दो यजेत—
 इति, सोऽनुवादः—इत्युक्तं; केन इदानीं तस्य व्यापारो
 विधीयते ? । अतः स्वाराज्यकामं गुणं च प्रति यजेत—इति
 विधिः; तस्मादुभाभ्यां संबध्यते"—इति । यद्युभयत्र विधिः
 वाजपेयो न स्वाराज्यकामस्य यागेन संबध्यते । हे ज्ञेते तदा
 वाक्ये, न स्वाराज्यकामस्य यागेन सद्यः गुणविधेरेकवाक्यता ।

भा. 'प्रकरणात् संबन्धः सारराज्यकामस्य यागेन'—इति चेत्, न, वाक्येन यागमात्रे विधानात् । 'अस्तु यागमात्रेण संबन्धः'—इति चेत्, न, सारराज्यकामस्य यागेन सह एकवाक्यताया गम्यमानत्वात्, तदेवं प्रकरणस्य वाक्यस्य च बाधो युज्यते, यदि कर्मनामधेयं, गुणविधिपक्षे हि सर्वे इमे वाक्यभेदादयो दीपाः प्रादुर्भवेयुः ; तस्मात् कर्मनामधेयं वाजपेयशब्दः—इति सिद्धम् ॥ (सि० यु०) ॥ (१।४।५ अ०) ॥

अथाग्नेयादीनामनामताधिकरणम् ।

स. तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधानार्थं न चेदन्येन शिष्टाः ॥ ८ ॥

भा. 'यद्वाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पूर्णमास्यां चाचुरतो भवति'—इत्येवमादयः श्रूयन्ते, तत्र सन्देहः,—किं 'आग्नेयोऽग्नीषोमीयः'—इत्येवमादयो गुणविधयः, कर्मनामधेयानि ?—इति । किं तावत् प्राप्तं ?—गुणविधौ सत्यनेको गुणो विधीयेत, अग्निपुरोडाशाष्टाकपालाः—इति, तस्माच्च गुणविधयः—इत्येवं प्राप्ते

ब्रूमः,—तच्च कर्म, गुणाद्यास्य विधीयेरन्, अविभक्ता हि ते कर्मणो विधानार्थं तद्विधाने शब्दे ; तत्र हि अष्टाकपालस्याग्नेयता विधीयते, स एष एवमाग्नेयो भवति, यद्वाग्नेयं संक्राम्य दीयते, तेनायं अनेन प्रकारेण यागो विहितो भवति, न एवंविधीयमानो न शक्नोऽग्निमष्टाकपालं चाविधाय विधातुम्, संबन्धो हि विधीयमानो न शक्यते संबन्धिनाविधाय विहित—इति यत्तुम् । तस्मात् गुणविधयः, अष्टौ कपालेषु संक्रियमाणो वोहिमयो यवमयो वा पुरोडाश एव भवति, गोऽनुयादः, सिद्धश्चाष्टाकपाल उच्यते, 'कपालेषु श्रययति'—इति यच्च

भा नात् नान्येन अपित गुह्यन्ति, तेनास्मिन्पक्षे न वाक्यभेदो भवति, 'न चेदन्येन शिष्टा , यत्र पुनरन्येन वचनेन शिष्टा गुणा भवन्ति भवति तत्र नामधेय, यथा 'अग्निहोत्र जुहोति'—इति॥ (१।४।६ च०)॥

वर्हिरादिशब्दानां जातिवाचिताधिकरणम् :

सू वर्हिराज्ययोरमंस्कारे शब्दत्वाभादतच्छब्दः ॥ १० ॥

भा वर्हिराज्ययो पुरोडाशे च सन्देहः,—किमेते सस्कारशब्दाः, उत जातिशब्दाः ?—इति । सस्कारशब्दा—इति ब्रूम—संस्कृतेषु त्रुषेषु वर्हिः शब्दमुपचरन्ति सर्वत्र नासंस्कृतेषु, संस्कृते च धते आज्यशब्दः, तथा संस्कृते पिष्टे पुरोडाशशब्दम् । ननु 'असंस्कृतेष्वपि कस्मिंश्चिद्देशे उपचर्यते, यथा वर्हिरादाय गावो गता—इति भवन्ति वक्तारः, तथा आज्यं क्रत्यम्—इति, पुरोडाशेन मे माता प्रहेलकं ददाति—इति । सादृश्यात्तेषु प्रयोगः, यद्योपशये* यूपशब्दः । कुत एतत् ? । यत एकदेशे हि शब्दप्रयोगः तस्मात् सस्कारशब्दा—इत्येव प्राप्तम् ।

एव मतिं ब्रूम,—वर्हिरादिष्वसंस्कृतेष्वपि शब्दत्वाभात् न सस्कारशब्दाः । ननु 'उत सादृश्यादेव देशे भविष्यन्ति । तत्र प्रसिद्धे हि सस्कारशब्दत्वे 'सादृश्यात्'—इति शक्यते बहुम्, तथाप्रसिद्धम् । कथं ? । वर्हिरादिशब्देष्वपि सस्कारा विधीयन्ते तेन सप्त शब्देषु सस्कारेभ्यस्तथा सति च सस्कारे शब्दत्वाभा—इति इतरैतराश्रयः भवति । न च अविहितानि सस्कारा भवन्ति ! यानास्तोत्रं लोकं प्रयुञ्जीत ! तस्मात् लोकानां संस्कृतेषु वर्हिरादीनां प्रयुञ्जते, तत एकदेशेऽपि जाति

* तज्जगत्संस्कृतो यद्यीयन्तु भविष्येति उदशयः ।

भा. निमित्ता दृष्टाः सर्वत्र जातिनिमित्ता भवितुं अर्हन्ति । न च, अलौकिकानां सतां वेदादेव पूर्वात्तरपदसंबन्धमनपेक्ष्य शक्यते-
र्थोऽभ्यवसातुम् !, पूर्वात्तरपदे अनर्थके मामूताम्—इत्येवं स
परिकल्प्येत, अशक्यस्त्वनवगम्यमानः परिकल्पयितुम्, अर्थवती
च ते पदे पूर्वात्तरे लौकिकेनासंस्कृतप्रयोगेन भविष्यतः । तस्मात्
जातिशब्दा एवंजातीयकाः । प्रयोजनं,—‘वर्हिषा यूपावटम-
वस्तुणाति’—इति संस्कृतैरेव स्तरितव्यं, यदि पूर्वः पक्षः, विप-
रीतं सिद्धान्ते ॥ (१।४।७ अ०) ॥

प्रोक्षणादिपदानां यौगिकताधिकरणम् ।

सू. प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् ॥ ११ ॥

भा. ‘प्रोक्षणीरासादय’—इति श्रूयते ; तत्र प्रोक्षणीशब्दं प्रति
सन्देहः,—किं संस्कारनिमित्तः, उत जातिनिमित्तः, उत
यौगिकः ?—इति । तत्र संस्कारेषु सत्सु दर्शनात् संस्कार-
शब्दतायामवगम्यमानायां असंस्कृते शब्दलाभाज्जातिशब्दः,
असंस्कृतास्वेवाप्तु ‘प्रोक्षणीभिरुद्देजिताः स्नाः’—इति कस्मिं-
श्चिद्देशे भवन्ति वक्तारः, तेन जातिशब्दः—इति प्राप्ते

यौगिकः—इत्युच्यते । कुतः ? । अर्थसंयोगात् । प्रोक्षण्यः
—इत्युपसर्गधातुप्रत्ययसमुदायस्य जातिनिमित्तता प्रयोगाद्-
नुमीयते, सेचनसंयोगात्तूपसर्गधातुकरणप्रत्ययसहितोऽप्यु प्रव-
र्त्तते—इति प्रसिद्धिरनुगृहीता भविष्यति । यदाभ्यदपि सेचनं
प्रोक्षणशब्देन उच्यते, तदा तत्संयोगादेवाप्तु भविष्यति—इति
न समुदायार्थः कल्पयितुं शक्यते । तस्मात् यौगिकः । प्रयोजनं,
—घृतं प्रोक्षणं भवतीति ; यदि संस्कारशब्दः, ‘प्रोक्षणीरा-
सादय’—इति प्रैषः ; यदि जातिशब्दः, घृतमासादय—इति ;
यदि यौगिकः, प्रोक्षणमिति ॥ (१।४।८ अ०) ॥

अथ निमन्थ्यशब्दस्य यौगिकत्वाधिकरणम् ।

स . तथा निर्मन्थ्ये ॥ १२ ॥

भा 'निर्मन्थ्येनेष्टका पचन्ति—इति सस्कृते दर्शनात् सस्कार
शब्दो निर्मन्थ्य —इति । असस्कारेऽपि दृश्यते,—निर्मन्थ्य
मानय, ओदन पचयाम—इति, निर्मन्थनयोगात् पूर्ववत्
यौगिक—इति सस्थित । प्रयोजन,—सस्कारनिमित्ते सस्थातेन
इष्टका पक्ताया, जातिशब्दे यथोपपन्नेन, यौगिके अचिर
निर्मन्थितेन, यथा नावनीतेन भुक्ते—इत्यचिरनिर्द्दग्धेन—इति
गम्यते ॥ (१।४।८ अ०) ॥

अथ वेश्वदेवादिशब्दानां नामधेयताधिकरणम् ।

स . वेश्वदेवे विकल्प इति चेत् ॥ १३ ॥ (पू० १)

भा चातुर्भास्येषु प्रथमे पर्वणि वेश्वदेवे सन्देह,—‘वेश्वदेवेन
यजेत—इति किं वेश्वदेवशब्दो गुणविधि, उत कर्मनामधेयम् ?
—इति । इति यदि सन्देहो न सन्देह, ‘वेश्वदेवे विकल्प,’
गुणविधिर्वेश्वदेवशब्द, गम्यते हि गुणविधान, विश्वेदेवा
विधीयन्ते आग्नेयादिषु यागेषु तच्चाग्रादीनां विश्वेदेवैर्विकल्प,
एव प्रसिद्धिरर्धवती भविष्यति ॥ (पू० १) ॥

स . न वा, प्रकरणात् प्रत्यक्षविधानाच्च न हि प्रकरणा
द्रव्यस्य ॥ १४ ॥ (सि०)

भा नेतदेवम्, प्रत्यक्षश्रुतिर्विहिता अग्रादय तेषां यागानां,
विश्वेदेवा वाक्येन, प्रकरणात्तेनैव नान्येन—इति गम्यते, न च
इयं विषमशिष्टो विकल्पो भवितुमर्हति, न हि प्रकरणं श्रुतस्य
द्रव्यस्य बाधने समर्थम् । तस्मात् कर्मनामधेयम् ॥ (सि०) ॥

सू. मिथश्चानर्थसंबन्धः ॥ १५ ॥ (आ० नि०)

भा. अयोचेत,—‘वैश्वदेवः—इत्यनेन शब्देन प्रत्यक्षं अग्न्यादि-
गुणविशिष्टो यागगणो लक्ष्यते, वैश्वदेवो हि तत्रामिच्छा सम-
वैति’ । यदि वैश्वदेवशब्देन यागगणो लक्ष्यते, न तर्हि
विश्वेदेवा विधीयन्ते, कथं सल्लदुच्चरितो वैश्वदेवशब्दो यागगणं
लक्षयिष्यति, विश्वांश्च देवान्विधास्यति?—इति नायं वैश्व-
देवशब्दस्य विश्वेदेवैर्मिथःसंबन्धो घटते । तस्मात् कर्मनाम-
धेयमेव, न गुणविधिः—इति ॥ (आ० नि०) ॥

सू. परार्थत्वात् गणानाम् ॥ १६ ॥ (सि० यु०)

भा. परार्थाश्च गुणाः, ते न शक्नुवन्ति प्रधानमावर्त्तयितुम्, तेन
सल्लद्यागः कर्त्तव्यः, न गुणानुरोधेनावर्त्तितुमर्हति । संप्रतिपन्न-
देवतत्वाच्च न विरोधः, तत्रैकस्याम्प्रधानाज्जतौ त्रिंशदाज्जतयो
ऋयन्ते—इति त्रिंशत्संख्यासंपत्तिराहवनीयाज्जतीनां न अव-
कल्पते । तस्मात् कर्मनामधेयमिति सिद्धम् ॥ (सि० यु०) ।
(१।४।१० अ०) ॥

वैश्वानरेऽष्टत्वाद्यर्धवादताधिकारणम् ।

सू. पूर्व्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये ॥

१७ ॥ (पू०)

भा. ‘वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जाते’—इति श्रूयते,
तत्र ‘यदष्टाकपालो भवति गायत्रेयैर्न ब्रह्मवर्धसेन पुनाति’—
इत्येवमादयः कपालविकल्पाः श्रूयन्ते ; तेषु सन्देहः,—किमष्ट-
त्वादयो गुणविधयः, उताद्यवादाः?—इति । तत्र गुणविधयः
—इत्येव ब्रूमः । कथं ? । ये हि पूर्व्ववन्तो (सिद्धिः १०)

भा मभिवदन्ति) ते अविधानार्था, तदेतत् अस्य वाक्यस्य समान्ताये सामर्थ्यं, यद्विहितपूर्वकमविधानम् । किं तत् ? विधान-सामर्थ्यम्, एवमविहितमर्थं विधास्यति, इतरथा अर्थवादा सत्तोन्नयनार्था स्युः । न च, द्वादशकपालस्य शेषभावमुपगन्तुं मर्हति । प्रत्यक्षा क्षणानां कपालानां स्तुतिः, परोक्षा द्वादशानाम्, प्रत्यक्षाभावे च परोक्षा स्यात् । तस्मात् गुणविधयः ॥ (पू०) ॥

ख गुणस्य तु विधानार्थेतद्गुणाः प्रयोगे स्युरनर्थका न हि तत् प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति ॥ १८ ॥ (सि०)

भा नैतदस्ति गुणविधय — इति, गुणस्य विधानार्था एते सन्त पुरोडाशस्य कपालेषु संख्या विदधुः, न शक्नुवन्ति यागप्रयोगस्य विधातुम्, द्वादशकपालता हि यागस्य वाक्येन, अष्टाकपालादयः प्रकरणेन, तेन ते यागे न भविष्यन्ति । अपि च अष्टत्वादयः पुरोडाशेनैकवाक्यभूता प्रकरणं बाधित्वा न यागस्य भविष्यन्ति, यागासंबन्धे च अनर्थका, पुरोडाशसंबन्धे कलाभावात्; अर्थवादत्वेन तु वैश्वानरयागस्य स्तुतिरुपपद्यते । तस्मात् अर्थवादा — इति ॥ (सि०) ॥

ख तच्छेषो नोपपद्यते ॥ १९ ॥ (उ० आभासः) ॥

भा इति यदुक्तं, तत्परिहर्तव्यम् — इत्याभाषायां सूत्रम् ॥ (उ० आभासः) ॥

ख अविभागाद्विधानार्थे स्तुत्यर्थेनोपपद्येरन् ॥ २० ॥ (उ०)

भा यदा तु अष्टाकपालादिप्ररोचनार्था अनर्थका, — इत्यवगतं, तदा लक्षणेन द्वादशकपालस्य स्तुतिर्वैश्वानरयागप्ररोचनार्था भविष्यति सन्ति हि द्वादशसंख्यायामष्टत्वादयः संख्याविशेषा

भा. अविभक्ताः, अतो द्वादशकपालस्य स्तुत्यर्थत्वेनावयवस्तुतिरूपः पद्यते ; यथा शोभनमस्य चक्रस्य नेमितुम्वारं, शोभनमस्या-
सेनायाः हस्त्यश्वरथपादात्मिति । तस्मात् उपपन्ना स्तुतिः—
इति ॥ (७०) ॥

सू. कारणं स्यात्? इति चेत् ॥ २१ ॥ (आ०)

भा. इति चेत् भवान् पश्यति,—अर्थवादाः—इति, कारणमष्ट-
त्वादीनां ब्रह्मवर्चसादि कस्मान्न भवति?—ब्रह्मवर्चसकाम-
स्याष्टाकपालः, एवमुत्तरेषु *यथाकामम् । किमेवं भविष्यति? ।
पुरोडाशस्य गुणविधानेऽप्यानर्थक्यं न भविष्यति, न च लक्षणया
द्वादशकपालस्य स्तुतिः कल्पिता भविष्यति । तस्मात् कामेभ्यो
विधयो भविष्यन्ति ॥ (आ०) ॥

सू. आनर्थक्यादकारणं कर्तुर्हि कारणानि गुणार्थे हि
विधीयते ॥ २२ ॥ (आ० नि०)

भा. यदि कामाय विधयः, भिन्नानि वाक्यानि भवेयुः ; एकं चेदं
वाक्यं 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते'—इत्येवमुप-
क्रान्तं, 'यत् द्वादशकपालो भवति, जगत्पैवास्मिन्पशून् दधाति,
यस्मिन्जाते एतां इष्टिं निर्वपति, पूत एव स तेजस्यन्नाद
इन्द्रियावी पशुमान् भवति—इत्येवमन्तं ; तस्य मध्येऽष्टत्वादयः
श्रूयमाणाः यदि न संवधेरन् ततो वाक्यान्तराणि भवेयुः ;

* 'यदष्टाकपालो भवति'—इत्यादिश्रुतेरुत्तरवाक्येन 'यन्नवकपाल-
स्त्रिष्टैवास्मिंस्तेजो दधाति, यद्विंशकपालो विराजैवास्मिन्नन्नाद्यं दधाति,
यदेकादशकपालस्त्रिष्टुभेवास्मिन्निन्द्रियं दधाति, यद्द्वादशकपालो भवति
जगत्पैवास्मिन् पशून् दधाति, यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव
स तेजस्यन्नादइन्द्रियावी पशुमान् भवति'—इत्यादिनां विहितेषु ।

भा कर्तुर्हि कारणानि पूतत्वादीनि भवेयु । स एष गुणार्थोऽत्र विधी-
यते येष्वानरयागे 'पूत एव'—इत्येवमादि , तेन चेतेष्टत्वा-
दय साक्षाद्वेतुत्वेन सबन्धन्ते,—यस्मात् गायत्रेवेन ब्रह्मवर्चसेन
पुनाति, तेन पूत एव स , यस्माच्चिह्नतेवाग्निस्तेजो दधाति,
तेन तेजसी , यस्मात् विराजेवाग्निन्नन्नाद्य दधाति, तेना-
न्नाद , यस्माच्चिष्टुभैवाग्निर्इन्द्रिय दधाति, तेन इन्द्रियावी ,
यस्माज्जगत्येवाग्निर्न्यश्न दधाति तेन यशुमान्—इति । तत
कामाय विधयोऽसम्भवन्तो यद्यर्थवादा अपि न भवेयु, ज्ञान
र्थकमेवेषा स्यात् । तस्मात् अकारण ब्रह्मवर्चसत्वादयोऽष्टत्वा-
दीनाम्, तस्मादष्टत्वादयोऽर्थवादा —इति ॥ (१।४।१९ अ०) ॥

अथ यजमानशब्दस्य प्रस्तरादित्यर्थं ताधिकरणम् ।

सू

तत्सिद्धिः ॥ २३ ॥

भा, 'यजमान प्रस्तर 'यजमान एककपाल'—इत्यादि समा-
प्तायते, तत्र सन्देह,—किं 'यजमान प्रस्तर —इत्येष
गुणविधि, किमर्थवाद ?—इति, तथा 'यजमान एककपाल'
—इति । किं तावत् प्राप्तं ?—गुणविधि —इति । किमेवं भवि-
ष्यति ? । एव अपूर्वमर्थं विधास्यति, इतरथाऽर्थवादोऽनर्थक
स्यात्, अर्थवात्तश्च न्याय्य, तस्मात् विधि ।

नैतदेवं, यदि विधि स्यात् तत प्रस्तरकार्यं यजमानो
नियम्येत, यजमानकार्यं वा प्रस्तर , प्रस्तरे जुहूमासादयति,
सर्वा वा जुव —इति यजमाने जुहूरागादेत । सर्वा वा जुव
—इति, तयामति न याजमानं शक्यते कर्तुम् 'दक्षिणतो
बद्धयजमानावाभाते वर्मण प्रियमानस्य'—इति, न च
प्रगतो याजमानं शक्नोति कर्तुम् । तथा, यदि यजमान एक
कपालकार्यं विनियुज्येत सर्वज्ञत क्रियेत । तत्र सर्वतत्परिणोप

भा. स्यात् । न च, एककपालो याजमानं शक्नोति कर्तुम् । तस्मान्न विधिः । विध्यन्तरं चास्ति, 'प्रस्तरमुत्तरं वर्हिषः सादयति,' 'एककपालं सर्वज्ञतं करोति'—इति; तस्मादपि न विधिः । किं तर्हि? । अर्थवादः,—यजमानो ज्ञायत एव प्रस्तरः, एककपालः— इति च ।

‘कथं पुनरनयोः सामानाधिकरण्यं ज्ञायते? न हि प्रस्तर एककपालो वा यजमानः, न च यजमानः एकस्मिन् कपाले संस्थितः पुरोडाशः, प्रथमो वा कुशमुष्टिलः, कथं परशब्दः परत्र वर्तते? किमर्थं वा ज्ञायमानस्य संकीर्तनम्?’—इति ।

उच्यते,—ज्ञायमानः संकीर्त्यते स्तोतुम्,—प्रस्तरः, उत्तरो वर्हिषः सादयितव्यो यजमानत्वात्; तथा यजमान एक कपालः सर्वज्ञतः कर्तव्यः, स्वर्गं आह्वयनीयस्तत्र प्रतिष्ठापितो भवति—इति ।

कथं परत्र वर्तते परशब्दः?—इति । गुणवादस्तु,—गुणादेप वादः । कथमगुणवचनो गुणं ब्रूयात्? । स्वार्थाभिधानेन—इति ब्रूमः,—सर्व एवेते गौणाः शब्दाः न स्वार्थं हित्वा गुणेषु वर्तन्ते, प्रसिद्धहानिर्हि तथा स्यात्, अप्रसिद्धकल्पना च, न च सर्वे गुणसमुदायवचनाः, गुणहीनेऽपि तथादर्शनात्, अप्रसङ्ग कार्यमपि हि कदाचिद्गोणेणोपहृतः सिंहाः पुत्रः सिंह एव, समुदायवाचो च नावयवे प्रवर्तितुमर्हति, सर्वसिंहव्यक्तियु यत् सामान्यं तद्वचनः शब्दः—इति स्थितो न्यायः प्रत्युद्धियेत; न च, असति सिंहे परिकल्पनया प्रवर्तते । कल्पनाया अशक्यत्वात् । कथं नु स्वार्थाभिधानेन प्रत्ययव्यवस्था?—इति चेत् । अर्थसंबन्धात्,—सिंहः—इति निर्ज्ञेते प्रसङ्गकारिता तत्र प्रायेण—इति प्रसङ्गकारी—इति गम्यते, अर्थप्रत्ययसामर्थ्यात्, यो हि मन्यते,—प्रसङ्गकारिणं प्रत्याययेयम्—इति, न यदि सिंह-शब्दमुच्चारयति, सिङ्घत्यस्याभिप्रेतं,—सिंहार्थः प्रतीतः प्रसङ्ग-

भा. कारी—इतिसंबन्धादितरमर्थं प्रत्याययति; एवं स्वार्थाभिधानेन तद्गुणसंबन्धः प्रतीयते ।

इह तु यजमानः प्रस्तरः, यजमान एककपालः—इति—कीदृशो गुणसंबन्धः प्रतीयते? तत्सिद्धिकरः—इति, सर्वो ह्यात्मनः कार्यसिद्धिं करोति, अन्योऽपि यः तस्य कार्यसिद्धिं करोति, स तस्मिन् उच्चरिते हृदयभागच्छति, यथा राजा पत्तिगणकः—इति, पत्तिगणको राज्ञः कार्यं साधयति, स राजशब्दे उच्चरिते प्रतीयते, एवमिहापि यजमानकार्यं प्रस्तरेककपालौ साधयतः, तौ यजमाने प्रतीते प्रतीयेते, तस्मात्तौ यजमानशब्देन प्रत्याख्येते । कथं? स्तुतौ स्यातां वर्हिष उपरिसादने सर्वहोमे च—इति । तस्मादेवंजातीयका अर्थवादा न विधयः—इति ॥ (१।४।१२ अ०) ॥

अथाग्नेयादिशब्दानां ब्राह्मणादिकृत्यर्थताधिकरणम् ॥

स

जातिः ॥ २४ ॥

भा 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः, ऐन्द्रो राजन्यः, वैश्यो वैश्वदेवः'—इत्येवमादयः श्रूयन्ते, तत्र किं गुणविधयः, अर्थवादाः?—इति सन्देहः । गुणविधयः—इति ब्रूमः,—एवमपूर्वमर्थं विधास्यन्ति, इतरथा अर्थवादाः सन्तोऽनर्थका स्युः । न विधिः, विध्यन्तरस्य भावात्, तस्मात् संवादः, तस्य संकीर्तनं विधिस्तुत्यर्थम् । अनाग्नेयादिषु आग्नेयादिशब्दाः केन प्रकारेण? गुणवादेन । को गुणवादः? अग्निसंबन्धः । कथं? एकजातीयकत्वात् । किमेकजातीयकत्वं? 'प्रजापतिरकामयत,—प्रजाः सृजेयम्—इति, स मुखतस्त्रितं निरमिमीत, तमग्निह्वता अन्वश्यज्यत, गायत्री चन्दः, रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणाम्, अजः पशूनां; तस्मात्ते मुष्ठाः, मुखतो हि अश्नज्यन्त । उरसो

भा वाज्रभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत, तं इन्द्रो देवताऽन्वसृज्यत,
 त्रिष्टुप्च्छन्दः, वृहत् साम, राजन्यो मनुष्याणाम्, अविः पशूनां ;
 तस्मात्ते वीर्यवन्तः, वीर्याद्वि असृज्यन्त । ऊरुभ्यां मध्यतः सप्तदशं
 निरमिमीत, तं विश्वेदेवा देवताऽन्वसृज्यन्त, जगती च्छन्दः,
 वैरूपं साम, वैश्यो मनुष्याणाम्, गावः पशूनाम्—एवमुक्ते सति
 एकस्मिन्नेवंजातीयके विज्ञाते अन्योऽपि तज्जातीयको हृदयमा-
 गच्छति । तस्मादर्थवादशब्दाः ॥ (१।४।१३ अ०) ॥

अथ यूपदिशब्दानां यजमानस्तुत्यर्थताधिकारणम् ॥

सू

सारूप्यात् ॥ २५ ॥

भा. 'यजमानो यूपः,' 'आदित्यो यूपः'—इत्यादि श्रूयते, तत्र
 गुणविधिः, अर्थवादः?—इति सन्देहः । अर्थवत्त्वात् गुणविधिः ।
 अशक्यत्वात् यूपकार्यसाधने यजमानस्य, यजमानकार्यसाधने
 वा यूपस्य, विध्यन्तरभावाच्च न विधिः, विधिस्तुत्यर्थं संवादः;
 गुणवादात् सामानाधिकरण्यम् । को गुणः? । सारूप्यम् । किं
 सारूप्यम्? । ऊर्द्धता, तेजस्विता च । तस्मादेवंजातीयका
 अर्थवादाः ॥ (१।४।१४ अ०) ॥

अथामश्वदिशब्दानां गवादिप्रशंसार्थताधिकारणम् ॥

सू

प्रशंसा ॥ २६ ॥

भा. 'अपशवो वा अन्ये गोश्वेभ्यः, पशवो गोश्वभ्याः,' 'अयशो
 वा एष योऽसामा,' 'असत्त्वं वा एतत् यदध्यन्दीमम्'—इति
 श्रूयते । तत्र विध्यर्थवादसन्देहे अर्थवत्त्वादिविधयः—इति प्राप्ते,
 अभिधीयते,—यदि विधयो भवेयुः, गोश्वभ्या एव पशवोऽप्युः,
 सामवानेव यज्ञः, हन्दीमवदेव सत्त्वं; अन्येषां पशूनां, श्वानां,

भा. सचाणां चोत्पत्तिरनर्धिका स्यात् । विध्यन्तरञ्च नावकल्पेत ।
 अतः स्तुत्यर्थं संवादः, गोश्वान् प्रशंसितुमन्येषां पशूनां
 निन्दा, सामवतः प्रशंसितुमसाम्नां निन्दा, कृन्दोमवन्ति प्रशं-
 सितुमच्छन्दोमकानि निन्दन्ते; यथा, यत् अघृतं, अभोजनं
 तत्, यन्मलिनं, अवासस्तत्—इति ॥ (१।४।१५ अ०) ॥

अथ बाहुल्येन वृष्टिपददेशाधिकरणम् ॥ (भूमाधिकरणम्) ।

सू.

भूमा ॥ २७ ॥

भा. 'वृष्टीरुपदधाति'*—इति श्रूयते; तत्र गुणविधिः, अर्थवादः ?
 —इति सन्देहे अपूर्वत्वात् विधिः,—इति प्राप्ते उच्यते,—
 यदि विधिः, वृष्टिमवका उपदधातीष्टकाः—इत्यर्थः, तत्र न
 इष्टकानां विशेषः कश्चिदाश्रीयते,—एवंरूपाः वृष्टिमवकाः,
 नैवंरूपाः—इति; तत्र सर्वासां वृष्टिलिङ्गा मवाः प्राप्नुयुः ।
 अन्येषामसंयुक्तानां मवाणामानर्थक्यं स्यात् । तस्मात् अनुवादः,
 —मवसमाग्नानात् प्राप्तानानुपधाने मवाणां; वृष्टीनां संकी-
 र्त्तनं सर्जनार्थवादार्थम् । अपि च विधित्वे लक्षणा, 'एकया
 स्तुवते'—इत्यत्र या अवृष्टयस्ता लक्षयेत् । ननु 'अनुवादेऽपि
 लक्षणा' । नानुवादपक्षे लक्षणायां दोषः । कथन्तु अवृष्टिपु
 वृष्टिपु च वृष्टिशब्दः—इति । भूम्ना,—बह्वस्तव वृष्टिलिङ्गा
 मवाः, अल्पशो विलिङ्गाः—इति ॥ (१।४।१६ अ०) ॥

* वृष्टिशब्दोपेतामवा यासामिष्टकाना उपधाने विद्यन्ते ता इष्टका
 वृष्टय उच्यन्ते इति माधवः ।

अथ प्राणभृदादिशब्दानां स्तुत्यर्थताधिकारणम् ।

सू. लिङ्गसमवायात् ॥ २८ ॥

भा. 'प्राणभृत उपदधाति,' 'आज्यानीरुपदधाति'—इति, विधित्वे प्राणभृन्मद्यकासूपधीयमानासु विलिङ्गानां भव्वाणामानर्थक्यम् ; तस्मात् अनुवादः । लिङ्गसमवायात् परशब्दः परत्र वर्तते ; यथा, छचिणो गच्छन्ति—इति, एकेन छचिणा सर्वे लक्ष्यन्ते ; न च अयं प्राणभृच्छब्दः सृष्टिशब्दस्य जहत्स्वार्थं मद्यगणं लक्षयेत्, यद्गणे च सृष्टिप्राणभृच्छब्दौ समवेतौ, तावपि परिगृह्येते ; यथा, छचिशब्देन स्वार्थलक्षणार्थेन सोऽपि छधी गृह्यते—इति । (१ । ४ । १७ अ०) ॥

अथ वाक्यशेषेण सन्दिग्धार्थनिरूपणाधिकारणम् ।

सू. सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ॥ २९ ॥

भा. 'अक्ताः शर्करा उपदधाति, तेजो वै घृतम्'—इति श्रूयते ; तत्र सन्देहः,—किं घृततैलवसानामन्यतमेन द्रव्येणाज्जनीयाः शर्कराः, उत घृतेनेव?—इति । कथं सन्देहः? । अज्जन-सामान्येन वाक्यस्थोपक्रमः, घृतेन विशेषेण निमग्नं, यद्यो-पक्रमं निगमयितव्यम् एकस्मिन् वाक्ये ; तत्र यदा सामान्यमादौ विशेषोपलक्षणार्थं विवक्ष्यते, यदा निगमने विशेषः सामान्य-लक्षणार्थः? तदारम्भनिगमनयोः किं समञ्जसं?—इति सशयः । एवं—सन्दिग्धेषु उपक्रमे सामान्यवचने विरोधाभावात् न विशेषः परिकल्प्यः, निगमने तु उपजातः सामान्यप्रत्ययः—इति विरोधात् लक्षणार्थं घृतवचनं ; यथा सृष्टिर्वसृष्टिषु च सृष्टिशब्दः, एवं घृतमघृतं च घृतं—इत्युच्यते ।

भा सन्दिग्धेषु एव प्राप्ते ब्रूम,—सामान्यवचनेन विशेषापेक्षिण उपक्रमो वाक्यस्य, विशेषे निगमनवशेन। कुत ? न हि, सामान्यं विहितं। येन विरोधो निगमनस्य। कथमविहितः। सन्दिग्धेषु विधानशब्दाभावात्, न हि, विधानशब्दोऽस्ति। 'अक्ता शर्करा उपदधाति'—इति वर्तमानकालनिर्देशात्, नापि सामान्यस्य साक्षात्स्तुति, प्रत्यक्षन्तु घृतस्य स्तवर्न, श्रुत्या घृतस्य स्तुति, सूक्ष्मया सामान्यस्य, श्रुतिश्च सूक्ष्मया ज्ञायसी। तस्मात् घृतविधानम्। एव 'वास' परिधत्ते, एतदे सर्वदेवत्य वास, यत् 'द्यौमम'—इति। तथा 'इमा स्पृक्षोद्वा येन, इमा हि श्रीदुवरी विश्वाभूतान्युपजीवन्ति'—इति॥ (१। ४। १८ अ०) ॥

अथ सामर्थ्यानुसारेण वाक्यव्यतिताता व्यवस्थाधिकारकम् ।

स अर्थान्वा कल्पनैकदेशत्वात् ॥ ३० ॥

भा 'सुवेणाभवद्यति, सधितिनाभवद्यति, हस्तेनाभवद्यति'—इति श्रूयते, तत्र सन्देहः,—किं सुवेणावदातस्य सर्वस्य (द्रवस्य सङ्गतस्य मासस्य च) तथा सधितिना*, हस्तेन च, उत सवयामर्द्यतो व्यवस्था (द्रवाणां सुवेण, मासानां सधितिना सङ्गतानां हस्तेन)?—इति। अविशेषाभिधानादव्यवस्था—इति।

एव प्राप्ते ब्रूम,—'अर्थान्वा कल्पना', सामर्थ्यात् कल्पना—इति,—सुवेणावद्येत्, यथा शङ्खुयात्, तथा यस्य शङ्खुयात् तस्य च—इति, आप्यातशब्दानामर्थं भुवतां शक्तिं महकारिणी

भा एवं चेत् यथाशक्ति व्यवस्था भवितुमर्हति । तथा 'अञ्जलिना
 सत्तून्मदाद्ये जुहोति'—इति, द्विहस्तसयोगोऽञ्जलिः, स व्याको-
 शोऽर्थ्यात् कर्त्तव्यः, तथा हि शक्यते होमो निर्वर्त्तयितुम्, तत्
 यथा, कटे भुंक्ते कास्यपात्रा भुंक्ते—इत्यर्थ्यात् कल्प्यते,—कटे
 समासीनः कास्यपात्रा मोदनं निधाय भुंक्ते—इति ॥ (१।४।
 १६ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामि—वृत्तौ मीमासाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य
 चतुर्थः पादः ॥, समाप्नोभ्यं प्रथमाध्यायः ॥

द्वितीय अध्याये १ पादः ।

—४४—

अथापूर्वम्याख्यातपदप्रतिपाद्यत्वाधिकरणम् ।

स भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो
विवीयते ॥ १ ॥ (सि०)

भा. प्रथमेऽध्याये प्रमाणलक्षणं वृत्तम्, तत्र विधिर्यवादमच्चक्षृतय
स्तत्त्वतो निर्णीताः, गुणविधिर्नामधेयश्च परोक्षितं, सन्दिग्धा
नामर्थाणां वाक्यशेषादर्थार्थवसानमुक्तम्; तन्न प्रसङ्गार्थम् ।
अनन्तरं प्रधानाप्रधानानि परोक्षिष्यन्ते, भिन्नान्यभिन्नानि च
—इति, एष एवार्थो वर्णनीयो नान्यः, एष एव चाध्याय
संबन्धः । तदिह युद्धिधः कर्मभेदो वक्ष्यते,—शब्दान्तरं,
अभ्यासः, संख्या, गुणः, प्रक्रिया, नामधेयम्—इति वक्ष्यमान-
मनुसंकीर्त्यते; प्रदर्शितमुच्यमानं सुखं यादृशियिष्यन्ते—इति
श्रोतुश्च युद्धिः समाधीयते, तदेतन्नानाकर्मलक्षणम्—इत्यध्याय
माचक्षते, एतत्तात्पर्येण अतोऽन्यदुपोद्घातप्रसक्तानुप्रसक्तं च
—इति ।

तत्र प्रथमं तावदिदं चिन्तयते,—प्रथमेऽध्याये इदमुक्तम्,—
चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः—इति, चोदना च क्रियाया अभि-
धायकं वाक्यम्, वाक्ये च पदानामर्थाः, तत्र किं पदेन पदेन
धर्मं उच्यते, उत सर्वेरेक एव?—इति । किं तावत्प्राप्तम्?—
प्रति पदं धर्मः—इति ।

एवं प्राप्ते उच्यते,—यदा एकस्मादपूर्वं, तदाऽन्यत् तदर्थं

भा भविष्यति, एवमल्पीयसी अदृष्टानुमानप्रसङ्गकल्पना भविष्यति,
तस्मादेकमपूर्वम् ।

यदा एकं, तदा सन्देहः—किं,—भावशब्देभ्यः, उत द्रव्यगुण-
शब्देभ्यः?—इति । (कः पुनर्भावः? के ते पुनर्भावशब्दाः?
—इति । यजतिददातिजुहोति—इत्येवमादयः । ‘ननु याग-
दानहोमशब्दाः एते, न भावशब्दाः’ । नैतदेवं,—यागादि-
शब्दाश्च एते भावशब्दाश्च, यज्याद्यर्थश्चातोऽवगम्यते, भावयेत्
—इति च (तथा यजेत, यथा किञ्चित् भवति—इति) ; तेनेते
भावशब्दाः, द्रव्यगुणशब्देभ्यो द्रव्यगुणप्रत्ययो न भावनायाः ।
अतस्ते न भावशब्दाः—इति) । किं तावत्प्राप्तम्?—अविशेषेण
—इति ।

तत उच्यते,—भावार्थाः कर्मशब्दाः, तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत,
यजेत—इत्येवमादिभ्यः । कुतः? । भावार्थत्वादेव, य आज्जः
किमपि भावयेत्—इति, ते स्वर्गकामपदसंबन्धात् स्वर्गं भावयेत्
—इति ब्रूयुः ; तस्मात्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत, फलस्य क्रिया
करणं निष्पत्तिरिति ; ते च यागदानहोमसंबन्धाः स्वर्गस्योत्पत्तिं
वदन्ति । कुतः? । एष च्छर्त्तो विधीयते, यथा, यागादिना
स्वर्गकामः केन भावयेत स्वर्गं?—यागादिना—इति ; यस्य च
शब्दस्यार्थेन फलं साध्यते, तेनापूर्वं कृत्वा, नान्यथा—इति,
ततोऽपूर्वं गम्यते, अतो यः तस्य वाचकः शब्दः, ततोऽपूर्वं प्रती-
यते—इति, तेन भावशब्दा अपूर्वस्य चोदकाः—इति ब्रूमः,
नतु कश्चिच्छब्दः साक्षादपूर्वस्य वाचकोऽस्ति ; भावार्थः किमपि
भावयितव्यं, स्वर्गकामस्य च केनापि भाव्यता—इति, तयोर्ज्ञ-
ष्टाश्वदग्धरथवत संप्रयोगः, यजेत—इत्येवमादयः साक्षाज्ज्ञाः,
—‘यजेत’ किं केन कथं?—इति, ‘स्वर्गकामः’—इत्यनेन प्रयो-
जनेन निराकाङ्क्षाः, नैवं द्रव्यगुणशब्दाः । तस्मात् भावार्थाः
कर्मशब्दा अपूर्वं चोदयन्ति—इति । अथ ‘कस्मात् उभयं

भा सूचितम्,—भावार्थाः कर्मशब्दाः—इति । उच्यते,—भवन्ति केचित् कर्मशब्दाः न भावार्थाः,—यथा, श्येनेकत्रिकादयः, केचित् भावार्थाः न कर्मशब्दाः,—यथा, भवनं भावो भूतिरिति । किं पुनरिहोदाहरणम् ? । ‘श्येनेनाभिचरन् यजेत’, ‘चित्रया यजेत पशुकामः’—इति ; किं श्येनेनाभिचरन्, उत यजेताभिचरन्—इति ? तथा चित्रया पशुकामः, उत पशुकामो यजेत ?—इति स्थिते एतस्मिन्नधिकरणे गुणविधिः, नामधेयम्—इति विचारो भविष्यति । तथा ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत’—इति, दर्शः कालः, पूर्णमासः—इति च. किं ताभ्यां स्वर्गकामः, उत स्वर्गकामो यजेत ?—इति, दर्शपूर्णमासाभ्यामिति च श्येने नेति च चित्रया—इति च नेते भाववचनाः ; न च एयामर्धिना कश्चित्संबन्धोऽस्ति, विविभक्तिकत्वात् । तस्माच्च द्रव्यगुणशब्दा अपूर्वस्य विधायकाः—इति ॥ (सि०) ॥

स सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत् ॥ २ ॥ (आ०)

भा एव चेत् भवान् पश्यति,—अ-भावशब्दत्वात् न द्रव्यगुणशब्दा अपूर्वस्य विधायकाः—इति, सर्वेषां भावोऽर्थः, स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासाभ्याम्—इत्येतयोः संबन्धं यजेत—इति वक्ष्यति, श्येनेन अभिचरन्—इत्येतयोश्च, तथा चित्रया पशुकामः—इति ; तस्मादेतेऽपि साकाक्षत्वात् भाववचनाः, सर्वेषु भाववचनेषु नास्ति विनिगमनाया हेतुः,—कर्मशब्दा एवापूर्वस्य विधायकाः, न द्रव्यगुणशब्दाः—इति ॥ (आ०) ॥

स येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धित्तानि नामानि, तस्मात्तेभ्यः पराकाङ्क्षा भूतत्वात् स्वे प्रयोगे ॥ ३ ॥ (आ० नि० १) ॥

भा येषां शब्दानामुच्चारणोत्पत्तौ स्वे अर्थे प्रयुज्यमानानां रूप-

भा. मुपलभ्यते, यत् सद्वादुत्पन्नं कालान्तरन्तिष्ठति, न क्रियेवोत्पन्न-
 भावं विनश्यति—इत्यर्थः, तानि नामानि, ते द्रव्यगुणशब्दाः,
 ईदृशो द्रव्यगुणशब्दानामर्थः । ('ते द्रव्यगुणशब्दाः'—इति वक्तव्ये
 "तानि नामानि"—इति सूचितम्, अतो नामानि—इति एषां
 पर्यायशब्दः । कथं गम्यते ? । यत एषां विभक्तयो नामिक्य
 उच्यन्ते । कतमास्ताः ? । वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः, शुक्लः शुक्लौ
 शुक्लाः—इत्येवमादयः ; तस्मात् सम्यक् सूचितम् । यत एषां
 न क्षणिकोर्ध्वः, ततः 'तेभ्यः पराकाङ्क्षा' प्रधानाकाङ्क्षा न
 विद्यते—इति नैषां उत्पत्तिः कर्तव्या, 'भूतत्वात् स्वे प्रयोगे
 स्वप्रयोगकाले विद्यमानत्वात्—इत्यर्थः ॥ (आ० नि० १) ॥

ख. येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते, तान्याख्या-
 तानि ; तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताश्रितत्वात् प्रयोगस्य ॥
 ४ ॥ (आ० नि० २) ॥

भा. येषां तु शब्दानामुच्चारणोत्पत्तौ 'स्वे अर्थे प्रयोगो न विद्यते'
 (प्रयोगकाले येषामर्थो नोपलभ्यते—इत्यर्थः), 'तान्याख्या-
 तानि'—इति भावशब्दान् पर्यायशब्देनोपदिशति । कथं
 पर्यायशब्दता भावशब्दानाम् ? । यत एषां विभक्तय आख्या-
 तिक्यः—इत्युच्यन्ते । कतमास्ताः ? । पचति पचतः पचन्ति—
 इत्येवमादयः । तस्मात्तेभ्योऽपूर्वं प्रतीयेत ; भव्यार्थास्ते भूतार्थैः
 समुच्चरिताः ; भूतस्य भव्यार्थतायां दृष्टार्थता,—भव्यार्थस्य प्रयो-
 जनवत् उत्पत्तिरर्थवती, सा च भूतेन क्रियते—इति दृष्टोर्ध्वः ;
 भव्यस्य पुनर्भेतार्थतायां न किञ्चित् दृश्यते, कल्प्यतेचादृष्टम् ।
 तस्मान्न यागो द्रव्यार्थः ।

किञ्च 'आश्रितत्वात् प्रयोगस्य' एतेषां प्रयोगः पुरुषेणाश्रितो
 भवति, पुरुषसंबद्धा भावना उच्यते, पुरुषं हि वदति,—भावयेत्
 —इति, तेन 'स्वर्गकामो यजेत'—इति पुरुषोऽपि प्रतीयते,

भा. यागोऽपि* संबन्धोऽपि; स्वर्गकामो द्रव्येण—इति द्रव्ये प्रतीयते
 पुरुषश्च, न तु संबन्धः ॥ ननु 'एतदुक्तम्भवति, अर्थिनश्च द्रव्यस्य
 च संबन्धं 'यजेत'—इति वक्ष्यति,—द्रव्येण भावयेत्—इति;
 अतो द्रव्येण अर्थस्य भावना गम्येत, आकाङ्क्षा च—इति।
 सत्यं गम्यते,—द्रव्येण भावयेत्—इति तु वाक्येन, यागेन भाव
 येत्—इति तु श्रुत्या; यदा तु, यागेन भावायेत्—इति याग
 संबन्धो विधीयते, न तदा, द्रव्येण भावयेत्—इति द्रव्यसंबन्धः;
 न च द्रव्यसंबन्धे विधीयमाने यजेत—इत्यनेन संबन्धः; अनृद्य-
 माने तु सम्भवति, न च, यौगपद्येन विध्यनुवादौ सम्भवतः।
 तस्मात् श्रुतिवाक्ययोर्विरोधः, विरोधे च श्रुतिर्दलीयसी, तेना
 र्थिना न द्रव्यसंबन्धः; तत्र द्रव्यमसति स्वर्गकामसंबन्धे स्वर्गार्थं
 भविष्यति—इत्यनुपपन्नम्, एष विनिगमनायां हेतुः, येन
 भावशब्दा एवापूर्वस्य चोदकाः, न द्रव्यगुणशब्दाः—इति, यदा,
 यागेन कुर्यात्—इति, तदा, यागवचनमेव भवति; दर्शपूर्ण
 साभ्याम्—इति लक्षणया, दर्शे च पूर्णमासे च यागो विहितः
 —इति ॥ (आ० नि० २)। (२।१।१ अ०) ॥

अथ अपूर्वमस्तिताधिकरणम् ।

कथं पुनरिदमवगम्यते? अस्ति तदपूर्वम्—इति। उच्यते

ख चोदना पुनरारम्भः ॥ ५ ॥

भा चोदनेत्यपूर्वं वृत्तम्,—अपूर्वं पुनरस्ति, यत आरम्भः शिष्य-
 ते,—स्वर्गकामो यजेत—इति, इतरथा हि विधानं अनर्थकं
 स्यात्, भङ्गित्वात् यागस्य, यदि अन्यदनुत्पाद्य यागो विनश्येत,

भा. फलं असति निमित्ते न स्यात् ! तस्मात् उत्पादयति—इति ।
 'यदि पुनः फलवचनसामर्थ्यात्तदेव न विनश्यति—इति कल्प्यते' ।
 नैवं शक्यम्,—न हि कर्मणोऽन्यत् रूपमुपलभामहे, यत्
 आश्रयं देशान्तरं प्रापयति, तत् कर्मेत्युचरते, न तत आत्मनि
 समवेतं, सर्वगतत्वादात्मनः, सर्वत्र कार्योपलम्भः सर्वत्र भावे
 लिङ्गम्, नतु तदेव देशान्तरादागमनस्य, न हि असति आगमन
 किञ्चिद्विरुद्धं दृश्यते ; यत्र समवेतमासीत्, तद्विनष्टं द्रव्यं, तस्य
 विनाशात्तदपि विनष्टम्—इत्यवगम्यते । आश्रयोऽप्यविनष्टः
 —इति चेत् । न, भस्मोपलम्भनात् । सत्यपि भस्मन्यस्ति
 —इति चेत् । न विद्यमानोपलम्भनेऽपि अदर्शनात् । फलक्रिया
 लिङ्गम्—इति चेत् । एवं सत्यदर्शने समाधिर्वक्तव्यः । सौचमा-
 दीनामन्यतमत् भविष्यति—इति यदि चिन्तयते, कल्पितमेवं
 सति किञ्चित् भवति—इति । 'तत्रापूवं वा कल्प्येत, तदा ?'—
 इति । अविशेषकल्पनायामस्ति हेतुः, न विशिष्टकल्पनायाम् ।
 अनाश्रितं कर्म भविष्यति—इति चेत् । तदपि तादृशमेव ।
 स्वभावान्तरकल्पनेन देशान्तरं न प्रापयिष्यति—इति । तादृश-
 मेव । तस्मात् भङ्गी यजिः, तस्य भङ्गित्वात् अपूर्वमस्ति—इति ॥
 किं चिन्तायाः प्रयोजनम् ? । यदि द्रव्यगुणशब्दाः अप्यपूवं
 चोदयन्ति, द्रव्यगुणपचारे न प्रतिनिधिरुपादातव्यः, यथा तर्हि
 पूर्वः पक्षः ; यथा तर्हि सिद्धान्तः, द्रव्यं गुणं वा प्रतिनिधाय
 प्रयोगोऽनुष्ठातव्यः—इति ॥ (२।१।२ अ०) ॥

अथ कर्मणां गुणप्रधानभावविभागाधिकरणम् ॥

सू. तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥ ६ ॥

भा. अवगतमेतत्,—भावशब्दाः कर्मणो वाचकाः—इति, यज्ज-
 प्रकाराश्च भावशब्दाः,—यजति, जुहोति, ददाति—इति, एव-

भा अकारा,—दोग्धि, पिनष्टि, विलापयति—इत्येवमादयश्च,
 तेषु मन्देह,—किं सर्वे प्रधानकर्मणो विधायका, उत केचित्
 सत्कारकर्मणः ?—इति । भावार्थत्वाविशेषात् सर्वे प्रधानकर्मणो
 वाचका,—इति प्राप्त, ततो ब्रूम,—तानि द्वैध भवितुमर्हन्तीति
 द्विप्रकाराणि,—कानिचित् प्रधानकर्मणो वाचकानि, कानिचित्
 सत्कारकर्मणः, एवमपि सर्गाख्यार्थवन्ति, अर्थवत्त्वे सति सर्वेभ्यः
 न शक्यमपूर्वं कल्पयितुम् । अतो न सर्वाणि प्रधानकर्मणो
 वाचकानि ॥

अथ प्रधानकर्मसत्त्वम् ।

स येद्रव्यं न चिकीर्ष्यते, तानि प्रधानभूतानि, द्रव्यस्य
 गुणभूतत्वात् ॥ ७ ॥

भा 'एव सति अस्मीयसी अदृष्टकल्पना न्याय्या, न तु विनि
 गननाया हेतुरवगच्छाम,—कुतोऽपूर्वम्, कुतो न'—इति ।
 तदुच्यते,—येभावकर्मभिर्न द्रव्यं सत्कर्तुमिष्यते, उत्पादयितुम्
 वा, तानि प्रधानभूतानि (प्रधानकर्मणो वाचकानि), द्रव्यस्य
 गुणभूतत्वात्, द्रव्यं हि गुणभूत, कर्मनिर्दिष्टैरीप्सिततमत्वात् ॥

अथ मुख्यकर्मसत्त्वम् ।

स यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत, तस्य द्रव्य-
 प्रधानत्वात् ॥ ८ ॥

भा यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते, गुणस्तत्र प्रतीयेत कर्म । कुत ? ।
 तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् । प्रत्यक्ष 'यजेत'—इत्येवमादिभिर्द्रव्यं न
 चिकीर्ष्यते, तस्मात्तानि प्रधानकर्मणो वाचकानि, द्रव्यस्य गुण
 भूतत्वात्, पिनष्टि—इत्येवमादिभिर्द्रव्यं सत्क्रियते, तस्मात्तानि

भा. गुणकर्मवचनानि ; एष एव विनिगमनायां हेतुः ॥ प्रयोजनन्तु पूर्वस्मिन् पक्षे प्रेयङ्गवेऽपि चरौ व्रीहय उत्पाद्या अवधातार्थत्वेन ; सिद्धान्ते नोत्पाद्याः ॥ (२।१।३ अ०) ॥

अथ संमार्जनादीनामप्रधानताधिकरणम् ।

सू. धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्दत्तैः प्रयाजवत् ॥ ८ ॥ (पू० १)

भा. 'सुचः संमार्ष्टि, अग्निं संमार्ष्टि, परिधिं संमार्ष्टि, पुरोडाशं पर्यग्निकरोति'—इति श्रूयते ; तत्र सन्देहः,—किं पर्यग्निकरणं, संमार्जनं च प्रधानकर्म उत गुणकर्म?—इति । किं तावत् प्राप्तम् ? । तत उच्यते,—कर्ममात्रं एवंजातीयकं अपर्याप्तं यत् प्रयोजनस्य दृष्टस्य, तद्धर्ममात्रम्—इति ब्रूमः, तत्र प्रधानकर्मत्वं स्यात् । कस्मात् ? । अनिर्दत्तैरुपकारस्य, न हि एवंजातीयकं द्रव्यस्योपकारकं, द्रव्यं त्वेवंजातीयकं अभिनिर्वर्तयद्गुणभूतं ; तस्य गुणभूतत्वादिदं प्रधानभूतम् ॥ (पू० १) ॥

सू. तुल्यश्रुतित्वाद्वा इतरैः सधर्मः स्यात् ॥ १० ॥ (सि०)

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । इतरैर्गुणकर्मभिः सधर्मः स्यादेवंजातीयकः, यथा व्रीहीनवहन्ति, तथा । कुतः ? । तुल्यश्रुतित्वात्, तुल्या हि द्वितीया श्रुतिरेषां द्रव्येषु,—यथा 'व्रीहीनवहन्ति'—इति, एवम् 'अग्निं संमार्ष्टि, पुरोडाशं पर्यग्निकरोति'—इति । 'किं गुणकर्मणि 'द्रव्ये द्वितीया दृष्टा'—इति ? यतो द्वितीयादर्शनादिह्यपि सामान्यतो दृष्टेन गुणकर्मता । नेति ब्रूमः,—द्वितीया विभक्तिः कर्तुरीप्सिततमे स्मर्यते, सा चेह द्वितीया विभक्तिः, तत एव तदीप्सिततममिति गम्यते, तच्चेदीप्सिततमं, कर्म गुणभूतम् । यद्यपि प्रत्यक्षादिभिर्गुणभावो न गम्यते,

भा. प्रमाणान्तरेण शब्देन गम्यते, तस्माद्गुणभूतमेवंजातीयकम्—
इति ॥ (सि०) ॥

स. द्रव्योपदेश इति चेत् ॥ ११ ॥ (आ०)

भा. इति चेत् पश्यसि,—द्वितीयादर्शनात् प्रधानभूतमत्र द्रव्य-
मिति; नैतदेवं, गुणभूतेऽपि द्वितीया भवति, तथाहि दृश्यते,—
'सत्तून् जुहोति, मारुतं जुहोति, एककपालं जुहोति'—इति ॥
(आ०) ॥

स. न, तदर्थत्वात् लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात् ॥ १२ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. न गुणभूतेऽपि द्वितीया, एवं हि अभियुक्ता उपदिशति,—
'कर्मणि द्वितीया (२ । ३ । २ । पा०), कर्तुरीप्सिततमं कर्म'
(१ । ४ । ४८ । पा०)—इति, न च लोके गुणभूते क्वचित्
द्वितीयां पश्यामः । यदपि च तण्डुलानोदनं पचेति,
ओदनाद्यं तण्डुलान् सस्फुर—इति ईप्सिता एव तण्डुलाः;
बल्वजान् शिखण्डकान् कुर्विति, बल्वजा एव तेनाकारेण
संबद्धा ईप्सिताः—इति तत्राभिप्रायः, लौकिकस्य प्रयोगः
शब्दार्थपरिच्छेदे हेतुर्न वेदिकः । यत्तु लौकिके जुहोतीति—
प्रयोगे द्वितीया, शक्यते तत्र वक्तुमीप्सिततमे एव स प्रयोगः—
इति, तण्डुलानद्य जुज्जधि, तण्डुलानद्य ह्येमेन संबन्धय—इति
लोके भवति हि वज्रप्रकारा विवक्षा; अन्यायस्थानेकार्थत्वं,
तेन प्रधानभावेन सिद्धा सती द्वितीया गुणभावेन कल्प्येत ।
'वेदे तु कथं द्वितीयानिर्दिष्टे गुणभावः—इति' । द्वितीया-
निर्देशात् प्राधान्यमेवावगच्छामः, एवमवगते प्राधान्ये बलीय-
सा हेतुना नास्ति प्राधान्यम्—इत्यवगम्यते । कुतः ? न
ह्योमस्य केनचित् प्रकारेण सत्कर्तृतावकल्प्यते कुतः ? सत्तूनां

भा निष्प्रयोजनत्वात्, न सक्तूनामन्यत्प्रयोजनं दृश्यते श्रूयते वा,
यदि वा होमस्तर्द्धा होमोऽपि निष्प्रयोजनः, अधारादुपकारको
होमः, ततः प्रयोजनवान्, ज्योतिष्टोमप्रकरणे पाठात् गम्यते
प्रयोजनवत्ता, नाप्रयोजनः—इति शक्यते वक्तुम्, प्रयोगवचनेन
हि स आकाङ्क्षते । ‘ननु सक्तूनामपि प्रकरणपाठात्प्रयोजनवत्त्वं
भविष्यति’ । को वा ब्रूते न—इति, प्रयोजनवत्तैव, प्रयोजन
वत्त्वन्तु होममभिनिर्वर्त्तयताम्, नान्येन प्रकारेण । ‘ननु तेऽपि
प्रयोगवचनेनाकाङ्क्षन्ते’ । तदुच्यते, न द्रव्यं तेनाकाङ्क्षते, इति
कर्त्तव्यता हि स आकाङ्क्षति, होमश्च इतिकर्त्तव्यता, न द्रव्यं ।
‘ननु होमे ह्यते सक्तुभ्योऽदृष्टं निष्पत्स्यते’ । नास्त्यत्र प्रमाणम्
‘ननु द्वितीया विभक्तिः प्रमाणम्’ । न हि द्वितीया विभक्ति-
र्होमस्य सत्कर्त्तव्यताम् ज्ञापयति । ‘न सक्तवः प्रयोजनवन्तः—
इति भवेत् होमः सत्कर्त्तव्यः, होमसंबद्धाः सक्तवः स्युरिति,
भवन्ति होमे ह्यते सक्तवो होमसंबद्धाः’ । न होमस्य सत्कर्त्तव्यता
निष्प्रयोजनेषु सक्तुषु घटते, सत्कर्त्तव्यतावचनन्तु न पुरुषस्योप-
कारकं न क्रतोः, तदनर्थकमेव स्यात् । यतो न तद्वचनाच्छक्य
मन्यतरत् कल्पयितुम् । स एष द्वितीयान्तः सत्तना होमस्य च
संबन्धं करोति, संबन्धे च सति द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभि-
संबन्धः—इति भूतत्वात्, गुणभावे च तृतीया, तेनोच्यते,—
तृतीयायाः स्थाने द्वितीया—इति, तेन ‘तर्द्धत्वात्’ होमार्ध-
त्वात् सक्तूनां न प्राधान्यं द्वितीयासंयोगेऽपि । एवं सत्यर्धवद-
चनम्, न चार्धवत्त्वे सति आनर्थक्यम्—इत्युच्यते । ‘तस्य च’
पुरोडाशादेर्यागादिषु शेषभावः, तेन प्रयोजनवन्तः, तत्र संस्कारो
नानर्थकः । न स दृष्टोपकाराय—इति चेत् । अदृष्टार्थो
भविष्यति, अदृष्टोऽपि संस्कारोऽस्ति—इति अवगम्यते लोके,
यथा यामान्तरादागतानां पुरुषाणां पयश्निकरणेनादृष्ट उपकारः
क्रियते इत्युच्यते, लोके च नानुपपत्तिः ।

भा. प्रयोजनं च वरुणप्रधासेषु श्रूयते, 'शमीमयः सुचो भवन्ति
 हिरण्मयो वा—इति, प्रकृतौ नानाष्टक्षसुक्सम्मार्गसाध्यम्-
 पूर्वम्—इति, नानाष्टक्षसुच उत्पादयितव्याः संमार्गार्थत्वेन
 यथा पूर्वपक्षः; यथा तर्हि सिद्धान्तः, 'शमीमय एव हि
 हिरण्मयो वा संमार्ष्टव्याः। तथा यत्र वाणवन्तः परिधय-
 स्तत्रापि षाळाशा उत्पादयितव्याः पूर्वपक्षे; सिद्धान्ते वाणवन्त
 एव संमार्ष्टव्याः। अवष्टे च पूर्वपक्षे उत्पादयितव्योग्निः
 सम्मार्गाय, सिद्धान्ते चापः संमार्जनीयाः। तथा 'षट्त्रिंशत्-
 संवत्सरेतरसमयाः पुरोडाशाः सवनीयाः—इति श्रूयते;
 तत्रापि पिष्टमयः पुरोडाश उत्पादयितव्यः पर्यग्निकरणार्थत्वेन
 पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते मांसमया एव पर्यग्निकर्तव्याः—इति ॥ (आ०
 नि०) (२।१।४ अ०) ॥

स्तोत्रादिप्राधान्याधिकरणम् ।

ख स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद्देवताभिधान-
 त्वात् ॥ १३ ॥ (पू०)

भा. 'प्रउगं शंसति, निष्केवल्यं शंसति,* आज्यैस्तुवते, पृष्ठैस्तुवते'
 —इति गुणवचनं स्तवनं शंसनञ्च, यथा 'इन्द्रस्य तु वीर्याणि
 प्रबोचम्—इति, यदेतद्गुणवचनं श्रूयते, किमेतद्गुणभूतं देवतां
 प्रति, उत प्रधानम्?—इति; तत्रोच्यते,—स्तुतशस्त्रे संस्कार-
 फलणी—इति। कुतः?। देवताभिधानत्वात्, गुणवचने निर्वर्तय-
 माने गुणिनी देवता संकीर्तयते, नान्यथा तद्गुणवचनं भवति,
 तत्र प्रत्यक्षं देवताभिधानं गम्यते, देवताप्रकाशनेन च प्रत्यक्ष

* प्रउगान्निष्केवल्यस्यैव शस्त्रविशेषनामनी, यज्जोतमथगाथा स्तुतिः
 शस्त्रं, यज्जोतमथगाथा स्तुतिः स्तोत्रमिति माधवः ।

भा. उपकारो यागसिद्धिः । तस्मात् संस्कारकर्मणी याज्यावत्,
यथा 'याज्यामन्वाह, पुरोनुवाक्यामन्वाह'—इति स्तुतिवचनं
देवताप्रकाशनेनार्थवत्, तद्वदेतदपि—इति ॥ (पू०) ॥

स. अर्थेन त्वपहृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूत-
त्वात् ॥ १४ ॥ (सि०)

भा. यदि संस्कारकर्मणी एव स्तोत्रशस्त्रे, अर्थेनापहृष्येत देवता-
नाम्नश्चोदनार्थस्य गुणभूतत्वात्, देवतार्थस्य गुणभूतो मन्त्र
—इति तत्प्रधानभावे यत्र प्रधानं तत्र नीयेत, तत्र क्रमसन्निधौ
उपरुध्येयातां ; तस्मादेव दुष्टः पक्षः—इति पर्युदसितव्यः ।
कतमः पुनरसौ मन्त्रः ? अभित्वा शूरेत्यैन्द्रः प्रगाथो माहेन्द्रस्य
ग्रहयजेः सन्निधावाम्नातो यत्र इन्द्रस्तत्रापहृष्येत ॥ (सि०) ॥

स. वशावद्वा गुणार्थं स्यात् ॥ १५ ॥ (आ०)

भा. न पर्युदसित्यामः इमं पक्षं, संस्कारकर्मणी एव स्तोत्रशस्त्रे,
देवताभिधानत्वादेव, यत्तूक्तं,—प्रगाथस्योत्कर्षः—इति, तन्न,
इन्द्रशब्देन महेन्द्रोऽभिधायित्यते, स एवैन्द्रो महत्त्वेन गुणेन
महेन्द्र इत्युच्यते, प्रत्यक्षं हि इन्द्रशब्दं देवतावचनमुपलभामहे,
महत्त्ववचनं च महच्छब्दं, यथा राजा महाराजः, ब्राह्मणो
महाराजाह्वयः—इति, वशावत्,—यथा 'सा वा एषा सर्वदेवतया
यदजावशा, वायव्यामालभेत'—इत्यजावशाशब्देन चोदिते
कर्मणि ह्यगशब्देन निगमा भवन्ति, तद्वत्सगुणे चोदिते निर्गुणे-
नाभिधानं भविष्यति ; तेन न भविष्यत्युत्कर्षः—इति ॥
(आ०) ॥

स. न, श्रुतिसमवायित्वात् ॥ १६ ॥ (नि०)

भा. नैतदेवं, इन्द्रोऽस्य ग्रहस्य देवतेति तद्वितसंयोगेन विज्ञायेत,

भा न चास्य महत्त्वमपेक्षमाणस्य तद्वितसंयोग उपपद्यते, तद्वित-
संयोगापेक्षस्य वा महत्त्वसंबन्धात्समासकल्यना ! न च
तद्वितार्थे वृत्तस्य महत्त्वसंबन्धः, न च समासार्थे वृत्तस्य
तद्वितसंबन्धः ! न चास्मिन्नेव प्रयोगे समासार्थे वृत्तिरिष्यते,
एतस्मिन्नेव तद्वितार्थे ! न चायमिन्द्रशब्दोऽविहितवत्सार्थं तद्वि-
तार्थेन संबध्येत, विहितवच्च परार्थं महत्त्वेन संबद्धमनूद्येत !
विस्पष्टश्यामन्योर्गो महेन्द्रो भवति,—महानिन्द्रो भवतीति
महेन्द्रः, अन्यश्चेन्द्रो हविषो देवता भवतीति सखदुच्चारणे च
नोभयं शक्येत । तस्माच्चेन्द्रो देवता महत्त्वविशिष्टः, महेन्द्र
शब्दात्तु तद्वित उत्पन्नः, तस्मात्तत्प्रातिपदिकमर्थवदिति गम्यते,
न त्ववयवसंबन्धेन ; तस्माद्देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः, तेनैन्द्रस्य
प्रगाथस्योत्कर्षः प्राप्नोति, अतः पर्युद्दसितव्यः एष पक्षः !
यदभ्युच्यते,—इन्द्रस्य वृत्रवधोत्तरकालं महेन्द्रत्वं दर्शयति,
'महान् वाभ्यमभूत् यो वृत्रमबधीत्'—इति, तथा वेदस्यादि-
मत्तादोषः प्रसज्येत अतोऽन्य इन्द्रो महेन्द्रात् ॥ (नि०) ॥

ख व्यपदेशभेदाच्च* ॥ १७ ॥ (यु० १)

भा. व्यपदेशभेदश्च भवति, 'वज्रदुग्धोन्द्राय देवेभ्यो हविः'—इति,
'वज्रदुग्धि महेन्द्राय देवेभ्यो हविः'—इति, अतोऽपि देवता
न्तरम्, एकदेवतात्वे मन्त्रविकल्पः स्यात् ॥ (यु० १) ॥

ख गुणान्वयानर्थकः स्यात् ॥ १८ ॥ (यु० २)

भा. यदा विधिः शब्दादवगतमेतद्भवति,—इन्द्रो देवतेति, तदाऽस्य
गुणान्वयान्त्रानि किं प्रयोजनं, महत्त्वं नाम इन्द्रस्य गुणो भवति
—इति देवताभिधानं । कथं तस्यै देवतायै दीयते ?—इति ।

भा. गुणैःपि हि विहिते सति तस्यै एव देवतायै दीयते, अविहिते-
पि; तस्माद्गुणविधानमनर्थकम् । अथोचेत्ततः,—‘योगस्मिन् यच्चे
इन्द्रः स महान्’—इति । नैवं,—ग्रहसम्बन्धस्याप्रसिद्धत्वात्
विशेषणं नात्र कल्प्यते, गुणसम्बन्धस्य चाप्रसिद्धत्वात् गुणेन
विशेषणमनवकृत्तम्; तस्मादपि देवतान्तरम् ॥ (यु० २) ॥

सू. तथा याज्यापुरोरुचोः ॥ १९ ॥ (यु० ३)

भा. एवं सति याज्यापुरोनुवाक्ययोर्भेदेन दर्शनमुपपद्यते, ‘एन्द्र
सानसिं रयिम्’—इत्येन्द्रयाज्यापुरोनुवाक्यादयं, ‘महान् इन्द्रो
य ओजसा’—इति भेदेन माहेन्द्रं दर्शयति, तदेकत्वे विकल्प्येत ।
तत्र, पक्षे बाधः स्यात् ॥ (यु० ३) ॥

सू. वशायामर्थसमवायात् ॥ २० ॥ (उप०)

भा. यदुक्तम्,—अजावशाशब्देन चोदिते कर्मणि ह्यगशब्देन निगमा
भवन्ति—इति, तत् युक्तम्, वशायामर्थसमवायित्वं वयं प्रत्यक्ष-
मवगच्छामः, ‘ह्यगस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि’—इति यैव वशा
सैव ह्यगेति । तस्मात् प्रगाथस्योत्कर्षः संस्कारपक्षे, अतः
प्रधानकर्मणी—इति ॥ (उप०) ॥

सू. यचेति वाऽर्थवत्त्वात् स्यात् ॥ २१ ॥ (आ०)

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, संस्कारकर्मणी एव स्तोत्रशस्त्रे,
यचेतत्,—प्रगाथस्योत्कर्षः—इति, उत्हात्यतां यत्र इन्द्रस्तत्र
प्रगाथः, लिङ्गेन हि क्रमसन्निधौ बाधितस्यैव ॥ (आ०) ॥

सू. न त्वाम्नातेषु ॥ २२ ॥ (आ० नि०)

भा. अपरेषां मद्याणामुत्कृष्टानामन्यत्रार्थवत्ता नास्ति, तेषा-
मानर्थक्यं स्यात्, यथा, यान्याः शंसन्ति, शिपिविष्टवतीं पित-

देवत्या आग्निमासते*, कुपुम्भकसूक्तं, अक्षसूक्तं, मूषिकासूक्तं
मित्येवमादीनाम् ॥ (आ० नि०) ॥

स दृश्यते ॥ २३ ॥ (आ०)

भा तदुच्यते,—सर्वेषामर्थवत्ता अस्ति, मण्डूकसूक्तस्थाग्री, अक्ष
सूक्तस्य राजसूये, मूषिकासूक्तस्यैकादशिन्यां, सर्वेषां वाचस्तोमे,
'सर्वा चक्षः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचस्तोमे,
पारित्यवं अश्वमेधे शंसति'—इति, तथा 'यस्याश्विने शस्यमाने
सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्'—इति, तस्माद-
स्त्यर्थवत्ता उत्कृष्टाणां; अतः संस्कारकर्मणी स्तोत्रशस्ते—
इति ॥ (आ०) ॥

अपि वा श्रुतिसंयोगात्प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्-
पत्तिं विदध्याताम् ॥ २४ ॥ (आ० नि०)

भा. अपि वा प्रधानकर्मणी स्तोत्रशस्ते स्यातां । कुतः ? । श्रुति
संयोगात्, सप्तमीश्रुतिसंयोगो हि भवति, 'कवतीषु स्तुवते,
शिपिविष्टवतीषु स्तुवते'—इति, यदि स्तुतिः, ततः कवत्यक्षरेषु
आहिता; यदि प्रकाशनं, ततो देवतायां, तत्र करणद्वयस्य
स्तुतीयया अथोप्यं, न सप्तम्या ।

अपि च, श्रुतिसंयोगो भवति,—'प्रउगं शंसति, निरुकेष्यं
शंसति'—इति ; अतः स्तुतिरभिनिर्वर्तयितव्या तेन मध्येन,
गुणवचनः शब्दः स्तुतिनिवर्तनार्थोऽदृष्टमर्थं करिष्यति ; तस्मात्
प्रधानकर्मणी ।

* 'याम्याः शसति, शिपिविष्टवतीः शंसति, पिष्टदेवत्याः शसति,
अग्निमासते' इत्यपि द्रष्टव्यं ।

भा. अपि च, श्रुतिसंयोगो भवति (पृथिविभक्तिसंयोगः), यथा 'इन्द्रस्य तु वीर्याणि प्रबोचम्'—इति ; तेन देवताशब्दः स्तुति-संबन्धार्थं इत्युच्यते, देवताभिधानार्थं प्रातिपदिकार्थत्वात्प्रथमा स्यात् । 'अथ यत्प्रथमान्तं, तद्देवतार्थं भवितुमर्हति, यथा, इन्द्रो यातो वसितस्य राजेति' । नेत्युच्यते, तदपि वाक्यसंयोगात् स्तुत्यर्थमेव । 'ननु वाक्याल्लिङ्गं वलीयः' । सत्यम्, एतदपि लिङ्गं, यत् स्तुतिवाक्यस्य साकाङ्क्षस्य निराकाङ्क्षीकरणसामर्थ्यं । 'तथाप्युभयथा लिङ्गेऽनुगृह्यमाणे कुतो निर्णयः?' । वाक्य-शेषादेव न देवताभिधानार्थः—इति ; देवताभिधानार्थं इत्येतस्मिन् पक्षे स्तुत्यर्थं साकाङ्क्षवचनमनर्थकमेव स्यात् । तस्मात् अदृष्टार्थत्वात् स्तुतिवचनस्य प्रधानकर्मणी स्तोत्रशब्दे ।

अपिच, स्तौतिशंसतीति साक्षाद्गुणवचनौ लक्षणया अभिधानार्थौ स्यातां, तस्मात् क्रियोत्पत्तिं (अपूर्वोत्पत्तिं) विदधातामिति । (आ० नि०) ॥

स. शब्दपृथक्त्वाच्च ॥ २५ ॥ (यु० १)

भा. शब्देन पृथक्त्वमेव गम्यते,—'द्वादशस्तोत्रशखोऽग्निष्टोमः', इतरथा हि द्वादशत्वं न स्यात् । स्तोत्राणां शखाणां च एकमेव शंसनं स्तवनं च, अथ भेद आश्रीयते, ततो न द्वादशत्वेऽव-
तिष्ठते ॥ (यु० १) ॥

स. अनर्थकं च तद्वचनम् ॥ २६ ॥ (यु० २)

भा. अग्निष्टुति श्रूयते,—'आग्नेया यद्वा भवन्ति'—इति, तत्र पुन-
रुच्यते, आग्नेयोपु स्तुयन्ति, आग्नेयीपु शंसन्ति—इति, तत्र विधातव्यमेव यदि संस्कारकर्म ; तस्मादपि प्रधानकर्मणी—
इति ॥ (यु० २) ॥

स अन्यश्चार्थः प्रतीयते ॥ २७ ॥ (यु० ३)

भा. 'संबन्धे वे स्तोत्रशब्दे वा'—इति, यद्यन्यत्स्तोत्रमन्यच्छब्दं, तत् स्तयोः संबन्धः; यदि वा 'अपूर्ववचने ततोऽन्यत्स्तोत्रमन्यच्छब्दं, इतरथा यदेव स्तोत्रं तदेव शब्दं स्यात्' ॥ (यु० ३) ॥

स अभिधानं च कर्मवत् ॥ २८ ॥ (यु० ४)

भा. प्रधानकर्मण इव चाभिधानं भवति द्वितीयासंयोगेन,—प्रवर्गं शंसतीति निष्केवल्यं शंसतीति ॥ (यु० ४) ॥

स फलनिर्दृष्टिश्च ॥ २९ ॥ (यु० ५)

भा. फलनिर्दृष्टिदर्शनं च भवति,—स्तुतस्य स्तुतमसीत्येवमादि,
'इन्द्रवती मनेमहि भक्षीमहि प्रजामिषं सा मे सत्याशीर्दधस्य भूयात्'—इति स्तोत्रफलमनूद्यते, न देवतायाः; तस्मात्प्रधान-
कर्मणी स्तोत्रशब्दे ॥ अन्यच्च सूत्रवद् प्रयोजनं, दशमः अध्याये
यद्वाणां देवतान्यत्वे स्तुतशब्दयोः प्रधानकर्मत्वादधिकारः
स्यात् ॥ (२।१।५ अ०) ॥

अथ मवाविधायकत्वाधिकरणम् ।

स. विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्दात् ॥ ३० ॥ (पू०)

भा. इदं समाग्नयते,—'न ता नशन्ति, न दभाति, तत्करो
नासाम् आ मिषोयधिरथा दधर्षति । देवांस्य याभिर्यजते,
ददाति च ज्योम् इत्ताभिः स च ते गोपतिः सह'—इति; यजते
ददातीत्युदाहरणम्, किं यद्वाङ्मणे भावशब्दो विधायकस्तदत्र
मन्त्रेऽपि, उत मन्त्रेऽभिधायकः?—इति । किं तावत्प्राप्तम्,—विधौ
मन्त्रे चाग्नयमानस्य भावशब्दस्य एक एवार्थः स्यात्, ऐक-

शब्दात्, स एवायमेकः शब्दो ब्राह्मणगतो विधास्यति, मन्त्रगतो न शक्नोति विधातुमित्यनुपपन्नं, तस्मात् विधायकः ॥ (पू०) ॥

सू. अपि वा प्रयोगसामर्थ्यात् मन्त्रोऽभिधानवाची
स्यात् ॥ ३१ ॥ (सि०)

भा. अपि वा—इति पक्षो व्यावर्तयते, एवंजातीयको मन्त्रो अभि-
धानवचनः स्यात्, प्रयोगसामर्थ्यात्, प्रयोगे क्रियमाणे अस्य
सामर्थ्यं विद्यते, गोदानं गोयागश्च प्रत्याययितुम्, न विधातुम् ।
कुत ? विहितत्वात् गोदानस्य दक्षिणाविधाने, गोयागस्य
त्वनुबन्धशायां । कर्मान्तरं भविष्यति—इति चेत् । न, असह-
दप्युच्यमाने . तत्प्रत्ययादेव । स्तुत्यर्थकल्पनायामप्यानर्थक्यं,
परिसमाप्तेन सार्धवादकेन वाक्येन विहितत्वात् यागस्य ।
तस्मान्न मन्त्रगतो भावशब्द एवंजातीयको विधायकः—इति ॥
(२।१।६ अ०) ॥

अथ मन्त्रनिर्वचनाधिकारणम् ।

सू. तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥ ३२ ॥

भा. मन्त्रगतो भावशब्दो विधायको न—इति परीक्षितं । कोऽयं
मन्त्रो नाम ?—इति उच्यते । (अज्ञाते मन्त्रे तद्गतो भावशब्दः
कथं विचारितः ?—इति, इदमर्थतोऽधिकारणम् पूर्वं द्रष्टव्यं ।)
कथं लक्षणो मन्त्रः ?—इति, तच्चोदकेषु मन्त्राख्या, अभिधानस्य
चोदकेष्वेवंजातीयकैस्त्वभियुक्ता उपदिशन्ति,—मन्त्रानधीमहे,
मन्त्रानध्यामयामः, मन्त्रा वर्तन्ते—इति । प्रायिकमिदं लक्षणं,
अनभिधायका अपि केचित् मन्त्रा इत्युच्यन्त, यथा 'वसन्ताय
कपिञ्जलानालभते'—इति, न शक्यं पृष्ठाकोटेन तत्र तच्चोप-
देष्टुमिति लक्षणमुक्तम्, [“षट्पयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति

पृथक् । लक्षणेन तु सिद्धानामन्त यान्ति विपश्चित्”]। उदाहरणम्,—‘मैधोमि’—इत्येवमादयोभ्यन्ता, ‘इये त्वा’—इत्येवमादयस्त्वान्ता, ‘आयुर्दा असि’—इत्याशी, ‘अग्निर्मुहं’—इति स्तुति, सङ्ख्या ‘एको मम’—इति, प्रखण्डित ‘अचो ते इन्द्रपिङ्गले दुलेरिव’—इति, परिवेदन ‘अग्ने अम्बिके’—इति प्रप ‘अग्नीदग्नीन’—इति, अन्वेषण ‘कोमसि कतमो सि’—इति पृष्ठ ‘पृष्ठामि त्वा’—इति आख्यान ‘इय वेदि’—इति अनुपङ्ग ‘अच्छिद्रेण पवित्रेण’—इति, प्रयोग ‘चैस्वर्यं चातुस्वर्यं च’, सामर्थ्यमभिधानम्, तच्चैतद्वृत्तिकारेणोदाहरणोपदेशे नाध्यातम । एतदपि प्रायिकमेव, असिमधा अपि च मदा भवन्ति—‘इन्द्रायासि वन्द्यस्य वाजिन्’—इति, त्वामवाह ‘तत्त्वा यामि’—इति । आशीर्वादाणमपि, ‘सोमकामयत मत्रा घृजेय’—इति, स्तुतिरपि ‘वायुर्वै क्षेमिष्ठा देवता’—इति प्रलापो ‘नचेतद्विभो यदि वाङ्मणा वा सोमवाङ्मणा सो वा’—इति, परिदेवनम् ‘ये मामधुक्षन्त ते मां प्रत्यमुक्षन्त’—इति, प्रप ‘अमुत सोममाहर’—इति, अन्वेषणम् ‘इह वा स इह वा’—इति, प्रश्न ‘वेद कर्णवर्तो हर्मिन्’—इति प्रतिवचनम् ‘विभो वा’—इति, अनुपङ्ग ‘हृदयस्यायेव हृत्पथ जिह्वाया अय वक्षसि’—इति, प्रयोग ‘चैस्वर्यं चातुस्वर्यं च’—इति, सामर्थ्यं ‘सुवेण अवद्यति द्रवेयु’—इति ॥ लक्षणकर्मणि प्रयोजनं प्रसिद्धत्वात् न वक्तव्य, लघीयसी प्रतिपत्तिर्लक्षणेन ‘आक्षेपेण्यपवादेषु प्राप्तराम लक्षणकर्मणि । प्रयोजनं न वक्तव्य यद्य हत्वा प्रवर्तते, आक्षेपेषु पूर्वाधिकरणस्य प्रयोजनं अपवादेषु उत्सर्गस्य, प्राप्तरामुत्तरवियक्षा, हत्वाचिन्ताया पूर्वाधिकरणस्य प्रयोजनम् । अस्ति वेदे मन्त्रशब्दो यस्याद्यमर्थं गरीक्षित, ‘अक्षेभुध्नियमख मे गोषाय यमृषयगयोविदा विदुश्च सामानि यजूर्पि’—इति ॥ (२।१।७ अ०) ॥

अथ ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणम् ॥

छ. शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥ ३३ ॥

भा. अथ किलक्षणम् ब्राह्मणम् ? । मन्वाद्य ब्राह्मणश्च वेदः, तत्र मन्त्रलक्षणे उक्ते परिशेषसिद्धत्वात् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयं, मन्त्रलक्षणवचनेनैव सिद्धम्,—यस्यैतल्लक्षणं न भवति, तद्ब्राह्मणम्—इति परिशेषसिद्धं ब्राह्मणम् । वृत्तिकारस्तु शिष्यहितार्थं प्रपञ्चितवान्—इतिकरणवज्जलं, इत्याहोपनिबद्धं, आख्यायिकास्वरूपं, हेतुः (‘सूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते’—इति), निर्वचनं, (‘तत् दध्नी दधित्वं’), निन्दा (‘उपवीता वा एतस्याग्रयः’), प्रशंसा (‘वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता’—इति), संशयः (‘होतव्यं गार्हपत्ये न होतव्यम्’—इति), विधिः (‘यजमानसम्मिता उदम्वरी भवति’), परह्यतिः (माघानेव मघं पचति—इति), पुराकल्पः (उल्मुकैर्हस्तं पूर्वं समाजग्मुः’—इति), व्यवधारणकल्पना (‘यावतोऽश्वान् प्रतिगृहीयात्’—इति); [“हेतुनिर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः । परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना । उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु । एतैः सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्”] । एतदपि प्रायिकम्,—इतिकरणवज्जलो मन्वोऽपि कश्चित्,—‘इति वा इति मे मनः’, इत्याहोपनिबद्धश्च, भगं भक्षीत्याह, आख्यायिकास्वरूपश्च ‘उयो ह भुज्यम्’—इति, हेतुः ‘इदं वो वामुशन्ति हि’, निर्वचनं ‘तस्मादापोनुस्यना’ इति, निन्दा ‘भोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः’—इति, प्रशंसा ‘अग्निर्मूर्द्धा’—इति, संशयः—अधःखिदासीदुपरिखिदासीत् इति, विधिः—‘पृणीयादिन्नाधमानाय’—इति, परह्यतिः—‘सहस्रमयुताददत्’, पुराकल्पः—‘यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः’—इति ॥ (१ । २ । ८ अ०) ॥

ऊचाद्यमन्त्रताधिकारणम् ।

स अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः ॥ ३४ ॥

भा ऊहप्रवरनामधेयेषु संशयः,—मन्त्राः उत न?—इति; अभि-
धायकत्वान्मन्त्राः—इति प्राप्ते भ्रूमः,—अनाम्नातेषु मन्त्रत्वं न
स्यादभिधायकेष्वपि, नाभिधायकत्वं मन्त्रत्वे हेतुः, किं तर्हि
अभियुक्तप्रयोगः, ये अभियुक्तैर्मन्त्राः—इति नोच्यन्ते, न ते
मन्त्राः, नचैवमादायो मन्त्रसमाग्न्याये सन्ति, तस्मात् अमन्त्राः॥
प्रयोजन,—मन्त्रे दुष्टे यत् प्रायश्चित्तममन्त्रेषु तत्र ॥ (२।१।
८ अ०) ॥

ऋग्लक्षणाधिकारणम् ।

स. तेषामृग्यचार्थवशेन पादव्यवस्था ॥ ३५ ॥

भा. ऋच इत्यस्ति वेदे,—‘अहेबुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृष्य
स्योविदा विदुः ऋचो यजूंषि सामानि’—इति । कथंलक्षणा
ऋचः ? । ‘तेषामृग्यचार्थवशेन पादव्यवस्था’, यत्र पादहता
व्यवस्था स मन्त्र ऋग्रामा, यथा ‘अग्निमीले—इति, एवंजातो
यकेषु मन्त्रेषु अभियुक्ता उपदिशन्ति, ऋचोऽधोमन्त्रे, ऋचोऽधो-
पयामः, ऋचो वसन्ते—इति । यद्यर्थवशेन—इत्युच्यते, यत्र
वृत्तवशेन तत्र न प्राप्नोति, ‘अग्निः पूर्वभिर्हविभिः’—इति,
यतो न ‘अर्थवशेन’—इति वृत्तादिवशव्यावृत्त्यर्थं, किं तर्हि
अनुवाद एष प्रदर्शनार्थः; अवश्यमेतदेवं विज्ञेयं, वृत्तादि
निवृत्तार्थे सति वाक्यं भिद्येत । तस्मात् यत्र पादहता व्यवस्था,
सा ऋगिति ॥ (२।१।१० अ०) ॥

सामलक्षणाधिकरणम् ॥

सू. गीतिषु सामाख्या ॥ ३६ ॥

भा. अथ साम्नः किं लक्षणं? विशिष्टा काचिद्गीतिः सामेत्युच्यते, प्रगीते हि मन्त्रवाक्ये सामशब्दमभियुक्ता उपदिशन्ति,—सामान्यधीमहि, सामान्यथापयामः, सामानि वर्तन्ते—इति, अभियुक्तोपदेशश्च नः प्रमाणं; यथा अन्नं दधि, मधुरो गुडः—इति, गीतिविशिष्टे तावन्मन्त्रे गीतिशब्दः, गीतिसंबन्धान्मन्त्रे संप्रत्ययः—इत्यवगन्तव्यम् ॥ (२।१।११ अ०) ॥

यजुर्लक्षणाधिकरणम् ॥

सू. शेषे यजुःशब्दः ॥ ३७ ॥

भा. अथ यजुषः किं लक्षणम्?—इति । यजुषो लक्षणं न वक्तव्यं, षट्गुलक्षणसामलक्षणाभ्यामेव यजुर्विज्ञास्यते वैपरीत्येन, या न गीतिर्न च पादबद्धं, तत् प्रसिष्टपठितं यजुः—इति ॥ (२।१।१२ अ०) ॥

निगदानां यजुस्त्वाधिकरणम् ॥

अथ निगदो नाम किं यजूंषि उत यजुषोऽन्यः?—इति,

सू. निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ॥ ३८ ॥ (पू०)

भा. निगदाः* न यजूंषि । कुतः? धर्मविशेषात्, 'उच्चैः षट्चा प्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा, उच्चैर्निगदेन'—इत्येष धर्मविशेषः, उच्चैर्निगदेन—इत्यनूयते, यदि यजुषो निगदत्वं

भा. स्यात्, न च तस्योच्चैस्त्वं धर्मा दृश्येत! दृश्यते तु; तस्माच्चतुर्थे
मन्त्रजातं निगदो नाम ॥ (पू०) ॥

स व्यपदेशाच्च ॥ ३८ ॥ (यु०)

भा. धर्मदेशीमपि भवति,—यजुंषि वर्तन्ते, न निगदाः; निगदा
वर्तन्ते, न यजुंषि- इति; तस्मादपि मन्त्रान्तरम् ॥ (यु०) ॥

स. यजुंषि वा तद्रूपत्वात् ॥ ४० ॥ (सि०)

भा. यजुंष्येव वा निगदाः। कुतः?। 'तद्रूपत्वात्', तदेवैषां
रूपं, यत् यजुषां मस्तिष्पठः, ऋक्सामलक्षणविलक्षणता च ॥
(सि०) ॥

स. वचनाद्धर्मविशेषः ॥ ४१ ॥ (उप०)

भा. 'वचनात्' प्रत्यायनसामर्थ्यात्, अस्ति हि पुरुषान्तरप्रत्याय-
नसामर्थ्ये केपाञ्चित् यजुषाम् ॥ (उप०) ॥

स. अर्थाच्च ॥ ४२ ॥ (यु० १)

भा. अस्ति च तेः पुरुषान्तरैः प्रत्यायितेः प्रयोजनं, नोपांशुचार्य
माणाः पुरुषान्तरं प्रत्याययेयुः; तस्मात् धर्मविशेषोर्ध्वान्;
यानि च यजुंषि उच्चैरुच्चार्यन्ते ते निगदाः। कुतः?। निश्चन्द;
प्रकर्षस्य वक्ता, यथा प्रकर्षेण रक्तं नितरांरक्तम्—इत्युच्यते;
गदतिर्गदनार्थः पाठवचनः; एष एव हि प्रकर्षो यदुच्चैस्त्वाव
च्छिद्यत्वं। 'ननु वाचनिको गुणो यजुषामुपांशुत्वं'। नेति
ब्रूमः,—गुणो नाम स भवति, यः स्वकाये कुर्वतामुपकारे वर्तते,
न च परसंबोधनाद्यनां यजुषामुपांशुत्वं साक्षाद्ये वर्तते,
तद्वि स्वकर्मक्रियाविधातं करोति, तेन पुरुषान्तरसंबोधनार्थ-
मुच्चैस्त्वं गुणः। इतरार्थन्तु वचनं भविष्यति, इतराणि यानि

भा यजूंषि न परसम्बोधनार्थानि, तेषु उपांशुत्वं निवेद्यते ॥
(यु० १) ॥

स गुणार्थो व्यपदेशः ॥ ४३ ॥ (उप०)

भा अथ यदुक्तं व्यपदेशः—इति, स चैकत्वेऽपि गुणतो भवति,
यथा इतो ब्राह्मणा भोज्यन्ताम्, इतः परिव्राजकाः—इति,
एवमुच्चेत्त्वेन गुणेण तान्येव यजूंषि व्यपदिष्यन्त,—निगदाः—
इति ॥ (उप०) ॥

स सर्व्वेपामिति चेत् ॥ ४४ ॥ (आ०)

भा. यदि य उच्चैर्गद्यते स निगदः, षट्गपि निगदः प्राप्नोति ॥
(आ०) ॥

स न, षट्गव्यपदेशात् ॥ ४५ ॥ (नि०)

भा न षट्को निगदाः व्यपदिष्यन्ते, 'अयान्धा वे निगदा षट्चैव
यजन्ति'—इति पृथक्कनिमित्ता हि व्यपदेशा भवन्ति । 'उचरते,
व्यपदेशो लिङ्गं, प्राप्तिरुचरताम्'—इति । अपादबद्धे गदति-
रुचरते, अपादबद्धो हि गद्य—इत्युचरते ॥ (नि०) (२।१।
१२ अ०) ॥

एकवाक्यत्वसंक्षयाधिकारयम् ।

स अर्थैकत्वादेक वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात् ॥ ४६ ॥

भा अथ प्रसिष्टपठितेषु यजुःषु कथमवगम्येत इयदेकं यजु-
रिति ? । यावता पदसमूहेनैज्यते, तावान् पदसमूहः एव
यजुः । कियता चेज्यते ? । यावता क्रियाया उपकारः प्रकाशयते
तावत् वाक्यत्वात् वाक्यम्—इत्युचरते, तेनाभिधीयते,

भा. 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्'—इति, एतस्माच्चेत् कारणादेकवाक्यता भवति; तस्मादेकार्थः पदसमूहो वाक्यं, यदि च विभज्यमानं साकाङ्क्षं पदं भवति। किं उदाहरणम्?। 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे'—इति। 'ननु पदं पदमर्थैकार्थम्'। सत्यं, ननु तद्विभागे साकाङ्क्षं। 'न तच्चैकत्वमुपपद्यते! वज्रत्वात्पदादीनाम्, पदसमुदायस्य च पृथगर्थो नास्ति—इत्युक्तम् (१।१।२४ एवं २५ सू०)। भेदः संसर्गो वा वाक्यार्थः—इति यदुच्यते, तथाप्येकार्थता न स्यात्, वज्रपदे भेदानां संसर्गाणां च वज्रत्वात्। एकप्रयोजनत्वादुपपन्नम्, यथा तावत् 'देवस्य त्वा'—इति निर्वापप्रकाशनं, तस्य विशिष्टस्य वाचक एतावान् पदसमूहः, तत् वाक्यम्। 'नन्यत्र 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे निर्वापामि'—इत्येकं वाक्यं, 'अश्विनो बाजस्यं निर्वापामि'—इत्यपरम्, एवं बह्वनि वाक्यानि'। यदि निर्वापामि—इत्यनुपज्ञः, ततो बह्वनि वाक्यानि, न त्वेवमनुपज्ञो भवति, यदि गुणभूतो निर्वापामीति, तदा प्रतिप्रधानं भिद्येत! न च निर्वापो देवस्य त्वेत्येवमादीनामर्थेनोच्यते, साधनप्राधान्ये हि अदृष्टार्थता वचनस्य स्यात्। निर्वापे पुनः प्रधाने दृष्टं कार्यं निर्वापप्रकाशनं, तत् सर्वैर्विशेष्येर्विशिष्टमुच्यते; तस्मात् अविरोधः। यथा च पदं पदेन विशेष्यते तथोक्तं (१।१।२५ सू०) तद्भूतानामिति : तस्मादेकं वाक्यम्।

अथ किमर्थमुभयं सूचितम्,—अर्थैकत्वात्—इति च विभागे साकाङ्क्षत्वात्—इति च, उच्यते,—भवति किञ्चिदेकार्थं, न तु विभागे साकाङ्क्षं, यथा 'भगो वां विभजतु, अर्यमा* वां विभजतु'—इति एकार्थाः सर्वे विभागमभिदधति। 'ननु भगविशिष्टाद्विभागादर्थमविशिष्टोऽन्यो विभागः'। न—इत्युच्यते,

भा.—विभागसामान्येनास्य प्रयोजनं, न विशेषेण, सामान्ये हि दृष्टोर्था भवति, न विशेषे, विभागे तु न साकाङ्क्षम्; तस्माद्विन्नमिदं वाक्यं विभागे विकल्प्यते । तथा 'स्योनं ते सदनं क्षणोमि घृतस्य धारया सुसेवं कल्पयामि; तस्मिन् सीदाम्बते प्रतितिष्ठ व्रीहोणां मेधः समनस्यमानः'—इति विभागे साकाङ्क्षं, हे तु प्रयोजने क्रियते,—सदनकरणं पुरोडाशप्रतिष्ठापनञ्च । तस्मात् भिन्ने वाक्ये, पूर्वं सदनकरणे विनियुज्यते, उत्तरं पुरोडाशप्रतिष्ठापने; तस्मात्सम्यक् सूचितं, न सूत्रोपासम्भो भवति ॥ (२ । १ । १४ अ०) ॥

वाक्यभेदाधिकरणम् ।

स. समेषु वाक्यभेदः स्यात् ॥ ४७ ॥

भा. 'इमे त्वा, ऊर्जे त्वा'—इति, तथा 'आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्'—इति; अत्र सन्देहः,—किमेवमादिषु भिन्नं वाक्यमुक्तमिति? । एकमिति ब्रूमः,—इमे त्वेत्येवमुक्ते न किञ्चित् दृष्टं प्रयोजनं, तथा 'ऊर्जे त्वेत्यपि च, वचनसामर्थ्याददृष्टं, तदुभाभ्यामेकं कल्पयितुं न्याय्यम्, एवमल्यीयसी अदृष्टानुमानकल्पना भविष्यति; तस्मादेकं वाक्यम् ।

एवं प्रति ब्रूमः,—'समेषु वाक्यभेदः स्यात्', समेषु परस्परा-नाकाङ्क्षेषु वाक्यं भिद्यते,—इमे त्वेत्यनेन एकोऽर्थः क्रियते, ऊर्जे त्वेत्यनेनापरः । 'ननु इदानीमेवोक्तं नात्र दृष्टोर्थः'—इति । यद्यपि प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन नोपलभ्यते, श्रुत्या तु गम्यते, 'इमे त्वा—इति हिनत्ति, ऊर्जे त्वा—इत्यनुमार्ष्टि'—इति । तथा 'आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्'—इत्यायुः-क्षुत्तरन्या प्राणकृत्तिः । 'ननु सामान्यमात्रमिदं तत् न विशेषणभेदात् भेदमर्हतीति, यथा 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि'—इति

भा निर्वप एकस्तस्य विशेयाः 'सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्वाङ्मयां
 पुण्यो हस्ताभ्याम्'—इति, न तेषां भेदान्निर्वपस्य भेदङ्ग्यते,
 एवमिह्यापि कृत्तिर्नामैकोर्ध्वः, नासावायुरादिभिर्विशेयैर्भङ्गो
 भविष्यतीति। उच्यते,—इह 'कृत्तीर्वाचयति'—इति बह्वः
 कृतयः श्रूयन्ते, तास्य वक्तव्याः, तत्रैकामायुःकृत्तिम् 'आयुर्वज्ञेन
 कल्पताम्'—इत्येष गन्धः शक्नोति वदितुं, प्राणो यज्ञेन कल्पता-
 मित्ययमपि प्राणकृत्तिमपराम्, एवन्तु सर्वे कृत्तिविशेषवचनाः,
 तच्च दृष्टं प्रयोजनं ; तस्मादनेकार्थत्वात्तत्रापि वाक्यभेदः—
 इति। 'ननु सामान्यवचनादेकत्वं यथा विभागे'। नैतदेवं,
 विभागे दृष्टार्थं सामान्यमिह न। अपिच कृत्तीर्वाचयतीति
 विहितम्, आयुर्वज्ञेन कल्पतामिति चायुःकृत्यभिधानम् अमि-
 निवर्त्यते प्रत्यक्षं, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्—इति च प्राणकृत्तेः ;
 तस्माद्वाक्यभेदः॥ (२।१।१५ अ०)॥

अनुपपत्ताधिकारस्यम् ।

स. अनुपपत्तो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् ॥ ४८ ॥

भा. 'याते अग्नेऽभ्याशया तनूर्वर्षिष्ठा गकरेष्ठा, उयं वचो अपाव-
 धीत्वेयं वचो अपावधीत्वाह्वा, याते अग्ने रजाशया, याते
 अग्ने हराशया'—इति अत्र सन्देहः,—तनूर्वर्षिष्ठेति किं सर्व-
 प्वनुयक्तव्यम्, आहोस्वित् लौकिको वाक्यशेषः कर्तव्यः?—इति।
 किं प्राप्तं?—याते अग्ने रजाशयेत्येतस्य तनूर्वर्षिष्ठेति न वाक्य-
 शेषः, न ह्ययमस्मात्परः प्रयुज्यते ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अनुपपत्तो
 वाक्यसमाप्तिः स्यात्तनूर्वर्षिष्ठेति, यदैव ह्ययं याते अग्नेऽभ्याशये-
 त्येतस्यानन्तरं, एवं याते अग्ने रजाशया, याते अग्ने हराशयेत्ये-
 तयोरपि। 'हराशयेत्येतस्य अपावहितः'—इति चेत्। तत्र,
 समुदायस्याप्यध्यानात्, अपावहितो रजाशयेति समुदायः

भा समुदायेन च वाक्यशेषस्य सम्बन्धाभावात्समुदायिभ्यां सम्बन्धः,
समुदायिसम्बन्धे च न गम्यते विशेषः ; तस्मात्सर्वत्रानुयङ्गः ।

अपि च साकाङ्क्षस्य सन्निधौ परस्तात्पुरस्ताद्वा परिपूरण-
समर्थः श्रूयमाणो वाक्यशेषो भवति । कियांस्तु कालः सन्निधि-
रिति ? उच्यते,—यावति शक्नोत्युभावप्यपेक्षितं । कश्चासौ ?
आनन्तर्यं सम्बन्धिपदव्यवायो वा, तावति हि शक्नोत्युभावप्य-
पेक्षितं, संबन्धिपदव्यवाये हि संबन्धादेव पूर्वसंस्कारो नापैति ;
यत्राप्यपरेण साकाङ्क्षेण व्यवायस्तत्राप्यस्ति संबन्धः, द्वयोरपि
हि कार्यं वक्तव्यमिति, परः पूर्वमपेक्षते, अनपेक्षमाणेभ्यतरः
प्रमादपाठः स्यात्, शक्यते चासावपेक्षितं, तस्मात् यद्येवायमेकस्य
सन्निधावेवमपरस्य, द्वयोरप्यसम्बन्धैः पदैरव्यवहितत्वात्, द्वयो-
रप्याकाङ्क्षतोरेतावच्च वाक्यशेषसंबन्धे कारणं, नानन्तर्यं, अव्यव-
धाने विच्छेदेऽपि भवति संबन्धः ; तस्मादनुयङ्गः ।

“अथेह कथं भवितव्यं ? यत्र निराकाङ्क्षाणां सन्निधौ परि-
पूरणसमर्थः श्रूयते, यथा ‘चित्पतिस्त्वा पुनातु, वाक्पतिस्त्वा
पुनातु, देवस्य त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य
रश्मिभिः’—इति, अत्र हि पुनात्वन्तानि परिपूर्णानि न
किञ्चिदाह्वयन्ति । ‘ननु अछिद्रेणेत्येतदाकाङ्क्षित्यति’ । सत्य-
माकाङ्क्षति, आकाङ्क्षदप्येतदेकमाकाङ्क्षेत, एकेनैव एतत् निरा-
काङ्क्षं संपद्यते—इति, एकेन हि निराकाङ्क्षीकृतो नेतरावा-
काङ्क्षित्यति, अनर्थकत्वादाकाङ्क्षति, एकेन च संबन्धो नानर्थको
भवति ; तस्मान्नेतरावाकाङ्क्षति—इति, इतरावपि परिपूर्ण-
त्वात् न तमाकाङ्क्षतः । ‘ननु एतस्य वाक्यशेषस्य एकमप्या-
काङ्क्षतो न गम्यते विशेषः, केन निराकाङ्क्षीक्रियते, केन वा
न ?—इति, तेनानवगम्यमाने विशेषे सर्वैः सह संभन्तस्यते’ ।
आद्य, नैतदेवं, येनास्य प्रत्यक्षमानन्तर्यमुपलभामहे तेन सह
संभन्तस्यते—इति गम्यते विशेषः, तस्मान्नेनानन्तरेण सह संभ-

भा. नृस्यते—इति नास्ति सर्वचानुषङ्गः—इति । आह,—नैतदेवं,
 —पुनातुशब्देनास्य प्रत्यक्षमानन्तर्यमुपलभामहे, पुनातुशब्द-
 स्थापि चित्पतिस्त्वेत्येवमादिभिः, एकस्यासौ पुनातुशब्दः पुनः-
 पुनरुचरितः, तेनावगच्छामः,—यत्र पुनातुशब्दः प्रयुक्तः, तत्र
 तेनैकवाक्यत्वाद्विद्वेष्टेत्ययमपि प्रयोक्तव्यः, तथा च सति चित्-
 पतिस्तथा—इत्येवमादयो विना पुनातुशब्देन, साकाङ्क्षाः, ते
 च पुनातुशब्दमाकाक्षन्ति, स च पुनातुशब्दोऽविद्वेष्टेत्यनेन
 विशिष्टः, तेन पुनातुशब्देन सानुपङ्गेण नियोगतः सर्वे निरा-
 काङ्क्षीकर्तव्याः । तस्मात्सर्वेषु तुल्यप्रयोगाः—इति वाक्यपरि-
 समाप्तिरनुपपद्यते ॥ (२।१।१६ अ०) ॥

अथेताननुषङ्गाधिकरणम् ।

ध्व व्यवयान्नानुपपद्येत ॥ ४६ ॥

भा. 'सं ते वार्युर्वातेन गच्छता, सं यजत्रैरङ्गानि, सं यज्ञपति-
 राशिषा'—इति ; वार्युर्वातेन गच्छतामित्येष सं यजत्रैरङ्गानि
 —इति वङ्गवचनान्तन व्यवहितत्वात् सं यज्ञपतिराशिषेत्यत्र
 नानुपपद्यत, एकेन साकाङ्क्षेण अथेतो गच्छतामितिशेषः, ततो
 वङ्गवचनान्तेन सं यजत्रैरङ्गानीत्येतेन सम्बन्धमनुपेत्य अथेत-
 त्वात्परेण न सम्बध्यते, गम्यते हि तदा विशेषः,—एकेन अथेतः
 —इति, गम्यमाने विशेषे न तत्र भावो वाक्यशेषस्योपपद्यते ;
 तस्माद्वङ्गवचनान्तस्य परस्य च तदप्येतस्य लौकिको वाक्यशेषः
 कर्तव्यः—इति ॥ (२।१।१७ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामि शतौ मीमांसाभाष्ये द्वितीयस्याध्यायस्य
 प्रथमः पादः ॥ उपोद्घातपादोऽयम् ॥ * * ॥

द्वितीयः पादः ॥

अद्वापूर्वभेदाधिकार्यम् ।

ॐ शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ॥ १ ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमस्तत्र श्रूयते,—सोमेन यजेत, दक्षिणानि जुहोति, हिरण्यमात्रेयाय ददाति—इति, यजति—ददाति—जुहोतयस्ते किं संहृत्य कार्यं कुर्वन्ति, उत वियुत्य?—इति संशयः, साधकाः संहृत्यापि साधयन्तो दृश्यन्ते, वियुत्यापि; संहृत्य तावत्, त्रयो ग्रावाण एकामुखां धारयन्तो दृश्यन्ते, नाग-दन्तकास्तु वियुत्यापि, एकैकस्मिन् हि शक्यते शिष्यमवलम्बयितुम्; अतो यजति—ददाति—जुहोतयः संहृत्य साधये-युर्वियुत्य वा?—इति जायते संशयः ।

किं तावत्प्राप्तं, संहृत्य—इति । कुतः? । अदृष्टार्थानामुप-कारकल्पनात्स्पीयसी न्याय्या—इति । कथं? ।

अदृष्टो योऽश्रुतो वार्थः, स नास्तीत्यवगम्यते ।

तस्मिन्नसति दृष्टयेत् श्रुतो वा न विरुध्यते ॥

विरुध्यमाने कल्प्यः स्याज्जायते तेन सोऽर्थवान् ।

विशेषश्चेन्न गम्येत, ततो नेकोऽपि कल्प्यते ॥

गम्यते, च विशेषः,—वज्रस्य एकमपूर्वम्—इति; तस्मात् समुदायशिकीर्षितः, ततो ह्यदृष्टे कल्प्यमाने, अवयवानां समुदायं प्रति अर्थवत्त्वादेकमपूर्वं समुदायात् कल्पितम् भविष्यति । न च, अशब्दः समुदायः, अवयवशब्देरेव समुदायस्योक्तत्वात् । तस्मात् समुदायशिकीर्षितः । अथ वा, यजेतेत्येतस्य पूर्वा भागो

* अथ, हिरण्यमात्रेयाय ददाति, दक्षिणानि जुहोति—इति क्रमेण पाठो युक्तः ।

भा- यजत्यर्थं ब्रवीति, उत्तरो भावयेत्—इति, तथा ददाति—इति
पूर्वा भागो ददात्यर्थम्, उत्तरस्तमेव (भावयेत्—इति) अनु-
वदति, एवं जुहोति—इति पूर्वा भागो जुहोत्यर्थम्, उत्तरस्त-
मेवानुवदति, तेनैकस्यां भावनायां त्रयो यजत्यादय उपाया
विधीयन्ते श्रुत्या । तस्मादेतैर्यागदानहोमैर्विशिष्टा पूर्वस्य भावना
प्रतीयते, अत उच्यते,—संक्षत्येकमपूर्वं साधयन्ति—इति । यदा
यजतिशब्देन विहितम् दानं दानहोमशब्देनानूद्यते गुण-
सम्बन्धार्थम्, तस्मादेकमपूर्वमिति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—प्रतिशब्दं अपूर्वभेदः—इति, 'शब्दान्तरे
कर्मभेदः हतानुबन्धत्वात्', यजेतेत्यनेन केवलस्य यागस्य कर्तव्य
तोच्यते, न तु 'जुहोतिशब्दाभिहितस्य ददातिशब्दाभिहितस्य
वा, शब्दान्तरत्वात् ; प्रयोगवाक्यशेषभावेन हि समुदायस्य
सत्तासम्बन्धो गम्यते, श्रुत्या अवयवस्य, यजेत—इति सन्निहित
योरपि वाक्येन दानहोमयोः, श्रुत्या यागस्येय सत्तासम्बन्धो
गम्यते, न दानहोमयोः ; श्रुतिश्च वाक्याद्वलीयसी । तस्माच्च
समुदायः शब्दः, कल्प्यमानो हि प्रयोगवचनेन एकवाक्यताम्
नीत्वा कल्प्येत, शब्दान्तरश्च यजेतर्ददातिः ; तच्च यद्यपि परो
भागो भावनावचनः सर्वेषु समानः, तथाप्येकेकस्य पूर्वोऽवयवो-
भ्यः, अन्यश्च तेन समुदायः शब्दान्तरम् अन्यस्मात् समुदायात्,
तच्चार्यान्तरं व्यक्तम्, दद्यात्—इति (दानेन साधयेत्—इति)
केषन्मेव दानं करणं भावनायाः प्रतीयते, न यागहोमौ
सहायोऽपेक्षते । तथा जुहोति—इति होमसाधनां भावना-
माह, न दानयागापेक्षते । तच्चार्याच्छब्देनायगतं,—दानेन
केयष्टेन सिध्यति—इति जुहोतीत्यपि होमेन केयष्टेन सिध्य-
तीति, न तु दानेन केवलेन सिध्यतीति विज्ञानं निबन्धते ।
ददातिर्हि रथेन कारकपामेण हतानुबन्धो न यागं होमं वा
अनुबन्धमपेक्षते । तस्माद्विधानि वाक्यानि, प्रतिशब्दमपूर्वभेदः

भा—इति। न च दानस्य यजतिजहोतिर्वाभ्यनुवादो याग-
होमयोरविवक्षाप्रसङ्गात्। न च दानमितरयोरनुवादः, परस्व-
त्वार्थत्वात् ददातेः, इतरयोश्च त्यागार्थत्वात्। प्रयोजनं
पूर्वपक्षे समुदायादपूर्वं, सिद्धान्ते तु यागस्य फलवत्त्वादिरयो-
गुणभावः ॥ (२।२।१ अ०) ॥

समिदाद्यपूर्वभेदाधिकारणम् ॥

स एकस्यैवं पुनःश्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ॥ २ ॥

भा. 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति'—इत्येवमादिः पञ्च-
होतवोभ्यस्तो यजतिशब्दः किमेकमपूर्वञ्चोदयति, किं प्रत्यभ्या-
समपूर्वभेदः?—इति। शब्दान्तरे कर्मभेद उक्तः, इह स एव
शब्दः पुनःपुनरुच्चार्यते; तस्मादेकमेव अत्रापूर्वम्। ननु
'अपूर्वान्तरमविद्धदनर्थको भवति'। सत्यमेवाप्रयोजनो भवति,
यजहोत्वोऽपि चोच्चार्यमाणो नान्यार्थो भवति, यत्प्रथमे उच्चारणे
गम्यते, शततमेऽपि तदेव गम्यते। तस्मात् पञ्चहोतवोभ्यस्तो
यजतिशब्द एकमपूर्वं चोदयति। न चाभ्यासोऽनर्थको भविष्यति,
तनूनपादादीर्ह्येवता विधास्यति, तस्मादेकमपूर्वम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'एकस्यैवं पुनःश्रुतिः' 'स्यात्,' कर्मभेदं
कुर्यादित्यर्थः। तावत्येव विधीयमानेऽसति कस्मिंश्चिद्विशेषे
पुनःश्रुतिरनर्थिका भवेत्। 'ननूक्तं न शक्नोत्यर्थान्तरम् विधातुम्'
—इति। उच्यते,—समिधो यजति—इत्यपि प्रथमोऽनुवाद एव,
दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत—इति यागः प्राप्त एव; तत्र देवता
न शक्या विधातुम्, श्रुतिप्राप्ता हि तत्र देवता, इयं वाक्यात्प्र-
करणाद्वा, तयोर्विकल्पो न न्याय्यः, स एव देवतायागस्य

भा. विधीयमानः श्रुतियमाणे यागे न शक्यः कर्तुमित्यनर्थकः स्यात् ।
 क्रियमाणे तु शक्यते । तस्मादभ्यसितव्यो यागः, प्रत्यभ्यासश्चा-
 दृष्टभेदः—इति, न च यत् समित्सम्बन्धेन क्रियते, तत् तन्
 अपात्सम्बन्धेन, भिन्नत्वात् तयोः, अतो न विकल्पः । प्रयोजनं
 पूर्वपक्षे सहस्रप्रयोगः—इति, सिद्धान्ते पुनःपुनःप्रयोग इति ॥
 (२।२।२ अ०) ॥

आधाराद्यग्नेयादीनामङ्गाङ्गिभावाधिकरणम् ।

ख. प्रकरणन्तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ॥ ३ ॥ (सि०)

भा. एवं हि समामनन्ति,—‘यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽभावास्यायां
 पौर्णमास्याश्चाचुरतो भवति, तावद्ग्रतामग्नीषोमावाज्जस्रैव तौ
 उपान्तु पौर्णमास्यां यजन्निति, ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादश
 कपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्, ऐन्द्रं दध्यभावास्यायाम् ऐन्द्रं ष्यो
 भावास्यायाम्’—इति । तथा ‘आधारमाधारयति, आन्धभागौ
 यजति, श्विष्टकृते समवद्यति, पक्षीसंयाजान् यजति; समिह
 यजुजुहोति’ । तथा ‘य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं
 विद्वानभावास्यां यजते’—इति । तत्र सन्देहः,—सर्वाण्येतानि
 समप्रधानानि, उत आग्नेयादीनि पयोक्तानि प्रधानानि,
 आधारादीनि आरादुपकारकाण्यङ्गानि ? । तथा, य एवं
 विद्वानित्येवंसंयुक्तौ प्रहृतानां कर्मणामनुषदितारी, अथ वा ‘य
 एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वानभावास्यां यजते’—
 इत्यपूर्वयोः कर्मणोर्विधातारौ, तत्र इतरे गुणविधयः ?—इति ।

किं मातृम्,—शब्दान्तरत्वाद्भ्यासाच्च समप्रधानानि—इति
 प्राप्ते भूमः,—‘प्रकरणन्तु पौर्णमास्यां, प्रहृतानामाग्नेयादीनामनु-
 षदितारी पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तौ । कुतः ? । ‘रूपावचनात्,
 य एवं विद्वान् पौर्णमासीं संश्रुतं यागं यजते—इति न सर्वं यागं

भा उच्यन्ते, यः पौर्णमासीसंज्ञकः स विधीयते, नचैतदेवमवगच्छामः,
 —कीदृशमेवंसंज्ञकस्य यागस्य रूपम्—इति, ते न किञ्चित्
 प्रतिपद्येमहि, अतो ब्रूमः,—यद्यपूर्वस्य विधातारौ अनर्थकौ
 —इति; अयं नु प्रकृतानामनुवदितारौ, ततः सन्निहिताः
 पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्ता यागाः—इति गम्यते रूपम्, तच्चा-
 र्यवत्ता वचनस्य । ‘कथं पुनरेकवचनान्तो बहूनां वाचको
 भविष्यति?—इति यदि उच्यते’ । समुदायशब्दतयाऽवकल्पि-
 यते, रूपवन्तो हि पूर्वप्रकृता यागाः, तेषां च प्रचयशिष्टः
 समुदायोऽप्यस्ति तदपेक्षोऽयमरूपशब्दः, तस्मादेकवचनान्तता
 न दोषः, भवति हि बहूनामेकवचनान्तः शब्दः समुदायापेक्षः,
 यथा, यूथं वनं कुलं परिपत्—इति । यदा आग्नेयादीनां
 समुदायवचनावेतौ, तदा दर्शपौर्णमासशब्देन एते एव अभि-
 धीयन्ते ; तत एषा फलसम्बन्धः, फलवत्सन्निधेस्तु आधारादीनि
 आरादुपकारकाणि—इति ॥

स विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां* समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात्
 ॥ ४ ॥ (यु०१).

भा यदि च सर्वाणि समप्रधानानि अभविष्यन्, न विज्ञातौ
 प्रयाजा दृश्यन्ताम् । दृश्यन्ते तु,—‘प्रयाजे प्रयाजे दृग्गुणं
 जुहोति’—इति, असत्याग्नेयगुणत्वे प्रयाजस्य तन्नोपपद्यते ।
 अतो न सर्वाणि समप्रधानानि ॥

स गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ॥ ५ ॥ (पू०)

भा नेतदस्ति,—पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तौ समुदायशब्दौ—
 इति, किन्तु अपूर्वयोः कर्मणोर्विधातारौ, तथा न लक्षणशब्दो

भा भविष्यति। 'ननु रूपं नास्ति'। वाक्यान्तरेण रूपमवगमिष्यामः;
 पौर्णमास्यामाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति—इति यदेतत् पौर्णमासी
 नाम कर्म, तस्य एतद्रूपम्,—अग्निर्देवता, पुरोडाशो द्रव्यमिति।
 अत आग्नेयादिभिर्गुणै विधीयते—इति ॥

६. चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते हि तदर्थ-
 त्वात्तस्य तस्योपदिश्येत ॥ ६ ॥ (३०)

भा कर्मचोदना वा आग्नेयादयः स्युः। कुतः? गुणानां युगप-
 छासनात्, एकेनेव वाक्येनाचानेको गुणो विधातुमिष्यते भवता,
 न च, शब्दान्तरेण चोदिते कर्मणि अनेको गुणः (परस्परसम्बन्धे
 च अस्मति) शक्यते विधातुम्।। कथं? यदि तावत् पौर्णमास्याम्
 अष्टाकपालो भवति—इति सम्बन्धो विवक्षितः, न तदाप्यनर्थो
 अष्टाकपालः सतया अभिसम्बध्यते—इति, कस्तर्हि अष्टाकपालः
 पौर्णमास्याभिसम्बध्यते—इति? तेन तदा भवतिर्वर्जते, तदा
 नोमाग्नेय—इत्ययमस्यानिकादप्युपनिपतितो भवतिसम्बन्धो
 भावात् नानेन सम्बन्धमर्हति,—अष्टाकपाल आग्नेयो भवति
 —इति। 'अथाग्नेयः पौर्णमास्या भवति'—इति विवक्ष्यते।
 तदाग्नेयपुरोडाशयोरसम्बन्ध एव स्यात्। 'अथ पौर्णमास्या-
 मष्टाकपालस्याग्नेयता विधीयते'। वक्तव्यं,—केन तस्यामष्टा-
 कपालो विहितः?—इति। 'अथ तस्यामाग्नेयस्याष्टाकपालता'।
 तथापि एष दोषः। 'अथ पौर्णमासीति उभाभ्यां सम्बध्यते'।
 परस्परेण द्रव्यदेवतयोरसम्बन्ध एव स्यात्। अथ 'द्रव्यदेवते
 परस्परेण विशिष्टे सत्यौ पौर्णमास्या सम्बधेयाताम्'—इत्यु-
 च्यते। 'आग्नेयोऽष्टाकपालो यः, स पौर्णमास्या भवति—इति,
 तस्य अप्रसिद्धत्वादेतदप्ययुक्तम्। 'अथ केनचिदग्नये सहस्रित-
 पौर्णमास्या विधीयते'। तथापि देयताया अविधानाद्रूपमाभा-
 एव। 'अथाग्निर्देवता भविष्यति,—इति कश्चित् वयात्'। स

भा वक्तव्यः,—मिथश्चानर्थसम्बन्धः—इति, न हि आग्नेयशब्दोऽनु-
 वादो विधिश्च भवति—इति । ‘कल्पयिष्यामी देवताम्—इति
 चेत्’ । न, असति विधाने देवताया अभावान्, सम्बन्धिशब्दो
 ऽयं देवता—इति स एवाग्निरष्टाकपालस्य देवता, नाज्यस्य ।
 तस्मादवश्यमाग्नेयाष्टाकपालसम्बन्धो विधातव्यः, स एष यागो
 भवति—इति, तेन पौर्णमासीयागस्यापरो यागः सम्बन्धो
 विधीयते, न द्रव्य देवता वा, न च यागस्य यागान्तरं रूपं
 भवति; अतो रूपावचनात् पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तौ ना-
 पूर्वयोः कर्मणोर्विधातारौ । यत्तु उक्तम्,—‘पौर्णमास्यमावास्या-
 शब्दौ लक्षण्या प्रकृतान् यागाननुवदितुं शक्नुतो नाङ्गस्येन’
 —इति । नैष दोषः, यदा आङ्गस्येन शब्दार्था नावकल्पते,
 तदा लक्षण्यापि कल्प्यमानः साधुर्भवति, यथा, अग्नौ तिष्ठति,
 अघटे तिष्ठति, (अग्निसमीपे अवटसमीपे तिष्ठति—इति) भवति
 संव्यवहारः, लक्षणापि हि लौकिकेव—इति ॥

स व्यपदेशश्च तद्वत् ॥ ७ ॥ यु० १)

भा ‘उयाणि ह वा एतानि हवीषि अमावास्याया सम्भ्रियन्ते,
 आग्नेयं प्रथममेन्द्रे उत्तरे’—इति समुच्चयं दर्शयति, आग्नेयादीनां
 गुणत्वं विकल्पः स्यात् ! तत्राग्नेयं प्रथमम्, ऐन्द्रे उत्तरे द्वे—इति
 व्यपदेशो नावकल्पेत, विकल्पे सम्भारपौर्वापर्यानुपपत्तिः—
 इति ॥ (यु० १) ॥

स लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ८ ॥ (यु० २).

भा लिङ्गं च दृश्यते,—‘चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो ऋयन्ते,
 त्रयोदशमावास्यायाम्’—इति ॥ (२ । २ । २ अ०) ॥

उपांशुयाजापूर्वताधिकरणम् ।

ख. पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ॥ ६ ॥ (पू०)

भा 'जामि वा एतद्यज्ञस्य* क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ उपांशु-
याजमन्तरा यजति'—इति, 'विष्णुरुपांशु यष्ट्योऽजामित्वाय,
प्रजापतिरुपांशु यष्ट्योऽजामित्वाय, अग्नीषोमावुपांशु यष्ट्याव
जामित्वाय'—इति; तत्र सन्देहः,—उपांशुयाजमन्तरा यजति
—इति किं विष्वादिगुणकानां प्रकृतानां यागानां समुदायस्य
वाचकः, अथ वा अपूर्वस्य यागस्य?—इति । तत उच्यते,—
पौर्णमासीवदुपांशुयाजो भवितुमर्हति । कुतः? । नामसम्बन्धात्,
नामसम्बन्धो हि विशिष्टो यागः श्रूयते,—उपांशुयाजसंज्ञकः,
न च द्रव्यदेवते रूपं, प्रकृतान्शुपांशुगुणका यागा विद्यन्ते;
तस्मात् समुदायशब्दः—इति ।

'ननु उपांशुगुणकं यागान्तरम् उपांशुत्वेन रूपेण रूपवत्
विधीयते' । न एवंजातीयकः शब्द उपांशुविशिष्टं यागं
शङ्कोति बहुम्, उपांशुयागः—इति हि तस्य वक्ता, "चजोः
कु घिण्यतोः," (७।३।५२ सू० पा०)—इति कुत्वेन भवितव्यम्,
अद्युत्पन्नः पुनरुपांशुयाजशब्दः; तस्माच्च रूपवत् यागान्तरम् ।
अद्यापि नामसंयुक्तं यजतिसामान्यमेव, तथाप्यनुषदिष्टदेवता-
द्रव्यरूपं न यागान्तरं प्रतिपद्येमहि । 'नन्वेवं सति प्रकृता-
नामस्यवाचकः प्राप्नोति' । भा भूदुपांशुयाजशब्दः, यजतिशब्दो
भवित्यति, तथा सति उपांशुयाजशब्देऽप्यनुषादत्वादनामस्ये-
ऽपि न दोषः ॥

सू चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ॥ १० ॥ (सि०)

भा कर्मान्तरस्य वाचकः स्यात्, 'उपांशुयाजं .यजति'—इति।
 कुतः?। प्रकृतानां यागानामभावात्, न चेत्प्रकृता विद्यन्त, कस्य
 समुदायं वक्ष्यति?। 'ननु इदानीमेवोक्तं विष्णवादिगुणकाः
 प्रकृता यागा विद्यन्ते'—इति। न विद्यन्ते, न हि, ते विधयो
 'विष्णुरुपांशु यष्टयः'—इत्येवमादयः! अर्थवादा हि ते।
 कथम्?। अस्मिन् वाक्ये विध्यन्तरस्य भावात्, उपांशुयाजमन्तरा
 यजति—इति एतदेतस्मिन् वाक्ये विधीयते; यदि इमेऽपि
 विधीयेरन्, भिद्येत तर्हि वाक्यम्। अपि च, यागस्य विष्णवादी-
 नाञ्च सम्बन्धोऽव गम्यते वाक्ये, न च यागस्य विधानम्।
 'ननु च, उपांशुयाजमन्तरा यजतीत्यत्रापि अन्तरालसम्बन्धो-
 ऽवगम्यते'। वादं, स तु विधीयते उपांशुत्वादिसम्बन्धः; एकं
 हि इदं वाक्यं न अनेकं विधातुमर्हति। कथं?। 'जामि
 वा एतत् यज्ञस्य क्रियते'—इत्येवमुपक्रममेतद्वाक्यम् 'अजामि-
 त्वाय'—इत्येवमन्तम्, तस्य मध्ये समाग्नार्तं विष्णवादिवाक्यं
 तेन सम्बध्यमानं न वाक्यान्तरं भवितुमर्हति; तस्मात् 'विष्णु-
 रुपांशु यष्टयः'—इत्येवमादयो न विधयः, किं तर्हि अर्थवादाः।
 कः पुनरर्थवादः?। आग्नेयाग्नीषोमीययोर्निरन्तरं क्रियमाणयो-
 र्जामितादोष उक्तः, तं भिषजितुं, उपांशुयाजमन्तरा यजति
 —इति विहितम्। कथं तेन भिषजिष्यते?। तस्मिन्
 क्रियमाणे ज्ञायत एव, यथा विष्णुर्यष्टयः प्रजापतिरग्नीषोमी
 चेति, ततश्च व्यवधानादजामितावगम्यत एव, तेनाजामितार्थ-
 वादं वक्ष्यामि—इति विष्णवादिसम्बन्धोऽनूद्यते, न त्वन्तराल-
 सम्बन्धस्यान्यत्प्रयोजनमस्ति अतो विधानात्। कथं विष्णवादयो
 यष्टयाः—इत्येतदवगम्यते?। यष्ट्यान् अयष्ट्यान् वा विष्णवा-
 दीनुपांशुयाजाभिष्टवाय सङ्कीर्तयति—इति गम्यते।

भा तत्र केचित्तावदाहुः,—प्राप्ता एव—इति । कुतः ? । शाखान्तरे विधानात्—इति । यद्यप्यप्राप्तिः, तथाप्युपायुत्वसामान्यात् प्रजापतिर्देवता विष्णुश्चेत्यनुवादावेव, उपांशुधर्माणौ हि विष्णु प्रजापतौ, तस्मात् यत्किञ्चित् प्राजापत्यं यज्ञे क्रियते, तत् उपायैव क्रियते—इत्येवमादिसङ्गीर्तनात् मन्त्रसमाग्नानां विष्णुम् अप्राप्तमपि प्राप्तमिव वदेत् । अग्निषोमयोस्तु विधायकमुदाह्रियते,—‘एतावद्ब्रूयातामग्निषोमौ वाज्यस्यैव तावुपाशु पौर्णमास्या यजन्’—इति, तस्मात् यागान्तरम् ॥

स . गुणोपबन्धात् ॥ ११ ॥ (आ० नि०)

भा यत् उच्यते,—न ज्ञायते, कतमोऽसौ उपांशुयाजसंज्ञको यागः?—इति, यस्याय गुण उपबद्धः, उपांशु पौर्णमास्या यजन्—इति, तस्मात् न दोषः ॥

स . प्राये वचनाच्च ॥ १२ ॥ यु०)

भा प्रधानकर्मप्राये वचनं, प्रधानकर्मतामुपोद्बलयति, यथा, अथ प्राये विधितं दृष्ट्वा भवेदयमग्नयः—इति मतिः । तस्मात् न समुदायशब्दः—इति ॥ (२ । २ । ४ अ०) ॥

आधाराद्यपूर्वताधिकार्यम् ।

स . आधाराग्निहोत्रमरूपत्वात् ॥ १३ ॥ (पृ०)

भा ‘आधारमाधारयति’—इति श्रूयते, तथा इमान्यपराणि, ‘उद्गमाधारयति, मन्त्रतमाधारयति, अजुमाधारयति’—इत्येवमादि, इदञ्च ‘अग्निहोत्रं जुहोति’, तथा, ‘दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति’—इत्येषमादि । तत्र मन्देहः,—किम् उद्गमा-

भा. धारयति, दध्ना जुहोति—इत्येवमादिभिराधाराः होमाश्च विहिताः, तेषाम् 'आधारमाधारयति', 'अग्निहोत्रं जुहोति'—इत्येतौ समुदायानुवादौ, उतेतवेवापूर्वयोराधारहोमयोर्विधातारौ?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—न अपूर्वयोर्विधी इति । कुतः? । 'अरूपत्वात्',—न हि, एतयोः पूर्वभ्यो होमाधारेभ्यो विशिष्टं रूपमस्ति । यतः कर्मान्तरम् अथवसेयम्; अतः प्रकृतत्वात् प्रकृतानुवादी ॥

संज्ञोपबन्धात् ॥ १४ ॥ (पू० यु० १) .

भा. संज्ञोपबन्धश्च भवति, अग्निहोत्रं नाम होमं जुहोति—इति, आधारसंज्ञकं कर्म करोति—इति, संज्ञाविशिष्टावाधारहोमौ विधीयेते; न च विज्ञायते, कोऽसावाधारो नाम कर्मविशेषः, कथाग्निहोत्रसंज्ञकः?—इति । 'ननु विज्ञायते,—आधारणमाधारः, हवनं होमः' । यद्याधारणसामान्यम् होमसामान्यञ्च विधीयेते, विज्ञातपूर्वो तर्ह्याधारहोमौ, तेनानुवादी । अथाद्युत्पन्ना उभयोरपि संज्ञा, तथापि न आधाराग्निहोत्रसामान्यम् उच्येत, विशेषाश्रयत्वात् संज्ञायाः :: न च, स विशेषो गम्यते ।—इत्यपूर्वावाधारहोमविधी न अवकल्येते । अपि च कथं क्रिया साधनशब्देन उच्यते? ईप्सिततमं हि यत् साधनं, तत् द्वितीयान्तेन उच्यते, क्रिया तिङन्तेन । अनुवादपक्षे क्रियाणां समुदायोऽर्थान्तरम्, तत् ईप्सिततमं साधनं भविष्यति ॥

अप्रकृतत्वाच्च ॥ १५ ॥ (पू० यु० २)

भा. न च, प्रकृतमपि द्रव्यदेवतमाधारे विद्यते । येन स्यात् । तस्मादेतावपि समुदायशब्दौ—इति ॥

स. चीदना वा शब्दार्थस्य प्रयो भूतत्वात्, तत्सन्निधे
 गुणार्थेन पुनःश्रुतिः ॥ १६ ॥ (सि०)

भा नचेतदस्ति,—समुदायशब्दौ—इति, कर्मान्तरचोदने स्य.
 ताम् । कुतः ? । शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्, आधारयति,
 जुहोति—इति, होमाधारौ प्रयोक्तव्याविति शब्दार्थः, तेन
 कर्मान्तरे विधीयेते—इत्यवगच्छामः । आधाराग्रिहोत्रशब्दौ च
 हवमाधारणसामान्यवाचिनौ प्रज्ञातौ, अतो नाविज्ञातार्थौ;
 तेन रूपवन्तौ सन्तौ विधीयेते ।

यदुक्तम्, ऊर्द्धमाधारयति, दध्ना जुहोति—इत्येवमादिभि-
 विहितत्वादनुवादौ—इति । नैतदेवम्,—न चेते होमाधारौ
 विधातुं शक्नुवन्ति; ऊर्द्धमाधारयति, दध्ना जुहोति—इति च न
 एतदुक्तं भवति,—आधारः कर्तव्यः, होमः कर्तव्यः—इति, किं
 तर्हि, ऊर्द्धताधारसम्बन्धः कर्तव्यः, दधिहोमसम्बन्धः कर्तव्यः—
 इति; तस्मात् अप्राप्तत्वाच्चानुवादौ । ‘ननु सम्यग्ये विहिते
 अर्धाहोमाधारौ भविष्यतः’ । नैतदेवम्,—अस्मिन् हि सति
 विधानेन सम्बन्धः; तस्मान्नार्थादापद्येते होमाधारौ, अतोऽपूर्वौ
 विधीयेते—इति ब्रूमः ।

‘ननु आधारयति, जुहोति—इति होमाधारगतौ व्यापारः
 श्रूयते, न दध्नुर्द्धतादिसम्बन्धः’ । सत्यं न श्रूयते; ‘तत्सन्निधे
 गुणार्थेन’ व्यापारश्रवणमवकन्प्राप्यते । ‘ननु पदार्थान्तरगतं
 व्यापारश्रुतिर्न शक्नोति वदितुम्’ । सत्यमेवमेतत्, स्वपदार्थगतं
 वक्ष्यति, तन्नु स्वपदार्थं गुणशब्दो विशेषयति, स एव विशिष्टः
 प्रत्येक्ष्यते,—इति भवेदेतत्,—विशिष्यात् स्वपदार्थं गुणशब्दः,
 न त्वेष गुणगतो व्यापारः प्रतीयेत । तत्र किं भविष्यति ? ।
 अथाग्रिममाणेऽपि गुणे शब्दार्थाभ्यस्तौ भविष्यति । गुणवचन
 सन्निधिः—इदानीं किमर्थः ? । अनर्थकस्तु । कथं पुनरनर्थकी

भा. नाम वेदो भवितुमर्हति ? । सति अर्थे नानर्थकः, असति त्वर्थे किमन्यत् उच्यते । 'एवं तर्हि वाक्याद्भवित्यति, श्रुत्यर्थे सति न वाक्यार्थोऽवकल्प्यते' । सत्यमेवमेतत्, अविवक्षिते त्ववकल्प्यते । कथं अविवक्षा ? । गुणवचनस्याप्रमादपाठात्, स्वपदार्थस्य च शब्दान्तरेण विहितत्वात् । तस्मात्सिद्धं,—'गुणार्थेन' 'दध्ना जुहोति'—इत्येवमादीनां 'पुनःश्रुतिः' । जुहोतिस्त्वारणं च अनुवादो गुणसम्बन्धार्थः । 'यदि जुहोति—इत्यनुवादः, केनेदानीं गुणो विधीयते ?' । दधिशब्देनेति मा वीचत* । 'ननु इदानीमेव वाक्यात् गुणव्यापारो गम्यते—इत्युक्तम्' । सत्यमेवमेतत्, अविधीयमानस्तु कुतो गम्यते ?—इति; प्रमाण-मस्य नावगम्येत ! असति प्रमाणे व्यामोहः स्यात् ! एवं तर्हि विधायकौ जुहोत्याधारयतिशब्दौ । कस्य तर्ध्वनुवादः ? । धात्वर्थस्य—इति ब्रूमः ।

यदि विधायकौ, पूर्वमेव विहिते स्वार्थे, किमर्थं पुनरुच्चार्यते ? । वाक्यार्थो यस्तं विधातुमित्यदोषः ; तस्मात् कर्मान्तरचोदने । यदुक्तं,—नास्त्याधारे प्रकृतं द्रव्यदेवतमिति । किमेवं सति द्रव्य-देवतेन, यदा प्रसिद्धार्थाभिधानान्निर्ज्ञातमेवास्य रूपम् । अपि च, चतुर्गृहीतं वा एतदभूतस्याधारमाधार्येति आन्ध्रमस्य द्रव्यं, मात्रवर्णिको देवताविधिः,—'इन्द्रं जह्वाध्वरो दिवि स्पृशतु महतो यज्ञो यज्ञपते इन्द्रवान् स्वाहेत्याधारमाधारयति'—इति, एवमसाविन्द्रवान् यद्यस्य इन्द्रो देवता, तत् यदि देवता-भिधानमेतदाधारस्य, ततोऽग्नेनाधारः कृतो भवति । तस्मात् कर्मान्तरे, न समुदायशब्दौ—इति सिद्धम् ॥ (२।२।५ अ०) ॥

* मा वीचतेति, वाजपेयाधिकरणवत् यज्यच्छायाऽत्र योजनीया, प्रत्ययो विधिरेव धात्वर्थस्यानुवाद इति विवेक इति वार्तिकम् ।

† ण्व मन्त्रः प्रतिपुस्तक विभिन्नाकारतया पठितः, मूलग्रन्थे चादृष्ट इति ण्व एतादृश एवेत्यत्र नास्ति निश्चयः ।

पशुसोमापूर्वत्वाधिकरणम् ।

स द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः, प्रकरणे ह्यनर्थको
द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥ १७ ॥ (मि०)

भा व्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘यो दीक्षितो यदग्नीषोमीय पशु
मालभते—इति, तत्रेदमामनन्ति,—‘हृदयस्याग्नेर्वद्यत्यय जि
ह्वाया, अथ वक्षस’—इति, तथा ‘सोमेन यजेत’—इति,
तत्रापि ‘ऐन्द्रवायव गृह्णाति, नैत्रावरुण गृह्णाति, आश्विन
गृह्णाति,—इत्येवमादि । तत्र सशय,—किमवद्यतिगृह्णाति—
चोदिताना कर्मणामेवालभतियजती समुदायस्यानुवदितारौ,
अथ अपूर्वयो कर्मणोर्विधातारौ?—इति ।

किं तावत् प्रातम?—समुदायस्य—इति । कुत ?। ये
इमे आलभतियजतिभ्या कर्मणो विधीयेयातामिति चिन्तयते,
पूर्वमव ते अवद्यति गृह्णातिभ्यामवगमिते, नचावगमितोर्भ्या
विधीयते । हृदयादींस्तु पशुशब्देनानुवदति, सोमशब्देन च
रसम । तस्मात् ‘सोमेन यजेत—इत्यनुवादो यजति ‘यजेत
सुगंक्षाम’—इति फलसम्बन्धार्थः, ‘पशुमालभेत’—इति चाल
भति अग्नीषोमसम्बन्धार्थः । अपि च, ‘दशैतानध्वर्यु प्रातःसवने
यहान् गृह्णाति’—इति समुच्चयो दृश्यते । तथा ‘आश्विनो
दशमो गृह्णाते, ‘तृतीयो ह्रयते’—इति च क्रमः । यदि च
अपूर्वा यागो विधीयेते, तत्र ऐन्द्रवायवादिभिर्देवता विधीयेरन्,
ता एकायां सन्त्यो विकल्पेन । यथा, ‘खादिरे वध्नाति,
पालाशे वध्नाति रोहितके वध्नाति’—इति । तत्र क्रमसमुच्चय
दर्शनेनोपपद्येयाताम, अथ पुनरस्मिन् समुदायवचने, यजतौ
सम्यगेतद्वक्तृर्न भवति, तस्मात् समुदायानुवादो ।

भा. एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अपूर्वयोः कर्मणोर्विधानचोदने पशुसोमयोः ।
 कुतः ? । सोमशब्दः क्षीरिण्यां लतायां प्रसिद्धो न रसे, आह-
 तिवचनो हि सोमशब्दो न व्यक्तिवचनः । तथा, शृङ्गाणि
 पुच्छवति लोमशे चतुष्पदि द्रव्यविशेषे पशुशब्दमाहतिवचन-
 मुपचरन्ति, न च, एवमाहतिवचनद्रव्याः प्रकृता यागा विद्यन्ते !
 येषामिमी समुदायस्यानुवदितारौ भवेयाताम् । ‘ननु पशु-
 विकारो हृदयादिः पशुशब्देनाग्नीषोमसम्बन्धार्थमनूद्यते’ । नैत-
 देवम्—पशुरग्नीषोमीयो भवति—इत्येतावत् उच्यते, नायं
 प्रकृतो हृदयादिः पशुरिति । तत्र यदि, लौकिकस्य पशो-
 र्ग्रहणं ततो मुख्यः पशुशब्दः, यदि हृदयादेः, ततो जघन्यो
 विकारसम्बन्धेन ; तथा, सोमशब्दोऽपि विकारसम्बन्धेनानुवादः
 स्यात् ! तस्मात् अपूर्वं कर्मणी विधीयेयाताम् न अनुवादौ ।
 अथ ‘ऐन्द्रवायवादिषु प्रकृतेषु यागेषु लता विधीयेत’—इति ।
 उच्यते,—न, सा शक्या वाक्येन ऐन्द्रवायवी ज्ञातुम्, श्रुत्या
 हि रस ऐन्द्रवायवः । तस्मात् द्रव्यसंयोगवचनः प्रकृतेषु यागे-
 खपि सत्सु विधातुमनुवदितुम् वा न शङ्कवन्ननर्थकः स्यात् ।
 तस्मात् अपूर्वकर्मणी विधीयेयातां, न प्रकृतानामनुवादौ—
 इति ॥

स. अचोदकाश्च संस्काराः ॥ १८ ॥ (पू० नि०)

भा. एवं तावत्, प्रकृतेषु सत्सुपि नानुवादौ—इत्युक्तम्, अथ
 इदानीं, प्रकृता एव यागा न सन्ति—इत्युच्यते । कुतः ? ।
 अचोदकाः संस्काराः, न च, ऐन्द्रवायवादिभिर्यागा विधीयन्ते,
 तेन* यद्ग्रहणमुपकल्पनमात्रम् दृष्टार्थम्, उपकल्प्यमाने तु देवता-

* अथ का० स० पुस्तके पाठवैपरीत्यं विद्यते, अर्थस्तु न भिन्न इति
 नोदतः स पाठः ।

भा. सङ्कीर्तनमदृष्टाय; अतः, 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति'—इति इन्द्र-
वायुभ्यां सङ्कल्पयति—इत्येतावदुक्तं भवति, तत्र यागमन्तरेण
सङ्कल्पयतीत्येतन्न युज्यते—इति यागः कल्पेत्, स एवाग्नातो
यागः, यस्मिन् सति सङ्कल्पोऽवकल्पेत् । तस्मान्न, ऐन्द्रवायवं
गृह्णाति—इत्येवमादिभिर्यागा विधीयेरन्, प्रकृतानां यागा
नामभावाच्च समुदायशब्दो यजतिः, तथा सभतिशब्दः—इति ॥

ख. तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्तादनर्थकं हि स्याद्भेदो
द्रव्यगुणीभावात्* ॥ १६ ॥ (उप०) -

भा. पञ्चौ वृत्ता कथा दशमे पुनरुद्भवित्यति, सोम इदानीं
वर्त्तते । 'कथं कर्मसमुच्चयौ?—इति' । इन्द्रवाय्वाद्या देवता नैवं
श्रूयन्ते,—इन्द्रवायुभ्यां यागो निर्वर्त्तयितव्यः, मित्रावरुणाभ्यां
यागो निर्वर्त्तयितव्यः—इति, यद्येवमथोच्यन्त, यागं प्रति देवता
व्यकल्पित्यन्त, केवलया हि देवतया तदा यागो निर्वर्त्तयते—
इति विहितमभिविष्यत् ।* अथ पुनरिमाः अदृष्टार्थं गृह्णाति-
संस्कारं प्रति देवता विधीयन्ते, तत्र इन्द्रवायुसङ्कल्पादन्यो
मित्रावरुणसङ्कल्पः, तेन गृह्णातौ तत्कृताददृष्टाददृष्टान्तरमुत्पा-
दयति, एवमपरेष्वपि ग्रहणेषु, तस्मात् समुच्चयः । ग्रहणन्तु
नियतपरिमाणेपूर्वपात्रेषु प्रादेशमात्रेषु नियतपरिमाणेषूदक-
कल्पेषु संस्कृतस्य दशमुष्टिपरिमितस्य छत्त्रस्य सोमस्य नाव
कल्पते; यद्यपि च अवकल्पेत्, तथापि नित्यवद्विहितानां
देवताना विकल्पपक्षे तावत्प्रयोगवचनो मां बाधि—इति अब-

* तद्भेदात् देवतासयोगभेदात्, यद्यप्यकर्मणोऽभ्यासः, देवतासमुक्त-
यहस्यसंस्थायं द्रव्यपृथक्त्वात् अनर्थकं हि सयोगान्तरव्यवयम्, अननुष्ठीय-
मान अनर्थकं स्यात्, तेन यहस्य भेदः, संस्थायं द्रव्यं प्रति गुणीभावादिति
वाचिकम् ।

† यशोदेकहविहमित्यत्र ।

भा यवग्रहणमेव न्याय्यम्, छात्स्त्र्यहणे हि तदेव इन्द्रवायुभ्यां
सङ्कल्पितं, तदेव मित्रावरुणाभ्याम्—इति नावकल्पेत । तस्मात्
कल्पनभेदात् पृथगवस्थितः सोमो नानादेवतत्वादेव नैक्येन
शक्यः कर्तुम् । न चासति देवतायागे देवताभ्यः शक्यते सङ्कल्प
यितुम् ; तस्मादवश्यम् यथासङ्कल्पिता देवता यष्टव्याः, तासु
चेज्यमानासु ‘ज्योतिष्टोमेन यजेत’—इति श्रुतो यागो निर्दृष्ट
एव भवति, न देवतान्तरमाकाङ्क्षति, छात्स्त्रेण च दशमुष्टिना
सोमेन यागः श्रुतः, सोऽसति अभ्यासे नावकल्पते—इति अर्थात्
स गुणो भविष्यति—इति अभ्यसितश्चो यागः, न हि अनभ्यस्तः
सर्वाभिर्देवताभिः सर्वेण च सोमेन सम्पन्नो भविष्यति । तस्मिं
श्चाभ्यस्यमाने क्रमसमुच्चयौ युक्तावेव भवतः, तस्मात्तयोर्दर्शनं
युज्यते एव—इति ॥

स संस्कारस्तु न भिद्येत, परार्थत्वात् द्रव्यस्य गुणभूत-
त्वात्* ॥ २० ॥ (आ० नि०)

भा यदप्युच्यते,—(१५०।२१)—यथा ‘खादिरे बध्नाति, पालाशे
बध्नाति’—इति खादिरादयः संस्कारे विकल्पन्ते, तद्वद्देवता विक-
ल्पयिष्यन्ते—इति, तच्च नैवं युक्तं,—तत्र संस्कारमभिनिर्वर्त्तयितुम्
खादिरादयः श्रूयन्ते; यदि च इन्द्रवाय्वाद्या अपि यद्देवता
यागमभिनिर्वर्त्तयितुम् श्रूयेरन्, ततोऽपि विकल्पः स्यात्, न
त्वेता यागे श्रुताः; तस्मात् समुच्चीयेरन् ॥ (२।२।६ अ०) ॥

सङ्ख्यालक्षकर्मभेदाधिकरणम् ।

स पृथक्निवेशात् सङ्ख्याया कर्मभेदः स्यात् ॥ २१ ॥

भा. अस्ति वाजपेयः,—‘वाजपेयेन खारान्यकामो यजेत’—इति,

भा तत्र प्राजापत्या पशवः, 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते, सप्तदशो वे प्राजापतिः, प्राजापतेराप्तैः श्यामास्तूपरा एकरूपा भवन्ति एवमेव हि प्राजापतिः समृद्धो' । तत्र सन्दिह्यते—किं सप्तदशेतानि कर्माणि अथ सप्तदशपशुगुणकमेकं कर्म?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—एकं कर्म—इति । कुत? । प्राजापतये सप्तदश पशवः सङ्कल्प्यन्ते किमकं यागमभिनिवर्त्तयितुम् उत वङ्गम्?—इतिसंशये एकाभिः न्याय्यम्,—यो हि वङ्गम् यागान् कल्पयति, कल्पयत्यसावेकं तत्रैकस्मिन्नेव परिष्ठुप्ते सप्तदशानामेव पशूनां परिकल्पनमुपपन्नं भवति, केन च द्वितीयादीन् यागान् अवकल्पयेत् । एव सति अल्पीयसी अदृष्टानुमानप्रसङ्गकल्पना भवति, तस्मादेको यागः सप्तदशभिः पशुभिर्निर्वर्त्यते ।

एव प्राप्ते ब्रूमः—सङ्ख्यया कर्मभेदो भवेत्, पृथक्के पशूनां सति सप्तदशसङ्ख्या निविशेत् तत्र पशूनां पृथक् वङ्गेषु यागेष्ववकल्पते नैकस्मिन् । कथम्? । एकादशभिरवदानैरसी यागो निवर्त्तयितव्यः—इत्येव चोदकं प्रतिदिशति, तानि चैकस्मादेव पशोरवाप्यन्ते तत्र द्वितीयादेरात्मनो नावदानसम्पादनाय भवितुमर्हति । एकमालभ्यमानमन्वालाभ्येरन्नदृष्टार्थायापरे, तथासत्यतदर्थत्वाच्च ते प्राजापत्या भवेयुः, तत्र प्राजापत्यान्—इति श्रवणमुपपद्येत । तेनैकस्मिन् पशौ पृथक्के निवेशिनी सप्तदशसङ्ख्या नावकल्पेत् वङ्गेषु यागेषु वङ्गभिरैवावदानगणैः प्रयोजनं, तेन सप्तदशभ्यो यागेभ्यः सप्तदश पशूनुपाददीरस्तत्र सङ्ख्यासामञ्जर्यं भविष्यति तस्मात् सप्तदश यागाः ।

'नन्वेकस्मिन्नापि यागः सप्तदशभिरवदानगणैर्यज्यते वचनात् । न एतदेव,—पशुषु द्विसासङ्ख्या श्रूयन्ते, नावदानगणेषु अपि दानानि हवींषः यागसाधनानि, न पश्चाच्छ्रूयन्ति, सा हि श्रवदानप्रवर्त्तयन्ति विंशपत्नी प्रवर्त्तते मधानरयोपवृत्तवतीति

भा. विहतावप्यवदानप्रकृतिद्वयं विशिष्यन्ती प्रधानस्योपकरिष्यति, तत्र च पशोः सप्तदशसङ्ख्या विकारिका, नावदानगणस्य, तस्मादेकस्मै अवदानगणाय एकः पशुरालब्धयः प्राप्नोति, तत्र सप्तदशसङ्ख्या नोपपद्यते, एवमेवावकल्पिष्यते । यदि शृङ्गाभिप्रायाः वर्णाभिप्राया रूपाभिप्राया वा अभविष्यन् सप्तदशपशवः श्वेतः छाणो रोहितः—इत्येवमादयः, तेषामन्यतमो गृह्यते—इति, अथवा तूपराः शृङ्गिण एकशृङ्गाः—इत्येवमादयः, तेषामन्यतमः—इति, ते हि श्यामास्तूपरा एकरूपाः श्रूयन्ते, तदेषु वज्रपु यागेषु उपपद्यते, नेकस्मिन्; तस्मात् सप्तदश यागाः—इति । प्रयोजनमेकस्मिन्नष्टे दुष्टे ह्यत्तुः पशुगण आवर्त्तते, एकमालभ्यमानमन्वालाभेरन, पूर्वपक्षे अदृष्टार्थं; सिद्धान्ते एक एव पशुरावर्त्तते, न हि कर्मभेदे पशुः पञ्चान्तरमाकाङ्क्षति—इति ॥ (२।२।७ अ०) ॥

सञ्ज्ञाकृतकर्मभेदाधिकारणम् ॥

सू. मञ्जा चोत्पत्तिर्नयोगात् ॥ २२ ॥

भा. 'अथैष ज्योतिरधेय विश्वज्योतिरधेय सर्वज्योतिः'—इति । अत्र सन्देहः,—किमेभिर्नामधेयैः प्रकृतं ज्योतिष्टोमं सङ्कीर्त्तय तत्र सहस्रदक्षिणादिर्गुणो विधीयते, अथ वा वक्ष्यमाणविशेषाणि कर्मान्तराण्युपदिश्यन्ते?—इति । किं प्राप्तम्,—प्रकरणानुसङ्गात् प्रकृतस्य गुणविधानमिति । 'ननु वाक्यसामर्थ्यात् ज्योतिरादीनामेते गुणा विधायिष्यन्ते' । नेष दोषः, ज्योतिष्टोमस्यैवेतानि वाचकानि, ज्योतिः—इति ज्योतिष्टोमस्य प्रतीकमुपादीयते, विश्वज्योतिः—इति चिददादीन्यस्य ज्योतींषि वाक्यशेषसङ्कीर्त्तितानि, तानि सर्वाण्यस्य, तेनासौ विश्वज्योतिः सर्वज्योतिश्च ज्योतिष्टोमः—इति एवं प्राप्तम् ।

भा एवं प्राप्ते ब्रूम,—सञ्ज्ञा हि तिष्ठो भेदिकाः, तेषां ज्योतिराद्याः, उत्पत्तिवाक्ये ज्योतिः श्रूयन्ते, तासामिमाः पुनः श्रुतयः, तस्मादर्थेय ज्योतिः—इति अपूर्वस्य कर्मणो विधायकं वाक्यमनुवादे हि सति अमलवृत्तिविशेषकरमनर्थकं स्यात्। प्रकृतस्य च गुणविधाने विकल्पो भवेत्,—तत्र* पक्षे बाधः, न च ज्योतिरादयो ज्योतिष्टोमस्य वदितारः,—समुदायान्तराणि ज्योतानि, न चावयवेन समानेन समुदायान्तरं तदर्थमेव भवति, यथा शालाशब्दो गृहवचनः, तत्र न शालाशब्दसामान्यान्मालाशब्दादयोरपि गृहवचना भवन्ति। यत्तु 'ज्योतिष्टोमस्य ज्योतिरिति प्रतीकमुपादीयते'—इति। प्रकरणसामर्थ्याद्वि तत्र ज्योतिष्टोमशब्देन परोक्षेणैकवाक्यता भवेत्, सा प्रत्यक्ष ज्योतिःशब्देन सहैकवाक्यतां बाधेत, न चैतन्नराख्यं, वाक्यं हि प्रकरणाद्भूलोभ्यः। अथ 'पुनरयं ज्योतनार्थत्वाद्वा ज्योतिर्यत्त्वाद्वा कर्मान्तरे वर्तयति, यच्च चिह्नदादीनि ज्योतीरपि तेषां साकस्य वचनो विश्वज्योतिः सर्वज्योतिः'—इति चेत्। न—इति ब्रूम,—न हि चिह्नदादिषु ज्योतिःशब्दः प्रसिद्धः, एवं ब्रुवन् प्रसिद्धिं बाधेत। यत्तु 'वाक्यशेषात् ज्योतिःशब्दः चिह्नदादिवचनः'—इति, तस्मिन्नेव वाक्ये स तत्र प्रयुक्तः—इति गम्यते प्रमाणान्तरेण, न शब्देन, यत्र तु तत्प्रमाणान्तरं नास्ति, न तत्र वर्तितुमर्हति, यथा सिद्धो देवदत्तः—इति सिद्धशब्दो देवदत्तवचनः प्रमाणान्तरेण, न तु सिद्धमालभेत—इति यत्र, तत्र तु तत्प्रमाणान्तरं नास्ति। तस्माच्च विश्वज्योतिः सर्वज्योतिः—इति च ज्योतिष्टोमस्य वदितारौ, न चेज्ज्योतिष्टोम उच्यते, सर्वाणि कर्मान्तराणि॥ (२।२।८ अ०)॥

* 'प्रकृत्य गुणविधाने विधातये' इति का० प्रा० पु० ।

देवताभेदकृतकर्मभेदाधिकरणम् ॥

स गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात् ॥ २३ ॥

भा. चातुर्मास्येषु वैश्वदेवे समामनन्ति,—‘तप्ते पयसि दधानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्’—इति । तत्र सन्दिह्यते,—किमामिक्षागुणके कर्मणि वाजिनं गुणविधिः, उत तस्मात् वाजिनगुणकं कर्मान्तरम् ? । किं प्राप्तं ?—गुणविधिः—इति । कुतः ? । वाजेनाग्नेनामिक्षया वाजिनो विश्वेदेवास्ताननूद्य वाजिनं विधीयते, तेनोभयं वैश्वदेवम्,—आमिक्षा वाजिनं च । तस्मिन्नेव च कर्मणि वाजिनगुणविधिः । यथा अग्निहोत्रं जुहोति—इत्युक्ते दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणश्चाप्रकृतेन देवताभिधानेन सम्बध्यमानः कर्मान्तरं विदध्यात्, समे हि तदैते वाक्ये भवतः, उभे अपि अपूर्वयोर्यागयोः विधातृणी । ‘कथं पुनरपूर्वदेवताभिधानम् ? यदा इदानीमेव उक्तं,—विश्वेपा देवानामनुवादो वाजिनम्’—इति । तदुच्यते,—इह विश्वेपां देवानां देवतात्वं क्वचित् श्रुत्या, क्वचित् वाक्येन ;—तद्वितनिर्देशे श्रुत्या, चतुर्थीनिर्देशे वाक्येन ; यत्र श्रुत्या देवतात्वं, तत्रामिक्षया सङ्घैकवाक्यत्वम् ; यत्र चतुर्थी, तत्र वाजिनेन ; तत्रैकामेकत्र श्रुत्या देवतात्वं, वाक्येन द्रव्यविशेषसम्बन्धः ; एकत्रोभयमपि वाक्येन ; तदिह देवतात्वं प्रति श्रुतिवाक्ययोर्विरोधः, विरोधे च श्रुतिर्दलीयसी—इत्यामिक्षावाक्ये देवतात्वं विश्वेपां देवानां, न वाजिन-वाक्ये इत्यध्यवसीयते, तेनायगम्यते,—अप्रकृतेन देवतापदेनास्य सम्बन्धः—इति ; तस्मात् कर्मान्तरमिति । (२ । २ । ८ अ०) ॥

अथ यदुपवर्णितम्,—‘यथा अग्निहोत्रं जुहोति—इत्युक्ते दध्ना जुहोति—इत्येषमादयो गुणविधयः’—इति । तत्रोच्यते,—

(पूर्वाधिकरणान्नानिरासो द्रव्यविशेषानुक्तिस्तत्कर्मैवाधिकरणं वा)

स अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥ २४ ॥

भा युक्तं यत् तत्र गुणविधानं न तत्राप्रकृतेन केनचिदुत्तेन सम्बन्धः, प्रकृतेन त्वस्ति यागेन, तस्मादनुपवर्णनमेतत् ।

अथ वा अधिकरणान्तरं—‘दध्ना जुहोति—इत्येवमादीनि कर्मान्तराणि विकल्पपरिजिहीर्षयाऽवकल्पयन्ते । तदेव तु कर्म जुहोति—इति शब्दादवगम्यते, न कर्मान्तरम् तस्मात्तत्रैव गुणविधिः, वचनाद्विकल्पश्च—इति सिद्धम् ॥ (०।२।१० अ०) ॥

दध्नादिद्रव्यसमस्तवाधिकरणम् ।

स फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात्, फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥ २५ ॥

(पृ०, ॥

भा अग्निहोत्रं प्रकृत्य समामनन्ति—‘दध्नेन्द्रियकानस्य जुहुयात्—इत्येवमादि । तत्र सशयः,—किमग्निहोत्रहोमाहोमान्तरं दध्नादिहोमं उत दध्नादेर्गुणात् फलम्?—इति । किं मातृ?—होमान्तरम्—इति । कुत ? । ‘फलश्रुते, फलमिह श्रूयते, तत्र कर्मणो न्यायम् ।

‘किं दृष्टं हि कर्मण फलम्? कृत्यादितो बोद्धादि । न—इति! ब्रूम न ह्येतत् दृष्टेनानेन सिध्यति, यदि दर्शनं हेतु

* ‘तत्र कर्मणा न्यायमिति पूर्वपक्षवादिनाभिहिते सिद्धान्तवादी धिपत्यायां न्ययं कर्मणो भावायां अधिकरणन्यायासम्भवात् शब्दस्यासामर्थ्यं न्यमानं पृथ्वाति,—‘किं दृष्टं हि कर्मणा फलं कृत्यादित इति, कर्मणो न्यायतो न्ययेन (अनुमानेन) होमात् फलं मन्यसे’ इति वार्तिकम् ।

† पूर्वपक्षवादी सामान्यतादृष्टानुमाने दोषं दर्शयन् होमात् फलमिति शब्दादेव प्रतीयते इति प्रतिपादयति नतीति । अथवा भासवार्तिकानुसारी ।

भा फलज्ञाने, ह्येत्यादौ पदार्थे तद्दर्शनं, न होमे । ‘अथ ह्यपौ
 दृष्टमन्यत्रापि भवति’ । द्रव्यादपि प्रसज्यते । ‘अथ ह्यपिसदृशत्
 भवति—इत्युच्यते, ह्यपिसदृशो होमः क्रियात्वात्, न द्रव्यं,
 असदृशं हि तत्’—इति । होमोऽप्यसदृशः, मन्त्रदेवतादि-
 साधनत्वाद्धोमस्य, लाङ्गलादिसाधनत्वाच्च ह्यपेः ; त्यागात्मक-
 त्वाद्धोमस्य, पाटनात्मकत्वाच्च ह्यपेः । ‘अथ किञ्चित् सादृश्यं
 गृह्यते’ । द्रव्यस्यापि सदनित्यमित्येवमादि किञ्चित् सादृश्य-
 मस्ति । ‘अथ द्रव्यादन्यत् सदृशतरमस्ति—इति ह्यत्वा न द्रव्यं
 सदृशम्—इत्युच्यते’ । होमादप्यन्यत् ह्यपेः सदृशतरमस्ति
 दृष्टार्थम्—इति ह्यत्वा होमोऽप्यसदृशः स्यात् । नचेतिसिद्धं,—
 यत् क्वचित् दृश्यते, तदन्यस्मिन् सदृशमात्रे अदृष्टमपि भवितु-
 नर्हति—इति, यदि यस्य कारणभूतं दृष्टं सिद्धे, तच्चेत्साध्येऽपि
 कारणभूतमित्यवगम्यते, भवति तत्तस्य साधकं, यन्न ज्ञायते
 कारणभूतम्—इति, न तत् सदृशमपि साधकं, तस्मात् सदृश-
 मपि साधकमसाधकं वेति परीक्षितव्यम्—इति । ‘अथ यत्कर्म
 तत् फलवत् दृष्टं, होमोऽपि कर्म, तेनापि फलवता भवितव्यम्’—
 इति । उपरते कर्मणि द्रव्याणां तत्सयोगानाच्च द्रव्यान्तरं
 फलं दृष्टम्—इति द्रव्यमपि फलवत् स्यात् । अपि च ह्यपे-
 र्नादृष्टमिति तत्सादृश्याद्धोमादपि नादृष्टं भवेत्, ह्यपिसा-
 दृश्यादा बोद्धिरेव भवेत्, न इन्द्रियम्, तस्मान्नैवंजातीयकेवे-
 तत् भवति दृष्टाददृष्टसिद्धिः—इति । कथं तर्हि होमाच्चराख्यं
 फलम्?’—इति । उच्यते, शब्देनावगम्यते तत्फलं, यतः फलम्
 —इति शब्द आह, ततो न्याय्य, होमाच्च फलमिति श्रुत्या
 शब्देन गम्यते, दध्नः फलम्—इति वाक्येन, श्रुतिश्च वाक्याह-
 वलीयसी । तस्मात् होमात्फलम्—इति न्याय्यं, दध्नः फलमिति
 चान्याय्यम् ।

अपि च दधि उभयमसमर्थं,—कर्तुम् फलं,

गुणं

भा ननु 'कम्बलनिर्णयनवत् एतद्विषयति, निर्णयनं हि उभयं करोति,—कम्बलशुद्धिं पादयोश्च निर्मलताम्' । न ब्रूम, एकस्योभयं प्रयोजनमभिनिष्पादयितुं सामर्थ्यं नास्ति—इति, किं तर्हि फले गुणभूतं दधि होमे च—इत्येव वाक्यं वदितुमसमर्थमिति, यदि फलं दध्ना कुर्यादिति ब्रूयात्, न दध्ना होमम्—इति, अथ दध्ना होमं साधयेत्—इति ब्रूयात्, न फलमिति, उभयवचने भिद्येत वाक्यम्, अभिन्नश्चेदमुपलभ्यते, तस्मात् न गुणात्फलमिति अग्निहोत्रहोमाद्दधिहोमं कर्मान्तरम्—इति ॥

ख अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य प्रतीयेत ॥ २६ ॥
(सि०) ॥

भा तु शब्दात्पक्षो विपरिवर्तते, न कर्मान्तरं, किन्तु गुणात्फलम्—इति । कथं ? अतुल्ये ह्येते वाक्ये, 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः—इत्येव कर्मसमभिव्याहृतं फलं स्वर्गकामो होमेन कुर्यात्—इति 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्—इति गुणसमभिव्याहृतं, न हि अत्र होम इन्द्रियाय कर्तव्य—इति प्रतीयते, किं तर्हि दध्ना होम इन्द्रियकामस्य—इति, होमस्य दधिसम्बन्ध इन्द्रियाय, न होमस्योत्पत्तिः,—य इन्द्रियकामः स्यात्, स दध्ना होमं कुर्यात्—इति । 'कतमोऽत्र शब्दः पुरुषप्रयत्नस्य वक्ता ?—इति । जुहुयात्—इति ब्रूम ।

'ननु श्रुत्या होमसम्बन्धमेव पुरुषप्रयत्नं वदति, वाक्येन दधिसम्बन्धम्, न च, वाक्यं श्रुतिमपवाधितुमर्हति । न च, युगपदुभयसम्बन्धो न विरुध्यते, वाक्यं हि तथा भिद्येत—इति । अत्रोच्यते,—ये भवदीये पक्षमाश्रयेरन् ते श्रुतिमपवाधेरन्तराम्, अस्मदीये तु पुनः पक्षे जुहुयादिति धात्वर्थं केवलोऽपवाधितो भवति, युष्मदीये तु ह्यत्र एव 'दध्ना'—इति शब्दः, न चापवादोक्तं समामनन्ति—इति गम्यते न चैतत्प्रमत्तगीतम्,

भा. —इत्युक्तं,—तुल्यं हि साम्प्रदायिकम्—इति । तस्मान्न कर्म-
समभिव्याहृतं फलं, गुणसमभिव्याहृते तु न कश्चित् प्रमाद-
पाठः, अवश्यं हि, जुहुयात्—इति दध्नेन्द्रियकामयोः सम्बन्ध-
विधानार्थं वक्तव्यं भवति । ‘ननु उच्यमानेऽपि न केवलः
करोत्यर्थोऽभ्यगम्यते, केवले न वचःप्रयोजनं, स च होमसम्बद्धः,
तस्मात् असमञ्जसम्’—इति । न—इति ब्रूमः,—होमसम्बद्धो-
भ्यसौ करोत्यर्थ एव, केवलं तु अस्य होमसम्बन्धे विशेषः, न
तु करोत्यर्थतां बाधते, इन्द्रियकामस्य होमसम्बद्धं प्रयत्नं दधि-
सम्बद्धं कुर्यात्—इति । ‘नन्वेवं सति स एव दोषः, होम-
समभिव्याहृतं फलम्’—इति । उच्यते,—जुहुयादितिशब्दस्यै-
तत्सामर्थ्यं,—यत् होमविशिष्टं प्रयत्नमाह, न तु अत्र होमः
साधनत्वेन विधीयते, साध्यत्वेन विशिष्टस्तु प्रयत्नो वाक्येन
दध्नाश्रितोऽभ्यगम्यते, अत एव च वृत्तिकारेणोक्तं,—‘होम-
माश्रितो गुणः फलं साधयिष्यति—इति, यथा राजपुरुषो
राजानमाश्रितो राजकर्म करोति’—इति । तस्मात् दध्नः फलं,
य इन्द्रियकामः, स दध्ना कुर्यात् इन्द्रियमिति । कथम्?—
इति । अनयाऽग्निहोत्रेति कर्त्तव्यतया—इति । कुत एतत् ? ।
फलसाधनस्य दध्नः इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षत्वात्, अस्याऽप्येति कर्त्तव्य-
तायाः सन्निधानात्, होदनालिङ्गस्य च जुहोत्यर्थस्य दर्शनात् ;
यस्मादेव चायं जुहोत्यर्थोऽनुवादः, तस्मात् अविधायकः । न
च, अन्यहोमस्य विधायकं नास्ति—इति, तस्मान्न कर्मान्तरं,
तस्मात् दध्नः फलमिति । अथ वा दधिशब्दस्य विवक्षितार्थत्वात्
दधिहोमसम्बन्धोऽभ्यं वाक्येन विधीयते, तेन दध्नो होमेन
सम्बध्यमानात् फलं भविष्यति—इति ॥ (२ । २ । ११ अ०) ॥

स

समेपु कर्मयुक्तं स्यात् ॥ २७ ॥

भा 'विष्टदग्निष्टुदग्निष्टोमस्तस्य वायव्यासु एकविंशमग्निष्टोमसाम
 कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत—इति, 'एतस्यैव रेवतीपु वार
 वन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत'—इति ।
 अत्रायमर्थं साश्रयिक, किं तस्येवाग्निष्टुतोऽग्निष्टोमस्य गुणात्
 वारवन्तीयात् पशव फलं, एतेन यजेत—इति अनुवाद, अथ
 किम् 'एतेन यजेत—इति कर्मान्तरम्?—इति । किं प्राप्तम्?—
 न कर्मान्तर गुणात्फलम्—इति । कुत ? । एतेन यजेत—इति
 विहितस्यैतद्वचन, नाविदितस्य, अतो न विध्यन्तरं, पशुकाम एवं
 यजेत—इत्युच्यते, न यजेत—इति, कथं कृत्वा?—वारवन्तीयं
 कृत्वेति । अपि च, एतस्यैव—इति विस्पष्टम् अकर्मान्तरवचनम् ।
 तस्माद्गुणात्फलम्—इति एव प्राप्तम् ।

एव प्राप्ते ब्रूम, —समेवैवजातीयकेषु भिन्नवाक्येषु कर्मयुक्त
 फल भवेत्, एतस्यैव रेवतीपु वारवन्तीयं कृत्वेति, न ह्येतस्य
 रेवत्य सन्ति, यासु अस्य वारवन्तीय भवेत्, तत्र रेवत्यो

* अग्निष्टोमस्य विहतिरूप कश्चिदेकाहोऽग्निष्टुत्तामका, स च एष्ट-
 लोभे चिष्टत्तोमयुक्ततया चिष्टदित्युच्यते, अग्निष्टोमोक्त्वादीना सप्तार्णां
 सोमसम्पत्तां मध्येऽग्निष्टोमसम्पत्तासमाप्तिः, सम्यक्पत्वात् अग्निष्टोम
 इत्युच्यते । तत्र प्रकृतौ इतीयमवने आर्भवपवमानम्योपरि यज्ञायत्रीय
 साम गीयते, तेन च साम्ना अग्निष्टोमयागस्य समाप्यमानत्वात् अग्निष्टोम-
 सामेत्युच्यते, तत्र साम प्रकृतौ 'यज्ञायज्ञा वा अधयः'—इत्यागामेयेषु
 ऋक्षु गीयते, अस्मिन् अग्निष्टुति ब्रह्मवर्चसकामेन वायव्यासु ऋक्षु तत्
 साम गीतव्यम्, तत् प्रकृताविवैकविंशतोमयुक्त । पशुकामस्य तु, रेवतीर्णं
 इत्यादियु रेवतीपु ऋक्षु वारवन्तीय साम गीयेदिति भावः ।

भा. भवन्ति, तासु च वारवन्तीयं विधीयेत—इति वाक्यमभिद्येत !।
 ‘अयोचेरत,—अस्य पूर्वा रेवतीरुपादाय तासु च वारवन्तीयं
 हत्वा, एतेन यजेत—इति अनुवदति—इति’। तथा अग्निष्टोम-
 सामेति नावकल्प्येत । ‘अथाग्निष्टोमसामकार्यं भवति—इत्यु-
 च्यते’। एतस्यैवेत्येतद्विवक्षितं स्यात् ! उभयस्मिन् विवक्ष्यमाणे
 भिद्येत वाक्यम्, तस्मात् कर्मान्तरम् ।

‘अथ कर्मान्तरे कथमवाक्यभेदः ?’। रेवतीषु ऋक्षु वारवन्तीयं
 साम हत्वा पशुकामो यजेत—इति अपूर्वा यागः सर्वविशेषणै-
 र्विशिष्टो विधीयते, तेनेकार्थत्वं, विभागे च साकाङ्क्षत्वमिति
 एकवाक्यत्वमुपपद्यते । ‘ननु अर्थभेदो यागश्चैवं ह्यपूर्वः कर्तव्यः,
 रेवतीषु वारवन्तीयं अपूर्वमिति’। न—इति ब्रूमः,—निर्दत्त-
 वारवन्तीयरेवतीगुणको यागो विधीयते, न वारवन्तीयनिर्दत्तः,
 अर्थात् रेवतीषु वारवन्तीयमभिनिर्वर्त्त्यति, शक्यते च तत्
 निर्वर्त्तयितुम् । ‘उच्यते,—रेवतीनां वारवन्तीयस्य च सम्बन्धो
 न विहितः स्यात्, तत्र च रेवतीष्वन्यान्यपि सामानि भवेयुः !
 वारवन्तीयं चान्यास्रपि ऋक्षु’। नैष दोषः,—हत्वेत्यभिनिर्दत्तः
 सम्बन्धो यागायोच्यते, तेन सम्बन्धो गम्यते, हाव्येतावर्धौ
 हत्वेत्येष शब्दः शक्नोति वदितुम्,—अभिनिर्दत्तिं पूर्वकालताञ्च,
 यथा शोणमानय—इति रक्तगुणसम्बद्धोऽश्वः शब्देनेवानयतो
 विधीयते—इति, न वाक्यभेदो भवति, एवमत्रापि द्रष्टव्यम् ।

‘नन्वेवमपि बह्वोर्भ्याः,—रेवत्यः, वारवन्तीयं, तत्सम्बन्धः,
 यागः, पशुकामश्च—इति’। नैष दोषः, बहवः श्रूयन्ते, एकोऽपि
 विधीयते,—यागो विशिष्टः । ‘ननु रेवत्योऽपि विधीयन्ते,
 वारवन्तीयमपि, यदि न विधीयेरन्, नैव तद्विशिष्टो यागः
 प्रतीयेत, न ह्यविधाय विशेषणं, शक्यते विशिष्टो विधातुम्,
 तस्मात् बह्वेषु विधीयमानेषु नैकार्थ्यम्’। अत्रोच्यते,—अर्थः—
 इति प्रयोजनमभिधीयते, यावान्ति पदानि एकं प्रयोजनम्—

भा. निर्वर्तयन्ति, तावन्ति एकं वाक्यं, न च, अत्र बङ्गनि प्रयो-
जनानि, न हि, अचानेकस्याभिप्रेतस्थानेकं पदं विधायकमस्ति,
रेवतीध्विति नैतत्केवलं रेवतीनां विधायकम्, रेवतीषु वार-
वन्तीयमिति । अत्रापि पदद्वये वारवन्तीयशब्दो द्वितीयान्तः,
नास्मात् सम्बन्धोऽभिप्रेतो गम्यते, प्रातिपदिकार्थस्याव्यतिरेकात्,
कृत्वेत्यपि करोतिर्न सम्बन्धमात्रे पर्यवसितः परप्रयोजनसम्बन्ध-
माह ; एवं विशिष्टस्तु यजतिर्न परार्थः, तदेकमेषां पदार्थानां
प्रयोजनं, तस्मादेकवाक्यत्वं ; गुणे पुनः फले प्रकल्प्यमाने अग्नि-
ष्टोमसाम्नः कार्यं वारवन्तीयं, एतस्य च यदग्निष्टोमसाम—इति
वाक्यभेदः स्यात् ।

‘अथोच्यते, रेवत्यादिसर्वविशेषेण विशिष्टो याग एतस्याग्नि-
ष्टुतो विधीयेत’ । तथापि पशुकामसम्बन्धात् भिद्येत वाक्यम् ।
‘अथैवमुच्यते, रेवतीषु कृतेन वारवन्तीयेन पशुकामो यजेत—
इति’ । नैवं शक्यम्, षट्पञ्चमप्रगाणादिशेषहानाद्गुण्यं स्यात् ।
‘ननु इदानीमेवोक्तं,—शक्यते हि रेवतीषु वारवन्तीयं कर्तुम्—
इति’ । सति वचने शक्यम्, असति वचने न वारवन्तीयग्रहणेन
गृह्यन्ते । ‘वचनं तर्हि भविष्यति, पशुकामो रेवतीषु वार-
वन्तीयमभिनिर्वर्तयेत्, ततो यजेत—इति यजतिरनुवादः’ ।
यदि वचनं रेवतीषु वारवन्तीयसम्बन्धस्य, सिद्धं कर्मांतरं,
नाग्निष्टुतो गुणविधिः । ‘ननु ततो यजेत—इति यागानुवा-
दात् यागेनास्याङ्गप्रयोजनसम्बन्धो भविष्यति’ । नैवं शक्यम्,—
यागं प्रत्यङ्गभावे विधीयमाने पशुकामं प्रत्यसम्बन्धः, उभय-
सम्बन्धे वाक्यमभिद्येत । ‘अथ यागसम्बन्धोऽनुवादः, प्रकरणेन
चाङ्गता’ । नेदमुपपन्नं, प्रकरणाद्धि वाक्यं बलवत्तरं, तस्मात्
कर्मांतरं, यागगुणकं वा रेवतीषु वारवन्तीयं, तद्गुणको वा यागः,
तत्र यागपशुकामयोः सम्बन्धस्य विधाचीं यजतेरुपरितनीं
विभक्तिमुपलभामहे सिद्धं, न तु रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धस्य

भा. विधायकं साक्षात्किञ्चित् उपलभ्यते । तस्मात् सर्वविशेषण-
विशिष्टो यागः, पशुकामस्य विधीयते—इति सिद्धम् ।

‘अथ पुनर्विशिष्टे यागे विधीयमाने, तत् रेवतीषु वारवन्तीयं
कथं अग्निष्टोमसाम भवति ?—इति’ । उच्यते,—वचनात् अग्नि-
ष्टोमसाम्नः कार्यं भविष्यति—इति, किमिव हि वचनं न
कुर्यात्, नास्ति वचनस्यातिभारः । अथ यदुक्तमेतस्यैव—इति,
अनन्तरापेक्षं वचनमिति तत्राप्यविरोधादेतद्वर्मकस्य—इति
लक्षणाशब्दो भविष्यति । तस्मात् न गुणात्फलं, कर्मान्तर-
मेवन्धर्मकमिति,—सिद्धम् समेखेवंजातीयकेषु कर्मयुक्तं फलम्—
इति ॥ (२।२।१२ अ०) ॥

सौभरनिधनयोः कामैक्याधिकरणम् ।

ख. सौभरे पुरुषश्रुतेर्निधनं कामसंयोगः ॥ २८ ॥ (पू०)

भा. ‘यो दृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः, स सौभरेण
स्तुवीत सर्वं वै कामाः सौभरे’—इति समाग्न्याय ततः समा-
मनन्ति,—‘हीयति दृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्, ऊर्गित्यन्नाद्य-
कामाय, ऊ—इति स्वर्गकामाय’*—इति । तत्र विचार्यते, किं
सौभरम्,—दृष्टेर्निमित्तं, हीयत्येतदपरं दृष्टेर्निमित्तम्, अथ
सौभरमेव दृष्टेर्निमित्तं ? । यदा तत् दृष्टेर्निमित्तं, तदा हीयति
सौभरस्य निधनं कर्तव्यम्—इति (एवं ऊर्गित्यन्नाद्यकामस्य,
ऊ—इति स्वर्गकामस्य च तुल्यो विचारः) । कथं निधनादपरं
फलं ? कथं वा निधनव्यवसाये अयणम्—इति, यद्येवमभि-

* सौभरं नाम सामविशेषः, निधनं नाम पशुभिः सप्तभिर्वा भागै-
रुपेतस्य साय्योऽन्तिमो भागः, तस्मिन् निधने हीषादयो विशेषाः
इति माधवः ।

भा सम्बन्ध क्रियते—होषिति वृष्टिकामाय कुर्यात्—इति ततो निधनादपर फल अथेवमभिसम्बन्ध —होषिति निधन कुर्यात्—इति तदा निधनव्यवस्थार्थं अवणम तदा वृष्टिकामाय—इति सौभरविशेषण क्रियते न होषा सम्बन्ध ।

किं तावत्प्राप्तम्?—सौभरे निधने अपर कामो विधीयते—इति । कुत ? । पुरुषश्रुते पुरुषप्रयत्नस्यात्र अवण भवति—कुर्यात्—इति तत वृष्टिकामस्य होषश्च सम्बन्धे कर्तव्ये वक्तव्यं भवति न तु सौभरनिधनसम्बन्धे तत्र हि साङ्ग सौभर कुर्यात्—इति प्रयोगवचनसामर्थ्यादेव सिद्धम् । तस्मात् कुर्यात्—इति—पुरुषप्रयत्नवचनादवगच्छाम—यतरस्मिन्पक्षे पुरुषप्रयत्नवचनमर्थवत् ततरोप्य पक्ष—इति तत्र अस्मिन्पक्षे अर्थवत् निधनादपर फलमिति तस्मात् सौभरे एक काम भेदेन निधनादपि द्वितीय काम—इति ।

अथ वा वृष्टिकामाय—इति पुरुषश्रुति वृष्टि य कामयते स पुरुषो वृष्टिकामशब्देन उच्यते तदस्मिन् पक्षे श्रुतिर्विनिर्गता इतरस्मिन् पक्षे पुन वृष्टिकामशब्देन पुरुषवचनेन सता सौभर लक्ष्येत तथा लक्षणाशब्द स्यात् । श्रुतिलक्षणा विषये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा तस्मात् पश्चात्तो निधने द्वितीय काम—इति । एव च फलभूयस्त्व भविष्यति तस्मात् निधने अपर काम ॥

ए सर्वस्य उक्तकामत्वात् तस्मिन् कामश्रुति स्यात्, निधनार्था पुन श्रुति ॥ २६ ॥ (सि०)

भा वाशब्द पक्षं व्यायर्त्तयति । न चेत्तदस्ति यदुक्तम्—निधने अपर काम—इति नैव सम्यग् क्रियते—वृष्टिकामाय होषिति कुर्यादिति । कथं तर्हि ? । होषिति निधन सौभरस्य—इति । कथं ? । होषो वृष्टिकामसम्बन्धे क्रियमाणे, निधन

भा. कुर्यात्—इति सम्बन्धो न कृतः स्यात्, तत्र ह्यपिपिति निधनम्—इति नावकल्येति, तत्रोभयसम्बन्धे वाक्यभेदः, तत्र निधन-शब्दः प्रमादसमाप्तातः—इति गम्येत, नचैवंजातीयकः प्रमाद-समाप्तातः—इत्युक्तं, तस्मात् न ह्यपो वृष्टिकामेन सम्बन्धः, तेन न निधनादपरं फलम्।

‘अथ ह्यपो निधनसम्बन्धे कथम् अवाक्यभेदः?—इति’ । उच्यते,—वृष्टिकामाय सौभरम् अस्त्येव, सौरभस्य निधनं (सौभरप्राप्तिः) अस्त्येव, तत्र ह्यपिपिति कुर्यात्—इत्येष एवायौ विधीयते। तस्मात् अवाक्यभेदः—इति, अतो निधनव्यवस्थेति गम्यते। एवमेव ऊर्गिति, ऊ—इति च वदितव्यम्, सर्वस्य सौभरस्य ऊर्गवृष्टिस्वर्गकामत्वात् शक्यते कामवचनेः सौभरं लक्षयितुम्। किमर्थं लक्ष्यने?—इति। निधनार्था पुनःश्रुतिः (निधनव्यवस्थां करित्यति—इत्यर्थः) ॥ (२।२।१३ अ०) ॥

इति श्रीभट्टश्वरस्वामिनः कृतो मीमांसाभाष्ये द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ * * ॥



अथ यद्वायताया ज्योतिष्टोमाद्धृताधिकरणम् ।

६ गुणस्तु क्रतुसंयोगात् कर्मान्तरं प्रयोजयेत्संयोग-
स्याशेषभूत्वात् ॥ १ ॥ (पू०)

भा अस्ति ज्योतिष्टोमः,—‘ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत’—
इति, तं प्रकृत्य श्रूयते, ‘यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात्,
ऐन्द्रवायवायान् यद्दान् गृहीयात्, यदि वृद्धत्सामा शुक्राग्रान्,
यदि गजत्सामा, आययणाग्रान्’—इति । तत्र सन्दिह्यते,—
किं यद्वायताविशेषो ज्योतिष्टोमस्य विधीयते, उत कर्मान्तरस्य
रथन्तरसाम्नो वृद्धत्साम्नश्च?—इति, यदि रथन्तरसामग्रहणेन
वृद्धत्सामग्रहणेन च ज्योतिष्टोमोऽभिधीयते, ततस्तस्य यद्वा
यताविशेषः, अथ नाभिधीयते, ततः कर्मान्तरस्य—इति ।

किं तावत्प्राप्तम्?—प्रकरणात्, ज्योतिष्टोमस्य । इति प्राप्ते
उच्यते,—गुणस्तु क्रतुसंयोगात्—इति, तुशब्दः पक्षं व्यावर्त-
यति, नैतदस्ति,—ज्योतिष्टोमस्य—इति । कुतः? । क्रतुसंयो-
गात् । कथं तर्हि? । कर्मान्तरस्येति । ‘ननु ज्योतिष्टोमक्रतो
रेवैष एवजातीयको वादः,—रथन्तरसामा वृद्धत्सामा—इति’ ।
नैति द्रूमः,—यदि न दृष्ट्वक्रतुसंयोगो भवेत्, ज्योतिष्टोमस्य
वादः, दृष्ट्वक्रतुसंयोगस्तु एषः । ‘कथं दृष्ट्वक्रतुसंयोगो
भवति? । कथं वा न दृष्ट्वक्रतुसंयोगः?—इति । ‘यदि
रथन्तरसत्ता वा, वृद्धत्सत्ता वा निमित्तं यद्वायताविशेषस्य,
ततो न दृष्ट्वक्रतुसंयोगः,—रथन्तरं वृद्धत्सं यदि सामास्ति,
ततः ऐन्द्रवायवायता शुक्राग्रता च—इति, ततो ज्योतिष्टोमस्य
गुणविधिः’ । अथ रथन्तरसामसत्ता वृद्धत्सामसत्ता वा न

भा. निमित्तं, ततः ह्यत्सकृतुसंयोगः । 'यदि रघन्तरसामा'—इति कोऽर्थः ? । अयमर्थः,—यदि रघन्तरसाम अस्य विशेषणं क्रतोः—इति । कुत एतत् ? । समासपदसामर्थ्यात्, समर्थानां हि पदानां समासो भवति, सामर्थ्यञ्च भवति विशेषणविशेष्यभावे, असाधारणं च भवति विशेषणं, तत्रायमर्थो,—यदि रघन्तरमेव साम, दृष्टदेव वा नान्यत्—इति ; ज्योतिष्टोमस्य च बह्वनि सामानि गायत्रादीनि ; तस्मात् न ज्योतिष्टोमस्य वाचकावेतौ शब्दाविति । तेन यद्यपि प्रकरणात् ज्योतिष्टोमस्य गुणविधिः—इति गम्यते, तथापि तत् वाधित्वा वाक्येन रघन्तरसाम्नो दृष्टत्साम्नश्च भवितुमर्हति ।

'ननु यथा ज्योतिष्टोमो न रघन्तरसामा, एवमन्योऽपि न रघन्तरसामा कश्चिदस्ति' । उच्यते,—कर्मान्तरं रघन्तरसामकं कल्पयिष्यति एतद्वाक्यं,—'यदि रघन्तरसामा सोमः स्यात्'—इति । 'ननु नास्त्यत्र विधायकः शब्दः' । उच्यते,—अस्ति य एषः 'स्यात्'—इति । 'आह नैष विधातुम् शक्नोति, यदि-शब्दसम्बन्धात् विद्यमानस्य निमित्तार्थनैवजातीयकः शब्दो भवति, न विधानार्थेन—इति' । अत्र ध्रुमः,—यदेतत् सयदिकं वाक्यं,—'यदि रघन्तरसामा सोमः स्यात्'—इति, अत्रावान्तर-वाक्यम् अस्ति,—रघन्तरसामा सोमः स्यात्—इति, यदवान्तर-वाक्यम् तस्यान्योऽर्थः, अन्यश्च सयदिकस्य, सयदिको न शक्नोति विधातुम्, यत अवान्तरवाक्यम्, तद्विधारयति । न च, रघन्तर-साम्नो दृष्टत्साम्नो वा भावो निमित्तत्वेन श्रुयमाणोऽप्यर्थवान् भवति । तस्मात् अविर्वाच्यतो यदिमम्बन्धः, तस्मिंश्चाविर्वाच्यते पदद्वयमिदं (रघन्तरसामा सोमः स्यादिति) शक्नोति रघन्तर-सामानं क्रतुं विधातुम्, यदीत्यनर्थकम् ।

अथ वा यदि रोचेतेत्यथाहारः । अथ वा यथेतद्भवति,—पयसा पाष्टिकं भुञ्जीत, यदि शान्तिं भुञ्जीत, तत्र

भा —इति एवज्ञातीयकेन वाक्येन शालिभोजन विहित भवति
 एवमत्रापि विहित द्रष्टव्यम् —यदि रथन्तरसामा सोम स्यात्
 ऐन्द्रवायवायान् यद्वाग् गृह्णीयात्—इति । ‘कथं पुन शालि
 भोजनम् तेन वाक्येन विहितं भवति ?—इति । उच्यते—
 यत्प्राप्तेन सम्बन्धः कल्प्येत—यदि दधुपसेचनमिच्छेत शालिं
 भुञ्जीत—इति ।

‘ननु न खल्विच्छते परा लिङ्गविभक्तिमुपलभामहे सिद्धं
 तेहिं ताम्परा समामनन्ति—इति । सिद्धते खलु सा परा
 समुच्चरन्ती कमेरुं गमयति कामप्रवेदने हि ता मन्यामहे
 —इति एवमिहापि यद्येन्द्रवायवायान् यद्वाग् गृह्णीयादिति
 यद्वागुमिच्छेत् इत्यर्थं ततो रथन्तरसामानं क्रतुं कुर्यात्—
 इति । ‘नन्वव सति इच्छामात्रं भवेत् न यद्वायताविशेष
 विधानम् । उच्यते—यथा अस्मिन् लौकिके वाक्ये यदि
 दधुपसेचनमिच्छेत, शालिं भुञ्जीत—इति दधुपसेचनसङ्कीर्तनात्
 दधुपसिक्तं शालिं भुञ्जीत—इति तेनैकवाक्यत्वात् गम्यते एव
 मत्रापि यद्वायताविशेषसङ्कीर्तनात् तेनैकवाक्यत्वात् यद्वायता
 विशिष्टो रथन्तरसामा गम्यते । अथ वा अत्र हेतुहेतुमतोर्लिङ्ग
 रथन्तरसामा सोम ऐन्द्रवायवायानां यद्वाणां हेतुं कर्तव्यम्—
 इति । तस्मात् कृत्स्नक्रातुसयोगात् गुणं कर्मान्तरं प्रयोजयेत्
 एव कृत्स्नक्रातुसयोगोऽर्थवान् भविष्यति ।

अपि च पूरणं निमित्तेन भवितव्यं परेण नैमित्तिकेन ।
 कथं ? सति हि निमित्ते नैमित्तिकं भवितुमर्हति, न असति
 यच्च भावयति तत् न सत् भवितुमर्हति रथन्तरसामं तत् कथं
 पूर्वकालस्य यद्वायताविशेषस्य निमित्तं भविष्यति ?—इति ।
 अपिच निःसन्दिग्धं जगत्सामा कर्मान्तरं तत्सामान्यादितरदापि
 कर्मान्तरम्—इति गम्यते । तस्मात् न ज्योतिष्टोमस्य गुण
 विधानम्—इति ॥

स. एकस्य तु लिङ्गभेदात्प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुण-
वाक्यत्वात् ॥ २ ॥ (सि०)

भा. तुशब्दात् पञ्चोभ्यथा भवति, नैतदस्ति,—यदुक्तं,—कृत्वन्तरम्
—इति । कथं तर्हि ? ज्योतिष्टोमस्यैव यद्वायताविशेषः—
इति । कुतः ? प्रकरणसामर्थ्यात् । ‘ननु एतदुक्तं,—वाक्यसाम-
र्थ्यात् कृत्वन्तरस्य रयन्तरसाम्नो वृहत्साम्नस्येति’ । परिहृत-
मेतत्—ज्योतिष्टोम एव रयन्तरसामा वृहत्सामा च—इति ।
‘पुनर्दूषितमनेकसामत्यात् ज्योतिष्टोमस्य, विशेषणं रयन्तरेण
वृहता या न प्रकल्पते—इति’ । तदुच्यते,—प्रकल्पते विशेषणं,
वृहद्रयन्तरयोर्वैकल्पिकत्वात्, भवति स प्रयोगः, यत्र रयन्तर
नास्ति ; भवति च स प्रयोगः, विद्यमानरयन्तरसामकः, तदेतत्
रयन्तरं सत्तथैवासाधारणत्वात् विशेषकम् । तस्मात् ज्योतिष्टोम
एव रयन्तरसामा वृहत्सामा च—इति ।

‘अथ यदुक्तं,—पूर्वेण निमित्तेन भवितव्यम्, उत्तरेण नैमित्ति-
केनेति’ । नैतत्,—नियोगतो भवति हि भविष्यदपि निमित्तं,
यथा बर्षिष्यति—इति ह्यपि गृह्यकर्मानुष्ठानम्, अपि च तत् वृष्टम्,
इदञ्च वाचनिकं निमित्तं, तत् यथावचनं भवितुमर्हति । ‘स्यात्’
—इति चेयं लिङ् चित्त्वपि कालेषु भवति । तस्मात् भविष्यदपि
निमित्तम् । यत्तु—जगत्सामेति कर्मान्तरम्, तत्सामान्यात्
रयन्तरसामापि कर्मान्तरम्—इति । जगत्साम असम्भवात्
कर्मान्तरम् सम्भवति, रयन्तरसाम्नो वृहत्साम्नश्च ज्योतिष्टोम-
स्याभिधानं, तस्मात् न कर्मान्तरमिति ॥ (२ । ३ । १ अ०) ॥

यद्यथवेष्टे कृत्वन्तरताधिकारताधिकरणम् ।

स अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् कतुप्रधानमुच्यते ॥ ३ ॥

भा अस्ति राजसूय — 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' — इति । त प्रकृत्यामनन्ति अवेष्टि नामेष्टिन, — 'आग्नेयोग्वा कपालो हिरण्य दक्षिणा' — इत्येवमादि । ता प्रकृत्य विधीयते, — 'यदि ब्राह्मणो यजेत वार्हस्पत्य मध्ये निधायाङ्गतिमाङ्गतिं' इत्यादिभिर्धारयेत, यदि राजन्य ऐन्द्र, यदि वैश्यो वैश्वदेवम् — इति । तत्र सन्दिध्यते, — किं ब्राह्मणादीना प्राप्ताना निमित्तार्थेन अवणम्, उत ब्राह्मणादीनामय यागो विधीयते? — इति । 'कथं निमित्तार्थता भवेत्? कथं वा यागविधानम्?' — इति । यदि राजशब्दो ब्राह्मणादिष्वपि केनचित् प्रकारेण, ततो निमित्तार्थता, अथ चन्द्रिय एव, तत प्रापकाणि एव जातीयकानि अवणानि ।

किं तावत्प्राप्तम्? — निमित्तार्थता — इति, तत' एवं तावदुप वर्ण्यते, — यौगिको राजशब्द — इति, राज्य यस्य कर्म, स राजा । किं पुनाराजकर्म? । जनपदपुरपरिरक्षणे, ततद्यो हरणे राज्यशब्दमार्यावर्तनिवासिन प्रयुज्जन्ते, राज कर्म राज्यम् — इति चाभियुक्ता उपदिशन्ति, तेन मन्यामहे — यम्येतत् कर्म स राजा — इति, यथा ये उदमेघ नाम कश्चित् पुत्रप नावेदिषु, तस्य तु पुत्रमेदमेघि — इत्येव विदुः, शत्रुयुक्ते य तस्य पिता, स उदमेघ — इति कल्पयितुम्, उदमेघपुत्रस्यैव समभिव्याहारो भवति — इति । एव राज्ययोगात् राजशब्द — इति विज्ञायते ।

'ननु जनपदपुरपरिरक्षणवृत्तिमनुपजीवत्यपि धात्रिये राजशब्दमात्रा प्रयुज्जन्ते प्रयोक्ता' । न ह्यम्, — न प्रयुज्जन्ते — इति, किं तर्हि कर्मविशेषनिमित्तत्वात् राजशब्दस्य, तद्योगादपि

भा राजशब्दो भवति—इत्येतदुपपादयामः, प्रयुज्यते च तद्युक्ते राजशब्दम् अक्षत्रियेभ्यः, तदस्मिन् उपपन्ने प्रकरणवशात्, यदि-
शब्दसमभिव्याहाराच्च राजसूयस्येव गुणविधानं भविष्यति, न
ब्राह्मणस्य वैश्यस्य च कर्मान्तरं विधायिष्यति—इति ।

अथ वा असार्वलौकिकस्य प्रयोगस्य सार्वलौकिकेन प्रयोगेण
विरुध्यमानस्य अप्रामाण्यं स्यात्, अभ्युपगच्छन्ति हि ते जन-
पदिनः, सार्वभौमं प्रयोगम् । अपिचाविप्रगीता लौकिका अर्था-
विप्रगीतेभ्यः प्रत्ययिततरा भवन्ति, तथा आर्यावर्त्तनिवासिनां
शब्दार्थोपायेष्वभ्युक्तानामभिव्याहृतां कर्माणि चानुष्ठिताम्
अनाजनपदवासिभ्यो स्वेच्छेभ्यः समीचीनतर आचारो भवति ।
तस्मात् यौगिको राजशब्दः, निमित्तार्थानि श्रवणानि, राज-
सूयस्य गुणविधिर्न कर्मान्तरम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अवेष्टौ तु खलु क्रतुप्रधानं ब्राह्मणादिश्रवणं,
ब्राह्मणादीनामवेष्टियागं विधातुम्, न निमित्तार्थम् । कुतः ?
अप्राप्तत्वात् ब्राह्मणवैश्ययोः । कथमप्राप्तः ? । क्षत्रियस्य राज-
सूयविधानात्,—राजा राजसूयेन यजेत—इति । ‘ननृत्तम्,
—यौगिको राजशब्दः—इति’ । एतदप्युक्तम्, यतः जाति-
वचनः—इति । ‘ननृभयाभिधाने यदिशब्दसम्बन्धात्, प्रकर-
णाच्च न कर्मान्तरविधानं न्याय्यम्’—इत्युक्तम् । अथ उच्यते,
—नोभयाभिधानमवकल्पते । कुतः ? । यदि तावत् जातिशब्दो
राजा—इति, ततः तत्कर्मत्वात् जनपदपरिपालने राज्यशब्दो
भविष्यति, तेनार्थावर्त्तनिवासिनां प्रयोगो न विरोत्स्यते ।
अथ यदि राज्यशब्दः परिपालने नित्यसम्बद्धो भविष्यति, ततः
तस्य कर्त्तृत्वं राजशब्दः क्षत्रियजाती तन्निमित्तो भविष्यति, तत्र
शान्त्राणां प्रयोगो न विरोत्स्यते । तस्मात् न प्रयोगदर्शनादुभा-
वपि राजराज्यशब्दौ जातिपरिपालनाभ्यां नित्यसम्बद्धावित्य-
भ्युपगन्तव्यम् । को नु खलु निर्णयः ? । राजजातीयस्य कर्म—

भा इत्यतः परिपालनराज्यशब्देन उच्यते — एव हि स्मरन्तोऽभि-
युक्ता तस्य कर्म—इति *त्यञ्प्रत्यय विदधति, न तु तस्य
कर्त्तृति प्रत्ययलोप वा प्रातिपदिकप्रत्यापत्ति वा समामानात् ।
तस्मात् राज्ञः कर्म राज्यं न राज्यस्य कर्त्ता राजा ।

‘ननु यो यो जनपदपुरपरिरक्षणं करोति तन्तु लोको राज-
शब्देन अभिवदति । उच्यते,—योगात् लोकं प्रयुङ्क्ते परि-
पालने राज्यशब्दं प्रसिद्धं—इति स तु परिपालने राज्यशब्दो
राजयोगात्—इत्यस्माभिरुक्तं तस्मात् राजशब्दं प्रसिद्धे मूल-
तद्योगात् राज्यशब्दं तद्योगादपि ब्राह्मणवैश्ययो राजशब्दं
प्रयुज्यते न त्वेव स्मरन्ति—राज्ययोगात् राजा—इति ।

यत्तूक्तम्—अनुमानात् राज्यस्य कर्त्ता यः स राजा यथा
अदमेघे पिता उदमेघ—इति । उच्यते—अनुमानात्प्रयोगो
बलवान् राज्यस्य कर्त्तारं राजा—इत्यनुमिमीमहे क्षत्रिये तु
प्रत्यक्षं प्रयुज्जानान् उपलभामहे । तथा योगमप्यनुमिमीमहे
—राज्यस्य कर्त्ता राजा—इति राज्ञः कर्म राज्यमिति तुं
स्मरन्ति अनुमिमानाश्च स्मृतिम् अनुमिमते स्म स्मरन्तस्तु
प्रत्यक्षमुपलभन्ते तेन तत्र स्मृतिर्बलीयसी—इति । आह—
यो यो राज्यं करोति, तत्र राजशब्दं प्रयुज्जते, न यत् राज्ञः कर्म
तद्राज्यमिति तेन मन्यामहे—राज्ययोगो राजशब्दप्रवृत्तौ
निमित्तः, न तु राजयोगो राज्यशब्दप्रवृत्तौ—इति । न ब्रूम-
—प्रयोगात् यय राजयोग राज्यशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमवगच्छाम-
—इति कथं तर्हि?—स्मरणात् प्रयोगाच्च स्मृतिर्बलीयसी
प्रयोगाद्धि स्मृतिरनुमीयेत ।

* मिहान्तकीमुदीकृतम्, ‘पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यञ् (५ । १ । १००
पा०) इति सूचीय ‘राजाऽने’ इति वार्त्तिकमनुसृत्य राज्ञः कर्म राज-
मित्यत्र यञ्प्रत्यय विदधति । उभयैवार्थैश्च कर्ममिति प्रकृतसङ्गतिः ।

भा. अपि च राज्ययोगस्य निमित्तता व्यभिचरति,—जनपद-
परिपालनमकुर्वत्यपि राजेत्यान्त्रा वदन्ति—इत्युक्तम् । 'ननु
राजयोगात् राज्यम्—इत्येतदपि व्यभिचरति,—न हि राज्ञः
स्यन्दितं निमित्तितश्च सर्वं राज्यम्—इत्युच्यते' । यदि वयं
प्रयोगान्निमित्तभावं ब्रूयाम, तत एवमुपास्येमहि; स्मृत्या
तु वयं निमित्तभावं ब्रूमः, तेन यत् यत् राजजातीयस्य कर्म
जात्या विशेयते, तत् राज्यमित्यभ्युपगच्छामः । यत्तुक्तम्,—
आन्त्रा अपि राज्ययोगात् राजानमभ्युपगच्छन्ति—इति, परि-
हृतमेतत्,—प्रयोगो दुर्बलः स्मृतेः—इति । यदुक्तम्,—आर्या-
वर्त्तनिवासिनः, प्रमाणमितरेभ्य आचारेभ्यः—इति । तुल्यः
शब्दप्रयोग आचारेषु—इत्युक्तम् । तस्मात् जातिनिमित्तो राज-
शब्दः, एवमेतत् 'यज्ञसंयोगात्' (चात्रियस्य 'राजसूयेन'), याग-
विधिरवेष्टिः—इति ॥ (२ । ३ । २) ॥

आधानस्य विधेयवाधिकरणम् ।

ख. आधाने सर्वशेषत्वात् ॥ ४ ॥

भा. इदं समामनन्ति,—'वसन्ते ब्राह्मणो अधीनादधीत, यीष्मे
राज्यग्नयः, शरदि वैश्यः'—इति; तत्र सन्दिह्यते,—किं ब्राह्म-
णादियवणं निमित्तार्थं,—ब्राह्मणादय आदधाना वसन्तादि-
त्वादधीरन्—इति, उत ब्राह्मणादीनामाधानं विधीयते?—
इति । कथं निमित्तार्थता स्यात्? कथं चाधानविधानम्?—
इति । यदि ब्राह्मणो वसन्ते—इतिपदद्वयं परम्परं सम्बद्धं,
ततो निमित्तार्थं श्रवणम् । अथ ब्राह्मण आदधीत—इति,
आधानविधानं ब्राह्मणस्य । एवं राजग्यादित्वपि ।

किं तावत्प्राप्तम्?—निमित्तार्थं श्रवणम्—इति । कुतः? ।
निमित्तसंस्था एते शब्दाः । किं निमित्तसंस्थाप्यम्? । ब्राह्मण

भा दीना वसन्तादिभि समुच्चारणम् तच्चाविदितं वेद्यते—इति।
 ‘ननु ब्राह्मणादीना आदधतिनाप्यस्ति समुच्चारणम्’। वाढ
 मस्ति समुच्चारणम् नत्वमीयाम् आधानसम्बन्धो न विदितः।
 केन प्राप्नो विदितः ?—इति। कामश्रुतिभिः। का काम
 श्रुतयः ?। ‘अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः,’ ‘दर्शपूर्णमासाभ्या
 स्वर्गकामो यजेत—इत्येवमादयः। कथमाभिः श्रुतिभिराधानं
 प्राप्तम् ?—इति। उच्यते,—सामर्थ्यात्—यथा अग्निहोत्रमभिः
 निर्वर्त्यते, तथा कुर्यात्, यथा दर्शपूर्णमासावभिः निर्वर्त्यते तथा
 कुर्यात्, न च गार्हपत्याहवनीयान्वाहार्यपचनादिभ्यो विना
 एतानि कर्माणि सिद्ध्यन्ति, समामनन्ति हि,—यत आहवनीये
 जुहोति, तेन सोमस्याभीष्टं प्रीतो* भवति—इत्येवमादि
 तेन सामर्थ्यादेतदुक्तं भवति—आहवनीयादि कर्तव्यम्—इति,
 तच्चाधानेन विना न सिद्ध्यति—इत्याधानमपि कर्तव्यम्—
 इत्यवगम्यते। तत् केन कर्तव्यम् ?। यस्य कामश्रुतयः। ताभ्यां
 विशेषेण ब्राह्मणादीनाम्। तस्मात् अमीयामाधानसम्बन्धो
 विदितः—इति। अपि च, उभाभ्यां ब्राह्मणादीनां सम्बन्धे
 विधीयमाने वाक्यमिदं न हि, तदानीमेकोऽर्थः विधीयते।
 अतानिमित्तार्था श्रुतयः इत्येव प्राप्तम्।

एव प्राप्ते ब्रूम —‘आधाने सर्वशेषत्वात्’ प्रापकाण्याधानत्ये
 तानि श्रवणानि। कुत ?। सर्वकर्मणां शेषभूतम् आधानम्—
 इति न श्रुतिलिङ्गादीनामन्यतमेनोच्यते, किं तर्हि अग्नीनां
 सर्वशेषत्वात् तच्छेषत्वाच्च आधानस्य। विमतः ?। यदेवम्
 अग्नयः कामश्रुतिभिः प्राप्नुवन्ति, न आधानम्—इति। ‘ननु
 अग्नीनामभ्युपाय आधानम्—इति’। उच्यते,—नेतेषामर्जने
 आधानमेवेकोऽभ्युपायः, किं तर्हि यद्यान्येषां द्रव्याणामुपादाने

भा. कथणादयश्चाभ्युपायाः, एवमग्नीनामपि—इति न नियोगतः
 उत्पादनमेव, तेन पक्षे आधानं प्राप्नोति, पक्षे न; यतरस्मिन्
 पक्षे अप्राप्तिः, ततरः पक्ष उत्पत्तिं प्रयोजयिष्यति ब्राह्मणादी-
 नामाधानस्य, ब्राह्मण आत्मार्थमादधीत—इति यदा एतद्वचनं,
 तदा आत्मार्थमेवाहिता आहवनीयादयो भवन्ति, नान्यथा ।
 एवं च सति, न ह्यविमेण याचितेन वा कर्माण्यग्निहोत्रादी-
 न्यनुष्ठातव्यानीति गम्यते; तेन अहविम एव केवलोऽग्निस्तेषां
 साधकः—इति निश्चीयते । कथञ्च आत्मार्थता आधानस्य
 गम्यते?—इति । कर्त्रभिप्राये हि क्रियाफले आदधीत—
 इत्येतदात्मनेपदं सम्भवति । असत्यस्मिन् वचने कामयुतिपरि-
 ग्रहे नाधानस्यात्मार्थता भवेत् ।

अपि च सतीषु एतास्वाधानयुतिषु न कामयुतयः शक्नुवन्ति
 अपराम् आधानयुतिं कल्पयितुम्, यथा प्राप्तस्य आधानस्य
 पुनःयुतयः एता भवेयुः, असतीषु एतासु आधानयुतिम् अपरि-
 गृह्यन्तः कामयुतयोऽशक्यान् अग्निहोत्रादीन् वदन्ति—इति
 परिगृह्योपराधानयुतिं, सतीष्वेतासु येषामाधानम् उक्तम्,
 तान् अधिल्लत्योत्तरकालाः कामयुतयो भवन्ति—इति गम्यते ।

“अथ आह,—अस्ति केवलस्य आधानस्य विधायिका युतिः,
 —‘एवं सपत्न आतृष्यमवर्त्ति सृष्टे, य एवं विद्वानग्निमाधत्ते’—
 इति, तया प्राप्तस्य निमित्तार्थानि ब्राह्मणादीनां श्रवणानि
 भविष्यन्ति । ‘उचरते,—सम्भारविधानार्था पुनः युतिरैषा’ ।
 न—इति व्रतः,—भिन्नं हि इदं वाक्यम् सम्भारविधानवाक्यात्,
 अन्यो हि अर्थ आधत्ते—इति, अन्यः ‘अप उपसृजति’—इति,
 एकार्थविधाने हि एकं वाक्यम् भवति, भिन्नो चेमायर्थो, तस्मात्
 अत्र वाक्यभेदः—इति” ।

उचरते,—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीतेत्यस्यां युतौ माय
 पुनःयुतिः केवलस्याधानस्य अविधायिका,

भा विधीयते, तदेकस्मिन्नर्थे विधीयमाने नानेकार्थं भवति । 'ननु
 आधानस्येतद्विधानं, गुणार्था सा पुनःश्रुतिः' । न—इति ब्रूम,
 —सा ब्राह्मणादिसम्बद्धा प्रथमा श्रुतिः, इयं केवला पुनःश्रुतिः ।
 कुतः ? सा हि शब्देन विदधाति, तच्च लिङ्मुच्चरणीं
 पश्यामः, इयं प्रशस्तमाधानम्—इत्याह, ततः प्रशस्तता
 माधानस्यानुमन्यामहे । एवं च, वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत
 —इत्येषा विधायिका श्रुतिः—इति ब्रूमहे, नेतरत्प्रशसा
 वचनमस्मात्पक्षं बाधते, शक्यते हि अन्येन विहितं अन्येन
 प्रशस्तम्—इति वदितुम् । यदि त्वेतत् विधायकम्—इत्युच्येत,
 ततोऽस्मात्पक्षं विरुद्धेत । कथम् ? अज्ञातस्य ज्ञापनं विधानमे
 तत्, यदि प्राशसावचनेन अपूर्वं विज्ञाप्येत, तदा लिङा नापूर्वं
 ज्ञापितं भवेत्, तत्रापूर्वज्ञापनवचनः शब्दः उपरुध्येत । न तु
 लिङा विहिते प्रशसावचनमुपरुध्यते, विहितेऽपि हि वाक्या
 न्तरेण प्रशसावचनमवकल्पते । अपि च यत् लिङा विधानं, तत्
 श्रुत्या, वाक्येन तु प्रशसा गम्यते, श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी ।

'ननु इदमपि वाक्यम्—ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत—इति' ।
 उच्यते,—सपदार्थम् अत्र श्रुतिः विदधात्याधानं, ब्राह्मणादि
 सम्बन्धेन परपदार्थं प्रशंसति,—य एवं सफलं भ्रातृव्यम् अवर्ति
 सङ्गते—इति । 'ननु अनेकगुणविधानं त्वया वाक्येनाधवासतं
 भवति' । नैष दोषः,—अगुणविधिपरे हि वाक्ये भवत्यनेक
 गुणविधानम्—इत्युक्तं,—“तद्गुणास्तु विधीयेरन् अविभागात्
 विधार्थं न चेदग्येन शिष्टा,” (८३)—इति । तस्मात् ब्राह्मणादि
 संयुक्ता विधायिका श्रुतिः, इयमपि केवलस्याधानस्य पुनःश्रुतिः
 सम्भारविधानमुपक्रमितुम्—इति सिद्धम् ।

यत् उक्तम् (१७६।१७),—अनेकगुणविधाने वाक्यमिदमेत
 —इति, यदोमी गुणविधानविशिष्टो विधीयेयातां, भवेत् वाक्य
 भेदः, दाभ्यास्तु विशेषणाभ्यां विशिष्टमेकमाधानं विधायाप्यते,

भा. तेन न भविष्यति वाक्यभेदः । तस्मात् ब्राह्मणादीनामाधानस्य
प्राप्तकानि श्रवणानि—इति सिद्धम् ॥ (२ । ३ । ३ अ० ॥)

अथ दाक्षायणादीनाम् गुणताधिकारणम् ॥

स. अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपवन्धात् ॥ ५ ॥ (पू० १ ॥)

भा. दर्शपूर्णमासो प्रवृत्त्यामनन्ति,—‘दाक्षायण्यज्ञेन यजेत प्रजा-
कामः, साकंप्रस्थाप्येन’ यजेत पशुकामः, संव्रतमयज्ञेन यजे-
तान्नाद्यकामः—इति । तत्र सन्देहः,—किं दर्शपूर्णमासयोरेव
गुणात्फलम्, उत कर्मान्तरम् एवज्ञातीयकमिति ? किं प्राप्तं ?
—कर्मान्तरम् इति । कुतः ? संज्ञोपवन्धात्, यद्यपि प्रकरणात्
यजतिशब्दाच्च स एव पूर्वप्रवृत्तो यागः—इति गम्यते, तथापि
नासावेवंसंज्ञकः—इति यागान्तरं विधेयं गम्यते ॥

स. अगुणाञ्च कर्मचोदना ॥ ६ ॥ (पू० २ ॥)

भा. न च, अत्र गुण उपपद्यते कश्चित्, यद्विधानार्था चोदना
भवेत्, यदि च न यागान्तरम्, आनर्थक्यमेव । अपि च, यदि
गुण उपपद्येत, ततो यागगुणसम्बन्धो गम्यते—इति तदनुष्ठानं
विधीयेत—इति अननुबध्यमाने यागमात्रं गम्यते—इति तदनु-
ष्ठानं विहितं गम्यते ॥

स. समाप्तं च फले वाक्यम् ॥ ७ ॥ (पू० ३ ॥)

भा. इतश्च कर्मान्तरम् । कथं ? फले समाप्तं वाक्यं,—प्राजाकामो
यजेत—इति, प्रजाकामस्य याग उपायो विधीयते ; विधीयते
चेत्, कर्मान्तरम् ॥

स विकारो वा प्रकरणात् ॥ ८ ॥ (सि० ॥)

भा दर्शपूर्णमासयोरेवाधिकार एवजातीयक स्यात् दाक्षायण यज्ञादि एवम्प्रकरणमनुगृहीतं भवति ॥

स लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ९ ॥ (सि० हे० ॥)

भा लिङ्गमपि एतमर्थं दर्शयति—‘विशतं वर्षाणि दर्शपूर्ण मासाभ्या यजेत यदि दाक्षायणयाजो स्यात् अथो अपि मघदशैव वर्षाणि यजेत अत्र हि एव सा सम्पद्यते हे हि पूर्णमास्यो यजेत हे अगावस्ये, अत्र हि एव खलु सा सम्पत् भवति’—इति । यदि दाक्षायणयज्ञो दर्शपूर्णमासावेव एव तर्हि विशत्सम्पदा प्रयोजनं ततः तस्य विशत्सम्पदनुयहो युज्यत तस्मात् अपि न कर्मान्तरम् ॥

स गुणात्सन्नोपबन्ध ॥ १० ॥ (आ० नि० ॥)

भा यदुक्तं सन्नोपबन्धात् कर्मान्तरम्— इति यदि दाक्षायणशब्दो न केनचिदपि प्रकारेण दर्शपूर्णमासयजनं शक्यते कल्पयितुं तत उच्यते कर्मान्तरम्—इति शक्नोति तु आहृतिगुणसम्बन्धादितु—अयनम्—इत्याहृति उच्यते दक्षस्य इमे दाक्षा तेषामयनं दाक्षायण । कः पुनर्दक्षः ? उत्साही । तथा साकप्रस्थाप्येभ्यः—सहप्रस्थानं गुणसम्बन्ध एव सर्वत्र । शक्यते चेत् दर्शपूर्णमासयोगुणसम्बन्धो यदि तुम् किमिति स एव याग प्रतीयमानोऽन्य—इत्युच्यते ? किमिति वा प्रकरणं बाध्यते ? ॥

स समाप्तिरविशिष्टा ॥ ११ ॥ (आ० नि० ० ॥)

भा यदुक्तम्—फलं वाक्यं समाप्तम्—प्रजाकामादिर्यागानुष्ठानं विधीयते—इति नेवमं अविशिष्टां फले समाप्तिं यानि

भा. अन्यानि मुक्तसंशयानि गुणे फलस्य विधायकानि वाक्यानि गुणस्य फलवचनानि पर्यवसितानि (यथा दध्ना इन्द्रियकामस्य जुञ्ज्यात्,—इत्येवमादीनि), तेरेतदविशिष्टम्, अत्रापि हि गुणात्फलम् उच्यते । 'कथं नेतदेवं सम्बध्यते,—प्रजाकामस्य यज्ञमनुतिष्ठेत्—इति ?' । कथं तर्हि प्रजाकामस्य आरुत्तियज्ञमनुतिष्ठेत्—इति, आरुत्तियज्ञ,—इति यज्ञादुत्तिसम्बन्धोऽनुष्ठातव्यो निर्दिश्यते, न यज्ञः ? । तस्मात् प्रकृतयोर्दर्शपूर्णमासयोः गुणात्फलम् उच्यते,—न यागान्तरं विधीयते—इति । एवं साकंप्रस्थाप्यं सक्रमयज्ञे च द्रष्टव्यम्—इति ॥ (२ । ३ । ४ अ० ॥)

अथ दयदेवतायुक्तानाम् यागान्तरताधिकारणम् ॥

स संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ॥ १२ ॥ (प्र० पू० ॥)

भा. अनारभ्याधीयते किञ्चित्,—'वायव्यं श्वेतमानभेत भूतिकामः,† सौर्धं चरं निर्वपेत् ब्रह्मवर्धसकामः', दर्शपूर्णमासयोरप्यामनन्ति,—'ईषामालभेत ‡ चतुरो मुष्टीर्निर्वपति'—इति । तत्र अयमर्थः साशयिकः,—किं दर्शपूर्णमासिके आलम्भे आलम्भो गुणविधिर्दर्शपूर्णमासिके च निर्वापे निर्वापो गुणविधिरुत न प्रकृतिमपेक्षते इतरश्चेतवरश्चेति ? यदा न प्रकृतिमपेक्षते, तदापि किं यावदुक्ते, उत यजिमती एते कर्मणी—इति ? ।

किं तावत् प्राप्तं ?—प्रकृतयोरालम्भनिर्वापयोर्गुणविधी—इति । कुतः ? । अकर्मशब्दत्वात्, न अत्र कर्मणो विधायकः

* अत्राप्यन्यत् गुणात् फलमिति पाठः का० क्री० पु० ।

† भूमिकाम इति का० क्री० पाठः ।

‡ ईषा शकटगतो नाङ्गलवहोर्धः काष्ठविशेषः । तस्या अ। स्पर्श इति माधवः ।

भा शब्दोऽस्ति । ननु आलम्भेन निर्वपेत्—इति च । नैतौ विधातारौ अविदितस्यार्थस्य वक्ता विधायको भवति न चेतयोरविदितोऽर्थः—आलम्भ कर्तव्य निर्वप कर्तव्य—इति । तस्मात् अनुवदितारौ । किमर्थम् अनुवदतः ? आलम्भेनैवेति विधातुं निर्वपे च चरम् । तस्मात् न आलम्भान्तर निर्वपान्तरं च, प्रवृत्तयोरेव गुणविधौ—इति ॥

स यावदुक्तं वा, कर्मण शुतिमूलत्वात् ॥ १३ ॥
(द्वि० प० ॥)

भा न चेतदस्ति—प्राहृतयोर्गुणविधौ—इति, किं तर्हि आलम्भान्तर विधीयते—इति निर्वपान्तरश्च यदि आलम्भनिर्वापौ विधीयेत, ततो न प्राहृतौ तौ विदितौ । यदि न विधीयेत ततः प्राहृतौ नृध्येते, यावदालम्भनिर्वापौ कर्तव्यौ—इति ततः तौ लक्षयित्वा श्रेतो विधातव्यो भवति चरश्च तौ च भूति कामस्य ब्रह्मवर्चसकामस्य च—इति दावप्यद्या विधेयौ स्यातां ततः वाक्यम्भेद्यतः । अथ वा योऽसौ विधायक शब्दः, स लक्षयितव्योपयुक्त इति विधायकाभावादेकोऽप्यर्थो न शक्यते विधातुम् । अथ स एव लक्षयित्यति, तेनेव च विधायित्यते गुण—इति । न मिथो विधानलक्षणसम्बन्धोऽवकल्पते । ‘अथ धात्वर्थेऽनुवादः प्रत्ययो विधातुमिष्यते—इत्युच्यते—य आलम्भ स एतद्गुण कर्तव्य—इति । तथापि न प्राहृतौ लक्षयेत लौकिकापि हि आलम्भोऽस्ति, प्रत्ययार्थानूद्यमाने प्राहृतौ नृध्येत—इति स हि कर्तव्यो निर्हातो न लौकिक अतो न प्राहृतानुवादो घटो—इति यावदुक्तं (आलम्भमात्रं निर्वप मात्र च) अपूर्व कर्तव्य कर्मण शुतिमूलत्वात्—शुतिमूलं हि कर्म—इत्युक्तं—चोदनलक्षणोऽर्थो धर्म—(१)—इति, तस्मात् कर्मान्तरे ॥

यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृमयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात् ॥ १४ ॥ (सि० ॥)

भा यदुक्त,—न प्राकृतयोगविधी—इति, एतत् गृह्णीम । यत् उत्तम,—आलम्बमात्र विधीयते, निर्वापमात्र—इति, एतदप जानीमहे, यजिमती एते कर्मणी—इति । कुत ? । द्रव्य फलभोक्तृसयोगात् (द्रव्यदेवतासयोगात्) द्रव्यदेवतासंयोगो अत्र विधीयते,—भूतकामस्य ब्रह्मवर्चसकामस्य च । कथं ? । न हि, इदमेव उच्यते,—श्वेतम आलभेत—इति, यदि क्षेतावदेव उच्येत,—तत श्वेतालम्बसम्बन्ध अवगम्यते, इह हि श्वेतं वायव्यमालभेतेत्युच्यते, तेन श्वेतवायव्यसम्बन्धो विधीयते, यथा पट वयेति पटवयनसम्बन्धो विधयोऽवगम्यते, पट दीर्घ वयेति पटस्य दीर्घता विधीयते, दीर्घशब्दप्रयोगात्, एवमि द्वापि सौर्यवायव्यशब्दप्रयोगात् द्रव्यदेवताभिसम्बन्धो विधेय —इति गम्यते, इतरथा देवताशब्द प्रमादसमाग्नात्—इति गम्येत ।

‘ननु अत्रापि श्वेत वायव्य कुर्यात् त चालभेत—इत्यर्थद्वय विधानात् भिद्येतेष वाक्यम् । न—इति ब्रूम, न चालभेते त्यस्यायमतिभारो यत् द्रव्यदेवतासम्बन्धेन पुरुषप्रयत्नं वृथात्, त चान्भेतेत्यर्थविशिष्ट, अतएव हि पुरुषप्रयत्नो विशिष्टो गम्यते, वाक्येन च द्रव्यदेवतात्रय—इति न अत्र द्वाभ्या वाक्याभ्या प्रयोजनं, यथा रक्तमश्वं योजयेति यदा गुणविधिपरं भवति वाक्यम्, तदा द्वाभ्या वाक्याभ्या प्रयोजनं गुणद्वयविधाने, अथ शोणमानयेत्युच्येत, तत्र गुणविधिपरं वाक्ये पर्यवसिते एव गुणद्वयविधानं अतएव विशिष्टगुणद्रव्यस्य प्रतीतत्वात् न भवत्येकस्य वाक्यस्य अतिभारः, एवमिहोपीति ।

यज्जभि पदेर्विशिष्ट एक एवोच्यते—इत्येकार्थत्वम्, १५०

भा मानानि च अत्र पदानि साकाङ्क्षाणि—इत्युपपन्नमेकवाक्यत्वं
न च यागमन्तरेण देवताय द्रव्य सङ्कल्पितव्यम्—इत्यप्य
सम्बन्धोपपत्तेः । तस्मात् यजिमती एते कर्मणी—इति ॥

ख लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १५ ॥ (सि० हे० ॥)

भा लिङ्ग खल्वप्यतमर्थं दर्शयति सौमारौद्र चरु निर्वपेदिति
प्रकृत्य परित्रिते याजयेत्—इति परिश्रयणविधि एतस्य
वाक्ये यजतिशब्देन सङ्कीर्त्तनमवकल्पते यदि यजिमती एते
कर्मणी अथ प्रकृती गुणविधान यावदुक्तं वा यजतिशब्देनानु
वादो न अवकल्पत । तस्मात् अवगच्छामो यजिमती—इति ॥
(२।३।५ अ० ॥)

अथ वत्सालम्भादीनां संस्कारताधिकरणम् ।

ख विशये प्रायदर्शनात् ॥ १६ ॥

भा किम् इह उदाहरणम् । न तावत् सूत्रैव परिगृहीतं यथा
'अवेष्टी यज्ञसयोगात् व्रतुप्रधानम् उच्यते (२।३।३ सू०)—
इति । नापि च सार्धं प्रतिज्ञातं यथा अयनेषु चोदनान्तरम्
(०।३।५ सू०)—इति । केवलं विशये (संशये) प्रायदर्शनं
हेतु—इति निर्दिश्यते वक्ष्याय हेतु ?—इति न विजानीम ।
प्रकृतं यजिमदेतत्कर्म—इति तदपि न सम्बद्धमानं न
पश्याम तदेतदगमकं सूत्रमेव तावदनर्थकम् । अथ का अपि
प्रतिज्ञा ? यद्य मन्दिह ?—इति यत्तद्यम् । उत्तिकारवचनात्
प्रतिज्ञा सम्यक् अवगच्छाम । अथ भगवानाचार्य इदमुदा
हरत्य—'वत्समानमेतं यत्पशुनिधाना हि पशव—इति इमं
सम्यक्पश्यत्यस्मि—'किं यजिमन् भवान् एष प्राग्भाति
उत्तानम्भमाश्वघन—इति ? । उपपद्यते चैतत् उदाहरणम्

भां संशयश्च । तत्र च पूर्वपक्षं प्रतिजानीतेस्म, — 'यजिमदभिधानः' — इति । इदं तु प्रत्युदाहरणसूत्रं पूर्वस्य अधिकरणस्य, न अत्र पूर्वपक्षेण अतीव प्रयोजनं, तथापि पुरुषाणामुच्चावचबुद्धि-विशेषानालोच्य भवति मन्दानां सामान्यतोदृष्टेनाप्याशङ्का, सापि निवर्तनीया, न हि, मन्दविषेण दृष्टिकेनापि दृष्टो न्निषेत् न जातुचित् कदापि, तत्र चिकित्सा नादरेण कर्तव्या भवेत् ! अतस्तां निवर्तयितुम् पूर्वपक्षमुपन्यस्यतिस्म, — आलभतिरस्माभिः प्राणिसंयुक्तो यजिमदभिधानो दृष्टः, अयमपि आलभतिः प्राणिसंयुक्तः एव, तेनायमपि यजिमद्वचन एव — इति भवति कस्यचित् आशङ्का । अथ वा यजिमदभिधानो दृष्टः आलभतिः प्राणिसंयुक्तः, तस्य अयमनुवादो वत्सविधानार्थः, तथा च फलम् न कस्यचित्तस्य भविष्यति — इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः, — अस्मिन् संशये आलम्भमात्रं* संस्कारः । कुतः ? । प्रायदर्शनात्, यत्र अन्यान्यपि संस्कारकर्माणि प्राय-भूतानि — इत्युच्यन्ते, तत्रैतदपि श्रूयते । प्रायादपि चाद्यनिश्चयो भवति, यथा, अथप्राये लिखितोऽग्रः — इति गम्यते । 'ननु लिङ्गं प्रायदर्शनं, कथम् अनेन सिद्धिः ? — इति' । उच्यते, — यथा प्रायदर्शनेन सिध्यति, तथा वर्णयितव्यम् । 'कथं च प्राय-दर्शनं हेतुः ?' । न्यायतः प्राप्तौ सत्याम् । कः पुनर्न्यायः ? । देवतासम्बन्धाभावात् न यागवचनोदृष्टार्थत्वाच्च, — वास आ-लम्बमानो गां प्रस्तावयिष्यति — इति । तस्मादेवंन्यायप्राप्ते प्रायदर्शनं द्योतकं भवति । तस्मात् आलम्भमात्रं संस्कारः ॥

सू. अर्थवादोपपत्तेश्च ॥ १७ ॥

भा. अर्थवादश्च भवति, — 'वत्सनिकान्ता हि पशवः' — इति,

भा यस्मात् वत्सप्रिया पशव, तस्मात् वत्स आलम्ब्य — इति, यदि
 गा प्रस्तावयितुम् आलम्ब्यते, तत्र एतद्वचनम् अवकल्पते अथ
 सञ्जपयितुम्, तत्र एवज्ञातीयक वचनं नोपपद्येत । तस्मादपि
 आलम्ब्यमात्रं संस्कार — इति सिद्धम् ॥ (२।३।६ अ० ॥)

नेवारचरोऽपधानार्थताधिकरणम् ।

स मयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदथ श्रुतिमयोगात् ॥ १८ ॥

भा अस्ति अग्निं तत्र नेवारश्चरन्भवति — इत्युक्त्वा, यदेनश्च
 मुपदधाति — इति समामनन्ति । तत्र सन्दिह्यते, — किं चर्या
 गार्था (यागं कृत्वा अवशिष्ट उपधातव्य), उत उपधानार्थं
 एव? — इति । यागार्थ — इति ब्रूम, — चरोर्हि प्रसिद्धं कार्यं
 यागो नोपधानम् । 'उच्यते, — यद्यपि यागार्थता चरो प्रसिद्धा
 तथापि देवतावचनसम्बन्धाभावात् यजतिशब्दासम्बन्धाच्च न
 यागार्थता — इति गम्यते । तदुच्यते, — तस्यैव वाचस्पये श्रूयते
 — 'वृद्धस्पतेवा एतदन्नं यज्ञोवासा — इति, तेन देवतावचनेन
 सन्निहितेनेकवाक्यता भविष्यति — इति वृद्धस्पतिदेवताक उप
 धातव्य — इति । तस्मात् यागार्थश्च — इत्येव प्राप्तम् ।

एव प्राप्ते ब्रूम, — 'मयुक्तस्त्वर्थशब्देन' (कार्यशब्देन उप
 दधातीति) 'तदर्थ' एव स्यात् (उपधानार्थ) । उपदधाति
 ना चास्य प्रत्यक्षमेकवाक्यत्वम् परोक्षं देवतावचनेनानुमेदम्
 चरमुपदधाति — इति हि प्रत्यक्षं वाक्यम् । वार्द्धस्पत्यमुप
 दधाति — इत्यानुमानिकम् । तस्मात् वृद्धश्चरूपधातव्य,
 ततश्च किञ्चित् इज्याया यिनियुज्येत, तदन्यच्च श्रुतम् अन्यथ
 एतत् भवेत् । यच्च वार्द्धस्पत्या नोवासा — इति, अर्थवाद स —
 इति । यत्तु — प्रसिद्धा चरोर्यागार्थता — इति, प्रसिद्धिर्वाप्येन
 साध्यते । तस्मात् उपधानार्थ — इति सिद्धम् ॥ (२।३।७ अ० ॥)

त्वाद्गृह्णातीवतस्य पर्यग्निकरणगुणकत्वाधिकरणम् ॥

स. पालीवते तु पूर्वत्वादवच्छेदः ॥ १६ ॥

भा. त्वाद्गृह्णातीवतं विधायेदमुच्यते,—यत् 'पर्यग्निकृतं पालीवतम् उत्सृजन्ति'—इति । तत्र सन्देहः,—किं त्वाद्गृह्णस्य पर्यग्निकृतस्यैष उत्सर्गो विधीयते, उत तस्मात् यागान्तरम्?—इति । यदि पर्यग्निकृतम् उत्सृजन्ति—इति पदद्वयं परस्परं सम्बद्धं, ततः त्वाद्गृह्णस्योत्सर्गः, अथ पालीवतशब्द उत्सृजतिना सम्बध्येत, ततो यागान्तरम् ।

किं तावत् प्राप्तम्?—यागान्तरम्—इति । कुतः? । पूर्वः त्वाद्गृह्णातीवतस्य, उभयविशेषणविशिष्टः कथं पालीवतशब्देन अनूद्येत । अपि च त्वाद्गृह्णस्योत्सर्गे विधीयमाने पर्यग्निकृतम्—इति विशेषणं न अवकल्पेत । अतो ब्रूमः,—पर्यग्निकृतस्य पालीवतता विधीयते, स एव यागः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—न कर्मान्तरं, पूर्वस्य एव उत्सृजतिशब्देन अवच्छेदो विधीयते । किमेवं भविष्यति? । यजिमत्ता तावत् कल्पयितव्या न भविष्यति, उत्सृजतिशब्दस्य श्रुत्या उत्सर्गं विदधत्वाक्येन न बाधितो भविष्यति, कर्मान्तरपक्षे वाक्येन पालीवततायां विधीयमानायामर्थात् प्राप्त उत्सर्गो धातुना अनूद्येत । अपि च पर्यग्निकृतस्य पालीवतता पूर्वस्य विदितैव, सा विधातुम् न शक्यते, तस्मात् पूर्वस्य कर्मणोऽवच्छेदः । यत्तूक्तं,—त्वाद्गृह्णस्य उत्सर्गं विधीयमाने पर्यग्निकृतम्—इति विशेषणं तावत् नावकल्पेत—इति, नेष दीपः,—अतस्त्वमेवात्र पालीवतशब्दो नासौ विशेष्यते, अत एव 'त्वाद्गृह्णातीवत उभयविशेषण-विशिष्टः केवलेन पालीवतशब्देन लक्षणयानूद्येत'—इति न दीपः । तस्मात् अवच्छेदः—इति सिद्धम् ॥ (२।३।८ अ० ॥)

यदाभ्यादीनां यद्दनामताधिकरणम् ।

सू. अद्रव्यत्वात् केवले कर्मशेषः स्यात् ॥ २० ॥

भा न कस्यचिदपि प्रकरणे श्रूयते,—‘एष वै हविषा हविर्दत्तये
योदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते’—इति, तथा ‘परा वा
एतस्यायुः प्राण एति योऽंशुं गृह्णाति’—इति । तत्र सन्देहः,
—किं यागान्तरमेतदयहणकम्, उत ज्योतिष्टोमयागे यद्-
विधिः ?—इति ।

किं प्राप्तम् ?—यागान्तरम्—इति । कुतः ? अपूर्वनामधेय
संयोगात्, न प्रकृतावेतन्नामधेयको यागोऽस्ति, न यद्दः कश्चित्
योभ्यस्येत । तस्मात् यागान्तरम् । ननु द्रव्यदेवतं न श्रूयते ।
भाभृत् द्रव्यदेवतं, साक्षादेव यजतिशब्दो विद्यते । तस्मात्
कर्मान्तरम् अदाभ्यसंज्ञकम्, अंशुसंज्ञकं च यागं करोति—इत्येवं
प्राप्तम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अद्रव्यदेवताके केवले नामधेये श्रूयमाणे
ब्रूमः, ज्योतिष्टोमे एव यद्दाभ्यासविशेषविधानम्—इति । कुतः ?
एतत् तावत् यद्दस्य नामधेयं न यागस्य, यद्दत्तेन साक्षात्-
सम्बन्धात्, यदहितत्वात् यागस्य । अंशुः—इति च मुहुरश्रय-
मेव यद्दनामधेयं, न च यद्दभेदे यागभेदो भवति, न च,
द्रव्यदेवतं श्रूयते ! यतो गृह्णातिर्यजिमद्वचनो* भवेत्, यदप्युक्तं,
—साक्षात् अथ यजतिशब्दो विधायकः—इति, नैवं द्रव्यं
कर्मान्तरं विधातुम्, विहितयागवचनो हि सः, विशेषाभावात् ।
तस्मान् यजतिना ज्योतिष्टोम एव उच्यते, अ यदाभ्यशब्दाभ्या-
सपि अपरो यद्दाभ्यासो विधीयेते—इति सिद्धम् ॥ (२।१
८ अ०) ॥

अग्निचयनस्य संस्कारताधिकरणम् ।

ख. अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत ॥ २१ ॥
(पू०, ॥

भा. अस्त्यग्निः, 'य एवं विद्वानग्निश्चिनुते'—इति, एवं विधाय
श्रूयते,—'अथातोर्गग्निमग्निष्टोमेनेवानुयजति, तमुव्येन, तमति-
रात्रेण, तं षोडशिनः'—इत्येवमादि । तत्र सन्देहः,—किम-
यमग्निशब्दो यागवचनो ज्योतिष्टोमादिभ्यः कर्मान्तरं चिनुते
—इत्याख्यातेन विधीयते, उत द्रव्यवचनो ज्योतिष्टोमादिषु
गुणविधानम्?—इति ।

किं प्राप्तम्?—यागवचनः—इति । कुतः? । 'लिङ्गदर्शनात्',
लिङ्गं हि दृश्यते,—अग्नेः स्तोत्रमग्नेः शस्त्रम्—इति 'तथा, षट्प-
सदोभ्येः चित्वस्य भवन्ति'—इति, यस्य स्तोत्र-शस्त्रमुपसदश्च
तस्याग्निशब्दो वाचकः—इति गम्यते, यागस्य एतत् सधे,
तस्मात् यागवचनः—इति । 'ननु लिङ्गमसाधकं, प्राप्तिरुचर-
ताम्'—इति । अत्र उच्यते,—अथातोर्गग्निमग्निष्टोमेनेवानुयजति
—इति यागमभिनिवर्त्तयति—इत्युच्यते, तम् अग्निमिति विशि-
नष्टि । तस्मात् अग्निसञ्ज्ञकः—इति गम्यते । अनुशब्दोभ्युपसर्गा
यजनेर्विशेषक एवमुपपद्यते, यद्यग्निर्यागः; तस्मात् क्रतुशब्दः
प्रतीयेत ॥

ख. द्रव्यं वा स्यात् चोदनायास्तदर्थत्वात् ॥ २२ ॥ (सि० ॥)

भा. द्रव्यं वा अग्निशब्देन उच्यते । कतमत् द्रव्यम्? । यदेतत्
उपलनः, अत्र हि एष प्रसिद्धः । चिनुते—इत्येषा हि चोदना
चयनार्था न यजत्यर्थे शक्नोति वदितुम्, चयनेनैनं संस्क्रुते
चित्तो रथापयति—इति । अनुशब्दश्च पद्यादर्थो भविष्यति,
चयने निर्हते पद्यादग्निष्टोमेन यागेन यजतीति ॥

स तत्संयोगात् क्रतुस्तदास्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि ॥

॥ २३ ॥

भा यत्तु लिङ्गदर्शनम् उक्तम् — यागवचनोऽग्निशब्द — इति, तत्
तैत्वेव लिङ्गसंयुक्तेषु वचनेषु, न सर्वत्र तेषु चित्याग्निसंयोगात्,
यागे लक्षणशब्द तेन क्रतुवचनानि *तद्धर्मविधानानीत्य
दोष ॥ (२।३।१० अ० ॥)

मासाग्निहोत्रादीनां क्रतुन्तरताधिकारश्च ॥

स प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥ २४ ॥

भा कुण्डपायिनामयने श्रूयते, — मासम् अग्निहोत्रं जुहोति, मास
दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते — इत्येवमादि । तत्र सन्दिह्यते, — किं
नियते अग्निहोत्रे नियतयोश्च दर्शपूर्णमासयोर्मासो विधीयते
कालः, अथ किं नियताग्निहोत्रात् नियताभ्याश्च दर्शपूर्णमा
साभ्यां कर्मान्तरविधानम् ? — इति ।

किं तावत् प्राप्तं ? — नियतेषु कालविधि — इति । कुत ?
कालविधिसरूप एव शब्दो मासम् — इति । कथम् कालविधि
सरूपता ? । यत् अग्निहोत्रं जुहोति — इति विदितं, मासमित्य
विदितम् । एवं च अग्निहोत्रशब्दो दर्शपूर्णमासशब्दस्य न
अर्थान्तरवृत्तौ भविष्यत, तस्मात् कालविधि । 'ननु कुण्ड
पायिनामयनप्रकरणं बाधते' । काम बाधतां, वाक्यं हि
बलवत्तरम् ।

एवमाप्ते श्रूयते, — प्रवर्णान्तरे श्रूयमाणं वाक्यं यस्य प्रवरणे,
तस्य वाचकं भवितुमर्हति । 'ननु प्रत्यक्षोऽग्निहोत्रस्य दर्शपूर्ण

भा नासयोश्च गुणविधिः । न,—इत्युच्यते । कथम् ? । उपसद्वि
 श्रित्वेति ह्युक्ता इदमभिधीयते, न च, उपसदोऽग्निहोत्रस्य
 दर्शपूर्णमासयोश्च सन्ति । तस्मात् ऋशक्य तत्र मासविधिः ।
 'अथ उच्यते,—उपसदोऽपि विधीयन्ते—इति । तथा गुण
 विधानार्थेऽस्मिन् वाक्ये अनेकगुणविधानात् वाक्यमभिदेत ।
 अस्मिन्पक्षे पुनरतद्वम अग्निहोत्रशब्दो न कर्म विशेष्यति, तेन
 वाक्यभेदो न भविष्यति । तस्मात् कर्मान्तरम्—इति सिद्धम् ॥
 (२।३।११ अ० ॥)

आग्नेयादिकाम्येष्टाधिकार्यम् ॥

स फलं चाकर्मसन्निधौ ॥ २५ ॥

भा अनारभ्य किञ्चिच्छ्रूयते आग्नेयमष्टाकपाल निर्वपेत रुक्काम,*
 अग्नीषोमीयमेकादशकपाल निर्वपेद्भृक्षवर्षसकाम ऐन्द्राग्रमेका
 दशकपाल निर्वपेत्प्रजाकाम—इति । अत्र सन्दिह्यते,—कि
 प्राकृतेष्वग्नेयादिषु फलं विधीयते उत प्राकृतेभ्य कर्मान्तरा
 ण्येतानि ? ।

किं प्राप्तं ?—प्राकृतेषु फलविधि—इति । कुत ? । विदिता
 आग्नेयादयः प्रत्यभिज्ञायन्ते तस्मात् तथामनुवादः फलसम्बन्ध
 न्धार्य—इति ।

एव प्राप्ते ब्रम,—फलं च भेदक अकर्मसन्निधौ श्रूयमाणम् ।
 कथम् ? । अनुवादे सति न शक्यत फलं विधातुम्, विधायकस्य
 अभावात्, न हि अविधीयमानो हि उपायो रुचो भवति—
 इति गम्यते । अपि च रुक्कामे अत्र विधीयमाने कामस्य

भा अनित्यत्वात्, आग्नेयादीना नित्यत्वात्सम्बन्धो न अवकल्पेत ।
एव सर्वत्र । तस्मात् कर्मान्तराणि ॥ (२।३।१२ अ० ॥)

अवेष्टेरेवाद्यकालत्वाधिकारणम् ।

स सन्निधौ त्वविभागात् फलार्थेन पुन श्रुतिः ॥ २६ ॥

भा अस्त्यवेष्टि,—‘आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति’—
इत्येवमादि, ता प्रकृत्योच्यते,—‘एतयाऽन्नाद्यकाम याजयेत्’—
इति । तत्र सन्देहः,—किं कर्मान्तरमवेष्टे, उतवेष्टिरेवेति ? किं
प्रार्तम्,—कर्मान्तरम्—इति, उक्तेन न्यायेन । एव प्राप्ते द्रुमः,—
स सन्निधौ फलाद्यन पुन श्रुति अवैष्टेरेव, न कर्मान्तरम्—इति ।
कुन ? अविभागात् एतयेत्येष शब्दो न शक्नोति अवैष्ट्या विभक्त
यः, गतस्य वक्तुम् सन्निधौ तस्य प्रतिनिर्देशक एव शब्दः । तस्मात्
अवेष्टेरेवाद्याद्यकामस्य विधीयते—इति । किं प्रयोजनम् ?
यदि अवेष्टि, आग्नेयादीनि हवींषः, अथ कर्मान्तरम्, अथ
हविष्को याग—इति ॥ (२।३।१२ अ० ॥)

आग्नेयस्य हेतुत्वयन्ताधिकारणम् ।

स आग्नेयस्य हेतुत्वाद्भ्यासेन प्रतीयेत ॥ २७ ॥ (पू०) ॥

भा दर्शपूर्णमासयो ‘आग्नेयोऽष्टाकपालोऽन्नाद्यकाम याजयेत्’
चाचुरतो भवति—इति विधाय पुनरुच्यते,—‘आग्नेयोऽष्टा
कपालोऽन्नाद्यकाम याजयेत्’—इति । तत्र सन्देहः,—किम्
अन्नाद्यकामया विराग्नेयेन दृष्टम्, उत गृहम् ?—इति । किं
प्राप्तम् ?—‘आग्नेयस्य हेतुत्वाद्भ्यासेन प्रतीयत’, एतदेव
पुन श्रुति अविशेषात् अनर्थकं हि स्यात्—इति ॥

सू. अविभागात् कर्मणा द्विरुक्तेर्न विधीयते ॥ २८ ॥

(सि० १ ॥)

भा. नैतदस्ति,—पुनरभ्यस्तव्यः आग्नेयः—इति । कुतः ? । न, अभ्यासस्य वाचकः शब्दोऽस्ति—इति । ‘ननु आग्नेयः पुनरुचरितः परं कर्म विधास्यति’ । न—इति ब्रूमः,—शब्दः पुनरुचरितो न ‘पुनरर्थः कर्तव्यः’—इति शक्नोति वदितुम्, योऽस्य प्रथमम् उचरितस्यार्थः, शतशतबोध्युचरितस्य स एवार्थो भविष्यति, नान्यः । ‘ननु विहितमेव पुनरविशिष्टं विदधत् अनर्थको भवति’ । भवतु कामम् अनर्थकत्वं, न त्वन्यं शक्नोति वदितुम्, भवेत् उपपन्नम् अनर्थकत्वं, न त्वर्थान्तरवचनता । तस्मात् न द्विरभ्यस्येत—इति ॥

सू. अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः ॥ २९ ॥ (सि० २ ॥)

भा. अथ वा, न अनर्थिका पुनःश्रुतिः, अर्थवादा र्था भविष्यति,—इत्युच्यते । ‘किमर्थवादेन प्रयोजनं ? यदा पूर्वैव वाक्येन सार्थवादकेन विहितः आग्नेयः, कमन्यमर्थं विधातुम् श्रुतिः प्रयुज्येत ? श्रुतिमात्रं यत् न कस्यचिद्विधानार्थं, तत् अनर्थकम्,—इत्युक्तम्, ‘आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यम् अतदर्थानाम्’ (३६ पृ०)—इति, श्रुतश्चाश्रुतश्च तावानेव सोऽर्थः, यथा श्रुता च अश्रुता च देवता अङ्गभावं साधयति, एवमेतत्—इति । तदुच्यते—‘अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः’, न आग्नेयं विधातुम्, ऐन्द्राग्रविधानार्था, आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवत्येव, न केवलेनाग्निना स साधुर्भवति—इति इन्द्रसहितोऽग्निः समीचीनतरः, तस्मात् ऐन्द्राग्रः कर्तव्यः—इति ॥ (२ । ३ । १४ अ० ॥)

इति आचार्य्य श्वरस्वामिनः ह्यतो मीमांसाभाष्ये द्वितीयस्य अध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ * * ॥

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।



अथ यावज्जीविकाग्निहोत्राधिकरणम् ।

ख. यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ॥ १ ॥
(पृ०) ॥

भा. बहुचक्षाक्षणे श्रूयते,—‘यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति’—इति, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत’—इति । अत्र सन्देहः,—किं कर्मधर्मोऽभ्यासो यावज्जीविकता, उत कर्तृधर्मो नियमः चोद्यते यावज्जीविकता?—इति । कथं कर्मधर्मोऽभ्यासः, कथं वा कर्तृधर्मो नियमः?—इति । यदि जुहोति. अनुवादः, यावज्जीवम्—इति विधिः; ततः कर्मधर्मोऽभ्यासः, यदि विपरीतं, ततः कर्तृधर्मो नियमः—इति । किं तावत् प्राप्तम्,—कर्मधर्मोऽभ्यासः । कुतः? । प्रकरणात्,—यदि इयं वचनव्यक्तिः,—जुहोतियजति शब्दौ अनुवादौ, यावज्जीवम्—इति च विधिः, ततः प्रकरणं मनुगृह्यते, तस्मात् अभ्यासः । एवं ह्युक्त्वा सचसंस्तवो युक्तौ भविष्यति, ‘जरामयं वा एतत् सचं यदग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासौ च’—इति दीर्घकालसामान्यात् । तस्मात् अभ्यासः ॥

ख. कर्तृर्वा श्रुतिसंयोगात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. अत्र ब्रूमो,—यावज्जीविकोऽभ्यासो न स्यात्, कर्तृधर्मो नियम-
स्योद्यते इति । कुतः? । श्रुतिसंयोगात् । एवं श्रुतिपरिच्छिन्नोर्थो
भविष्यति, इतरथा लक्षणा स्यात् । कथं? । यावज्जीवनं,
तावता कालेन कुर्यात्—इति, तदेतत्प्रदोषपरिसमाप्तमग्निहोत्रं
मनभस्य, न शक्यते यावज्जीवनकालेन कर्तुम्, पूर्णमास्य
मावास्यापरिसमाप्ती च दर्शपूर्णमासौ । यदि उच्येत—‘जीवन-
कालस्यैकदेशेऽपि ह्यतं तेन कालेन ह्यतं भवति’—इति । नैतदेवम्.

भा. अर्थप्राप्तं हि तत् न विधातव्यम् शब्देन, जीवनपरिमितः कालो यः, तेन परिसमापयितव्यम्—इति अर्थादभ्यासः, स हि कर्तव्यतया श्रूयते, न चासौ जुहोतियजतिभ्यामुच्यते, लक्षणया तु गम्यते । यावज्जीवं जुहुयात्, यावज्जीवमभ्यस्येत्—इति, श्रुतिश्च प्रकरणाद्वलीयसी । यदि इयं वचनव्यक्तिरस्य वाक्यस्य, यावज्जीवम्—इत्यनुवादो जुहोतियजति—इति च विधानम्,—इत्येवं यजतिजुहोतिशब्दौ स्वार्थावेव भविष्यतः, यावज्जीवशब्दोऽपि जीवनवचन एव, नाभ्यासलक्षणे भविष्यति,—इति जीवने निमित्ते कर्म विधीयते, जीवंक्षेत् क्षेतव्यम्—इति, जीवनं निमित्तं, न कालः, नियतनिमित्तत्वात् नियतं कर्म तेन उच्यते,—कर्तुर्धर्मो नियमश्चोद्यते—इति ॥

स. लिङ्गदर्शनाच्च, कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत,
तच्चानर्थकमन्यत् स्यात् ॥ ३ ॥ (हे० १) ॥

भा. लिङ्गं च भवति 'अपि ह वा एष स्वर्गलोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजो पौर्णमासोममावास्यां वा अतिपातयेत्' इति । कथं लिङ्गं ? । कर्मधर्मे हि प्रक्रान्तं सच यावज्जीवनकालेन परिसमाप्येत, न तत्र कालातिपातः स्यात् । तत्र चानर्थकमन्यत् स्यात् प्रायश्चित्तादि विधीयमानम् ॥

स. व्यपवर्गं च दर्शयति, कालस्येत्कर्मभेदः स्यात् ॥ ४ ॥
(हे० २) ॥

भा. व्यपवर्गस्य (समापनस्य) दर्शनं भवति,—'दर्शपूर्णमासाभ्याम् इद्धा सोमेन यजेत'—इति ; यदि दर्शपूर्णमासाभ्याम् इद्धा सोमस्य कालोऽस्ति, अर्हं न यावज्जीवनकालेन तौ परि समाप्येते । अथ जीवनं निमित्तम्, उपपद्यते कर्मभेदः, दर्शपूर्णमासौ परिसमाप्य सोमं कर्मन्तरं कुर्यात्—इति ।

भा अपि च 'आहिताग्निर्वा एय यः अग्निहोत्रं जुहोति न दर्शपूर्णमासौ यजेत, या आजतिभाजो देवतास्ता अनुधायिनी करोति'—इति अनुधायिनीवचनं भवति, नियतः य आजतिभागः, तस्मिन् अदीयमाने अनुधायिनीवचनं भवति। यस्त्वनियत आजतिभागः तमनुधायन्ति, इदं नो भविष्यति—इति, नियतस्य भागो नियमपक्षे भवति, न काम्यपक्षे, कर्मधर्मे च काम्यमग्निहोत्रं च दर्शपूर्णमासौ च, तस्मात् नियमपक्षः। अपि च श्रूयते,—'जरामर्त्यं वा एतत् सत्त्वं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च, जरया ह वा एताभ्यां निर्मुच्यते—मृत्युना च'—इति जरामरणनिर्मोचनावधारणवचनं च नियमपक्षे उपपद्यते। काम्यपक्षे हि अमयोगादपि मुचेत ॥

ख अनित्यत्वात् तु नैवं स्यात् ॥ ५ ॥ (हे० ३) ॥

भा तुशब्दोऽन्वाचये, इतश्च पश्यामः, कर्तुर्द्धर्मा नियमश्चाद्यते—इति। यदि पूर्वस्य होमस्य गुणविधिर्भवेत् स एवैकः पूर्वोऽग्निहोत्रहोमोऽनित्यः स्यात्, कामसंयोगेन श्रुतो नान्यः कश्चित् नित्यः, तत्र लिङ्गं विरुध्येत,—'जरामर्त्यं' वा एतत् सत्त्वं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ, जरया वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च'—इति। कथं विरुध्यते? जरामरणनिर्मोचनावधारणवचनं नियमपक्षे उपपद्यते, काम्यपक्षे अमयोगादपि मुचेत ॥

ख विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥ ६ ॥ (हे० ४) ॥

भा इतश्च पश्यामो न पूर्वाभ्यासो गुणश्चाद्यते—इति। कुत? विरोधात्, विरोधो भवति, दर्शपूर्णमासविकाराः सौर्यादयोऽपि यावज्जीवमभ्यसितव्या भवेयुः। सोऽनारभ्यार्थः प्रतिज्ञातः स्यात्! अतादपि पश्यामो नियमः—इति सत्त्वस्तवश्च सन्ततः भावमुपपत्स्यते ॥

स. कर्तुंस्तु धर्मनियमात्कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् ॥ ७ ॥
(यु०) ॥

भा यदि कर्तुर्धर्मो नियमश्चोद्येत, ततो जीवनं निमित्तं, जीवने निमित्ते कर्म विधीयते । तत्र प्रयोगे परिसमाप्तं कर्म, तथा व्यपवर्गस्य दर्शनमवसृप्तं भवति, तस्मात् कर्तुर्धर्मो नियमश्चोद्यते—इति सिद्धं भवति ॥ (२।४।१ अ० ॥)

अथ सर्वशाखाप्रत्ययैककर्मताधिकरणम् ॥

स नाम—रूप—धर्मविशेष—पुनरुक्ति—निन्दा—ऽशक्ति—समाप्तिवचन—प्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनात् शाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् ॥ ८ ॥ (पू०) ॥

भा इह शाखान्तराण्युदाहरणं, काठकं कालापकं पैप्पलादकम्—इत्येवमादीनि । तत्र सन्देहः, किमेकस्या शाखाया यत् कर्म अग्निहोत्रादि श्रूयते, तच्चाखान्तरे पुनः श्रूयमाणमिद्येत तस्मात्, उत न भिद्येत ? भिद्येत—इति पश्यामः । कुतः ? नामभेदात्, एकं काठकं नाम, अन्यत्कालापकं नाम, एवं—नामभेदाद्भेदः । ‘ननु ग्रन्थनामेतत्’ । सत्यं, कर्मणामपि—इति ब्रूमः,—कर्मभिरप्येवमादीना सामानाधिकरण्यम् एकविभक्तित्वं च—इति ।

रूपभेदाच्च, एकस्यां शाखायाम् अग्नीषोमीयमेकादशकपालम् आमनन्ति, एकस्यां द्वादशकपालं, एवं—भिन्नं रूपं, कथमिव न कर्मान्तरं भविष्यति ।

धर्मविशेषाच्च, कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति, अपरे शाखिनो नाचरन्ति, तथा

भा यानां केचिदुपाध्यायस्योदकुम्भानाह्वरन्ति, अपरे न अश्वमेध
मधीयानां केचित् अश्वस्य घासम आह्वरन्ति, अपरे न परेभ्यः
धर्ममाचरन्ति, अश्वघासादेरेकेषामुपकारम आकाङ्क्षति अश्व
मेधादि, एकेषा न आकाङ्क्षति, स एवैक कथं न आकाङ्क्षति
कथं वा अन्यत् आकाङ्क्षितुमर्हति, अतो गम्यते अन्यत्—इति ।

पुनरुक्तिप्रसङ्गाच्च यदि सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म एकस्या
शाखाया विहितस्य कर्मणः शाखान्तरे वचनं पुनरुक्तम् अनर्थकं
स्यात् ! न तु भेदपक्षे एष दोषोऽस्ति तस्मात् अपि कर्मभेदः ।

निन्दावचनाच्च “प्रातःप्रातरनुत्तन्ते वदन्ति पुरोदया जुहति
ये अग्निहोत्रं दिवाकीर्त्यम अदिवा कीर्त्तयन्त सूर्या ज्योतिर्न
तदा ज्योतिरेषाम्”—इति केचित् शाखिनोऽनुदितहोमं
निन्दन्ति अपरे पुनरुदितहोमं निन्दन्ति, ‘यद्यप्यतिथये प्रदु-
तायाश्चमाह्वरेयुस्तादृकतत् यदि उदिते जुहति’—इति सर्वं
शाखाप्रत्यये विरुद्धं, न तु कर्मभेदे, तस्मात् अपि भेदः—इति ।

अशक्तेऽथ न शक्नुयुः खल्वपि सर्वशाखाप्रत्ययमुपसर्हन्तुम
तत्रानारभ्योर्गो विधीयते—इति प्रतिज्ञातं भवेत् शक्यं तु
कर्मभेदे, अतः कर्मभेदः—इति ।

समाप्तिवचनाच्च असमाप्तेऽपि समाप्तेर्वचनं भवति केचिदाहुः,
अत्रास्माकमग्निं परिसमाप्यते—इति, अपरेभ्यः परिसमाप्तिं
व्यर्पद्मन्ति, तदेककर्मत्वे नोपपद्यते, न हि तत्र च परिसमाप्यते,
अन्यत्र न भेदे तु युक्तं तस्मात् भेदः—इति ।

प्रायश्चित्तविधानाच्च, केचित् अनुदितहोमव्यतिक्रमे प्राय-
श्चित्तमाचरन्ति, केचित् उदितहोमव्यतिक्रमे वृद्धे च प्रायश्चित्तं
न च कर्मैकत्वे उभयया वृद्धिः सम्भवति, कर्मभेदे तु यदनुदिते
होमकर्म, तदुदिते वृद्धम्, इतरदप्युदिते, तस्मात् अपि भेदः ।

अन्यार्थदर्शनाच्च, इदं श्रूयते, ‘यदि पुरा दिदीक्षाणां सा
यदि वैषां गृहपतिः गृहपतेर्वानुसन्धिः—इति, त एवमेव

भा. दृष्टत्सामानं क्रतुमुपेयुरपेतं क्षीपां रथन्तरं, अथ यदि अदिदी-
क्षाणाः—इति इष्टवतामनिष्टपूर्वाणां च द्वादशाहे दर्शनमुप-
पद्यते यदि कर्मभेदः, एककर्मत्वे नावकल्पते। कथं?। ताण्डके
श्रूयते,—‘एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां, यज्ज्योतिष्टोमो, य
एतेनानिष्ठाभ्यान्धेन यजंत गर्तपत्यमेव तज्जायेत प्रवाभोयते’
—इति, तत् सर्वत्र स्यात्, तत्रादिदीक्षाणां द्वादशाहे दर्शनं
नोपपद्यते, तस्मात् अपि कर्मभेदः ।

अथापरं लिङ्गदर्शनं, ‘यत्पक्षसम्मितां पिनुयात् कनीयांसं
यज्ञक्रतुमुपयात् कनीयसीं प्रज्ञां कनीयसः पशून् कनीयोन्नाद्यं
पापीयान् स्यात्, अथ यदि वेदिसम्मितामिनोति’—इति पक्ष-
सम्माने प्रतिषिद्धे वेदिसम्मानस्य दर्शनं भवति, तत्तु कर्मभेदे
उपपद्यते, पाक्षिकस्य वेदिसम्मानस्य दर्शनं एककर्मत्वे नोप-
पद्यते। कथम्?। एके हि समामनन्ति, ‘रथाक्षमाक्षाणि
यूपान्तरालानि भवन्ति’—इति, तत् सर्वत्र स्यात्, तत्र च नो
पक्षसम्मानं नो वेदिसम्मानं स्यात्, वेदिसम्मानदर्शनं नोप-
पद्यते, तस्मात् अपि कर्मभेदः ।

अपरञ्च लिङ्गदर्शनं, केषाञ्चित् ज्योतिष्टोमे श्रूयते, हे संस्तु-
तानां विराजमतिरिच्यते इति, परेषां तिष्ठः संस्तुतानां
विराजमतिरिच्यन्ते—इति एककर्मत्वे विरोधः, नानाकर्मत्वे
कस्मिंश्चित् ज्योतिष्टोमे हे, कस्मिंश्चित् तिष्ठः, तस्मात् कर्मभेदः—
इति ।

अपि च सारस्वते श्रूयते, ‘ये पुरोडाशिनस्ते उपविशन्ति ये
सान्नायिनस्ते यत्सान् वारयन्ति’। सान्नायिन इष्टप्रथमयज्ञाः,
पुरोडाशिनो विपरीताः, उभयेषां सारस्वते दर्शनम् अवकल्पते
कर्मभेदे, एककर्मत्वे सर्वेषां ज्योतिष्टोमपूर्वत्वं स्यात्, तत्र दर्शनं
नोपपद्यते ।

अपि च श्रूयते,—‘उपह्वयो निरुक्तः, अग्निष्टोमो यज्ञः रथन्तर-

भा सामा, अश्वः श्यावो दक्षिणा, परेषां श्रूयते, 'उपहृत्योऽनिरुक्त',
उक्त्यो यज्ञो वृहत्सामा, अश्वः श्वेतो रक्ताललाटो दक्षिणा—
इति, कर्मैकत्वे रथन्तरवचनं वृहद्वचनं चानर्थकं, शाखाद्वय-
प्रत्ययत्वात् वृहत्सामा रथन्तरसामा वा स्यात्, स चार्यं प्रह-
तित एवंलक्षणकः प्राप्तः, नानाकर्मत्वे तु अन्यो वृहत्सामान्यो
रथन्तरसामा इति युक्तं भवति, तस्मात् शाखान्तरे कर्मभेदो
भवितुमर्हति ॥

सू. एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात् ॥ ९ ॥

(सि०) ॥

भा. नचैतदस्ति, यदुक्तं शाखान्तरेषु कर्मभेदः—इति, सर्वशाखा-
प्रत्ययं सर्वब्राह्मणप्रत्ययस्यैकं कर्म, अर्थसंयोगस्याविशेषात्,
तदेव प्रयोजनमुद्दिश्य तदेव विधीयमानं प्रत्यभिजानीमः ।
रूपमयस्य तदेव द्रव्यदेवतं, पुरुषप्रयत्नश्च तादृश एव चोद्यते,
नामधेयं चाविशिष्टं, तेन तदेव कर्म सर्वशाखादिषु—इति
प्रत्ययः ॥

सू. न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात् ॥ १० ॥

(पू० नि० १) ॥

भा. यदुक्तं (१९७।१४ प०) नामभेदः—इति, परिहृतं (१९७।
१६ प०) तत् ग्रन्थनामतः—इति । अथ यदुक्तं, (१९७।१७ प०)
कर्मणोऽपि नामसामानाधिकरण्यदर्शनात्—इति । नैष दोषः,
—ग्रन्थसंयोगात् कर्म काठकादि, न कर्मसंयोगात् ग्रन्थः
काठकः । कथं गम्यते ? । यत् कर्म काठकादिसंयुक्तं, तत् काठ-
कादिग्रन्थेनोच्यते । किमतोऽपि ? । यत् ग्रन्थसंयोगात् काठकं
काष्ठापकं कर्मोच्यते, एकत्वेऽपि काठकग्रन्थसंयोगात् काठकं,
काष्ठापकग्रन्थसंयोगात् तु काष्ठापकं भवित्यति ॥

सर्वेषाम्बैककर्मस्य स्यात् ॥ ११ ॥ (यु० १) ॥

भा. यदि शब्दभेदाद्भेदो भवेत्, शब्दैक्यात् तर्हि कर्मैक्यं भवेत् । तत्र काठकशब्दाभिधानादैक्यं भवेत् अग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासयोः ज्योतिष्टोमस्य च, तच्छब्दत्वात्, नचैतदेवं ! तस्मादपि अभेदः ।

कृतकं चाभिधानम् ॥ १२ ॥ (यु० २) ॥

भा. इदानीन्तनश्चेतदभिधानं भवेत्, अस्य न पूर्वमासीत्, यतः प्रभृति कठस्य प्रष्टुं वचनं, ततः प्रभृति प्रष्टुं, पूर्वं नासीद्भेदः, इदानीं भेदः—इति विरुद्धम् ॥

एकत्वेऽपि परम् ॥ १३ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. एककर्मत्वेऽपि रूपभेदो (१६७।१८ प०) भवति वचनात्, न च, वाचनिके रूपभेदे, असत्यामपि भेदबुद्धौ कर्मणो भेदो भवसीयेत ॥

विद्यायां धर्मशास्त्रम् ॥ १४ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. अथ यो धर्मविशेष उक्तः (१६७।२१ प०), विद्यायश्छणार्थः सः, न कर्मण उपकारकः । कथं गम्यते ? । श्रुत्यादीनामभावात्, विद्यासंयोगाच्च न कर्मप्रयुक्तः—इति ॥

आग्नेयवत्पुनर्वचनम् ॥ १५ ॥ (आश०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा अमावास्यायामाग्नेयस्य पुनरुक्तदोषात् मध्यमः पक्षो निरस्तः, एवमयमपि तस्मादेव दोषात् कर्मैकत्वपक्षो निरसितव्यः,—इति, एतत्परिहर्तव्यम् । (इत्याभायान्तं सूचम्) ।

स. अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ॥ १६ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. नैव खल्वेतद्विर्वचनं, स एवायमर्थः पुनः आवितोऽग्निहोत्रादि-
वज्जघत्सु वज्जभिस्तु पुरुषैः, नचैकोऽर्थो वज्जभिरुच्यमानः पुनश्चो-
भयति! यदि भवेत्, एकस्मिन्नेव वेदे वज्जभिरुच्यमाने भवेत्,
तस्मात् न वज्जकर्मसमवायोऽयम्, एकमेवेदं कर्म—इति* ॥

स. अर्थसन्निधेश्च ॥ १७ ॥ (यु० १) ॥

भा. अर्थसन्निधेश्च शाखाशब्द उपपन्नो भविष्यति, शाखा इव
क्षेमाः शाखाः, तत् यथा वृक्षस्य शाखाः, एवमिहापि वृक्ष-
स्थानीयस्य वेदस्य शाखाः। किं शाखासारूप्यं?। यथा
नानावस्थानं, नचैकैकस्यां वृक्षं पुष्पं फलं सन्निहितम्, एव-
मिहापि, नैकैकस्यां वृक्षं गुणकारणं सन्निहितम्,—इत्यर्थो
सन्निधेः शाखाशब्दोपपत्तिः। तस्मादप्येकं कर्म—इति ॥

स. न चैकं प्रति शिष्यते ॥ १८ ॥ (यु० २) ॥

भा. न च, यत् काठकेऽग्निहोत्रं, तत् काठकमेवैकं पुरुषं प्रति
विधीयते। तैत्तिरीयस्यापि तद्विहितमेव, पुरुषविशेषवचना-
भावात्, यथाग्निहोत्रस्य किञ्चित् अङ्गं विधीयते, सर्वावस्थस्य तत्
अग्निहोत्रस्य, यच्च काठकस्याग्निहोत्रं, तच्च तैत्तिरीयकस्य—
इति, विशेषवचनाभावात्, तस्मात् सर्वशाखाभिरेकं समाप्तं
कर्माचरते—इति ॥

* “अत्रान्तरे वाक्यासमवायादिति भाष्यकारस्य सूत्र अष्टम्। तत्रेदं
व्याख्यायते, नैकस्मिन् पुरुषे शाखान्तरवाक्यं समवेति” इति वार्तिक-
प्रदायकः।

समाप्तिवच्च संप्रेक्षा ॥ १९ ॥ (यु० ३) ॥

भा अत्र अस्माकम् अग्निः परिसमाप्यते—इति उत्प्रेक्षितारो भवन्ति,—अन्वारोहेषु मेचायणीयानाम् अग्निः परिसमाप्यते, अस्माकं तेषु न परिसमाप्यते—इति, यदि अन्यदेव मैचायणीयानां, अन्यच्च तेषां, कथं ते वृयुरेष्वस्माकं न परिसमाप्यते—इति, एकत्वमुपपन्नं, तेषामपि हि ते सन्ति ॥

स एकत्वेऽपि पराणि निन्दाशक्तिसमाप्तिवचनानि ॥
२० ॥ (पू० नि०) ॥

भा. न हि निन्दा (१९८।९ प०) निन्द्यं निन्दितुम् प्रयुज्यते । किं तर्हि निन्दितादितरत्प्रशंसितुम्, तत्र न निन्दितस्य प्रतिषेधो गम्यते । किन्तु इतरस्य विधिः, तत्र एकस्मिन् अग्निहोत्रे द्वौ कालौ विहितौ विकल्प्येते, अतो न कश्चिद्विरोधः ।

तथा असमर्थानां (१९८।१५ प०) एकस्मिन्नपि वेदे विहितं क्षुत्क्षमद्भजातम् उपसंहृतुम् अशक्तिः, समर्थानान्तु सर्वशाखाभ्यो-भ्यागमितमधिकं विधिमुपसंहृतुम् शक्तिः अस्ति—इति तेनैक-कर्मत्वेऽपि न विरुद्धम्—इति ।

तथा एकस्मिन्नपि कर्मणि किञ्चित् वस्तु (१९८।१८ प०) समाप्तम्,—इति—क्षत्वा समाप्तिशब्दः प्रयुज्यते, यथा, आध्वर्यं समाप्ते ज्योतिष्टोमस्य, समाप्तो ज्योतिष्टोमः—इति भवति ।

स. प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥ २१ ॥ (आश०) ॥

भा यदुक्तं, (१९८।२२ प०)—उदितहोमस्यापि प्रायश्चित्तान्ता नावृद्धता* गम्यते, अनुदितहोमस्यापि, तदेकत्वे विरुध्यते,

अविकृष्टं नानात्वे इति, तत् परिहर्तव्यम् । (आभाषणं सूत्रम्) ॥

ख प्रक्रमाद्वा नियोगेन ॥ २२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नैष दोषः, उदिते ह्योप्यामीति प्रकान्ते अन्यथा क्रियमाणे भवति दोषः, तत्र प्रायश्चित्तस्य विषयो भविष्यतीति कर्मैकत्वेऽपि न दोषः ॥

ख समाप्तिः पूर्ववत्त्वात् यथाज्ञाते प्रतीयेत ॥ २३ ॥
(पू० नि०) ॥

भा पूर्ववति समाप्तिवचनं भवति, यत्प्रारब्धं तत् परिसमाप्यते, तच्चास्माकं परिसमाप्तोऽग्निरिति योऽस्माभिर्ज्ञायते, प्रारब्धश्च परिसमाप्यते इत्यभिप्रायः ॥

ख लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्नहि तत्र कर्मचोदना
तस्मात् द्वादशाहस्याहारव्यपदेशः स्यात् ॥ २४ ॥
(पू० नि०) ॥

भा यदुक्तं, (१८८।२६ प०)—यदि पुरा दिदीक्षाणा इति, द्वादशाहे इष्टप्रथमयज्ञानामनिष्टप्रथमयज्ञानां च दर्शनं कर्मभेदे उपपद्यते, न सर्वशाखाभ्रत्ययैककर्मणि—इति । नैष दोषः, यदि दिदीक्षाणा द्वादशाहेन, अदिदीक्षाणा द्वादशाहेनेत्येवं तत्, न हि सामवेदे ज्योतिष्टोमस्य विधानम् । किमतोऽपि ? यत्र विहितस्तवानूद्यते, तेन कर्मभेदेऽपि सर्वज्योतिष्टोमानामेष धर्मः प्राथम्यं नाम । अतो नानाकर्मपक्षेऽप्यवश्यं द्वादशाह स्यादहारव्यपदेशः कल्पनीयस्तस्माददोषः ॥

स द्रव्ये चाचोदितत्वात् विधीनामव्यवस्था स्यात् निर्दे-
शाद्यवतिष्ठेत तस्मात् नित्यानुवादः स्यात् ॥ २५ ॥
(पू० नि०) ॥

भा द्रव्ये च (अग्नौ) अचोदितत्वात् एकादशिन्याः* सम्मानपरि-
माणं प्रति नैषा व्यवस्था स्यात्, नैवाग्रावेकादशिनी चोद्यते,
कुतः पक्षसम्मानं (१६६। ८ प०) वेदिसम्मानं वा स्यात् ?
द्वयमप्येतत् परार्थं कीर्त्यते, पञ्चवेकादशिनीविधानार्थं, यदि
पक्षसम्मिता स्यादयं दोषः स्यात्, वेदिसम्माने न दोषो भवेत्,
क एतत्सङ्कटमध्यवसानमर्हति ?—एकस्मिन् यूपे एकादश पञ्चवो
नियोक्तव्याः—इति, वाचस्तोमादिषु तु यूपैकादशिन्यामस्य
नित्यानुवादत्वात् रथाक्षमात्राप्येव यूपान्तरालानि भविष्यन्ति,
नित्यानुवादत्वाच्चासत्यपि पक्षसम्माने वेदिसम्माने वा एका-
दशिनीविधानार्थं वचनमुपपद्यते एवेति न दोषः ॥

स विहितप्रतिषेधात्पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥ २६ ॥
(पू० नि०) ॥

भा अतिरात्रे गृह्णाति षोडशिनमिति विहितः षोडशी, नाति
रात्रे गृह्णाति षोडशिनमिति प्रतिषिद्धः, तेन पक्षे† द्वयोः
स्तोत्रीययोरतिरेकः, पक्षे तिसृणाम्, तस्माददोषः (१६६।
१७ प०) । कथं पुनरयं द्वयोस्तिसृणां वा अतिरेकः ? विहित
वह्निर्भवमानं, तत् तावत् नवक, पञ्चदशान्याज्यानि, तानि

* 'एकयूपे एकादश पञ्चवः' इत्यस्य विधेः शेषीभूतः पक्षसम्मानादि-
रिति ॥

† वैकल्पिके षोडशिनि अक्रियमाणे द्वयोरतिरेकः, क्रियमाणे त्वेकवि-
ंशतिप्रधयात् तिस्रो भवन्ति तस्मादतिरेकः इति वार्त्तिकमन्वानुसन्धेयम् ॥

भा. तावत् चत्वारि, तेन सा षष्टिः; पञ्चदशो माध्यन्दिनः पवमानः,
 तथा पञ्चदशसंख्यया सह, पूर्वया च नवसंख्यया चतुरशीतिः।
 सप्तदशानि पृष्ठानि चत्वारि, सप्तदश आर्भवः पवमानः,
 पञ्चसप्तदशकानि तानि—इति पञ्चाशीतिः। पूर्वया चतुर-
 शीत्या सहैकोनसप्ततिशतं। एकविंशं यज्ञायज्ञिर्यं, तथैक-
 विंशत्या सह तस्य नवतिशतं स्तोत्रियाः—इति ब्राह्मणवादः।
 अग्निष्टोममात्रमभिप्रेत्य उच्यते, 'सा विराट् सम्पूर्णा विराट्—
 इति दशकाख्याः, चय एकविंशका उक्त्यपर्यायाः, सा त्रिषष्टिः,
 एकविंशः षोडशी, तथा एकविंशत्या सह चतुरशीतिः,
 पञ्चदशका रात्रिपर्यायाख्यः, तथैकैकपर्यायः चतुःस्तोत्रः, तत्
 अशीतिशतं सम्पूर्णा विराट्। चिद्वद्रथन्तरं पञ्चसाम, तप्तवकं,
 तत्तच्चतुरशीतेरेकं नवकमागच्छति, तथा तिस्रः संस्तुताना
 विराजमतिरिचरन्ते, यदा षोडशी न गृह्यते, तदा एकविंशत्या
 विना हे संस्तुतानां विराजमतिरिचयेते, एवमेककर्मत्वेऽपि
 लिङ्गमुपपद्यते ॥

सू. सारस्वते विप्रतिषेधात् यदेति स्यात् ॥ २७ ॥
 (यू० नि०) ॥

भा. यदुक्तं, (१८६। २२ प०)—पुरोडाशिनं साध्नायिनं च
 सारस्वते दर्शनं भवति—इति, ज्योतिष्टोमपूर्वकत्वात् सर्वकर्मणां,
 विप्रतिषिद्धमेतदिति, तेन यदा साध्नायिनः पुरोडाशिनः—
 इति कल्प्यते ॥

सू. उपह्वयेऽप्रतिप्रसवः ॥ २८ ॥ (आश०) ॥

भा. अथ यदुक्तं, (२००। १ प०)—उपह्वये वृद्धन्तरविधानं प्रह-
 तिप्राप्तमेव, एककर्मत्वे प्रतिप्रसवतयापि असम्भवादिधीयमान
 मनर्थकं स्यात्—इति, तत्परिहर्तव्यम्। (आभाषाणम् सूत्रम्) ॥

सू. गुणार्था वा पुनःश्रुतिः ॥ २९ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. यदा रयन्तरसामा, तदा अश्वः श्वेतो दक्षिणा, यदा
वृद्धसामा तदा वृद्धललाट इति ॥

सू. प्रत्ययं चापि दर्शयति ॥ ३० ॥ (यु०) ॥

भा. यदा न सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेति, कथमेकस्यां शाखायां
समाग्नयतेभ्यस्यां गुणो विधीयते? यथा मैत्रायणीयानां
समिदादयः प्रयाजा न समाग्नयन्ते, अथच गुणाः श्रूयन्ते,—
'ऋतवो वै प्रयाजाः समानीय ह्येतथाः'—इति । तथा येषां
शाखिनां कुटसरसीति* अश्मादानमवो नाम्नातः, तेषामपि
हि दृश्यते,—कुक्कुटोऽभीत्यश्मानमुपादत्ते, कुटसरसीति वेति ।
तस्मादेकं कर्म—इति प्रतीतः ॥

सू. अपि वा क्रमसंयोगाद्विधिपृथक्कमेकस्यां व्यवतिष्ठेत ॥
३१ ॥ (आ०) ॥

भा. यो ह्यन्यशाखावस्थितान् विधीनुपसंहरति, स स्वशाखावि-
हितं क्रममुपकरणद्वीति, तेन शाखान्तरेषु कर्मभेद इति ॥

सू. विरोधिना त्वसंयोगादैककर्मस्य तत्संयोगाद्विधीनां
सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात् ॥ ३२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. उच्यते, नैष शाखान्तरविहितानामैककर्म्यं सति विरोधिना
संयोगः । न हि क्रमो वाक्येन विरुध्यते, दुर्बलो हि क्रमः, बल-
वदाक्यं, वाक्येन च शाखान्तरीयाणामुपसंहारः । तस्मात् स्व-
शाखाप्रत्ययं सर्वब्राह्मणप्रत्ययस्यैकं कर्म चोच्यत इति सिद्धं भवति ॥

*इति भट्टशबरस्वामिनः कृतौ भीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य
चतुर्थः पादः ॥ समाप्तोऽयं द्वितीयाध्यायः ॥

तृतीये अध्याये प्रथमः पादः ।



प्रतिज्ञाधिकरणम् ।

स अथातः शेषलक्षणम् ॥ १ ॥

भा. नानाकर्मलक्षणं वृत्तं, अनन्तरं शेषलक्षणं वर्तयिष्यामः,—
कः शेषः? केन हेतुना शेषः? कथं च विनियुज्यते?—इति,
श्रुत्यादीनि च विनियोगे कारणानि—इति वक्ष्यते, तेषां च
बलवद्बलवत्ता, एतत्तात्पर्येणान्यदभ्युपेक्षादिना ॥ (३।१।
१ अ०) ॥

अथ शेषत्वकारणसहितशेषलक्षणाधिकरणम् ।

स शेषः परार्थत्वात् ॥ २ ॥

भा. इह सूत्रे शेषस्य लक्षणं, येन च हेतुना शेषः—इत्युच्यते,
तदुभयमाधायते । यः परस्योपकारे वर्तते, स शेषः—इत्यु-
च्यते, तत् यथा, ये परार्थाः, ते बह्वारो भवन्ति,—शेषभूता
वयमिह—इति । 'ननु योऽपि प्रधानभूतः, सोऽपि कदाचित्
परार्थे वर्तते, यथा उपाध्यायः प्रधानभूतः शिष्याणां विद्या
विनयाधाने वर्तते' । सत्यं वर्तते, यस्तु अत्यन्तं* परार्थः, तं
वयं शेषः—इति ब्रूमः, यथा, गर्भदासः कर्मार्थं एव खान्तिनो-
भनद्वांस्यं क्रीयते, वक्ष्यति—इत्येव । 'ननु गर्भदासस्यापि
स्वामी सविदधानो गुणभावमायात्' । न—इति ब्रूमः,—आत्मन
एवास्मै सविदधानो गुणभावं गच्छति, नान्तरीयकत्वात् गर्भं

भा. दासस्योपकरोति, अनडुहो वा; यस्त्वत्यन्तं परार्थः, तं वयं श्रेयः इति—धूमः ।

अथ तत्र किं वृत्तं ? “यैस्तु द्रव्यं विकीर्यते गुणः तत्र प्रतीयेत” (११४ पृ० । ८ सू०)—इति, तत्र अपूर्वार्थता व्यावर्तिता, वृष्ट-प्रयोजनानामाख्यातानाम् । इह तु सर्वेषामेव श्रेयाणां लक्षण-मुच्यते ॥ (३।१।२ अ०) ॥

शेषलक्ष्याधिकरणम् ।

सू द्रव्यगुणसंस्कारेषु वादरिः ॥ ३ ॥

भा वादरिराचार्यः अत्र द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव शेषशब्दः—इति मने, न यागफलपुरुषेषु । द्रव्यं क्रियार्थं, यदि प्रयोजनवती क्रिया, व्यक्तं सा द्रव्येण निर्वर्तयितुया, तस्या निर्दृष्टिर्द्रव्यादृते न भवति—इति तन्निर्दृष्टये द्रव्यमेधितव्यं भवति, तस्मात् क्रियार्थं द्रव्यम् । गुणः शक्नोति विशिष्टं द्रव्यं चोदितं लक्षयितुम्, लक्षितेन च तेन प्रयोजनं, विशिष्टस्य क्रियासाधनत्वात्, तस्मात् सोऽपि द्रव्यदारेण क्रियाया उपकरोति—इति क्रियार्थ एव । संस्कारो नाम स भवति, यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचित् अर्थस्य, तेनापि क्रियाया कर्तव्याया प्रयो-जनम्—इति सोऽपि परार्थः । तस्मात् द्रव्यगुणसंस्काराः परार्थ-त्वात् शेषभूताः ।

न तु यागफलपुरुषाः । यागः तावत् कर्तव्यः पुरुषस्य, न हि, तस्मिन् निर्वर्तिते किञ्चित् अपरमस्ति कर्तव्यं । स हि पुरुषार्थः, यदन्यत् द्रव्यादि, तत् तदर्थं तस्य शेषभूतं, स तु न किञ्चिदभिनिर्वर्तयितुम् क्रियते । फलमपि न तेन क्रियते, तस्मिन् तु कृते स्वयमेव तत् भवति । तस्मिन् कृते फलमस्य भवति—इत्येतावत् गम्यते, नास्ति शब्दो यागेन क्रियते

भा. फलमिति । तस्मात् यागो न शेषभूतः कस्यचित् अर्थस्य । फलमपि न पुरुषं प्रत्युपदिश्यते, यः स्वर्गं कामयते, स यागं कुर्यादित्येतावत् शब्देनोपदिश्यते, नात्मनः परस्य वा—इति, स्वर्गं प्रतोच्छामात्रेण स्वर्गकामः—इति भवति, तस्मात् पुरुषं प्रति गुणभावेन न श्रूयते स्वर्गः, तस्मात् सोऽपि न शेषभूतः । न चेत् फलयागौ गुणभावेन चोद्येते, कस्य पुरुषः प्रधानभूतो भवति? प्रत्यक्षस्यास्य द्रव्यत्वात् कर्म प्रति गुणभावः । तस्मात् द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव शेषभावं वादरिर्मेने—इति ॥

ख कर्माण्यपि जैमिनिः, फलार्थत्वात् ॥ ४ ॥

भा जैमिनिस्तु खल्वाचार्यः कर्माण्यपि शेषभूतानि मन्यतेस्म, न वादरिर्वावधारणामनुमेने, स हि ददर्श,—न यागः कर्तव्यं तथा चोद्यते, फलकामस्य तु तत्साधनोपायत्वेन—इति । एवं श्रुतोऽर्थः परिगृहीतो भविष्यति, अर्थवांश्चोपदेशः; एनमेवार्थं यष्टेऽध्याये सूत्रैरेव साधयिष्यति, इह तु तत्सिद्धेर्नैव फलार्थत्वेन शेषभावं यागस्यापादयतिस्म । तस्मात् अनवधारणा द्रव्यगुण संस्काराः शेषभूताः, यागोऽपि शेषभूतः फलमिति—इति ॥

ख फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥ ५ ॥

भा फलमपि पुरुषं प्रत्युपदिश्यते, यः, स्वर्गो मे भवेत्—इत्येवं कामयते, तस्य यागः; न यः स्वर्गं, स आत्मानं लभेत्—इति । कुतः? आत्मनेपदप्रयोगात्, कर्त्तृभिप्राये एतत् भवति, क्रिया फलमनुभवेत् कथं पुरुषः?—इति यागः प्रयुज्यते । तस्मात् फलं पुरुषार्थं यागात् श्रूयते, नात्मनिर्हृत्यर्थम् । तस्मात् शेषभूतम्—इति ॥

घ. पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥ ६ ॥

भा. पुरुषोऽप्यौदम्बरीसम्मानादिषु गुणभूतः श्रूयते । तस्मात्
अवधारणा एषा,—द्रव्यगुणसंस्कारेषु शेषत्वं वादरिर्मेने—
इति ।

अथ इदानीम् अवभवान् वृत्तिकारः परिनिश्चिकाय,—
द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव नियतो यजिष्मति शेषभावः, आपेक्षिक
इतरेषाम्; यागस्य द्रव्यस्मति प्रधानभावः, फलस्मति गुणभावः,
फलस्य यागस्मति माधान्यं, पुरुषस्मति गुणता, पुरुषस्य फल-
स्मति प्रधानता, औदम्बरीसम्मानादि प्रति गुणत्वम् । तस्मात्
सम्मता अवधारणा,—द्रव्यगुणसंस्कारा यागस्मति नियोगतो
गुणभूता एव—इति ॥ (३।१।३ अ०) ॥

निर्वपणादीनामर्थानुसारेण व्यवस्थितविषयताधिकरणम् ॥

घ. तेषामर्थेन सम्बन्धः ॥ ७ ॥ (नि०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासी,—‘दर्शपूर्णमासाभ्याम् स्वर्गकामो यजेत’
—इति । तत्र श्रूयन्ते धर्माः,—निर्वपणम्, प्रोक्षणम्, अवहननम्
—इत्येवमादयः औपधधर्माः; तथा, उत्पवन—विलापन—
शृङ्गासादनादय आज्यधर्माः; तथा, शाखाहरणं, गवां प्रस्था-
पनं, गवां प्रस्तावनम्—इत्येवमादयोऽपि सान्ताप्यस्य । तेषु
सन्देहः,—किं सर्वे, औपधे आज्ये साध्याये च कर्त्तव्याः, उत
ये यत्र क्रियमाणा अर्थवन्तः, ते तत्र कर्त्तव्याः?—इति ।

‘ननु संयुक्ता एव श्रूयन्ते, यथा, व्रीहीनवहन्ति, तण्डुलान्
पिनष्टि—इति’ । वाहं संयुक्ताः, अवघातादयस्तु पदार्था
विधायन्ते श्रुत्या, वाक्येनैषां व्रीक्षादिसंयोगः, अतोऽस्ति संशयः ।

भा किं तावत् प्राप्तम् ?—तेषाम् अर्थेन सम्बन्धः, अर्थेन प्रयोजनेन, ये यत्र क्रियमाणाः प्रयोजनवन्तः, ते तत्र कर्तव्याः । मघनादव आज्यसान्नाय्ययोः अनुपकारकाः—इति न तत्र करणीयाः । एवम् उत्पवनादय औषधसान्नाय्ययोः, शाखाक्षरणादय आ-ज्यौषधयोः । ‘ननु श्रूयन्ते सर्वे सर्वत्र’ । एतदेव न जानीमः,—श्रूयन्ते न श्रूयन्ते—इति, तद्विचारयितव्यम् । यद्यपि श्रूयन्त, तथाप्यनुपकारकत्वात् नैव कर्तव्या भवेयुः ॥

ख विहितस्तु सर्वधर्मैः स्यात्संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणा-
विशेषाच्च ॥ ८ ॥ (पू०) ॥

भा उच्यते,—योगार्थात् प्राप्तः स्यात्, स यत्र प्रयोजनं तत्रैव क्रियेत; शब्देन तु सर्वेऽमी पदार्था विहिताः, तेन न, यत्र केवलं प्रयोजनं प्रत्यक्षं दृश्यते, तत्रैव कर्तव्याः । क तर्हि ? यत्र यत्र विहिताः, तेचामी सर्वत्र विहिताः गम्यन्ते । कुतः ? ‘संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च’, सर्वेषां तावदाज्यौषध सान्नाय्यानामपूर्वेण साध्यसाधनसंयोगोऽविशिष्टः, यत्र क्रियमाणा अपूर्वस्य कृता भवन्ति—इति विज्ञायते । तथा प्रकरणमपिशिष्टं,—यस्मिन् विहिताः सर्वेषां विहिता भवन्ति—इति गम्यते, अतः सर्वे सर्वत्र कर्तव्याः, यस्तु अमी न सर्वत्रोपकुर्वन्ति—इति, विधानसामर्थ्यात् सर्वत्रोपकारकाः—इति गम्यते । सचायमदृष्ट उपकारो भविरत्यति ॥

ख अर्थलोपादकर्म स्यात् ॥ ९ ॥ (सि०) ॥

भा नैतत्,—सर्वे सर्वत्र करणीयाः—इति, ये यत्र नोपकुर्वन्ति, न ते तत्र क्रियामर्हन्ति—इत्युक्तमेव । ‘ननु विधानसामर्थ्यात् सर्वे सर्वत्रोपकरित्यन्ति’ । न—इति ब्रूमः ॥

स. फलन्तु सहचेष्टया शब्दार्थोऽभावादिप्रयोगे स्यात् ॥

१० ॥ (यु०) ॥

भा. नास्ति विधानं, येन सर्वे सर्वत्रोपकुर्वन्ति । न च प्रत्यक्षा-
दिभिः उपकारमवगच्छामः । अर्घ्यापत्तिरपि नियोगतः तत्रैव
भवेत्, यत्रैव शब्देन चोदना भवति, नान्यथा । यदि च
प्रधनादीनामाज्यसान्नाय्ययोः अनुपकुर्वताम् अपि तत्प्रकरणे
समाम्नायोऽनुपपन्नो भवेत्, ततोऽर्घ्याददृष्ट उपकारः कल्प्येत,
ते त्ववश्यं समाम्नानीया औपधार्थं, फलं हि सहचेष्टयाभवहन-
नादिकया अवगम्यते तुपविमोचनादि, प्रयोजनं च तेन, न
तस्मादृते पुरोडाशः सिध्यति, सति च अस्मिन् अर्थवान्
प्रकरणे समाम्नायः, अर्थवति च तस्मिन् न अदृष्टकल्पनायां
प्रमाणमस्ति—इत्यतो न शक्यम् कल्पयितुम् । यदि च तत्र
तण्डुलादिनिष्पादनं दृष्टं न अभविष्यत्, ततो विप्रयोगे
तण्डुलादीनामभावात् उपकारस्य शब्दार्थमात्रम् दृष्टोपकारा-
नपेक्षं कर्तव्यम्—इत्याज्यसान्नाय्ययोः अपि क्रियमाणानाम-
दृष्टमभविष्यत् । तस्मात् न प्रधनादयः सर्वत्र । एवम् उत्प-
पवनादयः शाखाक्षरणादयश्च । तस्मात् न, सर्वे सर्वत्र
कर्तव्याः, प्रधनादयो नाज्यसान्नाय्ययोः, औपधे एव ते,
उत्पपवनादय आज्यस्य, न औपधसान्नाय्ययोः, शाखाक्षरणा-
दयश्च सान्नाय्यस्य, नाज्यौपधयोः—इति सिद्धम् ॥ (३।१।
४ अ०) ॥

स्त्रादीनां संयोगानुसारेण व्यवहितत्वाधिकारस्यम् ॥

ए. द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्येत ॥ ११ ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र समामनन्ति, 'स्पष्टं कपाखानि च

भा. अग्निहोत्रहवणो च शूर्पे च क्षाणाजिनं च शम्या च उलूखलञ्च
 मुसलञ्च दृषदुपला च एतानि वै दश यज्ञायुधानि—इति।
 तत्र सन्दिह्यते,—किं यो य इह शक्यते एभिः कर्तुम्, तस्मै
 तस्मै पदार्थायैतानि समाम्नातानि, उत यत् येन संयुक्तम्,
 तस्मै एव?—इति। किं तावत् प्राप्तम्? यत् येन शक्यम्—
 इति। कुतः?। एवं विधयो भविष्यन्ति तथार्थवन्तः, इतरथा
 ते अनुवादा निष्प्रयोजनाः, प्रकरणाविशेषश्च सर्वपदार्थान्प्रति,
 ‘यज्ञायुधानि’—इति च यज्ञसयोगो अविशिष्टः। तस्मात्
 सर्वे सर्वत्र—इत्येवं प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘इत्थं च उत्पत्तिसंयोगात् तदर्थमेव चोद्येत’,
 यो येन पदार्थेन सहोत्पत्तिवाक्येन संयुक्तः स पदार्थः तेनैव
 कर्तव्यः, यथा ‘स्फेनोद्धन्ति’—इत्युद्धनार्थता स्फ्यस्य वाक्येन,
 तत् उद्धरणं न स्फ्यादन्येन कर्तव्यम्। यदा चैवं, तदा प्राप्त
 एव स्फ्यः, तस्यायमनुवादो भवितुमर्हति,—‘एतानि वै दश
 यज्ञायुधानि’—इति। एवमेकैकस्य अनुवादः, तेन तेन वचनेन
 प्राप्तस्य। यथा,—‘कपालेषु अशयति, अग्निहोत्रहवण्या हवींषि
 निर्वपति, शूर्पेण विविनक्ति, क्षाणाजिनम् अधस्तात् उलूखलस्या-
 वस्तृणाति, शम्यां* दृषदुपदधाति, उलूखलमुसलाभ्याम् अव-
 हन्ति, दृषदुपलाभ्या पिनष्टि’—इति। प्रकरणात् सर्वानि
 सर्वत्र प्राप्नुयः, वचनात्तु यथावचनं, यज्ञायुधशब्दोऽपि सामा-
 न्येन प्रयोजनं विदधत् तत् वाध्येतैव, परत्वं हि सामान्यवचनेन
 विशेषविधानं भवति, प्रत्यक्षं तु विशेषवचनेन विशेषविधानम्।
 तस्मात् यत् येन उत्पत्तया संयुक्तम्, तत् तत्रैव विनियुज्यते—
 इति सिद्धम्॥ (१।१।५ अ०)॥

आरुखादिगुणानामसङ्कीर्णताधिकरणम् । (आरुणिन्यायः) ॥

स. अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ॥ १२ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे क्रयं प्रकृत्य श्रूयते,—‘अरुण्या पिङ्गाक्ष्येकहा-
यन्या* सोमं क्रीणाति’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् अरुणिमा
ह्यस्तप्रकरणे निविशेत, उत क्रय एवैकहायन्याम्?—इति ।
‘कथं पुनः ‘अरुण्या क्रीणाति’—इत्येवं विस्पष्टे क्रयसम्बन्धे
गम्यमाने संशयः?—इति’ । उच्यते,—इह हि गुणम् अरुणि-
मानममूर्तम् सन्तं क्रियायाः करणम्—इति शब्द उपदिशति,
यत् करणाभिधायिन्या तृतीयाविभक्त्या संयुज्य निर्द्देशति,—
‘अरुण्या’—इति, न च, अमूर्तोऽर्थः क्रियायाः साधनं भवितु-
मर्हति ! अतोऽसम्बन्धं क्रीणातिना अरुणगुणस्यावगच्छामः,
न च, अशक्नीयमर्थं प्रमाणभूतः शब्दोऽभिधास्यति—इत्येवं
प्रकल्पना कदाचित् उपपद्येतापि । केनचित् प्रकारेण सम्बन्धः
—इति वचनप्रामाण्यप्रकारान्वेषणे बुद्धिर्भवति, तत यदि परं,
विचारयन्तः क्रियासम्बन्धसामर्थ्यमवगमिष्यामः, एकवाक्यतया
क्रय एव अरुणिमानं निवेशयिष्यामः, अथ त्वप्रमाद्यङ्गिरन्वि-
त्यमाणो न कथञ्चन सम्बन्ध उपपत्स्यते, ततो वाक्यभेदमभ्युप-
गम्य प्रकरणधर्ममेनमध्यवसास्यामः ; तस्मात् अवश्यं विचारणी-
यमेतत्—इति ।

किं तावत् प्राप्तम् ? ह्यस्मिन् प्रकरणे निवेशः । कस्मात् ?
संयोगतोऽविशेषात्, प्रकरणाविशेषाच्च । ‘ननु प्रकरणात् वाक्यं
बलीयो भवति—इत्येकवाक्यत्वात् अरुणिमा क्रयेण सम्भेत्स्यते’
—इति । नैतदेवम् अवगम्यते, न हि वचनशतेनाप्यनार-

भा भ्योर्धः शक्यो विधातुम्, यो हि ब्रूयात्,—उदकेन दग्धव्यम्
अग्निना क्षेदयितव्यम्—इति, किं स वचनप्रयोजनसामञ्जस्यम्
शुचीत? न चामूर्त्तोर्धः क्रियायाः साधनम् उपपद्यते । तस्मात्
अरुणया क्रीणाति—इति सम्बन्धाभावादेकवाक्यता न भवति
—इति ।

‘ननु नैवायं गुणवचनः, किं तर्हि द्रव्यवचनः । कुतः?।
खीलित्वसम्बन्धात्; द्रव्यविशेषा ज्ञेते स्त्री पुमान् नपुंसकम्—
इति, स्त्रीयां यत् प्रातिपदिकं वर्तते, तस्मात् स्त्रीप्रत्ययो भवति
—इति, स्त्रीप्रत्ययं च ‘अरुणया’ इत्युपलभामहे । तस्मात्
द्रव्यवचनः, ‘अरुणशब्दः’—इति । तदेतदप्रेक्ष्यं, तदेव हि
द्रव्यमरुणिम्ना परिच्छिद्यमानम् अरुणशब्दाभिधानीयता समते,
तदेवान्यगुणकं नारुणशब्दः शक्तोऽप्यभिधेयितुम्, अरुणिमानमेव
शब्दो न व्यभिचरति, व्यभिचरति पुनर्द्रव्यम्, अव्यभिचारि
च कारणं कारणवताम् इष्टम् । अतोऽस्य गुण’ स्तार्थ’—इति
गम्यते, तदस्य प्रत्यक्षतो गुणवचनता गम्यते, स्त्रीप्रत्ययदर्शनात्
तु नूनम् अरुणा प्रातिपदिकं द्रव्यवचनम् इत्यनुमानं, प्रत्यक्षं
च अनुमानाद्गुणीयः, तस्मात् गुणवचनः । कथं तर्हि स्त्रीप्रत्यय
सम्बन्धः? । भवति हि गुणवचनस्य अपि खीलित्वता, यथा च
अरुणा बुद्धिः, एवम् अरुणा—इति । गुणवचनश्चेत् क्रीणातिना
न सम्बध्यते । तस्मात्-वाक्यभेदं ह्यत्वा प्रकरणे सर्वस्मिन्नेव
सन्निवेशः—इति ।

‘अथ यदि क्रीणातिना न सम्बध्यते, तस्मिन् एव वाक्ये
एकधायनोपशब्देन सम्भ्रंतस्यते, न भविष्यति वाक्यभेदः—इति’ ।
तत् न, केवलं हि गुणम् अरुणशब्दोऽभिधेयति, न द्रव्यगुणी,
केवलं च द्रव्यमेकधायनोपशब्दो, न गुणसहितम्—इति तयोः
सम्बन्धस्य वाचिकां पक्षीमन्तरेण कथं सम्बन्धो गम्यते? । ‘आह,
—अन्तरेणापि पक्षीम्, एकविभक्तिनिर्देशात् सामानाधिकरण्यम्

सा. श्रवणामस्यामः, यथा नीलमुत्पलम्—इति' । तदनुपपन्नं, रूपात्
 श्रवणशब्दस्य गुणवचनता, कल्पनीयन्तु एकविभक्तिसंयोगात्
 एकहायनीशब्दसन्निधानाच्च तदेकवाक्यतामभ्युपगम्य एकहा-
 यनीशब्दसामानाधिकरण्यं; न च, लिङ्गात् वाक्यं बलीयः ।
 तस्मात् असदेतत् ।

'तच्च उच्यते, यदा केवलगुणवचनतायां शब्दः प्रवर्तमानो
 नान्येन सम्बन्धं लभते, तदाऽनुपदेशकत्वात् आनर्थक्यं भाभूत्
 —इति द्रव्यपरतामापद्यते, तस्यामवस्थायामेकविभक्तियुक्तेनैक-
 हायनीशब्देन सन्निहितेनैकवाक्यतामापद्यमानः समानाधि-
 करणो भवति, तथा च ह्यत्वा, नीलमुत्पलम्—इत्युपपद्यते,
 स चायम् श्रवणशब्दः तस्यामवस्थायां वर्तते, न हि अस्य
 स्वार्थमभिधत्त इतो विच्छिन्नस्य प्रकरणेऽप्यर्थवत्ता । कुतः ?
 येनैव हेतुना सम्बध्यते क्रीणातिना न, नामूर्त्तोऽर्थः क्रियायाः
 साधनं भवति—इति, न च, क्रियासाधनेऽर्थे, न हि,
 केवलगुणवचनः शक्नोति द्रव्यमभिधातुम्—इति स एव हेतुः
 प्रकरणसम्बन्धाभावेऽपि, तच्चापि सम्बध्यमानः क्रियाभिर्वा
 सम्बध्यते, तत्साधनैर्वा द्रव्यैः, तच्चोभयमभ्यनुपपन्नम् । अतः अन-
 र्थकत्वपरिजिहोर्पया सन्निहितेनैकहायनीशब्देनाश्रवणशब्दः
 सम्बध्यते, नास्ति वाक्यभेदः' ।

नैतदेवं, न ह्ययमश्रवणशब्द एकहायनीविशेषणं भवितुमर्हति ।
 किं कारणं ? । करणविभक्त्या तृतीयया समुच्चरितोऽर्थः, तेनैतेन
 तृतीयाश्रुतिसामर्थ्यात् क्रियाविशेषणेन भवितव्यम्, कारकाणां
 हि क्रियाया सम्बन्धो न द्रव्येण—इति । स एष श्रुतिसाम-
 र्थ्यात् क्रियाविशेषणम्, एकवाक्यत्वात् एकहायनीविशेषणं,
 श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी, तस्माच्चास्यैकहायनीसम्बन्धः—
 इति ।

'ननु च गुणस्य क्रियासम्बन्धाभावात् अविवक्षिता कारक-

भा. शक्तिः*—इति एकछायनीसम्बन्धोभ्यमध्यवसितः। एवमपि
 नोपपद्यते,—यदि कारकाभिधानम् अविवक्षितम्—इति गुण-
 शब्देनैतेन द्वयम् अभिधातुमिष्यते, तदा प्रातिपदिकार्थस्या-
 व्यतिरेकः—इति प्रथमाविभक्तिः प्राप्नोति। न हि तृतीयाभा-
 स्तमभिसम्बन्धं शक्नोति वक्तुम्, न चान्यथानुपपत्तिः—इत्यन्यो
 ऽस्यानुपपद्यमानोऽर्थः शक्यते कल्पयितुम्, यथा, अग्नौ तिष्ठति
 माणवकः—इत्युक्ते उवलनेऽनुपपद्यमानो न अग्रे शवि वा
 कल्प्यते, अग्निसमीपवचन एवाध्यवसीयते; तद्वदिह्याप्यप्रथ-
 मान्तः शब्दो न कवच्चिदप्यव्यतिरिक्ते प्रातिपदिकार्थं भवितु-
 मर्हति—इति। तस्मात् काममनर्थकोऽवगम्यतां नास्यैकछा-
 यनीसम्बन्धोऽध्यवसातव्यः।

‘आह,—न ब्रूमो,—न कारकम् अरुणशब्देनाभिधीयते—
 इति, व्यक्तम् अरुणगुणविशिष्टमेतेन कारकमभिधीयते। कदा-
 चित् तु किञ्चित् विधित्सितं भवति, कदाचित् उपसर्जनोभूतोऽर्थो
 विधित्सितः, प्रधानोभूतोऽनुवादः; तत् यथा, दण्डी—इति
 उपसर्जनोभूतदण्डकपुरुषप्रधानकः शब्दः अवगम्यते, कदाचित्
 तु निर्ज्ञाते पुरुषे दण्डगुणविधानार्थम् उच्चार्यते,—दण्डी प्रैषा-
 नन्वाह—इति; तथा, ‘लोहितोष्णीया ऋत्विजः प्रचरन्ति’
 —इति। एवमिह्यापि यद्यनुपसर्जनभूतोऽरुणो गुणः, प्रधानभूत
 कारकं; तथाप्यनूदिते कारकेऽरुणगुणविधानार्थं वचनं युज्यते।
 तस्मात् एकछायनीसम्बन्धोऽप्यप्रपद्यते, नास्ति वाक्यभेदः’—इति।

नैतत्सारं, अत्र हि एकछायनीकोणात्योरनवबुद्धं सम्बन्धं
 बोधयितुमयमेकछायनीशब्द उच्चरितः,† स एव कथमिव अरुण
 शब्देन सम्बध्यते, तदेतदभिहितमपि पुनःपुनः पठेनुयुज्यते।

* कारकविभक्तिरिति प्रा० पु०।

† उच्चरति इति क्वचित्।

भा. 'कथं पुनरेकहायनीशब्दस्य क्रीणातिना, अरुणगुणेन च समाने समभिधाहारे क्रीणातिना सम्बन्धोभ्युपगमनीयः, न पुनः आरुण्येन?—इति' । शब्दप्रामाण्यात्,—भवति हि क्रिया-सम्बन्धस्य वाचिका विभक्तिरेकहायनीशब्दमनु निविष्टा, न तु गुणसम्बन्धस्य वाचिका । 'का पुनः क्रियासम्बन्धस्य वाचिका, का वा गुणसम्बन्धस्य?—इति' । कारकलक्षणा क्रियासम्बन्धे विवक्षते भवति द्वितीयादिः, अविवक्षिते पुनः कारके, सम्बन्ध-मात्रविवक्षायां पठ्यते । न च अत्र पठ्यते पश्यामः, पश्यामस्तु खलु तृतीयाम्, अतः क्रीणातिना सम्बन्धमभ्युपगच्छाम एक-हायनीशब्दस्य, नारुणाशब्देन—इति ।

'कथं तर्हि भवति अत्र सम्बन्धो,—नीलमुत्पलम्—इति' । उच्यते,—भवति, न तु श्रुतिलक्षणः, किं तु वाक्यलक्षणः, उत्पलशब्दसन्निधाने तदपेक्षी नीलशब्दस्तेनैकवाक्यतामभ्युप-गच्छन् न अजहत्स्वार्थवृत्तिः उत्पलविशेषाभिधानपर उच्चार्य-माणः सम्बन्धमभ्युपैति ।

'नन्विहापि वाक्यलक्षणः तद्वदेव अरुणिम्ना समं सम्बन्ध एकहायन्या युज्यते' । न—इति ब्रूमः,—श्रुतिर्हि वाक्याद्गुली-यसी, श्रुतिश्चास्याः क्रियासम्बन्धमाह, न गुणसम्बन्धम् । 'यदि पुनः श्रुतिसामर्थ्यात्, क्रियासम्बन्धोभ्युपगम्येत, एकवाक्यत्वात् अपि गुणसम्बन्धः' । नैवं शक्यं, यो ह्यन्येन सह सम्बन्धमुच्चार्यते, न तत्समीपगतोऽप्यन्यः तेन सह सम्बन्धमर्हति, यथा, भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्येति भार्याविशेषणार्थम् उच्चार्यमाणो राजशब्दो न पुरुषेण सम्बध्यते, तद्वदिह क्रियाविशेषणार्थम् उच्चार्यमाण एकहायनीशब्दो नारुणाशब्देन सम्बन्धमर्हति ।

'आह,—सत्यमेवमेतत्, असत्यामाकाङ्क्षायाभानन्तर्यमकारणं, सर्वत्र तु बाधिते पदार्थे वाक्यार्थ उपपद्यते, नान्यथा, सामान्य-वृत्ति हि पदं, विशेषवृत्ति वाक्यं, सामान्येनाभिप्रेतानां

भा. पदार्थानां यद्विशेषवस्थानं, स वाक्यार्थः, तदेतत् उक्तं, (१।१। २५ सू०)—“तद्भूतानां क्रियार्थेन समान्नायोर्ध्वस्य तन्निमित्त-
त्वात्”—इति, तत्र प्रत्यक्षादिभिः पदार्था, वाक्यार्थः पुनरानु-
मानिकः, तदेतत् अवगम्यतां,—केवलस्वार्थवृत्ति पदमनुपदेश-
कम्—इति पदान्तरेण सन्निहितेनेकवाक्यत्वमभ्युपैति, नाग्यथा
—इति, तदिह यद्यन्येकहायनीशब्दः क्रीणातिना सम्बन्ध-
मानः ह्यतार्था न पदान्तरेण सम्बन्धमाकाङ्क्षति, अरुणाशब्दः
तु पदान्तरेण सम्बन्धम् अलभमानः अनर्थकः—इत्येकहायनी-
शब्देनेकवाक्यतामभ्युपैति। ननु उक्तं,—क्रियासम्बन्धार्थो, ना-
रुणासम्बन्धार्थः—इति।

‘आह,—अरुणाशब्दस्य आनर्थक्यपरिहारायोभयसम्बन्धार्थ-
—इति वदामः, अन्यायमपि ह्यतमन्यार्थमपि शक्नोति कर्तुम्
तत् यथा, शाल्यार्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते
उपरपूज्यते च। एवमिहापि क्रयसम्बन्धार्थमेकहायनीशब्द-
उच्चार्यमाणोरुणाशब्देन सह सम्भन्तरयते, न किञ्चित् दुष्यति
तस्मात् न वाक्यभेदः’—इति। नैतदस्ति, यद्यन्ययमरुणाशब्द-
अनर्थको माभूत्,—इत्येकहायन्या सम्बन्धेत, तथापि सर्वस्मिन्
प्रकरणे निवेष्टुमर्हति, नचैनं सोमं क्रीणाति—इत्येष शब्द-
शक्नोति विशेष्यम्, न हि अयं विशेषणत्वेन उच्चार्यते, किं तर्हि
अपूर्वाभ्यं विधीयते।

‘ननु अपूर्वाभ्यं विधीयमान एकहायनीशब्दवत् इतरेण
सम्भन्तरयते। कथं?। प्रयोजनाय हि उच्चार्यमाणः शब्दो येनार्थ-
तस्मै तावत्प्रयोजनाय अवकल्प्यते, सन्निहितश्च बुद्धौ भवति
तेन बुद्धौ सन्निहितेन शक्यते साकाङ्क्षः शब्दः सम्बन्धयितुम्—
इति। नैतदेवं, यो हि असम्बन्धमानः अनर्थको भवति,
सम्बन्धते, नान्यः। कुतः एतत्?। सम्बन्धमाने हि सामान्य-
विशेषेभ्यस्याभ्येत, तत्र वाक्येन श्रुतिः पीडिता स्यात्। न चायं

भा. असम्बन्धमानः क्रीणातिना अनर्थको भवति, प्रकरणगताभिः
एकहायनीभिः* अभिसम्भन्त्यते ।

‘ननु एतत् उक्तं,—प्रकरणेभ्यस्य सम्बन्धोऽनुपपन्नः—इति’ ।
नानुपपन्नः, एकस्मिन् वाक्येभ्योर्ग्यः विधीयमानो नान्येन सम्ब-
ध्यते, वचनव्यक्तिभेदात्, अन्या हि वचनव्यक्तिर्विधीयमानस्य,
अन्या गुणेन सम्बन्धमानस्य । अज्ञातवत् ज्ञाम्यते विधीय-
मानोर्ग्यः, ज्ञातवत् अनृद्यते गुणसम्बन्धार्थं, न च स्रष्टुञ्चार्य-
माणो ज्ञातवत् अज्ञातवच्च भवितुमर्हति, एकहायनीशब्दः
क्रये विधीयमानोऽज्ञातवत् स्यात्, अरुणाशब्देन सम्बन्धमानश्च
ज्ञातवत् । वाक्यभेदे पुनर्न दोषो भवति, प्रकरणे तु वाक्यान्तरैः
क्रियाद्रव्यान्तराणि च प्राप्तानि, तेः इदं वाक्यान्तरविहितं
सम्बध्यते, तत्र अन्यस्मिन् विधीयते, अन्यस्मिन् वाक्येऽनूद्यते
—इत्युपपन्नं भवति । तस्मात् संयोगतोर्विशेषात् प्रकरणा-
विशेषाच्च सर्वस्मिन् प्रकरणे द्रव्येषु निवेशः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयो ऐककर्त्याद्ययमः
स्यात्’—इति, यत्र अर्थैकत्वं श्रूयते द्रव्यगुणयोः, तत्र द्रव्यगुणा
वेकस्मिन् पदार्थे नियम्येयातां । कुतः ? ऐककर्त्यात् एककार्य-
त्वात्, एकं हि कार्यं द्रव्यगुणयोः श्रूयते क्रयसम्बन्धः । कथमे-
तत् श्रवगम्यते ? एकवाक्यत्वात् । कथमेकवाक्यत्वं ? अरुणया
पिङ्गाद्या एकहायन्या—इति अपर्यवसितोर्ग्यः साकाङ्क्षत्वा-
दभिधातृप्रतिपत्तो, सोमं क्रीणातीति तु पर्यवस्यति, तयोरेवं
नैतत्तत्त्वात् । यद्येककार्यता किमिति विकल्पो न भवति ? नैत-
देवम् ‘एकार्थास्तु विकल्पेरन’—इति विकल्पधर्माणौ प्राप्नुतः
—इत्ययुक्तोर्ग्यं पर्यनुयोगः । कथं ? पर्यनुयोगो नाम स
भवति, यः स्वपक्षं साधयति, विपक्षस्य च प्रतीपमाचरति, न च

भा विकल्पोऽस्मत्पक्षस्य प्रतीपमाचरति, क्रयेणाह्णिमासम्बन्धः—
इत्येष नः पक्षः । न च विकल्पो नानाकार्यत्वात् ।

‘ननु इदानीमेव उक्तम्,—एकं कार्यम्—इति, तच्चापि
विरुद्धम्,—एवं हि पूर्वमभिहितं,—अमूर्त्तत्वात् गुणो न क्रियया
सम्बध्यते—इति, इदानीं विपरीतमभिधीयते,—उभावपि द्रव्य
गुणो एकार्थौ क्रियामभिनिर्वर्त्तयतः—इति’ । उच्यते, नैतद्विरुद्धम्,
न च विकल्पः, एकं कार्यं, सामर्थ्यभेदस्तु, साक्षात् हि द्रव्यं
क्रियां प्रत्युपकरोति, गुणस्तु विशिष्टानां साधनम् । ‘यद्येवं, न
तर्हि गुणः क्रियामभिनिर्वर्त्तयति, साधनस्य असौ विशेषकः—
इति’ । नैतदेवं, गुणस्य क्रियामभिनिर्वर्त्तयत एतदेव सामर्थ्यं,
यत् साधनं विशिष्ट्यात् । आकाङ्क्षति च क्रिया साधनविशेषणं,
चिक्रभूतो हि गुणः साधनं लक्षयति, अस्ति चिक्रे न लक्ष्येत,
—कतमत्साधनं क्रियायाः?—इति, ततः क्रियां नाध्यवस्येन
कर्तुम्—इति भवति क्रियासाधनं गुणः । नचैवं सति विकल्पो
भवति, यथा अधिकरणस्य कर्त्तादीनां च, अधिकरणं हि
कर्त्तादीनि धारयति, तान्यधायमाणानि न शक्नुवन्ति क्रिया-
मभिनिर्वर्त्तयितुम्, तथा कर्त्ता करणादीनि समाधत्ते, तान्य-
समाहितानि न शक्नुवन्ति स्वं स्वमर्थमभिनिर्वर्त्तयितुम् । यस्मिंस्तु
साधनोपकारे कार्यं तस्मिन्नेव उपकारेऽन्यत्साधनं विधीयते,
‘तत्र विकल्पो, यथा ‘नीहिभिर्यजेत, यवेर्यजेत’—इति, उभयेऽपि
तेण्डुलनिवृत्त्यर्थाः ।

‘एवं तर्हि तदेवेदं सज्जातं भवति, एकहायनीविधानं,
‘तद्विशेषणं च अरुणो गुणः, तत्र स एव दोषो वाक्यभेदः प्रसज्येत
—इति’ । न ब्रूमः,—अरुणाशब्द एकहायनीशब्देन सम्बध्यते
—इति, किं तर्हि क्रीणातिनैव सम्बध्यते, एवं हि श्रूयते,—
अरुणगुणेन क्रियामभिनिर्वर्त्तयेत्—इति, यथा च तेन निर्वर्त्तयते,
तथा यतितथम् भवति, न चाविशिष्टं साधनं, गुणः क्रिया-

भा. मभिनिर्वर्त्तयतीत्यर्थात् साधनविज्ञेयणतां प्रतिपद्यते, यथा स्थाल्यां पचेत्—इति क्रियासाधनत्वेन निर्दिष्टेर्थात् सम्भवने धारणे च स्थालीं व्यापारयति तद्वदिह्यपि द्रष्टव्यम् । तस्मात् नास्ति वाक्यभेदप्रसङ्गः—इति ।

‘नन्वेवम् अपि वाक्यमिदमेत । कथं ? । प्रत्येकं वाक्यपरि- समाप्तिर्दृष्टा—इति, यथा देवदत्त—यज्ञदत्त—विष्णुमित्रा भोज्यन्ताम्—इति प्रत्येकं भुजिः समाप्यते, यथा च यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेत्—इति । एवमिह्यप्यरुण्या क्रीणाति, एकह्यायन्या क्रीणाति—इति । नैतदस्मत्पक्षस्य बाधकं, एवमपि क्रये एव अरुणिमा निवेद्यति, न सर्वस्मिन् प्रकरणे—इति । ‘सत्यमेव दोषो न भवति, किं तु अनरुण्यापि एकह्यायन्या क्रयः प्राप्नोति, अरुण्या चानेकह्यायन्या, तत्र यदुक्तं द्रव्यगुणयोर्नियमः—इति, सा प्रतिज्ञा हीयते । न तर्हि ब्रूमः,—वाक्यभेदः—इति । कथं ? । क्रयस्य हि द्रव्या- रुणिमानौ उपदिश्येते, न क्रयः तयोः । न च, प्रधानं प्रतिगुणं भिद्यते, प्रतिप्रधानं हि गुणो भिद्यते—इति, अस्ति चायं दृष्टान्तः,—समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः—इति, यथा गर्गाः शतं दण्डयन्ताम्—इति, तथा अभिगुत्य ऊत्वा भक्षयन्ति—इति । तस्मात् उभयविशेषणविशिष्टः क्रयो विधीयते ।

‘कथं पुनः तस्मिंश्च इतरस्मिंश्च दृष्टान्ते सति एकान्तेन अवधार्यते,—समुदाय एव वाक्यपरिसमाप्तिर्न प्रत्ययवयवम्— इति । अत्र ब्रूमः,—इह द्रव्यारुणिमानावुभावपि क्रियासम्ब- द्धावुपलभ्येते परस्परेणासम्बद्धौ, क्रयोऽपि द्रव्यारुणिमाभ्यां विशिष्ट उपलभ्यते नान्यतरेण, तत्र यदि द्रव्यपरम् अरुणिमपरं च भवति वचनम् इदं, ततः प्रत्ययवयवम् असंशयं क्रयसम्बन्धः, अथ क्रयविधितस्याभिधीयते, ततो यद्येवायम् एकह्यायनीनि-

भा शिष्टः, एवम् अरुणिमविशिष्टः—इति नियमतः* उभयसम्बन्धो-
भ्युपगमनीयः। न च, अत्र द्रव्यारुणिमानौ ईप्सितौ, ईप्सितस्तु
क्रयः, तेन हि ज्योतिष्टोमद्रव्यं सोमः परिप्राप्यते,† द्रव्यारुणि-
मानौ क्रयार्थौ सन्तावोप्सितौ स्यातां, नान्यथा। तस्मात् क्रयो-
विधीयते, स च नान्यतरविशिष्टः प्रतीयते—इति समुदाये
वाक्यपरिसमाप्तिः इह निश्चीयते। यदा चैवं, तदा न, एक-
ह्यायनीम् मुक्त्वा अन्यत् द्रव्यं क्रयसाधनमस्ति, न चारुणात्
अन्यः साधनस्य विशेषको गुणः—इति, नियमः सिद्धो भवति।

‘अत्र वदामः,—यदि क्रयस्य साधने गुणोऽभिसम्बन्धमुपैति,
तदा वाक्ये भिन्नेऽपि क्रयसाधनत्वात् अरुणिमा अस्मिन् द्रव्ये
न निवेद्यते, किमर्थम् एकवाक्यता प्रयत्नेन साध्यते?—इति।
तदेतत् अभिधीयते,—भिन्ने हि वाक्ये एकह्यायनीसाधनक-
क्रयोऽवबुद्धो भवति, अरुणासाधनमपि क्रयान्तरं, न तस्मिन्नेवै-
कह्यायनीसाधने क्रये अरुणिमा विहितो भवति, तत्र यत्
क्रयान्तरम् अरुणगुणविशिष्टं, तत्रार्थात् प्राप्तम् अन्यदपि साधनं
भवति, तदपि विशिष्यन् अरुणो गुणः तेन सम्बध्यते। एक-
वाक्यत्वे तु तत् परिहृतं भवति। तस्मात् साधु अभिधीयते,—
अर्थकत्वे द्रव्यगुणयोः ऐककर्म्यात् नियमः स्यात्—इति ॥ (१।
१। ६ अ०) ॥

सर्वेषां यथादीनां सम्मार्गाद्यधिकरणम्। (यद्वैकल्यन्यायः)।

स एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥ १३ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमः,—‘यं एवं विद्वान् सोमेन यजते’—इति।

* नियोगत इति प्रा० पु० ।

† परिप्राप्यते इति प्रा० पु० ।

भा. तत्र श्रूयते,—‘दशापवित्रेण* यज्ञं सम्मार्ष्टि’—इति, तथा अग्निहोत्रे श्रूयते,—‘अग्नेस्तृणान्यपचिनोति’—इति, तथा दर्श-पूर्णमासयोः श्रूयते,—‘पुरोडाशं पर्यग्निकं करोति’—इति । तत्र सन्देहः,—किमेकस्य यज्ञस्य, एकस्य अग्नेः, एकस्य पुरोडाशस्य च सम्मार्जनादि कर्तव्यम्, उत सर्वेषां यज्ञाणां सर्वेषाम् अग्नीनां सर्वेषां पुरोडाशानाम्?—इति । किं प्राप्तम्?—एको यज्ञः, एकोऽग्निः, एकः पुरोडाशः इह ग्रहीतव्यः । कुतः? । श्रुति-संयोगात्, एकत्वश्रुतिसंयुक्ता एते पदार्थाः, एकं हि द्रव्यमेव श्रूयते, शब्दलक्षणे च हि कर्मणि यत् शब्द आह, तत् अस्माकं प्रमाणं, यथा पशुमालभेत—इत्युक्ते एक एव पशुः पुमांश्चालभ्यते, एवम् अत्राप्येको यज्ञः सम्मार्जनीयः, एकस्य अग्नेस्तृणान्यपचेयानि, एकः पुरोडाशः पर्यग्निकर्तव्यः—इति ॥

सं. सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् ॥ १४ ॥

(सि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—यज्ञादिष्वेकत्वयुक्तेष्वमी पदार्थाः कर्तव्याः—इति, सर्वे यज्ञाः सम्मार्ष्टव्याः, सर्वेऽग्नौऽग्निभ्यस्तृणान्यपचेयानि, पुरोडाशमात्रञ्च पर्यग्निकर्तव्यम्—इति । कुतः? । यज्ञज्यात्वा द्रव्यं लक्षयित्वा सम्मार्गादि विधीयते, अविशिष्टं च लक्षणं सर्वद्रव्येषु, तत्र न गम्यते विशेषः,—को यज्ञः सम्मार्ष्टव्यः, को न—इति, सामान्यावगमाद्विशेषानवगमाच्च सर्वप्रत्ययः । तथा अग्निपुरोडाशानामपि । ‘ननु एकवचनं श्रूयते, तत् विशेष्यति’ । नैतदस्ति, एकत्वं हि श्रूयमाणं यज्ञादिष्वेकत्वं ब्रूयात्, न द्वितीयादीन् प्रतिषेधेत्, एकत्वस्यासौ वाचको न द्वितीयादेः

भा प्रतिषेधकः तेन अप्रतिषिद्धे द्वितीयादौ सामान्यवचनेन प्राप्तम्
सम्मार्जनार्हं किमिति न क्रियेत ।

‘तत्र एतत् स्यात्, एकवचनम् इह श्रूयमाणं प्राप्ते एव
एकस्मिन् द्रव्ये, द्वितीयादिषु च, किमन्यत् कुर्यात् अन्यतः
परिसङ्ख्यायाः, न चेदेकवचनं परिसङ्ख्येयं द्वितीयादीन्,
अनर्थकमेव स्यात्, शक्नोति च द्वितीयादीन् निवर्तयितुम्,
यथा, ‘अश्वाभिधानोमादत्ते’—इति गर्दभाभिधानं परिसङ्ख्ये,
एवम् अत्रापि द्रष्टव्यम्—इति’ ।

नैतदेवं, तत्र मत्स्याभिधान्याश्च यः सम्बन्धः, तदभिधान-
परम् वचनम्,—‘इमांमगृह्णन्’—इत्यश्वाभिधानीम्—इति, न
अनेन मत्सेण, ‘आदत्ते’—इतिलिङ्गेनैवादाने प्राप्तत्वात् मत्स्य
परिसङ्ख्या युक्ता । इह पुनर्यदेकवचनं द्रव्ये श्रूयते, तत्
श्रूयमाणमप्यविधीयमानत्वेन न निवर्तकं भवितुमर्हति, यथा,
कश्चित् ओदनं निर्दिश्य ब्रूयात्,—य एनं भक्षयेत् कश्चित्
श्वा मार्जारो वा, स निवारयितव्यः—इति, तत्र यदि भक्षणं
निमित्तत्वेन विधीयते, न, श्वमार्जारसम्बन्धः, ततः काकोप्या
गच्छन् निवार्यते, श्रूयमाणेऽपि शुनि मार्जारे वा श्वमार्जार-
सम्बन्धस्य निमित्तत्वेनाविधीयमानत्वात् । एवम् इहाप्येक-
त्वसम्बन्धस्य अविधीयमानत्वात् श्रूयमाणेऽप्येकत्वे पक्षमार्त्रं
समृज्येत—इति ।

न च, अत्र द्रव्यैकत्वसम्बन्धविधायकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति । ‘ननु
सम्मार्ष्टि—इति’ । न ह्येतत् द्रव्यैकत्वसम्बन्धस्य विधायकम् ।
कस्ये तर्हि ? द्रव्यसम्मार्गसम्बन्धस्य विधायकम्, एवं श्रुत्या
सुपदार्थो विहितो भवति, इतरथा वाक्येन परपदार्थो विधी-
येत । श्रुत्यसम्भवे च वाक्यं क्षमते, न सम्भवन्तया श्रुतौ ।
अतोऽपिधीयमानं विशेषणत्वेन, एकत्वं न द्वितीयादीन् प्राप्ति-
येहमर्हति । एवं सति न, द्वितीयदौ सम्मार्गादि क्रियमाणम्

भा अचीदितं भवति, प्रतिपिहं वा, यथेव हि तत्, एकस्य श्रुतम्
अवगम्यते, तथा द्वितीयादेरपि ।

अयं चापरो दोषः,—न तदेकत्वं द्रव्यस्य सम्मार्गादौ विषये
नियम्येत, न हि, सम्मार्गादिः, यस्मिन् द्रव्ये एकत्वं नियम्येत,
तस्य विशेषणत्वेन भवति, विधीयते हि अत्र सम्मार्गादिः,
न प्राप्नो लक्षणत्वेन द्रव्यस्याग्नायते, न हि, यौगपद्येन
विधातुम् शक्यते, लक्षणत्वेन च उच्चारयितुम्; प्रसिद्धसम्बन्धो
हि शक्नोति लक्षयितुम्, न चाविहित एवञ्जातीयकः शब्दाव-
गम्यः प्रसिद्धसम्बन्धो भवति, विधीयते च सम्मार्गादिः, तस्मात्
न विशेषकः, न चेत् विशेषकः, न द्रव्ये एकत्वं नियम्यते—इति
शक्यम् आश्रयितुम् ।

‘अथ एकत्वं सम्मार्गे उच्यते’ । तत्रापि द्वयी गतिः स्यात्,
एकत्वं प्रधानं, सम्मार्गो वा, तच्च उभयमप्यनुपपन्नम्,—न तावत्
एकत्वस्य सम्मार्गः शक्यते कर्तुम्, न च, द्रव्ये क्रियमाणः एक-
त्वस्योपकरोति केनचित् प्रकारेण, न च, एकत्वस्योपहृतेन
किञ्चित् प्रयोजनम् अस्ति, न हि, तत् गुणभूतम् श्रुतम् । ‘अथ
एकत्वं सम्मार्गं प्रति गुणभूतम्—इति’ । तदपि न । कथं ?
अमूर्तत्वात्, न हि तत् सम्मार्गं निष्पादयति । यद्यप्यन्यत्
अमूर्तं क्रियां निष्पादयति साधनं विशिष्यत्, तथाप्येतत् न
भवितुमर्हति, न हि, अत्र यद्दः सम्मार्गार्थः, सम्मार्गोऽत्र
यद्वाय चोद्यते, स हि प्रयोजनवान्, कल्प्यप्रयोजनः सम्मार्गः ।
यदि यद्दः सम्मार्गस्योपकुर्यात्, तदुपकारिण उपकरोति—इति
सम्मार्गस्य उपकारकमेकत्वं भवेत्, न त्वेतदेवम् । तस्मात्
एकत्वसम्मार्गयोः असम्बन्धः । ”

‘ननु प्रधानभूतमपि यद्वादि सम्मार्गं निष्पादयत्येव, अतः
तत्साधनं तच्च विशिष्यत् तदुपकरिष्यति, यथा इन्द्रार्थं, नाना
पयसि च प्रणीता धर्माः पाके उपकुर्वन्ति । परिधानार्थं

भा परिधौ यूपधर्मा बन्धने । तस्मात् अयम् असमाधिः—इति ।
 अथ उच्यते,—न द्रुमः,—अतर्दय साधके न शक्तुवन्तुपकर्तुम्
 —इति, किं तर्हि?—यदा प्रधानभूतं यद्वादि लक्षणत्वेन
 उच्यते, न तदा एकत्वस्य यद्वादिना सम्बन्धः, न सम्मार्गा
 दिना—इति । कथं? यावत् इह लक्षणत्वेन किञ्चित् उच्यते,
 संवादः तत्र भवति, न तु तदिधीयते विज्ञानाय । ‘किमर्थं तर्हि
 उच्चार्यते? । अन्यत्तस्य किञ्चित् विधायिष्यते—इति, तदेतत्
 यद्वादि लक्षयित्वा तस्य सम्मार्गादि विधीयते । तत् यदेकत्वं
 सम्बन्धोऽपरो यद्दृष्टे सम्मार्गादौ वा पदार्थे विधीयेत, द्वयोः
 सम्बन्धयोर्विधानात् भिद्येत वाक्यम् । अथोच्यते,—यद्वादि
 लक्षयित्वा तस्य एकत्वसम्बन्धो विधीयते, न सम्मार्गादि
 सम्बन्धः—इति, तथा च सम्मार्गादीनाम् अध्ययनं प्रमाद’—
 इत्यभ्युपगतं स्यात्, नचैतदेवम् । तस्मात् उभाभ्यामेकवचन
 स्यासम्बन्धः—इति । एवमेतदेकत्वं यदस्य न किञ्चित् उपकारं
 करोति, न सम्मार्गस्य, एवमेव सद्गूह्यते । तस्मात् नैतत्
 किञ्चित् अपि कर्तुम् विवक्ष्यते—इति सर्वेषां यद्वादीनां सम्मा
 र्गादि कर्तव्यम्—इति । कुतः? । सयोगतोर्विशेषात् प्रकरणा
 विशेषाच्च ।

‘यदि अविवक्षितमेकत्वं, कथं तर्ह्येकवचनमुच्चार्यते? ननु
 वज्रपु विवक्षितेषु वज्रवचनेन भवितव्यम्’ । उच्यते,—न वज्रमे
 तद्विचारयामः,—एकवचनमुच्चारयितव्यम्, न उच्चारयितव्यम्
 —इति, उच्चार्यमाणे सति किं प्रतिपत्तव्यम्?—एकस्मिन् एव
 सम्मार्गादि, उत सर्वेषु?—इति, तच्च सर्वेति स्थितिः ।
 अपि च, न विभक्तेर्वचनमेव एकं प्रयोजनं, किं तर्हि?—
 कारकसम्बन्धोऽपि, अविवक्षिते एकत्वे कारकसम्बन्धार्थमस्य
 उच्चारणम् भविष्यति । तस्मात् नानर्थकम् ।

अपि च, यद्वादिः प्रातिपदिकार्थः एकत्वं विभक्त्यर्थः । ‘किमत’

भा यद्येवम्'। एतत् अतो भवति,—प्रातिपदिकार्थगतं हि विभक्तिः
 स्वमर्थं श्रुत्यैव वदति। 'अथैवं सति किं न, सम्मार्गेण
 सम्भत्स्यते?—इति'। तेन हि सम्बन्धमानं वाक्येन सम्बन्धेत,
 न च, श्रुत्या, अन्येन सम्बन्धमानं वाक्येनाच्छिद्य अन्येन
 सम्बन्धमर्हति। असम्बन्धमानस्तु एकत्वेन सम्मार्गो, यदि
 नैकत्वविशिष्टः क्रियते, न किञ्चित् विपन्नं भवति, नचैकत्ववि-
 शिष्टः सम्मार्गादिः, यद्वादिमात्रस्य च विधीयते—इति किमिति
 द्वितीयस्य तृतीयस्य च न क्रियेत—इति ॥

स चोदिते तु परार्थत्वाद्यथा—श्रुतिं प्रतीयेत ॥ १५ ॥
 (आ० नि०, ॥

भा. अथ यदुक्तं, (२२५।१० प०)—यथा, पशुमासभेत—इति
 एक एव पशुः पुंशुश्चालभ्यते, एवमिदमपि—इति, अस्त्यत्र
 वैपरोत्यम् इह यद्वाः सम्मार्गः, तत्र पुनर्यागार्थः पशुः। किमेवं
 सति भवति?। यो यागार्थं परिच्छिनत्ति*, स यागस्योपक-
 रोति, अपरिच्छिन्नेन न शक्यो यागः कर्तुम्—इति, न तु ग्रहेण
 केनचिद्विशिष्टेन सम्मार्गः कर्तव्यः। यत् यद्दं विशिष्यत् सम्मार्ग-
 स्योपकुर्यात्, पशोश्च एतदेकत्वं यागं प्रत्युपदिश्यते। 'ननूक्तं,
 (२२५।७ प०)—प्रातिपदिकार्थगतं स्वमर्थं विभक्तिः श्रुत्यैवाभि-
 वदति—इति, यागे एतत् वाक्येन विधास्यति, तत्र वाक्यात्
 'श्रुतिर्वर्लीयसी—इत्युक्तम्'। सत्यं, यत्र श्रौतोऽभिसम्बन्धो विव-
 द्यते, अविवक्ष्यमाणे च वाक्यावगतः सन् अपर्युद्दसितव्यो भवति,
 तस्मात् एकः पुंशुश्चालभ्यते—इति, ग्रहेकत्वं न सम्मार्गस्योप-
 करोति—इति न यद्दं शक्नोति विशेषम्। तस्मात् अविवक्षितम्
 —इति ॥ (३।१।७ अ०) ॥

यद्य चमसादौ सम्मार्गोद्यप्रयोगाधिकरणम् ।

स संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमः, तत्र श्रूयते,—‘दद्याद्विन्नेण यद्दं सम्मार्जितं’
—इति । तत्र एषोर्ग्याधिगतः,—सर्वं यद्वाः सम्मार्जितं वाः—
इति । इदमिदानीं सन्दिह्यते,—किं? चमसा अपि सम्मार्जितं वाः
उत न?—इति ।

किं तावत्प्राप्तम्?—चमसाद्यपि सर्वं सम्मार्ज्यम्—इति ।
कुतः? । ‘सयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च’—इति, यथैव
हि यद्वाणामपूर्वसम्बन्धः, एवं चमसानामपि, यथैव च यद्वाः
अस्मिन् प्रकरणे, एवं चमसा अपि । तस्मात् सवच्च सम्मार्गः ।

‘ननु यद्वाः श्रूयन्ते, ते चमसानां निवर्तका भविष्यन्ति’ ।
उच्यते,—प्रदर्शनार्थं यद्वायद्वाणं भविष्यति, यद्वादि सोमयाचन,
यस्मिन् गृह्यमाणः सोमो व्यवसिच्येत,—इत्येवम् आशङ्कते,
तत्सर्वं सम्मार्जितव्यम्; यथा भोजनकालो वर्तते, स्थाजानि
सम्पृज्यन्ताम्,—इत्युक्ते, यानि यानि भोजने उपयोगमर्हन्ति,
तानि तानि सर्वाणि सम्पृज्यन्ते, स्थालयद्वाणं लक्षणार्थम्—
इति गम्यते; एवमिहापि द्रष्टव्यम्—इति ।

‘उच्यते, लोकोर्ध्वलक्षणः संख्यवद्धारः, येन येनार्थः, सम्पृष्टेन,
उक्तोऽनुक्तो वा स स सम्पृज्येतैव । इह तु वेदे शब्दलक्षण,
शब्दस्य यद्वास्य सम्मार्गमाह, तत्र किमर्थं श्रुतौ सम्भवन्तयां
यद्वाशब्दो लक्षणया कल्प्यते’ । उच्यते, सम्मार्जितं—इति सम्मार्गे
पुरुषप्रत्ययं विधातुमेव शब्दः शक्नोति श्रवणेनैव, यद्वासम्बन्धे
तु वाक्येन, श्रुतिस्य वाक्याद्वासीयसी । तस्मात् लक्षणया यद्वा-
शब्दो वर्ण्यते, न, यद्याश्रुतः—इति, तेन, यो यः सम्मार्जन-
संस्कारार्जः स स सम्मार्जितव्यः, न यद्वाख्येव व्यवतिष्ठेत एवमा
तीयको गुण —इति ॥

स व्यवस्था वा अर्थस्य श्रुतिसंयोगात्, तस्य शब्दप्रमाण-
त्वात् ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा. . व्यवतिष्ठेत् वा यद्देवैव सम्मार्गो, न, चमसेत्त्वपि प्रसज्येत—
इति । कुतः ? । 'अर्थस्य श्रुतिसंयोगात्', श्रूयमाणो हि यद्दे-
न उत्सृष्टव्यः, उत्सृज्यमाने श्रुतिरेव बाध्यते यद्देन—इति,
प्रमत्तगीतं तत्रभवतामित्यवगम्यते, न च 'एतन्नारायं' तस्मात्
यद्देन शब्देन यद्देन लक्षयित्वा तस्य सम्मार्गसम्बन्धो विधीयते ।
न चाविदधत् सम्मार्गं, शक्नोति तत्सम्बन्धं विधातुम्, अतो
विदधात्येव एष शब्दः सम्मार्गः । न च श्रुतिर्बाधियते । कुतः ? ।
सम्मार्गः—इति सम्मृजितं पुरुषप्रयत्नं श्रुत्या शक्नोति विधा-
तुम्, न तत्र कश्चिद्विशेषः, उत्पाद्यमाने वा सम्मृजौ, परेण वा
सम्बध्यमाने—इति ; तेन न यद्देनसम्बन्धेऽपि श्रुतिर्बाधिता भवति,
अतो यद्देवैव सम्मार्गो व्यवस्थातुमर्हति—इति ।

'ननु अपूर्वसंयोगाविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च चमसेत्त्वपि
प्रसज्यते, न यद्देवैवास्य विधानम्—इत्युक्तम्' । अत्र उच्यते,
प्रकरणवद्भिः एकवाक्यतां कृत्वा शक्नोति तत्र विधातुम्, न,
अकृत्वा एकवाक्यतां ; सा च प्रकरणात् अनुमीयते, इयं पुन-
र्यद्देन शब्देन सह प्रत्यक्षा, तस्मात् न प्रकरणे विधानं, यद्दे-
कत्वसम्बन्धे पुनरुत्सृज्य स्वार्थं, न शक्नोति विधातुम् । तस्मात्
वैपर्ययस्य, यद्देकत्वविधानेन । यदुक्तम्,—यथा स्थालानि
सम्मृज्यन्ताम्—इति लक्षणा, तद्विहापि—इति, परिहृतमे-
तत् लोके कर्माथं लक्षणं, शब्दलक्षणं पुनर्वदे—इति ॥ (३।१।
८ अ०) ॥

सू

आनर्थक्यात्तदङ्गेषु ॥ १८ ॥

भा वाजपेये श्रूयते,—‘सप्तदशारलिर्वाजपेयस्य यूपो भवति’—
इति । तत्र सन्देहः,—किं सप्तदशारलिता वाजपेयस्य ऊर्ध्वं
पात्रे निविशते, उत पशोर्यूपे निविशते?—इति । किं तावत्
प्राप्तम्?—ऊर्ध्वपात्रे—इति । कुतः? वाजपेयस्य यूपाभावात्,
यत् वाजपेयस्य अस्ति पात्रं यूपसदृशं, तत्र भवितुमर्हति,
अस्ति च षोडशपात्रं, तच्च खादिरत्वात् ऊर्ध्वत्वाच्च यूपसदृश,
तत्र निवेशे सति वाजपेयशब्द आङ्गस्येन भवति, इतरथा
वाजपेयाङ्गे पशुयागे लक्षण्या वाजपेयशब्दो वृत्तः—इति
गम्येत । ‘ननु त्वत्पक्षेऽपि यूपशब्दो लक्षणयोर्ध्वपात्रे’ । उच्यते,
सर्वथा वयं लक्षणाशब्दाच्च मुच्यमानास्ते, मत्पक्षे तु वाजपेयप्रकर-
णम् अनुगृह्यते, तस्मात् ऊर्ध्वपात्रे निवेशः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूम,—‘आनर्थक्यात् तदङ्गेषु,’ वाजपेयशब्दः तावत्
सोमयागविशेषवचनः, तस्य साक्षात् यूपेन न प्रयोजनम्, अस्ति
तु तस्याङ्गं पशुयाग, तस्य तु पशुग्वन्तुम् यूपेन कार्यं । साक्षात्
वाजपेययूपस्य यदि सप्तदशारलिता विधीयते, तस्याभावात्
अनर्थकमेव वचनं प्राप्नोति, तत अनर्थकं नाभूत्—इति योभ्य
पशुयागे यूपः, तत्र निवेशमर्हति । ऊर्ध्वपात्रे च यूपशब्दो
लक्षण्या स्यात् । ‘नन्विरतस्मिन्नपि पक्षे वाजपेयशब्दो लक्ष-
ण्या’—इति । ‘न—इति ब्रूमः, वाजपेये एव वाजपेयशब्दो
भविष्यति, शक्यति च स पशुयूपं विशेषुं, सोमयाङ्गस्योप-
कारक’, यद्य यस्योपकारिण उपकरोति, भवति स तस्य सम्बद्धो
मुख्येनैव सम्बन्धेन, न च, एकान्तरित’—इति कृत्वा सम्बद्धो
भवति, यथा देवदत्तस्य नमा—इति, पुत्रेण च असावन्तरित,
अथच देवदत्तेन मुख्येनैव सम्बन्धेन सम्बन्धः । तस्मात् एष एष

पक्ष आश्रयणीयः, न हि एतस्मिन्पक्षे कश्चिदपि लक्षणाशब्दो
भवति—इति ॥ (३।१।६ अ०) ॥

अभिक्रमणादीनां प्रयाजमात्राङ्गताधिकरणम् ।

स कर्तृगुणे तु कर्मासमवायात् वाक्यभेदः स्यात् ॥
१६ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजवाक्ये श्रूयते,—‘अभिक्रमं जुहोत्य-
भिजित्या’—इति । तत्र सन्देहः,—किमभिक्रमणं प्रयाजेष्वेव
निविशते उत ह्यत्स्ने प्रकरणे ?—इति । किं तावत्प्राप्तं ? कर्तृ-
गुणेऽभिक्रमणे ब्रूमः,—वाक्यभेदः स्यात्—इति, कर्मणा कर्मणो-
ऽसमवायात् । अभिक्रमणं कर्म अमूर्तं, न तत्कर्म हवनं साधयितुं
शक्नोति, तस्मात् न तेनैकवाक्यतां याति । अतः सर्वस्मिन्
प्रकरणे निविशते, संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च—
इति ।

‘ननु अनेन एव हेतुना अन्यस्मिन्नपि न निवेद्यते’ ।
उच्यते, अन्यत्र पुरुषैः सम्भत्स्यते । ‘ननु प्रयाजेष्वपि पुरुषैः
सम्बध्यते’ । नैतदेवं, जुहोति—इति हवने एष शब्दः पुरुषप्रयत्नं
यिदधातुम् शक्नोति, न पुरुषाभिक्रमणसम्बन्धम् । ‘ननु अन्य
त्रापि पुरुषाभिक्रमणसम्बन्धस्याविधानम्’ । नैष दोषः, अन्यत्र
प्रकरणान्नानादङ्गभावे निर्द्दिशति प्रयोगवचनोऽस्य कर्तृधत्तां
यध्यति । तस्मात् सर्वस्मिन् प्रकरणेऽभिक्रमणस्य निवेशः—
इति ॥

साकाङ्क्षन्त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्व्वेण ॥ २० ॥
(सि०) ॥

१. नैतदस्ति,—यदुक्तमभिक्रमणं प्रकरणे निविशते—इति ; प्रया-

भा जेत्वेव भवितुमर्हति । कुतः ? तै सहास्यैकवाक्यता यत,
साक्षाद्भवेत् पूर्वण पदेनासमाप्तम् वाक्यम्, 'अभिक्रामं जुहोति'
—इत्येव पर्यवस्यति, प्रकरणाच्च वाक्यम्वलवत्—इति प्रया
जेत्वेवाभिक्रमणं निविशते । 'ननु अभिक्रमणममूर्त्तत्वात् होम
निर्हृत्तावसमर्थम्—इत्युक्तम्' । उच्यते, साक्षात् असमर्थम्, कर्त्ता
सम्यध्यमानं शक्यति निर्वर्त्तयितुम् । कथं ? अभिक्रमणेन
समासीदति आहवनीयं कर्त्ता, इयमभ्युपायभूतं होमस्थ,
दूराद्वाग्भिप्रसार्य हरतं, जुहुयात्, समासीदेत् अन्वाभिक्रमणेन ।
तस्मात् अभिक्रमणमुपकरोति होमस्थ,—इत्येवगम्यते । अत
प्रयाजेत्वेव निवेशः—इति ॥ (३।१।१० अ०) ॥

उपवीतस्य प्राकरणिकाङ्क्षताधिकरणम् ।

सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥ २१ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोः सप्तमाष्टमयोर्ब्राह्मणानुवाकयोः सामिधेन्य
उक्ताः, नवमे निविदः, दशमे काम्याः सामिधेनीकल्पाः,—'इदं
कामस्यैतावतीरनुब्रूयात्, इदं कामस्यैतावतीः'—इति, एकादशे
च यज्ञोपवीतमाह्वानार्त्तं,—'उपच्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते'—
इति । तत्र सन्देहः,—किं सामिधेनीरेवानुब्रूवाण उपच्येत् ।
उत प्रकरणे सर्वानेव पदार्थाननुतिष्ठता उपच्येत—इति
कुतः सशयः ? उपवीतं सामिधेनीना प्रकरणे समाग्नान्तम्
अथ निर्हृत्ते वा तासां प्रकरणे ?—इति न ज्ञायते ।

'ननु दर्शपूर्णमासयोरेव प्रकरणम् इदं, परप्रकरणे सामि
धेन्यः श्रूयन्ते' । सत्यं परप्रकरणे श्रूयन्ते, तथापि तासान्वा
ग्नप्रकरणम् अपरं, भवति हि, सामिधेनीरनुब्रूयात्—इति
विशेषाकाङ्क्षं वचनं, येन तत्सन्निधावभिधीयमानं तस्य—इति
ज्ञायते । 'कथं पनर्निर्हृत्ता तासां प्रकरणम्—इत्याशङ्कते' ।

ला. निवृत्त्यदानि तासां प्रकरणं व्यवदधति—इति । 'यद्येवं,
कथम्, अनुवर्तते प्रकरणम्—इत्याशङ्का ? । परस्ताद्विधिर्ना,
सामिधेनीगुणा एव काम्या विधीयमानाः श्रूयन्ते, यदनगारं
यज्ञोपवीतमाग्नातं, तेनानिवृत्तं सामिधेनीनां प्रकरणम्—
इति भवति मतिः । अतः परप्रकरणे निविदः समुपनिषतिता
न व्यवदधति । यथा दादशोपसत्ताद्धीनधर्मो 'ज्योतिष्टोम
प्रकरणे—इति । तेन भवति सन्देहः ।

अस्मिन् सन्देहे किं तावत्प्राप्तम् ?—सामिधेनीप्रकरणम् अनि-
वृत्तं, तत्र उपवीतं समाग्नातम्—इति । कुतः ? । काम्यानां
सामिधेनीकल्पानामानन्तर्यवचनात्, हृदयमनुविपरिवर्तमा-
नासु सामिधेनीषु उपवीतमामनन्ति, कर्तुंश्च वासोविन्यासमात्रं
गुणो भवति उपवीतं नाम, किं कुर्वता तत् कर्तव्यम् ?—इति
भवति तत्र पदार्थाकाङ्क्षा, तत्र बुद्धौ सन्निहितेनाविप्रलयेन
सामिधेनीवाक्येन एकवाक्यतामुपगम्य सामिधेनीषु—'उपवीतं
उपव्ययते' इत्येष शब्दो विदधानि—इति गम्यते ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—न, अस्मिन् सन्देहे यस्त्वयोक्तः, स निर्णयः ;
अस्मिन् सन्देहे वाक्यभेदः—इति निर्णयः—इति । कुतः ? ।
'व्यवायात्', इह समाप्तस्य सानुबन्धस्य सामिधेनीवाक्यस्य,
अस्य च 'उपव्ययते'—इति वचनस्य, निविदां विधायकेन
सामिधेनीभिः असम्पन्नेन ग्रन्थेन व्यवधानं भवति, यस्य च
पर्यवसितेऽपि वचने तत्सम्बद्धमेवार्थान्तरं प्रक्रमन्ते, न तत्र
अननुवृत्तं प्रकरणम्, आगच्छति हि तत्सम्बद्धाभिधाने हृदयम् ।
यत्र तु पर्यवसिते वचने तत्सम्बद्धमेवार्थान्तरं प्रक्रमन्ते, न तत्र
बुद्धौ पूर्वं पदार्थः गच्छिष्यते । न च, बुद्ध्यावसन्निहितेनैक-
वाक्यता भवति । दाभ्यां हि बुद्ध्याभ्या पदार्थाभ्या वाक्यार्थः
सङ्गम्यते, नान्यतरेण, सन्निधौ समाग्नानस्यैतदेव प्रयोजनं,
तत्र उभा १ पदार्था १ विनिष्टां वस्ति १ द्येयः ? इति ।

भा जेत्वेव भवितुमर्हति । कुतः ? । तैः सद्धार्यैकवाक्यता यतः, साक्षाद्भवेत् पूर्वण पदेनासमाप्तम् वाक्यम्, 'अभिक्रमं जुहोति'—इत्यत्र पर्यवस्यति, प्रकरणाच्च वाक्यम्बलवत्—इति प्रथा जेत्वेवाभिक्रमणं निविशते । 'ननु अभिक्रमणममूर्तत्वात् होमनिर्हन्तावसमर्थम्—इत्युक्तम्' । उच्यते, साक्षात् असमर्थम्, कर्त्तुं सम्बन्धमानं शक्यति निर्वर्त्तयितुम् । कथं ? । अभिक्रमणेन समासीदति आहवनीयं कर्त्ता, इयमभ्युपायभूतं होमस्य, दूराद्वाग्भिप्रसार्य हस्तं, जुहुयात्, समासीदेत् अन्वाभिक्रमणेन । तस्मात् अभिक्रमणमुपकरोति होमस्य,—इत्यवगम्यते । अतः प्रथाजेत्वेव निवेशः—इति ॥ (३।१।१० अ०) ॥

उपवीतस्य प्राकरणिकाद्धृताधिकरणम् ।

घ. सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥ २१ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः सप्तमाष्टमयोर्वाङ्मणानुवाकयोः सामिधेन्य उक्ताः, नवमे निविदः, दशमे काम्याः सामिधेनीकल्पाः,—'इदं कामस्यैतावतीरनुब्रूयात्, इदं कामस्यैतावतीः'—इति, एकादशे च यज्ञोपवीतमाग्नातं,—'उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुर्वते'—इति । तत्र सन्देहः,—किं सामिधेनीरेवानुब्रूयाण उपव्ययेत, उत प्रकरणे सर्वानेव पदार्थाननुतिष्ठता उपस्थातव्यम् ?—इति । कुतः संशयः ? । उपवीतं सामिधेनीनां प्रकरणे समाग्नातम् अथ निष्टौ वा तासां प्रकरणे ?—इति न ज्ञायते ।

'ननु दर्शपूर्णमासयोरेव प्रकरणम् इदं, परप्रकरणे सामिधेन्यः श्रूयन्ते' । सत्यं परप्रकरणे श्रूयन्ते, तथापि तासामेव प्रकरणम् अपरं, भवति हि, सामिधेनीरनुब्रूयात्—इति विशेषाफाद्धं वचनं, येन तत्सन्निधावभिधीयमानं तस्य—इति ज्ञायते । 'कथं पुनर्निर्हर्त्तं तासां प्रकरणम्—इत्याशङ्कते' ।

सा. निबिम्बदानि तासां प्रकरणं व्यवदधति—इति । ‘यद्येवं,
‘कथम्, अनुवर्त्तते’ प्रकरणम्—इत्याशङ्का? । परस्ताद्विदितां,
‘सामिधेनीगुणा एव काम्या विधीयमानाः श्रूयन्ते, यदनन्तरं
यज्ञोपवीतमाग्नातं, तेनानिष्टत्वं सामिधेनीनां प्रकरणम्—
इति भवति मतिः । अतः परप्रकरणे निविदः समुपनिषत्तता
न व्यवदधति । यथा द्वादशोपसत्ताङ्घ्रीनधर्मो ज्योतिष्टोम-
प्रकरणे—इति । तेन भवति सन्देहः ।

अस्मिन् सन्देहे किं तावत्प्राप्तम्?—सामिधेनीप्रकरणम् अनि-
ष्टत्वं, तत्र उपवीतं समाग्नातम्—इति । कुतः? । काम्यानां
सामिधेनीकल्पानामानन्तर्यवचनात्, हृदयमनुविपरिवर्त्तमा-
नासु सामिधेनीषु उपवीतमामनन्ति, कर्तुं च वासोविन्यासमात्रं
गुणो भवति उपवीतं नाम, किं कुर्वता तत् कर्त्तव्यम्?—इति
भवति तत्र पदार्थाकाङ्क्षा, तत्र बुद्धौ सन्निहितेनाविप्रलष्टेन
सामिधेनीवाक्येन एकवाक्यतामुपगम्य सामिधेनीषु—‘उपवीतं
उपव्ययते’ इत्येष शब्दो विदधाति—इति गम्यते ।

एवं प्राप्तिं ब्रूमः,—न, अस्मिन् सन्देहे यस्त्वयोक्तः, स निर्णयः ;
अस्मिन् सन्देहे वाक्यभेदः—इति निर्णयः—इति । कुतः? ।
‘व्यवायात्’, इह समाप्तस्य सानुबन्धस्य सामिधेनीवाक्यस्य,
अस्य च ‘उपव्ययते’—इति वचनस्य, निविदां विधायकेन
सामिधेनीभिः असम्बन्धेन सन्धेन व्यवधानं भवति, यस्य च
पर्यवसितेऽपि वचने तत्सम्बद्धमेवाध्यान्तरं प्रक्रमन्ते, न तत्र
अननुष्टत्वं प्रकरणम्, आगच्छति हि तत्सम्बद्धाभिधाने हृदयम् ।
यत्र तु पर्यवसिते वचने तत्सम्बद्धमेवाध्यान्तरं प्रक्रमन्ते, न तत्र
बुद्धौ पूर्वं पदार्थः सन्निधीयते । न च, बुद्ध्यावसन्निहितेनैक-
वाक्यता भवति । द्वाभ्यां हि बुद्ध्याभ्यां पदार्थाभ्यां वाक्यार्थः
सङ्गम्यते, नान्यतरेण, सन्निधी समाग्नानस्यैतदेव प्रयोजनं,
कथम् उभाभ्यां पदार्थाभ्यां विशिष्टां बुद्धिमुत्पादयेयुः?—इति ।

भा अनन्तरावबुद्धेन सह वाक्यार्थः शक्यते कर्तुम्, असम्बद्धपदोच्चारणे च नानन्तरावबुद्धौ भवति । तस्मात् व्यवहितेन स नैकवाक्यता भवति—इति ।

‘अद्यान्येन प्रकारेण ध्यानादिना पूर्वपदार्थम् अवगम्य, वाक्यार्थं सज्जनयेत्’ । अवेदिक, स पुरुषबुद्धिपूर्वको वाक्यार्थो भवेत्, यथा, अन्यस्मादनुवाकादाख्यातपदं गृहीत्वा, अन्यस्मात् नामपदं यो वाक्यार्थः सज्जन्यते, तादृशं तत् भवेत्, यत्र अन्येन ध्यानादिना पूर्वपदार्थम् अवगम्य, वाक्यार्थं सज्जनयेत् । तस्मात् नासम्बद्धार्थव्यवधाना एकवाक्यता भवति—इति निश्चीयते, तस्मात् न सामिधेनीभिः एकवाक्यतोपवीतस्य—इति । ‘ननु सामिधेनीकल्पानाम अनन्तरबुद्धाना सन्निधावुपवीतमाग्नायते, तेन सामिधेनीभिः सम्भत्स्यते—इति । न—इति ब्रूम,—अतिवृत्तमेव हि सामिधेनीनां प्रकरणं निवृत्त्यद्वैतवधानात् । वाक्येन हि सामिधेनीकल्पाः काम्याः सम्बन्धमुपतच्छन्ति, न प्रकरणम् अनुवर्तते, न च, पुनः कल्पवचनेन सामिधेयः प्रवृत्ता भवन्ति । न हि, तत्र तासां वचनं,—कर्तव्याः—इति, किं तर्हि संख्याभिः सम्बन्धयितव्याः—इति, तदपि वाक्येन, न प्रकारेण । तत्र अप्रवृत्तास्तु सामिधेनीषु यस्य एकवाक्यता गुणस्य सामिधेनीभिर्नास्ति, न तस्य ताभिः सम्बन्धः । तस्मात् प्रकरणे यदनुष्ठेयं तत् यज्ञोपवीतिना—इति सिद्धम् ॥ (१) १ । ११ अ०) ॥

वारणवैकल्यादिपात्राणां कृत्तव्यामगुणताधिकरणम् । (मिथीसम्बन्ध-
न्यायः) ॥

स गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात् ॥ २२ ॥

भा. अग्राधेये कारण—वैकल्यादिपात्राणि अज्ञोमार्धानि ज्ञोमार्धा-

भा. च श्रूयन्ते,—‘तस्मात् वारणो वै यज्ञावचरः* स्यात्, न त्वेतेन जुहुयात्, वैकङ्कतो यज्ञावचरः स्यात् जुहुयादेतेन—इति । न च वारणवैकङ्कतानां पात्राणामग्राधेयेन सम्बन्धः । कुतः ? । यज्ञावचरवचनात्,† यज्ञस्य एतानि पात्राणि, वाक्येन प्रकरणं बाधित्वा भवन्ति । तत्र एष सन्देहः,—किं पवमानेष्टिषु निविशन्ते, उत दर्शपूर्णमासादिषु सर्वयागेषु ?—इति । किं तावत् प्राप्तम् ? पवमानहविष्विति । कुतः ? । उक्तमेतत् (पू० अ०) प्रधानेऽसम्भवन्पदार्थः तद्गुणे कल्प्यते—इति, अग्राधेयप्रकरणे च समाग्नानात्पवमानहविषा तद्गुणता । तस्मात् पवमानहविःषु—इत्येवं प्राप्तम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणानां समत्वात्, पवमानहविषाम्, अग्राधेयस्य च न परस्परेण सम्बन्धः, यथा आधानमग्नेगुणः संस्कारार्थः, एवं पवमानहवोऽप्यपि अग्नेरेव गुणभूतानि, कस्तत्र परस्परेण सम्बन्धः ?—इति । यदुक्तं,—आधानस्य प्रकरणे समाग्नयन्ते—इति, यद्यपि समाग्नयन्ते, तथापि प्रकरणं बाधित्वा वाक्येन अग्नेर्भवन्ति । किम् इह वाक्यम् ? । ‘यदाहवनीये जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति’—इति ।

‘ननु आहवनीयोऽत्र यागस्याधिकरणत्वेन गुणभूतः श्रूयते’ । सत्यम्, अधिकरणमाहवनीयः, तथापि त्वाहवनीयार्थ एव यागः, प्रयोजनवत्त्वात् आहवनीयस्य, निष्प्रयोजनत्वात् पवमानहविषाम् । कथम् एषां निष्प्रयोजनता ? । फलाश्रवणात् । ‘कल्प्यं फलम्—इति चेत्’ । सत्यं कल्प्यम्, अग्निसंस्कारस्तु तत्फलं, न स्वर्गः, स्वर्गं कल्प्यमाने द्विरदृष्टं कल्प्येत,—होमाश्च

* ‘यज्ञावचरः यज्ञप्रचारहेतु’ इति माधवः ।

† ‘यग्न्याधानस्य यज्ञतिघोदनारहितत्वादयज्ञत्वम्’ इति अधिकः पाठः का० सं० पु० । एष पाठः अत्र भवितुं युक्तः ।

भा अनन्तरावबुद्धेन सह वाक्यार्थः शक्यते कर्तुम्, असम्बद्धपदोच्चारणे च नानन्तरावबुद्धो भवति । तस्मात् व्यवहितेन सह नैकवाक्यता भवति—इति ।

‘अथान्येन प्रकारेण ध्यानादिना पूर्वपदार्थम् अवगम्य, वाक्यार्थं सञ्जनयेत्’ । अवैदिकः स पुरुषबुद्धिपूर्वको वाक्यार्थो भवेत्, यथा, अन्यस्मादनुधाकादाख्यातपदं गृहीत्वा, अन्यस्माच्च नामपदं यो वाक्यार्थः सञ्जन्यते, तादृशं तत् भवेत्, यच्च अन्येन ध्यानादिना पूर्वपदार्थम् अवगम्य, वाक्यार्थं सञ्जनयेत् । तस्मात् नासम्बद्धान्यवधाना एकवाक्यता भवति—इति निश्चीयते, तस्मात् न सामिधेनीभिः एकवाक्यतोपवीतस्य—इति । ‘ननु सामिधेनीकस्यानाम् अनन्तरबुद्धाना सन्निधावुपवीतमाप्नोति, तेन सामिधेनीभिः सम्भन्त्यते—इति । न—इति ब्रूमः,—प्रतिवृत्तमेव हि सामिधेनीनां प्रकरणं निविरूपदैर्घ्यवधानात् । वाक्येन हि सामिधेनीवरूपाः काम्याः सम्बन्धमुपगच्छन्ति, न प्रकरणम् अनुवर्तते, न च, पुनःकल्पवचनेन सामिधेन्य’ प्रकृता भवन्ति ! न हि, तच्च तासां वचनं,—कर्त्तव्याः—इति, किं तद्धि संख्याभिः सम्बन्धयितव्याः—इति, तदपि वाक्येन, न प्रकरणेन । तच्च अप्रकृतासु सामिधेनीषु यस्य एकवाक्यता गुणस्य सामिधेनीभिर्नास्ति, न तस्य ताभिः सम्बन्धः । तस्मात् प्रकरणे यदनुष्ठेयं तत् यज्ञोपवीतिना—इति सिद्धम् ॥ (१।१। ११ अ०) ॥

वारण्यैकशतादिपात्राणां हस्तयामगुणताधिकरणम् । (मियोऽसम्बन्ध-
न्यायः) ॥

स गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात् ॥ २२ ॥

भा. अप्रगल्भे वारण्यैकशतपात्राणि अहोमार्थानि होमार्थानि

भा. वार्त्तघ्नी आग्नेयी, एका सौमी, तथा वृधन्वत्यौ, तत्र या आग्नेयी, सा विधीयमाना सम्यथेत न सौमी; अभावस्यायां तावत् नास्त्येव, पूर्णमास्यामप्यग्नीषोमीये एव क्रियमाणे क्रियेत, तत्राप्येकदेवत्या न शक्नुयात् देवतादित्वे कार्यं कर्तुम्। 'अथ उभे अग्नीषोमीये प्राप्ते—इति'। न, एकस्य यागस्य द्वाभ्यामनुवाक्याभ्यां प्रयोजनम्। उपादेयत्वेन हि अनुवाक्या चोद्यते, तत्र एकत्वं विवक्षितं, तेन तत्रापि न द्वे। तस्मात् आज्यभागयोर्निवेशः—इति ॥ (३।१।१३ अ०) ॥

मुष्टीकरणादीनां कृत्तृप्रकरणिकाङ्क्षताधिकरणम् ।

ख. आनन्तर्यमचोदना ॥ २४ ॥ (सि०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'मुष्टीकरोति वाचं यच्छति दीक्षितमावेदयति'—इति, तथा 'हस्ती अवनेनिक्ते *उलपराजिंस्तुणाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं मुष्टीकरणं वाग्यमस्य आवेदनार्थम्, उत कृत्तृप्रकरणे निवेशः?—इति तथा, हस्तावनेजनं किम् उलपराजिंस्तरितुम्, उत प्रकरणे सर्वपदार्थान् कर्तुम्?—इति। किं तावत्प्राप्तम्?—हस्तावनेजनं हस्तसंस्कारार्थं, वाग्यमः पुरुषसंस्कारार्थः, आमवयमाण एकाग्रो भवति, पदार्थाननुतिष्ठति, तेन केषां केषां पदार्थानाम् इमे संस्कारौ इत्याकाङ्क्षा अस्ति, सत्यामाकाङ्क्षायामानन्तर्येण निराकाङ्क्षीकरणं। तस्मात् आनन्तर्यात् आवेदनार्था वाग्यमो मुष्टीकरणं च, हस्तावनेजनं चोल्पराजिंस्तरितुम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सर्वे प्रकरणाधीतैः सम्यग्भ्यः—इति।

* 'वेद्यामाकर्तितुं सम्पादितकृत्यकस्य उल्पराजि' इति माधवः ।

भा सर्गा भवति, तस्य च आहवनीयेन अपरोऽवृष्टः संस्कारः—
इति । तस्मात् अग्रयंता पवमानहविषां, नैषामाधानेन
सम्बन्धः । तस्मात् नाधाने श्रूयमाणं, पवमानहविषा भवितु
मर्हति । किं तर्हि सर्वयागेषु दर्शपूर्णमासप्रभृतित्वाधानस्य
प्रधानभूतेषु निवेशः ?—इति ॥ (३।१।१२ अ०) ॥

वार्चघ्नीयानुवाक्यानामाज्यभागाद्धताधिकरणम् । (वार्चघ्नीन्यायः) ।

स मियश्चानर्थसम्बन्धात् ॥ २३ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘वार्चघ्नी पौर्णमास्याम् अनूचेते,
वृधन्वती अनावस्यायाम्’—इति । तत्र सन्देहः,—किमनुवा
क्यादित्वस्य प्रधाने निवेशः, उताज्यभागयोः ?—इति । किं
तावत्प्राप्तम् ?—प्रधाने—इति । कुतः ? पौर्णमासीसमभिद्या
हारात्, अनावस्यासमभिद्याहाराच्च । प्रधानं पौर्णमासी च
अनावस्या च नाज्यभागौ । तस्मात् साक्षाद्वाक्यात् प्रधानस्य
—इति प्राप्तम् ।

तत्र ब्रूमः,—नियः सह द्वाभ्यामनुवाक्याभ्यां न प्रधानस्य
कार्यमस्ति, यच्च तु द्वे अनुवाक्ये, तत्र तयोर्वार्चघ्नीता वृधन्वता
च विधीयते, प्रधाने च एका अनुवाक्या, तत्र द्वित्वं वार्चघ्नीता
वृधन्वता च विदधत् वाक्यमिदमेत । आज्यभागयोस्तु द्वे प्राप्ते
आग्नेयी सीमी च, तत्र वार्चघ्नीता वृधन्वता केवला शक्यति
विधातुम् । ‘ननु प्रधानगामित्वेऽपि द्वयोः प्रधानयोः द्वे अनु
वाक्ये, आग्नेयस्य अग्नीषोमीयस्य च—इति’ । उच्यते,—एका

* “वार्चघ्नीयुगल वृधन्वतीयुगलान्तु होमकारेण आज्यभागयोः प्रमे
यमिदंवाचि जहन्तु’ इत्यनुवाक्येनास्वातम्” इति माधवः ।

भा. भवति, एवमिहापि । यदि आग्नेयस्य अग्नीषोमीयस्य च पुरोडाशस्य मिथः सम्बन्धो न भवेत्, तत आग्नेय एव चतुर्द्वाकरणं व्यवतिष्ठेत, भवति तु सम्बन्धः, तस्मात् अव्यवस्था, यथा आग्नेयस्य मरुतकं विभज्य प्राशिवम् अवद्यति—इति सर्वेभ्यः प्राशिवावदानम्, एवं चतुर्द्वाकरणमपि ॥

ख. व्यवस्था वा अर्थसंयोगात् लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धात् लक्षणार्था गुणश्रुतिः ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति, व्यवतिष्ठेत वा चतुर्द्वाकरणम् आग्नेये एव, न साधारणं भवितुमर्हति । कुतः ? । अर्थसंयोगात्, अग्निना देवतया अर्थेनैकदैवत्यस्य संयोगः, न द्विदैवत्यस्य अग्नीषोमीयस्य ऐन्द्राग्नस्य च—इति । कुतः ? । यस्य हि अग्नीषोमी देवता, उभयविशेषणविशिष्टः सद्गुणः क्रियते, तस्याग्निः सोममपेक्षमाणो देवता, न निरपेक्षः, यस्य च अग्निः सोममपेक्षमाणो देवता, न तस्मात् तद्वित उत्पद्यते, समर्थाना हि स उच्यते, सापेक्षं च असमर्थम् । तस्मात् न तद्वितान्तेन निरपेक्षाग्निदैवत्येन द्विदैवत्यस्य अभिधानम् । अतो यत्र निरपेक्षोऽग्निदैवता, तत्र एव चतुर्द्वाकरणम्—इति, देवतालिङ्गस्य हि सामर्थ्येन संयोगो भवति तद्वितार्थस्य, नास्ति सामर्थ्यं ।

अथ यदुक्तं, यथा प्राशिवावदानं सर्वेभ्यः क्रियते, एवं चतुर्द्वाकरणमपि—इति, युक्तं प्राशिवावदानेन तत्र एव सम्बन्धः क्रियते,—आग्नेयस्य प्राशिषमवद्यति—इति । ‘कथं तर्हि आग्नेयस्य मरुतकं विभज्य ?’—इति । एकं ह्येतद्वाक्यं प्राशिषमवद्यति—इति, द्वितीयमाग्नेयस्य मरुतकं विभज्येति, तत्र आग्नेयस्य मरुतकात् अवद्यति—इति गम्यते, अन्यस्य मरुतकात्, अन्यस्मादेति अनियमः । यदि तु तत्र केवलाग्निदैवत्यो न अभविष्यत्, तदा आनर्घ्यपरिहाराय द्विदैवत्योऽप्यवहित्यत् ।

भा. कुतः?। वाक्यभेदात्। कथं वाक्यभेदः?। अर्थद्वयस्याभिधानात्, न हि, दीक्षितम् आवेदयितुम्—इत्यस्मिन् अर्थे आवेदयति—इति, न च स्तरितुम्—इत्यस्मिन् अर्थे स्तृणाति—इति; स्तरणमपि विधीयते अवेनेजनं च; मुष्टीकरणं वाग्यमश्च विधीयते, आवेदनं च। न च, एषां परस्परं कश्चित् सम्बन्धोऽस्ति, न च, पदार्थाकाङ्क्षायाम् सत्यामानन्तर्यमेकवाक्यत्वे कारणं भवति, तस्मात् प्रकरणधर्मा एवज्ञातीयकाः ॥

सू वाक्यानाञ्च समाप्तत्वात् ॥ २५ ॥ (यु०) ॥

भा. स्वेन स्वेन पदसमूहेन परिपूर्णमेकं वाक्यं, तथा अपरं, तथा सर्वाणि धान्युदाहृतानि। तस्मात् विस्पष्टमर्थद्वयं, विभागे च निराकाङ्क्षता, तेन वाक्यभेदः। अतः संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च द्वास्त्रे प्रकरणे निवेशः—इति ॥ (३।१। १४ अ०) ॥

चतुर्धाकरणस्याग्नेयमावाङ्मताधिकरणम् ॥

सू शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत मिथस्तेषां सम्बन्धात् ॥ २६ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः समागनायते,—‘आग्नेयं चतुर्धा करोति’—इति। तत्र सन्देहः,—किमाग्नेयेऽग्नीषोमीये ऐन्द्राग्ने च सर्वं चतुर्धाकरणं? किं वा आग्नेये एव?—इति। किं प्राप्तम्?—शेषश्चतुर्धाकरणम्, आग्नेयम्—इति देवतागुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयते, अग्नीषोमीयेऽपि स्यात्, ऐन्द्राग्नेऽपि। कुतः?। तो अपि आग्नेयौ, यस्याग्निर्देवता, अन्या च भवति, असावाग्नेयः; तत् यथा, या इदित्यस्य उदित्यस्य च माता, सा उदित्यस्य

तृतीये अध्याये द्वितीयः पादः ॥



अथ लवनप्रकाशकमन्त्रानां मुख्ये विनियोगाधिकरणम् ॥ (वह्निर्यायः) ॥

स. अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्मादु-
त्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥ १ ॥

भा. इह मन्त्रा उदाहरणं,—‘वर्हिर्देवसदनं दामि’—इत्येवमा-
दयः । किं मुख्य एवाभिधेये मन्त्राणां विनियोगः, उत गौणेऽपि ?
—इति । कः पुनर्मुखः को वा गौणः ?—इति । उच्यते,—
यः शब्दादेवावगम्यते, स प्रथमोर्ध्वा मुख्यः, मुखमिव भवति
—इति मुख्य इत्युच्यते, यस्तु खलु प्रतीतादर्यात् केनचित्
सम्बन्धेन गम्यते, स पश्चात्भावाज्जघनमिव भवति—इति
जघन्यः, गुणसम्बन्धाच्च गौणः—इति ।

“यद्येवं सर्व एव मुख्यः, सर्वो हि शब्दात् गम्यते, यथैव हि
अग्निर्ज्वलति इत्युक्ते ज्वलने सम्प्रत्ययः, एवमेवाग्निर्माणवकः—
इति शब्द एव उच्चारिते माणवके सम्प्रत्ययः । ‘अथ उच्यते
यस्मिन् निरुपपदात् शब्दात् सम्प्रत्ययः स मुख्यः, यस्मिन्
सोपपदात् स गौणः’—इति । नैतत् युक्तम्,—यस्य हि शब्दस्य
रूपं कस्यचित् अर्थस्य निमित्तं, सोपपदस्यापि तदेव रूपं,
निरुपपदस्यापि; न च शक्यं निमित्ते सति नैमित्तिकेन न
भवितुम् । ‘किमतः ?’ । यद्येवम्, इदं न शक्यते वदितुम्,—
उपपदादृते न सोर्ध्वा भवति, उपपदे तु सज्जाते सोर्ध्वः
सज्जनिरूप्यते—इति । न चासौ समुदायार्थः शक्यते विज्ञातुम्,
अन्यथ्यतिरेकाभ्यां हि विभागोऽवगम्यते । ‘अथ, वाक्यार्था-
भ्यम्,—इत्युच्यते’ । नैवं शक्यं, न हि अनन्वितः पदार्थो भवति

भा यत्तु, डित्यस्य माता—इति, युक्तं तत्राध्यासङ्गि मातृत्वं, ततो जातो डित्यः, एतावता सम्बन्धेन, माता इत्युच्यते, न अत्र किञ्चित् अपेक्ष्यते । स च नावांस्तत्र सम्बन्धोऽस्ति—इति डित्यस्य माता—इति युक्तं वचनम् ॥ (३।१।१५ अ०) ॥

इति श्रीभट्टशयरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

तृतीये अध्याये द्वितीयः पादः ॥



अथ लघनप्रकाशकमन्त्रानां मुखे विनियोगाधिकार्यम् ॥ (वहिन्यायः) ॥

अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्मादु-
त्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥ १ ॥

भा. इह मन्त्रा उदाहरणं,—‘वर्हिर्देवसदनं दामि’—इत्येवमा-
दयः । किं मुखे एवाभिधेये मन्त्राणां विनियोगः, उत गौणेऽपि ?
—इति । कः पुनर्मुखः को वा गौणः ?—इति । उच्यते,—
यः शब्दादेवावगम्यते, स प्रथमोर्ध्वा मुखः, मुखमिव भवति
—इति मुख इत्युच्यते, यस्तु खलु प्रतीतादर्थात् केनचित्
सम्बन्धेन गम्यते, स पश्चात्भावाज्जघनमिव भवति—इति
जघन्यः, गुणसम्बन्धाच्च गौणः—इति ।

“यद्येवं सर्व एव मुखः, सर्वो हि शब्दात् गम्यते, यद्येव हि
अग्निर्ज्वलति इत्युक्ते ज्वलने सम्प्रत्ययः, एवमेवाग्निर्माणवकः—
इति शब्द एव उच्चारिते माणवके सम्प्रत्ययः । ‘अथ उच्यते
यस्मिन् निरुपपदात् शब्दात् सम्प्रत्ययः स मुखः, यस्मिन्
सोपपदात् स गौणः’—इति । नैतत् युक्तम्,—यस्य हि शब्दस्य
रूपं कस्यचित् अर्थस्य निमित्तं, सोपपदस्यापि तदेव रूपं,
निरुपपदस्यापि; न च शक्यं निमित्ते सति नैमित्तिकेन न
भवितुम् । ‘किमतः ?’ । यद्येवम्, इदं न शक्यते वदितुम्,—
उपपदादृते न सोर्ध्वा भवति, उपपदे तु सञ्जाते
सञ्जनिष्यते—इति । न चासौ समुदायार्थः शक्यते ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि विभागोऽवगम्यते ।
‘यम्,—इत्युच्यते’ । नैवं शक्यं, न हि अनन्वितः

भा वाक्यार्थः। तदेवं दृश्यताम्,—अग्निशब्द एव अयं ज्वलनवचनः
अग्निशब्द एव माणवकस्याभिधाता—इति, तस्मात् न गौणो
मुख्यः—इति कश्चिद्विशेषः। ‘अथोच्यते, यः सृष्टुं प्रसिद्धः स
मुख्यः, यो मनागिव, स गौणः’—इति। इदमपि नोपपद्यते,
प्रसिद्धिर्नाम प्रज्ञानम्, न च प्रज्ञाने कश्चिद्विशेषो भवति। ‘अथो
च्येत, यस्य वज्रशः प्रयोगो भवति स मुख्यः, अल्पशः प्रयुज्यमानो
गौणः’—इति। नैतदेवम्, अल्पशोऽपि प्रयुज्यमानो नास्ति
सामर्थ्यं प्रत्याययेत्, अतः सोऽपि शब्दात्प्रतीयते—इति मुख्य
एव”।

अथ उच्यते,—अस्ति अत्र विशेषः, माणवको न अग्निशब्दात्
प्रतीयते। कथमवगम्यते? उक्तम् (१।३।३६ सू०) ‘अन्या
यश्चानेकार्थत्वम्’—इति। कथं न विपर्ययः? उच्यते,—अना-
दृत्यैव माणवकप्रत्ययं ज्वलनम् अग्निशब्दात् प्रतीयन्ती दृश्यते,
न त्वनादृत्य ज्वलनं, माणवकम् अग्निशब्दात् प्रतीयन्ति। कुतः
एतत्? यो योऽग्निशब्दो विवक्ष्यते, तत्र तत्राग्निशब्दो नियतः
—इति। अत एव विगतसादृश्यादप्यन्तु दृश्यते। अतोऽग्नि
सादृश्यमस्य प्रवृत्तौ निमित्तं न च ज्वलने अप्रतीते तत्सादृश्यं
प्रतीयते। तस्मात् ज्वलनस्य अग्निशब्दो निमित्तं न माणवकस्यः
तस्मात् ज्वलने मुख्यो न माणवके। एवमेव तृणप्रत्ययस्य
वर्द्धिः शब्दो निमित्तं न तृणसदृशप्रत्ययस्य। तदेवं दैते सति
मुख्यपरता शब्दस्य, उत गौणपरतापि?—इति युक्तो विचारः।

किं तावत्प्राप्तम्?—मुखेन गौणे च विनियोगः। ‘कुतः?’
उभयस्य शक्यत्वात् उभयमपि वर्द्धिः शब्देन शक्यते प्रत्याय-
यितुम्, तृणं च तृणसदृशं च, तृणं साक्षात्, तृणसदृशं तृणप्र-
त्ययेन। यद्य नाम दर्शपूर्णमासयोः साधनभूतेन वर्द्धिः शब्देन
शक्यते प्रत्याययितुम्, तत् सर्वं प्रत्याययितव्यं विनियमनार्था
हेतवभावात्।

त अपि च एवं आश्रीयमाणे पूयाद्यनुमद्वणादीनि दर्शपूर्ण-
मासाभ्यां नोत्हाप्यन्ते* तत्र एव गौणेन अभिधानेन प्रकृतां
देवतामभिवदिष्यन्ति ।

एवं प्राप्तिः भूमः,—मुखे एव विनियोक्तव्यो मन्त्रः न गौणे—
इति । कुतः ? । उभयाश्रयत्वात्, प्रकरणे हि समाम्नानात्
प्रधानेन एकवाक्यतामुपैति, तत्रैतदापतति यत् शक्त्यात् अनेन
मन्त्रेण साधयितुम्, तथा साधयेत्—इति । स चासावर्थाभि-
धानसंयोगात् शक्त्युपपत्तुम्, न गौणमर्थं शक्त्यभिधातुम्,
तस्मात् न गौणे विनियोगः ।

‘ननु मुख्यप्रत्यायात्, शक्यते गौणः प्रत्याययितुम्’ । सत्यमेतत्,
मुख्यप्रत्यायनेन एवास्य प्रयोजनवत्ता निर्दृष्टा—इति न गौणं
प्रति विनियोगे किञ्चित् प्रमाणमस्ति । मुखे विनियोगेन
त्वानर्थक्यं परिह्रियते, परिहृते आनर्थक्यं न गौणाभिधानमा-
पतति, न हि, अनभिधाय मुखं, गौणमभिवदति शब्दः । अतः
प्रमाणाभावात् न गौणे विनियुज्येत ।

अपि च गौणस्य प्रत्यायने सामर्थ्यात् बह्वोऽभ्युपायाः प्राप्नु-
यन्ति, सामर्थ्यं च शब्दैकदेशः—इत्युक्तम् (१ । ४ । ३०) ‘अर्थादा
कल्पनैकदेशत्वात्’—इति तत्र मन्त्रे नियोगतो गौणं प्रति
विनियुज्यमाने उपायान्तरं, विना प्रमाणेन बाधेत । ‘मन्त्रा-
ग्मानं प्रमाणम्’—इति चेत् । न तस्य उपायान्तरनिवृत्तौ
सामर्थ्यमस्ति । ‘ननु मुखेऽपि विनियुज्यमानस्य एष एव
दोषः’ । न इत्युच्यते,—यदि मुखेऽपि न विनियुज्येत, नैष
प्रधानस्योपकुर्यात् तत्र चास्योत्पत्तिः अनर्घिका एव स्यात् ।
तस्मात् अस्ति गौणे मुखे च विशेषः । अपि च यो गौणे
मन्त्रं विनियुङ्क्ते, स वक्तव्यः,—किमर्थं मुखं प्रत्याययसि ?—

भा इति, स चेत् ब्रूयात्,—नान्यथा गौणप्रत्ययोगस्ति—इति, प्रति-
 ब्रूयादेनम्,—अन्येऽपि गौणप्रत्ययस्याभ्युपायाः सन्ति—इति।
 अथ स एवम् अभियुक्तः प्रतिब्रूयात्,—मुख्यप्रत्ययोऽपि षाच्चिको
 भ्युपायः—इति, ब्रूयादेनं,—न तर्हि नियोगतो गौणे विनि-
 योजनीयः, यदा गौणप्रत्ययाय मुख्यमुपादत्ते, तदेतदपत्तिं
 भवति,—मुख्य एव विनियोगः—इति। अर्थेन च प्रतीतेन
 प्रयोजनं, न प्रत्यायकेन मन्त्रेण, अतोऽन्येनाप्युपायेन गौणः
 प्रत्याययितव्यः, न स एव मन्त्र आदत्तव्यः। अथापि मन्त्रे
 प्रत्यायकेन प्रयोजनं स्यात्, तथापि मुख्यप्रत्यायनेनैव निर्णय-
 प्रयोजनम्—इति नतरां गौणे विनियुज्येत। तस्मात् मुख्य
 गौणयोर्मन्त्रेऽर्थसम्प्रत्ययः—इति सिद्धम् ॥

संस्कारकत्वाद्चोदितेन स्यात् ॥ २ ॥ (आ० नि०)।

भा. अथ यदुक्तं,—‘पूपाद्यनुमन्त्रणादीनाम् उत्कर्षो न भविष्यति’
 —इति, युक्तः तेषाम् उत्कर्षः, संस्कारको हि मन्त्रः, सोऽस्ति
 संस्कार्योऽनर्थकः—इति यत्र अर्थवान् तत्र नाययिष्यते, न च
 कश्चित् दोषो भविष्यति ॥ (३।२।१ अ०) ॥

इन्द्रपक्षाशकमन्त्रानां गार्हपत्ये विनियोगाधिकरणम्। (गार्हपत्यव्याप्य)।

ए वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् ॥ ३ ॥

भा. अग्री श्रूयते,—‘निवेशनः सङ्गमनो वसूनाम्—इत्यैन्द्रा
 गार्हपत्यमुपतिष्ठते’*—इति। तत्र सन्देहः,—किम् इन्द्रस्योप-
 रधानं कर्तव्यम्, उत गार्हपत्यस्य?—इति। ‘कुतः पुनर्गार्ह-
 पत्यमुपतिष्ठते—इत्येवं विस्पष्टे घचने संशयः?’—इति। उच्यते,

* ‘केषांश्चित् कदाचनस्तरीरमीत्येवा पश्यते’ इति वार्तिकम्।

स गुणाभावात् ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा (इदं पदोत्तरं सूत्रम्) । 'अथ कस्मात् न गुणादवहन्ति
ब्रूते? हविष्करोति हि अवहन्तिः, तस्मात् हविष्कृत् । किमे
भविष्यति? रूपादेवावहन्तौ मये प्राप्ते केवलं विराट्क्षितिमे
वक्ष्यति न भविष्यति वाक्यभेदः'—इति । अत्र उच्यते,—गुणा
भावात् गौणमभिधानमवहन्तौ न सम्भवति—इति, नक्षत्री
आहृतोऽस्मि—इत्यवगच्छति, तत्र अदृष्टार्थम् आकानं स्यात् ।
यजमानस्य पत्न्यां हविष्कृति दृष्टार्थम् आकानम् । तस्मात्
न हन्तिमद्यः—इति ॥

स लिङ्गाच्च ॥ ८ ॥ (यु० १) ॥

भा लिङ्गं च भवति, 'वाग्मे हविष्कृताचमेव एतत् आकृयति'—
इति, न च वाचोऽवहन्तिना सादृश्यमस्ति, अस्ति तु यजमानस्य
पत्न्या, सा हि स्त्री, वागिति च स्त्रीलिङ्गः शब्दः, अवहन्तिस्तु
न स्त्री न पुमान् न नपुंसकम्—इति । 'ननु अवहन्तेरपि
स्त्रीलिङ्गशब्दोऽस्ति,—क्रिया—इति' । अत्र ब्रूमः,—न नियो-
गतोऽवहन्तेः स्त्रीलिङ्गः शब्दः, पुलिङ्गोऽपि तस्यास्ति,—अवघातः
—इति, नपुंसकलिङ्गोऽपि,—कर्म—इति । अपि च, पत्न्याः
स्वरूपेण सादृश्यम्, अवहन्तेः पररूपेण शब्देन । तस्मात्
पत्न्या हविष्कृति लिङ्गमनुरूपतरं भवति ॥

ए विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ॥ ९ ॥ (यु० २) ॥

भा. अवहन्तिमये सति अस्मिन् मये विधन्तरकोपः स्यात् । 'अप-
हन्तं रक्ष इत्यवहन्ति अपहन्ता यातुधाना इत्यवहन्ति'—इति ।
तत्र पक्षे अभावात् नित्यवत् श्रुतिः उपरुध्येत, तस्मात् अवघृन्

भा. —इति काललक्षणार्थः । मन्त्रोभ्यक्तानार्थः—इति ॥ (३।२।
२ अ०) ॥

अग्निविह्वलादिप्रकाशकमन्त्रानां तत्रैव विनियोगाधिकार्यम् ।

स. तथोत्थानविसर्जने ॥ १० ॥

भा. व्योतिष्ठोमे श्रूयते,—‘उत्तिष्ठन् अन्वाह, अग्नीदग्नीन्विह्वर’—
इति, तथा, ‘व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजति’*—इति । तत्र
सन्देहः,—किमुत्थानं वाग्विसर्जनं च प्रतिमन्त्रयोरुपदेशः, उत
कालार्थः संयोगः ?—इति । अत्र पूर्वाधिकरणन्यायोऽतिदिश्यते,
यः तत्र पूर्वः पक्षः, स इह पूर्वः पक्षः ; यः तत्र सिद्धान्तः स
इह सिद्धान्तः । अग्नीदग्नीन्—इत्येवमुत्तिष्ठन् अन्वाह—इति,
व्रतं कृणुत—इत्येवं वाचं विसृजति—इति पूर्वः पक्षः । लक्षणा-
भावात्, उत्तिष्ठन् अन्वाह—इति सिद्धान्ते सम्बन्धः । व्रतं कृणुत
—इत्युच्यमाने वाचं विसृजति—इति । वाक्येन पूर्वः पक्षः,
सिद्धेन सिद्धान्तः ।

यद्यपि च शक्यते, उत्थानक्रियाग्नीदग्नीन् विह्वरेति यत्तुन्,
उत्थानेन अग्निरिष्यते, वक्रिष्य विह्व्रियते—इति । व्रतं कृणुत
—इति च वागभिधानं । तथाप्यदृष्टार्थं वचनं भवति—इति
न मन्त्रयोः उत्थानविसर्जनार्थता कल्पयेत् । कल्प्यमानाया च
मन्त्रान्तरं विहितं बाधेत,—‘याः पशूनामृषभो वाचः’—इति ।
अपि च उत्थानवाग्विसर्गौ प्रतिमन्त्रौ विधीयमानावदृष्टार्थौ
स्यातां, प्रेषणे तु दृष्टार्थौ । तत् लक्षणैव अत्र न्याय्या ॥ (३।
२।४ अ०) ॥

स गुणाभावात् ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा (इदं पदोत्तरं सूत्रम्) । 'अथ कस्मात् न गुणादवहन्ति
ब्रूते? हविष्करोति हि अवहन्ति, तस्मात् हविष्कृत् । किमेवं
भविष्यति? । रूपादेवावहन्तौ मये प्राप्ते केवलं चिरादवहन्ति
वक्ष्यति न भविष्यति वाक्यभेद'—इति । अथ उच्यते,—गुणा
भावात् गौणमभिधानमवहन्तौ न सम्भवति—इति, न ह्यसौ
आहृतोऽस्मि—इत्यवगच्छति, तत्र अदृष्टार्थम् आह्वानं स्यात् ।
यजमानस्य पत्न्यां हविष्कृति दृष्टार्थम् आह्वानम् । तस्मात्
न हन्तिमद्य—इति ॥

स लिङ्गाच्च ॥ ८ ॥ (यु० १) ॥

भा लिङ्गं च भवति, 'वाग्वै हविष्कृदाचमेव एतत् आह्वयति'—
इति, न च वाचोऽवहन्तिना सादृश्यमस्ति, अस्ति तु यजमानस्य
पत्न्या, सा हि स्त्री, वागिति च स्त्रीलिङ्गं शब्द, अवहन्तिस्तु
न स्त्री न पुमान् न नपुंसकम्—इति । 'ननु अवहन्तेरपि
स्त्रीलिङ्गशब्दोऽस्ति,—क्रिया—इति' । अथ ब्रूम, —न नियो
गतोऽवहन्ते स्त्रीलिङ्गं शब्द, पुल्लिङ्गोऽपि तस्यास्ति,—अवघात
—इति, नपुंसकलिङ्गोऽपि,—कर्म—इति । अपि च, पत्न्या
स्वरूपेण सादृश्यम्, अवहन्ते पररूपेण शब्देन । तस्मात्
पत्न्या हविष्कृति लिङ्गमनुरूपतरं भवति ॥

स विधिकोपपत्त्योपदेशे स्यात् ॥ ९ ॥ (यु० २) ॥

भा अवहन्तिमये सति अस्मिन् मये विध्यन्तरकोपः स्यात् । 'अथ
यत एव इत्यवहन्ति अपहता यातुधाना इत्यवहन्ति'—इति ।
तत्र पक्षे अभावात् नित्यवत् श्रुति उपरुध्येत, तस्मात् अवघ्नन्

ख गुणाभावात् ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा (इदं पदोत्तरं सूत्रम्) । 'अथ कस्मात् न गुणादवहन्ति
ब्रूते? हविष्करोति हि अवहन्तिः, तस्मात् हविष्कृत् । किमेव
भविष्यति? रूपादेवावहन्तौ भवे भाते केवलं विराट्तिमेव
वक्ष्यति न भविष्यति वाक्यभेदः'—इति । अथ उच्यते,—गुणा
भावात् गौणमभिधानमवहन्तौ न सम्भवति—इति, न ह्यसौ
आहृतोऽस्मि—इत्यवगच्छति, तत्र अदृष्टार्थम् आह्वानं स्यात् ।
यजमानस्य पत्न्या हविष्कृति दृष्टार्थम् आह्वानम् । तस्मात्
न हन्तिमवः—इति ॥

ख लिङ्गाच्च ॥ ८ ॥ (यु० १) ॥

भा लिङ्गं च भवति, 'वाग्वै हविष्कृताचमेव एतत् आह्वयति'—
इति, न च वाचोऽवहन्तिना सादृश्यमस्ति, अस्ति तु यजमानस्य
पत्न्या, सा हि स्त्री, वागिति च स्त्रीलिङ्गः शब्दः, अवहन्तिस्तु
न स्त्री न पुमान् न नपुंसकम्—इति । 'ननु अवहन्तेरपि
स्त्रीलिङ्गशब्दोऽस्ति,—क्रिया—इति' । अथ धूमः,—न नियो
गतोऽवहन्तेः स्त्रीलिङ्गः शब्दः, पुलिङ्गोऽपि तस्यास्ति,—अवघात
—इति, नपुंसकलिङ्गोऽपि,—कर्म—इति । अपि च, पत्न्या
स्वरूपेण सादृश्यम्, अवहन्तेः पररूपेण शब्देन । तस्मात्
पत्न्यां हविष्कृति लिङ्गमनुरूपतरं भवति ॥

ख विधिकोपस्थोपदेशे स्यात् ॥ ९ ॥ (यु० २) ॥

भा अवहन्तिमये सति अस्मिन् मये विधत्तकोपः स्यात् । 'अथ
ह्यत रक्ष इत्यवहन्ति अपहृता यातुधाना इत्यवहन्ति'—इति ।
तत्र पक्षे अभावात् नित्यवत् श्रुतिः उपरुध्येत, तस्मात् अवघृन्

भा. —इति काललक्षणार्थः । मखोप्यक्तानार्थः—इति ॥ (३।२।
२ अ०) ॥

अग्निविष्टरयादिप्रकाशकमन्त्रानां तत्रैव विनियोगाधिकार्यम् ॥

छ. तथोत्थानविसर्जने ॥ १० ॥

भा. व्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘उत्तिष्ठन् अन्वाह, अग्नीदग्नीन्विष्टर’—
इति, तथा, ‘व्रतं क्षणुतेति वाचं विष्टजति’*—इति । तत्र
सन्देहः,—किमुत्थानं वाग्विसर्जनं च प्रतिमन्त्रयोरुपदेशः, उत
कालार्थः संयोगः?—इति । अत्र पूर्वाधिकरणन्यायोऽतिदिश्यते,
यः तत्र पूर्वः पक्षः, स इह पूर्वः पक्षः ; यः तत्र सिद्धान्तः स
इह सिद्धान्तः । अग्नीदग्नीन्—इत्येवमुत्तिष्ठन् अन्वाह—इति,
व्रतं क्षणुत—इत्येवं वाचं विष्टजति—इति पूर्वः पक्षः । लक्षणा-
भावात्, उत्तिष्ठन् अन्वाह—इति सिद्धान्ते सम्बन्धः । व्रतं क्षणुत
—इत्युच्यमाने वाचं विष्टजति—इति । वाक्येन पूर्वः पक्षः,
लिङ्गेन सिद्धान्तः ।

यद्यपि च शक्यते, उत्थानक्रियाग्नीदग्नीन् विष्टरेति वक्तुम्,
उत्थानेन अग्निरिष्यते, वक्रिष्य विष्ट्रियते—इति । व्रतं क्षणुत
—इति च वागभिधानं । तथाप्यदृष्टार्थं वचनं भवति—इति
न मन्त्रयोः उत्थानविसर्जनार्थता कल्प्येत । कल्प्यमानायां च
मन्त्रान्तरं विहितं याधेत,—‘याः पशूनामृषभो वाचः’—इति ।
अपि च उत्थानवाग्विसर्गा प्रतिमन्त्रौ विधीयमानावदृष्टार्था
स्यातां, प्रेषणे तु दृष्टार्था । तत् लक्षणैव अत्र न्याय्या ॥ (३।
२।४ अ०) ॥

सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरणाङ्गताधिकरणम् । (प्रस्तरप्रहरणव्याप्ये) ।

स सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् ॥ ११ ॥ (पू०) ।

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति’*—
इति । तत्र सन्देहः,—किं सूक्तवाकः प्रस्तरप्रहरणम् प्रत्युप
दिश्यते, उत, इयं काललक्षणा?—इति । तदुच्यते, काल
लक्षणा—इति । कुतः? सूक्तवाकस्य देवतासङ्कीर्तनार्थत्वात्,
प्रस्तरप्रहरणं च प्रत्यगन्तेः, प्रस्तरस्य च सुगन्धारणार्थत्वात् ॥

स उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ॥ १२ ॥ (सि०) ।

भा. उपदेशो वा प्रस्तरप्रहरणम् प्रति भक्ष्यस्य स्यात्, एवं श्रुति
विहितोर्ग्या भवति, सूक्तवाकेन—इति वारणविभक्तिसंयोगात्,
इतरथा लक्षणा स्यात्, सूक्तवाकेन लक्षणेन प्रस्तरं प्रहरेत्
—इति । एवं च कृत्वा याज्याशब्दः उपपन्नो भवति, सूक्तवाक
एव याज्या, प्रस्तर आङ्गतिः—इति ॥

स देवतार्थस्तत्संयोगात् ॥ १३ ॥ (पू० नि०)

भा यदुक्तम्,—देवतासङ्कीर्तने सूक्तवाकः समर्थो, न प्रस्तरप्रहरणे
—इति । उच्यते,—न, देवतावचनं प्रहरणेन न सम्बन्धते,
प्रहरणं हि यजिः, मासवर्णिको देवताविधिः,—एवमभि
सम्बन्धः । ‘अग्निरिदं हविरजुषतावीष्टधत्’—इत्येवं देवताम्
अनुक्रम्य, ‘आशास्तेयं यजमानः’—इत्युक्त्वा, ‘इदमिदम्
आशास्ते’—इति च यदनेन हविषा आशास्ते तदस्य स्यात्!—

* ‘इदं यावाष्टिषी भद्रमभूत्’ इत्यादिमुखः सूक्तवाकः । दर्शमृशिः
प्रस्तरः, तस्य प्रहरणम् अग्नौ प्रक्षेपः इति माधवः ।

† तदस्यात् इति का० स० घ० ।

भा. इति प्रस्तरं हविर्निर्दिशति, अग्न्यादींश्च देवताविशेषान्, तेन प्रह्वरतिर्यजतिः । एवं सूक्तवाकेन प्रस्तरः प्रह्वर्तुम् शक्यते, यदि प्रह्वरतिर्यजतिः, अग्न्यादिदेवताकश्च । तस्मात् सूक्तवाकस्य ह्वरतिसंयोगेऽपि देवतार्थता घटते एव । यदि 'अग्निरिदं हविरजुषतावीष्टधत्'—इत्येवमाद्येव श्रूयेत, न, 'आशास्तेयं यजमानः'—इत्येवमादीनि अपराणि, ततोऽग्न्यादय एवेष्टानान्तरिताः इत्येव पर्यवसितं वाक्यं भवेत् । यतस्तु खलु आशास्तेयं यजमानः इत्येवमादीन्यपराणि श्रूयन्ते, तेन इह पर्यवसानम्, अग्न्यादयः पुरोडाशादिभिः इष्टाः, अपरं तु यजमान आशास्ते तदनेन प्रस्तरेण प्राप्नुयात्—इति ।

'अनु सत्सृज्येतेषु देवतासंकीर्तने एव पर्यवस्येत्, पुरोडाशादिभिः इष्टा अग्न्यादयः, तत एव यजमान आयुरादीन्यपि आशासानः प्राप्नुयात्'—इति । उच्यते,—उभयथा सम्बन्धे सति प्रह्वरणे विनियोक्तव्यः, लिङ्गं च न बाधितं भविष्यति, वाक्यं चानुपहीयते—इति ।

अथ वा 'अग्निरिदं हविरजुषत'—इति प्रस्तरः एव हविर्निर्दिश्यते ; एवम् 'इदम्'—इति सन्निहितवचनमुपपन्नं भविष्यति—इति ॥

ख. प्रतिपत्तिरिति चेत्, स्विष्टकृद्दुभयसंस्कारः स्यात् ॥

१४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'अथ सुग्धारणे विनियुक्तस्य प्रस्तरस्य प्रह्वरणं प्रतिपत्तिः'—इत्युच्यते । तत्र प्रतिवचनं,—स्विष्टकृद्देतत् स्यात्—इति, यथा, इज्यार्थात् पुरोडाशात्, वचनप्रामाण्यात् स्विष्टकृत् इज्यते, यागश्च स भवति,* प्रतिपाद्यते च पुरोडाशः, एवं

भा प्रतिपाद्येत एव हि प्रस्तरः, यागश्च निर्वर्त्यते—इति न दोषः ।
 प्रतिपाद्यमानोऽपि हि त्यज्यते, प्रत्यक्षतः प्रतिपाद्यते, वचना-
 दिज्यां साधयति—इत्येवं गम्यते । तस्मात् सूक्तवाकः प्रहरति-
 मन्त्रः—इति ॥ (३।२।५ अ०) ॥

सूक्तवाकानामर्थानुसारेण विनियोगाभिप्रेत्यम् । (सूक्तवाकन्यायः) ।

ख छत्सोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम् ॥ १५ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः,—‘सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति’—इति श्रूयते ।
 तत्र सन्देहः,—किं पौर्णमास्यां छत्सः सूक्तवाकः प्रयोक्तव्यः,
 छत्सोऽमावास्यायाम्, उत यथासामर्थ्यं निष्कृत्य यथायथं
 प्रयोगः ?—इति । तदुच्यते,—‘उभयत्र सर्ववचनम्’—इति ।
 कुतः ? । छत्सो हि मन्त्रः सूक्तवाकः—इत्युच्यते, स पदेनापि
 विना, सूक्तवाको न स्यात्, तत्र सूक्तवाकेन न प्रवृत्तं भवेत् ।
 तस्मात् उभयत्र छत्सः सूक्तवाको वदितव्यः ॥

ख यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् ॥ १६ ॥ (सि०) ॥

भा. ये पौर्णमासीदेवतावाचिनः शब्दाः, ते पौर्णमास्यां प्रयोक्तव्याः,
 न अमावास्यायां, ये अमावास्यादेवतावाचिनः, ते अमावा-
 स्यायां, न पौर्णमास्याम् । शेषभूतमर्थं संस्तुर्वन्तो मन्त्रा उप-
 कुर्वन्ति, नान्यथा इत्युक्तम् (३।२।२ सू०) । तस्मात् ये यत्रोप-
 कुर्वन्ति, ते तत्र प्रयोक्तव्याः—इति न छत्सः पौर्णमास्यां, न
 छत्सश्चामावास्यायामिति ॥

ख वचनादिति चेत् ॥ १७ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—वचनमिदं* भविष्यति,—सूक्तवाकेन प्रहरति—

भा. इति, तच्च पदेनापि ऊनेन न सूक्तवाकेन प्रभृत् भवेत्, हात्स्त्रय
 हि सूक्तवाकस्योपदेशः—इति । तदुच्यते,—

स प्रकरणाविभागादुभे प्रति हात्स्त्रशब्दः ॥ १८ ॥
 (आ० नि०) ॥

भा. उभे पौर्णमास्यमावास्ये प्रति एष हात्स्त्रशब्दः उभयोः
 प्रकरणात् उभयोरसौ हात्स्त्र उच्यते, अवयवेष्ववयवे—इति ।

‘नैतदेवं, न हि सापेक्षाणाम् इतिकर्तव्यतया सम्बन्धः, न हि,
 इतिकर्तव्यता एतदिशिष्टा श्रूयते, इतिकर्तव्यताविशिष्टास्त्वेते
 गम्यन्ते । कुतः ? । न हि, इतिकर्तव्यतां प्रति कर्माणि विधीयन्ते,
 फलम् प्रति तेषां विधिः, इतिकर्तव्यता तु कर्मणां विधीयते,
 तच्च सन्निधानाविशेषात्, कस्य किं विधीयते, कस्य न ?—इति
 न गम्यते विशेषः, साधनत्वेन च सर्वेषां निर्देशात् इतिकर्तव्य-
 तायाः सन्निधानाच्च, वचनाच्चास्य,* प्रकरणलिङ्गस्याविशेषात्,
 एकैकस्य हात्स्त्रं प्रकरणं निराकाङ्क्षस्य, न सहायमपेक्षमाणस्य ।
 तस्मात् एकैकं प्रति हात्स्त्रः सूक्तवाक उपदिश्यते, स विभागेऽपि
 प्रधानानां, हात्स्त्र एव प्रयोक्तव्यः—इति यानि यत्र अनर्थकानि
 पदानि, तान्यपि तत्र प्रयोक्तव्यानि अदृष्टाय भविष्यन्ति, सूक्त-
 वाकेन प्रहरति—इति वचनात्, नास्ति वचनस्यातिभारः,
 गुणेन वा केनचित् अभिधानं तासां देवतानां निर्वर्तयिष्यन्ति
 —इति ।

अत्र उच्यते,—नैतदेवं, उक्तं,—मुख्यमेव कार्यं मन्त्राणां,
 न गौणम्—इति, संस्कारार्थत्वात् वा उत्कर्षो न्यायः, न
 गौणमभिधानम्—इति । कस्तर्हि हात्स्त्रसंयोगस्य समाधिः
 उच्यते ?—इति । एष समाधिः, न ह्येतदेकं वाक्यम्, यः

भा सूत्रं सूक्तवाक्यं, यद्व्युत्पत्तयानि वाक्यानि, येषां प्रधानदेवता
 भिधायीति पदानि मध्ये, साधारणानि तद्वपदानि पुरस्तात्
 उच्चार्यन्ते, तथा परस्तात्, यथा 'अग्निरिदं हविरजुपतावी
 वृधत मद्भोज्यायोल्लताग्रीषोमाविदं हविरजुदेतामवीष्टधेताम्'
 —इत्येवमादीनि, तेषां पुरस्तात्तच्च,—यथा 'इदं न्यायापृथिवी'
 —इति, परस्तादपि यथा,* 'अस्यामृधेत्'—इति, तान्येतानि
 सर्वाणि सूक्तवचनेन सूक्तवाक्यशब्दं लभन्ते। न च, तेषां समुदाय-
 कश्चिदर्थं वदति। तस्मात् न समुदायं सूक्तवाक्यं, न च,
 साक्षात्साधनं, सूक्तवाक्यसामान्यस्य एकत्वात्, सूक्तवाक्यो वर्तते
 इत्येकवचनं भवति। सूक्तवाक्येन प्रत्येकं प्रवृत्तिरिति—इति तु येन-
 केनचित् सूक्तवाक्येन प्रवृत्तिरिति यथाश्रुतं हतं भवति, तस्मात्
 न समुदायं सूक्तवाक्यं। यत्तु, अमावास्यादेवतावाचीनि
 पदानि, न पौर्णमास्या प्रयुज्यन्ते, न तच्च सूक्तवाक्यशब्दो बाधते,
 प्रकरणं तच्च लिङ्गेन बाधितं भवति, तच्च न्यायमेव। तस्मात्
 पौर्णमास्याममावास्याया च विभज्य सूक्तवाक्यं प्रयोक्तव्यं—
 इति ॥ (३।२।६ अ०)॥

काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डानां काम्यतायादुक्ताधिकारणम् ॥

४ लिङ्गकृतसमास्यानां काम्ययुक्तं समाम्नायम् ॥ १६ ॥

भा इदं काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डम् उदाहरणम् 'इन्द्राग्नी
 रोचनादिव, प्रवर्षणिभ्य, इन्द्राग्नीनवति पुर', सयवृचन्—
 इत्येवमाद्या षट्च। अपरा अपि काम्या इष्टय,—'ऐन्द्राश
 मेकादशकपालं निर्वपेत् यस्य सजाता विद्यायु, ऐन्द्राशमेका
 दशकपालं निर्वपेत् भानृष्यवान्, अग्नये वेश्मनराय द्वादशकपाल

भा. निर्वपेत् सकामः, अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेत्
 सपत्नमभिद्रोष्यन्—इत्येवमाद्याः । तदेता याज्यानुवाक्याः
 प्रति सन्देहः,—किं यावत् किञ्चित् ऐन्द्राग्रं कर्म, तत्र सर्वज्ञानेन
 ऐन्द्राग्नेन याज्यानुवाक्याद्युगलेन भवितव्यम्, उतैतस्यामेव
 ऐन्द्राग्र्याम् इष्टौ काम्यायाम्?—इति । एवं वैश्वानरीययो-
 र्याज्यानुवाक्ययोः, एवं सर्वत्र ।

किं तावत्प्राप्तम्?—यावत्किञ्चित् ऐन्द्राग्रं वैश्वानरीय-
 मग्नीषोमीयं जातवेदसं च सर्वचैता याज्यानुवाक्या भवेयुः ।
 कुतः? । लिङ्गात् । ‘ननु क्रमसमाख्याने विशेषके भविष्यतः’ ।
 सत्यं, तथापि क्रमं समाख्यां च शक्नोति लिङ्गं बाधितुम्—इति ।

एवं प्राप्तिं ब्रूमः,—लिङ्गक्रमसमाख्यानात् तास्वेव काम्यासु
 एता याज्यानुवाक्याः—इति गम्यते, य एव हि लिङ्गक्रमः
 एषां कर्मणां, स एवासां याज्यानुवाक्यानां, तेन तासामेव
 ताः शेषभूताः—इति ।

‘ननु, लिङ्गं बलवत्तरम्—इत्युक्तम्’ । सत्यमेतत्, इह तु
 समाख्या बलीयसी, न ह्येताः समाख्यानादृते एषां काम्यानां
 कर्मणां प्राप्नुवन्ति, न भिन्नदेशानां कर्मणाम् । कुतः? । समाख्या-
 मन्तरेण आसां चतृषां याज्यानुवाक्यात्वमेव न विज्ञायते, कुतः
 भिन्नदेशानां कर्मणा याज्यानुवाक्या भविष्यन्ति?—इति, या
 च एषां समाख्या, सा काम्यानामेव याज्यानुवाक्यात्वमाचष्टे न
 सर्वेषाम् । यदि समाख्या नाद्रियते, याज्यानुवाक्यात्वमेव एषां
 न भवति, यदि आद्रियते, तदा काम्यानामेव, एवं हि तत्
 समाख्यायते,—काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डम्—इति ।

‘अथ किमर्थम् उभयमुपदिश्यते,—लिङ्गक्रमात्—इति, समा-
 ख्यानात्—इति च’ । अस्ति तत्र पाधिहृतीयं ब्रातपतीयं च
 कर्म, सामिधेनीकार्यमभ्यस्ति, याज्यानुवाक्याकार्यमपि । यदि
 लिङ्गक्रमात्—इत्येतावदेवोच्येत, सामिधेनीकार्यमपि लिङ्गेन

भा तासा विनियोगः स्यात् । 'अथ किमर्थं लिङ्गक्रमौ व्यपदि-
श्येते ? । सर्वा याज्यानुवाक्याकार्ये एव विनियुज्जेरन्,
सामिधेनीषु विनियोगो न स्यात् ।' अथ पुनः समाख्यानान्
लिङ्गक्रमाच्च निर्वृत्ते याज्यानुवाक्याकार्ये, सामिधेनीषु विनि-
योगः सिद्धो भवति, यथा अग्निवाक्या इष्टेः क्रमेभ्योऽन्ते
सौमारीद्रीणामनागते, मनोर्वृचस्ताः* सामिधेनीषु धारया
इत्युच्यन्ते, तथा,—'पृथुयाजास्तं सग्वाधे'—इति द्वे धारये
कल्प्येते । तस्मात् उभयं व्यपदेष्टव्यम्—इति ॥ (३।२।७ अ०) ॥

यन्मोधोपम्याने प्राहृताना मन्वाणी विनियोगाधिकारकम् ॥

ख अधिकारे च मन्त्रविधिरतदाख्येषु शिष्ट-
त्वात् ॥ २० ॥ (पृ०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'आग्नेय्या अग्नीधमुपतिष्ठते,* ऐन्द्रया
सदः, वैष्णव्या हविर्धानम्—इति । तत्र सन्देहः,—किं प्रकृता-
भिरेवंलिङ्गवतीभिरुपस्थातव्यम्, उत दाशतयीभ्यः एवलिङ्गा
आगमयितव्या ?—इति ।

किं तावत्प्राप्तम्?—प्रकरणे च मन्त्रो लिङ्गेन विधीयमानो
दाशतयीभ्य एवागमयितव्यः, आग्नेयो—इत्येवमादिभिर्हि शक्या
दाशतय्योऽभिवदितुम् । यद्यायं प्रकृतः, स कार्यान्तरे विनियुक्तो,
न इहोपपदेशमर्हति, उपदिष्टोपदेशो हि न ग्यास्यः
एवज्जातीयकस्य । कथज्जातीयकस्य ? यः कस्मिंश्चिद्विशेषेणो
पदिष्टः, नासौ सामान्येन लिङ्गेन अन्यत्रोपदेशमर्हति । कथं ? ।
यदि तत् लिङ्गं तस्य लक्षणत्वेन, तत् स विशिष्टो लक्ष्येत

भा येनानेन एवंलिङ्गेन एतत् करोति—इति, ततो नोपदिष्टो भवति; अथ उपदिश्यते,—एवंलिङ्गेन करोति—इति, ततो न लच्यते, तेन उपदिष्टस्य एवज्ञातीयकस्य एवज्ञातीयकः पुनरुपदेशो न न्याय्यः, तस्मात् दाशतया लिङ्गवन्तो मन्वा यहीतव्याः ।

“ननु प्रकरणसामर्थ्यतः प्रकृता ग्रहीतुम् न्याय्याः” । न—इत्युच्यते, लिङ्गं हि प्रकरणाद्गोलीयः । ‘आह, विरोधे सति लिङ्गेन प्रकरणं बाधेत, न च एतयोर्विरोधः, न वयं प्रकरणमनु-जिघृक्षन्तः प्रकृतं लिङ्गवन्तम् उपाददाना लिङ्गम् उपवाधेमहि । यदि तु प्रकृतं विलिङ्गम् उपददेमहि, ततो बाधेमाह लिङ्गम् ; उभयं सम्पादयिष्यामः प्रकरणं लिङ्गञ्च’ । नैतदेवं,—लिङ्गेन प्रत्ययो भवति, दाशतयेनापि कर्तव्यम्—इति, दाशतयोऽपि हि आग्नेयीशब्देन शक्यन्ते वदितुम्, स प्रत्ययो लिङ्गजनितो यत् मिथ्येति कल्प्यते, तत् प्रकरणानुरोधात् ; स चेत् प्रकरणम् अनुरुध्यते, मिथ्या—इति कल्प्यते, अथ नानुरुध्यते सम्यक्—इति, तस्मात् विरोधः ; विरोधे च प्रकरणदौर्बल्यम् ।

‘उच्यते, तत् लिङ्गवत्ताग्नेन उपस्थानेन अनुग्रहीतव्या, न दाशतयो मन्वव्यक्तिः, सा च प्रकृते मन्वे उपादीयमाने निरव-शेषा उपात्ता भवति, दाशतव्यां पुनर्मन्वव्यक्ती उपादीयमानायां प्रकरणात् या मन्वव्यक्तिः प्राप्नोति, सा बाधिता भवति, असति विरोधे । न च, इह लिङ्गप्रकरणयोर्विरोधः, प्रकरणात् व्यक्तिः प्रतीयते, लिङ्गात् सामान्यं, अन्या च व्यक्तिः, अन्यत् सामा-न्यम् । तस्मात् प्रकृतो लिङ्गवान् उपादेयः—इति । उच्यते, सत्यमेवमेतत् प्रकृते उपादीयमाने प्रकरणं न बाधितं भवति, लिङ्गमग्न्यनुगृहीतम्, लिङ्गजनितस्तु प्रत्ययः कश्चित् मिथ्या—इति कल्पितो भवति । ‘ननु व्यक्तिरपदार्थः, कथं व्यक्तावनु-पादीयमानायां प्रत्ययो बाधेत’ । उच्यते, एतदेव न

भा विजानीमः लिङ्गवत्ता अत्राङ्गं न वेति, किन्तु तद्धितनिर्देशोऽर्थः, तत्र देवताया मखो लक्ष्यते, मख्यक्तिर्हि साधनं, न सामान्यं नाम किञ्चिदपरं, देवतैव अत्र सामान्यम्, ययासाधनं लक्ष्यितव्यम्। न च गम्यते विशेषः,—अयमसौ मखो नायमसौ—इति, अनवगम्यमाने विशेषे सर्वे तल्लिङ्गा यद्हीतव्याः इति दाशतव्यामपि मख्यक्तौ भवति प्रत्ययः, स प्रकरणानुरोधेन बाध्येत! इत्यन्याख्यम्। एवं सति न दाशतस्य एव उपादातव्याः भवन्ति, प्रकृतमप्युपाददीरन्। ‘नन्वेतदुक्तं, कार्यान्तरे प्रकृतस्य उपदेशो नासावर्थान्तरे उपदेक्ष्यते’—इति। उच्यते, न नियोगतः स एव अर्थान्तरे वर्तते, स चान्यस्य सामान्येन लिङ्गेन, नैवं सति किञ्चित् दुष्यति। ‘नन्वेतत् दुष्यति,—न उभयमनुगृहीतं भवति लिङ्गं प्रकरणं च’। सत्यं, न अनुगृहीतं भवति, किन्तु अननुयास्यमेव प्रकरणं लिङ्गप्रत्ययविरुद्धत्वात्। अपि च न लिङ्गं प्रकरणं वा अनुग्रहीतव्यम्—इति, तत्परिच्छिन्ने प्रवृत्तिर्भवति, यदवगम्यते,—‘एतत् फलवत्’—इति, तत्र प्रवर्तते। ‘किमतो यद्येवं?’। एतदतो भवति, न लिङ्गम् अनुगृहीतं क्वचित्,—इत्यपरस्मिंस्तत्परिच्छिन्ने न प्रवृत्तिर्भवितुमर्हति। तस्मात् दाशतस्यो यद्हीतव्याः—इति गम्यते ॥

स तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ॥ २१ ॥ (सि०) ॥

भा तदाख्यो (ज्योतिष्टोमसमाख्यातः) एव यद्हीतव्यः। कुतः? प्रकरणोपपत्तिभ्याम् प्रकृतो हि असौ, प्रकृतप्रत्ययस्य न्याय्यः। कथं? न ज्योतिष्टोमं प्रति मखस्य व्यापारविधानम् उपपद्यते, प्राप्तत्वादेव, व्यापारविशेषविधानं, तु उपपद्यते, अप्राप्तत्वात् व्यापारविशेषस्य, अनपेक्ष्य च प्रकरणं दाशतये विधीयमाने वाक्यमिद्येत!—उपस्थानं च कुर्यात्, तच्चैवल्लिङ्गेन—इति ॥

स अनर्थकश्चोपदेशः स्यादसम्बन्धात्फलवता, न ह्युप-
स्थानं फलवत् ॥ २२ ॥ (यु० १) ॥

भा 'ननु च प्रकरणात् ज्योतिष्टोमस्य उपकारकं स्यात्' । यदि
उपस्थानज्योतिष्टोमसम्बन्धो विवक्ष्येत, तदा उपस्थानं ज्योति-
ष्टोमे उपदिश्येत, प्रकरणात् तेनैकवाक्यताम् इयात् । यदा
तु खलूपस्थानस्य मन्त्रसम्बन्धो विवक्ष्यते सर्वोपस्थानेषु, तदा
मन्त्रः प्राप्नोति, प्रकरणं बाधित्वा, न प्रकरणं विशेषकं भवितु-
मर्हति, उभयसम्बन्धे वाक्यभेदः । अस्मात्पक्षे न पुनरयं दोषः,
येन आग्नेयेन ऐन्द्रेण वा ज्योतिष्टोमे व्यापारः क्रियते, तेन
उपस्थानव्यापारविशेषः तदा ज्योतिष्टोमिको* विधीयते अन्यत्
सर्वमनूद्यते—इति न दोषो भवति । अथवा अग्नीध्र-हविधान-
सदःसम्बन्धमात्रं विधीयते, उपतिष्ठते—इत्ययमनुवादः, अनेन
मन्त्रेण अग्नीध्रमुपतिष्ठते—इति समासीदति—इत्यर्थः । तस्मात्
प्रकृता मन्त्रा एवञ्जातीयका उपादातव्याः—इति ॥

स सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ॥ २३ ॥ (यु० २) ॥

भा. यदप्युक्तमुपदिष्टा हि ते प्रकृता कार्यान्तरे—इति । तदुच्यते,
—उक्तोत्तरमेतत् । अपि च न केनचित् नोपदिष्टाः, सर्वे वाच-
स्तोमे आश्विने शस्यमाने सूर्येऽनुद्यति, तेन न प्रकृते कश्चिद्वि-
शेषः । तस्मात् प्रकृतस्य एव ग्रहणम् ॥ (३ । २ । ८ अ०) ॥

* ज्योतिष्टोमिक इति का० स पु० ॥

भक्षमन्वायां यथालिङ्गं यद्दृष्टादौ विनियोगाधिकरणम् ।

छ लिङ्गसमाख्यानार्थां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ॥ २४ ॥
(पू०) ॥

भा भक्षमन्वाः श्रूयते,—‘भक्षे हि मा विश दोषायुत्वाय शन्ननु-
त्वाय रायस्पोषाय वर्चसे सुप्रजास्त्वाय । एहि वसो पुरोवसो
मियो मे हृद्दोऽस्य श्विनोस्त्वा वाङ्मयां सधासं । नृचक्षसन्त्वा
देव सोम सुचक्षा अवखेषम् । हिन्यमे गावा ह्रिवोगणान्मे
मावितीतृषः, शिवो मे सप्तर्षीन् उपतिष्ठस्व मा मेवाङ्नामि-
मतिगाः सन्द्वाभिभूतिः कैतुर्यज्ञानां वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु
वसुमद्गणस्य रुद्रमद्गणस्य आदित्यमद्गणस्य सोमदेवते मतिविदः
प्रातःसवनस्य माध्यन्दिनस्य सवनस्य तृतीयसवनस्य गायत्र-
च्छन्दससिष्टपृच्छन्दसो जगच्छन्दसोऽग्निजतइन्द्रपीतस्य नराशंस-
पीतस्य पितृपीतस्य मधुमत उपहृतस्योपहृतो भक्षयामि’—
इत्येवमादिः । तत्र सन्देहः,—किं ह्यस्य एषोऽनुवाको भक्षणे
विनियोजनीयः, उत कश्चिदस्य अवयवोऽन्यथापि?—इति ।

किं प्राप्तम्?—लिङ्गसमाख्यानार्थां भक्षार्थता अनुवाकस्य,
सर्वोऽनुवाको भक्षणे विनियोजनीयः । कुत ? भक्षयामि—
इत्येष शब्दो व्यक्तं भक्षणे विनियोजनीयः, भक्षणमेव शक्नोति
वदितुम्, नान्यत् किञ्चित् । अन्यानि चास्य पदानि भक्षण
विश्लेषणवचनान्येव, यच्च यच्च भक्षयामि—इति, तच्च तच्च
प्रयुज्यन्ते ।

‘ननु एहि वसो—इत्येवमादि सधासम्—इत्येवमन्तं यद्दृ-
ष्टादौ, स्वेन पदसमूहेन परस्पराकाङ्क्षिणा एकाधै, विभिन्नं
भक्षणं जायते । नृचक्षसन्त्वा—इत्येवमादि अवयवोऽन्यथा—इत्येव-
मन्तमवेक्षणवचनं । हिन्यमे गावाह्रिवः—इत्येवमादि च

भा. मा मेधाङ्नाभिमतिगाः—इत्येवमन्तं सम्यग्जरणार्थम् । तत्
बहुत्वादर्थानां, बहूनि वाक्यानि, कथमेतत् शक्यं वदितुम्
सर्वमिदमेकं वाक्यं भक्षणे विनियुज्यते—इति ।

उच्यते,—सर्वाण्येतानि भक्षणविशेषणानि—इत्युक्तम् । ‘आह
एवमपि भिद्येत वाक्यं विशेषणविशेष्याणां युगपदचनासम्भ-
वात्’ । उच्यते, न विशेषणानि विवक्ष्यामी, विशेषणैर्ग्रहणा-
वेक्षणादिभिर्विशिष्ट एकोऽर्थो विवक्ष्यते । ‘नैवं सम्यक् भवति,
विशेषणवचनानामविवक्षितस्यार्थवचनता, भक्षणविशेषणपरता
च—इति, लक्षणाया तु गम्यते ; श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुति-
न्यास्या, न लक्षणा, तस्मात् न एकं वाक्यम्—इति’ ।

अत्रोच्यते, यद्यप्यमी ग्रहणादयो बहुवोऽर्थो गम्यन्ते, न तु
सर्वे ईप्सिताः—इति, भक्षणमेव एकं प्रत्याययितव्यम्, तद्वि-
श्रुतं, विशेषणान्यश्रुतानि, न तैः प्रतीतैः प्रयोजनं, प्रयोजनं च
यावतः पदसमूहस्य एकं, तावदेकं वाक्यम् । तस्मात् विशिष्ट-
भक्षणार्थमेतत् एकं वाक्यम्, इति भक्षणे विनियोक्तव्यम् ।
समाख्यानं च भवति,—भक्षानुवाक—इति, दृष्टव्यं अनुवाको
नावयवः ।

‘ननु च समाख्या लौकिकः शब्दः कथं वैदिकमङ्गं नियम्यति’
—इति । यद्यपि लौकिकः, तथाप्यनादिः तस्यानुवाकेन
सम्बन्धः । किमतो यद्येवम् ? एतदतो भवति, भक्षणसमभि-
व्याहृतमनुवाकं ब्रूते, समभिव्याहाराच्च सति सम्बन्धे भवति,
यथा पाचको लावकः—इति समभिव्याहारात् सम्बन्धमनु-
मास्यामहे । ‘आह नानुमानगम्य एवज्ञातीयकेष्वङ्गभाषो,
विधानादेवावगम्यते, नान्यथा, न च समाख्या विधात्री’ ।
अत्र उच्यते, समाख्या सम्यन्विनी बुद्धौ सन्निधिमुपनेप्यति,
प्रयोगवचनो विधास्यति—इति । तस्मात् अनुवाको
विनियोक्तव्यः—इति ॥

ख. तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदित-
त्वात् ॥ २५ ॥ (सि०) ॥

भा नैतदेवं,—ह्यस्त्वोऽनुवाको भक्षणे विनियुज्यते—इति, रूपात्
यह्यणवाक्यं यह्यणे विनियुज्येत एहि—इत्येवमादि सधासम्—
इत्येवमन्तम्। नृचक्षसम्—इत्येवमादि च अवहोषम्—इत्येव-
मन्तं दर्शने। कुतः?। मुख्यार्थमेवं तत् वाक्यं भवति, इतरथा
लक्षणाद्यंता स्यात्, मुख्यार्थता च न्यास्या न चक्ष्यार्थता।

‘उचरते, विशेषणानामभिधाने, न किञ्चित् अस्ति प्रयोजनम्
—इत्युक्तम्’। अत्रोचरते,—नैव एतानि विशेषणानि, पृथगेव
एतानि यह्यणादीनि स्वैस्वैर्वाक्ये चरन्ते—इति। कुतः?। अस्ति
हि तैः प्रतीतेः प्रयोजनं, चोदितानि हि तानि, कानिचित्तु
पृथग्वाक्यैः, कानिचिदर्थप्राप्तानि, तान्यवश्यं प्रकाशयितव्यानि,
तानि प्रकाशयिष्यन्ति एतानि वाक्यानि; रूपं च एषां तत्-
प्रकाशनसामर्थ्यम्, अतो नानार्थत्वात् न एकं वाक्यम् उचरते।
‘ननु भक्षणवाक्यशेषीभवितुमप्येषां रूपम्—इति’। उचरते,
वादनस्ति रूपं, न तु तद्विशेषणान्येतानि कल्प्यन्ते। कस्य
हेतोरदृष्टार्थानि तथा भवन्ति? उक्तैरनुक्तैर्वा विशेषणैस्तावानेव
सोऽर्थः, इतरथा यह्यणादीनि प्रकाशयिष्यन्ति, तथा दृष्टार्थानि
भविष्यन्ति। तस्मात् रूपोपदेशाभ्याम् अपकर्षो भवेत् केषाञ्चित्
अव—इति ॥ (३।२।६ अ०) ॥

अथ मन्त्राभिभूतिरित्यादेः भक्षयामीत्यन्तस्य एकशस्त्रसाधिकारणम् ॥

ख गुणाभिधानान्मन्त्रादिरेकमन्त्रः स्यात् तयोरेकार्थ-
संयोगात् ॥ २६ ॥

भा भक्षानुवाके श्रूयते,—‘मन्त्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग्जु-

भा. घाणा सोमस्य तृप्यतु । वसुमद्गणस्य सोमदेवते मतिविदः प्रातः-
 खनस्य गायत्रच्छन्दसोऽग्निर्भुत इन्द्रपीतस्य मधुमत उपहृत-
 स्योपहृतो भक्षयामि—इति । तत्र सन्देहः,—किम् मन्त्रादिः
 तृप्यतु—इत्येवमन्त एको मन्त्रः, वसुमद्गणादिरपरः, उत मन्त्रा-
 दिर्भक्षयाम्यन्त एक एव मन्त्रः?—इति । किं तावत्प्राप्तम्?—द्वौ
 मन्त्रौ, द्वौ ह्येतावयौ, अन्या तृप्तिरन्यत् भक्षणं, ततोऽर्थभेदात्
 वाक्यभेदः । तदुक्तं,—‘तस्य रूपोपदेशाभ्याम् अपकर्षार्थस्य
 चोदितत्वात्’—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणाभिधानात् मन्त्रादिरेकमन्त्रः स्यात्—
 इति, तृप्तिर्भक्षणविशेषणत्वेन अभिधीयते—इति, भक्षयामि
 वाक् तर्ष्यति—इति ।

‘ननु तृप्यतु—इत्येषोऽन्यः शब्दः, अन्यस्य तर्ष्यति—इति,
 एषा भविष्यन्ती क्रियायाम् उपपदभूतायां भवति—इति,
 तत्र द्वयोः क्रिययोरस्ति सम्बन्धो भक्षयामि वाक् तर्ष्यति—इति,
 इह पुनर्भक्षयामि तृप्यतु—इति नास्ति कश्चित् सम्बन्धः ।
 उच्यते, न ह्ययं विधौ तृप्यतु—इति विज्ञायते । क तर्हि? ।
 प्रार्थनायां वा प्राप्तकाले वा,—यदि भक्षयामि वाक् तर्ष्यति—
 इति एवमभिसम्बन्धः क्रियते, यदि वा भक्षयामि वाचस्तप्ते
 प्राप्तः कालः—इति, तेन विशेषणविशेष्यभावात् एकार्थतायाम्
 एकवाक्यत्वे मन्त्रैक्यमुपपद्यते । ‘ननु निराकाङ्क्षे एते वाक्ये
 भङ्त्वा रूपं साकाङ्क्षे क्रियेते’ । अत्र उच्यते,—यद्यप्येते वाक्ये
 भिन्नार्थे निराकाङ्क्षे दावर्थावभिवदेयाता, तथापि भक्षणस्य
 प्रकाशनं दृष्टं प्रयोजनं न तर्पणस्य, इति ह्यत्वा ऐकार्थ्यमेव
 भवेत्, किमङ्ग पुनर्गुणभावे गम्यमाने एवात्र । तस्मात् गुणाभि-
 धानात् मन्त्रादिरेकमन्त्रः स्यात्—इति ॥ (३।२।१० अ०) ॥

स. तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदित-
त्वात् ॥ २५ ॥ (सि०) ॥

भा नैतदेवं,—कृत्स्नोऽनुवाको भक्षणे विनियुज्यते—इति, रूपात्
यक्षणावाक्यं यक्षणे विनियुज्येत एहि—इत्येवमादि सधासम्—
इत्येवमन्तम्। नृचक्षसम्—इत्येवमादि च अव्ययेपम्—इत्येव-
मन्तं दर्शने। कुतः?। मुख्यार्थमेवं तत् वाक्यं भवति, इतरथा
सञ्चलणार्थता स्यात्, मुख्यार्थता च न्याय्या न सञ्चलणार्थता।

‘उच्यते, विशेषणानामभिधाने, न किञ्चित् अस्ति प्रयोजनम्
—इत्युक्तम्’। अत्रोच्यते,—नैव एतानि विशेषणानि, पृथगेव
एतानि यक्षणादीनि स्वैस्वैर्वाक्येष्वच्यन्ते—इति। कुतः?। अस्ति
हि तैः प्रतीतेः प्रयोजनं, चोदितानि हि तानि, कानिचित्तु
पृथग्वाक्यैः, कानिचिदर्थमाप्तानि, तान्यवश्यं प्रकाशयितव्यानि,
तानि प्रकाशयिष्यन्ति एतानि वाक्यानि; रूपं च एषां तत्-
प्रकाशनसामर्थ्यम्, अतो नानार्थत्वात् न एकं वाक्यम् उच्यते।
‘ननु भक्षणवाक्यशेषीभक्षितुमप्येषां रूपम्—इति’। उच्यते,
वाङ्मयस्ति रूपं, न तु तद्विशेषणान्येतानि कल्पन्ते। कस्य
हेतोरदृष्टार्थानि तथा भवन्ति? उक्तैरनुक्तैर्वा विशेषणैस्तावानेव
सोऽर्थः, इतरथा यक्षणादीनि प्रकाशयिष्यन्ति, तथा दृष्टार्थानि
भविष्यन्ति। तस्मात् रूपोपदेशाभ्याम् अपकर्षो भवेत् केपाश्चित्
अत्र—इति ॥ (३।२।६ अ०) ॥

अथ मन्त्राभिभूतिरित्यादिः भक्षयामीत्यन्तस्य एकशस्त्रताधिकारकम् ॥

ए गुणाभिधानान्मन्त्रादिरेकमन्त्रः स्यात् तयोरेकार्थ-
संयोगात् ॥ २६ ॥

भा भक्षानुपादे श्रूयते,—‘मन्त्राभिभूतिः केतुर्यश्चानां पागत्र

भा. घाणा सोमस्य तृप्यतु । वसुमद्गणस्य सोमदेवते मतिविदः प्रातः-
 सवनस्य गायत्रच्छन्दसोऽग्निऊत इन्द्रपीतस्य मधुमत उपहृत-
 स्योपहृतो भक्षयामि—इति । तत्र सन्देहः,—किम् मन्द्रादिः
 तृप्यतु—इत्येवमन्त एको मन्त्रः, वसुमद्गणादिरपरः, उत मन्द्रा-
 दिर्भक्षयाम्यन्त एक एव मन्त्रः?—इति । किं तावत्प्राप्तम्?—द्वौ
 मन्त्रौ, द्वौ ह्येतावदौ, अन्या तृप्तिरन्यत् भक्षणं, ततोऽर्थभेदात्
 वाक्यभेदः । तदुक्तं,—‘तस्य रूपोपदेशाभ्याम् अपकर्षोऽर्थस्य
 चोदितत्वात्’—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणाभिधानात् मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात्—
 इति, तृप्तिर्भक्षणविशेषणत्वेन अभिधीयते—इति, भक्षयामि
 वाक् तर्ष्यति—इति ।

‘ननु तृप्यतु—इत्येषोऽन्यः शब्दः, अन्यस्य तर्ष्यति—इति,
 एषा भविष्यन्ती क्रियायाम् उपपदभूतायां भवति—इति,
 तत्र द्वयोः क्रिययोरस्ति सम्बन्धो भक्षयामि वाक् तर्ष्यति—इति,
 इह पुनर्भक्षयामि तृप्यतु—इति नास्ति कश्चित् सम्बन्धः’ ।
 उच्यते, न ह्ययं विधौ तृप्यतु—इति विज्ञायते । क्व तर्हि? ।
 प्रार्थनायां वा प्राप्तकाले वा,—यदि भक्षयामि वाक् तर्ष्यति—
 इति एवमभिसम्बन्धः क्रियते, यदि वा भक्षयामि वाचस्तु
 प्राप्तः कालः—इति, तेन विशेषणविशेष्यभावात् एकार्थतायाम्
 एकवाक्यत्वे भवैक्यमुपपद्यते । ‘ननु निराकाङ्क्षे एते वाक्ये
 भङ्त्वा रूपं साकाङ्क्षे क्रियेते’ । अत्र उच्यते,—यद्यप्येते वाक्ये
 भिन्नार्थे निराकाङ्क्षे हावर्थावभिबदेयाता, तथापि भक्षणस्य
 प्रकाशनं दृष्टं प्रयोजनं न तर्पणस्य, इति ह्यत्वा ऐकार्थमेव
 भवेत् । किमङ्ग पुनर्गुणभावे गम्यमाने एवात्र । तस्मात् गुणाभि-
 धानात् मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात्—इति ॥ (३ । २ । १० अ०) ॥

इन्द्रपीतस्येत्यादिमन्त्रानां सर्वेषु भक्षणेषु ऊहेन विनियोगाधिकारश्च ॥

छ लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधानेष्वनैन्द्राणाम्
मन्त्रत्वम् ॥ २७ ॥ (पू०) ॥

भा एष एव मन्त्र उदाहरणम्,—इह च प्रदानानि ऐन्द्राणि
अनैन्द्राणि च विद्यन्ते, तेषां भक्षणान्यपि सन्ति । तत्र सन्देहः,
—किम् ऐन्द्रेषु अनैन्द्रेषु च मन्त्रः, उत ऐन्द्रेष्वेव मन्त्रः, अनैन्द्रा-
णाम् अमन्त्रकं भक्षणम्?—इति । किं तावत्प्राप्तम्? अनैन्द्राणाम्
अमन्त्रकं भक्षणम्—इति । कुतः? । समानविधानान्येतानि
प्रदानानि, तेषु 'इन्द्रपीतस्य'—इति मन्त्रोपनिन्द्रपीतं न शक्नोति
वदितुम्, न च समानप्रकरणे ऊहः सम्भवति, अस्ति वचने
अन्यार्थानभिधानात् । तस्मात् अमन्त्रकं भक्षणम् एवज्ञाती-
यकेषु—इति ॥

छ यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ॥ २८ ॥
(सि०) ॥

भा अथ वा यथादेवतम् ऊहेन लक्षयितव्यम् । कस्मात्? ।
ध्रुवचमसा द्वि प्रकृतिभूताः । के पुनर्ध्रुवचमसाः? । ये शुक्रा-
मन्त्रिप्रचारे सवनमुखीयाः, ऐन्द्राः ते भवन्ति, तेषां प्रकृतिभूतं
प्रदानं, विष्टिभूताः अन्यानि । कथम् अवगम्यते? । तत्प्रकृतित्वं
हि दर्शयति । कथं? । अनुष्टुप्छन्दसः—इति षोडशनि
अतिरात्रे भक्षमन्त्रं नमति—इति । किमत्र दर्शनं? । नमति
—इति विपरिणाम दर्शयति ।

'ननु वचनमेतत् स्यात्' । न—इत्युच्यते, नैतत् नमति—
इति श्रूयते, कथं तर्ह्येवं नमति—इति, अनुष्टुप्छन्दसः—इति
भक्षमन्त्रं नमति—इति, स एष ऊहो विकारेषु उपपद्यते,

भा. तस्मात् एते विकाराः अतोऽनैन्द्रेष्वपि चोदकप्राप्तो मन्त्र जह्नि-
तव्यो भवति । 'उचरते,—विकारा एते—इति लिङ्गमपादितम्,
'न्यायोऽभिधीयताम्—इति' । उचरते,—ऐन्द्रः सोमो गृह्यते
मीयते च, तेन ऐन्द्रेषु सोमोऽनैन्द्रेषु सोम एव नास्ति—इति
सर्वे सोमधर्मा ऐन्द्रेष्वेव, अधर्मका इतरे साकाङ्क्षाः । 'कथं पुन-
र्ज्ञायते,—ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते च—इति ? । मन्त्रवर्णात्,
इन्द्राय त्वा वसुमतः—इत्येवमादिर्मन्त्र ऐन्द्रं सोमं वदितुम्
शक्नोति—इति नान्यम् । तस्मात् ऐन्द्रः सोमः, तेन ऐन्द्रेषु
सोमधर्माः, अन्यानि तु प्रदानानि साकाङ्क्षाणि, अतो धर्मान्
ग्रहीष्यन्ति—इति न्यायः । तस्मात् यथादेवतमूहितव्यो मन्त्रः
—इति । एवं स्थितं तावदपर्यवसितं, तत एवं सति चिन्तान्तरं
वर्तिष्यते ॥ (३।२।११ अ०) ॥

अभ्युन्नीतसोमभक्षणे इन्द्रस्याप्युपलक्षणाधिकारणम् ।

स पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात् ॥ २६ ॥
(पू० १) ॥

भा सन्ति पुनरभ्युन्नीताः सोमाः, शुक्रामन्त्रिप्रचारे एव सवन-
मुखीयाः, तेषां होतुर्वषट्कारेऽनुवषट्कारे च चतुर्भिर्मन्त्रतः-
कारिणां चमसेर्जत्वा होत्रकाणां चमसैः सृष्टात् सृष्टात् वषट्कारे
एव ऊत्वा पुनः सशेषेष्वेव पात्रेषु सोमोऽभ्युन्नीतः, एवं हि तत्र
अर्धयुः सम्प्रेष्यति, 'मन्त्रतःकारिणां चमसाध्वर्यवो वषट्कृते-
ऽनुवषट्कृते जुहुत होत्रकानां चमसाध्वर्यवः सृष्टात्* ऊत्वा
शुक्रस्याभ्युन्नीयोपावर्त्तधम्—इति । तत्र होत्रका नानादेवता
यजन्ति, मैत्रावरुणो मित्रावरुणौ 'मित्रं वयं हवामहे'—इति,

भा वाचाक्षणाच्छसी इन्द्रं 'इन्द्र त्वा ह्यभं वयम्'—इति, पीता मरुतः 'मरुतो यस्य हि क्षये'—इति, नेष्टा त्वष्टारं पत्नीय, 'अग्रे पत्नीः इच्छावह'—इति, आग्नीध्रोऽग्निम् 'उक्षां नायवशां नाय'—इति। तत्र तैश्चमसैः पूर्वस्मिन् वषट्कारे इन्द्र इष्टः पुनरभ्युक्षीय मित्रावरुणाद्या देवता इष्टाः, श्रेयः तत्र इन्द्रस्य मित्रावरुणादीनां च। तत्र सन्देहः,—किं प्रस्थितदेवतायाश्च इन्द्रस्य मित्रावरुणादीनां चोपलक्षणम्, उत इन्द्रो नोपलक्षयि तथः?—इति।

किं तावत्प्राप्तम्?—पुनरभ्युक्षीतेषु सर्वेषाम् उपलक्षणम्। कस्मात्?। द्विशेषत्वात्, चमसे चमसे तत्र द्वयोः श्रेयः, प्रक्षतौ यस्यै ज्ञतं, तच्छेषः तत्पीतः—इत्युक्तं, इच्छापि तद्वदेव वदितव्यम्। तस्मात् चमसे चमसे द्वयोरुपलक्षणम्॥

ख अपनयाद्वा पूर्वस्य अनुपलक्षणम् ॥ ३० ॥ (पू० २) ॥

भा अपनीतं प्रस्थितदेवतायाः श्रेयं मन्यामहे। कुतः?। मित्रावरुणादिभ्यः तत्पावरयम् अभ्याग्राह्यते। कथमेतत्?। उच्यते,—मित्रावरुणादयो हि इज्यन्ते, तत् यथा आचार्यश्रेयं देवदत्तो भुञ्जानो यदि श्रेयं पूर्णकाय मयच्छन्ति, पूर्णको देवदत्तमुपलक्षयति, देवदत्तश्रेयं भुञ्जे—इति नाचार्यश्रेयम्। तस्मात् न प्रस्थितदेवता इन्द्र उपलक्षयितव्यः—इति॥

ख ग्रहणाद्वापनयः स्यात् ॥ ३१ ॥ (सि०) ॥

भा नचैतदस्ति, इन्द्रो नोपलक्षणीयः—इति, तस्यापि क्षसी श्रेयः प्रत्यक्षमवगम्यते। 'ननु अपनीतः—इति'। उच्यते,—नासावपनीयते। सहाहुतान् चमसानभिद्रोणकलशात् गृह्णाति, सशेषश्चमसो लक्षणमन्यस्योक्षीयमानस्य, ततश्चमसस्यो क्षीयमानस्यो नोपलक्षयति। यत्तु 'यद्यभाणा देवता' प्रति आग्रा

भा. वितः'—इति । उच्यते,—आश्रायते तत्र देवताभ्यो नत्विदं वा
 'तदेति, तेन यद्धोतुम् गृहीतं तत् आश्रायितम्—इति गम्यते ।
 न च, आश्रावणवेलायां देवताभिसम्बन्धः, यत् यत् देवताभि-
 सम्बद्धं, तत् आश्रायते, तस्मात् अस्ति इन्द्रशेषः, लक्ष्यते च ।
 अतः सर्वेषामुपलक्षणम्—इति । कृत्वाचिन्तया, न अत्र
 प्रयोजनं वक्तव्यं, पूर्वाधिकरणस्य एव एतत्प्रयोजनमवधार्यते ॥
 (३।२।१२ अ०) ॥

पालीवतभक्षणे इन्द्रादीनामनुपलक्षणाधिकरणम् ॥

सू. पालीवते तु पूर्ववत् ॥ ३२ ॥ (पू० ॥

भा. अस्ति पालीवतो ग्रहः, यदुपांशुपात्रेणाययणात् पालीवतं
 गृह्णाति—इति, द्विदेवत्यानां शेषा आययणस्थाल्यामुपनीताः,
 ततः पालीवतो गृह्णाते । अथ ऊते पालीवते, तच्चेष्टे भक्ष्यमाणे
 भवति सन्देहः,—किम् इन्द्रवाखादय उपलक्षयितव्या न वा ?—
 इति । किं तावत्प्राप्तम् ?—उपलक्षयितव्याः । तेषामपि क्षसी
 शेषो यथा प्रस्थितदेवतायाः—इति ॥

सू. ग्रहणाद्वापनीतं स्यात् ॥ ३३ ॥ (सि० ॥

भा. अपनीयते हि स शेष इह, न यथापूर्ववत्, तत्र इह
 पात्रलक्षणत्वेन सङ्कीर्त्यते न सोमो याज्ञत्वेन, इह त्वाययणात्
 गृह्णाति—इति, स्थालीस्थः सोमो निर्दिश्यते होतुम्, यद्य-
 माणदेवतां प्रति । 'ननु स्थाल्यामाययणो नाययणश्च, तत्र
 यस्तस्मात् आययणात् गृह्णाते, स पालीवतः, यस्तु सम्पातान्नासौ
 पालीवतः'—इति । उच्यते,—आययणोऽभादानं, तस्मात् यो-
 पैति आययणो नाययणो वा, स सर्वः पालीवतः, आययणाच्च
 एष सर्वोऽपेतः ।

भा. 'ननु अनाययणादप्यपेतः'। नैष दीयः, आययणात्तावदपेतः तेनासौ पूर्वदेवताभिः पीतः—इति न शक्यते वक्तुम्; यो हि इन्द्रार्घ्यस्य सोमस्यावयवः शेषः स इन्द्रपीतः—इति प्रहती उच्यते, इहापि तद्वदेव पूर्वदेवतार्घ्यस्यावयवो वर्धितव्यः। 'ननु योऽसौ पूर्वदेवतार्घ्यः, तस्यैवायमवयवः'। न—इति ब्रूमः,—न हि ज्ञतस्यावयवो दृश्यते। 'ननु प्रहतावपि ज्ञतस्यावयवो न दृश्यते'। उच्यते,—ज्ञताज्ञतस्य समुदायस्य तत्र अवयव उपलक्ष्यते तद्देवतस्य। 'ननु इहापि समुदाय एवासीत् तद्देवतस्यः, तस्यैवायमवयवः'। न—इत्युच्यते, आसीदयं समुदायः तद्देवतस्यः, इदानीं तस्य अवयवोऽन्यदेवतस्यो जातः, तेन समुदायः तद्देवतत्वादपेतः।

'आह पूर्वदेवतापीतस्यासाववयव आसीत्तेन भूतपूर्वगत्या भविष्यति'। उच्यते,—प्रहती न भूतपूर्वगत्याभिधानं कृतम्, इहापि तद्वदेव न कर्त्तव्यमिति। अपि च इन्द्रदेवतस्यैव 'इन्द्रपीतः'—इत्युक्तं, अनपनीता च तस्य इन्द्रदेवतस्यता, अस्य पुनः पूर्वदेवतासम्बन्धोऽपगतः। तस्मात् न अत्र पूर्वदेवता उपलक्षणीयाः—इति ॥ (३।२।१३ अ०) ॥

पात्रीवतशेषमन्त्रे त्वष्टरन्तुपलक्षणीयताधिकरणम् ॥

ख त्वष्टरन्तुपलक्षयेत्पानात् ॥ ३४ ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति पात्रीवतः सोमः, तत्र मन्त्रः, 'अग्राह पत्नीवन्* सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिव'—इति। तत्र सन्देहः,—किं त्वष्ट्रा उपलक्षयितव्यो न वा?—इति। किं प्राप्तम्?—उपलक्षयितव्यः। कुतः? पानात्, पानं श्रूयते,—'सजूर्देवेन त्वष्ट्रा

* पत्नीवत् इति शतः का० श्रौ० पु०। पत्नीवः इति का० श्रौ० पु०।

भा. सोमं पिव'—इति । तेनायम् अग्नये पस्नीवते सद्य त्वष्ट्रा दीयते—इति गम्यते । यस्मै च येन सद्य दीयते, उभाभ्यां तद्दीयते, एवं तत्सहदानं भवति, यथा देवदत्ताय यज्ञदत्तेन सद्य शतं दीयताम्—इत्युक्ते, तत्रोभाभ्यामपि दीयते, तस्मात् त्वाष्ट्रोऽप्यसौ सोमः—इति त्वष्टा उपलक्षयितव्यः । असावपि इन्द्र इव पिवति—इति ॥ -

स अतुल्यत्वात् नैवं स्यात् ॥ ३५ ॥ (मि०) ॥

भा. नैतदेवं, शब्दप्रमाणका वयं, यत् शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणं, शब्दश्रुतेः पस्नीवतः पानमाह त्वष्टुः सद्यभावमात्रं, न हि अननुष्ठीयमाने सद्यभावः सिध्यति—इति त्वष्टरि पानमनुमीयते । 'ननु त्वष्ट्रे पानं* चोदितम्' । सत्यं, चोदितं मद्रवर्णेन, न चोदनया । चोदना हि 'पस्नीवतं गृह्णाति'—इति, लोके तु कार्यं कृत्वा चोदितम् अनुष्ठीयत एव, लोकेतश्च एतत् परिच्छिन्नं, नैवज्ञातोयकेन वाक्येन, त्वष्टुः सोमः हतो भवति—इति ॥ (३।२।१४ अ०) ॥

पस्नीवतशेषभक्षे शिंशतामनुपपन्नग्राधिकारमम् ।

स चिगञ्च परार्थत्वात् ॥ ३६ ॥

भा. तस्मिन् एव पस्नीयते मखः,—'ऐभिः अग्ने सरथं यच्छर्वाक् नानारथं वा विभवो ह्यग्न्या । पस्नीवतश्शिंशतं पीय देवाननु-
प्यधमावह्य मादयस्'—इति । तत्र गन्देशः,—किं चयश्शिंशतो

* दानमिति पाठः का० म० पु० ।

† चोदितमद्योदितमपि इति पाठः का० म० पु० ।

‡ माधवीये अनुपपन्नपदानमित्यर्थः ।

भा देवानामुपलक्षणं कर्तव्यम्, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—
 चयस्त्रिंशत् देवानुपलक्षयेत् । कथं? । दीयते हि सोमः चय
 स्त्रिंशते देवेभ्यः ; एवं हि, 'अग्निमग्नीदधीच्छति, आयाहि
 अग्नेर्वाचीनं, चयस्त्रिंशता देवैः सह समानं रथमधिष्ठाय
 नानारथैर्वा विभवन्ति हि ते अश्वाः । तदिदमनुष्वधमावध
 चयस्त्रिंशत् पत्नीवतः देवान् आगमय तर्पय च'—इति । अथ
 हि अग्निमग्नीदधीच्छति चयस्त्रिंशतो देवानां तृप्तये—इति
 गम्यते, यत्प्रधानस्य अत्र भवः, तत्परः सोमः, तस्मात् उच्यते,
 —चयस्त्रिंशत् देवा उपलक्षयितव्याः—इति ।

'ननु चोदनायां पत्नीवान् केवलोभर्गिदेवतात्वेन श्रूयते' ।
 सत्यं, चोदनाया पत्नीवान् देवतात्वेन श्रूयते, न तु देवतान्तरं
 निषिध्यते । किमतो यद्येवम्? । एतदतो भवति, माचवर्णिकाः
 चयस्त्रिंशत् देवा अविबुद्धाश्चोदनायां प्रतीयन्ते—इति ।

एव प्राप्ते ब्रूमः,—न चयस्त्रिंशत् देवा उपलक्षयितव्याः—इति,
 न अत्र मध्ये अग्निं आह्वाता परिवेष्टा वा तर्पयिता वा अध्येष्यते ;
 न अत्र चयस्त्रिंशत्देवेष्विष्टेषु प्रयोजनं निर्वर्त्यते । कः तर्हि
 यद्यथ? । पत्नीवान् । कुतः एतत्? । स हि चोद्यते,—पत्नीवतं
 गृह्णाति—इति । 'ननु माचवर्णिकानां चयस्त्रिंशतो देवानामथ
 सङ्कीर्तनम्' । उच्यते,—परार्थत्वेन ताः सङ्कीर्त्यन्ते । कथं? ।
 न हि अग्रत्तम् अग्नेः, तत् भवति, न च परकीयस्य दानम्
 अथकल्पते । तस्मात्, त्वममूभ्यः चयस्त्रिंशत्देवताभ्यो देहीत्य-
 समञ्जसं वचनं, अग्नये त्वनेन दानम् उक्तं भवति । कथं? ।
 ईशानो हि विलम्बयति* इव, तदिह विलम्बनं सङ्कीर्तयन्
 त्वमस्य ईशानः—इति प्रत्यापयति ।

* विलम्बयति इत्यत्र तदिह विलम्बनमिति पाठः का० स० पु०
 एवं परम् ।

भा 'ननु मादयस्व—इत्युच्यते, न विलम्बय—इति' । 'उच्यते,
—न हि माद्यन्ति देवताः, तस्मात् मदकरणसङ्कीर्तनम् अदृष्टाय
स्यात्, दृष्टाय तु त्यागसङ्कीर्तनं लक्षणा, लक्षणा हि
अदृष्टकल्पनाया उच्यते, प्रमाणात् हि सा भवति । 'ननु
त्यागेऽपि लक्ष्यमाणेऽग्निः कर्त्ता अधीष्यते' । तदुच्यते,—अग्नेः
अप्यधेयणाददृष्टायैव, तस्मात् अग्नेः ऐश्वर्यकरणमेतत् वाक्यं
लक्षयति—इति न्याय्यम् । अपि च पालीवते सोमस्योद्यते,—
पालीवर्तं गृह्णाति—इति ।

'ननु उक्तं, माद्ववर्णिकं न प्रतिषेधति चोदना—इति' ।
उच्यते,—तदपि माद्ववर्णिकं नास्ति—इत्युक्तम् । अपि च
सामध्यात् प्रतिषेधति—इति गम्यते, न हि सापेक्षः पली-
वच्छब्दः, तद्वितार्थेन संलक्ष्यते, तस्मात् केवलः पलीवान् देवता
—इति । एतच्चोदनावशेन मन्त्रो वर्णनीयः । तस्मात् यद्येवा
स्माभिर्वर्णितो मन्त्रः, तथैव भवितुमर्हति—इति पलीवाय अग्नि-
अग्ने पलीवन्—इति सामानाधिकरण्येन निर्दिश्यते । तस्मात्
अग्निः उपलक्षयितव्यो न चयस्त्रिंशत् देवताः—इति ॥ (३ । २ ।
१५ अ०) ॥

भक्षणेऽनुवषट्कारदेवताया अनुपलक्षणाधिकारणम् ।

स वषट्कारश्च कर्तव्यत् ॥ ३७ ॥

भा अस्ति अनुवषट्कारदेवता, 'सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट्
करोति'—इति । तत्र सन्देहः,—किमनुवषट्कारदेवता उप-
लक्षयितव्या, न वा ?—इति । किं प्राप्तम् ?—उपलक्षयितव्या—
इति, न तत्र पारार्थं किञ्चित् पूर्ववत् उपलक्ष्यते । तस्मात्
उपलक्षयितव्या—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अनुवषट्कारदेवता
नोपलक्षयितव्या, कर्तव्यत्, यथा कर्त्ता नोपलक्ष्यते,— इति ।

भा. स्यात्पर्युपीतस्य—इति, एवमेवानुवपट्कारदेवतापि, न हि सा प्रकृतौ उपलब्धता, यथ नाम प्रकृतौ ह्यतः, तदिह करणीयम्। तस्मात् नोपलक्षयितव्या—इति ॥ (३।२।१६ अ०) ॥

अनैन्द्रानाममवकभक्षणधिकरणम् । (हत्वाचिन्तारूपम्) ॥

ख. छन्दःप्रतिषेधस्तु सर्व्वगामित्वात् ॥ ३८ ॥

भा. स्थितादुत्तरम् उच्यते*,—नैतदस्ति,—यदुक्तमूहेन मन्त्रवत् भक्षणं कर्त्तव्यम्—इति, अमन्त्रकं भक्षणं कर्त्तव्यम्। कस्मात्?। उच्यते,—समानविधानत्वात्, नास्ति अत्र प्रकृतिविकृतिभावः। कथं?। प्रकरणस्य तुल्यत्वात्, यस्मिन्मुक्तां, छन्दःप्रतिषेधः स इत्युच्यते, तृतीयसवनत्वात् जगतीच्छन्दसः—इति प्राप्ते अनुष्टुप्छन्दसः—इति षोडशिनि भक्षमन्त्रं नमति—इति समानविधानेऽप्यवकल्पते। यत्तुक्तम्, (२६७।४ प०)—ऐन्द्रः सोमी गृह्यते मीयते च—इति, नैते ऐन्द्रा अनैन्द्राश्च भिक्षा यागाः, एकस्यैव एतेऽभ्यासविशेषाः, न चाभ्यासविशेषाणां धर्माः गुणत्वात्, सर्वे एते यागधर्माः। तेन ह्यस्मा यागस्य चोद्यते सोमधर्माः, सोमस्येति। यच्च, इन्द्रो गृह्यते मीयते च—इति, इन्द्रस्य मन्त्रान्नानात् सन्नेष घृह्णन् प्रकाशयितव्यम्, इतरासां देवतानाम् धानादिना—इति। तस्मात् अनैन्द्राणाम् अमन्त्रकं भक्षणम्—इति ॥ (३।२।१७ अ०) ॥

* उक्ताभ्यः पक्षभ्यः हत्वाचिन्ताभ्यः पूर्व्वस्मिन्नेवाधिकरणे योऽयमन्त्रिन्नेषमन्त्रं भक्षणमित्येव रूपः प्रथमः पक्षः। तमेव मनसि निधाय हत्वाचिन्तानां अयमभिधीयते इति साधनम् ॥

ऐन्द्राग्रमक्षस्यामवकताधिकरणम् ॥

स ऐन्द्राग्रे तु लिङ्गभावात् स्यात् ॥ ३९ ॥ (पू०) ॥

भा एवं स्थिते चिन्तयते,—अस्ति तत्र ऐन्द्राग्रः सोमः,—ऐन्द्राग्रं गृह्णाति—इति । तत्र सन्देहः,—किं मववत् भक्षणम्, अमवकं वा?—इति । किं प्राप्तम्?—ऐन्द्राग्रे तु मक्कः स्यात्, यस्य हि इन्द्राग्री देवता तस्य इन्द्रः, शक्यते हि स इन्द्रपीतः—इति व्यपदेशम्, यस्य हि अवयवान्तरम् इन्द्रेण पीतं, स इन्द्रपीतः, तस्य इन्द्राग्रभ्यां पिवङ्गां पीतमवयवान्तरम् इन्द्रेण । तस्मात् मववत् भक्षणम्—इति ॥

स एकस्मिन् वा देवतान्तरादिभागवत् ॥ ४० ॥ (सि०) ॥

भा न अस्य अवयवान्तरम् इन्द्रेण पीयते, न च अवयवान्तरेण इन्द्रपीतेन तत्पीतं भवति, तेन पीतः—इति लक्षणाशब्दोक्तम् इन्द्रम् उद्दिश्य यः सङ्कल्पितः इन्द्रो यस्य देवता—इति, यथैव च साकाङ्क्षस्य तद्वितार्थेन असम्बन्धः, एवं समासोऽपि इन्द्रपीतस्य—इति साकाङ्क्षस्य नावकल्पते, तदुक्तं, 'व्यवस्था वार्थसंयोगात् (३।१।२७ सू०)—इति ।

'आह, ननु तेनैवाधिकरणेनैतद्गतं किमर्थं पुनश्चिन्तयते'?—इति । उच्यते,—यत् तत्र विचारितं सिद्धमेव तत् । 'कथं पुनर्विचार्यते? नैव साकाङ्क्षस्य देवतासम्बन्धः—इति' । नैव इह देवतासम्बन्धः—इति पूर्वः पक्षः, पानमात्रसम्बन्धोऽपि—इति, पानमात्रसम्बन्धेन यत्र द्वाभ्यां पीयते, तत्रैकेन देवता-सम्बन्धः—इत्युत्तरः पक्षः, तस्मात् न पुनरुक्तम्—इति ॥ (३।२।१८ अ०) ॥

गायत्रच्छन्दस — इत्यादिमन्त्राणामनेकच्छन्दस्ते विनियोगाधिकारकम् ।

ख छन्दस्य देवतावत् ॥ ४१ ॥ (पू०) ॥

भा अस्मिन् मन्त्रे गायत्रच्छन्दसः—इत्युच्यते, तत्र सन्देहः,—
किमेकच्छन्दसि सोमे मन्त्रः, उत नानाच्छन्दस्यपि?—इति ।
उच्यते, छन्दस्य देवतावत्, यथा अन्यसहितेन्द्रे न मन्त्रः, एव
मनेकच्छन्दस्ते सोमे न स्यात् मन्त्रः—इति । अत्रापि हि
गायत्रच्छन्दसः—इति सविशेषणस्य समासो नावकल्पते ॥

ख सर्वेषु वाऽभावादेकच्छन्दसः ॥ ४२ ॥ (सि०) ॥

भा सर्वेषु वा मन्त्रः स्यात् । कुतः? । अभावादेकच्छन्दसः, नैव
कश्चित् एकच्छन्दाः सोमोऽस्ति, तेन यथाभूतोऽयं, तथाभूतस्य
छन्दो विशेषणं, तस्मात् अनेकच्छन्दस्ते सोमे मन्त्रः स्यात्—
इति ॥ (३।२।१६ अ०) ॥

एकादशाधिकरणोक्तस्य उपसंहारः ।

ख सर्वेषां वैकमन्त्रमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात्
सवनाधिकारो हि ॥ ४३ ॥

भा यदुक्तम्,—अनैन्द्राणाम् अमन्त्रक भक्षणम्—इति, तत् न,
सर्वेषां समन्त्रकं भक्षणम्—इति, यथासमाग्नातस्य मन्त्रः स्यात् ।
न इन्द्रपीत—इति सोम उच्यते, किं तर्हि? सवनं, प्रातः
सवनशब्देन सामानाधिकरण्यात् । 'ननु सोमेऽपि पृष्ठी' ।
सत्यम् अस्ति पृष्ठी, न तु तेन सामानाधिकरण्यम् । नास्ति
विन्द्रेण सोम पीतः, नापि इन्द्राय दत्तः, अन्य एव पीतो
दत्तो वा, स गत एव, न चातीतः समुदायो व्यपदिश्यते,

भा प्रत्यक्षवचनो हि अयं शब्दः, सवने तु न दोषः, इन्द्रपीतं
भवति सवनं, यच्च इन्द्रेण पीतम् । तस्मात् अनैन्द्रोऽपीन्द्रपीत
सवनेऽन्तर्भवति—इति शक्यते मन्त्रेण वदितुम् । शक्यत चेत्
समानविधाने कथमिव मन्त्रो न भविष्यति । भक्त्या ह्यपीतः
पीतः—इत्युच्यते । एवमेव ऐतिशायन आचार्या मन्यन्तेस्म ।
“अस्माकमप्येतदेव मतम् । आचार्यग्रहणम्, तस्मात् आगतम्—
इति तस्य सङ्कीर्त्यर्थम् ॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः वृत्तौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्या-
यस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीये अध्याये तृतीय पादः ।

—→→→—

अथोच्चैश्वादीनां वेदधर्मताधिकारकम् ।

स श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा न्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘उच्चैर्षं चा क्रियते उच्चैः’ साम्ना उपाशु यजुषा—इति । तत्र सन्देहः,—किम् चङ्गादिजातिमधिहत्य एते शब्दाः प्रहत्ताः, उत वेदमधिहत्य?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—जाताधिकारः स्यात् । कुत ? । श्रुतेः, एषा शब्दानां अवणादेव जातिं प्रतिषद्धामहे, तेन उपाशुत्व जात्यामधि हतया सम्बध्यते, वेदानामधिकारकः शब्दो नास्ति—इति । अपि च षड्वेदव्यतिक्रान्तानामृचा यजुर्वेदे उच्चैः प्रयोगो भविष्यति, इतरथा तस्या एव षड्च उभौ धर्मौ वैकल्पिकौ स्याताम्, तत्र षष्ठे बाधः स्यात्, प्रकरणञ्च एवमनुगृहीतम् भवति, इतरथा वेदसयोगे सर्वस्मिन् अपि क्रतौ उपाशुत्वं स्यात् । तस्मात् जाताधिकारा एते शब्दाः—इति ॥

स वेदो वा प्रायदर्शनात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा वेदं वा अधिकृत्येदमुच्यते । कुतः ? । प्रायदर्शनात् । किमिदं प्रायदर्शनात्—इति ? । वेदप्राये वाक्ये वेदोपक्रमे निगम्यमाना इमे शब्दाः श्रूयन्ते, ‘प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् स तपो भूतप्यत, तस्मात् तमस्ते पानात् त्रयो देवा अष्टज्यन्त अग्निर्वायु रादित्य’, ते तपोभूतप्यन्त तेभ्यस्ते पानेभ्यः त्रयो वेदा अष्टज्यन्त अग्नेर्ष्वेदो वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः’—इत्येवमुपक्रम्य निगमने इदं श्रूयते, ‘उच्चैर्षं चा क्रियते उच्चैः साम्ना

भा. उपांशु यजुषा—इति ; एतस्मात् कारणादेभिः प्रकृतैरुपांशवादि कर्तव्यम्, न जात्या ऋगादिभिः—इत्युच्यते । कुतः एतदव-
गम्यते ? वाक्योपसंहारे श्रुतत्वात्, यस्मादित एते वेदा जाताः,
तस्मात् एतैरुपांशवादि कर्तव्यम्—इति, ऋगादिभिरपि वेद-
वचनेरेवोपसंहारेण भवितव्यम् ; इतरथा वाक्यमेव नावलपेत'
तत्रानर्थका एव भवेयुः, तस्मात् वेदाधिकाराः—इति ॥

स. लिङ्गाच्च ॥ ३ ॥ (यु० १) ॥

भा. लिङ्गमप्यस्मिन् श्रुते भवति, यथा ऋगादयः शब्दाः शक्नुवन्ति
‘वेदमभिवदितुम्—इति, ‘ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते ।
यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अंशः । सामवेदेनारस्तमये महीयते ।
वदैरश्वन्यैस्त्रिभिरेति* सूर्यः,—इति, द्वौ वेदौ सङ्कीर्त्य, ऋक्-
शब्दं च विषु पादेषु, चतुर्थे पादे उपसंहरति, यजुवचनेन,
वेदैरश्वन्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः—इति ऋक्शब्दं वेदवचनं दर्शयति ।
तस्मात् अपि पश्यामः ; वेदाधिकारा एते शब्दाः—इति ॥

स. धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः ॥ ४ ॥ (यु० २, ॥

भा. धर्मोपदेशश्च भवति साम्ना, उच्चैः साम्ना—इति, स वेदा-
धिकारपक्षे युज्यते । जाताधिकारे तु ऋच उच्चैरुवेन साम्ना
उच्चैरुर्व सिद्धम्, नास्य सामद्रव्येण सद्ध सम्बन्धो वेदितव्यः,
तस्मात् अपि वेदाधिकाराः—इति ॥

स. त्रयीविद्याया च तद्विदि ॥ ५ ॥ (यु० ३, ॥

भा. त्रयी यस्य विद्या स त्रयीविद्या, यः त्रीन् वेदानधीते, स एवं
प्रश्रयायते । त्रयीति त्रैप शब्द ऋक्सामयजुःषु प्रसिद्धः, यदि

भा ऋक्सामयजुषि—इति त्रयो वेदा उच्यन्ते, एवं तदिदि त्रयो-
विद्यास्मा युज्यते, भवति च । तस्मात् वेदाधिकारा एते ॥

ख व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् ॥ ६ ॥ (आ०) ॥

भा अथ यदुक्तम्,—ऋग्वेदमतिक्रान्तानामृचां यजुर्वेदेभ्युच्चैस्त्वं
भविष्यति—इति, तत्र न तप्ये यथाश्रुतः प्रयोगो भविष्यतीति
यदुक्तं, तत्परिहृत्यमिति । (अभाषानं सूत्रम्) ॥

ख न सर्वस्मिन्निवेशात् ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैष दोषः, सर्वस्मिन् ऋग्वेदे उच्चैस्त्वं सर्वस्मिंश्च यजुर्वेदे
उपाश्रुत्वं, तत्र यदि ऋग्वेदं व्यतिक्रान्ताया ऋचो यजुर्वेदे
उपाश्रुत्वं भवति—इति नैतदुच्यति, वेदधर्मः सन् ऋक्धर्मः
—इति, वेदस्य च न धर्मद्वयेन सम्बन्धः ॥

ख वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत ॥ ८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा यदुक्तं,—प्रकरणमेवमनुगृहीतं भवति—इति, वेदसंयोगात्
वाक्येन प्रकरणे बाध्यमाने न दोषो भविष्यति ॥ (३।३।
१ अ०) ॥

आधाने गानगोपाश्रुताधिकरणम् ॥

ख गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ॥ ९ ॥

भा अस्ति आधानं,—‘य एवं विद्वानग्निमाधत्ते’—इति । तत्
याजुर्वेदिकं, तत्र सामगानमामनन्ति,—‘य एवं विद्वान् वार-
वन्तीयं गायति, य एवं विद्वान् यज्ञायज्ञीयं गायति, य एवं
विद्वान् वामदेयम् गायति’—इति । तत्र सन्देहः,—किमाधाने
सामगानमुच्ये, उत उपाश्रु?—इति ।

भा. उच्चैः—इति प्राप्तम् । कुतः ? । सामवेदेनैतत् क्रियते यत्
वारवन्तीयादिभिः, तस्मात् उच्चैरेतानि सामानि गेयानि—
इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणानुरोधेन वा मुग्धं व्यतिक्रमेत्, मुख्यानु-
रोधेन वा गुणम्—इति गुणो व्यतिक्रमितव्यो न्यायः मुख्यस्या-
नुगृहीतव्यः—इति । कुतः ? । मुख्यार्थत्वात् गुणस्य, गुणस्या-
नुष्ठानेन मुख्यः सगुणः कथं स्यात् ?—इति गुणे प्रवर्तते,
गुणप्रवृत्त्या चेत् मुख्यस्य गुणहानिर्भवति, गुणप्रवृत्तौ फलमेव
नावाप्तं भवति । अथ प्रधानं सगुणं करिष्यामि—इति गुणे
प्रवर्तमानो गुणस्य गुणं विनिपातयति, नास्य स्वार्थो हीयते,
नासौ गुणं सगुणं कर्तुम् प्रवर्तते, गुणश्च सामगानं, प्रधान-
माधानं, आधानस्य याजुर्वेदिकत्वात्, उपांशुता गुणः, स गुण-
धर्ममुच्चैस्त्वं सामवेदिकं बाधते । तस्मात् उपांशु सामानि
गेयानि—इति ॥ (३।३।२ अ०) ॥

ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वेदिकताधिकरणम् ।

सू. भूयस्त्वेन उभयश्रुति ॥ १० ॥

भा. यजुर्वेदे ज्योतिष्टोमं समामनन्ति,—‘ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो
यजेत’—इति, तथा सामवेदेभ्यस्य एवमेव समाम्नानं, सहास्र
हतायां बुद्धौ द्वितीयं गुणार्थं अवर्णं भवति । तत्र सन्देहः,—किं
याजुर्वेदिकसाम्नानं क्रियार्थं, सामवेदिकं गुणार्थं उत विपरी-
तम् ?—इति । यत्तत्साम्नानं क्रियार्थं तद्वर्मा भविष्यन्ति । किं
तावत् प्राप्तम् ?—सामवेदिकं क्रियार्थं याजुर्वेदिकं वेत्यनिश्चयो
विशेषानवगमात्—इति ।

भा एवं प्राप्ते वनः,—भूयस्त्वेन गुणानां परिच्छिद्येत, यच्च भूयांसो गुणाः समाग्नताः, तच्च क्रियार्था चोदना—इति गम्यते, यच्च हि कर्तव्यतया चोदना, तच्च इतिकर्तव्यता आकाङ्क्षते, यच्च चाकाङ्क्षिता इतिकर्तव्यता, तच्च इतिकर्तव्यतावचनं न्याय्यम्। ये च भूयांसो गुणाः, सा इतिकर्तव्यता, तदितिकर्तव्यतानिद्वेन कर्तव्यताचोदनामनुमिमीमहे, यथा वज्रपुं राजप्रतिमेषु उप विष्टेषु यस्य श्वेत ह्यं बालव्यजन च, स राजेत्यवगम्यते, अनास्थातोऽपि राजसिद्धेन। एवं कर्तव्यतालिङ्गेन गुणानां भूयस्त्वेन ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वेदिकस्य चोदना अनुमीयते। तस्मात् ज्योतिष्टोमस्योपाशुमयोग, यजुर्वेदेन हि ज्योतिष्टोमः क्रियते, यत्नेन चोद्यते। अचोदितं न शक्यते कर्तुम्—इति॥ (३।३।३ अ०)॥

प्रवरयत्य विनियोजकत्वाधिकरणम् ।

स असयुक्त प्रकरणादितिकर्तव्यतार्थित्वात् ॥ ११ ॥

भा उक्तानि विनियोगकारणाणि युतिर्लिङ्गं वाक्यम्—इति। युतिः एन्द्रया गार्हपत्यम्—इति द्वितीया विभक्तिः, लिङ्गं मन्त्रेषु वचनसामर्थ्यं वर्हिर्देवसदनं दानि—इति, वाक्यम् अरुण्या क्रीणाति इति। अथ किमेतादन्तेभ्य विनियोगकारणानि? न—इत्युच्यते, किमपरं कारणम्?—इतिप्रश्नेनैवोपक्रमः, भवति च प्रश्नैवोपक्रमो यथा का नामेय नदी? को नामायं पर्वतः? किमिदं फलम्? इति।

तदुच्यते,—असयुक्तं प्रकरणात्, इतिकर्तव्यतार्थित्वात्, यत् असयुक्तं युत्या निद्वेन वाक्येन वा, तत् प्रकरणात्, इतिकर्तव्यतार्थित्वात्, यदितिकर्तव्यताकाङ्क्षिणः सन्निधौ पूरणसमर्थमुप निपतति यत् वचनं, तत् तेन प्रवृत्तेन सहैकवाक्यता याति।

भा तस्मात् प्रकृते विनियुज्यते, किमिहोदाहरणं? किं च प्रयोजनम्?—इति। दर्शपूर्णमासी प्रकृत्य श्रूयते,—‘समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, वर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति’—इति, तानि तत्रैव प्रकरणसामर्थ्यात्* विनियुज्यन्ते, न अग्निहोत्रे ज्योतिष्टोमे वा ॥ (३।३।४ अ०) ॥

क्रमस्य विनियोजकताधिकारणम् ॥

सू क्रमस्य देशसामान्यात् ॥ १२ ॥

भा अथ किमेतावन्तेष्व विनियोगकारणानि? न,—इत्युच्यते। किं च? क्रमस्य देशसामान्यात्,† क्रमवतामानुपूर्वणोपदिश्यमानानां यस्य पर्याये यं धर्ममामनन्ति, तस्य तं प्रति आकाङ्क्षा अनुमीयते, सत्यामाकाङ्क्षायामेकवाक्यभावः, तस्मात् ततो विनियोगः—इति। किमिहोदाहरणम्? किं च प्रयोजनम्? आनुपूर्व्यता यागानामनुमद्वेष्वाम्नातेषु उपांशुयाजस्य क्रमे दन्धिर्नामासीति‡ समाम्नातः, तस्य आकाङ्क्षामुत्पाद्य तं न एकवाक्यता यात्वा तत्र एव विनियोगमर्हति—इति, तथा च ऐन्द्राग्रं कर्म वियातसजातस्य अस्ति भ्रातृयवतः, तस्य याज्यानुवाक्यायुगलमप्याम्नायते ऐन्द्राग्रं, ‘इन्द्राग्नी रोच नादिवः प्रवर्षणिभ्यः’—इत्येकम्, अपरं ‘इन्द्राग्नी नवतिं पुरः

* किं प्रयाजादेः फलं किं वा दर्शपूर्णमासयोः प्रकरणमित्याकाङ्क्षायाः सम्पन्नं वाक्यैकवाक्यतारूपं प्रकरणमिति साधवः ॥

† समानदेशत्व क्रम इति क्रमस्य स्वरूपः। तच्च द्विविधं पाठकृत-मथैकतश्च, तत्र पाठकृतमपि द्विविधं यथासङ्गं सन्निधिसेतीति साधवः। यत्र उदाहरणं तत एवावगन्तव्यम् ॥

‡ दन्धिर्घातकमायुधमिति साधवः ॥

भा श्लथद्वत्तम्—इति । तत्र लिङ्गादिनियोगे सिद्धे विशेषविनि-
योगो भवति, पूर्वं युगलं पूर्वस्य ऐन्द्राग्रस्य, उत्तरमुत्तरस्य—
इति, एतत् उदाहरणम् प्रयोजनञ्च—इति ॥ (३। ३। ५ अ०) ॥

समाख्यायाः विनियोजकताधिकरणम् ॥

सू आख्या चैवं तदर्थत्वात् ॥ १३ ॥

भा अथ किमेतावन्तेष्व विनियोगकारणानि?—इति । न इत्यु-
च्यते । किं च ? समाख्या चैवं स्यात् । कथं विनियोगकारणम् ?
—इति । समाख्या सति सम्बन्धे भवति, यथा पाचकः लावकः
—इति, तत्र पाचकशब्दमुपलभ्य पचतिना अस्य सम्बन्धः—इति
गम्यते, एवं वेदेऽपीति । अल्लतकार्यसम्बन्धं समाचक्ष्णं शब्दम्
उपलभ्य भवति सम्बन्धे तस्मिन् सम्यत्ययः । किमिहोदाहरणम्
प्रयोजनञ्च ? आध्वर्ययम्—इतिसमाख्यातानि कर्माणि अध्व-
युणो कर्तव्यानि, ह्यौचम्—इति च ह्यौचा ; एतत् उदाहरणम्
प्रयोजनञ्चेति ॥ (३। ३। ६ अ०) ॥

श्रुत्यादीनां पूर्वपूर्वबलीयत्वाधिकरणम् ॥

सू श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये
पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ॥ १४ ॥

भा उक्तानि विनियोगकारणानि, श्रुतिलिङ्गे वाक्यं प्रकरणं
स्थानं समाख्यानम्—इति, तेषां समवाये किं बलीयः?—इति
चिन्तयते,—एकार्थवृत्तित्वादाचो युगपत् असम्बन्धात् द्वयोर्द्वयोः
सम्प्रधारणा । तत्र श्रुतिलिङ्गयोः किं श्रुतिर्बलीयसी आहो-
स्विलिङ्गम्?—इति । किं ? पुनः अचोदाहरणम् । 'ऐन्द्रा

भा गार्हपत्यमुपतिष्ठते—इति, अत्र चिन्तयते,—किम्? इन्द्रस्य गार्हपत्यस्य वा उपस्थानं कर्तव्यम्—इत्यनियमः, उत गार्हपत्यस्यैव?—इति। यदि तुल्यबले एते कारणे ततो विकल्पः, अथ श्रुतिर्वलीयसी, गार्हपत्य एवोपस्थेयः।

का पुनः अत्र श्रुतिः? किं लिङ्गम्? श्रुतिगार्हपत्यशब्द-
अवणं, लिङ्गं पुनः, 'कदा च नस्तरीरसि नेन्द्रसञ्चसि दाशुषे'^{*}
—इति इन्द्रशब्दस्य विशिष्टदेवताभिधानसामर्थ्यम्। अथ किं
वाक्यं नाम?। संहृत्य अर्थमभिदधति पदानि वाक्यम्।
'यद्येवमिदमपि वाक्यम्,—ऐन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठते—इति,
इदमपि,—कदा च नस्तरीरसीति, उभयत्रापि संहृत्य अर्थ-
मभिदधति पदानि, तेन वाक्यस्य वाक्यस्य चैषा समधारणा, न
श्रुतिलिङ्गयोः, यदि वा श्रुतिलिङ्गवाक्यानि विवेक्तव्यानि, इदं
श्रुतिवाक्ययोः अन्तरम्, इदं लिङ्गवाक्ययोः—इति'।

तदभिधीयते,—यत् तावच्छब्दस्यार्थमभिधातुम् सामर्थ्यम्,
तल्लिङ्गं, यदर्घस्याभिधानं शब्दस्य अवणमात्रादेवावगम्यते, स
श्रुत्यावगम्यते, अवणं श्रुतिः। एकार्थम् अनेकं पदं वाक्यम्
—इत्युक्तमेव। तदेतत् सर्वेष्वव वाक्येषु समवेतं विविक्तञ्च
दृश्यते, इह तावत् कदाच नस्तरीरसि—इत्यनेन मन्त्रेण इन्द्र
उपस्थातव्यः—इति, नैतत् कस्यचित् शब्दस्य अवणादेवाव
गम्यते, नापि शब्दान्तरस्य समीपे उच्चारितस्य सामर्थ्यम्
अस्ति, येनैतत् अवगम्येत। एतस्या खलु चतुर्षु इन्द्रशब्दो
विद्यते, यो विशिष्टा देवतामवगमयितुम् शक्नोति, तथा च
अवगमितया प्रयोजनमस्ति—इति, तेन इन्द्रोपस्थाने इन्द्र-
शब्दः प्रयुज्यते, तदेकवाक्यत्वाच्चावशिष्टानि पदानि, न तु

* भो इन्द्र कदाचिदपि घानको न भवसि, किन्वाहुतिं यजमानाय प्रीयसे इत्यर्थ इति माधवः ।

भा. एवमस्यामृचि कस्यचिच्छब्दस्य सामर्थ्यात् गार्हपत्यस्य उप-
स्थानं भवति ; अथवादेव तु गार्हपत्यशब्दस्य, वयमग्निं प्रतीमो
न लिङ्गात् । यदि तु लिङ्गम् बलीयः, इन्द्र उपस्थातव्यः, यदि
गार्हपत्यश्रवणं, ततो गार्हपत्यः ।

एवं तर्हि लिङ्गवाक्ये विरुध्यमाने इह सम्प्रधार्ये न श्रुति-
लिङ्गे, इन्द्रशब्दस्य विशिष्टदेवताभिधानसामर्थ्यात् इन्द्रोप-
स्थानं, यदि लिङ्गम् बलीयः ; अथ नु वाक्यं गार्हपत्य
उपस्थेयः ; वाक्यं ह्येतत् ऐन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठते—इति ।
नैतदेवं, यद्यप्येतत् वाक्यं श्रुतिरप्यस्ति, या त्वत्र श्रुतिः, सा
लिङ्गेन विरुध्यते, न यत् वाक्यम् । कथं ? बलीयसि अपि हि
लिङ्गे, ऐन्द्रोपतिष्ठते—इत्येतत् गार्हपत्यशब्देन सङ्केतवाक्यता-
मुपेत्यैव, यदि हि नोपेयात्, ततो लिङ्गेन विरुध्येत, यस्तु
गार्हपत्यश्रवणादेवार्थः प्रतीयते, स लिङ्गे बलीयसि परित्यक्तो
भवति, नासावुपस्थानेन सम्बध्यते, तदा हि इन्द्रं गार्हपत्य-
शब्दोऽभिवदेत् अग्निसमीपं वा । अथ नु श्रुतिः प्रमाणं भवति,
ततो लिङ्गेन अवगतम् इन्द्रोपस्थानं बाधेत । तस्मात् श्रुति-
लिङ्गयोरेवैव विरोधो न लिङ्गवाक्ययोः—इति । अथ वा
नाधिकवाक्यत्वात् इन्द्रप्राधान्यं गार्हपत्यप्राधान्यं वा उप-
स्थानस्य । कुतस्तर्हि ? इन्द्रशब्दवत्त्वात् मन्त्रस्य, इन्द्रमा-
धान्यं, द्वितीयाविभक्त्यववणात् गार्हपत्यप्राधान्यं, तस्मात्
श्रुतिलिङ्गयोर्विरोधः ।

किं तावत्प्राप्तम् ?—तुल्यबले एते कारणे—इति । कथं ?
इदमपि कारणम्, इदमपि, (श्रुतिरपि लिङ्गमपि) । न हि
विज्ञानस्य विज्ञानस्य च कश्चिद्विशेष उपलभ्यते रूपं प्रति,
अस्य भङ्गुरस्य इव रूपम्, अस्य दृढस्य इव—इति । 'ननु
लिङ्गस्य भङ्गुरस्य इव रूपं, सविचिकित्सो हि भवति लिङ्गात्
प्रत्ययः, निर्विचिकित्सः अने' । नैतत् युक्तं, यतो लिङ्गात्

भा. सविचिकित्सः प्रत्ययः, तस्य च श्रुतेश्च नैव सम्प्रधारणास्ति ।
 यतस्तु खलु लिङ्गात् निर्वचिकित्सः प्रत्ययः स श्रुत्या विकल्पि-
 तुमर्हति । ननु नैव कदाचिल्लिङ्गात् निर्वचिकित्सः प्रत्ययो-
 ऽस्ति । नैतदेवम्,—एवं हि सति नैव लिङ्गम् नाम किञ्चित्
 प्रमाणम् अभविष्यत् । ‘कामं माभूत् प्रमाणं, भवति तु संशयो
 लिङ्गपरिज्ञातेषु अर्थेषु । यदि वा विस्पष्टमेवाप्रामाण्यं न
 संशयः । कथं ? । समर्थमेतत् इममर्थमभिनिर्वर्त्तयितुम्—इति
 लिङ्गादेतावत् अवगम्यते । न च, यत् यस्य निर्वर्त्तनायालं,
 तदसत्येव वचने तन्निर्वर्त्तयितुमर्हति, तस्मात् न लिङ्गम् विनि-
 योजकम्—इति ।

अत्राभिधीयते,—प्रकरणवतोऽर्थस्य सन्निधाने यमर्थमामनन्ति,
 स तस्य साधनभूतः— इत्येव गम्यते, कथं खलु उपकरिष्यति ?
 —इति सन्दिग्धमनि भवति सामर्थ्यात् परिनिश्चयः,—यत्रार्थं
 समर्थः, तत्र शक्यो विनियोक्तुम्—इति, तस्मात् भवति लिङ्गम्
 प्रमाणम्—इति । न च, लिङ्गप्रामाण्ये* विनिगमनायां हेतुः
 अस्ति । तस्मात् तुल्यबले एते कारणे, कदा च नस्तरीरसि—
 इतिलिङ्गात् इन्द्र उपस्थातव्यः, श्रुतेर्गार्हपत्यः—इति । अवि-
 रोधात् खल्वपीममेवार्थं प्रतिपद्यामहे । वलीयानपि हेतुर्विरुध-
 मानम् अवलीयांसम्बाधितुमर्हति नाविरुद्धम्, न च कश्चन
 विरोधो, यत् इन्द्रम् उपतिष्ठेतानेन मन्त्रेण, गार्हपत्यमपि ।

‘नन्वयमेव विरोधः,—सहत् उपस्थानं चोदितं, असहत्
 अभिनिवर्त्त्यते’—इति । ‘उपस्थेयमेदात् प्रतिप्रधानमावर्त्तन्ते
 गुणाः’—इतिन्याय एवैष न विरोधः । ‘अयं तर्हि विरोधः,—
 गार्हपत्ये उपस्थेयमाने अग्निवचन इन्द्रशब्दो गुणं क्रियायोगं
 चापेक्षमाणो भवितुमर्हति, इन्द्रे तूपस्थातव्ये निरपेक्ष इन्द्र-

भा. वचन एव, 'गौणमुख्ययोश्च मुखे सम्प्रत्ययाः'—इति । न—
इति ब्रूमः,—विरोधे मुखेन गौणः बाधेत, न च कश्चित्
विरोधः, युगपदभिधाने हि विरुध्येयाताम्, इह च अन्यस्मिन्
प्रयोगे अग्रिवचनोऽन्यस्मिन् इन्द्रवचनः । अतः तुल्यवले एते
कारणे—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—श्रुतिलिङ्गयोः श्रुतिर्वर्तीयसी । कुतः ?
'अर्थविप्रकर्षात्' । किमिदमर्थविप्रकर्षात्—इति ? । अर्थस्य
विप्रकर्षोऽर्थविप्रकर्षः । कः पुनरर्थः श्रुत्यर्थः ? । गार्हपत्यमुप-
निषत्ते—इति सन्निरूपः श्रुत्यर्थः, इन्द्र उपस्थेयः—इति विप्र-
रूपः । कथं ? । कदा च नस्तरीरसि—इत्यनेन मन्वेण इन्द्र
उपस्थातव्यः—इति न श्रूयते । सत्यपि इन्द्राभिधानसामर्थ्ये
वचनाभावात् अनुपस्थानीय इन्द्रः—इत्येव गम्यते ।

'ननु इदम् उक्तं,—प्रकरणान्नानोदङ्गम्—इत्यवगम्यते,
सामर्थ्यात् विनियोगः'—इति । नैतदस्ति, उक्तमेव एतत्,—
(१।२।५ सू०) धर्मस्य शब्दमूलत्वात् अशब्दमनपेक्षं स्यात्
—इति, यदेतत्प्रकरणं लिङ्गम् च उभयमप्येतदशब्दम् । न
चातिक्रान्तप्रत्यक्षविषये एवंलक्षणके अर्थे शब्दमन्तरेण परि-
च्छेदोऽवकल्पते । अतो मन्यामहे,—विप्ररूपं श्रुत्यर्थात् लिङ्गम्
—इति । 'यद्येव श्रुतिर्यत्र विरोधिनो न विद्यते, तत्रापि
न लिङ्गादर्धपरिच्छेदः, तत्रैतदेव नास्ति लिङ्गम् प्रमाणम्—
इति । कुतः एवेतेन श्रुतिर्विरोधस्यते—इति । तत्र श्रुति-
लिङ्गयोर्वर्तीयस्त्वं प्रति सम्प्रधारणैव नोपपद्यत—इति ब्रूमः ।

अत्र उच्यते,—इतिकर्तव्यताधिः प्रकरणवतीर्थस्य सन्निरु-
पनिषत्तितो मन्त्र आम्नानसामर्थ्यात् इतिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य
वाक्यजेयतामभ्युपेत्य एतेन मन्वेण यजेत—इति । किमुक्तं
भवति ? । यागेन अभीप्सिते साध्यमानेऽनेन मन्वेणोपकुर्यात्—
इति, न चान्तरेण इन्द्राभिधानम् अयं मन्त्र उपकृतम् शक्नोति.

भा. तेनैतदुक्तं भवति, अनेन इन्द्रोपमिधातव्यः—इति । अतः श्रुति-
मूल एवायमर्थः । 'यदि श्रुतिमूलो, न श्रुत्यन्तरेण बाधितुम्
शक्यः । तदेतत् लिङ्गं यदि वा नैव प्रमाणं, यदि वा श्रुत्या
विकल्पितुमर्हति'—इति । नाप्यप्रमाणं भविष्यति, नापि विक-
ल्पिष्यते—इति ब्रूमः । कथं ? श्रुतिलक्षणोभ्यमर्थ इत्युपपादितं,
तस्मात् न अप्रमाणम् । यतस्तु खल्वानुमानिकीमेकवाक्यतां
लिङ्गसामर्थ्यं च अपेक्ष्य श्रुतोभ्यमर्थः, यत्,—इन्द्रस्य उप-
स्थानमनेन मन्त्रेण—इत्यवगम्यते, प्रत्यक्षा तु श्रुतिर्गार्हपत्यम्
उपतिष्ठते—इति, स एषोर्ध्वविप्रकर्षः । प्रथमं तावत् लिङ्ग-
ज्ञानं, ततः सामर्थ्यात् शब्देन अयमर्थोऽभिहितो भवति, तदेतत्
श्रुतिविरोधे न अवकल्पते, विस्पष्टं हि अवगतमेतत्,—अनेन
मन्त्रेण गार्हपत्य उपस्थेयः—इति, तत्र विज्ञातमेतदेवमयमु-
करोति मन्त्रः—इत्येतस्मिंश्च निर्ज्ञाते ह्यतसामर्थ्ययोर्वाक्यप्रक-
रणयोर्नैतदेवं कल्पयितुम् शक्यम्, इन्द्रोपस्थानं शब्देनाभि-
हितम्—इति । तस्मात् अर्थविप्रकर्षात् श्रुत्या लिङ्गं बाध्यते
—इति ।

• विकल्पस्य चान्याय्यत्वात्, अन्याय्यश्च विकल्पः, तत्र हि
अभावः पक्षे नित्यवच्च, ऐन्द्रा गार्हपत्यम् उपतिष्ठते—इति
श्रूयमाणे यदभावः पक्षे परिकल्प्यते, तदश्रुतं भवति, श्रुतं
च हीयते, यावांश्च श्रुतस्थार्थस्योत्सर्गे दोषः, तावान् अश्रुत-
परिकल्पनायाम्, उभयत्र हि प्रसिद्धिर्बाध्यते । तस्मात्
अन्याय्यत्वात् विकल्पस्य श्रुतिलिङ्गयोः श्रुतिर्बलीयसी इत्यव-
गच्छामः ।

• अथ यदुक्तं,—सति विरोधे न्याय्यो बाधः, न च अवास्ति
विरोधः—इति, अयमस्ति विरोधः, यदह्यतसामर्थ्ययोर्वाक्य-
प्रकरणयोः इन्द्रोपस्थानवाचिनी श्रुतिर्भवति, ह्यतसामर्थ्ययोस्तु
नावकल्पते, न च वाक्यप्रकरणाभ्यां युगपत् ह्यतसामर्थ्याभ्याम्

भा. अहृतसामर्थ्याभ्यां च शक्यं भवितुम्, तस्मात् विरोधः, विरोधे च श्रुतिर्लिङ्गाद्वलीयसी—इति ।

लिङ्गवाक्ययोर्विरोधे किमुदाहरणम् ? । 'स्थोनन्ते सदनं क्षणमि धृतस्य धारया क्षेपेवं कल्पयामि । तस्मिन् सीदास्यते मतिरिष्ट ब्रौह्मोणां मैथ समनस्यमानः'—इति । अत्र सन्देहः,—किं कृत्वो मय उपस्तरणे पुरोडाशासादने च प्रयोक्तव्यः, उत कल्पयाम्यन्त उपस्तरणे, तस्मिन् सीदेत्येवमादिः पुरोडाशासादने ?—इति । यदि वाक्यं वलीयः, ततः कृत्व उभयत्र । कथं ? । सुयेवं कल्पयामि—इत्येतदपेक्ष्य, तस्मिन् सीदेत्येवमादिः पूर्वेण एकवाक्यतामुपैति,—यत् कल्पयामि, तस्मिन् सीद—इति । अथ लिङ्गं वलीयः, ततः कल्पयाम्यन्तः सदनकरणे । कथं ? । स्थोनन्ते सदनं क्षणमि—इति, सदनकरणमभिवदितुमयमलम्—इति । तस्मिन् सीदेत्ययमपि पुरोडाशं सादयितुम्—इति, सादने विनियुज्यते ।

किं तावत्प्राप्तम् ?—तुल्यवले एते कारणे—इति, यथा लिङ्गं प्रति श्रुतेर्वलीयस्त्वमुक्तं, न तथा वाक्यं प्रति लिङ्गस्य उच्यते । अथ वा वाक्यमेव लिङ्गाद्वलीयः । कुतः ? । तद्वि श्रुत्यापि बाध्यते, न च वलीयः कारणं शक्यते बाधितुम् । तेन अस्य भङ्गुरतामध्यवस्यामः, यस्त्वेकेन बाध्यते, शक्योऽस्यान्येनापि बाधितुम्—इति ।

एवं प्राप्तिं व्रूमः,—लिङ्गवाक्ययोर्लिङ्गं वलीयः—इति । पुनः ? । 'अयं विप्रकर्षात्' । कोऽर्थविप्रकर्षः ? । प्रकरणवत् सन्निधावाग्नानात् दर्शपूर्णमासाङ्गमयं मयः—इत्यवगम्यते, तस्मिन् सीदेति पुरोडाशासादनाभिधानसामर्थ्यात् सादने विनियुज्यमाने हृतसामर्थ्यं मयाग्नानम्—इति, नास्ति प्रमाणं येनोपस्तरणेषु विनियुज्येत । तथा स्थोनन्ते सदनं क्षणमि—इत्येवमपि प्रस्तरणान्नानसामर्थ्यादेव दर्शपूर्णमासाङ्गतामापन्नः

भा. सामर्थ्यादेवोपस्तरणे विनियोगात् कृतप्रयोजनो न पुरोडाशा
सादने विनियोगमर्हति, न हि अस्मिन् वियुज्यमानस्य
किञ्चित् अपि प्रयोजनमस्ति । एवमुपस्तरणे तस्मिन् सीदे-
त्यस्य नास्ति सामर्थ्यम् । पुरोडाशासादनेऽपि स्योनन्ते
इत्यस्य । पूर्वेण एकवाक्यतामुपेत्योपस्तरणे सामर्थ्यं, पूर्वस्य
परेण एकवाक्यत्वात् सादने, न तु स्वरूपेण उभयोः, तदेयोर्ध-
विप्रकर्षः ।

यत्तु स्योनन्ते इत्यस्य प्रत्यक्षं सदनकर्मणोऽभिधानसामर्थ्यं,
तत् मुख्यम् । तस्मिन् सीदेत्यस्य पुनः पूर्वेण स ह एकवाक्यता-
मुपगतस्य भवति जघन्यं । तदत्र पूर्वस्य मन्त्रस्य अभिधान-
सामर्थ्यात् उपस्तरणे विनियोग उक्तो भवति—इति, सन्निहृष्टो
लिङ्गस्य श्रुत्यर्थः, उत्तरस्य तु उपजनितेऽभिधानसामर्थ्यं ततः
श्रुत्यर्थः—इति लिङ्गान्तरितो विप्रहृष्टो भवति । एवम् उत्तरस्य
सादने सन्निहृष्टः पूर्वस्य च लिङ्गान्तरितः । तस्मात् अर्थ-
विप्रकर्षात् लिङ्गवाक्ययोर्लिङ्गं बलवत्तरम्, ततः स्योनम्—इत्येष
शब्दो यद्यपि उत्तरेण आकाङ्क्षितः—इति सादनेऽपि प्रयोग-
मर्हति, तथापि भित्वा वाक्यम् उपस्तरणे एव विनियोक्तव्यः,
तस्मिन् सीदेत्येष च सादने ।

‘ननु स्योनन्ते इत्यस्य शब्दस्य यद्येव उपस्तरणाभिधान-
सामर्थ्यम्, एवम् उत्तरेण एकवाक्यतामुपगन्तुम् सामर्थ्यम्,
सामर्थ्यं च लिङ्गम्—इत्युच्यते । तस्मात् भिद्यमाने वाक्ये
लिङ्गमेव बाधितं भवति—इति* । सत्यमेवम्, एतदपि लिङ्गं,
लिङ्गमपि खल्वेतदेवंलक्षणकं विप्रहृष्टार्थमेव भवति, लिङ्गात्
एकवाक्यता, तस्मात् अभिधानसामर्थ्यं, ततः श्रुत्यर्थः—इति
विप्रहृष्टार्थता, विप्रहृष्टार्थता च बाधने हेतुभूता । तस्मात् न

* बाधितं भवतीति जघन्यम् । एतदपीति पाठः का० सं० पु० ।

भा उत्तरेणैकवाक्यतां यास्यति—इति । एवं तस्मिन् सोदेत्युत्तरं न पूर्वेणापि ।

अपि च उत्तरेणैकवाक्यतामुपगतस्य न किञ्चित् अपि दृष्ट मस्ति कार्यं, उपस्तरणप्रत्यायनन्तु दृष्टम् । कुतः? । श्रुतत्वात् उपस्तरणस्य सादनस्य च । एवम् उत्तरस्य सादनप्रत्यायनं, न तु पूर्वेणैकवाक्यतायां, न च, एतौ पूर्वोत्तराभ्याम् एक वाक्यतामन्तरेण पृथक् यथायथं कार्ये न कुतः । तस्मात् पूर्वः पूर्वच विनियोजनीयः, उत्तरः उत्तरच—इति ।

‘अथ यदुक्तं,—श्रुत्यापि तद्वाधितम्—इति वाक्येन अपि तद्वाधितमम्—इति । नैतदेवं, न हि वाधितस्यान्येन अपि वाधनमेव न्याय्यं, वाधितं हि अनुगृहीतव्यमर्थवत्त्वाय, श्रुतिं प्रति विप्रकृष्टार्थम्, वाक्यं प्रति सन्निकृष्टार्थम्, तस्मात् लिङ्गं बलीयः—इति ।

अथ वाक्यप्रकरणयोर्विरोधे कथम्?—इति । किं पुनः प्रकरणं नाम? । कर्तव्यस्य इतिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य वचनं प्रकरणम् । प्रारम्भो हि स तस्या वचनक्रियायाः, स एष विधादिविधत्तापेक्षः । वाक्यनूतमेव । तयोर्विरोधे किमुदाहरणम्? । सूक्तवाकनिगदः । तत्र हि पौर्णमासीदेवता अमावास्यादेवताद्याम्नाताः, ताः परस्परेण एकवाक्यतां नाभ्युपयन्ति, तत्र लिङ्गसामर्थ्यात् पौर्णमासीप्रयोगात् इन्द्राग्रिशब्द उत्कृष्टयोःमावास्यायां प्रयोक्तव्यः । अथ इदानीं सन्दिह्यते, योगस्य शेषः ‘अवीदधेतां महोज्यायो क्राताम्—इति, स किं यावत्कृत्वः सूक्तवाक्ये समास्नातः, तावत्कृत्वः उभयोः पौर्णमास्यमावास्यायोः प्रयोक्तव्यः, प्रकरणं बलवत्तरम्—इति, उत यत्र इन्द्राग्रिशब्द उत्कृष्टस्य नीतः, तत्र एव प्रयोक्तव्यः, वाक्यं बलवत्तरम्—इति । एवं सर्वेषु संशयः ।

किं तावत्प्राप्तम्?—बुद्ध्ययने एते कारणे—इति । कुतः? ।

भा. इतरचापि आकाङ्क्षा, इतरचापि, तुल्यायाम् आकाङ्क्षार्था
नास्ति विनिगमनार्थां हेतुः, तस्मात् तुल्यवन्ने—इति । अथ
वा वाक्यं दुर्बलं, बाधितं हि तल्लिङ्गेन ।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—प्रकरणात् वाक्यं वक्ष्यः । कथं? । अर्थ-
विप्रकर्षात् । कोऽर्थविप्रकर्षः? । वाक्ये एकैकं पदं विभज्यमानं
साकाङ्क्षं भवति, ह्यत्स्नं परिपूर्णं भवति, तत्र प्रत्यक्ष एकवाक्य-
भावः, प्रकरणे त्वप्रत्यक्षः । कथम्? । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य
समीपे उपनिपतितं पूर्णमिति* तस्य प्रकृतस्य साकाङ्क्षत्वमव-
गम्यते, नैकवाक्यभूतम् इत्यनुमीयते । एकवाक्यतया चाभि-
धानसामर्थ्यमवकल्प्य अभिहितोऽर्थमेवं भवति—इति परि-
कल्पना । एषोऽर्थविप्रकर्षः,—यत् वाक्यस्य समासत्रा श्रुतिः,
प्रकरणस्य विप्रकृष्टा । तस्मात् ‘सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति’
—इति पौर्णमासीदेवतावाचिनाममावास्यादेवतावाचिनां च
निष्कृष्य प्रयोगे तच्छेषाणामपि निष्कृष्य प्रयोगः, तेन यद्यपि
प्रकरणसामर्थ्यान् पौर्णमासीदेवतापदशेषाणां अमावास्या-
देवतावाचिभिः सद्य एकवाक्यता अनुमीयते, प्रत्यक्षा तु
अमावास्यादेवतापदैः सद्य, न च प्रत्यक्षविरोधे अनुमानं
सम्भवति । अर्थवति च प्रकरणे सञ्जाते न निराकाङ्क्षाणाम्
आकाङ्क्षा शक्योपपादयितुम् ।

अथ यदुक्तं,—लिङ्गेनापि हि तद्वाध्यते, अतः प्रकरणेनापि
बाधितव्यम्—इति, न, यदन्येनापि बाध्यते, तत् भङ्गुरमन्य-
चापि इत्यवगन्तव्यम् । अथ भङ्गुरं, प्रमाणमेव नाभविष्यत्;
किञ्चित् तु प्रति कस्यचित् प्रभावः, वाक्यस्य प्रकरणं प्रति
बाधकशक्तिर्न तु लिङ्गं प्रति, लिङ्गं प्रति विप्रकृष्टार्थमेतत् प्रकरणं
प्रति सन्निकृष्टार्थं, तेन वाक्येन प्रकरणं बाध्यते—इति ।

भा. अथ प्रकरणस्य क्रमस्य च विरोधे किमुदाहरणम्? राज
 स्यप्रकरणोऽभिषेचनीयक्रमे शौनःशेषाख्यानादि आम्नातं, यदि
 प्रकरणं बन्धवत्, सर्वेषां तदङ्गम्, यदि क्रमः, अभिषेचनीयस्यैव।
 किं तावत्प्राप्तम्?—तुल्यबले एते कारणे—इति। कुतः? न
 तावत् विशेषमुपलभ्यमानहे, येनावगच्छाम इदं बलीयः—इति।
 तस्मात् तुल्यबले एते कारणे—इति। अपि च प्रकरणं वाक्येन
 बाधितं, तस्मात् बाधिते क्रमेणापि—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—प्रकरणं क्रमात् बलीयः। कुतः? अर्थ-
 विप्रकर्षात्। कोऽर्थविप्रकर्षः? प्रकरणवतः साकाङ्क्षत्वात्
 तत्सन्निधानाग्नातेन परिपूर्णेनाभ्यवकल्पेन एकवाक्यत्वम्, न
 तु क्रमवतः क्रमे आम्नातेन, अनेकस्याग्नायमानस्य सन्निधि-
 विशेषाग्नातमात्रं हि क्रमः, तत्र सन्निधिविशेषाग्नातसाम-
 र्थ्यात् क्रमवतः सन्निधावाग्नातस्यानुपलभ्यमानमेव आकाङ्क्षा
 वत्त्वमस्ति—इत्यवगतव्यम्। प्रकरणे तु प्रकरणवतः प्रत्यक्षम्,
 न च प्रकरणवता क्रमवता च यौगपदेन एकवाक्यता सम्भव-
 त्याग्नातस्य—इति विरोधः। तत्र प्रकरणे प्रत्यक्षं साकाङ्क्षत्वं,
 क्रमः आनुमानिकं बाधितुमर्हति, साकाङ्क्षत्वात् एकवाक्यत्वम्,
 एकवाक्यत्वादभिधानसामर्थ्यं, सामर्थ्यात् श्रुत्यर्थः—इति सन्नि-
 द्धयः प्रकरणस्य श्रुत्यर्थो, विप्रलक्ष्यः क्रमस्य। तस्मात् क्रम-
 प्रकरणयोः प्रकरणं बलवत्तरम्—इति।

अथ यदुक्तं,—वाक्येनापि हि तत् बाधितम्, अतोऽग्न्येनापि
 तत् बाधितव्यम्—इति, नैतत्, बाधितस्यानुपलब्धौ न्याय्यो, न
 बाधितं बाधितव्यम्—इति।

अथ क्रमसमाख्योर्विरोधे किमुदाहरणं? किं बलवत्तरम्?—
 इति। पौरोडाशिकम्—इतिसमाख्याते काण्डे साधारण्यक्रमे
 'शुन्धधं दैव्याय कर्मणे'—इति शुन्धनार्थो मयः समाग्नातः।
 तत्र सन्निधौ,—किं समाग्नातस्य बलीयस्त्वात् पुरोडाश-

भा. पाचाणां शुब्धने विनियोक्तव्यः, उत क्रमस्य वलीयस्त्वात्
साम्नाय्यपाचाणाम्?—इति । किं तावत्प्राप्तम्?—तुल्यबले एते
करणे स्याताम् । कुतः? । अविशेषात्, यदि वा समाख्यैव
वलीयसी, बाधितो हि क्रमः प्रकरणेनापि इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—क्रमो वलीयान् । कुतः? । अर्थविप्रकर्षात् ।
कः पुनरवार्थविप्रकर्षः? । निर्ज्ञाते प्रकरणेन केनापि सदैक-
वाक्यत्वे यत् सन्निधावाग्नायते, तत्र आकाङ्क्षां परिकल्प्यते,
नैकवाक्यतेत्यवगम्यते, लौकिकश्च शब्दः समाख्या, न च, लोक
एवंविधेषु अर्थेषु प्रमाणम् । * तस्मात् क्रमो वलीयान्—इति ।

‘यद्येवं भवत्येवंलक्षणकेषु क्रमेण विनियोगः, न तु अर्थ-
विप्रकर्षात् क्रमो वलीयान् । कथं? । द्वयोर्हि प्रमाणयोर्वलीयस्त्वं
प्रति सम्प्रधारणं, नचैवं सति समाख्या प्रमाणं, लौकिकत्वात्
शब्दस्य, पुरुषस्य प्रमाणता भवति—इति’ । नैष दोषः, न
अवाङ्गभावः पुरुषप्रामाण्यात् गम्यते, पौरोडाशिकशब्दः एतस्य
काण्डस्य,—इत्येतदत्र पुरुषप्रमाणकं, भवति च अस्मिन् अर्थे
पुरुषः प्रमाणं, यथा साम्नाय्यक्रमे आग्नानं पुरुषप्रमाणकम्,
यथाप्रकरणमेकवाक्यत्वं, वेदशब्दश्चायम्—इति । न हि एते-
रनिन्द्रियविषया अर्था उपपद्यन्ते, एष्वभियुक्तानां प्रामाण्यं, ये
त्वनिन्द्रियविषयास्तेष्वभियुक्ता न प्रमाणम् । तस्मात् समाख्या
कारणं, कारणत्वे च सति वलीयस्त्वं परीक्ष्यम्—इति ।

‘उच्यते अर्थविप्रकर्षः तर्हि वक्तव्यः समाख्यायाः’ । अयमर्थ-
विप्रकर्षः । उपदिश्यते हि क्रमे समाग्नानात् साम्नाय्यसम्बन्धो,
नोपदिश्यते समाख्यायां, शब्दमुच्चार्यमाणम् उपलभ्य अर्थापत्त्या
नूनमस्ति—इति कल्प्यते । तस्मात् पूर्ववेदवार्थविप्रकर्षात्
क्रमेण सामाख्या बाध्यते—इति ।

‘अथ यत्तत्र तत्रोच्यते,—इदमनेन बाध्यते, इदमनेन—इति
तत्र यत् बाध्यते, तत् किं बाधकविषयं प्राप्तम् उत अप्राप्तम्?—

भा इति । किं चात. ? । यद्यप्राप्तम्, किं बाध्यते ? । अथ प्राप्तं, कथं शक्येत बाधितुम् ? । प्राप्तं बाधकविषयं पूर्वविज्ञानम्—इति ब्रूम. । कथं ? । सामान्यस्य कारणस्य विद्यमानत्वात् । अथ कथं निवर्तते ? । मिथ्याज्ञानम्*—इति प्रत्ययान्तरं भवति । किन्तु खल्वमिथ्याज्ञानस्य स्वरूपं ? । यस्य बाधकं प्रत्ययो विमृष्यमाणस्य अपि नोपपद्यते, न तत् मिथ्या । तदेतेषां श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्यानानां पूर्वं, पूर्वं यत्कारणं तत्परं परं प्रति वक्ष्यो भवति, न एतस्य उत्पन्नस्य विमृष्यमाणस्य बाधकं विज्ञानान्तरमस्ति । तस्मात् तेषां समवाये (विरोधे) परदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्—इति ॥ (१. १. ७ अ०) ॥

दादशोपसत्ताया अहीनाङ्गताधिकरणम् ॥

स अहीनो वा प्रकरणादहीनः ॥ १५ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य समामनन्ति,—‘तिस्र एव साङ्ख्योपसदो दादशाहीनस्य’—इति । तत्र सन्देहः,—किं दादशोपसत्ता ज्योतिष्टोमे उक्त अहीने ?—इति । किं तावत्प्राप्तम् ?—ज्योतिष्टोमे—इति । कुत ? । प्रकरणात्, एष प्रकरणमनुगृहीतं भवति । ‘ननु पाक्षेन बाध्यते’ । न बाध्यते, अहीनशब्देन ज्योतिष्टोमं वक्ष्याम. । कुत ? । न हीयते इत्यहीनः, दक्षिण्या क्रतु-करणैर्वा फलेन वा न हीयते, तेन ज्योतिष्टोमो हीनः । वा-शब्देन संशयो निवर्त्यते ॥

* नैव निवर्तते मिथ्याविज्ञानमिति प्रत्ययान्तरं भवति । किन्तु यद्यपि मिथ्याज्ञानस्य स्वरूपमिति पाठः का० सं० पू० ।
† यत्नेन यज्ञा निष्पाद्यतात् साङ्ख्यो ज्योतिष्टोमः, दीक्षादिवगादृष्टं शोभाभिव्यक्तिवशात् पूर्वे कर्तव्या शोभा उपसद इति बाधकः ।

स. असंयोगात्तु मुख्यस्य तस्मादपहृष्येत ॥ १६ ॥ (सि०) ॥

भा. अपहृष्येत द्वादशोपसत्ता । कुतः ? । असंयोगात् ज्योतिष्टो-
मेन । कथम् असंयोगः ? । अहीनेन एकवाक्यत्वस्य प्रत्यक्षत्वात् ।
'ननु ज्योतिष्टोमः एव गौणोऽहीनः' । न,—इत्युच्यते, न हि
मुख्यसम्भवे गौणग्रहणमर्हति । 'ननु नञ्समासो भविष्यति' ।
न—इति ब्रूमः,—तथा सति आदुमदात्तोऽहीनशब्दोऽभविष्यत्,
मथोदात्तस्त्वयम् । तस्मात् प्रकरणं बाधित्वा अहीनस्य धर्मः ।

अपि च व्यपदेशो भवति,—तिष्ठ एव साक्रस्योपसदो
द्वादशाहीनस्य—इति, यद्यन्यः साक्रोऽन्यश्चाहीनः, तत एव
व्यपदेशोऽवकल्पते, विद्यते च व्यपदेशवचनं, तस्मात् अहीनस्य
—इति ॥ (३।३।८ अ०) ॥

कुलायादौ प्रतिपदोरुत्कर्षाधिकरणम् ।

स. द्वित्वबहुत्वयुक्तं वा चोदनात्तस्य ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'युवं हि रथः सःपती—इति द्वयो-
र्यजमानयोः प्रतिपदं* कुर्यात् । एते अष्टमिन्दवः†—इति
बज्रभ्यो यजमानेभ्यः'—इति । तत्र सन्देहः,—ज्योतिष्टोमे एव
निविशेते प्रतिपदौ, उत द्वियज्ञं कञ्चित्कुलायादिं बज्रयज्ञश्च
द्विराचादिमुत्क्रष्ट्ये?—इति । किं प्राप्तम्?—द्वित्वबहुत्वयुक्ते
(ज्योतिष्टोमेन असंयोगात्) उत्पद्येयातां प्रतिपदौ, न हि

* स्तोत्रम्य उपक्रमे पठनीयाष्टधं प्रतिपच्छब्दोऽभिधत्ते इति साधवः ।

† अष्टमिन्दवः इति पाठः व्या० सो० पु० । तथा का० ~ ~
एवं उत्तरत्रापि ।

भा ज्योतिष्टोमस्य द्वौ यजमानौ श्रूयते, यथा कुलायस्य, 'एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्'—इति ॥

स पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् ॥ १८ ॥ (पू०) ॥

भा इति चेत् पश्यसि—प्रतिपदावुत्कष्ट्ये—इति, नैतदेव, प्रकरणं हि बाधेत। 'वाध्यताम् असयोगात् द्वाभ्यां यजमानाभ्या यङ्भिश्च यजमाने ज्योतिष्टोमस्य'—इति चेत्। असत्यपि वचनेर्भात् द्वौ यजमानौ भविष्यत, य एको न श्रूयति सहाय स उपव्रस्यते, अवश्ययष्ट्ये सति यथा शक्यते, तथा यष्ट्यम्—इति बाधित्वापि काचित् माप्ति यजमान सहाय मुपादास्यते, एव प्रकरणे प्रतिपदौ भविष्यत तस्मात् नोत्पद्ये—इति ॥

स न प्रकृतेरेकसयोगात् ॥ १९ ॥ (पू० नि०) ॥

भा प्रकृतिर्हि ज्योतिष्टोम, प्रत्यक्षा तत्र धर्मा आग्नाता, न कुतश्चिदोदकेन प्राप्यन्ते। किमतः? यद्येवं, प्रत्यक्षश्रुता न शक्या बाधितुम्। विहृतौ तु चोदकमाता सन्त आनुमानिका बाधेरन्—इति विवक्षितं हि ज्योतिष्टोमे कर्तुरेकत्व प्रत्यक्षश्रुतं न सामर्थ्येन बाधेत। यत्रापि हि अवश्यकर्तव्यता श्रूयते, तत्राप्येक एव यजमान श्रूयते—'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत'—इति। तस्मात् ज्योतिष्टोमात् उत्कष्ट्ये एते प्रतिपदौ—इति।

'अथ कस्मात् पक्षप्रतिपादयमेतत् न भवति?' एकस्यां पक्षाय यजमाने च युवं हि स्य—इति, द्योर्बहुषु वा पक्षीषु एते अक्षयमिन्द्रव—इति यथा 'द्यौमे यसानावग्निमादधीयाताम्'—इति द्यौमवसानपरं वचनम् एयमिच्छापि प्रतिपदिधानपरम्। उच्यते, असम्भवात् तत्र भृगुरस्य, सप्तसाग्रद ५ गो

भा. वाचकः स्त्रियाम्, इह तु द्वियज्ञे यज्ञयज्ञे च सम्भवति न लक्षणाशब्दो भवितुमर्हति, यज्ञभ्यो यजमानेभ्यः—इति । यदभ्येतत् द्विवचनं द्वयोर्यजमानयोः—इति, अत्रापि यः, एक-शेषः पुमान् स्त्रियेति अत्रापि लक्षणाशब्द एव । अपि च, उपास्मै गायता नर इति प्रतिपदोर्निरवकाशत्वमेव स्यात्, तस्मात् उत्क्रष्ट्ये एते प्रतिपदौ—इति सिद्धम् ॥ (३।३। ६ अ०) ॥

जाघन्या अनुत्कर्षाधिकरणम् ।

ख. जाघनी चैकदेशत्वात् ॥ २० ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति’*—इति । तत्र संशयः,—किमेतद्विधानं दर्शपूर्णमासयोः, उत पत्नी?—इति । कथं दर्शपूर्णमासयोः? कथं च पत्नी?—इति । यदि जाघन्यां पत्नीसंयाजा विधीयन्ते ततः उत्कर्षः, अथ पत्नीसंयाजेषु जाघनी विधीयते ततो दर्शपूर्णमासयोरेव । किं प्राप्तम्?—उत्कर्षः । कुतः एतत् उत्हास्यते? । जाघन्यां पत्नी-संयाजा विधीयन्ते—इति । कथं? । शब्दात् पत्नीसंयाजानां विधानम्, वाक्येन जाघन्याः, शब्दस्य बलवान् न वाक्यम् ।

‘ननु पत्नीसंयाजा विहिता एव’ । सत्यं विहिताः, जाघ-न्याम् इदानीं पुनर्विधीयन्ते, सा तत्सम्बद्धा कर्तव्येत्युच्यते । एवं सति दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजा विनापि जाघन्या न विगुणाः, जाघनी तु तत्र प्रतिपाद्यते । तस्मात् यत्र जाघनी प्रयोजनवती तत्र तस्याः प्रतिपत्तिः, पत्नी च सा, न दर्शपूर्ण-

* जाघनी पत्नीः पुच्छं । पत्नीशब्दोऽत्र व्याज्जतिचतुष्टयात्मकस्य कर्मणो नामधेयैकदेश इति साधवः ।

भा मासयोः । एकदेशस्य जाघनी प्रतिपाद्यमाना न पशुं प्रयोच्यते,
तस्मात् अस्य विधानस्य उत्कर्षः—इति ॥

स चोदना वाऽपूर्वत्वात् ॥ २१ ॥ (सि०) ॥

भा जाघनी वा पत्नीसंयाजानां गुणत्वेन विधीयते । कुतः ?
अपूर्वत्वात्, अत्राप्ता जाघनी पत्नीसंयाजानां गुणत्वेन । तत्र
सुशब्देन पत्नीसंयाजा विहिता जाघनीसम्बन्धः तेषाम् अवि-
हितः, यत्र च सम्बन्धो विधीयते, तत्र अन्यतरस्य अन्यत्र
विधानं, सम्बन्धो नान्तरीयकः । यदा सम्बन्धस्य विधानं
नान्तरीयकौ सम्बन्धिनौ, यत्रोभौ लक्षणत्वेन, तत्र सुशब्देन
सम्बन्धो विधीयते, यत्र त्वन्यतरो लक्षणत्वेन, तत्र एकं लक्ष-
यित्वा अन्यतरो विधीयते, लक्षणत्वेन च अत्र पत्नीसंयाजाः ।
कथम् अवगम्यते ? पत्नीसम्बन्धात् न सर्वे यागाः, कश्चिदेव
तु लक्ष्यते यस्य पत्न्यः साधनत्वेन ।

‘अथ कस्मात् न जाघनीं लक्षयित्वा पत्नीसंयाजा विधी-
यन्ते ? । न अस्य अपूर्वस्य यागस्य पत्न्यः शक्यन्ते विधातुम्,
जाघन्यां तु लक्ष्यमाणायां यागे सपत्नीके विधीयमाने वाक्य-
भिधेयत्वात् । अस्ति त्वत्र विहितः सपत्नीको यागो यः पत्नीभि-
र्लक्ष्यते । तस्मात् यागं लक्षयित्वा जाघनी विधीयते । यत्तु,
वाक्येन जाघनीविधानं श्रुत्या यागस्य—इति, तदिह याग-
विधानं न सम्भवति—इत्युक्तम्, वाक्यभेदप्रसङ्गात्, तस्मात्
जाघनीविधानम् । एवञ्चेत् दर्शपूर्णमासयोर्विना जाघन्या
विगुणः पत्नीसंयाजयागः स्यात्, तस्मात् अनुत्कर्षः—इति ॥

स एकदेश इति चेत् ॥ २२ ॥ (आभा०) ॥

भा अथ यदुक्तं,—एकदेशो जाघनी न पशुं प्रयोच्यते, तस्मात्
उत्कर्षः—इति, तत् परिहर्तव्यम् ॥

स. न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥ २३ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयोजाधनी शास्त्रेण उच्यते । एवं पशोर्निष्पन्नया जाधन्या पत्नीसंयाजा यष्ट्याः—इति । अविशिष्टा जाधनी विधीयते, सा सम्भवति दर्शपूर्णमासयोः क्रीत्याप्यानीयमाना, तस्मात् अनुत्कर्षः—इति ॥ (३।३।१० अ०) ॥

सन्तर्दनस्य संस्थानिवेशाधिकरणम् ॥

स. सन्तर्दनं प्रकृतौ क्रयणवदनर्थलोपात् स्यात् ॥
२४ ॥ (पू० पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे अभिषवणफलके प्रकृत्य श्रूयते,—‘दीर्घसोमे सन्तृद्यात् धृत्या’*—इति । तत्र सन्देहः,—किं सन्तर्दनं ज्योतिष्टोमे एव, आहोस्विदीर्घकालेषु सोमेषु †—इति । उच्यते,—नैतत् लुप्ताद्यं प्रकृतौ, तस्मात् नोत्हास्येत—इति । ‘आह नन्वसन्तर्दनमपि श्रूयते,—असन्तृणे भवत—इति’ । उच्यते,—क्रयणवत् विकल्पिष्यते, यथा ‘हिरण्येन क्रीणाति गवा क्रीणाति’—इत्येवमादीनां विकल्पः, एवमत्रापि विकल्पो भविष्यति,—सन्तर्दनम् असन्तर्दनं वा भविष्यति—इति ॥

स. उत्कर्षो वा, ग्रहणाद्विशेषस्य ॥ २५ ॥ (पू० सि०) ॥

भा. उत्हास्यते वा सन्तर्दनं, गृह्यते हि विशेषो,—‘दीर्घसोमे

* सोमयागविशेषो दीर्घसोमः । अन्योन्यवियोगेन शैथिल्यं मा भूदिति दृढसंश्लेषः सन्तर्दनमिति माधवः ॥

† एते चात्र पक्षाः सम्भवन्ति,—किं शुद्ध एव ज्योतिष्टोमे निवेशः, दीर्घयजमानके वा, अथ वा उत्थादिसंस्थालेव, अथवा सत्राधीनयोरेव, उत ज्योतिष्टोमान्यमात्रे? इति वार्तिकम् ।

भा. सन्तुद्यात्—इति ; ज्योतिष्टोममपेक्ष्य सत्राणि कालतो दीर्घाणि भवन्ति ॥

ख. कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ २६ ॥ (आ०) ॥

भा. नोत्हायेत वा सन्तर्दनं ज्योतिष्टोमात् । एवं प्रकरणम् अनुगृहीतं भवति, दीर्घसोमशब्दस्य कर्तृतो भवित्यति,—दीर्घस्य यजमानस्य सोमो दीर्घसोमः—इति ॥

ख. कर्तृतो वार्थवादानुपपत्तेः स्यात् ॥ २७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नचेतदस्ति,—ज्योतिष्टोमे सन्निवेशः—इति, दीर्घकाले सोमे क्रियेत, कर्तृत एव दीर्घत्वं न कर्तृतः । कुतः ? । अर्थवादानुपपत्तेः, धृत्या—इत्यर्थवादो भवति, धारणायेत्यर्थः, दीर्घकाल सोमे पुनःपुनर्यावभिरभिहन्यमाने सोमाभियवणफलकयोर्द्वारणशब्दायाम् धृत्या—इत्यर्थवाद उपपद्यते, तस्मात् उत्कर्षः—इति ॥

ख. संस्थासु* कर्तृवद्धारणार्थाविशेषात् ॥ २८ ॥ (पू०) ॥

भा. इदं पदोत्तरं सूत्रम् । कानि पदानि ? । ‘अथ किमर्थम् संस्थासु न निवेशः ? तथा सति प्रकरणम् अनुगृहीतम् भवित्यति, दीर्घसोमशब्दस्य ; दीर्घकालो हि अग्निष्टोममपेक्ष्योक्त्यादिषु संस्थासु सोमः’—इति । उच्यते,—न संस्थासु दीर्घकालत्वेऽपि सोमेत्यर्थवाद उपपद्यते, तावानेव हि तत्र सोमो ‘दशमुष्टीर्मिमोते—इति’ वचनात् । तत्र धारणे न विशेषः कथित्, तस्मात् उत्कर्ष एव ॥

स. उक्त्यादिषु वार्थस्य विद्यमानत्वात् ॥ २९ ॥ (सि०) ॥

भा. नचैतदस्ति,—उत्कर्षः—इति, प्रकरणानुग्रहादनुत्कर्षः, दीर्घ-
सोमशब्दश्च दीर्घकालत्वात् उपपद्यते, तत्राप्यधिकोऽग्निष्टोमात्
सोमः, प्रदानानि हि विवर्द्धन्ते, तान्यविष्ट्वे प्रदेये न शक्यानि
विवर्द्धयितुम्, पूर्णं च ग्रहे ग्रहशब्दो भवति, तेन न शक्यानि
न्यूनानि पात्राणि ग्रहीतुम् । तस्मात् दारणाशङ्कायां धारण-
माशंसितव्यं भवति, तत्र धृत्या—इत्युपपद्यते—इति ॥

स. अविशेषात् स्तुतिर्यथेति चेत् ॥ ३० ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् पश्यसि,—संस्थास्यपि अर्थवादोऽप्युपपद्यते प्रदेय-
विष्टव्या—इति, नैतदेवं, व्यर्थं हि स्तुतिर्भवेत् । कुतः ? ।
सोमाविशेषात्, यावानेव अग्निष्टोमे सोमः, तावानेवोक्त्यादिषु
अपि संस्थासु, उक्त्यादिष्वपि दशमुष्टिरेव सोमो गृहीतव्यः ।
'नन्वर्थात् प्रदेयं विवर्द्धयति'—इति । दशमुष्टिः स कथं शक्येत
विवर्द्धयितुम् ? त्रिपर्वेति च पर्वसङ्ख्यानियमात् न शक्यो वज्र-
पर्वा ग्रहीतुम्, तस्मात् धारणाविशेषादर्थवादानुपपत्तिः संस्थासु
स्यात्, तस्मात् उत्कर्षः ॥

स. स्यादनित्यत्वात् ॥ ३१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—उत्कर्षः—इति, संस्थासु स्यात्, प्रकरणानु-
ग्रहात् । अर्थाच्च प्रदेयविष्टव्या दारणाशङ्काम् अर्थवादः
उपपद्यते, केन प्रकारेण प्रदेयं विवर्द्धयते—इति, विप्रक्षेपपर्वा
सोमो ग्रहीष्यते । अपि च तृतीये सवनेऽशुरेकोऽभिषूयते, तस्य
प्रमाणं च नाग्नान्तं, तमनेकपर्वाणं स्यूतपर्वाणं च ग्रहीष्यति,

भा तेन प्रदेयविद्वद्भिर्भविष्यति अतोर्ध्वादोऽवकस्त्रिष्यते, तस्मात्
संस्थासु निवेश — इति सिद्धम् ॥ (३।३।११ अ०) ॥

प्रवर्गनिषेधस्य प्रथमप्रयोगविषयताधिकरणम् ।

स सङ्ख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात् स्यात् ॥ ३२ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे प्रवर्ग्यं प्रहृत्य समाम्नायते,—‘न प्रथमयज्ञे
प्रहृज्जात् द्वितीये तृतीये वा प्रहृज्जात्’—इति । तत्र सन्देहः,
—किं ज्योतिष्टोमे सर्वत्रैव प्रयोगेषु न प्रवर्जितव्यम्, उत प्रथमे
प्रयोगे प्रतिषेधः?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—ज्योतिष्टोमे
प्रतिषेधः । कुत? यज्ञसंयोगात् प्रथमशब्देन यज्ञोऽभिधीयते
ज्योतिष्टोमः, तस्य हि प्रथमसंयोगः, एव समाम्नायते,—‘एष
वाव प्रथमो यज्ञाना यत् ज्योतिष्टोमो य एतेनानिद्धा अथान्येन
यजेत’—इति । यज्ञाना प्रथमः—इति हत्वा प्रथमशब्देन
ज्योतिष्टोमोऽभिधीयते एव च प्रकरणमनुगृह्यते, यदि क्रतोरपि
वादः । तस्मात् सङ्ख्यायुक्तं प्रतिषेधो ज्योतिष्टोमस्य प्रवर्ग्यं
प्रतिषेधेत्—इति ॥

स नैमित्तिक वा कर्तृसंयोगास्त्रिष्यत् तन्निमित्तत्वात् ॥

३३ ॥ (सि०) ॥

भा न चैतदस्ति,—यज्ञस्य एष वादः—इति, चतुर्विंशति वेदेषु
न, प्रथमयज्ञ इत्येवसंज्ञकं कश्चित् यज्ञोऽस्ति, भवति तु प्रथमो

* अतः व्यवशेषात् संस्थासु द्विराद्यादिषु च उत्कर्षः । न च
संस्थासुवेति अस्मितव्यक्तं व्यवशेषादेव इति शास्त्रदीपिका । ननु च
गम्यान्नेवेत्यवधारयितव्यमित्यादि तच्च दीर्घसोमत्वाविशेषात् सप्ताहीने
यपि तुल्यमिति सर्वधर्मतेत्यन्तं वार्तिकस्यापानुसृत्यम् ॥

भा. यज्ञस्य प्रयोगः, कर्तृसंयोगात्, पूर्वस्य द्वितीयादीनपेक्ष्य प्रथम-
शब्दो भवति, स प्रयोगस्य उपपद्यते, न क्रतोः । प्रयोगः
श्रवणात् गम्यते, क्रतुः प्रयोगसम्बद्धत्वात्, श्रुतिश्च वलीयसी न
लक्षणा । तस्मात् प्रथमे प्रयोगे न प्रवर्जितव्यम्—इति ।

अथ यदुक्तं,—ज्योतिष्टोमेन सामानाधिकरण्यात् तद्वचनः—
इति, लक्षणया सामानाधिकरण्यम्—इति तत् परिहृतम् ।
यत्तु प्रथमयज्ञः—इति यज्ञशब्देन सामानाधिकरण्यम्, तदपि
यज्ञशब्दस्य यागवचनत्वात् अस्मत्पक्षस्य अबाधकम् ॥ (३।३।
१२ अ०) ॥

पौष्णपेषणस्य विकृतौ विनियोगाधिकरणम् ।

सू. पौष्णपेषणं विकृतौ प्रतीयेताचोदनात्प्रकृतौ ॥ ३४ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः समामनन्ति,—‘तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागो-
दन्तको हि सः’—इति । तत्र सन्देहः,—किं पौष्णपेषणं प्रकृतौ,
उत विकृतौ?—इति । किं प्राप्तम्?—प्रकृतौ—इति । कुतः? ।
प्रकरणात् । ‘ननु प्रकृतौ पूषणं न कस्यचित् हविषो देवतां
समामनन्ति—इति’ । उच्यते, प्राकृतीं काञ्चित् देवतां पूष-
शब्दो वक्ष्यति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—यत्र पौष्णं हविरस्ति, तत्र तस्य पेषणं
विधातुम् शक्यं, न च प्रकृतौ पूषास्ति, तस्मात् उत्क्रष्टव्यं
पेषणम्—इति । यदुक्तम्,—काञ्चित् देवतां पूषशब्दो वक्ष्यति
—इति, ब्रूयात्, यद्यन्यत्रापि मुख्यः पूषा न स्यात् । ‘नन्वन्यत्र
क्रियमाणे प्रकरणम् उपरुध्यते’ । उपरुध्यता, वाक्यं हि अस्थो-
परोधकम् । अथ वा नैव अत्र सन्देहः, एवमेव प्राप्तम् उच्यते,
—पौष्णं पेषणं विकृतौ न प्रकृताविति, नास्ति पुष्णः प्रकृतौ

भा चोदना—इति । ‘किमर्थं प्राप्तम् उच्यते ? । उत्तरं कथा वर्तिष्यते ॥ (३।२।१३ अ०) ॥

पौष्णपेयस्य चरावेव निवेशाधिकारणम् ॥

स तत्सर्वार्थमविशेषात् ॥ ३५ ॥ (पू०) ॥

भा पौष्ण पेयस्य प्रकृतौ श्रूयमाणं विहृतौ द्रव्युक्तं । तत्र सन्देहः,—
किं चरौ पशौ पुरोडाशे च, उत चरावेव ?—इति । किं तावत्
प्राप्तम् ?—तत् सर्वं स्याच्चरौ पशौ पुरोडाशे च । कुत ?
अविशेषात्, न कश्चिद्विशेष आसीयते, तस्मात् सर्वत्र—इति ।

स चरौ वा, अर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात्पशौ न
स्यात् ॥ ३६ ॥ (सि०) ॥

भा चरौ पौष्ण पेयस्य विनियुज्येत, पुरोडाशे तावत् पेयस्य
अर्थादेव प्राप्नोति नैवान्यथा पुरोडाशो भवति, तदर्थं तावत्
न वचनं । पशौ च न स्यात् हृदयादिषु पिप्यमाणेषु तेषाम्
आकारविनाशः स्यात् । तत्र को दोषः ? ‘हृदयस्यायेभ्यश्चति’
—इति न हृदयादवहायिष्यते तद्यान्यदप्यवहानं न यथा
श्रुतादवदास्यते ।

‘ननु शक्यते पिष्टेभ्योऽपि हृदयादिभ्योऽवदातुम् । न—इति
ब्रूमः, आकारा हृदयादयो न मासानि, उक्तमेतत् ‘आहति
शब्दार्थं (१।३।३३ सू०)—इति । यद्यपि पुनः तदालौकिक
क्रियते, तद्यान्यस्योत्सादनप्रदेशः प्रति मुद्घेयुः, तस्मात् चरौ
पौष्ण पेयस्य भविष्यति द्रव्येवमर्थं वचनम् ॥

स चरावपीति चेत् ॥ ३७ ॥ (आ०) ॥

भा इति चेत् पश्यति भवान्—अर्थविप्रतिषेधात् न पश्यत्यर्थम्—

भा. इति ; ननु चरावप्यर्धविप्रतिषेधो, विशदसिद्धे ओदने चरुशब्दम्
उपचरन्ति, पिष्यमाणो हि पिष्टकं यवागूर्वा स्यात् खनिर्वा ॥

स. न पक्षिनामत्वात् ॥ ३८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अत्रोच्यते,—सत्यं विशदसिद्धे ओदने चरुशब्दः प्रयुज्यते,
विशदसिद्धः* चरुदीयते—इति, न त्वस्य विशदसिद्धिर्निमित्तम्।
यदि विशदसिद्धिर्निमित्तं स्यात्, न पिष्टसिद्धे प्रयुज्येत ! तत्रापि
हि प्रयुज्यते,—पिष्टकचरुः साध्यते—इति, अतोऽन्यदेतयोः सा-
मान्यं, तन्निमित्तम्, तदेतत् उच्यते,—न पक्षिनामत्वात्—इति,
न चरौ विप्रतिषेधः। कथम्? पक्षिनामत्वात्, पक्षिनामैतत्,—
चरुः—इति। अनवस्थावितान्तरुद्धमपाकेन अभिनिर्वर्त्यस्य भवति
चरुशब्दो वाचकः, तेन पिष्टे ओदने विशदोदने च प्रयोक्तारो
भवन्ति,—चरुः—इति। पक्षोक्तमेव प्रयोजनम्, पूर्वपक्षे पक्षा-
वपि प्रेषणं, सिद्धान्तं चरावेय ॥ (३।३।१४ अ०) ॥

पौष्णपेयणस्यैकदेवत्ये निवेशाधिकरणम् ॥

स. एकस्मिन्नेकसंयोगात् ॥ ३९ ॥ (सि०) ॥

भा. पौष्णं पेयणं विद्यतौ भवति चरावेव—इत्युक्तम्। अथ इदानीं
सन्दिह्यते,—किमेकदेवत्ये पौष्णे एतत् भवति, उत द्विदेवत्ये-
ऽपि?—इति। किं द्विदेवत्य उदाहरणम्? राजसूये उत्तरे
त्रिसंयुक्ते सौमापौष्णे एकादशकपाले ऐन्द्रापौष्णश्चरुः श्यावो
दक्षिणा—इति, तत्र ऐन्द्रापौष्ण उदाहरणम्। किं प्राप्तम्?
—एकदेवत्यस्य एव पेयणम्—इति। कुतः? केवलसंयोगात्,
यथा चतुर्धाकरणे ॥

स धर्मविप्रतिषेधाच्च ॥ ४० ॥ (हे०) ॥

भा. द्विदेवत्ये विप्रतिषिध्येत धर्मः, पूरणः पेयणं, न इतरस्य, तत्र यदि पूरणो भागः पिष्येत, अपिष्ट इतरस्य स्यात्, तत्र विषमः पाको भवेत्, पाकनिमित्तश्च चरुशब्दः स विप्रतिषिध्येत । 'अथ अविरोधं मन्यमाना अपरस्थापि भागं पिष्युः' । भागसंमोहः स्यात् । तत्र को दोषः ? अन्यस्य भागोऽन्यस्मै अवदीयेत । तथाभ्यवाश्रुतं क्रियेत, तस्मात् अप्येकदेवत्ये पेयणम्—इति ॥

स. अपि वा सद्वितीये स्याद्देवतानिमित्तत्वात् ॥ ४१ ॥
(पू०) ॥

भा. देवतानिमित्तमेतत् पेयणं श्रूयते,—पूषा प्रपिष्टभागः कर्तव्यः—इति, स च द्विदेवत्येऽपि भागे पिष्यमाणे प्रपिष्टभागः कृतो भवति, न यथा चतुर्द्धाकरणे, तत्र हि तद्वितो निरपेक्षस्य भवति, न सद्वितीयस्य, एन्द्रपीतः—इति समासोऽपि निरपेक्षस्य, न सद्वितीयस्य, इह तु प्रपिष्टशब्दस्य भागशब्देन सहान्यपदार्थो बज्रवीहिः समासः, एषोऽपि समर्थयोरेव, न त्वत्र द्विदेवत्ये कश्चिदेवज्जातीयको दोषः । तस्मात् एकदेवत्ये द्विदेवत्येऽपि वा चरावस्य भागः पेष्टव्य एव ॥

स. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४२ ॥ (हे०) ॥

भा. लिङ्गमप्येवं भवति,—'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि'—इति, देवतानिमित्तं पेयणम्—इति स्तुतिर्दर्शयति । तथा 'सौमापौष्णं चरुम् निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः'—इति नेमपिष्टतां दर्शयति । तथा अर्द्धं पिष्टमर्द्धमपिष्टं भवति द्विदेवत्यत्वाय—इति देवतानिमित्तमेव पेयणं दर्शयति ॥

सू. वचनात्सर्वपेपणं तं 'प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थभावात्
द्विचरावपेपणं भवति ॥ ४३ ॥ (पू० आ० नि०) ॥

भा. इदं पदोत्तरं सूत्रम्, नेमपिष्टं भवति—इति कस्मात् एतत्,
न वचनम्?—इति, उच्यते, यदि वचनमेतत् भवेत् सौमा-
पौष्णमात्रमनूद्य सर्वत्र पेपणं विदधाच्चरौ पशौ पुरोडाशे च,
तत्र सोमापौष्णस्य चरुसम्बन्धे नेमपिष्टसम्बन्धे च उभयस्मिन्
विधीयमाने वाक्यम्भिद्येत' तस्मात् यो यः सौमापौष्णः तत्र
तत्र नेमपिष्टता, 'तं प्रति' (सौमापौष्णमात्रं प्रति) शास्त्रवत्त्वं
अर्द्धपेपणस्य, पुरोडाशेर्ध्वात् सर्वपेपणे प्राप्ते अर्धाभावाच्च पशौ
चरौ वा अपेपणे प्राप्ते वचनम् इदं भवेत् । तत्र चरुशब्दो न
विवक्षितस्तार्थः स्यात्, प्रदर्शनार्थः कल्प्येत, पेपणानुवादपक्ष
पुनर्नैष विरोधो भवति, तस्मात् भवत्येव लिङ्गम् । 'ननु अङ्ग-
नाशभयात् पशोरपेपणम्' । न—इति ब्रूमः,—अर्द्धपेपणे न
अङ्गनाशः अपिष्टादवदास्यते, पेपणं च अट्ट्यार्धम् ॥

सू. एकस्मिन् वार्थधर्मत्वादैन्याग्नवदुभयोर्न स्यादचोदि-
तत्वात् ॥ ४४ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. एकदेवत्ये वा पौष्णं पेपणं भवितुमर्हति, न ऐन्द्रापौष्णे ।
कुतः? । नैष देवताधर्मो विधीयते, पूष्णो भागः पिष्ट उप-
योक्तव्यः—इति । कस्य तर्हि? । अर्थस्य धर्मः । कः पुनरर्थः? ।
यागः । कथमवगम्यते? न देवताधर्मः—इति । उच्यते, न
हि तस्य भागोऽस्ति ।

'ननु यत् देवतायै दीयते, तत् तस्या भागो भवति' । उच्यते,
एतत् हि देवताम् उद्दिश्य त्यज्यते, न च त्यागमात्रेण देवता-
सत्त्वं भवति, परियहणेन हि स्वस्वामिसम्बन्धो आपद्यते, न च
परिगृहीतं देवतयेति किञ्चन प्रमाणमस्ति । यश्च यं भजते, स

भा. तस्य भागः, न च हविर्देवता भजते, तस्मात् नास्ति पूष्णो भागः ।

अद्यापि कथञ्चित् भवेत् भागः, तथापि न देवताया धर्मः पेयणं भवितुमर्हति, निःप्रयोजनो हि तथा स्यात् अयागधर्मत्वात् । 'कथं तर्हि प्रकरणान्तरे समाम्नातो यागधर्मो भविष्यति?—इति' । उच्यते, वाक्यसंयोगात् । 'ननु च देवतया एव संयोगः श्रूयते न यागेन'—इति । उच्यते,—भागाभावात् अनर्थकत्वाच्च न देवतासंयोगः—इत्युक्तम् ।

'तथापि तु यथा यागसम्बन्धो भवति, तथा वक्तव्यम् । तदुच्यते; अयमत्र पूष्णो भागः यः पूषणमुद्दिश्य त्यज्यते, यस्य इत्यस्य त्यागे पूषा देवता, न ऐन्द्रापौष्णे भवति पूषा देवता, न स चक्रः पूष्णः स्वत्वेन सम्बध्यते, तस्मात् ऐन्द्रापौष्णे न कश्चिदस्ति पूष्णश्रवणा सम्बन्धः, केवले तु पूषणि देवताभूते तस्मै सहस्रिपतो भागो भवति । कथं? । यमुद्दिश्य सहस्रपो भवति स तस्य भागः—इति प्रसिद्धिरेषा, तेन यद्यपि पूषा स्वेनोच्चारणेन इन्द्रापूष्णोः उपकारकमुच्चारणं कुर्वन् उपकारको भवेत्, तथापि न तस्य द्विदेवत्यो भागः—इत्युच्यते, असहस्रनात् । केवले पूषणि देवताया चरोः पेयणं क्रियते, न ऐन्द्रापौष्णेषु द्विदेवत्येषु—इति ॥

ख हेतुमात्रमदन्तत्वम् ॥ ४५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. यदुक्तम्,—अदन्तको हि—इति देवताधर्मं दर्शयति—इति; अथवाद् एव इतरस्मिन् अपि पक्षे उपपद्यते ॥

ख वचनं परम् ॥ ४६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ अपरं यत्कारणम् उक्तं,—नेमपिष्टम्—इति द्विदेवत्ये पेयणं दर्शयति, अर्द्धपिष्टं भवत्यर्द्धमपिष्टं द्विदेवत्यत्वायेति

भा. देवताधर्मं दर्शयति—इति ; अत्रोच्यते, एवं सति वचनमिदम्-
प्राप्ते भवतीति । 'नन्वनेकार्थविधानमेकं वाक्यं प्राप्नोति' ।
उच्यते, सति पक्षान्तरे अनेकार्थविधिः पक्षान्तराश्रयणेन
परिह्रियते, असति पुनः पक्षान्तरे उच्चारणार्थक्यमसङ्ग-
परिजिहीर्यमानेकार्थं वाक्यमभ्युपगन्तव्यं भवति । तस्मात् न
दिदेवत्ये पेयणम्—इति सिद्धम् ॥ (३।३।१५ अ०) ॥

इति श्रीशिवरस्त्रामिनः ह्यतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्या-
यस्य तृतीयश्चरणः समाप्तः ॥

तृतीये अथाये चतुर्थः पादः ॥

अथ निवीतस्यार्थवादताधिकारणम् ॥

—+—+—+—

स निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥
१ ॥ (पू०) ॥

भा दर्शपूर्णमासयोराभ्यात,—‘निवीत मनुष्याणां प्राचीनावीत
पितॄणामुपवीत देवनामुपध्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते’—इति ।
निवीत मनुष्याणाम् इत्यत्र सन्देहः,—किमयं विधिरितार्थवादः ?
—इति । यदा विधिः, तदा किमयं पुरुषधर्मः उत कर्मधर्मः ?
अथ यत्प्रकरणे मनुष्याणां, तत्र विधिः, उत मनुष्यप्रधाने कर्मणि
निविशते ?—इति ।

किं प्राप्तम् ?—विधिर्मनुष्यधर्मश्च—इति, यदि विधिरेवम
पूर्वमर्थं विदधदर्थवान् भवति, इतरथा अर्थवादमात्रम् अन-
र्थकम् । विधिश्चेत् पुरुषधर्मो ‘निवीत मनुष्याणाम्’—इति
पुरुषप्रधानो निर्देशः । कथमवगम्यते ? । न अत्र मनुष्या
विधीयन्ते, मनुष्याणाम् निवीत विधीयते न चाविहितम्
अङ्गम् भवति, यदि मनुष्या अपि विधीयेरन् वाक्यम्भिद्येत ।
तस्मात् निवीत मनुष्याणाम् उपकारकम् ।

‘ननु प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयो उपकारकम् । प्रकरणात्
हि वाक्यं बलवत्तरम् । अपि च गुणभूतेषु मनुष्येषु कारकं
सम्बन्धस्य विवक्षितत्वात् तृतीया भवेत् यद्यी त्वेषा सम्बन्ध-
लक्षणा, तत्र गुणभूतेषु मनुष्येषु मनुष्यग्रहणं नैव कर्तव्यम्
स्यात्, मनुष्यैरेव तत् क्रियमाणं क्रियेत, मनुष्यप्रधानपक्षे तु
कर्तव्यम् ॥

स अपदेशो वा, अर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥ २ ॥ (आ०) ॥

भा अपदेश—इति ज्ञायमानस्य वचनम् । स एष न विधि
अनुवाद एष । कुत ? अर्थस्य विद्यमानत्वात् । प्राप्त एवार्थो,
—यत् निवीत मनुष्याणाम् निवीत हि मनुष्या मायश्च स्वार्थं
कुर्वन्ति, तस्मात् अनुवादः ॥

स विधिस्त्वपूर्वत्वात् स्यात्* ॥ ३ ॥ (आ० नि०) ॥

भा विधिरेव भवेत् तथा प्रयोजनवान् इतरथा वादमात्रम्
अनर्थकम् पूर्ववान् अनुवादो भवति, अयं त्वपूर्वो,—यत् निय-
मेन निश्चातव्यम्—इति ॥

स प्रायात्कर्मधर्मः स्यात् ॥ ४ ॥ (२य पृ०) ॥

भा यदुक्तं—विधि इति एतत् गृह्यते यत्तु मनुष्यधर्मः—
इति, तत् नानुमतम् क्रतुधर्मोऽयं प्रकरणात् प्रकृत्य एव हि
कर्मप्रायेषु धर्मेषु उच्यमानेष्वेतद्भिधीयते तस्मात् कर्मधर्मः ॥

स वाक्यशेषत्वात् ॥ ५ ॥ (३य पृ० यु०) ॥

भा निवीतं मनुष्याणाम् इत्यस्य वाक्यशेषः समाध्या—आध्य-
यम्—इति, यदि दर्शपूर्णमासयोः शेषः ततोऽध्ययुणा कर्तव्यम्
तत्र समाध्यानुगृहीयते ॥

स तत्प्रकरणे, यत्तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् ॥ ६ ॥
(३य पृ०) ॥

भा उच्यते,—प्रकरणात् समाध्यानाच्च कर्मधर्मो विज्ञायते,

भा. वाक्यात् मनुष्यधर्मः, तस्मात् उत्कर्षमर्हति'। न—इति ब्रूमः,
—प्रकरणे एवाभिनिविशमानस्य मनुष्यप्रधानतावकल्पिष्यते।
कथं? यत् दर्शपूर्णमासयोर्मनुष्यप्रधानं, तत्र निवेद्यतेऽन्वा
हार्यकर्मणि, प्रकरणं च एवमनुग्रहीष्यते, वाक्यञ्च ॥

ख. तत्प्रधाने वा तुल्यवत्प्रसङ्गानादितरस्य तदर्थत्वात् ॥

७ ॥ (४र्थ पू०) ॥

भा. न एतदस्ति,—प्रकरणे निवेशः—इति, मनुष्यप्रधाने कर्मणि
निवीत स्यात् आतिथ्ये। कुतः? तुल्यवत्प्रसङ्गानात्, तुल्यानि
च एतानि प्रसङ्गायन्ते। यत्तावत्, उपवीतं देवतानामुपचयते
—इति, तत्प्रकृतयोर्दर्शपूर्णमासयोः उपवीतं विदधाति। यत्
प्राचीनावीतं पितृणाम्—इति, तत् पितृप्रधाने कर्मणि प्राची-
नावीतं विदधाति। यदप्येतत्, निवीतं मनुष्याणाम्—इति,
तदप्यातिथ्ये निरपेक्षं विदधाति। 'कथं गम्यते?—मनुष्य
प्रधाने विदधाति—इति'। मनुष्याणाम्—इति यच्छब्देन
सम्बन्धात्। 'मनुष्याणामेव प्राप्नोति, न मनुष्यप्रधाने'।
उच्यते, मनुष्याणाम् कल्प्यमाने फलं कल्पनीयं, मनुष्यप्रधाने
पुनः पट्टी भविष्यति, सम्बन्धस्य एवमवकल्पिष्यते, फलं च एवं
न कल्पनीयम्, तदुक्तं, (२। १। ४३ सू०)—समेपु वाक्यभेदः
स्यात्—इति।

'ननु मनुष्यप्रधानेन सदैकवाक्यता प्राप्तम्, पुनः प्रकृताभ्यां
दर्शपूर्णमासाभ्यामेकवाक्यतां यास्यति'। न हि द्वौ सम्बन्धौ
एकस्मिन् वाक्ये विधीयते, भिद्येत हि तया वाक्यम्। इतरस्य
मनुष्ययज्ञस्य निवीतसम्बन्धार्थत्वात्, तेनैव सदैकवाक्यता
भाविष्यति प्रत्यक्षेण शब्देन, तदेकवाक्यतया च अर्थवत्त्वे सति
न प्रकृतेन एकवाक्यता अवकल्प्यते। तस्मात् प्रकरणं बाधित्वा
आतिथ्ये निवेद्यते—इति ॥

सू. अर्थवादो वा प्रकरणात् ॥ ८ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—विधिः स च मनुष्यप्रधाने कर्मणि—इति ।
मनुष्याणाम्—इति मनुष्यसम्बन्धोऽप्यश्रूयते, न मनुष्यप्रधानेन
कर्मणा सम्बन्धः, मनुष्यप्राधान्ये च सति फलं कल्पनीयम्;
आतिथ्यकर्मणा त्वनिर्दिष्टेन अप्रवृत्तेन अनुमेयेन सम्बध्येत ।
तत्र को दोषः? । प्रकरणात् उत्पद्येत सम्भवन् तत्र । ‘कथं
सम्भवः?—इति चेत्’ । अर्थवाद एषः स प्रवृत्तं स्तुवन् प्रकरणे
सम्भविष्यति, विधिः सन् उत्पद्येत । तस्मात् न विधिर्मनुष्य-
प्रधाने कर्मणि—इति ॥

सू. विधिना चेकवाक्यत्वात् ॥ ९ ॥ (यु०) ॥

भा. इतश्च न विधिः । कुतः? । विधिना एकवाक्यत्वात्,—
‘उपपद्यते देवलक्ष्ममेव तत्कुर्वते’—इत्येष विधिः, अनेनास्य
सहैकवाक्यता भवति, यदि इतरोऽपि विधिः स्यात्, वाक्य-
म्भिद्येत, न हि विधेस्तु विधेश्चैकवाक्यता भवति, वचनव्यक्ति
भेदात् । तत्र एकवाक्यतारूपं बाध्येत । किमेकवाक्यतारूपम्? ।
निवीतं मनुष्याणाम्—इति प्राप्तानुवादः । प्राप्तस्य किमर्थेन
पुनर्वचनम्? । उपवीतस्तुत्यर्थेन । कथमुपवीतस्तुतिः? । निवी-
तम् अयोग्यं देवकर्मणि दर्शपूर्णमाससंज्ञके, मनुष्याणां हि ततः;
तथा प्राचीनावीतं पितॄणाम्, न देवकर्मणि; उपवीतं तु तत्र
योग्यं, तस्मात् उपपद्यातथम्—इति । यथा, यादृशोऽस्य वेशः,
तादृशो नटानां, यादृशो देवदत्तस्य तादृशो ब्राह्मणानाम्—
इति, देवदत्तवेशप्रशस्यम् इतरवेशसङ्कोर्त्तनम्, एवम्, इच्छा-
प्युपस्थानस्तुत्यर्थेन निवीतसङ्कोर्त्तनम्; नास्त्यत्र विधायकः
शब्दो,—निवीतं मनुष्याणां कर्तव्यम्—इति । ‘आतिथ्य-
प्रयोगवचनं, तस्य कर्तव्यताविधायकम्—इति चेत्’ ।

भा स्तुत्यर्थेनार्थवत्त्वे सति न शक्य कल्पयितुम्, परोक्ष हि तत्
 आनर्थक्यपरिजिहीर्षया कल्पयेत्, परिहृते त्वानर्थक्ये इह
 पुनर्न किञ्चित् कल्पनीयम् तस्मात् अर्थवाद, एव च वाक्येन
 अविबुद्ध प्रकरणम् अर्थवत् भवति ॥* (३।४।१ अ०) ॥

दिग्विभागस्यानुवादताधिकारणम् ॥

ख दिग्विभागश्च तद्वत्सम्बन्धस्यार्थहेतुत्वात् ॥ १० ॥

भा ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य श्रूयते,—‘प्राचीं देवा अभजन्त दक्षिणा
 पितरं प्रतीचीं मनुष्या उदीचीमसुरा †—इति। (अपरेषाम्
 ‘उदीचीं तद्वा —इति।) तत्र सन्देहः,—किं विधिरुतार्थवादः ?

* “अथ परं घटं सूत्राणि भाष्यकारेण न लिखितानि। तत्र
 व्याख्यातारो विवदन्ते, केचिदाहुः विस्मृतानीति। लिखितो ग्रन्थ
 प्रसीत इत्यपरे। एकात्वादुपेक्षितानीत्यन्ये। अनासत्वादित्यपरः, तथा
 च दिग्विभागश्च तद्वदिति निवीताधिकारणातिदेशस्तदानन्तर्यादुपपत्त्यते
 इति। उक्त्यन्तरकारैस्तु सर्व्वे व्याख्यातानि। सन्ति च जैमिनेरेव
 प्रकाराण्यनन्तरसारभूतान्यपि सूत्राणि व्यवहितानिदेशाच्च पानथा-
 यश्च तद्वदित्यादिषु व्याचिता। तस्मात् सूत्रार्थमात्रं व्याख्येयम्। तत्र
 केचित् शीघ्रधिकारणानि कल्पितानि, अपरेष्वेतानि’ इत्यादि वार्त्तिक-
 मन्त्रानुसन्धेयम्। यानि सूत्राणि न सन्ति, तानि एतानि,—‘उपवीत
 लिङ्गदर्शनात् सर्व्वधर्मः स्यात् १। न वा प्रकरणात्तस्य दर्शनम् २।
 विधिर्वा स्यादपूर्व्वत्वात् ३। उदक्कृष्टापूर्व्वत्वात् ४। सतो वा लिङ्ग-
 दर्शनम् ५। विधिन्तु धारणेऽपूर्व्वत्वात् ६। इति। एतेषां सूत्राणां
 व्याख्या वार्त्तिकादवधार्याः ॥

† उदीचीं तद्वाः इति। अपरेषामुदीचीम् मनुष्या इति—इति
 पाठः का० श्री० मु० ॥

भा विधिः सन् किं मनुष्यधर्मः, उत कर्मधर्मः? अथ वा प्रकरणे मनुष्यप्रधाने कर्मणि निवेशः? किं वा आतिथ्ये?—इति ।

किं तावत् प्राप्तम्?—दिग्विभागश्च तद्वत्सम्बन्धस्य अर्थहेतुत्वात्, य एष दिग्विभागः, स निवीतवत् विचार्यः, यो निवीते पूर्वपक्षः, स इह पूर्वपक्षो, यो मथनः, स मथनः, यः सिद्धान्तः, स सिद्धान्तः । अथैवत्वात् विधिर्मनुष्यसम्बन्धात् मनुष्यधर्मः—इति पूर्वपक्षः । प्रत्यङ्मुखा उदङ्मुखा वा पृष्ठत आदित्यं प्रांशु पदार्थान् अनुतिष्ठन्ति मनुष्याः—इत्यनुवादः । विधिरेव प्रकरणानुग्रहाच्च ज्योतिष्टोमधर्मः, वाक्यप्रकरणानुग्रहाय ज्योतिष्टोमे मनुष्यप्रधाने दक्षिणाध्यापारे निवेशः—इति अपरः पक्षः । भिन्नत्वात् वाक्यानाम् आतिथ्ये निवेशः—इति अपरं मतम् । अर्थवादोभयं प्रकरणानुग्रहाय, 'प्राचीनवंशं करोति'—इत्यनेन विधिना एकवाक्यत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्—इति सिद्धान्तः ॥ (३।४।२ अ०) ॥

परुषि दितादीनामनुवादताधिकारणम् ।

स परुषि दित-पूर्ण-धृत-विदग्धञ्च तद्वत् ॥ ११ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोराम्नातं,—'यत् परुषि दितं* तत् देवानाम्, यदन्तरा, तत् मनुष्याणां, यत् समूलं, तत् पितृणाम्'—इति । तथा, यो विदग्धः, स नैर्ऋतः, योऽश्रुतः, स रौद्रः, यः श्रुतः, स सदेवत्यः, तस्मात् अविदग्धता अपयितव्यं सदेवत्वाय—इति । ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'यत् पूर्णं, तत् मनुष्याणाम् उपरि, अधो देवानामधः पितृणाम्'—इति । तथा,—'धृतं

भा देवाना मस्तु* पितॄणां नि पक्व मनुष्याणाम्—इति । तत्र मनुष्यसम्बन्धेषु रौद्रे च सन्देह — किं मनुष्याणां धर्मा विधय उत कर्मधर्मा अनुवादा ? अथ यत् प्रकरण मनुष्यप्रधानं रौद्रं च तत्र निविशरन् उत आतिथ्ये उत अर्थवाद ?—इति ।

किं तावत् प्राप्तम् ?—एतान्यपि तद्वत् यो निवीते पूर्वं पक्षं स एतेषां पूर्वं पक्षं यो मध्यमं स मध्यमं यं सिद्धान्तं स एव सिद्धान्तः । अर्थवत्त्वात् मनुष्यसम्बन्धाच्च विधयो मनुष्यधर्माश्च—इति पूर्वं पक्षं उपरि मूले च अनियमात् लाघवम् अष्टत रोगदत्त्वात् रौद्रं पूर्णमपि स्रक्षणात् लाघवम् एव घतं शिरसि निक्षिप्तं मनुष्याणां सुखकरमेव अर्थप्राप्तत्वात् अनुवादः—इत्युत्तरं पक्षः । विधिः कर्मधर्मप्रायात् समाख्यानाच्च कर्मधर्म—इति पक्षः । अन्वाहार्ये दक्षिणासु च—इति वाक्यप्रकरणानुसङ्गात्पक्षः । आतिथ्ये—इति वाक्यभेदप्रसङ्गात् । अर्थवादः—इति प्रकरणात् विधिना एकवाक्यत्वात्—इति 'यवप्रतिलुनाति उपरि विलात् गृह्णाति नवनोतेनाभ्यङ्क्ते अविद्वत्ता अपयितव्यम्—इत्येभिः सङ्क्षेपामेकवाक्यभावः । तस्मात् एते न विधयोर्भ्यवादा—इति॥ (३।४।३ अ०)॥

अनृतवदननिषेधस्य क्रतुधर्मताधिकरणम् ।

स अकर्म क्रतुसंयुक्तं सयोगान्नित्यानुवादः स्यात्॥ १२॥
(पू०)॥

भा दर्शपूर्णमासयोराग्न्यायते— नानृतं वदेत्—इति । तत्र सन्देहः—किमयं प्रतिषेधो दार्शपूर्णमासिकस्य पदार्थस्य

* मस्तु दधिभवः मद्यम् । नि पक्वं शिरसि प्रक्षेप्तुमीवद्विलीनं नवनोतं तप्तं वा इति माधवः ।

भा. प्रकरणे एव निवेशः, अथ प्रायेण प्राप्तस्य कर्मणः पुरुषं प्रति प्रतिषेधः पुरुषधर्मोऽयम्—इति । किं प्राप्तं?—पुरुषधर्मः स्यात्, पुरुषस्यायम् उपदिश्यते न दर्शपूर्णमासयोः । कुतः? । पुरुषप्रयत्नस्य अवणात्, वदेत्—इति वदनमनुतिष्ठेत्—इति श्रुत्या गम्यते, तस्य पुरुषसम्बन्धः श्रुत्यैव, कर्मसम्बन्धः प्रकरणात्; श्रुतिश्च प्रकरणात् वलीयसी, इतरथा वदनं भवति—इत्येतावत्यर्थे वदनम् अनुतिष्ठेत्—इत्यविवक्षितस्वार्थः परार्थो विधर्थो भवेत्, पुरुषस्योपदेशे पुनर्विवक्षितस्वार्थ एव शब्दः, तस्मात् पुरुषस्य उपदेशः, यस्य च उपदेशः, तस्यायं प्रतिषेधः । स चायमर्थ उपनयनकाल एव पुरुषस्य प्रतिषिद्धः, तेन संयोगेन अयं नित्यानुवादः ।

‘नन्वेषा श्रुतिः तस्या स्मृतेर्मूलम्’ । नैषा तस्या मूलं भवितुमर्हति, यदि इयं तत्मूलिका भवेत्, दर्शपूर्णमासयोः—इति स्मर्येत, उपनयनकाले एव च अस्य उपदेष्टारो भवन्ति । अपि च पुरुषधर्मः इत्युपदिशन्ति, तस्मात् नैषा स्मृतिरतः श्रुतेरिति ॥

सू विधिर्वा संयोगान्तरात् ॥ १३ ॥ (सि०) ॥

भा विधिर्वायं दर्शपूर्णमासयोर्नानृतं वदेत्—इति, न अनुवादः । कुतः? । संयोगान्तरात्, नियमानुष्ठानेन पुरुषस्य सम्बन्धः स्मर्यते, पदार्थप्रतिषेधेन इह संयोगः पुरुषस्य, कथम् अन्यत् श्रूयमाणम् अन्यस्यानुवादो भविष्यति, तस्मात् विधिः प्रतिषेधस्य अयम् । ‘आह गृह्णाम एतत्,—विधिः—इति; पुरुषधर्मः—इति तु गृह्णामः पुरुषप्रयत्नस्य श्रुतत्वात्’ । अत्र ब्रूमः,—सर्वेषु आख्यातेषु क्रियानुष्ठानं श्रूयते न कारकं किञ्चित् । कथमेतत् गम्यते? । प्रत्ययात्, यतः क्रियामनुष्ठेयां प्रतीमः ।

‘ननु कर्त्तारमपि प्रतियन्ति’ । सत्यं प्रतियन्ति, न तु शब्दात् । कुतः तर्हि? । अर्थात्, यदा क्रिया अनुष्ठानाया विधीयते,

भा तदा अर्थात् कारकव्यापारो गम्यते, यथार्थात् गम्यते न च
 श्रौत यश्च न श्रौतो न स वाक्यात् गम्यते, कथमसौ प्रकरणं
 बाधित्यते ।

आह — प्रहृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत — इत्याचार्यो
 षट्शेतात्कर्त्ता शब्दार्थं कर्म चेत्यवगम्यते कर्त्तरि शप् कर्मणि
 यक्—इति प्रत्ययार्थं कर्त्तारं कर्म च समामनन्ति आचार्या
 तस्मात् शब्दार्थं कर्त्ता कर्म च—इति ।

उच्यते — न आचार्यवचनात् सूत्रकारवचनात् वा शब्दार्थो
 भवति प्रत्ययादसौ गम्यत । अनुष्ठेया च क्रिया प्रतीता सती
 कारकाणि प्रत्याययति—इत्यवगतमेतत् । आप च नेव कर्त्ता
 प्रत्ययार्थं कर्म वेति आचार्या आह । ननु कर्त्तरि कर्मणि
 च लकार श्रूयते । नासौ कर्त्तरि कर्मणि वा श्रूयते किं तु

एकस्मिन् एकवचन द्वयोर्द्विवचन वज्रषु वज्रवचनम्—इति
 तत्र अपर वचनं तत्र एवमभिसम्बन्धं क्रियते—एकस्मिन्
 कर्त्तरि द्वयो कर्त्तार्वज्रषु कर्त्तृषु—इति । एव कर्मण्येकत्वादि
 सम्बन्धः । तत्र नैव भवति—कर्त्तरि भवति एकस्मिन्—इति
 कथं तर्हि ?—कर्त्तरि एकस्मिन् एकवचनं कन्तु एकत्वे—
 इत्यर्थः । एव द्वित्वे वज्रत्वे कर्मणि च । एव वर्ण्यमाने
 लौकिकन्यायानुगत सूत्रार्थो वर्णितो भवति सूत्राक्षराणि च
 न्यायानुगतानि भवन्ति आगमोऽपि चायमेव । यदा एकत्वा
 द्वयो विभक्त्यर्था तदा कर्मादयो विशेषणत्वेन—इति ।

ननु एतदप्यस्ति यदा कर्मादयो विभक्त्यर्था तदा एकत्वा
 द्वयो विशेषणत्वेन—इति । उच्यते —अर्थप्राप्ता हि कर्मा
 दयस्ते न भवन्ति शब्दस्य अभिधेयभूता, न तु एकत्वादयोऽर्थात्
 प्राप्नुवन्ति तेन ते शब्दार्थभूता तस्मात् यद्यपि विशेषणम्
 एकत्वादयः तथापि विशेषणमव अभिधीयते यथा हिरण्य
 माग्निं च त्विजं प्रचरन्ति—इति हिरण्यमाग्नित्वं विशेषणं

भा. त्वेन, तथापि तदेव विधीयते, तस्मात् कर्तुः एकत्वं शब्दाद्यो न कर्त्ता ।

‘ननु कर्तुः एकत्वात् एकवचनं, कर्तुर्द्वित्वात् द्विवचनं, कर्तुर्बहुवचनं बहुवचनं. तेन नूनं कर्त्ता शब्दार्थः—इति गम्यते’ । उच्यते,—नैतदनुमानात् शक्यं, कर्त्ता अनुष्ठेयक्रियावगमादेव अवगम्यते—इति प्रत्यक्षं; तत्तावत् केनचित् न बाध्यते; एकवचननिर्देशे कर्त्तृकत्वं गम्यते, द्विवचननिर्देशे कर्तुर्द्वित्वं, बहुवचननिर्देशे कर्तुर्बहुत्वं, तदपि प्रत्यक्षं, कतरद्वानुमानं बाधितुमर्हति—इति, यथा आहूतिवचने शब्दे द्विवचने द्रव्यभेदोऽवगम्यते, एकवचने द्रव्यैकत्वम्, एवम् इहापि द्रष्टव्यम् । तस्मात् न औतः, न चेत् औतः, न प्रकरणं बाध्यते ।

‘यत्तु ‘पुरुषप्रयत्नोऽर्थको भवति कर्मधर्मपक्षे प्रयोगवचनेन कर्त्तव्यतावचनात्’—इति । तदुच्यते,—अङ्गं सत् प्रकरणेन गृह्येत, न चाविहितम् अङ्गं भवति, तस्मात् अङ्गत्वाय विधातव्यम्, अस्मिन् अपि पक्षे; अतो मन्यामहे,—प्राकरणिकस्य अयं निषेधः—इति । तस्मात् तत् अङ्गं, यदनृतं तत् न वाच्यम्—इति, तेन यत् सङ्कल्पितं, तदङ्गं, तदेव कर्त्तव्यं, ब्रौहिमयं सङ्कल्प्य न यवमयः प्रदेयः ।

‘आह यदा उभयोः अपि पक्षयोर्नानृतं वदितव्यं, तदा को विचारेणार्थः?’—इति । उच्यते,—पूर्वस्मिन्पक्षे पुरुषधर्मः, तत्र भेषे स्मार्त्तं प्रायश्चित्तम्, सिद्धान्ते दर्शपूर्णमासधर्मः, तत्र भेषे याजुर्वेदिकं प्रायश्चित्तम् ॥ (३।४।४ अ०) ॥

अङ्गभ्यमानधर्मानां प्रकरणे निवेशाधिकारणम् ॥

स अहीनवत्पुरुषस्तदर्थत्वात् ॥ १४ ॥ (पृ०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘अङ्गिरसो वा दत्तं सन्मया च’.

भा लौकमायनेऽपि दीक्षातपसी प्रावेशयन्तीर्थं ज्ञाति तीर्थमेव
 हि सजातानां भवति*—इति । दर्शपूर्णमासयोराग्न्यायते,—
 'तस्मात् जज्ञभ्यमानोऽनुब्रूयात् मयि दक्षकृतू—इति, प्राणा-
 पानावेवात्मन्धने—इति । तत्र सन्देहः,—किमयं धर्मः प्रकरणे
 निविशते, उत पुरुषस्य उपदिश्यते?—इति । किं तावत्प्राप्तम्?
 —'अहीनवत् पुरुषः, तदर्घत्वात्', एष विधिः प्रकरणात्
 उत्कृष्येत । कुतः? । पुरुषश्रुतेः,—ब्रूयात्—इति पुरुषप्रत्ययस्य
 विवक्षितत्वात् ।

'ननु प्रकरणं बाध्यते' । उच्यते, बाध्यता प्रकरणं, वाक्यं
 त्वस्य बाधकं, जज्ञभ्यमानसंयोगात्, प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयोः
 उपदिश्यते—इति गम्यते, वाक्यात् जज्ञभ्यमानस्य, वाक्यस्य
 प्रकरणात् बलीयः । तस्मात् उत्कृष्येत—इति । फलमप्या-
 मनन्ति,—प्राणापानावेवात्मन्धने—इति, स च संयोगो बाध्यते ।
 तस्मात् पुरुषधर्मः, प्रकरणात् उत्कृष्येत अहीनवत्, यथा अही-
 नसंयोगात् द्वादशोपसत्ता प्रकरणात् उत्कृष्यते, एवं जज्ञभ्य-
 मानसंयोगात् मयि दक्षकृतू—इतिवचनम् ॥

स प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत् ॥ १५ ॥
 (मि०) ॥

भा न वा उत्क्राष्टव्यम् । कुतः? । प्रकरणविशेषात्, प्रकरणयुक्तः
 एष जज्ञभ्यमानो वचनेन सञ्क्रियते, यथा यवादिद्रव्यं मोक्षणा-

* 'मुनये लौकमायने' इत्यतः 'असु दीक्षा यज्ञमा प्रावेशयन्तीर्थं ज्ञाति
 साक्षादेव दीक्षातपसी यवगृहे तीर्थं ज्ञाति तीर्थं हि ते तां
 प्रावेशयन् तीर्थं ज्ञाति तीर्थमेव सजातानां भवति' इति पाठः का०
 श्री० पु० ।

† तावद्विनाशेन विदारितमयः पुरुषो जज्ञभ्यमान इति साधयः ।

भा. दिना । 'ननु न शक्नोति प्रकरणं जङ्गभ्यमानशब्दम् एकदेशे-
 ष्वस्थापयितुम्, वाक्यं हि प्रकरणात् बलवत्तरमिति' । उच्यते,
 न ब्रूमः,—जङ्गभ्यमानशब्दः प्रकरणेन अप्राकरण्यात् पुरुषात्
 निवर्त्यते—इति ; किं तु फलं तत्र कल्पनीयम् । 'ननु प्रत्यक्षं
 श्रूयते फलं,—प्राणापानावेवात्मन्धत्ते—इति' । न—इति ब्रूमः,
 —न अत्र विधायकं शब्दम् उपलभामहे, य एषः,—प्राणापा-
 नावेवात्मन्धत्ते—इति, वर्तमानापदेश एष, न विधायकः ;
 स्तावकस्तु भवति मन्त्रवचनस्य, तस्मात् दर्शपूर्णमासाभ्याम्
 अन्यत्र एतत् न फलवत् । अतः पुरुषस्य दर्शपूर्णमासी कुर्वतः
 संस्कारकर्म—इति गम्यते ।

'आह पुरुषसंस्कारकर्म—इति गृह्यते, दर्शपूर्णमासाविव
 कुर्वतः—इत्येतत् न । कथं ? । योऽपि हि अन्यत्र दर्शपूर्ण-
 मासाभ्यां, जङ्गभ्यते, सोऽपि जङ्गभ्यमानशब्देन उच्यते एव । न
 च, प्रकरणेन व्यावर्त्यते,—इत्येतत् उक्तम्, तस्मात् उत्क्षेप्यते' ।
 अत्र उच्यते, नैव व्यावर्त्यते, संस्कारेण तु तेन नास्ति प्रयोजनम् ।
 'ननु प्रकरणे पुरुषसंस्कारेणापि नास्ति प्रयोजनम्' । उच्यते,
 संस्कारपुरुषो दर्शपूर्णमासावनुष्ठायति । 'आह उत्कर्षेऽपि सति
 संस्कारतोऽन्यत् अनुष्ठायति' । उच्यते,—नान्यस्य संस्कारो गुणो
 भवति, अप्रवृत्तत्वात् । 'आह प्रवृत्तस्यापि न गुणः, वाक्येन
 पुरुषधर्मः इत्यवगमात्' । उच्यते, आनर्थक्यात् न पुरुष-
 धर्मावगम्यते । तस्मात् अस्य प्रवृत्ताभ्यां दर्शपूर्णमासाभ्याम्
 एकवाक्यता, न अन्येन फलवतापि कर्मणा, प्रकरणाभावात्,
 तस्मात् नोत्कर्षः ।

यत्तु, प्रकरणे निवेशः—एतस्मिन्पक्षे ब्रूयात्—इत्यनुष्ठान-
 वचनम् अविवाचितस्यार्थम्—इति, एवं सति अत्यनुवादो भवि-
 ष्यति, न पुरुषसम्बन्धविधानस्य प्रयोजनम् अस्ति—इति ॥

ख व्यपदेशादपहृष्येत ॥ १६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अथ यदुपवर्णितं,—द्वादशोपसत्ता यथा उल्लिख्यते, तद्येदमपि
उल्लिख्यम—इति । उच्यते, तद्वि वाक्येन अहीनानां अप
दिश्यते, फलवन्तश्च अहीना, न च, तत्र न्योतिष्टोमेऽहीनशब्द,
गोणत्वात्, व्यपदेशाच्च,—‘तिष्ठ एव साकुर्योपसदो द्वादश
अहीनस्य’—इति । ततो युक्तं, द्वादशोपसत्ता यत्, प्रकरणात्
उल्लिख्यते, न तु इह पुरुषसम्बन्धो निःप्रयोजत्वात्, अन्यस्य
च प्रयोजनवत् प्रकरणेऽभावात् ॥ (३।४।५ अ०) ॥

अवगोरणादीनां पुमर्थताधिकरणम् ।

ख शंयो* च सर्वपरिधानात् ॥ १७ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोऽभ्युपेत्य,—‘देवा वे शयुम् वार्हस्पत्यमब्रुवन्
क्षयं नो वध—इति प्रहृत्य, वचनमिदं भवति,—‘किं मे
प्रजाया ?’—इति तेऽब्रुवन् यो ब्राह्मणायावगुरेत् तं शतेन
यातयात यो निघ्नन् तं सद्यस्त्रेण यातयात् यो लोहित
करवत् यावत् प्रक्तन् पाशून् सगृह्णात् तावत् सम्यक्सरान्
पितृलोकं न प्रजानीयात्—इति । तस्मात् न ब्राह्मणायाव
गुरेत् न हन्यात् न लोहितं कुर्यात्—इति ।

तत्र सन्देहः,—किं दर्शपूर्णमासयोरवगोरणप्रतिषेधः, उत
पुरुषस्य उपदिश्यते?—इति । किं प्राप्तम्?—प्रकरणात् दर्श
पूर्णमासयोरवगोरणादिप्रतिषेधः,—न दर्शपूर्णमासयोर्ब्राह्मणस्य
अवगोरितयम् यथो वा कार्यो लोहितं वा प्रक्तन्दीयम् ।
अन्य उपाय आस्तातश्च ध्यानतये, तेनाम्नाहार्येणानमन्ति—

* स्यादिति ब्राह्मणावगोरणादिप्रतिषेधवाक्येऽप्यस्यमिति धारिणम् ।

भा इति प्रकरणात् प्राप्नोति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—शयौ च प्रकरणात् उत्कर्षः । कस्मात् ? सर्वपरिदानात्, सर्वावस्थस्य ब्राह्मणस्यायं प्रतिषेध उक्तः, न दर्शपूर्णमासगतेनेव नावगोरणादि कर्तव्यम्—इति । ‘ननु प्रकरणात् दर्शपूर्णमासधर्माभ्यम् । सत्यं प्रकरणात्, एवं वाक्येन अवगुरमाणस्य धर्मः, वाक्य च प्रकरणात् बलीयः ।

‘ननु जज्ञभ्यमानस्य इव प्रकरणे निवेशो भवेत् । न—इत्युच्यते, तत्र फलं कल्पनीयं, इह कृप्तम्, अस्ति हि अत्र विधायकविभक्तिः,—शतेन यातयात्, सहस्रेण यातयात्, स्वर्गं लोकं प्रजानीयात्—इति, तस्मात् उत्कर्षः एवज्ञातीयकस्य—इति ॥ (३।४।६ अ०) ॥

मलवद्वास-संवादनिषेधस्य पुरुषधर्मताधिकारणम् ॥

स प्रागपरोधात्* मलवद्वाससः ॥ १८ ॥ (सि०) ॥

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘मलवद्वाससा न संवदेत्, नास्या अन्नमद्यात्—इति । तत्र सन्देहः,—किं मलवद्वाससा सह दर्शपूर्णमासाङ्गस्य संवादस्य प्रतिषेधः, उत पुरुषस्य सवत्र प्रतिषेधः ?—इति । किं प्राप्तम् ?—प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयोः प्रतिषेधविधिः ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—मलवद्वाससा सह संवाद उत्हाष्येत प्रकरणात् । कस्मात् ? प्रागपरोधात्, एवं श्रूयते,—‘यस्य व्रत्ये ऽह्नि पत्नी अनालम्बुका स्यात् तामपरुथ यजेत’—इति । पत्न्या च सह संवादोऽर्ध्यादर्शपूर्णमासयोः अस्ति,—‘पत्नि पत्नि एष ते लोकः’—इति, प्रसज्यमानः प्रतिषिध्येत, स चाप्राप्त

भा एव प्रागपरोधात् अपनीयता यागमनुतिष्ठताम् कथं सवाद
प्रसज्येत? यत् प्रतिषेधमर्हत् । तस्मात् उत्कृष्येत मन्त्रवद्वाससा
सह सवाद ॥

सू अन्नप्रतिषेधाच्च ॥ १९ ॥ (हे०) ॥

भा अन्नप्रतिषेधश्च भवति — 'नास्या अन्नमद्यादभ्यञ्जनं वै खिया
अन्नम् — इत्युपगमनप्रतिषेध एष विधीयते, स च प्रकरणे न
प्रसक्त — इति प्रकरणान् उत्कृष्ट पुरुषधर्म एष निश्चोयते ॥
(३।४।७) ॥

सुवर्णधारणादीना पुरुषधर्मताधिकरणम् ॥

सू अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात् ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा अनारभ्य श्रूयते — 'तस्मात् सुवर्णं हिरण्यं भात्ये दुर्वर्णाभ्य
भ्रातृभ्यो भवति' — इति । सुवाससा भवितव्य रूपमेव विभर्ति
— इति । तत्र किं प्रकरणधर्म उत पुरुषधर्म? — इति सशय ।
अत्र उच्यते, — 'अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात्', पुरुषधर्म
एवज्ञातीयक स्यात् । कुत? 'तत (प्रकरणाधीनात्)
विशेषोभ्य नाय प्रकरणाधीत यदि अप्रकरणे समाग्न्यात्
सर्वप्रकरणधर्म स्यात् अप्रकरणे समाग्न्यात् न कश्चित् विशेष
कुर्यात् । तस्मात् एवज्ञातीयक पुरुषधर्म — इति ॥

सू अद्रव्यत्वात्तु शेष स्यात् ॥ २१ ॥ (पू०) ॥

भा तुशब्द पञ्चव्याहृती । न पुरुषधर्मो भवेत् अग्निहोत्रादीना
शेष स्यात् । कस्मात्? अद्रव्यत्वात् नात्र द्रव्यदेवता श्रूयते,
यष्टवणात् भार्य यष्टव्यम् — इति परिकल्प्येत । असति तु
द्रव्यदेवतासम्बन्धे विभर्तिरयं धारणावचन संस्कारवाची,

भा. संस्कारस्य शेषभूतस्य अवकल्पते नान्यथा, तस्मात् कर्मणाम्
अग्निहोत्रादीनाम् शेषः । एवं, सुवाससा भवितव्यम्—इति ॥

सू. वेदसंयोगात् ॥ २२ ॥ (पृ० यु० १) ॥

भा. आध्वर्यवम्—इति वेदसंयोगः शेषभूतस्य युज्यते, शेषभूतो
हि अध्वर्युणा क्रियते, न पुरुषधर्मः,* दर्शपूर्णमासादीनां हि
कर्मणां साङ्गानामङ्गानामध्वर्युः कर्त्ता । तस्मात् अपि कर्मधर्मा
एवञ्जातीयकाः—इति ॥

सू. द्रव्यसंयोगाच्च ॥ २३ ॥ (पृ० यु० २) ॥

भा. द्रव्यपरस्य अत्र भवति निर्देशः,—सुवर्णम् भार्यम्—इति
द्वितीयार्थसंयोगात् । द्रव्यसंस्कारस्य कर्मशेषपक्षे प्रयोजनवान्,
अनर्थकाः पुरुषधर्मैः ॥

सू. स्याद्वास्य संयोगात् फलेन सम्बन्धस्तस्मात् कर्मेति
शायनः ॥ २४ ॥ (पृ० नि०) ॥

भा. स्यात् वा फलेन एवञ्जातीयकानाम् सम्बन्धः पुरुषधर्मः—
इत्ययः, सुवर्णस्य वाससो वा धर्मा भवन् निःप्रयोजनः स्यात् ।

‘ननु सस्त्रातेन सुवर्णेन वाससा च कर्म सेत्स्यति’ । नैतदेवं,
सुवर्णस्य अङ्गं न कर्मण उपकुर्यात्; युत्यादीनामभावात् न
कर्माङ्गम् । तस्मात्, दुर्वर्णास्य भ्रातृव्यो भवति—इत्येवमादिना
एवञ्जातीयकानाम् फलेन सम्बन्धः ।

‘ननु वर्त्तमानापदेशोऽप्यम्’ । सत्यमेवमेतत्, आनर्थक्यपरि-
हाराय फलचोदनया सम्बन्ध एषितव्यो भवति । अन्यस्माच्च
एषितव्यादेकवाक्यगतस्य विपरिणामी लघीयान् । कुतः ? ।

भा प्रत्यक्षा तेनेकवाक्यता, परोक्षा अन्येन, विपरिणामस्य वक्तुं मानकालस्य अविवक्षा सम्बन्धस्य च तात्पर्याध्यवसानम् । तस्मात् एवञ्जातीयक प्रधानकर्मापदेश स्यात्, यथा प्रजापति व्रतानां फलेन सम्बन्धः,—‘एतावता हेनसावियुक्तो भवति’—इति । एवम् अत्रापि द्रष्टव्यम् । तस्मात् एवञ्जातीयक पुरुष धर्म—इति ॥ (३।४।८) ॥

जयादीनां वेदिककर्माङ्गताधिकरणम् ॥

ख शेषो प्रकरणेऽविशपात सर्वकर्मणाम् ॥ २५ ॥ (पू०) ॥

भा इह कर्मसंयुक्ता होमा जयादय उदाहरणम् । ‘येन कर्मणा ईत्सत् तत्र जयान् जुहुयात् * राष्ट्रभृतो जुहोति’—इति, ‘अभ्यातानान् जुहोति’—इति । तत्रेते किं सर्वकर्मणाम् ह्यस्या दीनाम् शेषभूता, उत वेदिकानाम् अग्निहोत्रादीनाम् ?—इति । शेषत्व तु निर्ज्ञातकर्मसम्बन्धात् फलाश्रयणाच्च । किं तावत् प्राप्तम् ?—सर्वकर्मणाम् शेषा, विशेषानभिधानात्—इति ॥

ख होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नावनीयसयोगात् ॥ २६ ॥ (मि०)

भा न चेतदस्ति—सर्वकर्मणाम् कर्मणादीनामप्यङ्गभूता—इति, होमा एते अतो व्यवतिष्ठेरन् आहवनीयसंयोगो भवति होमेषु—‘यदाहवनीये जुहोति तेन सौम्याभीष्टं प्रीती भवति’—इति, तेन यस्याहवनीय तस्य एते अङ्गम् । न

* ईत्सत् सिद्धिमिच्छेत् । चिरञ्च साक्षा इत्येवमादयो जयाः । व्रताधाडिथादयो राष्ट्रभृत । अग्निहोत्रानामित्यादयोऽभ्याताना इति माधवः ॥

भा. च, कृष्यादीनि आह्वनीये वर्तन्ते, न च, एषां गार्हपत्योऽस्ति,
यतः प्रणीते आह्वनीयः स्यात् । तस्मात् न कर्षणादीनाम्
जयादयः ॥

ख शेषश्च समाख्यानात् ॥ २७ ॥ (हे०) ॥

भा. इतद्य पश्यामी वेदिकानाम् शेषभूताः—इति । कुतः ?
समाख्यानात्, आभ्यर्चयम्—इति हि समाख्याते वेदे जयादयः
समाख्याताः सन्तोऽभ्यर्च्युणा करिष्यन्ते । कर्षणादियु अभ्यर्च्याः
अभावात् अनभ्यर्च्युणापि क्रियमाणाः समाख्यां बाधेरन्, तस्मात्
वेदिकानाम् शेषभूताः—इति ॥ (३।४।६ अ०) ॥

वेदिकाश्चप्रतिग्रहे इष्टिकर्तव्यताधिकरणम् ॥

ख दोषात्त्विष्टिलौकिके स्याच्छास्त्राद्वैदिके न दोषः
स्यात् ॥ २८ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्त्यश्वप्रतिग्रहेष्टिः,—‘वरुणो वा एतं गृह्णाति, योऽश्वं
प्रतिगृह्णाति*, यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्, तावतो वारुणान्
चतुष्कपालान् निर्वपेत्’—इति । तत्र सन्देहः,—किं लौकिके-
श्वप्रतिग्रहे इष्टिः, अथ वैदिके?—इति । कः पुनर्लौकिको-
श्वप्रतिग्रहः? को वा वैदिकः?—इति । लोके भिद्यमानो वा
अभिद्यमानो वा यथाश्वं लभते, तत्र लौकिकाश्वप्रतिग्रहः ।
वेदिकोऽपि, पीण्डरीकोऽश्वसहस्र दक्षिणा ज्योतिष्टोमे गौश्चा-
श्वश्च—इति ।

तत्र उच्यते,—वैदिकत्वसामान्यात् वैदिके—इति प्राप्ते,

भा. उच्यते,—‘दोषान्विष्टलौकिके स्यात्’, दोषो हि श्रूयते,—
 वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति—इति, स चायम्
 अनुवादो यत्र दोषः, तत्र—इति, स च लौकिकेऽश्वप्रतिपक्षे
 शूद्रात् अन्यस्मात् वा पापकर्मणः क्षतो भवति—इत्युपपद्यते,
 दोषसयोगात् लौकिके—इति गम्यते । ‘आह न दोष-
 सङ्कीर्तनं प्रायश्चित्तविषयविशेषणं, किन्तु प्रायश्चित्तस्तुत्यर्थेन’ ।
 उच्यते,—दोषनिर्घातार्थं सत्येवं स्यात्, वरुणप्रमोचनम् इदं
 कर्म, तत् लौकिके भवितुमर्हति, लोके वरुणग्रहणस्य विद्यमान-
 त्वात्, वैदिके त्वश्वप्रतिपक्षे तत् न स्यात्, शाखाद्वि (वचनेन)
 तस्य कर्त्तव्यता अवगम्यते । यदि च ततः पापं स्यात्, न
 तस्य कर्त्तव्यता अवगम्येत, अकर्त्तव्यम् हि पापफलम् ।

‘ननु वेदिकेऽपि प्रतिपक्षे अप्रतिपाद्यात् प्रतिगृह्यतः पाप
 मस्ति’ । उच्यते,—भवेदेवं, यदि प्रतिपक्षस्य कर्तुरिष्टिर्भवेत्,
 सा तु खलु यथा हेतुर्कर्तुः, तयोत्तराधिकरणे वक्ष्यामः । तस्मात्
 न वेदचोदितेऽश्वप्रतिपक्षे इष्टिः,—इत्येतावत् इह अधिकरणे
 सिद्धम् ॥

ख अर्थवादो वा अनुपपातात्* तस्माद्यज्ञे प्रतीयेत ॥

२६ ॥ (सि०) ॥

भा न च एतदस्ति, यदुक्तम्,—‘य. शूद्रादन्यस्मात् वा पाप-
 क्षतो लोकेऽश्वं प्रतिगृह्णीयात् स एतामिष्टिं निर्वपेत्’; स हि
 वरुणगृहीतः इत्युच्यते, जलोदरेण यो गृह्णीतो, यस्य उदरं
 जलदृष्ट्या श्रवयति, जलोदरम्—इत्येव लोके तत् प्रसिद्धम्,
 न च, तस्य अश्वप्रतिपक्षो लौकिको निदानम्—इति प्रति

* अनुपपातादिति पाठः का० म० मु० । एव भाष्येऽपि परम् ॥

भा. ज्ञायते, न च, अनेन विधीयते; तस्मात् न अश्वप्रतिग्रहात्
जलोदरोपपातः ।

‘अथ पापं वरुणशब्देन उच्यते, दृणीते—इत्येयोभिप्रायः—
इति’ । तदा प्रसिद्धौ त्यक्तायां क्लेशमात्रं, एषवत् वरुणशब्देन
उच्यते, तत्र याज्ञेयि प्रतिग्रहे वरुणगृहीतः स्यात्, रक्षण-
पीपणविचिकित्सादिना क्लेशेन नैष पक्षो व्यवतिष्ठेत्,—लौकिके-
श्वप्रतिग्रहे—इति, प्रसिद्धिश्च बाधेत । तस्मात् अर्थवाद एषः,
—यावत् वरुणगृहीतस्य वरुणोन्मोचने श्रेयः, तावत् एतेन
—इति उपमानेन एषा स्तुतिः, योऽस्य प्रतिग्रहः, तत् वरुण-
ग्रहणमिव, या इष्टिः, सा तदुन्मोचनीव, यथा वरुणगृहीतेन
उन्मोचनम् अवश्यकर्तव्यम्, तादृगेवैतत्—इति, तस्मात् यज्ञे
प्रतीयेत । लौकिके हि फलं कल्पनीयम्, वैदिके यस्मिन्
अश्वप्रतिग्रहः, तस्याङ्गभूता भविष्यति, तत्र प्रयोगवचनेन सह
एकवाक्यता सम्बन्धात् अवकल्प्यमाना, परीक्षायाः फलवचनेन
सह एकवाक्यताया लघीयसी—इति युक्तम् इष्टिः वैदिके दाने
—इति ॥ (३।४।१० अ०) ॥

दातुर्वाक्योऽधिकरणम् ।

छ अचोदितं च कर्मभेदात् ॥ ३० ॥ (पू०) ॥

भा. ‘यावतोऽश्वान् प्रतिगृहीयात्, तावतो वारुणान् चतुष्कपा-
लान् निर्वपेत्’—इति । तत्र एतत् समधिगतं,—वैदिके अश्व-
प्रतिग्रहे इष्टिः—इति । अथ इदानीं सन्दिश्यते,—किं प्रति-
ग्रहकर्त्ता कर्त्तव्या, यस्मै दीयते; उत हेतुकर्त्ता, यो ददाति?
इति । किं प्राप्तम्?—‘अचोदितं च कर्मभेदात्’, न
कर्तुः इष्टिशोध्यते, प्रतिग्रहकर्त्तुः तमवगच्छामः,

भा प्रतिगृह्णीयात् तावत्तुत्तुक्पासान् वारुणान् निर्वपेत्—इति,
तस्मात् प्रतियहोवा ऋत्विजा कर्त्तव्या—इति ॥

६ सा लिङ्गादात्विजे स्यात् ॥ ३१ ॥ (सि०, ॥

भा नैया प्रतिग्रहकर्त्तुः, किं तर्हि हेतुकर्त्तुः स्यात्। कुतः? लिङ्गात्। किं लिङ्गम्?। पूर्वपदानाम् उत्तरैः पदैर्यथार्थम् अभिसम्बन्धः, इदं श्रूयते,—‘प्रजापतिर्वरुणाय अग्नयत्’—इति, प्रजापतिः अग्नयस्य दाता कीर्त्तितः, वरुणः प्रतियहोता, ‘स स्वां देवतामार्च्यत्’—इति, ‘सः’—इति सापेक्षं पूर्वप्रकृतं वाक्यशेषमपेक्षते, सः—इति प्रजापतिं प्रतिनिर्दिशति—इति तेन सह एकवाक्यतां याति। सामानाधिकरण्याच्च प्रजापतेरेव प्रतिनिर्देशोऽवकल्पते, न तु वरुणस्य, वैयधिकरण्यात्। ‘स पर्यदोर्यत्’—इत्येवमपि प्रजापतिमेव प्रतिनिर्दिशति पूर्वप्रकृतं, तेन च सह एकवाक्यतां याति। स एवैतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्—इति प्रजापतिरेव—इति, निरवपत् प्रजापतिरेव—इति, ततो वै स वरुणपाशात् अमुच्यत प्रजापतिः। ‘वरुण एतं गृह्णाति’—इति हेत्वपदेशोऽभ्यस्तम्,—यस्मात् एव प्रजापतिर्वरुणाय अश्वं दत्त्वा परिदीर्णः, तस्मात् योऽश्वं प्रतिगृह्णाति (प्रयच्छति) तं वरुणो गृह्णाति, स परिदीर्यते—इति। यतस्तु वारुणेन प्रतिमुक्तः, तस्मात् अन्येनापि अश्वं प्रयच्छता वारुणो निर्वपेत्,—इत्यश्वस्य दातुर्वारुणो इष्टिः प्रशस्यते, कर्त्तव्या अग्नेनाख्यातेन। तस्मात् अश्वं दत्त्वा वारुणीम् इष्टिं निर्वपेत्—इति।

‘आह, ननु यः अश्वं प्रतिगृह्णाति स निर्वपेत्—इत्युच्यते’। एवं सत्यन्यथोपक्रान्ते वाक्ये अन्यथोपसंस्कृते उपक्रमोऽप्यनर्थकः स्यात्, उपसंहारोऽपि। तस्मात् उपक्रमे वा शब्दार्थं उपसंहारवशेन कल्पनीयः, उपसंहारे वा उपक्रमवशेन। तत्र

भा. 'प्रजापतिर्वरुणायाश्चमनयत्'—इति, वरुणात् अश्वम् प्रत्य-
गृह्णात्—इति उपसंहारानुरोधेन कल्पयेत्, यदा उपक्रमवशेन
उपसंहारं, 'योऽश्वं प्रतिगृह्णाति'—इति, योऽश्वं प्रतिग्राहयति
—इति?। तत्र 'मृष्यं वा पूर्वं चोदनात् लोकवत्'—इति
प्रथममनुगृहीतव्यं निरोधाभावात्; पश्चात्तनं तु विरोधात्
सञ्चय्या कल्पनीयम्।

अपि च,—'प्रजापतिर्वरुणाय अश्वमनयत्'—इति वरुणात्
अश्वं प्रत्यगृह्णात्—इति वक्त्रसमञ्जसं कल्पयितव्यम्। 'प्रतिगृ-
ह्णाति'—इत्येय शब्दः, प्रतिग्राहयति—इत्येतम् अर्थम् शक्नोति
यथा-कयाचित् शक्त्या वक्तुम्, यो हि तत् आचरति, येन च
क्रिया प्रणाद्यापि सिध्यति, स तस्याः क्रियायाः कर्ता—इति
शक्यते वदितुम्, यथा यङ्भिर्हलैः कर्षतीति संविधानं कुर्वन्
विलेखनमकुर्वन्नप्युच्यते, तत्समग्रम् आचरति—इति। एवम्
इहापि स प्रतियक्षसमर्थम् आचरति (यो ददाति); तस्मात्
ददत् प्रतिगृह्णाति—इति शक्यते वदितुम्। तस्मात् अथवधार्यं
इदमवलुप्तम्, ददत् प्रतिगृह्णाति—इत्युच्यते, तस्य च वारुणी
इष्टिः—इति ॥ (३।४।११ अ०) ॥

वैदिकपानव्यापदि सौमेन्द्रचरविधानाधिकरणम् ।

स. पान-व्यापच्च तद्वत् ॥ ३२ ॥ (पू०, ॥

भा. इदं समामनन्ति,—'सौमेन्द्रं चरं निर्वपेत् श्यामाकं सोम-
वार्मिनः'—इति। तत्र सन्देहः,—लौकिकस्य सोमपानस्य
वमने सौमेन्द्रश्चरः, उत वैदिकस्य?—इति। किं लौकिकं
सोमपानम्? किं च वैदिकम्? उच्यते,—वैदिकं सोमपानं
ज्योतिष्टोमे तदिह्यतिषु च, लौकिकं सोमपानं यत् सप्तरात्रेषु

भा दशरात्रेषु धातुसाम्यार्थमासेद्यमाने सोमे । किं तावत् प्राप्तम् ?
 —‘पानव्यापञ्च तदत्’, लौकिके वमने इष्टिर्भवितुमर्हति, न
 वैदिके, तदत्—इति पूर्वः पक्षः प्रतिनिर्दिष्टः,—यथा तत्र
 दोषसंयोगेन अवणात्, लौकिकेऽवप्रतियुक्ते—इत्युक्तम्, एवम्
 इहापि दोषसंयोगेन अवणं भवति,—‘इन्द्रियेण वा एष वीर्येण
 वृग्मते यः सोमं पिबति’—इति लोके धातुसाम्यार्थमासेविते
 वमनेन विनष्टे धातुसाम्यव्यापदा इन्द्रियेण वृग्मिरूपमद्यते,
 शास्त्राद्वि वैदिके न दोषः स्यात्, तत्र, शेषः पातव्यः—इति
 शब्दाद्योदिते निर्हन्ते नास्ति दोषः । यद्यपि वम्यते, तथापि
 पानक्रिया तत्र निर्देष्टता, हतो वचनार्थः—इति न दोषः
 स्यात् । तस्मात् लौकिकस्य सोमपानस्य व्यापदि सोमेन्द्रः
 स्यात् ॥

ख दोषात्तु वेदिके स्यादर्थ्याद्वि लौकिके न दोषः
 स्यात् ॥ ३३ ॥ सि०, ॥ -

भा वैदिकस्य पानस्य व्यापदि भवितुमर्हति, न लौकिकस्य ।
 कस्मात् ? । ‘दोषात्’ दोषसम्बन्धोऽत्र श्रूयते,—‘इन्द्रियेण वा
 एष वीर्येण वृग्मते’—इति । लौकिके पुनर्धातुसाम्यार्थं
 क्रियमाणे न किञ्चित् दुर्यति, वमनाय एव हि तं पिबन्ति
 लोके । अथापि अयमर्थवादः, तथापि फलकल्पनापरीक्षाराय
 वैदिके एव—इति कल्पना न्याय्या ॥ (३।४।१२ अ०) ॥

सोमेन्द्रचरोऽयं जमानपानव्यापदिमयताधिकरणम् ॥

ख तत्सर्वत्राविशेषात् ॥ ३४ ॥ (पृ०) ॥

भा तदेतत् सोमपानव्यापदि सोमेन्द्रं कर्म, सर्वत्र वमने स्यात्,
 आत्विंशे याजमाने च । कुतः ? । अविशेषात्, न विशेषः

भा. कश्चित् आश्रीयते,—अस्य वमने स्यात्, न अस्य—इति, तस्मात् सर्वत्र भवेत् ॥

छ. स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥ ३५ ॥ (सि०) ॥

भा. स्वामिनो वा वमने स्यात् । कुतः ? । तदर्थत्वात्, तदर्थं कर्म (यजमानार्थं); यत्र सोमो वम्यते, यत् त्वत्र सोमेन्द्रं कर्म; तदपि तदर्थमेव; इदं हि सोमवामिन उपकाराय श्रूयते, तत् सोमवामिनः, यत् यजमानस्य उपकर्तुम् शक्नोति नार्त्विजः, न हि तत् ऋत्विगर्थं कर्म, यत्र सोमो वम्यते । अथ उच्येत,—‘सोमवामिनोऽध्वर्याहोतुर्वा आत्मीया ऋत्विजः, तदीयेषु अग्निषु निर्वर्त्तयिष्यन्ति’—इति । तथा सति यदि वा दृग्ध-सोमस्य कर्मणो न अङ्गं, न सोमवामिनोऽध्वर्याहोतुर्वा, तत्र अत्यन्तगुणभूता अध्वर्यादयः स्वैर्ऋत्विग्भिः कारयन्तो न फलं प्राप्नुवन्ति, तदर्थं च क्रियमाणं न यजमानस्य उपकारे वर्त्तते—इति न ऋत्विजो वमने क्रियेत ॥

छ. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ३६ ॥ (हे०) ॥

भा. लिङ्गं च भवति, यजमानस्य सोमवामिनः—इति । कथं ? । ‘सोमपीथेन’ वा एष दृश्यते यः सोमं वमति—इति । यजमानः, सोमसंस्कारे विनष्टे विगुणमस्य कर्म—इति दृश्येत, न कश्चित् ऋत्विजो दृग्धिः । ऋत्विजो यस्य सोमं वमन्ति—इति वमनेन संबन्धः स्यात्, न यः सोम वमति—इति । तस्मात् अपि पश्यामो यजमानस्य वमने सोमेन्द्रम्—इति ॥ (३।४।१३ अ०) ॥

आग्नेयाष्टाकपालसप्तरोहोद्वयदानमात्रस्य होतव्यताधिकरणम् ।

स सर्वप्रदान हविषस्तदर्थत्वात् ॥ ३७ ॥ (पू०) ॥

भा रतो दर्शपूर्णमासौ, तत्र समाग्नयते,—‘यत् आग्नेयोष्ठा कपालोष्मावास्याया पौर्णमास्या चाचुरतो भवति’—इति । तत्र सन्देहः,—किं ह्यस्त्रं हवि, अग्नये प्रदातव्यम्, उत शेषयितव्य किञ्चित्, किञ्चित् दातव्यम्?—इति । किं प्राप्तम्?—ह्यस्त्रं हवि प्रदीयेत । कुत ? तदर्थत्वात् ‘पुरोडाश आग्नेय कर्तव्य’—इति वचनम् । तस्मात् सर्वं प्रदातव्यम्—इति ॥

स निरवदानात्तु शेषः स्यात् ॥ ३८ ॥ (सि०) ॥

भा निष्ठाव्यावदान निरवदानं । तद्धि श्रूयते,—‘दिहंविषो भव्यति’—इति । अपरमपि वचनं,—‘द्वयदानं जुहोति’—इति, तेन द्वयदानमात्रं होतव्यम्, अन्यत्परिशेषणीयम् ॥

स उपायो वा तदर्थत्वात् ॥ ३९ ॥ (आ०) ॥

भा न चेत्तदस्ति,—द्वयदानमात्रं होतव्यम्—इति, यत् जुहोति, तत् द्विरवखण्डनेन संस्कर्तव्यम्—इति, होतव्ये द्विरवखण्डन मात्रं विधीयते, न अद्विरवखण्डितस्य होम प्रतिषिध्यते, ह्यस्त्रं च होतव्यमिति तदेव न्याय्यं, नान्यथा ॥

स हतत्वात्तु कर्मणः सकृत्स्यात् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥ ४० ॥ (आ० नि०) ॥

भा उच्यते,—यदा द्विरवखण्डनविशिष्टं होमे श्रुतं, तदा सहस्र

* ‘अवरेषस्य अद्भुतपर्वमात्रम्, तथा च कल्पगूणकारः आग्नेयस्य पुरोडाशस्य सप्तादद्भुतपर्वमात्रमवदानं तिरस्चीनमवद्यतीति’ इति माधवः ।

भा. वदानं (यावत् श्रुतं) तत्सर्वं कृतं, तदा न अपरं द्रव्यमस्ति—इति पुनर्यागो न आवर्त्तितव्यः । कथं ? तद्वि द्रव्यं याग-
निर्णेत्यर्थं, न द्रव्यं यागेन सम्बन्धयितव्यम्—इति, यदि हि
यागेन हविः सम्बन्धयितव्यं स्यात्, ततो यागेन द्रवदाने
सम्बन्धिते अपरमपि सम्बन्धनीयमस्ति—इति, तत्सम्बन्धाद्ये
पुनर्यागः आवर्त्तितः । न तु यागो द्रव्यसम्बन्धार्थः, किं तर्हि,
द्रव्यं यागे गुणभूतं, यागः कथं निर्णत्तिमुपेयात् ?—इति द्रव्य-
मुपादीयते । तेन निर्णत्ते यागे सिद्धे च पुरुषार्थे न नियोगेन
गुणानुरोधेन प्रधानावृत्तिर्युक्ता—इति ।

‘कथं न द्रव्यं प्रधानं, येन आवृत्तिर्न भवेत् ?’ । यतो यागात्
फलम्, ‘भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते’—इति । न
च, यागेन द्रव्यस्य उपकारो निर्वर्त्त्यते प्रत्यक्षः कश्चित्, तस्मात्
द्रवदानं कृत्वा शेषयितव्यम्—इति । यत्तु उक्तं,—आग्नेयं
हविः—इतिवचनात्, सर्वं होतव्यम्*—इति गम्यते—इति,
तत्र आनुमानिको होमसम्बन्धः, इह तु प्रत्यक्षो द्विरवदाने ।
अपि च अष्टात्ससम्बन्धेऽपि तद्वितस्य उपपत्तिः,—ततो गृही-
तव्यम्—इति । सामान्यं खलु आग्नेयः—इति, द्रवदानं जुहोति
—इति विशेषः । तस्मात् शेषयितव्यं किञ्चित्—इति ॥

ख शेषदर्शनाच्च ॥ ४१ ॥ (हे०) ॥

भा. ‘शेषात् इडामवद्यति शेषात् स्विष्टकृतं यजति’—इत्यनु-
वादात् अस्ति शेषः—इति पश्यामः ॥ (३।४।१४ अ०) ॥

* सर्वप्रदानमिति पाठः का० सं० पु० ॥

सर्व्वशेषैः खिद्यद्दनुष्ठानाधिकरणम् ।

स अप्रयोजकत्वादेकस्मात् क्रियेरन् शेषस्य गुणभूत
त्वात् ॥ ४२ ॥ (पृ०) ॥

भा स्तो दर्शपूर्णमासो तत्र शेषकार्याणि ऐडमाशिवसौविष्ट
वृदादीनि । तत्र सन्देह — किं हविषो हविष कर्त्तव्यानि
उतेकस्मात् हविष ?—इति । किं प्राप्तम् ?—अप्रयोजकत्वात्
एकस्मात् क्रियेरन् अप्रयोजकानि शेषकार्याणि हविषाम्
यदि शेषकार्ये प्रयुक्तानि भवेयु सर्वाणि प्रयुक्तानि—इति
सर्व्वभ्य क्रियेरन् अन्धार्थानि त्वेतानि न अवश्य शेषकार्येषु
विनियोक्तव्यानि सन्निधानात्तु यत्—कुतश्चिदनुष्ठानाद्यानि
शेषो हि साधनमनोपाम्— इति ॥

स सस्कृतत्वाच्च ॥ ४३ ॥ (हे०) ॥

भा सहाच एवञ्जातीयकेन शेषकार्येण सस्कृत प्रधानम्—इति
छत्वा न अपरस्मादपि कर्त्तव्यम्—इति ॥

स सर्व्वेभ्यो वा कारणाविशेषात्, सस्कारस्य तदर्थ
त्वात् । ४४ ॥ (सि०) ॥

भा सर्व्वेभ्यो वा हविर्यं शेषकार्याणि कर्त्तव्यानि । कुत ?
कारणाविशेषात् यत् एकस्य हविष शेषकार्यत्रियायां कारण
तत् सवपां स हि शेष प्रतिपादयितव्य यस्य एव न
प्रतिपाद्यते तस्य तेन सस्कारेण वर्जनं स्यात् तस्मात् सर्व्वभ्य
कर्त्तव्यानि—इति ॥

स निज्जटर्शनाच्च ॥ ४५ ॥ (हे०) ॥

भा निज्ज च दृश्यते — 'देवा वै खिद्यद्दनुष्ठानमनुवन् हव्य नो वह'

भा.—इति, सोऽब्रवीत् वरं वृणै भागो मेऽस्त्विति, वृणोष्वेति तेऽब्रुवन्, सोऽब्रवीत् उत्तरार्द्धादेव मङ्गं सशत् सशदवद्यात्—इति वोप्सादर्शनम् । तस्मात् सर्वेभ्यः शेषकार्याणि—इति ॥ (३।४।१५ अ०) ॥

प्राथमिकशेषात् स्थिरकृदाद्यनुष्ठानाधिकरणम् ॥

स एकस्माच्चेत् यथाकाम्यविशेषात् ॥ ४६ ॥ (पू०) ॥

भा. अथ कृत्वाचिन्ता । यदा एकस्मात् भवेयुः, किं तदा यतः—कुतश्चित्, उत प्रथमात्?—इति । किं प्राप्तम्?—यतःकुतश्चित्—इति । कुतः? न कश्चिद्विशेष आश्रीयते—इति, तस्मात् अनियमः—इति ॥

स मुख्याद्वा पूर्वकालत्वात् ॥ ४७ ॥ (सि०) ॥

भा. मुख्याद्वा कर्त्तव्यानि । कुतः? पूर्वकालत्वात्, ततः कर्त्तव्येषु नास्ति निमित्तविधातः, असति निमित्तविधाते नैमित्तिकम् कर्त्तव्यम्—इति, ततः कृतेषु द्वितीयादीनां निमित्तविधातः—इत्यक्रिया । तस्मात् मुख्यादेव क्रियेरन्—इति ॥ (३।४।१६ अ०) ॥

पुरोडाशविभागस्य भक्षार्थताधिकरणम् ॥

स भक्ष्याश्रवणाद्भानशब्दः परिक्रये ॥ ४८ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘इदं ब्रह्मणः, इदं होतुः, इदं मध्वर्योः, इदम् अग्नीधः’*—इति । तत्र सन्देहः,—किमयम्

भा ऋत्विजा विभाग परिक्रियाय, उत भक्षणाय?—इति । किं प्राप्तम्?—परिक्रियार्थो विभाग । कुत ? । भक्ष्याश्रवणात् न श्रूयते,—भक्षयितव्यम्—इति, य एव श्रुतस्योत्सर्गं दोष स एव अश्रुतपरिकल्पणायाम् । कर्मकरेभ्यश्च दीयते तस्मात् परिक्रिये एष ॥

सू

तत्सस्तवाच्च ॥ ४६ ॥ (हे०) ॥

भा

‘एषा वै दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणा—इति दक्षिणासस्तवाच्च परिक्रियार्थं मन्यामहे ॥

सू

भक्ष्यार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ॥ ५० ॥ (सि०) ॥

भा

भक्ष्यार्थ एष विभाग । कुत ? । दानस्य अभावात् । कथम् अभाव ? । प्रभवता हि शक्य दातुम् न अप्रभवता । कथं न प्रभुत्वम् ? । सङ्कल्पित हि यजमानेन, देवतायै एतत्—इति न च देवतायै सङ्कल्पितेन शिष्टा स्वेन एव व्यवहरन्ति । तस्मात् शिष्टाचारम् अनुवर्तमानेन अशक्य प्रभवितुम् तस्मात् न परिक्रिय ।

‘अथ यत् उक्त—न श्रूयते भक्षयितव्यम्—इति यावाश्च श्रुतस्य उत्सर्गं दोष तावान् अश्रुतपरिकल्पनायाम्—इति । उच्यते,—इदं ब्रह्मण—इत्येवमादिभिर्ब्रह्मादीना भागैरभि सम्बन्ध, तत्र भागा ब्रह्मादीनाम् उपकुर्षुर्ब्रह्मादयो वा भा गाना ब्रह्मादिभिर्भागानाम् उपकुर्षुर्द्विर्ग किञ्चित् दृष्टमस्ति भागेस्तु ब्रह्मादीनाम् उपकारकै शक्यते केनचित् प्रकारेण दृष्ट उपकार कर्तुम्, भक्ष्यमाणै । तस्मात् भक्षणाय विभाग—इति । ‘क पुन उपकार ? इति चेत् । तृप्ताना कमशेष परिसमापने सामंश्यं भवति—इति ॥

सू

व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः ॥ ५१ ॥

ला अथ यत् दक्षिणासस्तवः—इति, व्यादेशसामान्यात् तत्,
अपरिक्रयार्थेऽपि भविष्यति—इति ॥ (३।४।१७ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः द्वातौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्या-
यस्य चतुर्थः पादः ॥

तृतीये अध्याये पञ्चम पादः ।



अथ भुवाज्यादिभिः स्विष्टकृदादिशेषाननुष्ठानाधिकारणम् ।

स आज्याच्च सर्वसंयोगात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र श्रूयते,—‘उत्तरार्द्धात् स्विष्टकृते समवद्यति—इति, तथा ‘ब्रूडानुपकृत्यति’—इति, तथा अन्यानि शेषकार्याणि । तत्र सन्देहः—किं आज्यात् उपाश्रुयाजद्रव्यात् स्विष्टकृदिडमवदातव्यम् उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—अवदातव्यम्—इति । कुत ? सर्वसंयोगात्, साधारणप्रकरणसमाप्नानात् सर्वेषां शेषकार्याणि । अपि च सर्वसंयोगो भवति—‘तद्यत् सर्वभ्यो हविर्भ्यं समवद्यति’—इति । तस्मात् आज्यादपि शेषकार्याणि क्रियन्ते ॥

स कारणाच्च ॥ २ ॥ (हे० १) ॥

भा कारणं श्रूयते,—‘देवा वे स्विष्टकृतमब्रुवन् हव्यं नो वद्ध—इति, सोमब्रवीद्वरं वृणौ भागो मेऽस्त्विति वृणोष्वेत्यब्रुवन् सोमब्रवीत् उत्तरार्द्धात् एव मद्धं सहात् सहदवद्यात्—इति तुल्यं कारणम् अन्येषाम् आज्यस्य चार्थवादे सङ्कीर्त्यते । तस्मादग्न्याज्यात् अवदातव्यम्—इति ॥

स एकस्मिन्समवत्तशब्दात् ॥ ३ ॥ (हे० २) ॥

भा आदित्ये चरो प्रायणीये श्रूयते,—‘अग्नये स्विष्टकृते समवद्यति’—इति, आज्यादेकस्माच्च हविषोऽवद्यति—इति, मिथ्यस्य अन्येन हविषा समवद्यति—इति यदि च आज्यादपि स्विष्टकृतेऽवदीयेत, ततश्चोदकेन प्रायणीये आज्यावदाने क्रियमाणे

भा. समवद्यति—इत्युपपद्यते ; इतरथा चरोरेकस्मात् अवद्यति—
इत्यभविष्यत् ॥

सू. आज्ये च दर्शनात्स्त्रिष्टकदर्थवादस्य ॥ ४ ॥ (हे० ३) ॥

*भा. धौवे च आज्ये स्त्रिष्टकदर्थवादो भवति,—‘अवदाय अवदाय
ध्रुवां प्रत्यभिधारयति, स्त्रिष्टकतेष्वदाय न ध्रुवां प्रत्यभिधारयति,
न हि ततः परामाङ्गतिं यच्छन् भवति’—इति, प्रत्यभिधारणस्य
एतत् प्रयोजनं दर्शयति,—‘ततः परामाङ्गतिं ह्येष्यति’—इति ।
सौविष्टकते वृत्ते ततः पराङ्गतिर्नास्ति—इति न प्रत्यभिधार्येत ।
स्त्रिष्टकदर्थे ध्रुवायां भवति प्रत्यभिधारणम्—इति दर्शयति ॥

सू. अशेषत्वात् नैवं स्यात्सर्वादानात्* अशेषता ॥ ५ ॥
(सि०) ॥

भा. नैवं,—धौवाज्यात् स्त्रिष्टकादिदम् अवदातव्यम्—इति ।
कस्मात् ? । अशेषत्वात् । कुतो न अस्य शेषः ? । सर्वादानात् ॥

सू. साधारण्यान्र ध्रुवायां स्यात् ॥ ६ ॥ (आ० नि० १) ॥

भा. ‘ननु उपांशुयाजायं गृहीते यत् ध्रुवायां शिष्टं, तत् शेष-
भूतम् । नेतत्, साधारणं हि तत्, उपांशुयाजाय, अन्येभ्यश्च
प्रयोजनेभ्यः ; यावत् आज्येन यष्ट्यं, तत् तत् आज्यं प्रयो-
जयति ; यस्य यस्थीज्यं, तस्य तस्येवं यष्टीतव्यं संस्कर्तव्यञ्च—
इति, तस्मात् साधारणं धौवम् आज्यम् । दर्शयति च,—
‘सर्वस्मै वा एतत् यज्ञाय गृहीते यत् ध्रुवायाम् आज्यम्’—इति ।
‘किमतो यद्धेवम्?’—इति । यत् साधारणम् उपांशुयाजाय
अवत्तं ध्रुवायामाज्यं, तेन अन्यानि प्रयोजनानि कार्याणि, न

भा. तु तत् प्रतिपाद्यं, यद्वि शतप्रयोजनम् आकीर्णकरम् अवतिष्ठते,
तत् प्रतिपादयितव्यम्—इति। कचिच्च, यत्प्रतिपादयितव्यम्,
तत् एवं—प्रतिपादयितव्यम्—इति, यत्तु प्रयोजनवत् उपात्तं
तत् न प्रतिपादयितव्यम्। तस्मात् न ध्रुवाया उपाश्रुयाजस्य
सौविष्ट्यतश्च कश्चित् शेषः प्रतिपादनोद्यः, यथा यत्र एकस्या
मुखाया यद्वनामोदनः भूतो भवति, तत्र एकस्मिन् भुङ्गवति,
न, तस्य शिष्टं भृत्येभ्यः प्रतिपादनोद्यमुखायामस्ति—इति
गम्यते, प्रयोजनवद्वि तत्। एवम् उपाश्रुयाजाज्देभ्यः द्वयम्
—इति ॥

‘आह जुक्ता तर्हि आज्यस्य शेषो भविष्यति, चमसवत्, यथा
चमसेषु यद्देषु च सोमस्य चोदनया—इति’। तत्र प्रत्याह,—

स अवतत्वाच्च जुक्तां, तस्य च होमसंयोगात् ॥ ७ ॥
(आ० नि० २) ॥

भा ध्रुवाया तावत् नास्ति शेषः उपाश्रुयाजस्य साधारणत्वात्
—इत्युक्तम्। ‘अथ कस्मात् न, जुक्ता यच्छिष्टं, तेन शेषकार्ये’
यथा होमार्थं चमसे शेषः—इति। उच्यते, यत् जुक्तामवतत्,
तत् सर्वं होमेन सम्बद्धं, तस्मात् न जुक्ता शेषः ॥

स चमसवदिति चेत् ॥ ८ ॥ (आभा०) ॥

भा इति पुनर्यदुक्तं, तत्परिहर्तव्यम् ॥

स न चोदनाविरोधाद्द्विःप्रकल्पनत्वाच्च ॥ ९ ॥
(आ० नि० ३) ॥

भा नैतदेवम्। कुत ?। चोदनाविरोधात्, ‘सोमस्य अग्नेर्वोही
त्यनुवपत्करोति’—इति तत्र चोदना। अपि च, तत्र ‘येन्द्र
वायवं गृह्णाति—इत्येवमादीनि यद्दणानि न सोमसंयुक्तानि,

भा हविःप्रकल्पनान्येव, इह पुनर्होमसंयोगः,—‘चतुर्गृहीतं जुहोति’
—इति ॥

सू. उत्पन्नाधिकारात्सति सर्व्ववचनम् ॥ १० ॥
(आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—‘तत् यत्सर्व्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति’—इति ।
उच्यते,—उत्पन्नं शेषमधिकृत्य एतत् उच्यते, न अविशेषणं,
तस्मात् ये इह शेषास्तेभ्यः सर्व्वेभ्यः—इति, यथा सर्व्वः ओदनो
भुक्तः, सर्व्वे ब्राह्मणा भुक्तवन्तः—इति प्रकृतापेक्षः सर्व्वशब्दः, एवम्
अत्रापि—इति ॥

सू. जातिविशेषात् परम् ॥ ११ ॥ (आ० नि० ४) ॥

अथ यदुक्तम्,—‘प्रापणीये केवले चरौ समवत्तशब्दो न अव-
कल्पते, यदि न तत्र चोदकेन आज्यादपि स्विष्टकृदवदानम्’
—इति । उच्यते,—असत्यपि आज्यात् शेषकार्य्ये समवत्तशब्दो
जातिविशेषापेक्ष उपपद्यते, ओदनजातिमाज्यजातिं च अपेक्ष्य;
अनुवादो हि सः, यथासम्भवं च अनुवादः कल्प्येत ॥

सू. अन्यमरेकार्थं ॥ १२ ॥ (आ० नि० ५) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—‘स्विष्टकृदर्थं ध्रुवायामभिधारणं दर्शयति’—
इति, न तत् स्विष्टकृदर्थं, शेषाभावात्—इत्युक्तम् । तस्मात्
अयं तस्यायः, न हि तत्र आज्ञतिं यक्ष्यन् भवति—इति न
रेक्ष्यते, ध्रुवातो यदि आज्ञतिः अपरा होतव्या भवेत्, न च
प्रत्यभिधार्यत । ध्रुवातः किल रिचेत, न रेक्ष्यते, अपरस्या
आज्ञतेः अभावात्, किं प्रत्यभिधारणेन—इति ॥ (३।५।
१ अ०) ॥

साकप्रस्थाय्ये शेषकम्माननुष्ठानाधिकरणम् ॥

स. साकंप्रस्थाय्ये स्विष्टकृदि च तद्वत् ॥ १३ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘साकप्रस्थायीयेन यजेत’—इति । तत्र सन्देहः,—किं स्विष्टकृदिडम् अस्ति, नास्ति?—इति । अस्ति—इति ब्रूमः । कुतः? दर्शपूर्णमासविकारो हि साकं प्रस्थायीयम्—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—नास्ति—इति । कुतः? अशेषत्वात्, सर्वादानाच्च अशेषता । कथम्? एवं तत्र श्रूयते,—‘आज्यभागाभ्या प्रचस्य आग्नेयेन पुरोडाशेन अग्नीध्रे शुचौ प्रदाय सह कुम्भोभिरभिक्रामन् आह’—इति । तस्मात् न ततः शेषकार्यम्—इति ॥ (३।५।२ अ०) ॥

सौत्रामण्या शेषकम्माननुष्ठानाधिकरणम् ॥

स. सौत्रामण्याञ्च ग्रहेषु ॥ १४ ॥

भा. अस्ति सौत्रामणी, तत्र यद्वाः श्रूयन्ते, आश्विनसारस्वतैन्द्राः, तत्र चोदकेन स्विष्टकृदिडं प्राप्तम् । अथ इदानीं सन्देहः,—किं निवर्त्तते, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—चोदकानुपचाय कर्त्तव्यम्—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सौत्रामण्या च ग्रहेषु न कर्त्तव्यम्—इति चण्डेन अतिदिश्यते । कुतः? अशेषत्वात्, सर्वादानात् अशेषता । तत्रापि हि यद्दैरेवं होतुम् प्रतिष्ठन्ते, यत् पयोपचाय्य सुरापचाय्य गृह्यन्ते—इति, यद्दस्यं खल्वपि तत् द्रव्यम् अभिगृह्योतमभ्यनुक्रमम् अभ्याश्रायितम् देवता प्रति । यथा,—‘गृह्योतान् यद्धानृत्विज आददते’, आश्विन-मर्धर्यः, सारस्वतं ब्रह्मा, ऐन्द्रं प्रतिप्रस्थाता’—इति, होमार्थम्

* उपाददते इति पाठः का० को० पु० ॥

भा अशेषादानं भवति, होमसंयोगश्चैषा श्रूयते,—‘उत्तरेऽग्नौ पयो-
यहान् जुहति दक्षिणेऽग्नौ सुरायहान् जुहति’—इति ॥

स तद्वच्च शेषवचनम् ॥ १५ ॥ (यु०) ॥

भा एतमेव न्यायं, शेषवचनमुपोद्बलयति । ‘उच्छिन्नष्टि, न
सर्वं जुहोति’—इति, सर्वहोमे प्राप्ते, प्रतिषेधोऽवकल्पते । वाच-
निकत्वाच्च स्विष्टकृदिडं न भवति, तस्य अन्यचोपयोगवचनात्,
—‘ब्राह्मणं परिक्रीणीयादुच्छेषस्य पातारम्’—इति, अपर-
स्यापि शेषस्य वाचनिको विनियोगः,—‘शतातृणया विच्चा-
रयन्ति’*—इति ॥ (३।५।३ अ०) ॥

सर्वष्टयेष्टौ स्विष्टकृदिडादीना सहदनुष्ठानाधिकरणम् ॥

स द्रव्येकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियेरन् ॥ १६ ॥
(पू०) ॥

भा अस्ति सर्वष्टयेष्टिः,—‘इन्द्राय रायन्तराय, इन्द्राय वार्हताय,
इन्द्राय वैरूपाय, इन्द्राय वैराजाय, इन्द्राय शाकराय’—
इति । तत्र पुरोडाशो बह्वना कर्मणा साधारणः । तत्र सन्देहः,
—किं प्रति कर्म, स्विष्टकृदिडं कर्तव्यं, सहदेव वा?—इति ।
किं प्राप्तम्?—चोदनानुयह्यात् प्रति कर्म, कर्तव्यम्, एकस्मिन्
अपि द्रव्ये वज्रत्वात् कर्मणाम् ॥

स अविभागाच्च शेषस्य, सर्वान् प्रति अविशिष्ट-
त्वात् ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा सहदेव कर्तव्यम्—इति ब्रूमः, अविभागात् शेषस्य,—न

* समवनयेदिति पाठः माधवीये । शतादृशा शतविधा कुम्भीति
माधवः ॥

भा, अथ विभाग सर्वेषां कर्मणां पुरोडाशस्य, उत्तरार्द्धात् छिद्ये
 शब्दवदातथम् एकस्यासी उत्तरार्द्धं, ततोऽवदीयमाने न गम्यते
 विशेष, —कस्य अवत्तम्, कस्य न—इति, एवम् इडायां नपि।
 तस्मात् सहात् अवदातथम्—इति ॥ (३।५।४ अ०) ॥

ऐन्द्रवायव्यहे हि शेषभक्षणाधिकारणम् ।

स ऐन्द्रवायवे तु वचनात्मतिकर्म भक्षः स्यात् ॥ १८ ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोम, —‘ज्योतिष्टोमेन खर्गकामो यजेत’—
 इति। तत्र ऐन्द्रवायवे ग्रहे सन्देह, —किं सहात् भक्षणम्, उत
 हि?—इति। सोमसस्कारार्थत्वात् सहात्—इति प्राप्ते ब्रूम—
 ऐन्द्रवायवे द्विर्भक्षयितव्यम्—इति। कुत?। वचनात् वचन
 निदं भवति—‘द्विरेन्द्रवायवस्य भक्षयति, द्विर्ज्ञेयस्य वषट्क
 रीति’—इति, नास्ति वचनस्यातिभार ॥ (३।५।५ अ०) ॥

सोमे शेषभक्षणाधिकारणम् ।

स सोमेऽवचनाद्भक्षो न विद्यते ॥ १९ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे समामनन्ति सीमान्। तेषु सन्देह, —किं तेषां
 ज्ञेयो भक्षयितव्य उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—सोमे भक्षो
 न विद्यते। कस्मात्?। अवचनात् न शक्यम् असति वचने
 अधवसातुम् भक्षणम्। तस्मात् सोमज्ञेयो न भक्षयितव्य—
 इति ॥

स स्याद्वा अन्यार्थदर्शनात् ॥ २० ॥ (सि०, ॥

भा भवेत् वा भक्ष, अन्याथे हि वचनं भक्षं दर्शयति—
 ‘सर्वतः परिचारमाश्विनं भक्षयति भक्षिताप्यायिताद्यमसान्

भा. दक्षिणस्यानसोऽवलम्बे सादयन्ति—इति । न असति भक्षणे
एवञ्जातीयका भक्षविशेषा सम्भवन्ति ॥

स. वचनानि तु अपूर्वत्वात्तस्मात् यथोपदेशं स्युः ॥ २१ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. 'ननु दशनमिदं, प्राप्तिर्वक्तव्या' । उच्यते,—वचनानि तर्हि
भविष्यन्ति,—'सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति । तस्मात्
सर्वा दिशः शृणोति'—इति विशिष्टं भक्षणं विधीयते । अपूर्व-
त्वात् भक्षानुवादो न अवकल्पते । अपि च, एवम् अपूर्वम्
अर्थं विदधतः अर्थवत्ता भविष्यति । तस्मात् यत्र एव विशिष्टं
भक्षणं श्रूयते, तत्र एव भवति, न अतिप्रसज्यते ॥ (३।५।
६ अ०) ॥

चमसिनाम् शेषभक्षाधिकारणम् ॥

स. चमसेषु समाख्यानात्संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ २२ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे एव श्रूयते,—'प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोक्षा-
तृणां प्र यजमानस्य प्रयन्तु सदस्यानाम्'—इति । तत्र सन्देहः,
—किं चमसिनाम् अस्ति भक्षः, न?—इति । किं प्राप्तम्?—
न—इति ब्रूमः, नातिप्रसज्यते—इति उक्तम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—चमसेषु अस्ति भक्षः—इति । कुतः?।
समाख्यानात्, होतुश्चमसो ब्रह्मणश्चमसः उद्गातुश्चमसः—इति
समाख्यया निर्दिश्यते, होता यत्र चमति चमिष्यति अचमीढा
स होतुश्चमसः । यद्यत्र होता न चमेत् न होतुश्चमसो भवेत्,
तस्मात् चमति—इति ।

'आह, का अस्य लिङ्गस्य प्राप्तिः?—इति' । सामर्थ्यम्—
इति ब्रूमः,—होतुः चमसेन प्रैतृथम्, यदि च अत्र होता न

भा चमेत् न शक्य भवेत् होतुश्चमसेन प्रेतुम् । न च अवाग्यत
होता ओम्नादि चमिष्यति सोमचमस —इति हि तं समा
चक्षते । अपि च न तद्दोतुर्द्रव्यं यजमानस्य तत् द्रव्यम् होतु
तत्र चमनं कर्तव्यम् । सोमे च भक्ष्यमाणे तेन होमोभवकल्पते
एविव हि सोमो न तस्मिन् भक्षिते पात्रं व्यापद्यते तत्र
चमसेन शक्यते होतुम् । 'वचनप्रामाण्यात् उच्छिष्टेन होष्यति
—इति चेत् । नेतदेवम् अस्ति अवकाशे वचनं बाधकं भवति
अस्ति च अवकाशः सोमभक्षणं तस्मात् चममिभिर्भक्षयितव्यं
सोम —इति ।

अथ तद्यथादीनि आश्रीयेरन् । तथा सम्यन्धापकृतात्
अतश्चमसतेव स्यात् द्रव्यान्तरं स्यात् । तस्मात् च अब्राह्मणस्य
सोमं प्रतिषेधति — 'स यदि राजन्यं वेश्य वा याजयेत् स
यदि सोमं विभक्षयिषेत् न्यग्रोधस्तिभीराद्धृत्य तां सपिप्य
दधनि उन्मृज* तमस्त्रे भक्षं प्रयच्छेत् न सामम् —इति भक्षा
निवृत्तिर्दर्शयति । सा एषा भक्षाशङ्का एव सत्युपपद्यते यदि
चमसिनागस्ति भक्षं तस्मात् अस्ति —इति मन्यामहे ॥ (३।
५। ७) ॥

उद्गाढृणा सह सत्राक्षणेन भक्षाधिकरणम् ।

स उद्गाढृचमसमेकं श्रुतिसंयोगात् ॥ २३ ॥ (१म पू०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोम — ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत —
इति । तत्र अस्ति — प्रेतुं होतुश्चमस म ब्रह्मण प्रोद्गाढृणाम्
—इति । अस्ति समाध्यानात् भक्षं —इत्युक्तम् । तत्र सन्देहः
—किमेकं एव एनं चमसम् उद्गाढृता भक्षयेत् उत सर्वं

भा भक्षयेयु ? अथ सुब्रह्मण्यवर्जिता कन्दोगा भक्षयेयु, अथ वा सह सुब्रह्मण्येन ?—इति । किं तावत् प्राप्तम् ?—एको भक्षयेत् उद्गातैव । कुत ? । 'श्रुतिसंयोगात् उद्गातेक श्रुत्या संयुज्यते — 'चमसेन प्रोद्गातृणाम्'—इति ।

'ननु वज्रवचन श्रूयते,—तेन बह्वो भक्षयेयु । उच्यते श्रूयते वज्रवचन, तत् उद्गातप्रातिपदिकगत, तत् विवक्षित सत् उद्गातृवज्रत्व ब्रूयात् एकश्चोद्गाता तत्र वज्रत्व श्रूयमाणम् अपि न शक्नुयात् उद्गातृभेदं कर्तुम् । तस्मात् अविवक्षित वज्रवचनम् अनुमानं हि एतत् बह्वना चमस — इति । कथं ? यत् वज्रपु प्रातिपदिकं वर्त्तते, ततो वज्रवचनं भवति, वज्रवचनं तु ततो दृश्यते, प्रोद्गातृणाम्—इति । तस्मात् नूनं बह्वना चमस — इति अनुमानं प्रत्यक्षं तु एक उद्गाता न द्वितीय न तृतीय । अनुमानाच्च प्रत्यक्षं कारणं बलवत् भवेत् । तस्मात् एकस्य चमस, सचोद्गातु — इति ॥

स सर्वे वा सर्वसंयोगात् ॥ २४ ॥ (२य पू०) ॥

भा सर्वे वा भक्षयेयु, एकस्मिन् उद्गातरि भक्षयति वज्रवचनं प्रमादाधीतम्—इति गम्यते, न हि तत् अनूद्यते, न विधीयते —इति । 'ननु सर्वेष्वपि भक्षयत्स उद्गातृशब्दं प्रमादो गम्यते । उच्यते—लक्षणार्थापि तावत् सम्भविष्यति, उद्गातृ प्रभृतय —इति ॥

स स्तोत्रकारिणां वा* तत्संयोगाद्बहुश्रुते. ॥ २५ ॥
(३य पू०) ॥

भा 'उच्यते,—नेतदस्ति —बह्वना चमस —इति । कुत ? ।

भा उद्गातृशब्दस्य चमसेन सम्बन्ध प्रत्यक्षेण वाक्येन, बह्वचनस्य पुन उद्गातृशब्देन श्रुत्या सम्बन्ध, अन्येन षट्त्विजा तु बह्वचनस्य नैव कश्चित् अस्ति सम्बन्ध । तस्मात् बह्वना चमस इत्यनुपपन्नम्—इति । अत्र उच्यते,—शक्नोत्ययमुद्गातृशब्दो बह्वत्वं वदितुम्, क्रियायोगन, उद्गायन्ति इत्युद्गातार । के ते ? प्रस्ताता उद्गाता प्रतिहर्ता—इति तदेतेन बह्वचन निर्देशेन आनुमानिकक्रियायोगनिमित्त उद्गातृशब्दो विवक्षित इत्यवगमिष्याम । बह्वचन हि एवमवक्तुं भविष्यति, उद्गात शब्दश्च । तस्मात् स्तोत्रकारिणां चमस —इति ॥

स सर्वे तु वेदसयोगात् कारणादेकदेशे स्यात् ॥ २६ ॥
(सि०) ॥

भा सर्वे छन्दोगा सहस्रत्रक्षण्या भक्षयेयु । किमिति ? गान सयोगात्—इति नाय पक्ष उपपद्यते । कथं ? एकस्तत्र उद्गानेन सम्बन्ध इतरो गानेन अन्यद्वि गानम् अन्यदुद्गान, गीतिमात्रं गान लौकिक वेदिकञ्च द्वितीय साग्न पर्व, उत्पूर्वस्य गायते अभिधेय प्रसिद्धम् तत्र एक एवोद्गीध करोति—इति एक एवोद्गाता न बह्व । तस्मात् उद्गानसयोगात् बह्वो भविष्यन्ति—इत्येतदपि नोपपद्यते । कथं ?—तर्हि—‘वेदसयोगात्’ औद्गात्र नाम प्रवचन तथा, औद्गात्राणि कर्माणि औद्गात्रस्य कला वा अथेता वा उद्गातेत्युच्यते । कथं ? उद्गातु कर्म औद्गात्रम्—इति प्रसिद्धम् एवञ्चेत् यत्कर्म औद्गात्रस्य कर्ता उद्गातेति गम्यते । यस्य उद्गाता प्रसिद्ध, तद्विशिष्ट कर्म अनाख्यातमपि औद्गात्रम्—इति वदति । शब्दस्य यस्य औद्गात्र प्रसिद्ध स तस्य कर्तारमुद्गाता—इति वदति अनाख्यातमपि यथा यस्योदमेघ प्रसिद्ध, स तस्य अनाख्यात मध्यपत्यमौदमेघि—इति वृत्ते, यस्य औदमेघि, स तस्य

पितरमनाख्यातमभ्युद्मेघ प्रतिपद्यते । एवम् औद्गात्रसम्बन्धात्
उपपद्यते उद्गातृशब्दः प्रस्तोतापि उद्गातापि प्रतिहर्तापि,
सुब्रह्मण्योऽपि । एव ब्रह्मवचनम् उद्गातृशब्दश्च उभयम् आप्युप
पन्न भविष्यति, न च अन्य कश्चित् दोषः ।

तस्मात् औद्गात्रेण सम्बद्धाश्चत्वार उद्गातृचमस भक्षयेयुः—
इति । यत्र कारणमस्ति तत्रापसुब्रह्मण्या उद्गातारः, यथा,
उद्गातृशब्दः 'विनिषद्योद्गातारः साम्ना स्तुवते—इति स्तोत्र
कारिषु तथा इदमपि वचनम्—उद्गातारो नापत्याहरे
युक्तमायामेधोत्तमा—इति अपसुब्रह्मण्यानामेव ॥ (३।५।
८ अ०) ॥

यावस्तुतोऽपि सोमभक्षणाधिकरणम् ॥

स यावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात् ॥ २७ ॥

(पृ०) ॥

भा व्योतिष्टोमे यावस्तुन्नामहोतृपुरुषः । तत्र सन्देहः,—किं स
सोम भक्षयेत् न?—इति । उच्यते यावस्तुत् न भक्षयेत् ।
कुत ? । यतोऽस्य भक्षः नामनन्ति । (हारियोजने चमसि
नामधिकारः—इति मन्यमान एव ह स्माह—नास्याम्नायत
भक्षः)—इति ॥

स हारियोजने वा सर्व्वसयोगात् ॥ २८ ॥ (सि०) ॥

भा हारियोजनस्थः वा यावस्तुतः भक्षयितारः मन्यामहे, एव
हि ग्रामनन्ति—'यथा चमसमन्याश्चमसाश्चमसिनो भक्षयन्ति ।

चतुर्णां होद्वणा मध्ये चतुर्थो यावस्तुतः ॥

भा अथैतस्य हारियोजनस्य* सर्वे एव लिप्सन्ते—इति । 'यदा हारियोजनस्य सर्व लिप्सन्ते, तदा यावस्तुदपि—इति ॥

ख चमसिनां वा सन्निधानात् ॥ २९ ॥ (आ०) ॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति यावस्तुतो हारियोजने भक्ष—इति, चमसिना तत्र अधिकारो न सर्वेषाम् । कथम् ? चमसिनाम् एष विभागः, चमसिनः अन्याश्चमसान्, यथा, 'चमस भक्षयन्ति'—इत्यनूद्य चमसिन एव वदति, 'अथैतस्य हारियोजनस्य सर्वे एव लिप्सन्ते'—इति । एकं हीद वाक्यम्, 'अथैतस्य—इत्यवशब्दप्रयोगात् अनन्तरवृत्तमपेक्षते, अथ 'सर्वे एव—इत्येवशब्दः, सामर्थ्यात् सर्वान् पूर्वमवृत्तानपेक्षते, अतो मग्यामहे,—'यथा चमसमग्याश्चमसाश्चमसिनो भक्षयन्ति'—इत्यनेन पूर्वेण, 'अथैतस्य हारियोजनस्य' इत्येतस्य एकवाक्यता भवति—इति । तेन चमसिना सर्वाङ्घ्रितानाम् एष विभागो, यथा चमसमग्यश्च, हारियोजने तु सर्वे एव—इति ॥

ख सर्वेषां तु विधित्वात्तदर्थं चमसिभ्युतिः ॥ ३० ॥
(आ० नि०) ॥

भा तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति,—चमसिन एव हारियोजने लिप्सन्ते—इति अथ तु विधीयन्ते हारियोजने, सर्वे भक्षयन्ति—इति, न पुन चमसिन—इति सम्बन्ध इत्येते विधातुम् द्वौ हि सम्बन्धौ एस्मिन् वाक्ये अपूर्वो न इत्येते विधातुम् । तस्मात् अन्या वचनव्यति ।

* हरिरिति हारियाजन इत्यनेन मन्वेन गणमाद्यो यस्य हारियाजन इति भाष्यम् ।

भा. का पुनरसौ ?। 'यथा चमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति'—इत्यनुवादः, चमसिनश्चमसान् भक्षयन्तेत्यत्र, ते भक्षयन्तो यथा चमसमेव, अथैतस्य हारियोजनस्य न केवलं चमसिनः, सर्व एव—इति । किमेवं भविष्यति ?। सर्वशब्दश्च सर्वान् वदन् न एकदेशे कल्पितो भविष्यति । न च, द्वौ सम्बन्धौ अपूर्वौ एकस्मिन् वाक्ये भविष्यतः । तस्मात् एष पक्षो ज्यायान्—इति 'तदर्थं' हि एषा 'चमसिच्युतिः', (हारियोजनस्य प्रशंसार्था) चमसिनः कीर्त्यन्ते हारियोजनम् प्रशंसितुम् । कथम् ?। महाभागी हि हारियोजनः, यस्मात् तत्र सर्वे लिप्सन्ते, अन्यान् चमसान् एकैकः, न ते महाभागाः, न्यूना हारियोजनात्—इति ॥ (३।५।८ अ०) ॥

वषट्कारणम्य भक्षनिमित्तताधिकारणम् ।

सू. वषट्काराच्च भक्षयेत् ॥ ३१ ॥

भा. अथ किं समाख्यैवेका भक्षकारणम् ?। न—इति वृमः,— 'वषट्काराच्च भक्षयेत्', वषट्कारस्य भक्षणे निमित्तम् । कथम् ?। वचनात्, एवं हि श्रूयते,—वषट्कर्तुः* प्रथमभक्षः—इति, भक्षणस्य अग्रिमत्वात्, न प्राथम्यविधानार्थं एष शब्दः, प्राथम्यविशिष्टं भक्षणमेव विदधाति—इति ॥ (३।५।१० अ०) ॥

होमाभिपद्योरपि भक्षनिमित्तताधिकारणम् ।

सू. होमाभिपवाभ्याञ्च ॥ ३२ ॥

भा. अपरमपि कारणं होमाभिपवौ । कथम् ?। हविर्धाने—

* वषट्कर्त्ता होता इति माधवः ।

भा 'यावभिरभिपुत्याहवनीये ऊत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान
 भक्षयन्ति'—इति, न तावत्, एष क्रमो विधीयते, होमे निर्वृते
 ततो भक्षणस्य अप्राप्तत्वात् । इयोश्च क्रमयोर्विधानात्, अभि-
 युत्य ऊत्वेति वाक्यभिधेयम् । अर्थेन च प्राप्तत्वात् अस्य क्रमस्य ।
 न ह्यहोते प्रयोजने कश्चित् प्रतिपादनमर्हति । न च, भक्ष-
 णाद्गन्धभावेन होमाभिषवौ चोद्येते ! अभिषवस्य होमार्थत्वात्,
 होमस्य च फलार्थत्वात् । तस्मात् होमाभिषवयोः कर्तृणा
 भक्षणं विधीयते, येऽभिषुण्वन्ति जुह्वति च, ते भक्षयन्ति—
 इति ॥ (३।५।११ अ०) ॥

वषट्कर्त्रादीनां चमसे सोमभक्षाधिकरणम् ।

ख प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे ॥ ३३ ॥ (पू०) ।

भा इदं श्रूयते,—‘मैतु होतुश्चमसः प्र वक्ष्यः प्रोद्गातृणाम्’—
 इति । तत्र सन्देहः,—चमसेषु होमाभिषवयो कर्तारो वषट्
 कर्तारश्च किं भक्षयेयुः, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—
 न भक्षयेयुः, प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानां चमसिनः प्रति; ‘मैतु
 होतुश्चमसः’—इत्येवमादिभिर्विशेषवचनैः, होमाभिषवकारिणां
 सामान्यवाक्येन, यः सोमो भक्षणेन संस्कर्तव्यः, स चमसेषु
 चमसिभिः—इति, अथ इदानीमन्यत् निमित्तं क्व भविष्यति? ।
 ‘अव्यक्तः सामान्यनिमित्तः क्व?’ । शेषे भविष्यति,—यश्च न
 चमसिनः ॥

ख स्यात् वा कारणभावात् अनिर्देश्यमसानाम् कर्तु-
 स्तद्वचनत्वात् ॥ ३४ ॥ (सि०) ॥

भा स्यात् वा चमसेषु वषट्कर्त्रादीनां भक्षः, प्राप्यते हि तेषां
 तत्र कारणम्, न च प्रतिपिध्यते । ‘ननु चमसिनाम् प्रत्यक्षो

भा. पदेशान्निवर्त्तरन् । उच्यते,—‘अनिर्देशश्चमसानाम् कर्तुंस्तद-
चनत्वात्. ‘प्रेतुं होतुश्चमसः’—इत्येवमादयः शब्दाः न शक्नुवन्ति
वषट्कर्त्तृणादीन् प्रतिषेद्धुम्, उपदेष्टारो हि ते, न प्रतिषेद्धारः,
तस्मात् वषट्कर्त्तादयोऽपि चमसेषु भक्षयेयुः ॥

सू चमसे चान्यदर्शनात्* ॥ ३५ ॥ (यु०) ॥

भा. चमसे चान्याश्चमसिनो दर्शयति,—‘चमसांश्चमसाध्वर्यवे
प्रयच्छति । तान् स वषट्कर्त्तृं हरति’—इति । एको हि
स्वश्चमसो वषट्कर्त्तृं ह्रियते, तेन वज्रहरणदर्शनं न श्रवकल्पते,
यदि वषट्कर्त्तादयो न चमसेषु भक्षयेयुः । तस्मात् भक्षयन्ति
—इति ॥ (३।५।१२ अ०) ॥

‘अथ यत्रैकस्मिन् पात्रे बहवो भक्षयन्ति, कः तत्र क्रमः?’—
इति । उच्यते,

होतुः प्रथमभक्षाधिकरणम् ॥

सू एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् ॥ ३६ ॥ (पू०) ॥

भा. तस्य हि क्रमो भक्षयितुम्, यस्य हस्ते सोमः ॥

सू होता वा मन्त्रवर्णात् ॥ ३७ ॥ (सि०) ॥

भा. होता वा पूर्वा भक्षयेत्, ‘मन्त्रवर्णात्’, मन्त्रवर्णो हि तथा,
‘होतुश्चित् पूर्वं हविरद्य माशत’—इति, तथा ‘हीतेव नः
प्रथमः पाद्वि’—इति ॥

सू वचनाच्च ॥ ३८ ॥ (हे० १) ॥

भा. वचनमिदं भवति,—‘वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः’—इति । वचन-

भा मेव इदम्, न मन्तव्यम्,—अनेकगुणविधानात् अविवक्षितं प्राथ-
म्यम्—इति; अप्राप्तत्वात् प्राथम्यस्य, नायम् अनुवादः, विधि-
रेव, समासेन च विदधतो नानेकगुणविधानं दुष्करम् ॥

स कारणानुपूर्व्याच्च ॥ ३९ ॥ (हे० २) ॥

भा प्रथमं हि वपट्करण निमित्तं होतुः, ततो होमः अध्वर्या-
निमित्तं, निमित्तानुपूर्व्याच्च नेमित्तिकानुपूर्व्यं क्रमानुरोधः ॥ (१।
५।१३ अ०) ॥

भक्त्यानुज्ञापूर्वकत्वाधिकरणम् ।

स वचनादनुज्ञातभक्षणम् ॥ ४० ॥

भा अथ य एकपात्रे सोमोऽग्नेकेन भक्ष्यते, किं तत्र, अनुज्ञाप्य
अननुज्ञाप्य वा भक्षयितव्यम् उत अनुज्ञाप्य एव?—इति ।
साधवादनियमे प्राप्ते उच्यते,—अनुज्ञाप्य भक्षयितव्यम्—
इति । कस्मात्? 'वचनात्', इदं वचनं भवति,—'तस्मात्
सोमो नानुपहृतेन भेद्य'—इति, उपकानं च अनुज्ञापनम् ।
(प्राप्तिस्त्वमेतत्) ॥ (१।५।१४ अ०) ॥

वैदिकवचनेनानुज्ञापनाधिकरणम् ।

अथानुज्ञातेन भक्षयितव्यम्—इति स्थिते, किं लौकिकेन
वचनेन अनुज्ञापयितव्यम्, उत वैदिकेन?—इति । अनियमात्
लौकिकेन—इति प्राप्ते उच्यते,

स तदुपहृत उपहृत्यस्वेत्यनेन अनुज्ञापयेत्तिङ्नात् ॥ ४१ ॥

भा अनुज्ञापनलिङ्गोऽयम् मयः, लिङ्गात् अनुज्ञापने समागताः,

भा. सामर्थ्यात् विनियुज्यते, तत्र ह्येतर्धे लौकिको निवर्तते ॥ (३।
५।१५ अ०) ॥

वैदिकवाक्येन प्रतिवचनाधिकरणम् ।

छ. तच्चायात्प्रतिवचनम् ॥ ४२ ॥

भा. एतद्वगतम्,—‘तदुपहृत उपहृत्यस्वेत्यनेन अनुज्ञापयेत्’—
इति । अथ प्रतिवचने सन्देहः,—किं लौकिकं प्रतिवचनम् उत,
एतदेव?—इति । किं प्राप्तम्, एतत् वैदिकं, प्रथे विनियुक्तम्;
लौकिकम् अन्यत् प्रतिवचनं भवितुमर्हति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—
‘तत्र’ एतदेव प्रतिवचनम्—इति ।

‘ननु प्रथलिङ्गमेतत् उपहृत्यम्’—इति । उच्यते,—यदस्य
पूर्वम्,—उपहृतः—इति प्रतिवचनस्य समर्थम्, तत् प्रतिवचन-
कार्ये भविष्यति । ‘आह विपरीतमेतत् समाग्नानं, पूर्वं हि
प्रथेन भवितव्यम्, ततः प्रतिवचनेन’ । उच्यते,—‘अर्थात्’, पूर्वं,
प्रतिवचनकार्ये भविष्यति, अर्थो हि क्रमाद्वह्नीयान्—इति ॥
(३।५।१६ अ०) ॥

एकपात्राणामनुज्ञापनाधिकरणम् ।

छ. तदेकपात्राणां समवायात् ॥ ४३ ॥

भा. इदं सन्दिहिते,—किं यः—कश्चित् अनुज्ञापयितव्यः, उत
समानपात्रः—इति । अविशेषाभिधानात् यः—कश्चित्,—इति
प्राप्ते उच्यते,—तत् खल्वनुज्ञापनमेकपात्राणां स्यात् । कुतः? ।
अनुज्ञापनम् इच्छाङ्गम्, अनुज्ञापनस्य च एतद्रूपम्, यत्र अन्येन
कर्तव्यम् अन्यश्चिकीर्षेत्, सोऽनुमन्यन्—इति ब्रूते,

भा. नादि* वा आचरितुकामाश्च तत् अन्यस्यानुकूलयति । तदेतत्
 नानापात्रेषु नैव सम्भवति, न हि तत्र अन्येन कर्त्तव्यम्, अन्यो
 वा चिकीर्षति—इति, सहभोजनादौ वापदार्थं सम्मानयति ।
 एकपात्रे तु सोमे साधारणे संस्कर्त्तव्ये न्यायेन समो विभागो
 प्राप्नोति, तत्र अविभज्य पीयमाने कदाचित् अन्येन पातयम्
 अन्यः पिवेत्, तत्र अनुज्ञापनं सम्भवति,—त्वया अहं पातयं
 मया अहं, कदाचित् अहमभ्यधिकं न्यूनं वा पिवेयं, तदनु
 ज्ञातुमर्हसि—इति, एकपात्रे वा पानं त्वया सह आचरन् अहं तव
 चित्तप्रसादनं व्याहृत्याम्—इति सम्भवत्यनुज्ञापना । तस्मात्
 एकपात्रेष्वेव एतत् स्यात्—इति ॥ (३।५।१७ अ०) ॥

स्वययुर्भक्षस्तिसाधिकरणम् ।

स याज्यापनयेनापनीतो भक्षः प्रवर्त्तवत् ॥ ४४ ॥ (पृ०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोम, तत्र ऋतुयागेषु श्रूयते,—‘यजमानस्य
 याज्या सोभिन्नेष्यति होतरेतत् यजेति स्वयं वा निषद्य यजति’
 —इति । यदा स्वयं यजति, तदा सन्देहः,—किमस्य भक्षोऽस्ति,
 नास्ति ?—इति. तदुच्यते,—याज्यायाम् अपनीयमानाया
 नापनीयेत भक्षणम्, होतुरेव तु भक्षणं स्यात्, न यजमानस्य
 —इति । कुतः ? । अन्या हि याज्या अन्यत् भक्षणं, न च,
 अन्यस्मिन् अपनीयमानेभ्यत् अपनीयते । यथा तस्यामेव
 याज्यायाम् अपनीयमानायां प्रवरो नापनीयते, तद्वदेतदपि
 —इति ।

‘ननु ‘याज्याया अधि वपट्करोति’—इति, यत्र याज्या,
 तत्र वपट्कारः, यत्र वपट्कारः, तत्र भक्षणमपि—इति । न

* सहभोजनादि इति पाठः का० म० पु० एव परस्मै ।

भा. इत्युच्यते,—न तावत् याज्यायाम् अवयवभूतो वषट्कारः, येन याज्याभ्यह्णेनासौ न गृह्यत । यत्तु, तस्या अधि वषट्करोति—इति, अन्येनापि प्रयुज्यमानाया उपरि होता वषट्करिष्यति, याज्यापनयो हि वचनात्, न वषट्कारापनयः, यावद्वचनम्, वाचनिकं भवत्येव, वचनं हि तद्विषयमेव ॥

सू. यष्टुर्वा कारणागमात् ॥ ४५ ॥ (सि०) ॥

भा. यष्टुर्वा भक्षः स्यात् । कुतः ? । कारणागमात्, भक्षस्य कारणं वषट्कारः, स च याज्यायाम् आगच्छन्ताम आगच्छति, एवं हि श्रूयते,—‘याज्याया अधि वषट्करोति’—इति ।

‘नन्वेतदुक्तं,—यजमानेनापि प्रयुज्यमानायां होता अधि वषट्करोति’—इति । नैष समाधिः,—अनवानता यष्टव्यम्, वषट्कारेण यागः क्रियते, न याज्यामात्रेण । तस्मात् आ वषट्कारात् न अवानितव्यं यजमानेन, अन्यस्मै वषट् कुर्यात्, ‘अवान्यात् याजमानः’ न च यजेत । यष्टवे चासौ चोद्यते, न याज्यामात्रवचने, ‘सुयं निषद्य यजति’—इति साङ्गस्य निषद्ययागे विधानात्* ॥

सू. प्रवृत्तत्वात् प्रवरस्यानपायः ॥ ४६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा प्रवरो नापनीयते, एवं भक्षोऽपि—इति । उच्यते,—अशक्यत्वात् प्रवरो न अपनीयते, अतिक्रान्तो हि स कथम् अपनीयेत होताः ? भष्टे चावसरे, अनुष्ठेयमानो यजमानस्य विगुणः स्यात् । न च, विगुणः कथञ्चित् अर्थं साधयेत् । न अथ चोदकेन प्राप्नोति । ‘अयोचेरत,—यत् शक्यं तद्योदकेन प्रापितं, यत् न शक्यं, न तत् प्रापितम्’—इति । प्रकृतिरियम्,

भा अपूर्वस्य अत्र विधान, यादृशम् उक्तं तादृशं यदि शक्यते,
कर्तव्यम् यदि न शक्यते, यत्र एव शक्यते, तत्र एव कार्यम्
न यत्र विगुणम्—इति । तस्मात् प्रवरस्यानपायो युक्तो न
भक्षस्य—इति ॥ (३।५।१८ अ०) ॥

फलचमसस्य इज्याविकारताधिकरणम् ।

ख फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥
४७ ॥ (पृ०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते—‘स यदि राजन्य वा वैश्य वा याजयेत्
स यदि सोमं विभक्षयिषेत् न्ययोधस्तिभी* आहृत्य ता
मग्निपथ्यं दधनि उग्मृज्य तमस्ते भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्’—इति ।
तत्र सन्देहः—किं फलचमसो भक्षविकारः, उत इज्याविकारः ?
—इति, (किं फलचमसं भक्षयेत्—इत्यर्थः, उत फलचमसेन
यजेत?—इति) । किं प्राप्तम्?—फलचमसो नैमित्तिको भक्ष-
विकारः, भक्षयणं हि श्रुतेन एकवाक्यता भवति—इति,—
‘तमस्ते भक्षं प्रयच्छत्’—इति न तेन यजेत—इतिशब्दो
ऽस्ति तस्मात् भक्षविकारः ॥

ख इज्याविकारा वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ४८ ॥
(सि०) ॥

भा इज्याविकारो वा फलचमसः (फलचमसेन यजेतेत्यर्थः) ।
कथम्? । यदेतत् भक्षणं एतत् सोमसंस्कारार्थं फलचमस्यापि
यदि भक्षणं फलचमससंस्कारार्थं, फलचमसस्यान्यत्र अनुप-
योगादनर्थक्यम् । ‘अथ भक्षणं प्रधानं । तथा ‘न सोमम्’—

* ‘निभिनी’ इति माधवीये पाठः । निभिनी मुकुलमिति तच्चार्यः ।

भा इत्यनुवादो नावकल्पते । यदि त्विज्याविकारो भवेत्, तत फलचमससंस्कारोऽवकल्पते । तस्मात् इज्याविकारः ।

‘आह, — कथं यजिसम्बन्धेऽस्ति इज्याविकारो भविष्यति ?’ — इति । उच्यते, — अस्ति यजिसम्बन्धः । कथम् ? — इति । ‘यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत् न्यग्रोधस्तिभी सम्पिष्य तम् अस्मै भक्ष प्रयच्छेत्’, याजयितुम् — इति गम्यते । भक्ष सम्बन्धे हि न पूर्वम् उत्तरेण सम्बध्यते, यदि सोम भक्षणेन संस्तुमिच्छेत् न्यग्रोधस्तिभी संस्तुर्यात् — इति । तस्मात् न भक्षणसम्बन्धः, यागो हि प्रहृतोऽस्ति, तेन सह सम्भक्ष्यते, न दोषो भविष्यति ।

‘ननु तमस्मै भक्ष प्रयच्छेत्’ — इति वचनात् भक्षसाधनम् — इति गम्यते, न, यागसाधनम् — इति, भक्षशब्दानन्तर्यात् । उच्यते, — श्रयमाणे सम्बन्धे अनर्थकम् — इति हत्वा प्रहृतसम्बन्धः — इत्युच्यते, कथं तु भक्षसम्बन्धः ? — इति । यद्धि यागद्रव्यं भक्षयितव्यं तत् चोदकेन भवति तस्मात् भक्षसम्बन्धः लभते, भक्षसम्बन्धेन च यागसम्बन्धः एव पच्यते, यदि तेनेज्यते, ततः स भक्षो भवति, तस्मात् भक्षवचनात् सुतरां तेन इज्यते — इति गम्यते, सेषा व्यवधारणकपना ‘तमस्मै भक्ष प्रयच्छेत्’, तमस्मै भक्षं कुर्यात् — इत्यर्थः यथा स भक्षो भवति, तथा कुर्यात् — इति यदि च तेन इज्यते, ततोऽपि भक्षो भवति । तस्मात् तेन यष्टव्यम् — इति ॥

स होमात् ॥ ४६ ॥ (हे० १) ॥

भा होमविशेषवचनं भवति — ‘यदान्याश्चमसान् जुहोति अथै तस्य दर्भतरुणकेनोपहृत्य जुहोति’ — इति । इज्याविकारेऽस्ति दर्भतरुणकेन — इति जुहोती गुणवचनम् अवकल्पते । तस्मादपि इज्याविकारः ॥

छ चमसैश्च तुल्यकालत्वात् ॥ ५० ॥ (हे० २) ॥

भा 'यदान्यांश्चमसान् उन्नयन्ति, अघ्नैर्न चमसं उन्नयन्ति'—इति । इज्याविकारे सति उन्नयनदर्शनं युज्यते, न भक्ष-विकारे । तस्मात् अपि इज्याविकारः ॥

छ लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ५१ ॥ (हे० ३) ॥

भा. इतश्च पश्यामः,—इज्याविकारः—इति । कुतः ? । लिङ्ग-दर्शनात् । किं लिङ्गं भवति ? । सोमप्रतिषेधानुवादः,—तमस्रैर्भक्षं प्रयच्छेत्, न सोमम्—इति, इज्याविकारे सति सोमो न भक्ष्यते । तस्मात् पश्यामः,—इज्याविकारः—इति ॥ (३ ॥ १६ अ०) ॥

प्राज्ञानामेव राजन्यचमसानुप्रसर्पणाधिकरणम् ।

छ अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् ॥ ५२ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति राजसूये दशपेयः, तच्च यूयते,—‘शतं ब्राह्मणः सोमान् भक्षयन्ति, दशदशैकैकचमसमनुप्रसर्पन्ति’—इति । अथ राजन्यचमसे सन्देहः,—किं, तं राजन्या अनुप्रसर्पेयुः, उत ब्राह्मणाः ?—इति । किं प्राप्तम् ?—राजन्याः—इति । कथम् ? । दशदशैकैकं चमसम् अनुप्रसर्पेयुः—इति अनुप्रसर्पतां सङ्ख्या विधीयते । एकस्यां राजन्यजातौ दशसङ्ख्या विधीयते, राजन्य-जातिः सैव, तेन तं दश राजन्या अनुप्रसर्पेयुः एवं शतं ब्राह्मणा राजन्याश्च, तेषु शतशब्दोऽनुवादः । अनुवादसरूपश्च, शतं भक्षयन्ति—इति । तस्मात् राजन्या राजन्यचमसम् अनुप्रसर्पेयुः—इति । केचिदाहुः,—‘ब्राह्मणराजन्यानामेकस्मिंश्चमसे भक्ष्यं

भा. विरुध्यते'—इति । न स दोषः, न हि सोमेन उच्छिष्टा भवन्ति
—इति श्रूयते ॥

स. ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ॥ ५३ ॥ (सि०) ॥

भा. ब्राह्मणा वा राजन्यचमसम् अनुप्रसर्पयुः । कथम् ? । 'शतं
ब्राह्मणाः सोमं भक्षयन्ति'—इतिविधिः श्रुत्या ब्राह्मणगतामेव
सङ्ख्यामाह । तस्मात् शतं ब्राह्मणाः, तेषां भक्षणार्थम् अनु-
प्रसर्पतामेकेकस्मिंश्चमसे दशदशोपदिश्यन्ते । तस्मात् ब्राह्मण-
शतस्य दश ब्राह्मणा राजन्यचमसम् अनुप्रसर्पयुः—इति ॥

इति श्वरसामिहृतौ भोमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य पञ्चमः
पादः समाप्तः ॥

तृतीये चत्वार्ये षष्ठ पाठ ।



यद्य सुवादितु खादिरतादिविधे प्रकृतिगामिताधिकरणम् ।

सु सर्वार्थमप्रकरणात् ॥ १ ॥ (प०) ॥

भा अनारभ्य किञ्चित् उच्यते — यस्य खादिर सुबो भवति स हृत्सामेव रमेनावद्यति सरसा अश्य आहुतयो भवन्ति । यस्य पर्णमयी जुहर्भवति न स पाप लोक शृणोति — इत्येवमादि । तच्च सन्देह — किं खादिरता सुबे पाप्माशता जुह्वा प्रकृतौ निविशते उत प्रकृतौ विहृतौ च ? — इति । किं प्राप्तम् ? — सर्वार्थमप्रकरणतः प्रकृतिविहत्यर्थम् एव प्रकृतौ यकम् । कुत ? । अप्रकरणात् न कस्यचित् प्रकरणे श्रूयन्ते तानि वाक्येन सर्वत्र भवेयुः — इति ॥

सु प्रकृतौ वाऽदिरुक्तत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा प्रकृतौ वा निविशेरन अनारभ्याधीतानि पात्राणि । कुत ? । अदिरुक्तत्वात् — एवम् अदिरुक्तं भविष्यति — इति । दिरुक्तताया को दोषः ? । असम्भव — इति ब्रम — यदि प्रकृतौ विहृतौ च भवति अस्ति तत् प्रकृतौ प्रकृता चेदस्ति चोदकेन एव विहृति प्राप्नोति ततो न अनारभ्य — विधिमाकङ्क्षति । तस्मात् अनाकङ्क्षितत्वात् अनारभ्य — विधिर्न तत्र विदधाति तेन ब्रूम — प्रकृत्यर्थ एव — इति ॥

सु तद्वर्जन्तु वचनप्राप्ते ॥ ३ ॥ (पुन पू०) ॥

भा अप्रकरणात् प्रकृतिविहत्यर्थम् एव — इत्युच्यते । यत्तु, चोद

भा. केन प्राप्नोति—इति अनारभ्य—विधिना प्राप्ते न चोदकम् आकाङ्क्षति । तस्मात् अनारभ्य—विधिर्वर्जं चोदकः प्रापयिष्यति, अनारभ्य—विधिवाक्येन प्रत्यक्षेण सुवे खादिरता, चोदकवाक्येन अनुमानिकेन विद्वत्तौ, अनुमानिकाच्च प्रत्यक्षं बलवत् । तस्मात् प्रकृतिविहृत्यर्थोऽनारभ्य—विधिः ॥

छ. दर्शनादिति चेत् ॥ ४ ॥ (आ०) ॥

भा. यदि अनारभ्य—विधिय्योदकात् बलीयान्, अनारभ्य—विधिना प्राप्ते न चोदकम् आकाङ्क्षति, निराकाङ्क्षे वैद्यते कर्मणि चोदको न एव प्राप्नोति, तत्र प्रयाजादीनां दर्शनं नैवोपपद्येत, दृश्यन्ते च प्रयाजादयः क्वचित्, 'प्रयाजे प्रयाजे दृष्टं लं जुहोति'—इति । अथ चोदको बलीयान् ततः एतद्दर्शनम् उपपद्यते । तस्मात् प्रकृत्यर्थोऽनारभ्यविधिः ॥

छ. न चोदनैकार्थ्यात् ॥ ५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न प्रकृत्यर्थः, सर्वार्थः—इति ब्रूमः, अप्रकरणे समाग्नानात् । यदुक्तम्, अनारभ्य—विधिना निराकाङ्क्षस्य न चोदकः—इति, तत् नोपपद्यते, न हि अनारभ्य—विधिय्योदनां निराकाङ्क्षीकरोति, प्राप्ते हि चोदके न सुवे खादिरता अनारभ्य—विधिना शक्या विधातुम् । अस्ति चोदकेऽनारभ्य—विधिरपि नास्ति, न च अनारभ्य—विधिः सुवं प्रापयति, तस्य च खादिरताम् । कुतः ? । 'चोदनैकार्थ्यात्', एकार्था हि चोदना,—'यस्य खादिरः सुवो भवति'—इति । न च, अत्र सुवः खादिरता चोभयं विधीयते, सुवस्य सतः खादिरताम् एष शब्द आह, स च चोदकेन प्राप्तः, तस्मात् अस्ति चोदकः, स हि अनारभ्य—विधिवाक्यस्य प्रत्यक्षत्वात् तं वर्जयित्वा अन्यं प्रापयति । तस्मात् प्रकृतिविहृत्यर्थः अनारभ्य—विधिः ॥

स उत्पत्तिरिति चेत् ॥ ६ ॥ (पुनः आ०) ॥

भा. इति चेत् पश्यसि,—उत्पत्तिरेषां प्रकृतिविधिभिस्तुल्या,
प्रकृतावज्ञानि सङ्क्षेपेण विस्तारेण चोच्यन्ते,—‘पञ्च प्रयाजान्
यजति’—इति सङ्क्षेपेण; ‘समिधो यजति’—इत्येवमादिना
विस्तारेण। इहापि ‘यस्य खादिरः सुवो भवति’—इत्येवमादि
विस्तारः, ‘यस्यैवंरूपः सुवः’—इति सङ्क्षेपः। एवरूपः प्रकृतौ
विधिर्दृष्टः, अयमप्येवरूपः, तस्मात् प्राकृतः—इति सामान्यतो
—दृष्टानुमानम्। तस्मात् प्रकृत्यर्थोऽनारभ्यविधिः—इति ॥

स न, तुल्यत्वात् ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं, न हि, एवञ्जातीयकं सामान्यतो—दृष्टं साधकं
भवति, केवलम् अत्र प्राकृतविधिसारूप्यं, न तु प्रकृतावेतत्
भवति—इति प्रमाणमस्ति। अपि च विहतावपि सङ्क्षेपविस्ता
राभ्याम् अज्ञानि विधीयन्ते,—‘तिस्र आहुतीर्जुहोति’—इति
सङ्क्षेपः, ‘आमनमस्यामनस्य देवाः’—इति विस्तारः। अतो
वैहतेरप्यनारभ्य—विधयस्तुल्याः, तस्मात् अयमहेतुः प्रकृति
निवेशस्य ॥

स . चोदनार्थकात्स्न्यात् मुख्यविप्रतिषेधात् प्रकृत्यर्थः ॥
८ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। न सर्वार्थोऽनारभ्यविधिः, प्रकृ-
त्यर्थः सः—इति ब्रूमः। कुतः? चोदनार्थकात्स्न्यात्, एतन्
चोदकः प्रापयति, न अनारभ्य—विधिना वैहृतम् अपूर्वं निरा-
काङ्क्षं, पात्राणां हि तत् वाक्येन, न यागानां; यागाद्योदना-
च्छिन्नसयोगात् प्रकृतात्मपेक्षन्ते, तथा सङ्क्षेपवाक्यतां यान्ति।
प्राकृताय तान् शक्नुवन्ति निराकाङ्क्षीकर्तुम्, न अनारभ्य—

भा. विधयः । तस्मात् अवश्यं चोदक उत्पादयितव्यः, स चेत् उपा-
द्यते, नार्थोऽनारभ्य—विधिना । न चासौ प्रकरणादीनाम-
भावात् प्रवर्त्तमानोऽपि वैद्यतेन यागेन सम्बध्यते, तस्मात् वैद्यतेन
कर्मणा न अनारभ्यविधिः सम्बध्यते, तस्य वैद्यतस्य मुख्यस्य,
अनारभ्यविधिर्वाक्यशेषः, प्रवृत्तौ वा—इतिप्रतिषेधे चोदक-
सामर्थ्यात् प्राकृते वाक्यशेषे प्राप्ते अनारभ्य—विधिर्न भवि-
ष्यति । तस्मात् अनारभ्य—विधिः प्रवृत्त्यर्थः—इति ॥ (३।
६।१ अ०) ॥

सामिधेनीनां सप्तदशमङ्गाया विकृतिगामिताधिकारणम् ।

सू. प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात् ॥ ६ ॥

भा. अनारभ्य, किञ्चित् सामिधेनीनां परिमाणमाग्नातं,—
'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्'—इति । तत्र सन्देहः,—किमे-
तत् प्रवृत्तौ, उत विकृतौ?—इति । किं प्राप्तम्?—पूर्वेण
न्यायेन प्रवृत्तौ—इति प्राप्तम्, प्रवृत्तौ च पाञ्चदश्यमाग्नातं,
तेन विकल्पः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—विकृतौ एवङ्गातीयको विधिः स्यात् ।
कस्मात्? । प्रवृत्तेः पाञ्चदश्येन निराकाङ्क्षत्वात् । 'ननु विकल्पो
भविष्यति—इत्युक्तं' । प्रकरणविशेषात् पाञ्चदश्येन न विकल्पः,
विषमशासनात्, विकृतौ तु आनुमानिकं पाञ्चदश्यं बाधित्वा,
अनारभ्य—विधिवाक्येन प्रत्यक्षेण सप्तदश्यं निवेक्ष्यते । अद्वि-

* प्र वी वाजा अभि द्यव इत्याद्या अभिसमित्यनार्थो ऋचः सामिधेन्य-
इति माधवः ।

† एवङ्गातीयकं विरोधि स्यादिति पाठः का० सं० पु० ।

भा क्तं च एतत् प्रयोगवचन उपसहस्रिभ्यति । तस्मात् एवञ्जाती
यक विहृत्यर्थम् ॥ (३।६।२ अ०) ॥

गोदोहनादीना प्रकृतिगामिताधिकरणम् ।

स नैमित्तिकं तु प्रकृतौ, तद्विकारः संयोग-
विशेषात् ॥ १० ॥

भा दर्शपूर्णमासयोराम्नात,—‘गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्
—इति, तथा, अग्नीषोमीये पशो अयते यूषं प्रहृत्य,—‘वेत्सो
ब्रह्मवचसकामेन कर्त्तव्य’—इति । एवञ्जातीयकेषु सन्देह,
—किं प्रकृतौ निवेश, विहृतौ?—इति । किं प्राप्तम्?—
विहृतौ—इति प्रकृतिरन्वेन पाचणं यूषेन च निराकाङ्क्षम् ।
एव प्राप्ते ब्रूम —प्रकृतौ नैमित्तिक निविशते, निमित्तसयोगेन
विधानात् खादिरपाकाशरौहितका अविशेषेण उक्ता चमसद्य
गोदोहन वेत्स्य विशेषविहितौ, विशेषविधिना च अविशेष
विधिर्बाधते । प्रकरण सामान्यं, निमित्तसयोगो विशेष,
सामान्येन यत् प्राप्नोति, तत् परोक्ष लक्षणया, यन्नु विशेषेण,
तत् प्रत्यक्ष श्रुत्या, श्रुतिश्च लक्षणाया बलीयसी, प्रत्यक्ष च
परोक्षात् । तस्मात् प्रकृतौ एव स्यात् ॥ (३।६।३ अ०) ॥

आधानस्य पवमानेष्ट्यनङ्कताधिकरणम् ।

स इष्ट्यर्थमग्न्याधेय प्रकरणात् ॥ ११ ॥ (पू०) ॥

भा सन्ति पवमानेष्टयः,—‘अग्रये पवमानायाष्टाकपाल निर्वपेत्
अग्रये पावकायाग्रये श्रुचये’—इति । तासां प्रकरणे, समाग्नान्तं,
—‘वाङ्मणो वसन्ते अधिमादधीत’—इति । तत्र सन्देह,—
किम् अग्रगधेय पवमानेष्ट्यर्थम्, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?

भा —इष्टार्थम्—इति । कुतः ? प्रकरणात्, तासां प्रकरणे श्रूयते,
—अतः तदर्थम् ॥

स न वा तासां तदर्थत्वात् ॥ १२ ॥ (सि०) ॥

भा पवमानेष्टयो हि अग्रार्थाः, यदि अग्निः इष्ट्यर्थः स्यात्, ततः
तदर्थम् अग्राधेयम् इष्टीनाम् उपकुर्यात् । निष्फलास्तु इष्टयः,
तदर्थम् अग्राधेयमपि निष्फलं स्यात् । कथं पुनः अग्रार्थता
पवमानेष्टीनाम् ? निष्प्रयोजनत्वादेव, प्रयोजनवत्त्वात् च
अग्नीनाम् । भावयितव्या अपि इष्टयः भूतानाम् अग्नीनाम्
अर्थेन क्रियेरन् । तस्मात् अग्राधेयं न पवमानेष्ट्यर्थम् ॥

स लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १३ ॥ (यु०) ॥

भा. लिङ्गं दर्शयति, यथा अग्रार्था पवमानेष्टयः—इति । किं
लिङ्गम् ? 'जीर्यति वा एष आहितः पशुर्यदग्निः तदेतान्येव
अग्राधेयस्य हवींषि सवत्सरे निर्वपेत्, तेन वा एष न जीर्यति,
तेनैनं पुनर्नवं करोति तन्न सूक्ष्मम्'—इति ॥ (३।६।४ अ०) ।

आधानस्य सर्वार्थताधिकरणम् ॥

स तत्प्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्य—वादाः ॥ १४ ॥ (पू०) ॥

भा तदेतत् आधानं किं प्रकृत्यर्थम्, उत सर्वकर्मार्थम् ?—इति
सन्देहः । किं प्राप्तम् ?—उच्यते, तत् प्रकृत्यर्थम् । कथम् ?
यथा अन्ये अनारभ्य—वादाः प्रकृत्यर्थाः, तेनैव हेतुना ॥

स सर्वार्थं वा आधानस्य स्वकालत्वात् ॥ १५ ॥ (सि०) ॥

भा सर्वकर्मार्थं वा आधानम् । कोऽर्थः ? सर्वकर्मार्थं
इत्य, तदर्थमाधानं न प्रकृत्यर्थं । न प्रकृती, प्रकृत्य

भा च, अस्यादयोभ्य सन्ति ये अङ्गभावम् उपपादयन्ति । अन्येषु अनारभ्य—वादेशु अन्यतो निर्ज्ञातेऽङ्गभावे ततो विचार,— किं प्रकृते अङ्गभूतानि विहृते ?—इति, तस्मात् तेषु युक्तम् । इह तु अङ्गभावे न कारणमस्ति, तस्मात् अग्निप्रयुक्तमाधान, न कर्मप्रयुक्त, सर्वकर्मार्था अग्रय—इति 'सर्वार्थम्'—इत्युच्यते ।

अपि च अग्रय स्वतः—कालो विधीयते, स न विधातव्यः,— यदा ज्योतिष्टोमस्य प्रयोगः, तदा इह कर्त्तव्यम्, तदा च वसन्त । एव यदा दर्शपूर्णमासयोः प्रयोगः, तदा कर्त्तव्यम्, तदा पूर्णमासी अभावास्या वा । अप्रकृत्यर्थन्तु न प्रकृतिप्रयोगे क्रियेत, तत्र कालवचनं युक्तं । तस्मात् न प्रकृत्यर्थम् ॥ (३ । ६ । ५ अ०) ॥

पवमानेष्टीनामसंस्कृतेऽग्नौ कर्त्तव्यताधिकरणम् ।

ख तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत् स्यात्* ॥ १६ ॥
(पृ०) ॥

भा सन्ति पवमानेष्टयः,—'अग्रये पवमानाय'—इत्येवमाद्या । तत्र सन्देहः,—किं पवमानेष्टिसंस्कृतेऽग्नौ पवमानेष्टयः कर्त्तव्याः, उक्तं न ?—इति । किं प्राप्तम् ?—'तासां खलु पवमानेष्टीनां पवमानेष्टिसंस्कृतोर्भाग्निं प्रकृतितं स्यात् । कुत ? । चोदकसामं दद्यात्, प्रयाजवत् यथा आसु प्रयाजा भवन्ति चोदकेन, एव पवमानेष्टिसंस्कृता अग्रयोर्भाग्निं भवेयुः ॥

ख न वा तासां तदर्थत्वात् ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा न वा इष्टिसंस्कारः, अग्नीनां पवमानेष्टिषु स्यात् । कस्मात् ? ।

भा तासां तदर्थत्वात्, ताः पवमानेष्टयोग्निसंस्कारार्थाः,—इत्युक्तम्,
यच्च नाम अद्भुतं तच्चोदकेन गृह्यते ; अग्निप्रयुक्तश्च पवमानेष्टि-
संस्कारो न दर्शपूर्णमासप्रयुक्तः, तेन न चोदकेन आहूयते ।
अपि च पवमानेष्टयः इष्टिसंस्कारवर्जितां प्रकृतिमपेक्षन्ते, अवि-
हितत्वात् तस्यामवस्थायां पवमानेष्टीनाम् ॥ (३ । ६ । ६ अ०) ॥

उपाकरणादीनामग्नीसोमीयधर्मताधिकरणम् ।

स तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ॥

१८ ॥ (१ म पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे, पशुः अग्निषोमीयो—‘यो दीक्षितो यदग्नीषो-
मीयं पशुमालभते’—इति, तथा सवनीयोऽनुबन्धश्च । सन्ति
च पशुधर्माः,—उपाकरणम् उपानयनम् अक्षया बन्धो यूप्ते
नियोजनं संक्षपनं विशसनम्—इत्येवमादयः, ते, किं सर्वेषाम्
अग्नीषोमीयसवनीयानुबन्धनानाम्, उत अग्नीषोमीयस्य सवनी-
यस्य वा, उत अग्नीषोमीयस्यैव?—इति । किं प्राप्तम्?—
अविशेषात्, सर्वपशूनाम् । कथम् अविशेषः? । ज्योतिष्टोम-
प्रकरणे सर्वे पशवः समाम्नाताः, तत्प्रकरणापन्नत्वात् सर्वे पशु-
धर्माः सम्बद्धान्ते, न चैषां तत्र कश्चिद्विशेषः ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सवनीयस्य एते धर्माः भवेयुः, तुल्यः सर्वेषां
पशुविधिः स्यात्, यदि प्रकरणे विशेषो न भवेत्; भवति तु
प्रकरणे विशेषः, सवनीयानां प्रकरणे पशुधर्माः समाम्नाताः,
—‘आग्नेयः पशुरग्निष्टोमे आलभ्यः, आग्नेयो हि अग्निष्टोमः
ऐन्द्राग्रः पशुरक्ष्ये आलभ्यः, ऐन्द्राग्रानि हि उक्ष्यानि ।
ऐन्द्रो वृष्णिः पादृशानि आलभ्यः, ऐन्द्रो वै वृष्णिः ऐन्द्रः
पोदशी । सारस्वती मेधी अतिरात्रे आलभ्या,

भा —इति प्रकृत्य पशुधर्मा आम्नाता , तस्मात् सवनीयस्य प्रक
रणात् भवितुमर्हति ॥

सू स्थानाच्च पूर्वस्य ॥ १९ ॥ (२य पू०) ॥

भा यदुक्तम्,—प्रकरणात् सवनीयार्था —इति, एतत् गृहीत
क्रमाच्च अग्नीषोमीयस्य तस्य हि क्रम औपवस्ये अहनि
समाप्नातम्, तस्मात् द्वयोरपि—इति ॥

सू श्वस्त्वेकेषा तत्र प्राक्श्रुतिगुणार्था ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा एकेषा शाखिना श्व सवनीयानामाम्नातम् तदपेक्ष्य
इयमेषा गुणार्था पुन श्रुति । क पुनर्गुण ? यदर्थेषा श्रुति ।
उच्यते,—पशून् सङ्कीर्त्य ‘यथा व मत्स्योऽविदितो जनमवधुनुते,
एव वा एते अप्रज्ञायमाना जनमवधुन्वते —इति एषामविज्ञाने
दोषमभिधाय, एभि कथं सवनानि पशुमन्ति ? —इतिप्रश्न
रूपकेण वपाप्रचारो गुणो विधीयते तदर्थेषा श्रुति वपा
प्रचारेण एकवाक्यत्वात् । किमत ? । यद्येषम् न सवनीयाना
प्रकरणेन पशुधर्मा , क्रमात् अग्नीषोमीयार्था एव—इति । कि
पुन तत् श्व आम्नातम् ? । ‘आश्विन यद् गृहीत्वा चिह्ना
यूप परिवीयाग्रेष्व सवनीयपशुमुपाकरोति —इति ॥

सू तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत् ॥ २१ ॥ (आ०, ॥

भा नेतदस्ति —क्रमादग्नीषोमीयार्था एव—इति, प्रकरणात् सव
नीयार्था , पूर्वदुरेवाम्नातं विधानार्थम्, आश्विनवाक्य काल
गुणविधानार्थम् । कथम् ? । तेन वपाप्रचारेण उत्कृष्टस्य काल
एष विधीयते प्रातःसवने वपाप्रचारे चोदिते सति पञ्चा
लम्भोऽपि तत्र ह्य प्रप्नोति, तत्र कालान्तिममे प्रप्ते ‘आश्विन
यद् गृहीत्वा—इति कालमात्रं विधीयते । ‘चिह्ना यूप

भा परिवीयोपाकरोति'—इत्यनुवादः । इतरथा हि परिव्याणस्य कालो विधीयेत, उपाकरणस्य च ; तत्र अनेकगुणविधानात् वाक्यभिद्येत ! तस्मात् सवनीयार्थाः पशुधर्माः—इति ॥

सू नैकदेशत्वात् ॥ २२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नेतदेवम्, अग्नीषोमीयार्था एवेते क्रमात्, आश्विनकालं हि आम्नानं विधानार्थम् । गुणार्थे एतस्मिन् वाक्यभिद्येत, न विधानार्थे, न हि, वपाप्रचारेणोत्प्लष्टस्य कालाविधिः सम्भवति । एकदेशी हि वपाद्रव्य तेन सन्निपातिनो वपासंस्कारात्, उत्कर्षोपाकरणम् ॥

सू अर्थेनेति चेत् ॥ २३ ॥ (आ०) ॥

भा आह—अर्थेन नहि उत्प्लष्टस्य कालो विधीयते । 'मुष्टिना पिधाय वपोद्वरणमासीत आ वपाहोमात्—इति श्रूयते, पूर्व-दुर्वपोद्वरण मुष्टिना पिधाय न शक्नुयात् एतावन्तं कालमासीनेन अवस्थातुम्, अवश्यमाहाराविहारादयस्तेन कर्तव्याः—इति ॥

सू न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥ २४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदेवं, श्रुतिविप्रतिषेधो भवेदेवम्, न च, श्रुतिविप्रतिषेधः, तृणमुष्टिना पर्णमुष्टिना वा पिधायिष्यते । 'ननु आस्ते—इत्युपवेशने भवति' । न अवश्यम् उपवेशने एव, औदासीन्येऽपि दृश्यते, तत् यथा,— गृक्षाणि परिगृह्य आस्ते, क्षेत्राणि परिगृह्य आस्ते—इति अनुपवेशनेऽपि भवति, व्यापारनिवृत्तौ । इहापि तृणमुष्टिना पर्णमुष्टिना वा पिधाय आ-वपाहोमात् उदासिष्यते । तस्मात् आश्विनकालमाम्नानं विधानार्थं, न सवनीयानां प्रकरणे पशुधर्माः, तस्मात् न सवनीयार्थाः ॥

स स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ २५ ॥
(उप०) ॥

भा नास्ति सवनीयाना प्रकरणम्—इत्येव सति पूर्वैव हेतुना स्थानेन पूर्वस्य अग्नीषोमीयस्य भवितुमर्हति । संस्कारोऽप्यपशुयागप्रयुक्त, न ज्योतिष्टोमप्रयुक्त, ज्योतिष्टोमप्रयुक्तत्वे न विशेष पशुना स्यात् पशुयागा अपि हि धर्मान् प्रयोक्तुम् अपूर्वत्वात् समर्था, प्रकरणवन्तश्च । तस्मात् क्रमात् अग्नीषोमीयधर्मा—इति ॥

स लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २६ ॥ (हे०) ॥

भा इतश्च पश्यामोऽग्नीषोमीयार्था पशुधर्मा—इति । कुत ? 'लिङ्गदर्शनात् । लिङ्गम् अग्निन् अर्थे भवति,—'वपया प्रातः सवने चरन्ति पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने—इति पशुपुरोडाश दर्शयति । इतरथा समानविधानेषु सर्वेषु पशुषु अग्नीषोमबोदवतयो संस्कारार्थं सन् पुरोडाश सामर्थ्यात् अग्नीषोमीयस्य भवेत् न सवनीयस्य, तयोर्देवतयोरेभावात्, दर्शयति च । तस्मात् अग्नीषोमीयार्था—इति ॥

स अचोदना गुणार्थेन ॥ २७ ॥

भा (इदं पदोत्तरं सूत्रम्) । आह, ननु किद्रापिधानार्थं पशुपुरोडाश' । न—इति ब्रूम 'अचोदना गुणार्थेन', तस्य किद्रापिधानार्थेन न चोदना, अर्थवादः स—इत्युक्तम् । तस्मात् देवतासंस्कारार्थं, तस्मात् अग्नीषोमीयार्थत्वे, सवनीये पुरोडाशस्य दर्शनम् उपपद्यते, न साधारण्ये । तस्मात् अग्नीषोमीयार्था पशुधर्मा—इति ॥ (६।६।७ अ०) ॥

शाखाहरणादीनामुभयदोहधर्माधिकारणम् ।

स. दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं शृतं स्यात् ॥ २८ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति सायंदोहः, तथा अस्ति प्रातर्दोहः । सन्ति तु दोहधर्माः शाखाहरणं, गवां प्रस्थापनं, प्रस्तावनं, गोदोहनम्—इत्येवमादयः, ते किं सायंदोहायोः, उत उभयार्थाः?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—दोहयोः तयोरसंयुक्तं धर्मैः शृतं भवत् । कस्मात्? सायंदोहस्य हि क्रमे औपवसथ्येऽहनि शाखाहरणादीन् समामनन्ति, तस्मिन् एवाहनि सायंदोहः । तस्मात्, क्रमात् सायंदोहार्थाः दोहधर्माः—इति ॥

स. प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम् ॥
२९ ॥ (सि०) ॥

भा. प्रकरणं हि साधारणम्, यथैव दध्नः एवं पयसः, क्रमाच्च प्रकरणं बलवत्तरम्, तस्मात् उभयार्था दोहधर्माः । अपि च, न सायंदोहस्य पूर्वदुराग्नानं । क तर्हि? उत्तरेद्युः । कथम्? एवमामनन्ति—‘ऐन्द्रं दध्मावास्यायाम्, ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्’—इति, अमावास्यायां हि उभयं साङ्गं चोद्यते, स एष सायंदोहोऽर्थात् पूर्वदुरनुष्टीयते, स्वभाव एष दध्नो,—यत् पूर्वदुरूपक्रान्तम् अपरेद्युरभिनिर्वर्तते । तस्मात् सायंदोहस्य क्रमे आग्नाताः—इत्येतदेव तावत् नास्ति । अत उभयार्था दोहधर्माः—इति ॥ (३।६।८ अ०) ॥

सादनादीनां सवनप्रयधर्माधिकारणम् ।

स. तद्वत्सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ॥ ३० ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमः,—‘ज्योतिष्टोमेन भगंकामो यजेत’—

भा इति । तत्र ऐन्द्रवायवाद्या यद्वा प्रातःसवने दश आग्नाता तत्र धर्मा श्रूयन्ते — ‘उपोत्तेभ्ये यद्वा साद्यन्ते, अनुपोत्ते ध्रुवा दशापविषेण यद्वा समार्ष्टि’—इति । सन्ति अपरे माध्यन्दिने सवने, अपरे तृतीयसवने यद्वा, तेषु माध्यन्दिनीयेषु तान्नीयेषु च सवनेषु सन्देहः — किं सर्वेषु यद्वाधर्मा कर्तव्या, उत प्रातः सवने ये यद्वास्तेषु?—इति । किं प्राप्तम्?—प्रातःसवनयद्वा भवेयुः, तेषां क्रमे समाग्नानात् नेतरेषाम् ।

एव प्राप्ते ब्रूम, — ‘सवनान्तरे प्रातःसवनात् माध्यन्दिने तृतीयसवने च यद्वाग्नान तद्देव भवितुमर्हति । सर्वेषां हि तुल्य प्रकरण, यत्ने धर्मा समाग्नता, वाक्येन यद्वामात्रय विधीयन्ते, वमाच वाक्यप्रकरणे बलीयसी । तस्मात् सर्वाधा यद्वाधर्मा —इति ॥ (३।६।८ अ०) ॥

रश्ना चित्त्वादीना सर्व्वपशुधर्मानाधिकरणम् ।

ख रश्ना च लिङ्गदर्शनात् ॥ ३१ ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टमे पशुः अग्नीषोमीयः, — ‘यो दीक्षितो यद् अग्नीषोमीयं पशुमाश्रमते —इति । तत्र रश्ना श्रूयते, रश्ना धर्माश्च — ‘चिष्टत् भवति, दभनयो भवति, भपिष्टाना कर्तव्या च’—इति । तत्र सन्देहः, — किमेते धर्मा अग्नीषोमीयरश्नाया सवनोयरश्नायाश्च साधारणा, उत अग्नीषोमीयरश्नाया एव? —इति । किं प्राप्तम्?—प्रकरणात् अग्नीषोमीयरश्नाया —इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूम — उभयो साधारणा —इति । कुत ? । ‘लिङ्गदर्शनात्’ लिङ्गं भवति — एवमाह — ‘आश्विनं यद्वा रूक्षोत्वा चित्ता यूपं परिवीयाग्रैयं पशुमुपाकरोति’—इति

भा वसनीयपरिव्याणै रशना दर्शयति, सा यदि साधारणी, तत एतद्दर्शनमवकल्पते । यदि अग्रीपोमीयाद्या, ततो प्राकृतात् सवनीयपरिव्याणान् निवर्त्तत । सवनीये च परिव्याणान्तर मप्राकृत, यत्र चितृत्व दृश्यते । कथम् ? 'स वै आश्विन गृह् गृहीत्वोपनिष्क्रम्य यूपं परिध्ययति—इति, तत्र यदि न साधारणी रशना, वाससा परिव्याण प्राप्नोति, रशना तु दर्शयति । तस्मात् साधारणी रशना, तत्साधारण्याच्च तद्धर्मा अपि साधारणा । तदेतच्छिद्धात् रशनासाधारण्यम् । कोऽत्र खलु न्यायः ?—इति । उच्यते,—प्रकरणात् अग्रीपोमीयस्य, वाक्यात् यूपमात्रस्य—इति ॥ (३।६।१० अ०) ॥

अश्वदाभ्योरपि सादनादिधर्मवत्त्वाधिकारणम् ॥

ख आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैः सन्निधानात् ॥ ३२ ॥
(पू०) ॥

भा दूरात् यत् शिष्यते ज्योतिष्टोमस्य, यथा, औपसदानुवाक्या काण्डे अश्वदाभ्यौ । तत्र सन्देहः,—किं ज्योतिष्टोमसमाम्नाता ग्रहधर्मा कर्त्तव्या, उत न ?—इति । किं प्राप्तम् ?—न कर्त्तव्या, असन्निधानात् यथा, 'पयसा मैत्रावरुणं श्रोणाति'—इति वचनात् मैत्रावरुणस्येव अपण, न सर्वयाम् एवम् इदमपि धर्मजात प्रकरणस्थानामेव, न सर्वयाम्—इति ॥

ख संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तात्वात् ॥
३३ ॥ (सि०) ॥

भा संयुक्तं वा धर्मे, एवञ्जातीयकं स्यात्, अप्रकरणस्थमपि । कुत ? यतः प्रकरणात् वाक्यं धर्मीयम् । 'ननु अन्यत्र क्रिय

भा माणा ज्योतिष्टोमस्य नोपकुयु' । उच्यते,—उपकरिष्यन्ति
अग्न्यदाभ्ययो 'तदर्थत्वात्', (ज्योतिष्टोमार्थत्वात्) शेषोभ्य
यद्दधर्म, यद्दनिमित्तो ज्योतिष्टोमस्योपकारक, यावान् यद्दो
ज्योतिष्टोमस्य उपकरोति, तस्य सर्वस्य भवितुमर्हति । तस्मात्
अग्न्यदाभ्ययोरपि यद्दधर्मा कर्त्तव्या —इति ॥

स निर्देशाद्व्यवतिष्ठेत् ॥ ३४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा यदुक्तम्,—यथा मैत्रावरुण पयसा श्रोणाति—इति, तत् युक्तं,
अप्ये वचनात् प्रकरण बाधित्वा व्यवस्थानम् इह तु विपरीतं,
तत्र सर्वेषु ग्रहेषु प्रकरणं, विशिष्टेषु वाक्यम्, इह तु सर्वेषु ग्रहेषु
वाक्यं विशिष्टेषु प्रकरणम् । तस्मात् अप्रकरणस्यस्यापि धर्मा
—इति ॥ (३।६।११ अ०) ॥

विशिष्टादीष्टकानामप्रज्ञताधिकरणम् ॥

स अग्न्यग्निसप्रकरणे तद्वत् ॥ ३५ ॥

भा अनारभ्याग्निमुच्यते,—'चिविणीरपदधाति, वक्षिणीरप
दधाति, भूतेष्टका उपदधाति'—इति । सन्ति तु प्रकरणे
इष्टकाधर्मा —'अखण्डामकृण्वन्ताम् इष्टकां कुर्यात्'—इति,
तथा 'भस्मना इष्टका संयुज्यात्'—इति । तत्र सन्देहः,—
किम् अप्रकरणे समाप्तानानाम् इमे धर्मा कर्त्तव्या, उत न ?
—इति । किं प्राप्तम्?—न कर्त्तव्या । कुत ? असन्निधानात् ।
इति प्राप्ते, उच्यते,—अग्न्यग्निसेवज्ञातीयक तद्वदेव स्यात् यद्वत्
यद्वा, प्रकरणाद्वि वाक्यं भवति । अमूया चेष्टकानामप्रमर्श
त्वात् ॥ (३।६।१२ अ०) ॥

मानोपावहरणादीनां सोममाचधर्माताधिकरणम् ।

स. नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं स्यात् ॥ ३६ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘स यदि राजग्न्यं वा वैश्यं वा याजयेत्, स यदि सोमं विभक्षयिषेत्, न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्’—इति । ज्योतिष्टोमे सन्ति सोमधर्माः,—मानमुपावहरणं क्रयोऽभिषवः—इत्येवमादयः । तत्र सन्देहः,—किं समानविधाना इमे धर्माः सोमस्य फलचमसस्य च, उत सोमधर्माः, फलचमसस्य तु तदिकारत्वात्—इति, (गुणकामानां प्रवृत्तिरप्रवृत्तिर्वा प्रयोजनमधिकरणचिन्तायाः) ।

किं प्राप्तम्?—समानविधानाः प्रकरणाविभागात्—इति प्राप्ते, उच्यते,—नैमित्तिकम् एवज्जातीयकम् असमानविधानं स्यात् । कुतः? । अतुल्यत्वात्, अतुल्यः सोमेन फलचमसः,—सोमो नित्यवदाग्नातः, फलचमसो नैमित्तिकः । किम् अतः? । यद्येवं, धर्मा अपि नित्यवदाग्नाताः न शक्या अनित्यवत् कर्तुम् । यदि साधारणाः, तत्र अनारभ्योर्ध्वो विधीयेत । अपि च नैमित्तिकः फलचमसः स सोमधर्मान् गृह्णाति, तत्र धर्माः साधारणाः सन्तः द्विरुक्ताः—इत्युच्यते! । तस्मात् असमानविधानाः ॥ (३।६।१३ अ०) ॥

प्रतिनिधिष्वपि मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ।

स. प्रतिनिधिश्च तद्वत् ॥ ३७ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति प्रतिनिधिः, श्रुते द्रव्येऽप्यवरति, यथा ब्रौहिष्वपचरत्सु नीवाराः । तत्र सन्देहः,—किं नीवाराः समानविधानाः, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—‘प्रतिनिधिश्च तद्वत्’,—यथा नैमि-

भा तिनं नित्येन असमानविधानं एव प्रतिनिधि अतुल्यत्वात् ।
का अतुल्यता ?। व्रीहिणा विहिता, न नीवाराणाम्—इयम्
अतुल्यता, व्रीहिणा विहिता, नीवाराणाम् अर्थाभ्या
भवन्ति ॥

ख तद्वत्प्रयोजनैकत्वात् ॥ ३८ ॥ (सि०) ॥

भा नैतदस्ति,—असमानविधान प्रतिनिधि—इति, तद्वत् स्यात्
यद्वत् श्रुत, न प्रकृतिविकारभाव । कुत ?। व्रीहित्वं हि
व्रीहिधर्माणां व्रीहिव्यक्तौ निमित्तं, न च, व्रीहित्वस्य स्थाने
नीवारत्वं भवति—इति श्रूयते, तस्मात् न प्रकृतिविकारभाव ।
'कथम् तर्हि नीवारेषु धर्मा भवन्ति ?—इति' । उच्यते,—या
व्रीहित्वेन परिहिता व्रीहिव्यक्तयः, नीवारेषु ता सन्ति
तासामर्थेन ते धर्मा क्रियन्ते, तासां च व्यक्तीनामन्यासां च
व्रीहिगतानां तुल्य एव विधि । का तुल्यता ?। उभयेभ्यः
व्रीहित्वलक्षिता—इति । तस्मात् समानविधाना—इति ॥

ख अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ॥ ३९ ॥ (यु०) ॥

भा इतश्च न प्रतिनिधे श्रुतेन सह प्रकृतिविकारभाव । कुत ?।
अर्थलक्षणत्वात्, अर्थाद्वि प्रतिनिधि प्रियते, न च अर्थनैतद्व
गन्तुम् शक्यते,—व्रीहित्वस्य स्थाने नीवारत्वं भवति—इति ।
तस्मात् न प्रतिनिधे श्रुतेन सह प्रकृतिविकारभावो भवति—
इति ॥ (३।६।१४ अ०) ॥

युगेभ्यः प्रतिनिधिषु मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ।

ख नियमार्थां गुणश्रुति ॥ ४० ॥

भा अथ य श्रुत प्रतिनिधि, तत्र किं सामानविधम् उक्तं न ?—

भा इति । यथा, 'यदि सोमं न विन्देत पूतीकानभिषुणुयात्'—
इति । असामानविध्यम्—इति ब्रूमः, अश्रुतात् क्षेतद्विपरीतम् ।
एवं प्राप्ते, उच्यते,—'नियमार्था गुणश्रुतिः', अत्राभ्यर्थलक्षण
एव प्रतिनिधिः, सोमे अविद्यमाने सोमसदृशं द्रव्यं प्राप्तम्,
तत्र ससदृशे द्रव्ये प्राप्ते ईषत्सदृशं नियम्यते । अन्यस्मिन्
प्रतिनिधातव्ये अन्यत् प्रतिनिधीयते, श्रुतस्य स्थाने ; न याग
द्रव्यत्वेन ॥ (३।६।१५ अ०) ॥

दीक्षणीयादिधर्माणामग्निष्टोमाङ्गताधिकरणम् ॥

स संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात् ॥ ४१ ॥
(पू०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमः, तत्र संस्थाः समागताः अग्निष्टोमः,
उक्थ्यः, षोडशी, अतिरात्रः—इति । तत्र दीक्षणीयादयो
धर्माः । तेषु सन्देहः,—किं सर्वसंस्थं ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य
दीक्षणीयादयो धर्मा उक्ताः, उत अग्निष्टोमसंस्थमभिप्रेत्य ?—
इति । किं प्राप्तम् ?—सर्वसंस्थास्तु समानं विधानम् । कुतः ?
'प्रकरणाविशेषात्, नास्ति प्रकरणे विशेषः, येन ज्ञायेत अग्नि-
ष्टोमसंस्थं प्रकृत्य—इति । तस्मात् समानविधानाः संस्थाः—
इति ॥

स व्यपदेशश्च तुल्यवत् ॥ ४२ ॥ (यु०, ॥

भा तुल्य इव प्रकरणे व्यपदेशो भवति,—'यदि अग्निष्टोमो
जुहोति, यदि उक्थ्यः परिधिमनक्ति, यदि अतिरात्रः एतदेव
यजुर्जपन् हविर्धानं प्रतिपद्येत'—इति सर्वावस्थस्य विशषवच-
नात् अवगम्यते । यदपि सामान्यं, तदपि सर्वावस्थस्यैव—
इति, यदि हि न समानं विधानम्, अग्निष्टोमसंस्थस्य

भा स्यात् । न इह अग्निष्टोमं सङ्कीर्तयेत् असङ्कीर्तयमानेष्वपि धर्मसम्बन्धो भवति—इति, सर्वावस्थस्य कीर्तनात् सर्वावस्थ-प्रकरणम्—इत्यवगच्छामः ।

अपि च, श्रूयते,—‘आग्नेयमजमग्निष्टोमे आलभेत, ऐन्द्राग्रं द्वितीयम् उक्ष्ये, ऐन्द्रं वृष्टिं तृतीयं षोडशिनि’—इति द्वितीयस्य तृतीयस्य च दर्शनं समानविधे घटते । उक्ष्ये हि द्वे निमित्ते स्तः, अग्निष्टोमस्तोत्रं उक्ष्यस्तोत्रञ्च—इति, तत्र द्वौ नैमित्तिकौ आग्नेयः पशुः, ऐन्द्राग्रयेति तेन द्वितीयदर्शनं तत्र युज्यते । एवं षोडशिनि अतिरात्रे च । प्रकृतिविकारभावे तु प्रत्यक्षयुतेः ऐन्द्राग्रादिभिरतिदेशेन प्राप्त आग्नेयो बाधेत । तत्र द्वितीयादिदर्शनं नोपपद्येत’ भवति च । तस्मात् सर्वावस्थस्य ज्योतिष्टोमस्य दीक्षणीयादयो धर्माः—इति ॥

स विकारास्तु कामसंयोगे नित्यस्य समत्वात् ॥ ४५ ॥
(सि०) ॥

भा नेतदस्ति,—समानविधानाः—इति । किं तर्हि उक्ष्यादयः सख्याविकारभूताः स्युः, अग्निष्टोमसख्यमुरोहृत्य दीक्षणीयादयो धर्माः समाग्नताः । कुतः ? उक्ष्यादीनां कामसंयोगेन श्रवणात्,—‘पशुकाम उक्ष्यं गृह्णीयात्, षोडशिना वीर्यकामः स्तुवीत, अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्’—इति । काम्यो गुणः श्रूयमाणो नित्यमर्थं विलस्य निविशते । कथं ? गुणात् एव-ज्ञातोयके काम्ये फलनिर्दिष्टिः, पशुकाम उक्ष्यं गृह्णीयात्, न ज्योतिष्टोमकाम उक्ष्यच्छणकामो वा, यथा पशवो भवन्ति, तथा गृह्णीयात्—इत्यर्थः । कथम् ?—इति । तत्र श्रवणम् इति-कर्तव्यता अपेक्षितव्या, सञ्चिधानात् नित्यस्य इतिकर्तव्यतयेति गम्यते ।

‘कथम् पुनर्ययम् इतिकर्तव्यता, सा नित्यस्य इत्यवधार्यते,

भा. न पुनरस्य एव काम्यस्य, साधारणी वा?—इति । उच्यते,
—यत्र यत्र गुणे कामो भवति, तत्र तत्र क्रियायां साधनानायां,
नान्यथा । सा तत्र इतिकर्तव्यता, या अन्तिकम् उपनिषन्ति.
सा साधनस्य वा साध्यस्य वा?—इति सन्दिग्धमाना साधक्य
भवितुमर्हति, नासौ साध्यस्याभवन्ती साधनेन सम्यज्ज्ञेते, यद्
हि स इतिकर्तव्यताविशेषश्चोद्यते, अनेन साधने साध्यद्वन्द्वं
कुर्यात्—इति, न च अस्ति स प्रकारः, येन असाधमानायां
क्रियायां तेन साधकः कृतो भवेत् । तस्मात् साधक्यस्यापि
इतिकर्तव्यताविशेषमभ्युपगच्छता, साध्यस्यापि—इत्येतद्वन्द्व-
गमनीयम्, साध्यश्च ज्योतिष्टोमः, साधिकाः संस्थाः, तस्मात्
ज्योतिष्टोमस्य तावत् सा इतिकर्तव्यता—इति सिद्धम् ।

‘अथ कस्मात् न साधारणी? । नित्यवदाग्नानात्, यद्वै
ज्योतिष्टोमः, तदैव दीक्षा; यदा तु ज्योतिष्टोमे पशुकामः,
तदा उक्थ्यसंस्थाः, सर्वदा ज्योतिष्टोमे धर्माः कर्तव्याः, एकदा
उक्थ्यसंस्थाः, तत्र सर्वदा ज्योतिष्टोमस्य धर्माः कर्तव्याः, न
च उक्थ्यादिसंस्थस्य अर्थेन—इति पूर्वमुत्तरेण विप्रश्नते, यद्वै
सर्वदा न उक्थ्यादीनामर्थेन; अथ उक्थ्यादीनामर्थेन न
सर्वदा, उभयं विप्रतिषिद्धम् । तस्मात् न साधारणी । नित्य-
वदाग्नानं च यदि अनित्यस्य स्यात्, नित्यवदाग्नानं तत्
अनित्यं क्रियेत, तत्र नित्यवदाग्नानं बाधेत ! तस्मात् नित्य-
संस्थस्य ज्योतिष्टोमस्य, न काम्यस्य उक्थ्यादिसंस्थस्य—इति ॥

स अपि वा द्विरुक्तत्वात् प्रकृतेर्भविष्यन्तीति ॥ ११ ॥
(यु०) ॥

भा. ‘ननु अग्निष्टोमसंस्थापि काम्या श्रूयते’ । हे हि तत्र
आग्नान्ते, एकं नित्यवत्, एकं काम्यम्, तत्र द्वयोर्वाक्ययो-
सामर्थ्यात् नित्य एव सकामो भविष्यति, ।

भा नास्ति—इति अग्निष्टोमसरस्वस्य ज्योतिष्टोमस्य दीक्षणीयादयो धर्मा भविष्यन्ति—इति ॥

ख वचनात्तु समुच्चयः ॥ ४५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्तम्,—द्वितीयतृतीयदर्शनं सामानविधित्वेऽवकल्पते नान्यथा—इति, वचनं तत् भविष्यति, न दर्शनं, ऐन्द्राय उक्त्ये द्वितीयो विधीयते, तर्धंश्च योऽग्निनि तृतीयः ॥

ख प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम् ॥ ४६ ॥ (यु०) ॥

भा इतश्च पश्याम प्रजतिविकारभावः—इति । कुत ? । प्रति षेधात् पूर्वलिङ्गानाम्—‘यदि अग्निष्टोमो जुहोति, यदि उक्त्ये परिधिमनक्ति न जुहोति’—इति ष्टोमाभावदर्शनं न स्यात् । प्राप्ते निमित्ते वचनमामाण्यात् सामानविधेः ॥

ख गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ॥ ४७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्तम्—व्यपदेशः—इति । एकस्यैवाधिकृतस्य यद्योक्तेन न्यायेन अयमनधिकृतेन गुणेन व्यपदेशः, अग्निष्टोमग्रहणञ्चानुवादः—इति ॥ (३।६।१६ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिहृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य षष्ठं पादः ॥

तृतीये अध्याये सप्तम पाद ॥



वर्हिरादीना दर्शपूर्णमासोदङ्गोभयाङ्गताधिकरणम् ॥

छ प्रकरणविशेषादसयुक्तं प्रधानस्य ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र वर्हिर्वर्हिर्धर्माश्च, तथा वेदिर्वेदि धर्माश्च । तत्र सन्देहः,—किं वर्हिरादयो वर्हिरादिधर्माश्च प्रधानस्य उत अङ्गप्रधानानाम्?—इति । किं तावत् प्राप्तम्? —‘प्रकरणविशेषात् असयुक्तं प्रधानस्य, प्रधानस्य एवज्ञातीयका धर्मा । कस्मात्? । प्रकरणविशेषात् प्रधानानां हि प्रकरण नाङ्गानाम्, प्रकरणेन च एषा सम्बन्धः, तस्मात् प्रधानस्य ॥

ख सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा सर्वेषां वा अङ्गप्रधानानाम् इमे धर्मा, न अत्र शेषत्व प्रकरणात् भवति, उपकारलक्षणं हि तत् यत् यस्य उपकरोति, तत्तस्य शेषभूतं, सर्वेषां च अङ्गप्रधानानाम् इमे धर्मा उप कुर्वन्ति । कथम् अवगम्यते? । वाक्यात् ‘वेद्या हवींष आसा दयति—इति हविर्मात्रं वाक्यात् गम्यते, प्रधानहवींष प्रकरणात् वाक्यं च प्रकरणात् बलीयः, तस्मात् वर्हिर्हि हवींषि आसादयति—इति ।

“आह यदि प्रकरणं वाक्येन बाध्यते, लोकेऽपि वर्हिषाम् इमे धर्मा उक्ता भवन्ति । ‘तत्र को दोषः? । सर्वत्र धर्मा कतस्या प्राप्नुवन्ति । उच्यते,—प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयोः उपकारका एव—इति गम्यते । तस्मात् लोकेऽपि न कर्तव्या ।

‘एव चेत्, अङ्गान्यपि न दर्शपूर्णमासशब्दकानि, तस्मात् तेष्वपि न प्राप्नुवन्ति’ । उच्यते,—अदृश्यङ्गानि न दर्शपूर्णमास

भा शब्दकानि, दर्शपूर्णमासयोः उपकारकाणि, येषु क्रियमाणा धर्माः दर्शपूर्णमासयोः उपकरिष्यन्ति । तस्मात् अङ्गप्रधानेषु कर्तव्याः—इति ॥

ख आरादयीति चेत् ॥ ३ ॥ (आ०) ॥

भा पिण्डपितृयज्ञेषु बर्हिः धर्मैर्युज्येत, सोऽपि दाते बर्हिषि वर्तते, तस्य चापि बर्हिषास्ति प्रयोजनं, तदप्याराच्छ्रद्धधर्मवत् स्यात् ॥

ख न तत् वाक्यं हि तदर्थत्वात् ॥ ४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा न तस्य बर्हिरेतैर्धर्मैर्धर्मवत्, वाक्यं हि एकं दर्शपूर्णमासाभ्यां सह धर्माणां, तेन दर्शपूर्णमासयोः उपकारका धर्माः यत् दर्शपूर्णमासार्थं, तत्र प्राप्नुवन्ति, नान्यत्र । तस्मात् पिण्डपितृयज्ञ बर्हिषो न भविष्यन्ति ॥

ख लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ५ ॥ (हे०) ॥

भा लिङ्गं भवति,—एवमाह,—‘स वै ध्रुवमेवायमभिधारयति, ततो हि प्रथमावाज्यभागौ यच्छन् भवति’—इति अभिधारणस्य आज्यभागार्थतां दर्शयति ॥ (३।७।१ अ०) ॥

स्वामिसंस्काराणां प्रधानार्थताधिकरणम् ।

ख फलसंयोगात्तु स्वामियुक्तं प्रधानस्य ॥ ६ ॥

भा ज्योतिष्टोमे केचिन्मयुषोर्वपनं ययोजतानि तपस्याग्नातानि, तेषु सन्देहः,—किम् अङ्गप्रधानार्थानि उत प्रधानार्थानि ? किं तावत् प्राप्तम् ?—अङ्गप्रधानार्थानि—इति पूर्वेण व्याख्येयं प्राप्तम् ।

भा एवं प्राप्ते ब्रूमः,—स्वामियुक्तमेतत्, तस्मात् प्रधानस्य ।
 कस्मात्? । फलसंयोगात्, पुरुषस्य यागेन अयं सम्बन्धः,—
 यागोऽपूर्वस्य दाता, पुरुषः प्रतियह्योता । ‘ननु अपरोऽप्यस्ति
 सम्बन्धः,—यागो निर्वर्त्यः, पुरुषोऽभिनिर्वर्त्तकः’—इति । फलेन
 तु सम्बन्धो भविष्यति—इत्येवमर्थः पुरुषः श्रूयते, न हि यागं
 स साधयति, यागः सत्तया संभत्स्यते—इति । किमिति तर्हि
 निर्वर्त्तयतः फलं भवति?—इति । संस्काराश्च सस्कुर्वन्ति—
 इत्युच्यन्ते, यत् तस्य संस्कर्त्तव्यस्य प्रयोजनं, तत्र सामर्थ्यं
 जनयन्ति—इति, फलं च ग्रहीतुम् पुरुषस्य प्रयोजनं, न याग-
 मभिनिर्वर्त्तयितुम् । तस्मात् ये पुरुषसंस्कारास्ते पुरुषं फल
 प्रतियहणसमये कुर्वन्ति, न यागनिर्वर्त्तिसमर्थम् । ‘आह, यदि
 यागनिर्वर्त्तौ न सामर्थ्यं जनयन्ति, कथं तर्हि यागधर्मास्ते
 भवन्ति’ । उच्यते,—यागस्य स्वार्थं साधयतः साहाय्ये वर्त्तन्ते ।
 कश्च तस्य स्वार्थः? । यदस्य कर्त्ता फलेन सम्बध्यते । तस्मात्
 स्वामिसंस्काराः प्रधानार्थाः—इति ॥ (३।७।२ अ०) ॥

सौमिकवेद्यादीनामङ्गप्रधानोभयाङ्गताधिकारखम् ॥

सू चिकीर्षया च संयोगात् ॥ ७ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘षट्चिंशत्प्रक्रमा प्राची चतुर्विंशतिरयेण
 विशत् जघनेन इयति श्चयामहे’—इति । तत्र सन्देहः,—
 किमेया वेदिरङ्गप्रधानार्था उत प्रधानार्था?—इति । किं
 तावत् प्राप्तम्?—चिकीर्षया च संयोगात् प्रधानार्था—इति ।
 का चिकीर्षा? । इयति श्चयामहे—इति । यत् चिकीर्षितं,
 तस्य अर्थेनैषा श्रूयते,—‘श्चयामहे अस्या कर्त्तुम्’—इति
 प्रधानं च तस्य चिकीर्षितं न अङ्गानि, प्रधानं हि फलवत्
 न अङ्गानि ।

भा 'आह यदे अद्भानि न चिकीर्षितानि, किमर्थं क्रियन्ते?'—
इति । उच्यते,—अचिकीर्षितान्यप्यद्भानि क्रियन्ते, यद्यपि
तानि न चिकीर्ष्यन्ते, तथापि तैरचिकीर्षितैरन्यच्चिकीर्ष्यते ।
तस्मात् तानि क्रियन्ते—इति, यत् चिकीर्षितं, तस्य वेदिः ।
तस्मात् प्रधानार्थेति (स्थितं तावदपर्यवसितम्) ॥ (३।७।
३ अ०) ॥

अभिमर्शनस्याङ्गप्रधानोभयाङ्गताधिकरणम् ॥

स तथाभिधानेन ॥ ८ ॥ (पू०) ॥

भा इतो दर्शपूर्णमासौ, तत्र श्रूयते,—'चतुर्थोवा पौर्णमासीमभि-
मृशेत्, पञ्चमोवा श्रमावारयाम्'—इति । तत्र शब्देष्टः,—किम्
अङ्गप्रधानार्थम् अभिमर्शनम्, उत प्रधानार्थम्?—इति । किं
तावत् प्राप्तम्?—प्रधानार्थम्—इति, प्रधाननामधेयश्च एतत्,
—पौर्णमासो श्रमावारया—इति च । तस्मात् प्रधानस्याभि-
मर्शनम्—इति ॥

स तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात्सर्वचिकीर्षा स्यात् ॥ ९ ॥
(पूर्वाधिकरणस्य सि०) ॥

भा (स्थितादुत्तरम्) । यदुक्तं,—प्रधानं चिकीर्षितं न अद्भानि,
तस्मात् प्रधानस्य वेदिः—इति, तत्र, 'तद्युक्ते फलश्रुतिः', साङ्गात्
फलं श्रूयते, तस्मात् साङ्गं चिकीर्षितं । यद्यप्यद्भानि न चिकी-

* यम्य निहात पराधिकरणपूर्वपक्षप्रदर्शनाकारं एव सूत्रेण
दर्शितः ॥

† एषिवो होतृत्यादिकः मन्त्रः चतुर्थोवा । अग्निर्होतृत्यादिको
मन्त्रः पञ्चमोवा इति माधवः ॥

भा. र्पितानि, तथापि वेद्यां कर्त्तव्यानि; अन्यथा न साङ्गं वेद्यां
कृतं भवति ॥

सू. गुणाभिधानात्सर्वार्थमभिधानम् ॥ १० ॥ (सि०) ॥

भा. यदुक्तं,—प्रधाननामत्वात् पौर्णमासीशब्दस्य अमावास्या-
शब्दस्य च, प्रधानहविषाम् अभिमर्शनम्—इति । नैतदेवम्,
अङ्गहविषामप्यभिमर्शनं स्यात् । कुतः ? । गुणाभिधानात्, गुणो-
भिमर्शनम्—इत्यभिधानं भवति । कतमत् तदभिधानम् ? ।
यत् गुणोभिमर्शनम्—इति ब्रूते । पौर्णमासीममावास्याम्—
इति च द्वितीयान्तम् पौर्णमास्यर्थम् अभिमर्शनं कर्त्तव्यम्, अमा-
वास्यार्थमभिमर्शनं कर्त्तव्यम्—इति, अतो यत्र यत्र क्रियमाणं
पौर्णमास्याममावास्यायां वोपकरोति, तत्र तत्र कर्त्तव्यम्; यत्
यत् पौर्णमास्याममावास्यायां वाभिसम्बध्यते, साक्षात्, प्रणाद्या
वा, तत्र तत्र क्रियमाणं तयोः उपकरोति । तस्मात् प्रधान-
हविषाम् अङ्गहविषां च कर्त्तव्यम्—इति ॥ (३। ७। ४ अ०) ॥

दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थताधिकरणम् ॥

सू. दीक्षादक्षिणन्तु वचनात् प्रधानस्य ॥ ११ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे दीक्षाः श्रूयन्ते,—‘तिष्ठो दीक्षा’—इति, तथा
दक्षिणाः श्रूयन्ते,—‘तस्य द्वादशशतं दक्षिणाः’—इति । तत्र
सन्देहः,—किं दीक्षादक्षिणम् अङ्गप्रधानार्थम्, उत प्रधाना-
नाम्—इति । किं प्राप्तम्?—पुरुषाणाम् अङ्गप्रधानार्थत्वात्
दीक्षादक्षिणस्य अङ्गप्रधानार्थता—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—
दीक्षादक्षिणं प्रधानस्य । कुतः ? । वचनात्, वचनं हि भवति,
—‘दीक्षाः सोमस्य, दक्षिणाः सोमस्य’—इति, न हि वचनस्य

भा. अतिभारो नाम कश्चित् । तस्मात् दीक्षादर्चिणं वचनात् सोमस्य—इति ॥

स निवृत्तिदर्शनाच्च ॥ १२ ॥ (यु०) ॥

भा निवृत्ति दीक्षाया दर्शयति । कथम् ? 'अर्ध्या यत् पशुना अयाचोरय कास्य दीक्षा'—इति यत् पदोत्तरं जुहोति सास्य दीक्षा—इति अस्यापि दीक्षायां वचनं भवति । तस्मात् यद्गाना दीक्षादर्चणम्—इति ॥ (३।७। ५ अ०) ॥

अन्तर्वेदेयमान इत्याधिकरणम् ॥

स तथा यूपस्य वेदिः ॥ १३ ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नियोमोयः,—'यो दीक्षितो यदग्नियोमोयं पशुमात्मते'—इति । तत्र यूपं प्रकृत्य श्रूयते,—'वचो वै यूपो यदन्तर्वेदि मिनुयान्निर्देहेत्, यत् बहिर्वेद्य नवरुद्धः स्यात् अर्हमन्तर्वेदि मिनोति अर्हं बहिर्वेदि अवरुद्धो भवति, न निर्देहति'—इति ।

तत्र सन्देहः,—किम् अन्तर्वेदि—इति यूपान्नभावेन वेदिः उपदिश्यते, उत अर्हमन्तर्वेदि अर्हं बहिर्वेदि—इति देशलक्षणार्थम् उच्यते ?—इति । कथम् यूपान्नभावेन कथं वा देशलक्षणा ?—इति । यदि यूपान्नस्य वेद्यन्तरस्य च सम्बन्धो विवक्षितः, एवं वेदिसम्बद्धो यूपः कर्त्तव्यः, ततो यूपान्नभावेन ; अथ यस्मिन् देशे मीयमानस्य अर्हं वेद्यभ्यन्तरेऽर्हं च ब्रह्मः, स देश उपदिश्यते, ततो देशलक्षणा ।

किं प्राप्तम् ?—'तथा यूपस्य वेदिः', यथा दीक्षादर्चिणं प्रधानस्य, तथा यूपस्य वेदिः, तथा यूपो मातृस्य, तथा मीयमानस्य

भा. अहं वेद्यभ्यन्तरे भवति । एवं वेदित्युतिरप्यनुग्रहीष्यते, इतरथा वेदिशब्दो लक्ष्येत् देशं, युतिलक्षणाविशये युतिर्न्याय्या न लक्षणा । तस्मात् यूपान्नभावेन वेदिर्निर्दिश्यते ॥

ख. देशमात्रं वाऽग्निष्येणैकवाक्यत्वात् ॥ १४ ॥ (सि०) ॥

भा. देशमात्रं वा वेदिशब्देन लक्ष्यते न वेदियूपान्नम् । कुतः ? । 'अग्निष्येण एकवाक्यत्वात्', 'अहंमन्तर्वेदि मिनोत्यहं बहिर्वेदि'—इत्येतेनैकवाक्यता या, सा शासितव्येन, यदि देशलक्षणा, अथ यूपान्नभावेन वेद्या निर्देशः, ततो न शासितव्यो बहिर्वेदिर्निर्देशो भवति; वेद्यां यूपस्य अन्नभावेन उपदिश्यमानायाम्, अहं बहिर्वेदि—इत्येतदुच्चार्यमाणं न कस्मिंश्चित् उपकारे वर्तते ।

'अथ बहिर्वेदिदेशमपि यूपान्नभावेन उपदिशेत्' । वाक्य-
भिद्येत । तस्मात् यूपान्नभावेन वेद्या निर्देशे बहिर्वेदिशब्दः
सर्वथा न शासितव्यः । यदि तु देशलक्षणा, ततो विशिष्टे
देशे लक्ष्यमाणेष्ववश्यवक्तव्यो बहिर्वेदिशब्दो भवति, अनुचरमाने
वेद्यभ्यन्तरे यस्मिन् कस्मिंश्च प्रदेशे यूपः—इति गम्यते । अथ
पुनर्बहिर्वेदिशब्दे श्रूयमाणे, यतरस्मिन्देशे भीयमानस्य अहंम्
अन्तर्वेदि अहं बहिर्वेदि, स देशो लक्षयितुमिष्टो भवति, स च
बहिर्वेदिशब्देन विना न शक्यते लक्षयितुम्—इति, अवश्यं
शासितव्यो भवति । तस्मात् देशलक्षणा—इति ॥ (३।७।
६ अ०) ॥

हविर्ज्ञानस्य सामिधेन्यनङ्गताधिकारणम् ।

ख. सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्ज्ञानयोर्वचनात्
सामिधेनीनाम् ॥ १५ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'उत यत्पुनन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः'

भा —इति, हविर्द्धानयोर्यस्मिन् हविर्द्धाने सन्वन्ति, तत् सामि-
धेनीभिः सम्बन्धयेत्*—इत्यर्थः । तत्र सन्देहः,—किं सामि-
धेनीनाम् अङ्गभावेन हविर्द्धानं चोद्यते, हविर्द्धानविशिष्टाः
सामिधेन्योऽनुवक्तव्याः, उत हविर्द्धानेन अभूषामनूचमानानां
देशो लक्ष्यते?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—सामिधेनीनाम्
अङ्गत्वेन हविर्द्धानं चोद्यते,—यस्मिन् हविर्द्धाने सन्वन्ति, तत्
सामिधेनीभिः सम्बन्धयेत्—इति, तेन हविर्द्धानसम्बद्धाः सामि-
धेन्योऽनुवक्तव्याः—इति वचनात् सामिधेन्यङ्गभावे सति हवि-
र्द्धानश्रुतिः अनुयहीष्यते, इतरथा देशं लक्षयेत्—इति ।
तस्मात् सामिधेन्यङ्गं हविर्द्धानम् ॥

स देशमाचं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य ॥ १६ ॥ (सि०) ॥

भा. देशलक्षणार्थं वा एतत् उच्यते,—यस्मिन् सन्वन्ति, तस्मिन्
देशे सामिधेन्योऽनुवक्तव्याः—इति, प्रत्यक्षं हि अर्थकर्म सोमस्य
तेन क्रियते,—दक्षिणे हविर्द्धाने सोममासादयति—इति,
सोमासादनार्थं तावदेतत् उपादेयम्, सामिधेन्योऽपि अग्नि-
समिन्धनार्थम् उपादेयाः—इति । इह त्वेतावत् श्रूयते,—यस्य
हविर्द्धानस्य समीपे सन्वन्ति तत्सम्बद्धाः सामिधेन्योऽपि अग्नि-
समिन्धनार्थम् उपादेयाः—इति, तत्र न ज्ञायते, किम् सामि-
धेन्यः सम्बद्धाः हविर्द्धानस्य उपकुर्वन्ति? किम् हविर्द्धानं सामि-
धेनीनाम्?—इति ; तदुच्यते,—सामिधेन्यस्तावद्धविर्द्धानस्य न
उपकुर्वन्ति, न हि तावत् विधीयन्ते,—सामिधेन्योऽनुवक्तव्याः—
इति । किम् तर्हि?—हविर्द्धानविशेषसम्बन्धः तासां विधीयते,

* हविर्द्धानमण्डपगतयोर्दक्षिणोत्तरभागयो रवस्थितयोर्हविर्द्धानताम-
क्याः शकटयोर्मध्ये दक्षिण शकटमथ यत्तच्छब्दाभ्यामभिधीयते । तस्य
समीपे सोमस्याभिषवः । उक्तस्य शब्दोऽयं शब्दार्थे वर्तते इति भाष्यम् ।

भा. न च अविहितम् अङ्गं भवति, नाप्येवं विधीयते, हविर्धानमा-
सामनुचमानानां उपादातव्यं सम्बन्धयितुम्—इति । कथम्
तर्हि ?—हविर्धानविशेषसम्बन्धो सामिधेनीनां श्रूयते, हवि-
र्धानसम्बन्धो विधीयते, न च सामिधेनीसम्बन्धो हविर्धानस्य
प्राप्तः, यो विशेषार्थमनूद्येत । केन तर्हि हविर्धानस्य सम्बन्धः ?
प्रत्यक्षं हि अर्थकर्म सौमस्य, न तु सामिधेनीकर्म प्रत्यक्षं
हविर्धानस्य । भवति तु देशस्य सामिधेनीसम्बन्धः, 'अपरेण
वेदिम्'—इति होतुर्देशो लक्षितः, स उत्तरस्य दक्षिणस्य वा
हविर्धानस्य समासन्नः, तत्र यत् सन्वन्ति, तदन्वाङ्गः—इति
उपपद्यते वचनम् । तस्मात् देशलक्षणार्थं हविर्धानग्रहणम् ।

‘अथैवमभिसम्बन्धः कस्मात् न भवति ?—यस्मिन् हविर्धाने
सन्वन्ति, तस्य हविर्धानस्य सामिधेनीसम्बन्धः—इति’ । नैवं
शक्यम्, एवं दावर्थो विधातव्यो भवतः, हविर्धानसम्बन्धो
हविर्धानविशेषसम्बन्धश्च, तत्र वाक्यम्भिद्येत । तस्मात् नैवम्
अभिसम्बन्धः—इति ॥

स. समाख्यानं च तद्वत् ॥ १७ ॥ (यु०) ॥

भा. समाख्यानं च तद्वदेव भवति, यथा अस्माभिर्न्याय उपदिष्टः,
—सोमार्थम् हविर्धानम्—इति ॥ (३।७।७ अ०) ॥

अङ्गानामन्यद्वारानुष्ठानाधिकरणम् ।

स. शास्त्रफलं प्रयोक्तारि तल्लक्षणत्वात् तस्मात्स्वयं
प्रयोगे स्यात् ॥ १८ ॥ (पू०) ॥

भा. इह कर्माणि उदाहरणम्,—‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः’,
‘दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत’, ‘ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो
यजेत’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् एतानि कर्माणि स्वयम्

भा अनुष्ठातव्यानि, उत अचोत्सर्गमात्रं स्वयं कु
 वा, उत श्रेयमन्य एव?—इति । किं प्राप्तम्?—
 स्यात् । कुत ?। यत स्वयं—प्रयुञ्जानस्य फल भवति ।
 अवगम्यते ?। 'तल्लक्षणत्वात्, शब्दोऽभ्यर्थस्य लक्षण,—
 प्रयुञ्जानस्य फल भवति—इति । कतम स शब्द ?। स्व
 यजेत—इति, य स्वयं कामयते, स एवोचरते,—यागे च
 भवन् फल साधयेत्—इति, साद्रे च कर्त्ता भवन् फलं प्राप्नोति
 तस्मात् स्वयंप्रयोगे स्यात् ॥

ख उत्सर्गं तु प्रधानत्वात् शेषकारी प्रधानस्य, तस्मात्
 अन्य स्वयं वा स्यात् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा उत्सर्गं प्राधान्यमस्ति । कथम्?। य उत्सर्गं करोति तेन
 सर्वं हृतं भवति । कथम्?। परिक्रय उत्सर्गं, तेन आनता सर्वं
 कुर्वन्ति । तस्मात् य परिक्रय करोति तेन स्वयमेव सर्वं हृतं
 भवति । तस्मात् उत्सर्गमात्रं स्वयं कुर्यात्, श्रेयमन्य स्वयं वा ॥

ख अन्यो वा स्यात् परिक्रयान्नानादिप्रतिषेधात्प्रत्यगा
 त्मनि ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा श्रेयस्यान्य एव स्यात् कर्त्ता । कुत ?। परिक्रयस्याग्नात्
 त्वात्—पुरुषानतिप्रकारेषु बहुषु मासेषु परिक्रयो नियतः ।
 तस्मात् परिक्रयेणानते सर्वं पदार्था कर्त्तव्या—इति, विप्रति
 षिद्ध्यात्मनि परिक्रयः । यदि स्वयं कुर्यात् अपरिक्रितेन हृतं
 स्यात्, तत्र परिक्रयाग्नात्तानार्थक्यम्, अदृष्टार्था वा प्रतिज्ञायेत ।
 तस्मात् अन्यैः परिक्रिते शेषा पदार्था कर्त्तव्या—इति ।
 उत्सर्गे तु स्वयं कुर्वता सर्वं हृतं भवति ॥ (३। ७। ८ अ०) ॥

परिक्रीतानामृत्विर्जा सङ्क्रान्तिविशेषनियमाधिकरणम् ।

सू. तच्चार्थात्कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् ॥

२१ ॥ (पू०) ॥

भा. तच्च तैः परिक्रीतैः कर्त्तव्येषु अनियमेन कर्तृपरिमाणं स्यात् ।
कुतः ? । अविशेषात्, न कर्तृपरिमाणे विशेषः कश्चिदाग्नयते ;
अर्थेन तत्परिमाणं, यावद्विरसौ इतिकर्त्तव्यता निर्वर्त्तते, तावतो
दृणीत ॥

सू. अपि वा श्रुतिभेदात् प्रतिनामधेयं स्युः ॥ २२ ॥

(सि०) ॥

भा. यावन्ति कर्तृनामधेयानि कर्माणि श्रूयन्ते,—तावन्तो वरीतव्याः
भिद्यन्ते, तानि च नामधेयश्रवणानि,—‘तान् पुरोध्वर्युर्विभजति,
प्रतिप्रस्थाता मन्थनं जुहोति, नेष्टा पत्नीमभ्युदायति, उन्नेता
चमसान् उन्नयति’—इति, तथा, ‘प्रस्तोता प्रस्तौति, उद्गाता
उद्गायति, प्रतिहर्त्ता प्रतिहरति, सुब्रह्मण्यः सुब्रह्मण्यामाह,
होता प्रातरमुवाकमनुव्रते, मैत्रावरुणः प्रेष्यति, चानुचाह,
अच्छावाको यजति, यावस्तुत् यावस्तोचीयामन्वाह’—एतावद्भिः
कर्माणि प्रयोजनं, तेन तेभ्यश्चमेतानि यथाश्रुतानि कर्त्तुम् वरी-
तव्याः, एतद्व्यतिरिक्तोभ्यः पदार्था न विद्यन्ते, योऽपि वाक्येन
नोपदिष्टः, स समाख्यया गम्यते । तस्मात् एतावतो दृणीत—
इति ॥

सू. एकस्य कर्मभेदादिति चेत् ॥ २३ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं चेत् प्रतिज्ञायते,—एतावतो दृणीतेति, तन्न, यो
तत्कर्म करिष्यति—इति सङ्कल्पते, स स ॥

भा भवति एकोऽपि बहून् पदार्थान् कर्तुम् बह्वभिर्नामधेये उच्येत,
तस्मात् अनियमः ॥

ख नोत्पत्तौ हि ॥ २४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदेवम् उत्पत्तौ पुरुषाणाम् उत्पाद्यमानेषु पुरुषेषु नाम
धेयानि भिद्यन्ते—‘ब्राह्मणं दृणीते ह्येतारम् दृणीते, उद्गा
तारम् दृणीते अध्वर्यं दृणीते—इत्येवमादि तस्मात् कर्मणि
तेरेवनामके प्रयोजनम् अवश्यन्ते वरीतव्या । तस्मात् एषा
वरणे सङ्कीर्तनं न विधिः । प्रयोजनस्य अभावात् न अनुवादः ।
न वेदे तावन्ती वरीतव्या—इति ब्रूयात् अनर्थकमेव स्यात् ।
अङ्गीति चेद् प्रत्याययितुम् सङ्ख्याविशेषम् तस्मात् य सङ्ख्या
विशेषो एषा प्रतीयते तदर्थमेतद्वचनम् । तस्मात् श्रोत्रशकनारी
वरीतव्या, सोम तावत्कृतकस्य स्यात् एव दर्शपूर्णमासयोरपि ॥
(३।७।८ अ०) ॥

चमसाध्वर्यव्या एतद्वाधिकरणम् ।

ख चमसाध्वर्यवश्च तैर्यपदेशात् ॥ २५ ॥

भा सन्ति व्योतिष्टोमे चमसाध्वर्यवः,—‘चमसाध्वर्यन् दृणीत’—
इति । तेषु सन्देहः—किम् एषामन्यतमा, उतेतैर्योग्ये ?—
इति । किं तावत् प्राप्तम् ?—एतावता सङ्कीर्तनात् एषामेवान्य
तमा—इति प्राप्ते ब्रूम चमसाध्वर्यवस्यापरे भवेयु तैर्योग्ये
—इति । कुत ? ‘तैर्यपदेशात्’ तै परिगणितेरिया व्यपदेशी
भवति—‘मध्यत कारिणा चमसाध्वर्यवो, होचकाणा चमसा
ध्वर्यव’—इति ।

‘ननु ये एव प्रकृतास्ते चमसाध्वर्यवो भवेयुः’ । न—इति
ब्रूम । कुत ? ‘तैर्यपदेशात्’, ‘मध्यत कारिणा चमसाध्वर्यवो

भा. होत्रकाणां चमसाध्यैवः—इति, पृथी सम्बन्धे सति भवति; षट्त्विग्भिस्ते व्यपदिश्यन्ते, षट्त्विजः तेषां स्वामिनो न यजमानः, यजमानपुरुषेभ्यश्च एतेभ्यः—इति नः प्रतिज्ञातम्, न यजमानेन चमसाध्यैवं कर्तुम् वरीतव्याः, षट्त्विग्भिस्ते वरीतव्याः—इति । अपि च, एषाम् उत्पत्तिवाक्ये एव भेदः,—‘चमसाध्यैर्नृणीत’—इति ॥ (३। ७। १० अ०) ॥

चमसाध्यैर्नृणां बह्वचनियमाधिकरणम् ।

स. उत्पत्तौ तु बहुव्युतेः ॥ २६ ॥

भा. तेष्वेव सन्देहः,—किम् अनियमः,—एको द्वौ बहवो वा, उत बहव एव?—इति । अनियमः—इति प्राप्ते उच्यते,—बहवः—इति । कुतः? । उत्पत्तौ बहुव्युतेः, चमसाध्यैवः—इत्येषाम् उत्पत्तौ बहुव्युतिर्भवति, तस्मात् बहवः—इति ॥ (३। ७। ११ अ०) ॥

चमसाध्यैर्नृणां दशसङ्ख्यानियमाधिकरणम् ।

स. दशत्वं लिङ्गदर्शनात् ॥ २७ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे चमसाध्यैवः, ते च बहवः—इत्युक्तम् । कियन्तो बहवः—इति सन्देहे त्रयः, बहुवचनसामर्थ्यात्—इति प्राप्ते द्रुमः,—‘दशत्वं लिङ्गदर्शनात्’, ते दश भवेयुः, तथा हि लिङ्गं ज्योतिष्टोमविकारे दशपेये श्रूयते,—‘दश चमसाध्यैवो दशदश एकैकं चमसमनुसर्पन्ति—इति, एतस्मात् कारणात् दशपेयो भवति’—इति ब्रुवन् दश चमसाध्यैर्नृन् दर्शयति, यदि त्रयो भवेयुः, एतद्दर्शनं नोपपद्येत । तस्मात् त्रीन् अतीत्य एषा सङ्ख्या, यदि च दश न भवेयुर्नोपपद्येत एतद्दर्शनं । तस्मात्

भा भवन्ति दश, दश चेपां स्वामिन । तस्मात् प्रयोजनभावात्
दशसङ्ख्यगोपादीयते, तस्या च उपादीयमानाया अपरापि
सङ्ख्या अनुगृह्यते, तेनापि दश भवेयु ॥ (३। ७। १२ अ०) ॥

शमितुरष्टकाधिकरणम् ।

स्र शमिता च शब्दभेदात् ॥ २८ ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति शमिता,—‘शमितार उपनयीत’—इति । स किं
सङ्कीर्तितानामन्यतम, उत अन्यस्तेभ्य ?—इति । किं प्राप्तम् ?
—तेषां वरणे सङ्कीर्तनात् तेषाम् अन्यतम, —इति प्राप्ते उच्यते
—‘शमिता च शब्दभेदात्,—शब्दो भिद्यते,—एवमज्ञकेन इदं
कर्म कर्तव्यम्—इति, तस्मात् एवमज्ञक उत्पादयितव्य । अस्य
सङ्कीर्तनात् सङ्ख्याविष्टद्विगम्यते, तस्मात् अन्य शमिता ख्यात् ।
अपि च, ‘सोमा चोद्धं वैकर्त्तनं च शमितु तत् ब्राह्मणाय
दद्यात् यद्यब्राह्मण स्यात्—इति अब्राह्मणशङ्का भवति, सा
षट्त्विति नोपपद्यते ॥

स्र प्रकरणादोत्पत्त्यसंयोगात् ॥ २९ ॥ (सि०) ॥

भा सत्यं सङ्ख्याविष्टद्विगम्यते, न तु उत्पद्यमानेषु या त्वनुत्पत्ति
स्तेषु गम्यते, तच्च एकस्य कर्मभेदात्—इत्येवमप्यवकल्पते । यत्तु
उक्तम्—अब्राह्मणशङ्का भवति—इति, यजमानाभिप्राया सा,
—यदि अब्राह्मणो यजमान स्यात्—इति । ‘ननु यदि
अब्राह्मण स्यात्—इति महत शमिता सम्बध्यते । उच्यते,—
शमयति—इति शमिता, यौगिक एष शब्द महतेष्वप्यवक
ल्पते । शामिषमध्याध्ययवे समाप्तानात् अभ्यर्च्यणा कर्तव्यम् ।

• प्रयोजनभावात् न दशमङ्क्या उपधीयते इति वा० म० पू० पाठः ।

भा तस्मात् शमनात् अध्वर्युः शमिता, एवं सति अमहतो यजमानः
सम्बध्यते ॥ (३।७।१३ अ०) ॥

उपगम्याष्टयक्षाधिकरणम् ॥

सू उपगाश्च लिङ्गदर्शनात् ॥ ३० ॥

भा. ज्योतिष्टोमे सन्तु उपगा नाम, ते शब्दभेदात् सङ्ख्याविष्टद्धिं
प्रत्याययन्ति—इत्यध्वर्यादिभ्योऽन्ये—इति प्राप्ते ब्रूमः,—तेषा-
मेव केचित्स्युः—इति । कस्मात् ? उत्पत्तौ परिगणनात्, यौगि-
कत्वाच्च शब्दस्य । लिङ्गमिदं भवति,—‘न अध्वर्युः उपगायेत्’—
इति, यदोभ्योऽन्ये भवेयुर्नाध्वर्युम् प्रतिषेधेत् । अप्राप्तत्वात् ।
यतस्तु प्रतिषेधति,—अतोऽवगच्छामः,—उत्पत्तौ सङ्कीर्त्तिताना-
मेवान्यतमः—इति ॥ (३।७।१४ अ०) ॥

सोमविक्रोतुः पृथक्त्वाधिकरणम् ॥

सू विक्रयो त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ॥ ३१ ॥

भा अस्ति सोमविक्रयो तत्र सन्देहः,—स किम् अध्वर्यादीनाम्
अन्यतमः, उतेभ्योऽन्यः ?—इति । किं प्राप्तम् ?—तेषां सङ्कीर्त्त-
नात्, तेषाम् अन्यतमः—इति प्राप्ते ब्रूमः,—‘विक्रयो त्वन्यः’
स्यात्—इति, विक्रयो न चोद्यते क्रयश्चोद्यते, तत्र अर्थादिक्रयः,
ज्योतिष्टोमस्य च पदाद्योन् कर्तुम् अध्वर्यादय उत्पाद्यन्ते, न तु
विक्रयो ज्योतिष्टोमस्य श्रूयते । तस्मात् न अध्वर्यादीनामन्य-
तमः—इति ॥ (३।७।१५ अ०) ॥

ऋत्विजितिशान्त्वाऽसर्वगामिताधिकरणम् ॥

स कर्मकार्यात् सर्वेषां ऋत्विक्त्वमविशेषात् ॥ ३२ ॥
(पृ०) ॥

भा. ये एते पुरुषा ज्योतिष्टोमस्य श्रूयन्ते, ते किं सर्वे एते ऋत्विजः,
उत केचित् एवाम्?—इति । किं प्राप्तम्,—सर्वे । कुतः?।
'कर्मकार्यात्', सर्वे यागस्य साधनं कुर्वन्ति, तस्मात् सर्वे ऋतौ
यजन्ति, ये च ऋतौ यजन्ति ते ऋत्विजः, न काश्चिद्विशेष
आश्रीयते,—इमे एव ऋतौ यजन्ति—इति ऋत्विजः, इमे न
—इति । तस्मात् सर्वेषाम् ऋत्विक्त्वम् ।

'ननु परिसङ्ख्या श्रूयते,—'सौम्यस्य अध्वरस्य यज्ञक्रतो
सप्तदश ऋत्विजः'—इति । उच्यते,—परिसङ्ख्यायां बहवो
दोषाः सन्तीति, अवयुत्यवादोऽयं भविष्यति ॥

स न वा परिसङ्ख्यानात् ॥ ३३ ॥ (सि०) ॥

भा. न वा सर्वे । कस्मात्? । परिसङ्ख्यानात्,—एवं हि श्रूयते,
'सौम्यस्य अध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजः'—इति, स
एव न विधिः, बह्वतराणां प्राप्तत्वात्, न अनुवादः, प्रयोजना
भावात्, न चेत् परिसङ्ख्यापि, आनर्थक्यमेव स्यात् ।

'ननु परिसङ्ख्यायां स्वार्थहानं परार्थकल्पना प्राप्तबाधश्च' ।
उच्यते,—स्वार्थहानम् अदोषः प्राप्तत्वात् । परार्थकल्पना च
प्रत्ययात् । कथं? । बहूनाम् ऋत्विक्त्वे ज्ञाते पुनः सप्तदश
र्त्विजः—इत्युच्यते, सप्तदशभिर्ऋत्विक्त्वक्षदस्य सम्बन्धः पुनः
प्रकाशयते, अधिकेषु न प्रकाशयते । तत्र विज्ञायते एतत्,—
ऋत्विक्त्वक्षदस्य मुख्यैः सम्बन्धे पुनः प्रकाशयमाने सप्तदशभ्यो-
भ्यधिका वर्जिताः—इति गम्यते, तत्र किं सप्तदशभिः सम्बन्धो

भा विवक्षितः, किम् वा अधिकानाम् वर्जनम्?—इति, सप्तदश-
सम्बन्धस्य अप्रयोजकत्वात् अधिकानाम् वर्जनम् विवक्षितम्—
इति गम्यते ।

‘आह,—ननु प्रतिषिध्यमानेष्वप्यधिकेषु प्रतिषेधो न प्रा-
प्नोति, न हि, ते ऋतौ न यजन्ति, न वा ऋतौ यजन्तो न
ऋत्विजः स्युः’ । उच्यते,—सत्यं, न, प्रतिषेधात् ऋत्विक्शब्देन
न सम्बध्यते, किन्तु प्रतिषेधसामर्थ्यात् हि ऋत्विक्कार्यं न भवन्ति ।
किं पुनः ऋत्विक्कार्यम्? । ऋत्विज उपवसन्ति—इति, ऋत्विजो
वृणीते, ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा ददाति—इति ।

‘आह,—यत् ऋत्विजा कार्यं, कथं तत् केषाञ्चित् ऋत्विक्-
शब्दकानां न स्यात्?’ । उच्यते,—एव तर्हि द्विविधोऽयं ऋत्विक्
शब्दः,—‘ऋतुयजननिमित्त’, वरणभरणनिमित्तश्च, तत्र याग
निमित्तस्य ग्रहणम् अनर्थकम्, तस्मात् वरणभरणनिमित्तो गृह्यते
—इति ।

‘आह,—नन्वितरेतराश्रयमेवं भवति,—ये ऋत्विजस्ते वरी-
तयाः, ये त्रियन्ते ते ऋत्विजः—इति तदितरेतराश्रयम्’ । उच्यते,
—न हि ऋत्विजो वृणीते—इत्ययमर्थः,—‘ऋत्विजः सन्तो वरी-
तयाः—इति, कथं तर्हि?—वरणेन ऋत्विजः क्रियन्ते—इति,
एवं द्वितीयानिर्द्देशो युक्तो भविष्यति,—अध्वर्युं वृणीते—इत्येवं
लक्षणः । दृष्टार्थता च वरणस्य भविष्यति ।

‘कथम् आत्मेच्छया अध्वर्युर्भवति’—इति चेत् कश्चित् ब्रूयात्,
भवति—इति ब्रूयाम् । कथम्? । एवशब्दकेनायं पदार्थः कर्त्तव्यः
—इति, नास्त्येवंशब्दकः, यस्य नास्ति, स यदि शक्यते कर्त्तुम्,
कर्त्तव्यो भवति; यथा,—‘जुह्वा जुहोति’—इति अविद्यमाना
जुह्वः क्रियते, एवमेतदपि द्रष्टव्यम् । तत्र अर्थादनियमेन
ऋत्विज्शब्दसम्बन्धे कर्त्तव्ये, वरणविशेषेण कर्त्तव्यः—इति निय-
म्यते । तस्मात् न इतरेतराश्रयम् । तस्मात् सप्तदशैव ऋत्विजः

भा कर्त्तव्या'—इति परिसङ्ख्या, —सप्तदश ऋत्विजः संस्कारैः कर्त्तव्या —इति ॥

स पक्षेणेति चेत् ॥ ३४ ॥ (आ०) ॥

भा एव चेत् मन्यसे,—यद्योक्तपक्षेणैतदेवम् उच्येत, अवयुत्यवादपक्षेण सप्तदशर्त्विज —इति, तत्परिहर्त्तव्यम् ॥

स न सर्वेषामनधिकारः ॥ ३५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदेव, न अथ सर्वेषां पुरुषाणां वचनं, यान् अधिकृत्य अवयुत्यवादो भविष्यति, यच्च परा सङ्ख्या कीर्त्यते, तच्च अवयुत्यवादो भवति, यथा, षादशकपाले यट्टाकपालो भवति —इति, न च, इह परा सङ्ख्या कीर्त्यते । तस्मात् न अवयुत्यवादः—इति ॥ (३। ७। १६ अ०) ॥

दीक्षादक्षिणावाक्योक्तानामेव ब्रह्मादीनां सप्तदशर्त्विजाधिकारणम् ।

स नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ॥ ३६ ॥

भा सप्तदश ऋत्विज —इति समधिगतम् । कतमे ते सप्तदश ?—इति इह चिन्तयते । किं प्राप्तम् ?—अज्ञानम् । एवं प्राप्ते ब्रूम, —‘नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात्’, दक्षिणासम्बन्धेन नियम्येरन्, एव द्वाग्नायते,—‘ऋत्विग्यो दक्षिणा ददाति’—इति, एवम् अभिधाय दक्षिणादानक्रमपरे वाक्ये ब्रह्मादयः श्रूयन्ते,—‘अग्नीधेय्ये ददाति’—इति, ततो ब्रह्मणे, ततोऽमुष्मै च अमुष्मे च—इति केचिदेव विगिष्टाः श्रूयन्ते,—एव ये श्रूयन्ते ते तावत् ऋत्विजः ततोऽभ्यधिका नान्ये भवितुमर्हन्ति, दक्षिणाभिर्नियम —इति ॥

स. उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात् ॥ ३७ ॥
(यु०) ॥

भा. ये ऋत्विजः ते यजमानाः—इत्येवम् अभिधाय ब्रह्मादीनां दीक्षाक्रमपरे च वाक्ये दीक्षां दर्शयति । कथम्? 'अध्वर्यु-
गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति, तत उद्गातारं, ततो
होतारम् । ततः तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वा अङ्घ्रिनो दीक्षयति,
ब्राह्मणाच्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारम् उद्गातुः, मैत्रावरुणं होतुः ।
ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति, आग्नीध्रं ब्रह्मणः,
प्रतिहर्तारम् उद्गातुः, अक्षावाकं होतुः । ततस्तमुन्नेता दीक्ष-
यित्वा पादिनो दीक्षयति, पौतारं ब्रह्मणः, सुब्रह्मण्यम् उद्गातुः,
यावस्तुतं होतुः । ततस्तमन्यो ब्राह्मणी दीक्षयति, ब्रह्मचारी
वाचार्यप्रेषितः—इति । दीक्षा च यजमानसंस्कारः । तस्मात्
ब्रह्मादय ऋत्विजः सप्तदश—इति ॥ (३ । ७ । १७ अ०) ॥

—
ऋत्विजा स्वामिसप्तदशत्वाधिकरणम् ।

स. स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात् ॥ ३८ ॥

भा. एतदुक्तं,—सप्तदश ऋत्विजः—इति, ते च ब्रह्मादयः । तत्र
सन्देहः,—किम् एषां सदस्यः सप्तदशः, उत गृहपतिः? किं
तावत् प्राप्तम्?—सदस्यः—इति स हि कर्मकरः, इतरः स्वामी,
यश्च कर्मकरः, स परिज्जेतव्यः, ऋत्विजश्च परिज्जीयन्ते, तस्मात्
सदस्यः सप्तदश ऋत्विक्—इति । अपि च, तस्य चमसमामनन्ति
वरुणं च, ऋत्विक् वरीतव्यो न स्वामी, तस्मात् सदस्यः सप्तदशः ।

इति प्राप्ते उच्यते,—'स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात्', स्वामी
एषा सप्तदशः स्यात् । कुतः? कर्मसामान्यात्, यज्ञे कर्तार
ऋत्विजो भवन्ति, यज्ञे च कर्ता गृहपतिः, तस्मान्

भा यज्ञकर्मसामान्यात् । यदुक्तं,—तं समासनन्ति तस्य चमसमा
मनन्ति वरणं च, तस्मात् सदस्यः सप्तदशः—इति । उच्यते,—
ब्रह्माणमेव ते समासनन्ति, वरणम् अपि चमसश्च ब्रह्माण एव, स
हि सदसिभवः, तस्मात् स्यामिसप्तदशः ॥ (३। ७। १८ अ०) ॥

आध्वर्यवादिषु आध्वर्यादीनां कर्तृतानियमाधिकारणम् ॥

अग्नेः प्रकृतिविकृतिसर्वार्थताधिकारणञ्च ॥

स ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्च स्वकालत्वात् ॥ ३९ ॥
(पू०) ॥

भा स्यामिसप्तदशः ज्योतिष्टोमस्य ऋत्विजः समधिगताः । अथ
इदानीमयं सन्देहः,—किं सर्वे पुरुषकार्यं तैः कार्यम्, अग्निभिश्च
गार्हपत्यादिभिः अग्निकार्यम्, उत काचिदरवरथा?—इति । किं
तावत् प्राप्तम्?—‘ते सर्वार्थाः, प्रयुक्तत्वात् अग्नयश्च स्वकाल
त्वात्, ते वृताः सर्वस्मै पुरुषकार्याय स्युः, अग्नयश्चाग्निकार्याय ।
कुतः? । तैः कार्यैः आकाङ्क्षितत्वात्, प्रति—स्वं यज्ञण्मेषाम्
अनुवादः, स्वकालत्वात् अग्नयश्च सर्वार्थाः—इति, समधिगत
मेतत् ॥ (३। ७। १९ अ०) ॥

* “ये पुनराहवनीयादथ, तेषां सर्वार्थमप्रकृतमेव न च प्रसङ्गादु-
च्यते, स्वकालत्वस्य हेतोरप्यसमर्थत्वात् । न च तस्य उत्तरपक्षे कश्चित्
पक्षस्य हेतोर्वा परामर्शीऽस्ति”, इत्यारम्भ “सिद्धान्तवचनमेवैतत्, निरा-
करणोक्त्यभावात् । तस्मादेव वर्ण्यते, नैतदेवाग्नीनां सर्वार्थत्व पूर्वोपक्षी-
कृत, किं तर्हि आधिकारणान्तरसूत्रीक्तन्यायेनाधानवदेव पूर्वोत्तरपक्षौ
रचयितव्यौ,—किमाहवनीयादथ. प्रकृत्यर्थः । आहोसित् प्रकृतिविकृत्य-
पेक्षया? । तत्प्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्यवादाः । प्रकृतौ वा विकृतत्वादित्येव
प्राप्तेऽभिधीयते,—यमथाः सर्वार्था भवेयुः । कुतः? । स्वकालत्वात्
सतत्त्वोत्पत्तिकत्वादित्यर्थः । नैतत् वक्षितं सर्वार्थं बाधानस्य स्वकाल-
त्वादित्यत्र, इत्येव चार्त्तिकमजानुक्तं न्यम् ॥

आध्वर्यवादिष्वेवाध्वर्यादीनां कर्तृतानियमाधिकरणस्य सिद्धान्तः ॥

स तत्संयोगात्कर्मणो व्यवस्था स्यात्, संयोगस्यार्थव-
त्त्वात्* ॥ ४० ॥ (सि०) ॥

भा. 'तत्संयोगात्' विशिष्टपुरुषसंयोगात्, व्यवतिष्ठत, ये येन
पुरुषेण समाख्यायन्ते, ते तेन कर्तव्याः, एवं तेषां पुरुषसंयोगो-
र्ध्वान् भविष्यति, आध्वर्यवमध्वर्युणा, हौधं होत्रा, औद्गात्रम्
उद्गात्रा—इति ॥ (३। ७। २० अ०) ॥

समाख्यायात्कर्तृत्वस्यापि क्वचित् बाधाधिकरणम् ॥

स. तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ॥ ४१ ॥

भा. किम् एष एवोत्सर्गः?—सर्वं समाख्यातं समाख्यातपुरुषैः कर्त-
व्यम्—इति । न—इति ब्रूमः,—तस्य उपदेशादिशेषसमाख्या-
नाच्च निर्देशः । यथोपदेशः,—'तस्मात् मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु-
चाह'—इति । समाख्या,—'पोत्रीया नेद्रीया—इति । एष
समाख्यायाश्च अपवादः—इति ॥

स. तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥ ४२ ॥

भा. यत्र होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवत उपशृणुयात्—इति होत्रे
प्रातरनुवाके समाख्याया प्राप्तं होतारं दर्शयति, तथा इदमपरं
लिङ्गं भवति,—'उद्गीथ उद्गातृणामृचः प्रणवः उक्थशंसिनां

* तदिदं समाख्याविनियोगस्यैवातिप्रसङ्गनिवारणेन शेषीभूतं सूत्रं
नाधिकरणान्तरमिति शास्त्रदीपिका ॥

भा प्र तद्दारी अध्वर्यूणाम्—इति समाख्याकृत भेद दर्शयति
तथा इदमपि लिङ्ग भवति — यो वाध्वर्यो स्व वेद स्वानेव
भवति एतत् वाध्वर्यो स्व यदायावयति—इति समाख्याकृत
नियम दर्शयति ॥ (३। ७। २१ अ०) ॥

समुचितयोरनुवचनप्रैषयामैवावरुणकण्टकत्वाधिकरणम् ।

ख प्रपानुवचन मैवावरुणस्योपदेशात् ॥ ४३ ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशु अग्नीषोमीय — यो दीक्षिता
यदग्नीषोमीय पशुमालभते—इति । तत्र इदं समामनन्ति—
तस्मात् मैवावरुण प्रैष्यति चानु चाह—इति । तत्र सशय
—किं सर्वानुवचनेषु सर्वप्रेषेषु च मैवावरुण स्यात् उत यत्र
अनुवचने प्रैष ?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—सर्वानुवचनेषु
अविशेषात् न हि कश्चिद्विशेष आश्रीयते—अस्मिन् अनुवचने
मैवावरुणोऽस्मिन् न—इति । तस्मात् सर्वानुवचनेषु सर्वप्रेषेषु
च मैवावरुण स्यात् ॥

ख पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ॥ ४४ ॥
(सि० ॥

भा पुरोऽनुवाक्या वा मैवावरुणोऽनुवृत्त्यात् । कुत ? यत्र प्रैषश्च
अनुवाक्या च सहाचेरते—तत्र मैवावरुण यत्र केवलानुवाक्या
न तत्र मैवावरुण यत्र वा केवल प्रैष तत्रापि न यत्रोभे
समुच्चीयते तत्र स भवेत् तथा हि समुचितया त समामनन्ति
— तस्मात् मैवावरुण प्रैष्यति च अनु चाह—इति चशब्दात्
समुचितयो—इति गम्यते ॥

सू. प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् ॥ ४५ ॥ (यु०) ॥

भा. इतश्च पश्यामी न सर्वानुवचनेषु मैत्रावरुणः—इति । कुतः ?
यतः प्रातरनुवाके होतारं दर्शयति । कथम् ? । यत्र होतुः
प्रातरनुवाकम् अनुब्रुवत उपश्लुष्यात्, तदाध्वर्युर्गृहीयात्—
इति । तस्मात् न सर्वानुवचनेषु मैत्रावरुणः—इति ॥ (३ ।
७ । २२ अ०) ॥

चमसहोमेऽध्वर्योः कृत्ताधिकरणम् ।

सू. चमसांश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् ॥ ४६ ॥ (पू०) ॥

भा. सन्ति चमसाध्वर्यवस्तेषु सन्देहः,—किं चमसाध्वर्यवः चमसान्
जुहुयुः उत अध्वर्युः ?—इति । चमसाध्वर्यवः—इति ब्रूमः ।
कस्मात् ? । चमसेषु आध्वर्यवं ते कुर्वन्ति—इति चमसाध्वर्यवः,
तस्मात् ते जुहुयुः—इति ॥

सू. अध्वर्युर्वा तन्यायत्वात् ॥ ४७ ॥ (सि०) ॥

भा. अध्वर्युर्वा जुहुयात्, एष हि न्यायः,—यदाध्वर्यवपदार्थम्
अध्वर्युः कुर्यात्, आध्वर्यवस्य होमः, तस्मात् अध्वर्युर्जुहुयात् ।
'ननु चमसाध्वर्यवः—इति विशेषसमाख्यानाच्चमसाध्वर्यवो हो-
ष्यन्ति'—इति । न—इत्युच्यते,—चमसेष्वेतेऽध्वर्यवत् भवन्ति—
इति चमसाध्वर्यवः, यदि तैरध्वर्युर्जुहोति, ततस्तैश्चमसाध्वर्युभ-
रपि होतव्यम् । यदि चमसाध्वर्यवो जुह्वन्ति, न अध्वर्युः; तदा
ते न तद्वत् स्युश्चमसाध्वर्यवः । तस्मात् न जुहुयुः—इति ॥

सू. चमसं चान्यदर्शनात् ॥ ४८ ॥ (यु०) ॥

भा. चमसे च अन्यं चमसाध्वर्योर्दर्शयति । कथम् ? । 'चमसांश्च-

भा. मसाध्वर्यवे प्रयच्छति, तान् स वषट्कर्त्तुं हरति', अन्यो जुत्वा चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति—इति गम्यते । कथम्? स वषट्कर्त्तुं हरति', भक्षयितुम्—इति गम्यते । तस्मात् जुतस्य चमसाध्वर्यवे प्रदानं, यो जुहोति, स प्रयच्छति । तस्मात् अन्यो जुहोति—इति । अपि च, 'यो वाध्वर्योः स्वं वेद स्वानेव भवति, सुगवा अध्वर्योः स्व वायव्यमस्य स्वं चमसोऽस्य सम्—इति, न तावदस्य चमसः स्वं, यजमानस्य हि सः । 'चमसोऽस्य सम्—इति ब्रुवन्, अध्वर्योऽयमसेन होमं दर्शयति ॥

स अशक्तौ ते प्रतीयेरन् ॥ ४६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अथ कथम्, चमसाध्वर्यवः—इति समाख्यानम्? उच्यते,— 'अशक्तौ ते प्रतीयेरन्', यदा व्यापृतत्वात्, न शक्नोति अध्वर्युं होतुम्, तदा समाख्यासामर्थ्यात्ते होष्यन्ति ॥ (३।७।२३ अ०) ॥

श्वेनवाजपेययोरनेककर्त्तृकताधिकरणम् ॥

स वेदोपदेशात्पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः ॥ ५० ॥
(पू०) ॥

भा अस्ति औद्गात्रे समाख्यातः श्वेनः, आध्वर्यवे वाजपेयः । तं सन्देहः,—किं श्वेने उद्गातृभिरेव पदार्थाः कर्त्तव्याः, वाजपेदे अध्वर्युभिः, उत उभयत्र नानत्विग्भिः?—इति । किं प्राप्तम्—'वेदोपदेशात्' (समाख्यानात्—इत्यर्थः), 'पूर्ववत्', यथा आध्वर्यवम्—इतिसमाख्यानात् पदार्थान् अध्वर्युः करोति, एव मेव 'वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः', यो येन समाख्याते वेदे उपदिष्टः, तस्य पदार्थाः तेनैव कर्त्तव्याः, साङ्गः स तत्र उपदिश्यते तस्मात्, श्वेने उद्गातृभिर्वाजपेये च अध्वर्युभिः पदार्थाः कर्त्तव्याः—इति ॥

ख. तद्गृहणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात् सहाङ्गै-
रव्यक्तः शेषे ॥ ५१ ॥ (सि०) ॥

भा. 'तद्यद्गृहणात्' (ग्राह्यतद्धर्मयद्गृहणात्) वा 'स्वधर्मः (चोदक-
प्राप्तैः संयुक्तः) स्यात्, चोदकसामर्थ्यात् सहाङ्गैः कुर्यात्—इति
श्रूयते, तानि च अङ्गानि ज्योतिष्टोमे सन्ति अपेक्ष्यन्ते, तत्र
ज्योतिष्टोमे नानात्विजस्तैरस्य सत्त्वैकवाक्यता ।

'ननु प्रत्यक्षा समाख्या, चोदक आनुमानिकः' । उच्यते,
—सत्यं, प्रत्यक्षा समाख्या, लौकिकी तु सा, तत्र अनुमाय
वैदिकं शब्दं तेन एकवाक्यता स्यात्, चोदकेन पुनर्विप्रकृष्टाधी-
तया प्रत्यक्षया इतिकर्मव्यतया सत्त्वैकवाक्यता । तस्मात् चोदको
बलवत्तरः ।

यत्तुक्तं,—समाख्यानात्—इति । तत्र उच्यते,—'अव्यक्तः शेषे'
समाख्यातो भविष्यति,—यः पदार्था न चोदकेन प्राप्नोति, तत्र
समाख्याया नियमो भविष्यति । यथा, शेषेने 'कण्टकैर्वितुदन्ति'
—इति उद्गातारो वितोत्स्यन्ति, वाजपेये चोपपुटैरर्पयन्ति—
इति अध्वर्यवोऽर्पयिष्यन्ति ॥ (३। ७। २४ अ०) ॥

इति श्रीशवरस्वामिनः सप्तौ भीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य
सप्तमः पादः समाप्तः ॥

द्वितीये चध्याये अष्टम पादः ।



अथ ब्रह्म स्वामिकर्मताधिकरणम् ।

स स्वामिकर्म परिक्रय कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥ १ ॥

भा अस्ति परिक्रय, ज्योतिष्टोमे द्वादशशत, दर्शपूर्णमासयो
अन्वाचार्यम् । तत्र सन्देह,—किम् अध्वयुजा परिक्रेतव्या
ष्टत्विज उत स्वामिना?—इति । किं प्राप्तम्?—समाध्यानात्
अध्वयुजा,—इति प्राप्ते ब्रूम,—‘स्वामिकर्म परिक्रय । कस्मात्?।
‘कर्मण तदर्थत्वात्’, फलकामो हि यजमान, यच्च फलकान्,
तेन स्वय कर्तव्यम्, स यदि परिक्रीणीते, तत स्वय सर्वं करोति
—इति गम्यते, अथ न परिक्रीणीते, न सर्वं कुर्यात् । तस्मात्
स्वामी परिक्रीणीतेति ॥

स वचनादितरेषां स्यात्* ७ ॥

भा किम् अथ एवोत्सर्गः । न—इत्युच्यते,—‘वचनात् इतरेषां
स्यात् । यत्र वचनं भवति, तत्र वचनप्रामाण्यात् भवति परि
क्रय,—‘य एतामिष्टकाम् उपदधात् स चीन् वरान् दद्यात्’—
इति ॥ ३ । ८ । १ अ० ॥

* इष्टमधिकरणान्तरमिति भाष्यवीथ्यायमाशामन्ततम । अ. सतर्क
धिकरणमिति भाष्यदीपिकासन्ततम् ।

वपनादिसंस्काराणां याजमानताधिकारणम् ।

स संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्यं यथावेदं कर्मवद्यवृत्तिष्ठे-
रन् ॥ ३ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘केशश्मश्रू वपते, दतो धावते, नखानि
निहन्तते, छाति’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् एवज्जातीयका
अध्वर्युणा कर्त्तव्याः, उत यजमानेन ?—इति । किं प्राप्तम् ?—
अध्वर्युणा कर्त्तव्याः, संस्कारा यथावेदं व्यवतिष्ठेरन् समाख्यानात्
पुरुषेण कर्मवत्,—यथा, अन्ये पदार्थाः यस्मिन् वेदे आम्नाताः,
तत्समाख्यातेन पुरुषेण क्रियन्ते, एवम् एतेऽपि—इति ॥

स याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात्कर्मवत् ॥ ४ ॥ (सि०) ॥

भा यजमानेन वा कर्त्तव्याः । कुतः ? । पुरुषप्रधानत्वात् । कथं
पुरुषप्रधान्यम् ? । कर्त्तृभिर्प्रायं क्रियाफलं गम्यते, तस्मात् पुरु-
षस्य कर्मकरणसामर्थ्यम् उपजनयन्ति । न च, कश्चित्, (येन
कर्मकरणेन सामर्थ्यम् उपजन्यते) तदर्थं पुरुषान् क्रीणाति—
इति, ईप्सितेभ्यः पदार्थेभ्यः क्रीणाति, येन यस्य सामर्थ्यम्
भवति, तत् तेनैव कर्त्तव्यम्, कर्मवत्, यथा, प्रधानकर्माणि पुरुषा-
र्थानि यजमानस्य भवन्ति, एवमेतदपि—इति ॥

स व्यपदेशाच्च ॥ ५ ॥ (हे०) ॥

भा परस्मैपदव्यपदेशश्च भवति,—‘तमभ्यनक्ति, शरेधीकयानक्ति’
—इति च । अन्यो यजमानस्य अञ्जनमभ्यञ्जनं करोति—इति
गम्यते ॥

स गुणत्वे तस्य निर्देशः ॥ ६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा यदुक्तं,—समाख्यानात् यथावेदम्—इति, नैतदेवं, ‘गुणत्वे

भा तस्य निर्देश , तत्र वयं समाख्यां नियामिकामिच्छामो,—यत्र कर्मण प्राधान्यम्, यद्ध्ये केतव्या पुरुषा प्राप्ता , तत्र समाख्यया नियमः, कल्प्यो हि सम्बन्धो वचनादिभिः, पुरुषाणाम् अदृष्टार्थत्वात् कृते आरादुपकारकैः, न च, कृते उपपद्यमाने कल्प्य शक्य कल्पयितुम् । तस्मात् न पुरुषप्राधान्ये समाख्या न्यायिका स्यात् ॥

स चोदना प्रति भावाच्च ॥ ७ ॥ (हे०) ॥

भा चोदना—इत्यपूर्वं ब्रूमः,—अपूर्वं प्रति सस्कारा विधीयन्ते ते ह्यसम्भवात् द्रव्येषु कल्प्यन्ते, सन्निह्यष्टद्रव्याभावे च विप्रलक्ष्येषु भवेयुः यदा तु सन्निह्यष्टे द्रव्ये सम्भवन्ति, तदा न विप्रलक्ष्येषु प्रयोक्तव्या ह्यतार्थत्वात् । तस्मात् याजमाना—इति ॥

स अतुल्यत्वादसमानविधाना स्युः ॥ ८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा (इदं पदोत्तरं सूचम् ।) ‘अथ कस्मात् न समानविधाना भवन्ति? अविशेषविधानाद्वि पुरुषमात्रस्य प्राप्नुवन्ति । तदुच्यते,—नैतत्समान सर्वपुरुषाणां विधानम् । कुत ? ‘अतुल्यत्वात्, अतुल्या एते एतद्विधानं प्रति । का अतुल्यता ? यत् यजमानस्य विहितं न षड्विजाम् । ‘कथम् यजमानस्य विहितं—इत्यवगम्यते ? अर्थाः स्वयमयोगे स्यात्—इति ।

‘ननु अविशेषात् षड्विजामपि विहितं । प्रयोजनाभावात् अविहितं—इति पश्याम । कथम् प्रयोजनाभावात् ? षड्विजाम् त्रियमाणं न यजमानेन कृता न कारिता अतर्ह्यत्वात् परिकल्पस्य स्वयंकृताश्च नार्धिन उपकुर्वन्ति । तस्मात् अप्रयोजना, अतः षड्विजाम् अविहितं,—एतत् अतुल्यत्वम् । तस्मात् न समानविधाना—इति ॥ (३।८।२ अ०) ॥

तपसो याजमानताधिकरणम् ।

सू. तपश्च फलसिद्धित्वास्लोकवत् ॥ ९ ॥

भा तपः श्रूयते,—‘इच्छं, नाश्नाति, चरुं नाश्नाति’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् आर्त्विजं तपः, याजमानम्?—इति । किं प्राप्तम्?—समाख्यानात् आर्त्विजम् तपः—इति प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—याजमानं तपः—इति । कुतः? । फलसिद्धित्वात्, फलसिद्ध्यर्थं तपः, तपःसिद्धस्य यागफलं सिध्यति । कथमेतदवगम्यते? । दुःखं हि तपः, दुःखं च अधर्मफलम्, अधर्मो याग फलस्य प्रतिबन्धको भवति, अत्रेयस्कारो हि सः, तस्मिन् सति न श्रेयो भवितुमर्हति, तस्मात् सोऽपनेतव्यः, फलभोगेन च विरुध्यते धर्माधर्मौ । तस्मात् दुःखफलभोगाय धर्मः श्रूयते । यत्तेन दुःखम् उत्पादयितव्यम्, इदं तत्—इति । एवं दृष्टार्थं भवति, न अदृष्टं कल्पयितव्यम्, तेन फलोपभोगेन क्षीणेऽधर्मः प्रतिबद्धो यागः फलं दास्यति—इति, फलसिद्धिश्च यजमानस्य कर्तव्या न ऋत्विजाम् । तस्मात् याजमानं तपः—इति ॥

सू. वाक्यशेषश्च तद्वत् ॥ १० ॥ (यु०, ॥

भा एतमेवार्थं वाक्यशेषोऽपि द्योतयति,—‘यदा वै पुरुषे न किञ्चनान्तर्भवति, यदास्य कृष्णं चक्षुषो नश्यति, अथ मेधतमः’—इति, यदा अनशनं, तदा मेधार्हः—इति, मेधश्च यज्ञो, यज्ञश्च त्यागः, त्यागं कर्तुमर्हः तपसा क्रियते—इति वाक्यशेषो भवति, त्यागी च यजमानः । तस्मात् याजमानं तपः—इति ॥

सू. वचनादितरेषां स्यात् ॥ ११ ॥ (विशेषः) ॥

भा. किमेव एवोत्सर्गः?—सर्वं तपो याजमानम्—इति । न,

भा 'वचनात् इतरेषाम्, यच्च वचन, तच्च ऋत्विजाम् यथा,—
'सर्वे ऋत्विज उच्यवसन्ति—इति ॥ (३।८।३ अ०) ॥

आकाङ्क्षानिरास, लोहितोष्णीयतादीना सर्ववर्तिग्वर्तमानाधिकारश्च ।

ख गुणात्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ॥ १० ॥

भा अथ यदुक्त—समाख्यानात् ऋत्विज तप—इति, गुणत्वात्
न समाख्यया गृह्यते, यच्च पुरुषस्य गुणभाव, तच्च समाख्या
नियामिका ।

एव या, श्येने श्रूयते,—'लोहितोष्णीया लोहितवसना
ऋत्विज प्रचरन्ति'—इति, तथा वाजपेये श्रूयते,—'हिरण्य
माक्षिन ऋत्विज प्रचरन्ति—इति । तच्च सन्देह,—किं श्येने
उद्गातृभिर्लोहितोष्णीयता कर्तव्या, वाजपेये च अध्वर्युभिर्ह्रि
रण्यमाक्षित्वम् । उत उभयमपि सर्ववर्तिजम्?—इति । किं
तावत् प्राप्तम्?—समाख्यानात् श्येने उद्गातृभिर्वाजपेये अध्वर्युभि
—इति । एव प्राप्ते वृत्तम्,—'गुणात्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात्,
—गुणो लोहितोष्णीयता हिरण्यमाक्षित्व च, पुरुष प्रधान,
अतो लोहितमुष्णीय हिरण्यमाला च पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते,
न कर्तव्यतया तस्मात् पुरुषप्राधान्यम् । किमतः ? यदेव,
पुरुषाणा प्रधानभावे समाख्या न नियामिका—इत्येतदुक्तम् ।

अपि च गुणत्वव्यवणात् सर्वपुरुषाणामेतद्विधानम्—इति
गम्यते, प्रधानसन्निधौ हि गुण शिष्यमाण प्रति—प्रधानम्
उपदिष्टो भवति तच्च वचनेन प्राप्तम् कथम् समाख्यया विद्व
मानयापि नियन्तुम् शक्येत ? तस्मात् उभयच सर्ववर्तिग्वि
एवप्रातीयको धर्म क्रियेतेति—इति ॥ (३।८।४ अ०) ॥

दृष्टिकामनाया याजमानताधिकरणम् ॥

छ तथा कामोऽर्थसयोगात् ॥ १३ ॥

भा ज्योतिष्टोमे समामनन्ति,—‘यदि कामयेत वर्षेत्पर्जन्य —
इति नोचै’ सदो मिनुयात्—इति । तत्र सन्देहः,—किम्
आत्विज काम , अथ याजमान ?—इति । किमेव ? । यदि
कामयेत अर्धयु—इति, उत यजमान ?—इति,—एव सशय ।
किं प्राप्तम् ?—आत्विज काम , समाख्यानात् अर्थो प्रकृतो
‘अर्धयु’, स वाक्येन सम्बध्यते,—मिनुयात्—इति, तस्मात् आ
त्विज काम —इति । एव प्राप्ते ब्रूम,—‘तथा काम’ स्यात्,
यथा तत्र , (याजमान काम—इत्यर्थः) । कुत ? । ‘अर्थ
सयोगात्’, अर्थेन यागस्य साङ्गस्य, यजमान फलेन सम्बध्यते
—इति गम्यते । उपपद्यविशेषात् ‘ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो
यजेत’—इत्युपपद्यविशेषाच्च मिनुयात्—इत्यर्धयु परार्थम्—
इति गम्यते । अथ यदुक्त—प्रकृतेनाधिना सहेकवाक्यत्वात्—
इति, उच्यते, एवमपि प्रकृतेन वाक्येन सहेकवाक्यता, यजमाने
कामयमाने मिनुयात्—इति ॥

छ व्यपदेशादितरेषां स्यात् ॥ १४ ॥ (विशेषः) ॥

भा यत्र भवति व्यपदेशः, तत्र आत्विज कामो भवति, यथा,
‘उद्गाता आत्मने वा यजमानाय वा य काम कामयते, तमा
गायति—इति, यद्यात्मने—इति यजमानायेति परिकल्प्येत,
यजमानग्रहण वाशब्दश्च न समर्थितौ स्याताम् । तस्मात्
यजमानव्यपदेशादात्मानमेव उद्गाता प्रतिनिर्दिशति—इति
गम्यते ॥ (३ । ८ । ५ अ०) ॥

आयुर्दादिमन्त्राणां याजमानताधिकरणम् ॥

ख

मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत् ॥ १५ ॥

भा इह एवज्ञातीयका मन्त्रा उदाहरणम् 'आयुर्दा अग्ने आयुर्मे देहि—इति, 'वर्चादा अग्ने असि वर्चा मे देहि—इति। एषु सन्देहः,—किम् आर्त्विजा उत याजमाना ?—इति। समाख्यानात् आर्त्विजा—इति प्राप्तम्।

एव प्राप्ते ब्रूमः,—मन्त्राश्च एते तद्वत् भवेयुः, यथा कामः, एवमात्माभिधायिपदं युक्तं भवति। आयुर्मे वर्चा मे—इति आयुर्वर्च—इत्येवमादिभिः कर्मफलमभिधीयते, अग्ने त्वं कर्मफलं मे साधयेति, तदिह कर्मफलम् उत्साहार्थं सङ्कीर्त्यते, यजमानस्य तेन उत्सहते, नान्यः, यत् ऋत्विजः कर्मफलं न तदर्थोऽग्निः, सिद्धं हि तत् यत् यजमानस्य तदर्थोऽग्निः, तच्चसिद्धं सत् आशासितं यत् उत्साहं जनयति अवेगुण्याय। ऋत्विगपि सिद्धे यत् उत्सहते, तत् यजमानस्य एव कर्मफलाय उत्सहते, तत्र आत्माभिधायिपदं न अवकल्पते, यजमाने च आत्माभिधायिपदं कल्पमानम् अगौणं भवति, तस्मात् याजमाना ॥

ख विप्रयोगे च दर्शनात् ॥ १६ ॥ (यु०) ॥

भा विप्रयोगे च अग्नीनां प्रवासे उपस्थानमस्ति,—'इह एव सन् तत्र सक्तं त्वाग्ने—इति। न च, प्रोषितोऽग्निभ्य ऋत्विक् भवति, कर्मं कुर्वत एष वाचकः शब्दः। भवति तु यजमानोऽग्निभ्यः प्रोषितोऽपि यजमानः, संविधायः स अग्निहोत्राय प्रवसति, शक्यते च विदेशस्थेनापि त्यागं कर्तुम्, स एव प्रोषितस्य उपस्थानविशेषं बुवन् यजमानस्य उपस्थानं दर्शयति, तेनैव एवज्ञातीयका यजमानस्य भवेयुः—इति ॥ (३।८।६ अ०) ॥

द्वाम्नातस्योभयप्रयोज्यताधिकरणम् ॥

ख. द्वाम्नातेपृभौ द्वाम्नानस्यार्थवत्त्वात् ॥ १७ ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र द्वाम्नाता मन्वा आध्वर्यवे काण्डे याजमाने च, 'आज्यं यैर्गृह्यते पञ्चानां त्वा वात्तानां यन्वाय धर्चाय गृह्णामि'—इत्येवमादयः, तथा खुग्यूहनमन्वाः,— 'खुचौ ब्यूहति वाजस्य मा प्रसवेन'—इति। तत्र सन्देहः,—किं ते उभाभ्याम् अपि कर्त्तव्या उत अध्वर्युणैव?—इति। किं प्राप्तम्?—समाख्यानात् आध्वर्यवाः—इति। इति प्राप्ते उच्यते,— उभावपि तान् प्रयुज्जीयाताम्—इति। कुतः?। द्वाम्नानस्य अर्थवत्त्वात्, द्वाभ्यां समाख्यानात् द्वौवपि कर्त्तारौ गम्येते, तस्मात् द्वौ ब्रूयाताम्। अध्वर्युः एतेन प्रकाशितमनुष्टार्यामि—इति, यजमानो न प्रमदिष्यामि—इति ॥ (१। ८। ७ अ०) ॥

अभिज्ञस्यैव वाचयितव्यताधिकरणम् ॥

ख. ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान्विहितोऽस्ति ॥ १८ ॥

भा. वाजपेये श्रूयते,—'कृत्तरीयजमानं वाचयति उज्जिसंतीर्यजमानं वाचयति'*—इति। अत्र सन्देहः,—किं ज्ञश्च अज्ञश्च सर्वौ वाचयितव्य उत ज्ञ एव?—इति। किं प्राप्तम्?—अविशेषात् ज्ञश्च अज्ञश्च—इति।

इति प्राप्ते ब्रूमः,—ज्ञ एव—इति। कुतः?। न हि अविद्वान् विहितोऽस्ति, यो हि अविद्वान् न आसावधिहृतः सामर्थ्याभावात्। 'ननु प्रयोगकाले शिचित्वा प्रयोक्ष्यते, सामर्थ्यात्

* 'आयुर्यज्ञेन कल्पतामित्यादयो मन्वा कृत्तयः' इति माधवः।
ऊर्जयन्तीर्यजमानं वाचयतीति का० सं० पु० पाठः ॥

अधिक्रियेत—इति । न—इति ब्रूमः,—वेदाध्ययनात् उत्तर
काले प्रयोगं श्रूयते, न प्रयोगश्रुतिगृहीतं वेदाध्ययनम् । वृत्तः ?
अनारभ्य कर्मणि वेदे श्रूयते,—तस्मात् 'स्वाध्यायोध्येतथ'—
इति, सत्येतस्मिन् वचने, 'अग्निहोत्रं जुहुयात्'—इत्येवमादिभिः
'वेदोध्येतथ'—इत्येतदुक्तं भवति—इति न शक्यते कल्पयितुम् ।
तत्र होममात्रे चोदिते वेदाध्यायी शक्तः—इत्यभिधीयते, न
अविद्वान् । 'क्रियता पुनर्विदितेन विद्वान् अधिक्रियते ?'—इति ।
यावता विदितेन शक्तो भवति, यद्योक्तं व्रतुमाभिनिर्वर्त्तयितुम् ।
तस्मात् तावत् यो वेद स तेन क्रतुना अधिक्रियते ।

'ननु 'वेदमधीयीत—इति वचनात् छात्रो वेदोध्येतथ'—
इति भवति, न वेदावयवेनाधिक्रियते—इति । उच्यते—
क्रतुना ज्ञानार्थं वेदाध्ययनं कार्यं, तत्र अन्यस्मिन् क्रतौ
कर्तव्येभ्यश्चतुर्ज्ञानं न दृष्टाय भवति, तस्मात् व्रतवत्तरज्ञानम्
अधिकारिनादत्तयन्, क्रतवत्तरज्ञानाय क्रतवत्तरयन्त्यं, सर्वं क्रतव
कथं ज्ञायेरन्?—पृथक् पृथगिति सत्त्वस्य वेदस्याध्ययनं श्रूयते,
तस्मात् स्वपदार्थज्ञोऽधिक्रियेत—इति । तेनास्वपदार्थज्ञस्य
कर्मेव नास्ति कथम् असौ वाचेरतः । तस्मात् साध्मभिधीयते,
—अ एव वाचयितव्यं—इति ॥ (३।८।८ अ०) ॥

द्वादशदन्धानामाभ्यर्च्यवत्वाधिकरणम् ॥

य याजमाने समाख्यानात्कर्माणि याजमानं स्युः ॥

१८ ॥ (मू०) ॥

भा स्तो दशंपूर्णमासौ, तत्र कर्माण्याग्नातानि द्वादश,—'वत्सं
चोपावदजति । उखाश्वाधिययति । अथ च ह्वन्ति । दृषदुपले
थ समाह्वन्ति । अधि च वपते । कपालानि चोपदधाति ।

भा. पुरोडाशं च अधिश्यति, आज्यं च । स्तम्बयजुश्च हरति ।
 अभि च गृह्णाति । वेदिं परिगृह्णाति । पत्नो च सन्नहति ।
 मोक्षणीत्यासादयति, आज्यं च । तानि द्वादश इन्दानि
 दर्शपूर्णमासयोः*—इति । अत्र सन्देहः,—किमेतान्यध्वर्योः
 कर्माणि, उत यजमानस्य?—इति । किं प्राप्तम्?—‘याजमाने
 समाख्यानात् कर्माणि याजमानं स्युः’—विशेषसमाख्यानात्
 याजमानानि—इति गम्यते, यथा पोत्रीयं नेद्रीयम्—इति ॥

ख. अध्वर्युर्वा तदर्थो हि न्यायपूर्वं समाख्यानम् ॥ २० ॥
 (सि०) ॥

भा. अध्वर्युर्वा कुर्यात् एतानि, तदर्थो हि अध्वर्युः परिकीर्तः—
 इति समाख्यानात् अवगम्यते,—आध्वर्यवे एव सर्वं इमे पदार्थाः
 समाख्याताः, याजमाने एषां इन्द्रतोच्यते, इन्द्रता च सम-
 भ्याशक्रिया । तत्र अध्वर्युः पदार्थान् करिष्यति, यजमानेनापि
 समभ्याशोकरणम्—इत्येतदशक्यम् । तत्र अङ्गगुणविरोधे च,
 तादर्थ्यात्—इति इन्द्रतागुणो बाधितव्यः । तस्मात् आध्वर्युर्वा
 एते पदार्थाः—इति ।

यदुक्तं, समाख्यानात्—इति, तत् परिहर्तव्यम्, उच्यते,—
 ‘न्यायपूर्वं समाख्यानं’, समाख्यानात् यजमानेन इन्द्रता सम्पा-
 दयितव्या,—इदं चेदं च सम्पादय—इति यजमानो ब्रूयात् ।
 केषुचिच्च अत्र पदार्थेषु यजमानस्यानुमखणं, तन्निमित्ता समाख्या
 भविष्यति, अपूर्वं त्वपहृष्येत । यदुक्तं,—यथा पोत्रीयम् नेद्रीयम्
 —इति, एवम् अत्रापि—इति ; तदुच्यते,—युक्तं, तत्र विशेष-

* पलाशशाखया वत्सापाकरणमेकं कर्म, दोहनेन सम्पादितं
 घोरं धारयितुम् पिठरस्यापनमपरं कर्म, तदेतदुभयमेकं इन्द्रम् इति
 माधवः ॥

भा समाख्यानान् इह तु इन्द्रता याजमानीया, पदार्थास्तु आ
ध्वयवा एव । तस्मात् अदोष ॥ (३।८।६ अ०) ॥

होतुराध्वयवकरणानुष्ठातृत्वाधिकरणम् ॥

ख विप्रतिषेधे करणः, समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां
यतो विशेषः स्यात् ॥ २१ ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशु अग्निषोमीय, तस्य यूपस्य परिव्यासे
मघौ,—एक,—‘अध्वर्यो परिवोरसि—इति करण, अपरौ,
—‘होतुर्युवा सुवासा’—इति क्रियमाणानुवादी । तयोश्चो
दकपरम्परया कुण्डमायिनामयनम् प्राप्तयोर्भवति सन्देह,—क
पुनरसौ ?—तत्र ऋत्विक्समास आग्नात —‘यो होता सो
ऽध्वर्यु’—इति, किं करणम् आध्वयव होता कुर्यात् ? किं होत्र
क्रियमाणानुवादिनम् ?—इति । किं प्राप्तम् ?—अनियम—
इति ।

इति प्राप्ते उच्यते,—विप्रतिषेधे करण स्यात्—आध्वयव
परिवोरसि—इति, न क्रियमाणानुवादी होतुर्युवा सुवासा
—इति । कुत ? । समवायविशेषात्—इति तत्र समवायौ,
होतुश्चोदकेन होत्रेण प्रत्यक्षत्ववशेन आध्वयवेषु—‘यो होता
सोऽध्वर्यु’—इति । एव प्रत्यक्षम् अध्वर्यो कार्यं चोद्यते, प्रत्यक्ष
चानुमानाद्वलीय । तस्मात् आध्वयव करण परिवोरसि—इति
होता कुर्यात् । ‘अथ होत्रं विरुद्धं कं कुर्यात् ? । ‘इतरम्
अन्य, तेषां यतो विशेषः स्यात्, अन्यो होतृमुख एव स्यात्
यस्याव्यापृतता प्राधान्यविशेषो वा ॥ (३।८।१० अ०) ॥

प्रेषप्रेषार्थयोः पृथक्कर्त्तताधिकरणम् ॥

सू. प्रैषेषु च पराधिकारात् ॥ २२ ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र प्रैषः समाग्न्यात्, प्रोक्षणीरासादय
इध्मा वह्निरूपसादय सुचः सम्मृद्धिं पत्नीं सन्नद्धां आज्येनो-
देहि—इति । तत्र सन्देहः,—किं य एव प्रैषे, स एव प्रैषार्थे,
उत अन्यश्च प्रैषे, अन्यश्च प्रैषार्थे?—इति । किं प्राप्तम्?—एक
एव प्रैषप्रेषार्थयोः—इति । कुतः? । समाख्यानात्, अन्यः—
इति चाश्रुतत्वात् ।

‘ननु आत्मनः प्रैषो विप्रतिषिध्यते’ । उचरते, न प्रैषो भवि-
ष्यति, प्राप्तकाले लोट वक्ष्यामः । ‘आह, प्राप्तकालेऽपि सति
युष्मदादिष्वेवोपपदेषु मध्यमादयो व्यवस्थिताः, न पुरुषसङ्करो
भवति’ । उचरते,—सत्या विवक्षाया युष्मदादिषु मध्यमादयः,
यदा तव प्राप्तः कालः—इति विवच्यते, तदा युष्मद्येव मध्यमो
न अस्मादि शेषे वा । यदा खलु क्रियायाः प्राप्तः कालः—
इत्येतावत् विवच्यते, न तव, मम वेति, न तदा युष्मदादी-
नामनुरोधेन मध्यमादयो भवितुमर्हन्ति । न च, इदं युगपत्
विवक्षितुम् शक्यते, पदार्थस्य प्राप्तः कालः, तव च—इति,
भिद्येत हि तथा वाक्यम् । तेन, यदि वा निश्चाते पदार्थकाले
तव कालः—इति शक्यते वदितुम्, यदि वा तवेति निश्चाते
पदार्थस्य कालः—इति । तत्र पदार्थस्य कालो वदितव्यो, न
तु युष्मदर्थस्य, तेन हि स्मृतेन प्रयोजनम्, स हि कर्त्तव्यः—
इति अवगतः, न तु युष्मदर्थः तथा, तस्मात् समाख्यानात्
अश्वर्यारेव प्रैषप्रेषार्थो— इति ।

इति प्राप्ते द्रूमः,—प्रैषेष्वन्योन्यः तदर्थेषु—इति । कुतः? ।
‘पराधिकारात्’, परस्मिन् हि प्रैषे उपपद्यते, न आत्मनि—
इति । ‘आह, ननु उक्तं प्राप्तकाले भविष्यति’—इति । उचरते,

भा —न, सम्भवति प्रेषे, प्राप्तकालता ग्याय्या, तस्या हि युक्तदर्शो
गम्यमानो न विवक्षित —इत्युच्यते, सम्भवति च अत्र प्रेषार्थः ।
तस्मात् प्रेष, प्रेषयेत्, अन्य प्रेषार्थ—इति सिद्धम् ॥ (१।
८। ११ अ०) ॥

मैयप्रैषार्थयो यथाक्रममाध्वर्यवाग्नीधताधिकरणम् ॥

घ अध्वर्युस्तु दर्शनात् ॥ २३ ॥ (पू०) ॥

भा अथेव गते, इति सन्दिह्यते,—किम् अध्वर्युं अग्नीध प्रेषयेत्
उताग्नीध्वर्युम्?—इति । अनियमोऽविशेषात्—इति प्राप्ते
ब्रूम,—अध्वर्युं उक्तप्रैषार्थकारी स्यात् । कुत ? 'दर्शनात्,
दर्शनं भवति,—'तिर्यञ्च स्फन्धारयेत् यदन्वञ्चन्धारयेत् वधो वै
रफो वधे ण अध्वर्युम् क्षिण्वीत'—इति, य प्रेषयति तस्य हन्ते
रफ्य, रफेन अध्वर्युम् क्षिण्वीतेति अन्यम् अध्वर्युम्, प्रेषकात्
दर्शयति, तस्मात् अग्नीध्वर्युम् प्रेषयेत्—इति ॥

छ गोणा वा कर्मसामान्यात् ॥ २४ ॥ (सि०) ॥

भा नेतदस्ति,—अग्नीध प्रैषोऽध्वर्यो प्रेषार्थ—इति, किं खलु
अध्वर्युरेवाग्नीध प्रेषयेत् एवम् अध्वर्युणा प्रैष प्रेषार्थस्योभावापि
ह्यतो भविष्यत, तत्र आध्वर्यवस्—इति समाख्या अनुगृहीयत ।
तस्मात् अध्वर्यु एव मुख्यं स्यात् । किम् अस्य मुख्यत्वम् ?
यदनेन सध कर्तव्यं समागन्तानात्—इति । अथ यदुक्तम्—
अध्वर्यु प्रचरिता दृश्यते—इति । तदुच्यते—सत्यं दृश्यते
न तस्य प्रैषार्थकरणे प्रमाणमस्ति चिन्तयमानम् । तस्मात् एत
न्मिथ्यादर्शनम् यस्य हि दर्शनस्य प्रमाणं नास्ति तामोक्ष
स, यथा शुक्तिकायां रजतविज्ञानम् । अस्ति तु अग्नीध
प्रैषार्थकरणे प्रमाणम् । तस्मात् अग्नीध प्रचरिता प्रचरितार्थ

भा. चाध्वर्युशब्दो दृश्यते । तस्मात् गौणः, आध्वर्यवे वदे समा-
 ग्नातान् पदार्थान् करोति—इति कृत्वा अध्वर्युरित्युच्यते,
 आग्नीध्रः—इति । तस्मात् आध्वर्यवः प्रैयः, आग्नीध्रः प्रैषार्थः—
 इति ॥ (३।८।१२ अ०) ॥

करणमक्षेपु स्वामिफलस्याशासितव्यताधिकरणम् ॥ (वर्चोन्यायः ॥)

स. ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्त्वात् ॥ २५ ॥ (पृ०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति,—‘ममाग्ने वर्चा विह्वेष्वास्तु’—
 इति पूर्वमग्निं गृह्णाति—इति । तत्र सन्देहः,—किम् ऋत्विक्-
 फलमाशासितव्यम्,—अग्ने वर्चा विह्वेष्वास्तु—इति, उत यज-
 मानस्य?—इति । किम् प्राप्तम्?—अध्वर्योरेव—इति । कुतः? ।
 एवं श्रुतिराकृता भविष्यति, इतरथा लक्षणा स्यात्, आत्मना
 यजमानं लक्षयेत् । तस्मात् ऋत्विक्फलमाशासितव्यम्—इति ।
 कोऽर्थः? । अनया समिधा धार्यमाणेऽग्नौ यागः सम्भविष्यति,
 तत्र विह्वेषु स्पर्द्धास्थानेषु अहं वर्चस्वी भविष्यामि—इति
 अध्वर्योर्वचनम्, एवमुत्सह्यो भविष्यति—इति ॥

स. स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥ २६ ॥ (सि०) ॥

भा. यजमानस्य वा वचनं तदर्थत्वात् कर्मणः,—यजमानार्थं हि
 इदं कर्म साङ्गम्, उपग्रहविशेषात्, साङ्गस्यास्य प्रयोजनं
 यजमानस्य फलनिष्पत्तिर्नाध्वर्योः सुप्रवर्तितुरपि यशः । किम्
 अतः? । यदेवम्, फलसङ्कीर्तनात् फलकर्तव्यता गम्यते, तदेतत्

* विशिष्टं हवनं येषां मक्षाणां ते विह्ववास्तेषु वर्चस्तेजसोपल-
 क्षितं यत् फलं तत् समासित्वत्यर्थः इति माधवः ॥

भा अग्रगन्वाधान यजमानस्य फलसङ्कीर्त्तने* क्रियमाणे अनेन मन्वेण फलसम्बन्धात् प्रकाशितं घृतं भवति न अध्वर्युयशः कोर्त्तनेन। तस्मात् यजमानफलमाशासितव्यम्—इति। अथ कस्मात् न याजमान एष मन्वो भवति?—इति। उच्यते—अग्रगन्वाधान समाख्यया आध्वर्यव तच्चैव गुणो मन्वो करोत्याध्वर्यव स उच्यतेऽनेन मन्वेण†—इति तस्मात् आध्वर्यवो मन्वः। सम वक्ष्येऽग्नित्वयपि यजमानस्य वचो ममेति व्यपदिशति लक्षणया यथा राजनि जय वर्त्तमान सेनिका अस्माकम्—इति व्यपदिशति एवम्॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २७ ॥ (हे०) ॥

भा लिङ्गमध्यमुमथे दर्शयति एव हि आह—‘या वै काश्चन ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्य एव सा’—इत्याशिषो यजमानार्थकता दर्शयति। तस्मात् अपि ब्रूम—यजमान फलमाशासितव्यम्—इति। पक्षोक्तमेव प्रयोजनम्—इति। (३। ८। १३ अ०) ॥

करणमन्त्रेषु कर्माद्यं फलस्य ऋत्विग्धर्मताधिकरणम् ॥

सू कर्माद्यन्तु फलन्तेषां स्वामिनः प्रत्यर्थवत्त्वात् ॥ २८ ॥

भा इदं समधिगतं—करणेषु मन्त्रेषु स्वामिनः फलमाशासितव्यम्—इति। किमेध एवोत्सर्गः?। न—इत्याह क्वचित् ऋत्विजामपि फलमाशासितव्यम्—इति यत्र कर्माद्यं फलं यथा—

* फलं सङ्कीर्त्तनं इति का० सू० पु० ॥

† तत्र एष गुणो मन्वः करोतीत्याध्वर्यवः स उच्यतेऽनेन मन्वेणेति का० १०१० ।

भा. 'अग्राविष्णु मावक्रमिष विजिहायां मा मा सन्ताप्तम्'—
इति, असन्तप्तोर्ध्वयुः कर्म शक्नोति कर्तुम्, कर्मसिद्धिर्यजमानस्य
उपकारिका—इति चट्विक्फलमाशासितव्यम् अत्र—इति ॥

स व्यपदेशाच्च ॥ २८ ॥

भा यत्र च व्यपदेशो भवति, तत्रात्वियजम्,—दर्शिएस्थ हविर्द्वा-
स्याधस्ताच्चत्वार उपरवाः प्रवेशमुखाः प्रादेशान्तरालाः, तत्र
हस्तौ प्रवेश्याध्वर्ययजमानमाह, किम् अत्र?—इति, स आह,
—भद्रम्—इति, 'तन्नौ सह'—इत्यर्ध्वयुः प्रत्याहेति व्यपदेशो
भवति, अध्वर्ययजमानस्य च। 'तन्नौ सहेत्युभयोर्वचनम्
अध्वयुजमानयोः। तस्मात् अध्वयुफलमाशासितव्यमत्र—इति॥
(३। ८। १४ अ०)॥

द्रव्यसंस्कारस्याङ्गप्रधानार्थताधिकरणम्॥

स. द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥ ३० ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोर्वर्हिधर्मा वेदिधर्माश्च, तेषु सन्देहः,—किम्
अङ्गप्रधानार्थाः, उत प्रधानार्थाः?—इति। प्रकरणात् प्रधा-
नार्थाः—इति। इति प्राप्ते उच्यते, नैव, द्रव्यसंस्कारोऽङ्ग-
प्रधानार्था, यथा व्याख्यातमेवोत्तरविवक्षया प्राप्तिरेषा क्रियते
—इति॥ (३। ८। १५ अ०)॥

* सुक्षुप्तरूपौ अग्राविष्णू युवां नाभिदेशे धारयन् अहं अध्वर्युः
मावक्रमिष युवयोरतिक्रमं न हतवान् युवाश्च मत्तो वियुतौ भवतम्।
ततो मां देहधारिण मा सन्ताप्तम् मम देहसन्तापं ज्वरादिरूपं
मा कुरुतमिति माधवः॥

अपूर्वप्राप्ततन्धर्माणां विहतावसम्बन्धाधिकरणम् ॥

रु निर्देशात् विहतावपूर्वस्थानधिकारः ॥ ३१ ॥

भा ज्योतिष्टोमे पशुरग्नौषोमीयो,—‘द्यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते’—इति । तत्र श्रूयते,—‘बर्हिषा यूपावटमवस्तु-
णाति आज्येन यूपमनक्ति’—इति । तत्र संशयः, किं तयो-
राज्यबर्हिषोराज्यबर्हिर्धर्माः प्राप्तताः कर्त्तव्याः, उत न?—
इति । किम् प्राप्तम्?—कर्त्तव्याः—इति । कुतः? वाक्यं हि
बर्हिर्मात्रस्याज्यमावस्य च धर्माणां विधायकम्, तत् इच्छाधि
वाक्यं चोदकेन प्राप्तम्, न चैतत् बर्हिराज्यं निष्प्रयोजनम् ।
तस्मात् अत्र धर्माः क्रियेरन्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘निर्देशात् विहतावपूर्वस्य अर्नाधिकारः’,
—निर्दिष्टा एते धर्माः प्रकृतौ, यत्र प्रधानस्य उपकुर्वन्ति
प्राप्तकार्ययोराज्यबर्हिषोः, ये च प्रधानस्य उपकारिणौ
धर्माः, ते इच्छातिदिश्यन्ते, प्रधानं हि चोदकोपेक्षते, न
धर्मान्, प्रधानस्य हि चोदकेन सामान्यं न धर्माणाम् ।

अपि च, न, अन्यार्थः—इति ज्ञातेन सन्निहितेनाप्येकवा-
क्यता भवति अन्यसम्बन्धीपपत्तौ सत्याम्, यथा भार्या राज्ञः,
पुरुषो देवदत्तस्य—इति, किमङ्ग पुनर्विप्रकृष्टेन, निर्ज्ञातं खल्व-
ङ्गत्वं प्रधानापेक्षायां भवति, केवलमिच्छातिदेशः क्रियते, पदा-
र्यापेक्षायाम् अङ्गत्वमपि साधयितव्यं स्यात् । धर्माश्चापेक्ष्य-
माणाः साधारणा भवेयुः, तथा ऊह्यो नावकल्पेत । लिङ्गविशेष-
दर्शनाच्च व्यवतिष्ठेरन् धर्माः, तत्र दर्शनं नोपपद्येत, ‘वधया
प्रातःसवने नरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने’—इति, तथा
‘न पिता वर्धते, न माता, न नाभिः, प्राणो हि सः’—
इति । तस्मात् यद्वारा प्रकृतौ कृताः, तद्वारा एव विहताः,
नान्यद्वाराः । न च, यूपावटस्तरणं प्रकृतावस्ति यूपाञ्जनं

भा. वा । तस्मात् न तत्र प्राकृता धर्मा भवेयुरपूर्वत्वात् ॥ (३ ।
८ । १६ अ०) ॥

विधृतिपवित्रयोः परिभोजनीयवर्हिषा कर्त्तव्यताधिकरणम् ॥

सू. विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तः शेषे ॥ ३२ ॥

भा. दशपूर्णमासयोरामनन्ति,—‘समावप्रच्छिन्नायौ दर्भौ प्रादेश-
माचौ पवित्रे करोति’, तथा ‘अरन्निमाचे विधृती करोति’—
इति । तत्र संशयः, किं वेदिस्तरणार्थात् वर्हिषो विधृती पवित्रे,
उत अन्यतः?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—वेदिस्तरणार्थान्
वर्हिषः कार्ये । किं कारणम्? । तद्धि प्रकृतं, धर्माश्चाविशेषात्
सर्ववर्हिषामर्थेन, तस्मात् ततः । इति प्राप्ते ब्रूमः,—अन्यतः
क्रियेत । कुतः? । विरोधात् । कथं विरोधः? । श्रूयते हि,—
‘त्रिधा तु पञ्चधा तु वा वेदोस्तृणाति’—इति, तत् येनास्तीर्यते,
कथं तत् विधृतिपवित्रं क्रियेत, न हि, सम्भवति—एकं स्तरणाय
विधृतिपवित्राय च । तदेतत् उपदिष्टवचनमनेकगुणत्वं चोभे
अग्न्यसम्भविनी प्रतिज्ञाते स्याताम् । तस्मात् न ततः क्रियेत—
इति । ‘यदि न ततः, कुतः, तर्हि?’ । अव्यक्त एवज्ज्ञातीयकः
शेषे, अस्ति तत्र परिभोजनीयं नाम वर्हिः, ततः कर्त्तव्यम् ॥
(३ । ८ । १७ अ०) ॥

प्राकृतपुरोडाशादीनां निधानाधिकरणम् ॥

सू. अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात् ॥ ३३ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘पुरोडाशशकलमैन्द्रवायवस्य पात्रे
निदधाति, धाना आश्विनपात्रे, पयस्यां मेवावरुणपात्रे’—
इति । तत्र संशयः, किमन्यत एव क्रियेत, उत प्रकृतेभ्यः?—

भा इति । किं प्राप्तम् ?—पूर्वेण न्यायेनान्यतः—इति । तत्र उच्यते,
—तत एकदेशस्यापनयः । कुतः ? । विद्यमानसंयोगात्, विद्यते
हि तत्र पुरोडाशो धानाः यस्यस्या च, तत्संयोग एव न्याय्यो
नान्यसंयोगः—इति, पुरोडाशादीनाम् एव सस्कारो न इन्द्र
वायवादीनाम् । कुतः ? । पुरोडाशादिषु द्वितीयादर्शनात् ।
प्रत्यक्षस्यैकदेशापनयेन उपकारो, न इन्द्रवायवादिसम्बन्धेन,
एव प्रहृतानुपहो भविष्यति, तस्मात् प्रहृतस्य उपदेशेन तत्
क्रियेत, न च, अत्र उपदिष्टोद्देश आशङ्क्योऽनेकगुणभावस्यान्येन
शक्येन होमोऽन्यथ प्रतिपाद्यते—इति ॥ (३।८।१८ अ०) ॥

काम्येष्टिषु उपाशुत्वधर्मस्य प्रधानार्थताधिकरणम् ॥

स विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत् ॥ ३४ ॥ (पू०) ॥

भा इदमामनन्ति,—‘यज्ञार्थवर्णं वै काम्या इष्टयः, ता उपाशु
कर्त्तव्याः’—इति । अत्र सशयः,—किम् अङ्गप्रधानार्थम् उपाशु
त्वम्, उत प्रधानार्थम् ?—इति । किं प्राप्तम् ?—‘विकृतौ सर्वार्थः
शेषः’ स्यात्, अविशेषात् अङ्गानाम् प्रधानानां च प्रकृतिवत्,
यथा प्रहृतौ वेदिधर्मा आज्यधर्माश्च अङ्गप्रधानार्थाः, एवम्
अत्रापि ॥

स मुख्यार्थो वा अङ्गस्याचोदितत्वात् ॥ ३५ ॥ (मि०) ॥

भा प्रधानार्थो वा एष विकृतिषु स्यात् । एवमिदं सर्वार्थम्
उच्येत, प्रकरणवाधित्वा वाक्येन अङ्गप्रधानार्थम्—इति, तदेव
इदानीं वाक्यं विश्लेषितं,—काम्या इष्टयः—इति, काम्याश्च
प्रधानयागाः, अङ्गयागाः प्रधानार्थाः, तस्मात् अङ्गमचोदितम् ।
यत् कामेन फलवच्चोद्यते, तत् एवानया उपाशुत्वेतिकर्त्तव्यतया

भा. अनुबध्यते । तस्मात् प्रधानार्थम् उपांशुत्वम् ॥ (३। ८।
१६ अ०) ॥

श्येनाङ्गानां नवनीताज्यताधिकरणम् ॥

स. सन्निधानविशेषादसम्भवे तदङ्गनाम् ॥ ३६ ॥

भा. श्येने श्रूयते,—‘वृत्तनवनीतमाज्यम्’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् नवनीतं प्रधानस्य, उताङ्गानाम्?—इति । किं प्राप्तम्?—प्रधानस्य, तस्य हि प्रकरणम्—इति वचनप्रामाण्यान्नवनीतेन प्रधानं निर्वर्तयितव्यम्—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘असम्भवे’ एतस्मिन् ‘तदङ्गानां’ (श्येनाङ्गानां) स्यात् । कथम् असम्भवः? । सोमद्रव्यकत्वात् प्रधानस्य । ‘ननु वचनान्नवनीतं भविष्यति’ । न श्येने नवनीतं भवति—इत्येष वाक्यार्थः । कः तर्हि? । श्येने नवनीतमाज्यं भवति—इति नवनीताज्यसम्बन्धो विधीयते, श्येनाज्यसम्बन्धोऽनृद्यते । न च, साक्षात् श्येनस्य आज्यसम्बन्धोऽस्ति, श्येनाङ्गानां तु विद्यते । यस्यास्ति, तस्यानृद्य नवनीतं विधीयते, ‘सन्निधानविशेषात्’ ॥

स आधानेऽपि तथेति चेत् ॥ ३७ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं चेत् दृश्यते,—‘श्येनाङ्गानाम् नवनीतम्—इति, आधा-
नेऽपि पवमानेऽपि स्यात् । ता अपि हि श्येनस्य उपकुर्वन्ति,
तत्संस्कृतेऽग्नौ श्येनो निर्वर्तते—इति ॥

सू. नाप्रकरणत्वादङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ ३८ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. न, श्येनस्य प्रकरणे पवमानेष्टयोःश्राधानं वा श्रूयते ।
किमतः ? । यद्येवम्, श्राधानस्य च श्येनस्य च न कश्चिदस्ति

भा सम्बन्ध, अग्नीनामाधानम् अग्रयश्च श्येनस्य, तस्मात् न पवमानहविषु नवनीतम् । नेतत् श्येनाङ्गत्वे निमित्तं यत् आधानम् अग्नीनाम् उपकरोति, यदि प्रकरणादीनामन्य तमदस्ति, तत् निमित्तं भवेत् । तस्मात् न श्येनाग्रमाधानयो सम्बन्धोऽस्ति—इति ॥ (३। ८। २० अ०) ॥

सर्वेषामेव श्येनाङ्गानां नवनीताज्यताधिकरणम् ॥

स तत्काले वा लिङ्गदर्शनात् ॥ ३९ ॥ (पू०) ॥

भा इदमिदानीं सन्दिश्यते,—किं सत्याकालानाम् अङ्गानाम् नवनीतम् उत सर्वेषाम्?—इति । सत्याकालानाम् स्यात् 'लिङ्गदर्शनात्', इदं श्रूयते,—'सह पशूनालभते—इति । तत्र पुनर्वचनम्—अग्नीषोमीयस्य स्थानेऽग्नीषोमीय पुरोडाश, अनुबन्धाया स्थाने मेवावरुणीयस्य—इति, द्वे स्थाने श्रूयते दर्शयति, तेन अवगम्यते श्येनस्य वचनं सत्याकालानाम् अङ्गानाम् विशेषं विदधाति—इति ॥

स सर्वेषां वा अविशेषात् ॥ ४० ॥ (सि०) ॥

भा सर्वेषामेव च अङ्गानाम् नवनीतं स्यात् । कुत ? अविशेषात् अस्ति विशेषे सर्वेषाम् अपि अङ्गानाम्—इति ॥

स न्यायोक्तं लिङ्गदर्शनम् ॥ ४१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा यदुक्तं लिङ्ग,—तत्परिहरणीयम् । नास्ति तावत् प्रमाणं यत् श्येनस्य वचनं सत्याकालानामङ्गानाम्—इति । किन्तु दर्शनं, तदप्रमाणमूलत्वात् मिथ्यादर्शनं स्मृतृणावत् । कथं तु मध्ये पशूनामालम्भः ?—इति । न्यायात् । को न्यायः ? क्रमानुपह । एव वचनवर्जितं क्रमोऽनुगृहीतो भवति—इति ।

भा. तस्मात् सर्वेषाम् अङ्गानाम् नवनीतम्—इति ॥ (३। ८।
२१ अ०) ॥

सवनीयानां मांसमयताधिकरणम् ॥

सू. मांसन्तु सवनीयानाम् चोदनाविशेषात् ॥ ४२ ॥

भा. शाक्यानामयनम् षट्त्रिंशत्सम्बत्सरम् । तत्र इदं समामनन्ति,
'संस्थिते संस्थिते ह्यनि गृहपतिर्मृगयां याति, स तत्र यागमृगान्
हन्ति, तेषान्तरसाः पुरोडाशाः सवनीया भवन्ति'—इति । तत्र
सन्देहः,—किं सवनीयानाम् अन्येषाञ्च सम्भवता पुरोडाशानां
स्याने तरसा उत सवनीयानामेव?—इति । किं प्राप्तम्?—
सर्वपुरोडाशानां मांसमयता स्यात्, न शक्यते पुरोडाशानां च
मांसमयता विधातुम्, सवनीयशब्देन च पुरोडाशान् विजे-
षयितुम्, भिद्येत हि तथा वाक्यम् । तस्मात् सर्वपुरोडाशानां
मांसमयता—इति ॥

इति प्राप्ते उच्यते,—'मांस तु सवनीयानां' स्यात्, तरसाः
सवनीया भवन्ति—इति तरससवनीयसम्बन्धो विधीयते, तरसाः
पुरोडाशा भवन्ति—इत्ययं त्वनूद्यते । कुतः एतत्? । सर्वपुरो-
डाशेषु सवनीयशब्दोऽनुवादो न घटते, पुरोडाशशब्दस्तु सवनी-
येष्ववकल्पते । तस्मात् पुरोडाशशब्दोऽनुवादः—इति । तस्मात्
सवनीयानाम् धानादीनाम् स्याने मांसं 'चोदनाविशेषात्'—
इति ॥

सू. भक्तिरसंनिधावन्याय्येति चेत् ॥ ४३ ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् पश्यसि,—'सवनीयेषु पुरोडाशशब्दोऽनुवादो
भविष्यति—इति, धानादिषु पुरोडाशशब्दो न वर्तते, भक्तिरस
अन्यास्या मुखेय सम्भवति ॥

स स्यात् प्रकृतिलिङ्गत्वात् वैराजवत् ॥ ४४ ॥ (आ० नि०)

भा प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे धानादिषु अयं पुरोडाशशब्दो भाक्त, सन्निहिते प्रयुक्तः, इहापि भाक्त एव प्रयोक्ष्यते, अत्रापि हि सवनीयशब्देन ते सन्निहिताः । प्रकृतौ लिङ्गसमवायाच्चेद प्रवृत्तिर्विहतावपि तथैव, यथा, छत्रिणो गच्छन्ति, भ्रजिनो गच्छन्ति—इति । यथा 'उक्त्यो वैरूपसामा एकविंशः योऽग्नी वैराजसामा'—इतिप्रकृतिलिङ्गेन सामशब्देन वैरूपपृष्ठो वैराजपृष्ठः—इति गम्यते, एवम् इहापि सवनीयानाम् मासमयता—इति ॥ (३ । ८ । २२ अ०) ॥

इति श्रीशबरस्वामिविरचिते मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्याय
स्याष्टमश्चरणः ॥ समाप्तश्च तृतीयोऽध्यायः ॥

चतुर्थे अध्याये प्रथमः पादः ॥



अथ प्रतिज्ञाधिकरणम् ॥

सू. अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोजिज्ञासा ॥ १ ॥

भा. तृतीयेऽध्याये श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानैः शेषविनियोगलक्षणमुक्तम्* । इह इदानीं क्रत्वर्थपुरुषार्थौ जिज्ञास्येते, —कः क्रत्वर्थः? कः पुरुषार्थः—इति, यापि प्रयोजकाप्रयोजकफलविध्यैवादाङ्गप्रधानचिन्ता, सापि क्रत्वर्थपुरुषार्थजिज्ञासैव । कथम्? । अङ्गं क्रत्वर्थः, प्रधानं पुरुषार्थः; फलविधिः पुरुषार्थः अर्थवादः क्रत्वर्थः; प्रयोजकः कश्चित् पुरुषार्थाप्रयोजकः क्रत्वर्थः । तस्मात् ‘क्रत्वर्थपुरुषार्थयोजिज्ञासा’—इति सूचितम् । तत्र अथातःशब्दौ प्रथमे एवाध्याये प्रथमसूत्रे वर्णितौ । अथेति प्रकृतं शेषविनियोगलक्षणमपेक्षते । अतः—इति क्रत्वर्थपुरुषार्थजिज्ञासाविशेषं प्रकुरुते । क्रतवे यः स क्रत्वर्थः, पुरुषाय यः स पुरुषार्थः । जिज्ञासाशब्दोऽपि तत्र एव समधिगतः,—ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा—इति । तदेतत् प्रतिज्ञासूत्रम्,—क्रत्वर्थपुरुषार्थयोजिज्ञासा—इति ॥ (४।१।१ अ०) ॥

अथ क्रत्वर्थपुरुषार्थलक्षणाधिकरणम् वर्णकान्तरद्वयसहितम् ॥

सू. यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणा-
ऽविभक्तत्वात् ॥ २ ॥

भा. अथ किंलक्षणः क्रत्वर्थः, किंलक्षणः पुरुषार्थः?—इति लक्षणं

भा. वाचं, तथा हि लघीयसी प्रतिपत्तिः, पृष्ठाकोटेन* उपदेष्टे
गरीयसी; तदुच्यते,—‘यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य’, (यस्मिन् ह्येते
पदार्थे पुरुषस्य प्रीतिर्भवति) स पुरुषार्थः पदार्थः। कुतः?।
‘तस्य लिप्सा’ अर्थेन च भवति, न शास्त्रेण, क्रत्वर्थो हि शास्त्रात्
अवगम्यते, न अन्यथा; अविभक्तो हि पुरुषार्थः प्रीत्या,
यो यः प्रीतिसाधनः स पुरुषार्थः। पुरुषार्थे लक्षिते तद्विपरीत-
क्रत्वर्थः—इति क्रत्वर्थस्य लक्षणं सिद्धम्। (१ म वर्णकम्) ॥

एवं वा सूत्रं वर्ण्यते,—दर्शपूर्णमासयोराम्नायते,—‘अनति
दृश्यं स्तृणाति अनतिदृश्यमेवैनं प्रजया पशुभिः करोति’—इति,
तथा, आहार्यपुरीषां पशुकामस्य वेदिं कुर्यात्, वत्सजानुम्
पशुकामस्य वेदं कुर्यात्, गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्—
इत्येवमादीनि। तत्र संशयः,—किम् एवज्ञातीयकाः क्रत्वर्था
उत पुरुषार्थाः?—इति। किं प्राप्तम्?—क्रत्वर्थाः—इति।
कुतः?। प्रत्यक्ष उपकारस्तेभ्यो दृश्यते क्रतोः, पुरीषहरणं
वेदिस्तरणं च, तदुक्तं, (३।१।३ सू०)—‘द्रव्यगुणसंस्कारेषु
वादरिः’—इति। तस्मात् क्रत्वर्थाः—इत्येवं प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य’ स पुरुषार्थ एव—
इति, प्रीतिस्तेभ्यो निर्वर्तते, तस्मात् एते पुरुषार्थाः—इति।
‘ननु प्रत्यक्षः उपकारः क्रतोर्दृश्यते—इत्युक्तम्’। उच्यते,—
सत्यं दृश्यते, न तु क्रतोरुपकाराय एभ्यः सङ्कीर्तितेभ्यः, एतेभ्य
एते श्रूयन्ते, न च, य उपकरोति स ज्ञेयः, यस्तु यदर्थः श्रूयते,
स तस्य ज्ञेयः—इत्युक्तं (३।१।२ सू०),—‘ज्ञेयः परार्थत्वात्’
—इति। (२ य वर्णकम्) ॥

एवं वा, इधार्जनम् उदाहरणम्, इह इधार्जनं तैस्तैर्निर्गमैः

* पृष्ठाकोटेन इति पाठः क० सं० पु० ॥

† ‘एतदुक्तं भवति, अयं प्रार्थितमाधाधीनानुष्ठानः पुरुषार्थस्तदुप-
कारार्थः क्रत्वर्थः’ इति तत्परवगमानुष्ठानस्यम् ॥

भा श्रूयते, ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादिना, राजन्यस्य जयादिना
 वेश्यस्य कृष्यादिना । तत्र सन्देहः,—किं क्रत्वर्थो द्रव्यपरिग्रह
 उत पुरुषार्थः ?—इति । किं प्राप्तम् ?—क्रत्वर्थो नियमात्,
 यद्येष पुरुषार्थः स्यात् नियमोऽनर्थको भवेत् प्रत्यक्षेण एतत्
 अवगम्यते,—नियमादनियमाच्चार्जितं द्रव्यं पुरुषं प्रीणयति—
 इति, तस्मात् क्रत्वर्थः, कामश्रुतिभिश्चास्य सहेकवाक्यता दृष्टा,
 इतरथा, अनुमेयेन फलवाक्येन सहेकवाक्यता यायात् । लिङ्ग
 चापि भवति—‘अग्रये क्षामवत पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्
 यस्याहिताग्ने सतोऽग्निर्गृह्णान् दहेत् यस्य हिरण्यं नश्येदाग्ने
 यादीनि निर्वपेत्’—इत्येवमादि तद्वि द्रव्योपघाते चोद्यते,
 यदि द्रव्यपरिग्रहः कर्मार्थः तत एतदपि सति सम्बन्धे कर्मार्थम्
 —इत्युच्यते इतरथा असति सम्बन्धे कर्मार्थम्—इत्यनुमीयते,
 फलं च अस्य कल्प्येत । तस्मात् यजतिश्रुतिगृहीतं द्रव्यार्जनं
 येन विना यागा न निर्वर्तते, स यागस्य श्रुत्या परिगृहीतः—
 इति गम्यते । तस्मात् क्रत्वर्थः—इति ।

एव प्राप्ते ब्रूमः,—पुरुषार्थः—इति । एतस्मिन् कृते पदार्थे
 प्रीतिः पुरुषस्य भवति, तस्मात् अस्य लिप्सा अर्घ्यलक्षणा शरीर
 धारणार्था, यस्य शरीरं ध्रियते व्यक्तं तस्यास्ति द्रव्यं शरीरिणश्च
 यागः श्रूयते, तस्मात् विद्यमानद्रव्यस्य विनियोगः उच्यते । न
 द्रव्यार्जनं श्रुतिगृहीतं विनापि हि द्रव्यार्जनवचनत्वेन शब्दस्य,
 यागो निर्वर्तते एव तस्मात् पुरुषार्थो द्रव्यपरिग्रहः ।

अपि च, यदि शास्त्रात् कर्मार्थं द्रव्यार्जनं, तन्नान्यत्र विनि
 युज्येत तद्यार्जितम् तत्र सर्वतद्वपरिलोपः स्यात् । अपि च,
 उपक्रान्तानि सर्वकर्माणि द्रव्यार्जनेन भवेयुः, तत्र एतन्नोपपद्यते,

अपि वा एष *सुवर्गाखोकाच्छिद्यते, यो दर्शपूर्णमासयाजी

भा सन्नमावास्था वा पौर्णमासीं वा अतिपातयेत्—इति, एवञ्च सति, प्रयोगकालादहरेतदङ्गं सदानुष्कारकं स्यात्। न च आधानवत् भवितुमर्हति, तत्र हि वचन,—‘वसन्तेऽग्निमादधीत’—इति, न चैतत् अङ्गम्।

अथ यदुक्त—नियमवचनम् अनर्थकं, पुरुषार्थे द्रव्यपरिग्रहे सति—इति। उच्यते, नैतावता पुरुषार्थता व्यावर्त्तते, प्रत्यक्षा हि सा, त्वया च परोक्ष युक्तिबुद्ध्या व्यपदिश्यते, न च, परोक्ष प्रत्यक्षस्य बाधकं भवति, तस्मात् नियमवचनात् कामभपरम दृष्ट कल्प्येत, न तु दृष्टहानम्। तस्मात् यत् पुरुषस्य प्रयोजनं प्रीति, तदर्थं धनस्य अर्जनम्,—इत्येव च सति, व्रीहिणा यागं कर्त्तव्यं, प्रीत्यर्थमर्जितेन वा क्रत्वर्थमर्जितेन वा, न अव कश्चित् विशेष, प्रीत्यर्थम् उपार्जितोऽपि व्रीहिः, व्रीहिरेव कर्मार्थम् उपार्जितोऽपि व्रीहिः, व्रीहिरेव। तस्मात् न प्रयोग चोदनाग्रहीत द्रव्यार्जनम्।

अथ यदुक्तम्—अनुमेयेनाग्रहतेन वा शब्देन युष्मत्पक्षे नियमस्य एकवाक्यता, अस्मत्पक्षे तु दृष्टेन प्रयोगवचनेन—इति। नेप दोष अस्मत्पक्षेऽपि दृष्टेन भुजिना, न फलवचनेन। ‘कथं तर्हि?—नियमाददृष्टं भवति—इति गम्यते’। यथैव भवदीये पक्षे। ‘आह अस्मत्पक्षे फलवत् एकवाक्यभावात् फलवत् उपकरोति—इति गम्यते। उच्यते, अस्मत्पक्षेऽपि फलवत् एवैकवाक्यभावः, एतावतास्तु विशेषः,—तव श्रुत फलं, मम तु दृष्टम्—इति।

अथ यत् लिङ्गम् उक्तम्,—गृहदाद्यादिषु कर्मं श्रूयते—इति। तत्र उच्यते, यद्यपि न क्रत्वर्थं द्रव्यार्जनं, तथापि दाहे निमित्ते फलाय वा कर्माङ्गभावाय वा जामवत्यादीनां विधानम् उपपद्यत एव। तस्मात् पुरुषार्थे द्रव्यार्जनं, प्रीत्या हि तदविभक्तम्—इति॥ (इयं वर्णकम्)॥ (४।१।२ अ०)॥

प्रजापतिव्रतानां पुरुषार्थताधिकरणम् ॥

स. तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय, शास्त्रस्यानतिशङ्क्य-
त्वान्नच द्रव्यं विकीर्ष्यते तेनार्थेनाभिसम्बन्धात्
क्रियायां पुरुषश्रुतिः ॥ ३ ॥

भा. इह प्रजापतिव्रतानि उदाहरणम्,—‘नोद्यतामादित्यमीक्षेत
नास्तंयन्तम्’—इत्यादीनि । तत्र सन्देहः,—किं क्रत्वर्थानि
प्रजापतिव्रतानि उत पुरुषार्थानि ?—इति । किं प्राप्तम् ?—
क्रत्वर्थानि—इति । कुतः ? । एवं हि, फलं न कल्पयितव्यं
भविष्यति—इति । ननु श्रूयते एवैतेषां फलम्,—‘एतावता
हैनसाभ्युक्तो भवति’—इति । उच्यते,—नैतत् फलपरं वचनं,
वर्तमानापदेश एवैष शब्दः—इति, तेन यत्रादित्य ईक्षितव्यः
प्राप्तः, तत्रायं प्रतिषेधः उद्यतोऽस्तंयतश्च नियमो वा स्यात्
कश्चित् कर्माङ्गभूतः ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—तदुत्सर्गे (प्रीत्युत्सर्गेऽपि) कर्माणि पुरुषार्थाय
भवेयुः, एवञ्जातीयकानि ; कर्तुरेतानि उपादिश्यन्ते, न कर्मणः ।
अर्थप्राप्तेन कर्मा सम्बन्धो यः, स विधित्सितः, न कर्मसम्बन्धो-
विद्यमान एव । शास्त्रं च अनतिशङ्क्यं पितृमातृवचनादपि
प्रमाणतरं, स्वयं हि तेन प्रत्येति, इन्द्रियस्थानीयं हि तत्, न
चैवमादिभिर्द्रव्यस्य कश्चित् दृष्ट उपकारः साध्यते । तस्मात् तेन
पुरुषार्थेन अभिसयोगात् क्रियायाम् एवञ्जातीयकायां पुरुषः
श्रूयते ।

अपि च, पुरुषप्रयत्नः पदार्थविधिमात्रं लक्षयितुम् उच्यते,
स्वयम् अविवक्षितः स्यात् ।

अथ यदुक्तं,—यत्रादित्यस्येक्षणं प्राप्तं, तत्रोद्यतोऽस्तंयतश्च प्रति-
षेधः—इति, सत्यं प्रतिषेधो न्याप्यः, तथा श्रुतिः अनुगच्छेत,

भा इतरथा नियमो लक्ष्येत—इति, किन्तु इह नियम शब्देन श्रूयते—तस्य वतम्—इति, तेन नियम एष,—नोद्यन् आदित्य इक्षितस्य—इति। अपि च ‘एतावता हेनसा अयुक्तो भवति’—इति पुरुषसम्बद्धो दोष कोट्यन्ते, न कर्मसम्बद्धः। तस्मात् पुरुषार्थानि प्रजापतिव्रतानि—इति। शौलक्षणाद्यप्येवमेव कर्तारोक्त्यर्थं कर्तव्या—इत्येवमादीनि ॥

स अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुतिफलानि स्युः ॥ ४ ॥
(आ०) ॥

भा उच्यते—यद्येवम्—इमान्यपि पुरुषार्थानि स्युः—‘समिधो यजति तनूनपात यजति नानृत वदेत्’—इत्येवमादीनि। अत्रापि पुरुषप्रयत्नसङ्कीर्तनम् अत्रापि न द्रव्य चिकीर्ष्यते—इति ॥

स अपि वा कारणाग्रहणे तदर्थमर्थस्यानभि
सन्वन्धात् ॥ ५ ॥ (नि०) ॥

भा अपि वा नेतदस्ति—समिधादीन्यपि पुरुषार्थानि प्राप्नुवन्ति—इति कारणाग्रहणे पुरुषार्थानि प्रजापतिव्रतानि भवेदुः न तत्र श्रुत्यादिक किञ्चित् कारण गृह्यते येन कर्मणाम् अङ्ग भूतानि—इति गम्यते तस्मात् तानि पुरुषार्थानि। अर्थस्य (कर्मण) न अभिसम्बन्धः प्रजापतिव्रतैः, इह तु समिधादीनां प्रकरणं नाम कारण गृह्यते येन कर्मार्थानि—इति विज्ञायन्ते। तस्मात् विषम उपन्यासः, पुरुषप्रयत्नस्यैव सति अनुवादः ॥

सु तथा च लोकभूतेषु ॥ ६ ॥ (शु०) ॥

भा लोकेऽपि निष्पन्नकार्यादियु पयोजनवत्स यत् असमुक्त कलेन श्रूयते, तत् तदङ्ग विज्ञायते—इति मन्यमाना उपवास जप वा

भा. उपदिश्य एव कृतिनो मन्यन्ते, न ब्रुवते,—इदमस्य प्रयोजन-
वतोद्भूतम्—इति, तथा च अपरेऽपि मन्यमाना न दुरुक्तं
मन्यन्ते । तस्मात् समिदादीनि कर्माङ्गानि, न प्रजापतिव्रतानि
—इति सिद्धम् ॥ (४।१।३ अ०) ॥

यज्ञायुधानामनुवादताधिकरणम् ॥

स. द्रव्याणि त्वविशेषेणानर्थक्यात् प्रदीयेरन् ॥ ७ ॥
(पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासी, तत्राम्नायते,—‘पथश्च कपालानि च
अग्निहोत्रहवणो च श्रूषं च हाष्णाजिनं च शम्या चोलूखलं च
मुसलं च दृष्यचोपला चैतानि वै दश यज्ञायुधानि’—इति ।
तत्र संशयः,—किम् एतानि द्रव्यानि प्रदातव्यानि उत स्वेन
स्वेनार्थेन सम्बन्धनीयानि ? तदेतत् सिद्ध्यर्थम् इदं चिन्त-
नीयम्,—किम् एष विधिः उत अनुवादः ?—इति । विधौ
सति प्रदानमनुवादे सति यथार्थसम्बन्धः । किं प्राप्तम् ?—
विधिः—इति, तथा हि प्रवृत्तौ विशेषः, इतरथा वादमात्रम्
अनर्थकम् । प्रदाने च एषां यज्ञायुधशब्दोऽनुगृहीतः,—यज्ञस्य
आयुधानि,—यज्ञस्य साधनानि—इति, इतरथा उद्हननादी-
नामायुधानि भवेयुः श्रवणेन, लक्षणया यज्ञस्य, संख्या च
एवम् अवकल्पते,—यागेनैकेन सम्बन्धात्, इतरथा नानार्थ-
सम्बन्धात् दशेति संख्या न अवकल्पते । तस्मात् प्रदीयेरन्,
अविशेषेण विहितं प्रकरणेन प्रधानस्य भवितुमर्हति ॥

स. स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात्, तस्मात्
यथाश्रुति स्युः ॥ ८ ॥ (सि०) ॥

भा. न चैतदस्ति विधिः,—प्रदेयानि—इति, अनुवादः, प्राप्त-

भा त्वात्,—स्वेनोद्धन्त कपालेषु अपयत्यग्निहोषह्वन्यां निर्वपति
 श्रुपण विविनक्ति क्षुण्णाजिनमुलूखलस्य अधस्तादयस्तृणाति,
 शय्याया दृपदमुपदधाति प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्याम
 वहन्ति प्रोक्षिताभ्या दृपदुपलाभ्या पिनष्टि—इत्येव स्वेन
 स्वेन वाक्येनोद्धननादिषु प्राप्नुवन्ति, प्राप्ताना वचनम् अनु
 वाद । प्रकरणमपि वाक्येन बाध्यते, यज्ञायुधशब्दश्च अनुवाद
 पक्षे न्याय्य न विधिपक्षे गौणो हि स यज्ञायुधशब्द स्थादिषु
 सख्यापि पाठाभिप्राया भविष्यति विस्पष्ट च एतत् उद्धना
 दिभि स्थादीनि प्रयुक्तानि—इति, भवति हि तत्र विधि,—
 ‘स्वेनोद्धन्ति—इत्येवमादि न तु यज्ञायुधानि कर्त्तव्यानीति ।
 तस्मात् उद्धननादिषु वाक्येन प्राप्तानामनुवाद—इति ॥

ख चोद्यन्ते चार्थकर्मसु ॥ ९ ॥ (यु० १) ॥

भा अर्थकर्मसु चोद्यन्ते पुरोडाशादीनि ताव्यपि विकल्पेन
 तत्र पक्षे बाधो न समुच्चय । पुरोडाशादीना निरपेक्षाणा
 यजिसम्बन्धात् स्थादीना च । एव वा, ‘चोद्यन्ते चार्थकर्मसु,
 चोद्यन्ते परिधानीये कर्मणि—‘आहिताग्निमग्निभिर्दक्षन्ति
 यज्ञपात्रेषु—इति यदि प्रक्षेपेरन् तत्र न भवेत् तस्मात्
 अपि न प्रदातव्यानि—इति ॥

ख लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १० ॥ (यु० २) ॥

भा लिङ्गदर्शनेन च—चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो ऋधने,
 त्रयोदशमावास्यायाम्—इति । तस्मादप्यनुवाद—इति ॥
 (४।१।४ अ०) ॥

पञ्चेकत्वादेर्विवक्षाधिकरणम् ॥ (पञ्चेकत्वव्यायः) ॥

सू तच्चैकत्वमयज्ञाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात् ॥ ११ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयो,—‘यो दीक्षितो, यत् अग्नीषोमीयं पशुमालभते—इति, तथा, ‘अनड्वाहौ युनक्ति’—इति, तथा, अश्वमेधे, ‘वसन्ताय कपिञ्जलानालभते’—इति । तत्र सन्देहः,—किं विवक्षितम्, एकत्वं द्वित्वं बहुत्व च, उत अविवक्षितम्?—इति । तत्र एकत्वमयज्ञाङ्गभूतं न विवक्षितम्,—इत्यर्थः, ‘अर्थस्य गुणभूतत्वात्’, न आलम्भस्य गुणभूता संख्या नियोजनस्य वा । कस्य तर्हि? । पशोः अनड्वाहोः कपिञ्जलानां च, विभक्तिर्हि श्रुत्या प्रातिपदिकार्थगतं संख्यार्थं ब्रूते, वाक्येन सा यज्ञाङ्गं ब्रूयात्, वाक्याच्च श्रुतिर्बलीयसी । तस्मात् न यज्ञाङ्गं विवक्षितम्—इति ।

‘आह, मा भूत् यज्ञाङ्गम्, पश्वादीनामङ्गम् विवक्षितं तथा पोति’ । उच्यते, न, पश्वादीनामङ्गेन उक्तेन अनुक्तेन वा किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, यज्ञाङ्गेन हि अविपन्नेन प्रयोजनम्, विपन्नेभ्यो हि पश्वाद्यङ्गेभ्योऽपि एव क्रतुर्भवति, यज्ञाच्च फलं न पश्वादेः । तस्मात् पश्वादेः गुणेन अज्ञातेन ज्ञातेन वा न किञ्चित् प्रयोजनमस्ति—इति, न तत् विवक्षितम्, यत् हि प्रयोजनवत् तत् विवक्षितम्—इत्युच्यते ॥

सू एकश्रुतित्वाच्च ॥ १२ ॥ (यु०) ॥

भा. भवति च किञ्चित् वचन, येन विज्ञायते,—न तत् विवक्षितम्—इति, ‘यदि सोममपहरेयुरेकां गा दक्षिणा दद्यात्’—इति, यदि हि विवक्षितं भवेत्, न एकामिति ब्रूयात्, गामित्येक-वचनस्य विवक्षितत्वात्, तथा, ‘अवी द्वे धेनू द्वे’—इत्यत्रापि द्वे—इति वचनं ज्ञापकम्, अविवक्षितम् अवी—इति द्वित्वम्—

भा इति । 'चीन् ललामान्'—इत्यत्रापि वीनितिचर्चनं लिङ्गम्,
ललामानितिबहुवचनम् अविवक्षितम्—इति ॥

ख प्रतीयते इति चेत् ॥ १३ ॥ (आ०) ॥

भा एवं चेत् पश्यसि,—अविवक्षिता संख्या—इति, तत् न,
प्रतीयते हि संख्या आख्यातवचनस्य अङ्गभूता, यथा 'पशु
मानय'—इत्युक्ते, एक एवानीयते, पशू—इति, द्वौ, पशून्
—इति बहव आनीयन्ते, यश्च प्रतीयते स शब्दार्थः, तस्मात्
यज्ञस्याङ्गभूता संख्या—इति शब्दात् गम्यते, न च शब्दात्
गम्यमानम् ष्यते कारणात्, अविवक्षितं भवति ॥

ख नाशब्दं तत्प्रमाणत्वात् पूर्ववत् ॥ १४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदेवं, सत्यं प्रतीयते, न तु अयं शब्दार्थः धामोहादेशा
प्रतीतिः । कुतः एतत् ? वाक्याद्धि यज्ञाङ्गम्—इत्यवगम्यते,
वाक्यं च श्रुत्या बाध्यते, तस्मात् अशब्दार्थोऽयं यज्ञे एकत्वा
दीति । अशब्दार्थोऽपि हि प्रतीयते, यथा, पूर्वा धावति—
इति, स पूर्वं इत्युच्यते, यस्य अपरोऽस्ति, तेन 'पूर्वः' इत्युक्ते,
अपरो गम्यते, न तु, अपरो, 'धावति'—इति श्रवणात् प्रती-
यते, एवम् इहापि पशुम्—इत्येकत्वं गम्यते, न तु यज्ञे, यद्येव
हि पूर्वम्—इत्युक्तेः परो गम्यते एव केवलं, न तु स विधीयते
कस्मिंश्चिदर्थे, एवम् इहापि संख्या प्रतीयते एव केवलं, न
तु कर्तव्यतया यज्ञे विधीयते न पशौ ।

'कथं न पशौ विधीयते ?—इति चेत् । विधायकस्याभावात् ।
'आख्यातशब्दो विधायको भविष्यति'—इत्येतदपि नोपपद्यते,
—इत्यदेवतासम्बन्धस्य स विधायकः सन् आलभते—इति
न संख्यासंख्येयसम्बन्धं विधातुमर्हति—इति, भिद्येत हि तथा
वाक्यम् । तस्मात् अविवक्षिता संख्या—इति ॥

सं. शब्दवत्तुपलभ्यते तदागमे हि तत् दृश्यते तस्य ज्ञानं
यथान्येषाम् ॥ १५ ॥ (सि०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयतिः, नतत् अस्ति,—न यज्ञे संख्या
शब्देन श्रूयते—इति, आख्यातवाचेन हि अर्थे उपलभ्यते,
लोके पशुमानय—इत्येकवचने सति एकत्वपशुविशिष्टमानयनं
प्रतीयते, पशू आनयेति द्वित्वविशिष्टं गम्यते, तत्र हि एकत्व-
मपैति, द्वित्वमुपजायते; यस्य चागमे यत् उपजायते, स तस्य
अर्थः—इति गम्यते, 'तस्य ज्ञानं, यथान्येषां' शब्दानाम्,—
अश्वमानयेति उक्ते अश्वानयनं प्रतीयते, गामानय—इति
गवानयनं, तत्र अश्वोपैति गौश्वोपजायते, तेन ज्ञायते,—
अश्वशब्दस्य अश्वोर्थो गौशब्दस्य गौः—इति ।

‘यदुक्तं,—श्रुत्या वाक्यार्था बाध्यते’—इति, उच्यते, न श्रुति-
वृत्ते,—वाक्यार्था नास्ति—इति, केवलं तु प्रातिपदिकार्थगतां
संख्यामाह, तादृशी संख्या वाक्येन यज्ञे विधीयते, प्रातिपदि-
कार्थो हि आख्यातवाचेन सम्बध्यते, विभक्त्यर्थोऽपि, तथाहि
तद्विशेषणविशिष्ट आलम्भो गम्यते, तत्र एकार्थत्वात् एकवाक्यम्
अवकल्पते । पशौ हि संख्यायां विधीयमानायामेक आख्यात-
शब्दो न शक्नुयात्,—आख्यातार्थं विधातुम्, संख्यासंख्येयसम्बन्धं
च । तस्मात् यज्ञे विवक्षिता संख्या—इति ॥

सं. तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥ १६ ॥ (यु० १) ॥

भा. किम्?—इति । ‘कर्णा याम्या अवलिप्ता रौद्रा, नभोरूपाः
पार्जन्याः, तेषाम् ऐन्द्राग्रो दशमः’—इति, यदि त्रित्वं विवक्षितं
तदा ऐन्द्राग्रो दशमो भवति । तथा ‘कृष्णा भौमाः, धूम्रा
आन्तरिक्षाः, वृहन्तो दिव्याः, शक्वा वैद्युताः, सिद्धास्तारकाः’
—इति प्रकृत्य आह,—‘अर्द्धमासानां वा एतत् रूपं यत् पञ्च-

भा दशिनः—इति । तस्मात् अपि पश्यामी,—विवक्षिता संख्या—इति । यत्तु उक्तम्,—‘एका गाम्’—इत्यविवक्षां दर्शयति—इति । अत्र उच्यते, गोसंख्यासम्बन्धं विधातुम्, एतत् उच्यते, इतरथा हि, गोदक्षिणासम्बन्धो विहितो गम्येत । तस्मात् विवक्षितेऽपि वाच्यमेतत् । अवी द्वे धेनू द्वे चीन्लला मान्—इति च अनुवादाः ॥ (४।१।५ अ०) ॥

पूर्वाधिकरणाग्रः लिङ्गस्य विवक्षितत्वाधिकरणञ्च ॥

तथा च लिङ्गम् ॥ १७ ॥ (य० २) ॥

भा एव च कृत्या समानश्रुतिकं लिङ्गमपि विवक्षितं भविष्यति, तत्र इदं दर्शनम् उपपद्यते,—‘वसन्ते प्रातराग्नेयीं हृण्योवामा लभते, शीष्मे माध्यन्दिने सिन्धौमैर्द्वौ शरादि अपराह्णे श्वेतां वार्हस्पत्याम्’—इति । तत्र श्रूयते,—‘गर्भिण्यो भवन्ति’—इति, गर्भः स्त्रीणां गुणः, तेन स्त्रियो दर्शयति—इति भविष्यति । तथा ‘अश्व चक्षभो वृष्णिर्वरतः पुरुषः’—इति ते प्राजापत्याः—इति । तत्र श्रूयते,—‘मुष्करा भवन्ति सेन्द्रियत्वाय’—इति, मुष्करत्वं पुंसां गुणः, तेन पुंमार्सं दर्शयति—इति ।

अधिकरणान्तरं वा,—तथा च लिङ्गम्—इति, संख्याधिकरणं लिङ्गाधिकरणेऽतिदृश्यते । लिङ्गम् अविवक्षितं, श्रुत्या वाक्यस्य बाधितत्वात्, न च, विवक्षितमिव श्रूयते—इति, भवति लिङ्गं, ‘स्त्री गोः सोमक्रयणी’—इति, स्त्रीवचनात् सोमक्रयणी—इत्यविवक्षितमेव लिङ्गं प्रतीयते । ‘ननु कथं शृङ्गीमानय—इति न शृङ्गः आनीयते ?’ नैवम्, अशब्दस्तु तत्, पूर्वा धावन्ति—इति यथा ।

लिङ्गं विवक्षितं वा वाक्यार्थस्य श्रुत्याप्रतिसिद्धत्वात्, ‘तथा च लिङ्गं’ ‘गर्भिण्यो भवन्ति’—इति, तथा च ‘मुष्करा भवन्ति’

भा —इति । यदुक्तं,—‘स्त्री गौः सोमक्रयणी’—इति, तत्र स्त्रीत्य-
विवक्षितं, तथा ‘प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आसभते’—इति
पुरुषग्रहणम् अविवक्षितं, विस्पष्टो हि न्याय उक्तो लिङ्गविव-
क्षायां । तस्मात् विवक्षितं लिङ्गम्—इति ॥ (४।१।६ अ०) ॥

आश्रयिणामदृष्टार्थताधिकरणम् ॥

न अश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत ॥ १८ ॥
(नि०) ॥

भा अत्राश्रयिणः* पदार्था उदाहरणम् (उत्तमः प्रयाजः पशु-
पुरोडाशः स्विष्टकृत्—इत्येते यागा उदाहरणम्) । एषु
सन्देहः,—किं यजिमात्र संस्कारो देवतायाः, उत यजिना
अदृष्ट देवतायां क्रियते?—इति । किं प्राप्तम्?—‘आश्रयिषु
अविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत’—इत्याश्रयिषु एवज्ञातीयकेषु
अपूर्वस्य भावोऽर्थः प्रत्येतव्योऽविशेषात् अन्यैराख्यातशब्दैः,—
यजति ददाति जुहोति—इति, उक्तमेतत् ‘भूतं भव्यायोपदि-
श्यते’ (२।१।४ सू० भा०)—इति ॥

ख चोदनायान्त्वनारम्भो विभक्तत्वान्नह्यन्येन विधी-
यते ॥ १९ ॥ (आ०) ॥

भा अस्यान्तु चोदनायाम् अनारम्भोऽपूर्वस्य, विभक्तोऽयमाख्यात-
शब्दो,—यो दृष्टार्थः, ततो न अपूर्वः, यः खल्वदृष्टार्थः, ततोऽपूर्वम्
—इति, दृष्टार्थस्यायम्, अस्मिन् हि यागे क्रियमाणे देवता

* एकदेशेन अन्यदीयं द्रव्यं देवताभ्यं वा आश्रयन्ति सस्त्वन्ति
ये पदार्थास्ते आश्रयिण इति तत्परमम् ॥

भा स्मर्यते, स्विष्टकृत्यपि* इत्थं प्रतिपाद्यते, न च अन्येन शब्देन
अत्र अपूर्वं विधीयते । तस्मात् यजिमाच सस्कारः—इति ॥

स स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां भावोर्थे च गुणभूतताऽऽश्रया
गुणीभावः ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा स्यात् वा अपूर्वमतः, सत्यामपि देवताचिकीर्षाया, तस्मिन्
देवतासंस्कारार्थे गुणभूतता यागस्य, द्रव्यप्रतिपादेन च, मन्त्रेण
तत्र देवता स्मर्यते, तस्मिन् मन्त्रेण दृष्टेर्धे क्रियमाणे त्यागी
ऋषोऽदृष्टार्थं श्रूयते, तस्य न किञ्चित् दृष्टमस्ति, देवताश्रयात्
देवतागतं तत् अपूर्वम्—इति गम्यते ॥ (४।१।७ अ०) ॥

प्रतिज्ञाधिकरणम् ॥

स अर्थे समवैषम्यतो द्रव्यकर्मणाम् ॥ २१ ॥

भा अतिशान्त तृतीयविषयः, अतः प्रभृति द्रव्याणां कर्मणां च
'अर्थे' (प्रयोजने) समवैषम्यं वक्ष्यते,—कचित् साम्यं, कचित् वै
षम्यम् आमिक्षावाजिनयोर्वैषम्यं, कयमासूना वैषम्यं, दण्डस्य
मैत्रावरुणधारणे यजमानधारणे च साम्यम्, एवं तत्र तत्र
द्रष्टव्यं, साम्यं वैषम्यं च—इति ॥ (४।१।८ अ०) ॥

* 'स्विष्टकृत्यपि' इति क० स० पु० पाठः । 'स्विष्टकृत्यापि' इति
का० क्री० पु० पाठः ॥

† द्रव्यकर्मणा दण्डदधानयनादीनामर्थे प्रयोजने साम्यम् उभय-
प्रयुक्तिः, वैषम्यमेकेन प्रयुक्तिरितरेण नेति अतः परं वक्ष्यते इत्यर्थः
इति तत्परत्वम् ॥

तप्ते पयसि दधानयनस्यामिच्छाप्रयुक्तताधिकरणम् ॥
(वाजिन्यायः) ॥

ख. एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् ॥ २२ ॥ (पू०) ॥

भा. चातुर्मास्येषु वैश्वदेवे श्रूयते,—‘तप्ते पयसि दधानयति, सा वैश्वदेव्यामिच्छा वाचिभ्यो वाजिनम्’—इति । तत्र सन्देहः,—किं तप्ते पयसि दधानयनम् आमिच्छा प्रयोजयति, न वाजिनम्, उत उभयम्?—इति । किं प्राप्तम्?—उभयम्—इति । कुतः ? । यस्मिन् ह्यते, यत् निष्पद्यते प्रयोजनवत्, तत् तस्य प्रयोजकम्—इति गम्यते, दधानयने च ह्यते उभयं निष्पद्यते; आमिच्छापि, तत एव वाजिनम् अपि, तत्र अन्यतरार्थं क्रियेत, यदि विनिगमनायां हेतुर्भवेत्, अगम्यमाने विशेषे उभयार्थमानयनम्—इति गम्यते । तस्मात् एका असौ उभाभ्यामपि प्रयोजिता निष्पत्तिः—इति ॥

ख. संसर्गरसनिष्पत्तेरामिच्छा वा प्रधानं स्यात् ॥ २३ ॥
(सि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—उभयं प्रयोजकम्—इति, आमिच्छा प्रयोक्तृ । कुतः ? । न अत्र यद्धिपयोभ्यां निर्वर्त्यते, तद्भविः, यदि तद्भविः स्यात्, उभयं ताभ्यामेव निष्पद्यते—इति गम्येत विशेषः । किं तर्हि हविः?—इति । पयो दधिसंसृष्टः । कुतः एतत् ? । सा वैश्वदेवी—इत्युच्यते, न ततो यत् निष्पद्यते—इति ।

‘ननु शीलिङ्गनिर्देशात्, आमिच्छा हविः, सा च ततो निष्पद्यते, वाजिनश्च हविः, तदपि निष्पद्यते’—इति । न,—इत्युच्यते,—तदेव हि पयः तप्तं दधिसंयुक्तम्, आमिच्छा भवति । तस्मात् शीलिङ्गम् अदोषः । ‘आह,—यदि पयो दधिसंसृष्टः हविः, किं तर्हि उच्यते, आमिच्छा प्रयोजिका?’—इति । उच्यते,

भा. —आमिच्छायां दधिपयसी विद्येते, न वाजिने । कथम् अत्र गम्यते ? । संसर्गरसनिष्पत्तेः, तत्र हि दधिपयसोः संसृष्टयोः रस उपलभ्यते, तेन तत्र दधिपयसी—इत्यनुमानं भवति, वाजिने तिक्तकटुको रसः ।

‘आह, तस्मै पयसि दधनि आनीयमाने उभयं भवति, दध्ना च पयः संसृज्यते वाजिनाश्च विविचरते, तत्र संसर्गश्चिकीर्षितो न विवेकः—इति, कुतः एतत् ?’ । उच्यते,—शाब्दः संसर्गो दध्ना, अशाब्दो वाजिनेन विवेकः पयसः—इति, सर्वनाम च पूर्वोक्तेन शब्देन एकवाक्यतां याति, इतरस्मिन्पक्षे पयसि दधानयनं वाजिनविवेकलक्षणार्थं स्यात्, श्रुतिलक्षणाविशेषे च श्रुतिन्याय्या । तस्मात् आमिच्छार्थं दधानयनम्, आमिच्छा-शब्दस्य अत्र अनुवादः, आमिच्छैव सा भवति, यत्र तस्मै पयसि दधानीयते । तस्मात् आमिच्छा प्रयोक्त्री, वाजिनम् अप्रयोजकम्—इति ॥

स मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च ॥ २४ ॥ (हे०) ॥

भा न च, उभयं प्रयोजकं न्याय्यं, न अत्र वचनमस्ति,—इदं प्रयोजकम् इदं न—इति, असति प्रयोजकेऽनर्थकं भवति—इति प्रयोजकं कल्पयते । तत्र एकस्मिन् अपि प्रयोजके सिद्धेऽर्थवति उपदेशे न अन्यदपि प्रयोजकं भवितुमर्हति, न च, न गम्यते विशेषः । कथं गम्यते ? । मुख्यशब्दाभिसंस्तवात्, मुख्यशब्दः संस्तोतुम् न्याय्यः—इति, प्राथम्यात् तस्य तावत् प्रयोजकत्व-ज्ञानं, तस्मिन् सति प्रयोजके, परिक्षतत्वात् आनर्थक्यस्य, न द्वितीयमपि प्रयोजकं, प्रथमा च आमिच्छा, द्वितीयं वाजिनम्, तस्मात् आमिच्छा प्रयोक्त्री ।

अपि च मुख्यशब्देन च, आमिच्छा स्तूयते,—‘मिथुनं वै दधि च शृतं च अथ यत् संसृष्टं मण्डमिव मस्तिव्व परि च ददृगे

भा. गर्भ एव सः?—इति, गर्भस्तुता आनिच्छा, मिथुनस्य च गर्भः प्रयोजको, न गर्भादकम् । तस्मादपि आनिच्छा प्रयोजिका—इति मन्यानहे । किं भवति प्रयोजनम्? । यदि उभयं प्रयोजकं, वाजिने नष्टे, पुनस्तप्ते पयसि दधि आनेतव्यम्, अथ वाजिनम् अप्रयोजकं, नष्टे वाजिने लोपो दधानयनस्य ॥ (४। १। ८ अ०) ॥

गवानयनस्य पदकर्माप्रयुक्तताधिकरणम् ॥

स पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात् ॥ २५ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘अरुण्या पिङ्गाध्यैकक्षायन्या सोमं क्रीणाति’—इति । तत्र इदमपरं श्रूयते,—‘पट्पदान्यनुजिष्कामति,’—इति, तथा, ‘सप्तमं पदं गृह्णाति’—इति । इदमपरं,—‘यर्हि हविर्ह्वाने प्राची प्रवर्त्तयेयुः तर्हि तेनाद्यमङ्गात्’—इति । तत्र सन्देहः,—किं सोमक्रयायानयनं पदपार्श्वार्थम्, उक्तं क्रयप्रयुक्तम्?—इति । किं प्राप्तम्?—नयनात् उभयं निष्पद्यते,—क्रयः पदं च, तस्मात् उभयं प्रयोजकम् । न हि गम्यते विशेषः—इति, तत् उक्तम्, “एकानिरपत्ते” सर्वं गर्भं स्यात्” (४। १। २२ सू०)—इति ।

एव प्राप्ते ब्रूमः,—‘पदकर्म अप्रयोजकम्’—इति । युतः? । यस्मात् नयनं क्रयार्थं, न हि, नयनमन्तरेण विशिष्टे देशे क्रय उपपद्यते, तस्मात् क्रयेण तावत् नयनं प्रयुक्तम्—इति गम्यते, क्रयप्रयुक्तं चेत्, न पदप्रयुक्तम् अपि भवितुमर्हति ।

अपि च. ‘एकक्षायन्याः पदपार्श्वयोः प्रक्षीतव्याः’—इति नास्ति शब्दः । ‘ननु प्रक्षीतैकक्षायनी पदपाशुप्रक्षणावाक्येन

भा. सम्भत्स्यते' । न—इति ब्रूमः,—‘एकहायन्या क्रीणाति’—
इति विशिष्टेन वाक्येन क्रये उपदिष्टा एकहायनी प्रकृतत्वात्
पदपांशुवाक्येन सम्बध्यते, प्रकरणाच्च वाक्यं बलीयः । अथ
इदानीम, एकहायनी क्रयणार्थं सङ्कीर्तिता सती सन्निहित-
त्वात् प्रसङ्गम् उपजीयता पदपांशुवाक्येन सम्बध्येत,—यासौ
परार्था, एतस्याः पदं ग्राह्यम्—इति । तस्मात् क्रयप्रयुक्तं
नयनम्, अप्रयोजकं पदम्—इति ।

किं पुनः, चिन्तायाः प्रयोजनं ? । यदि उभयम् एकहायनी-
नयनस्य प्रयोजकं, यदा एकहायन्याः सप्तमं पदं ग्राह्यं
निधीयते, तदा पुनः एकहायनी नीयेत सप्तमाथ पदाय,
यदा पदं न प्रयोजकं, तदा न एकहायनी पुनः षट्षदान्यनु-
निक्रामयितव्या—इति ॥ (४।१।८ अ०) ॥

कपालानां तुषोपवापाप्रयुक्तताधिकरणम् ॥

अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्त-
त्वात्तदर्थो हि विधीयते ॥ २६ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘कपालेषु पुरोडाशं अपयति’—
इति, तच्चा, ‘पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति’—इति । तत्र
सन्देहः,—किम् उभयं कपालानि प्रयोजयति,—पुरोडाशप्रपञ्चं
तुषोपवापश्च, उत अपण प्रयोजक, न तुषोपवापः ?—इति ।
किं प्राप्तम् ?—विनिगमनाया हेतोः अभावात् उभयम् ।

इति प्राप्ते उच्यते,—अर्थाभिधानं प्रयोजनसम्बद्धमभिधानं
यस्य, यथा पुरोडाशकपालम्—इति, पुरोडाशार्थं कपालं
पुरोडाशकपालम् । कथम् एतदवगम्यते ? । पुरोडाशः तावत्
तस्मिन् काले नास्ति, येन वर्तमानः सम्बन्धः कपालेन स्यात्,
तेनैव हेतुना न भूतः, स एष कपालस्य पुरोडाशेन भविष्यता

भा. सम्बन्धः, भविष्यता सम्बन्धश्च तन्निमित्तस्य भवति । तस्मात् पुरोडाशेन प्रयुक्तं यत् कपालं, तेन तुषा उपवस्रव्याः—इति । एवं च सति चरौ पुरोडाशाभावे यदा तुषानुपवस्रुम् कपालम् उपादीयते, न तत् पुरोडाशकपालं स्यात्, न चेत्, न तेन तुषा उपवस्रव्या भवन्ति । तस्मात् न तुषोपवापः कपालानाम् प्रयोजकः, प्रयोजकं तु अपणम्—इति ॥ (४।१।१० अ०) ॥

शृङ्खलोद्दितयोः पशावप्रयोक्तृत्वाधिकरणम् ॥

छ पशावनालम्भाश्लोहितशृङ्खलीरकर्मत्वम् ॥ २७ ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयः, तच्च श्रूयते,—‘हृद-
यस्य अग्नेःवद्यत्यथ जिह्वायाः’—इत्येवमादि, तथा, लोहितं
निरस्यति, शृङ्खलसंप्रविध्यति, स्थविमतो बर्हिर्लस्तापास्यति’—
इति । तच्च सन्देहः,—किं हृदयादिभिरवदानैः इज्या पशोः
प्रयोक्त्री, उत शृङ्खलसंप्रव्याधो लोहितनिरसनं च तदपि प्रयो-
जकम्?—इति । किं प्राप्तम्?—‘एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात्’,
(४।१।२२ सू०) उभयं प्रयोजकम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—पशौ शृङ्खलोद्दितयोः अप्रयोजकत्वं, न
हि, तदर्थः पशोरालम्भः, शृङ्खलसंप्रविध्यति लोहितमपास्यति—
इति उच्यते, न पशोः अन्यस्य वा—इति, पशुरग्नीषोमीयो
वाक्येन,—‘यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते’—इति,
शृङ्खलोद्दिते पशोः प्रकरणेन भवेता, प्रकरणं च वाक्येन बाध्यते ।
‘ननु एते शृङ्खलोद्दिते प्रतिपाद्येते, तेन यामार्गस्य पशोः न
अन्यस्य—इति निश्चयः’ । एवं चेत्, अप्रयोजके शृङ्खलोद्दिते
—इति । किं भवति प्रयोजनं? । साम्ये सति शृङ्खलोद्दिता-
भावेऽन्यः पशुरालम्भनीयः, शृङ्खलोद्दितयोरप्रयोजकत्वे लोपः ॥
(४।१।११ अ०) ॥

पुरोडाशस्य स्विष्टकृत्प्रयुक्तताधिकरणम् ॥

सू. एकदेशद्रव्यश्चोत्पत्तौ विद्यमानसंयोगात् ॥ २८ ॥
(सि०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘उत्तरार्द्धात् स्विष्टकृते समवद्यति’—
इति । तत्र सन्देहः,—किं पुरोडाशस्य आग्नेययागः प्रयोजकः,
स्विष्टकृत् अप्रयोजकः* उत उभयम्?—इति । किं प्राप्तम्?—
“एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात्”—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—एक-
देशद्रव्यस्य एवजातीयकोऽप्रयोजको भवेत् । कुतः?। ‘विद्य-
मानसंयोगात्’, न, एकदेशकर्म अवयविनं प्रयुङ्क्ते, विद्यमानस्य
अवयविनः एकदेश उपादातव्यः—इति, तत्र अर्थो भवति, न
अवयविनम् उपाददीत—इति, यथेक्षुखण्डम् अस्मै प्रयच्छ,
मोदकशकलम् अस्मै प्रयच्छेति, न इक्षुम् उपाददीत—इति
गम्यते, सत इक्षौ खण्डम् उपाददीत, सतो मोदकान्च्छकलम्
उपाददीत—इति । तस्मात् अन्याद्यं द्रव्यं तस्य उत्तरार्द्धात्
अवदेयम्, अस्ति चाश्रयः पुरोडाशः । तस्मात् स्विष्टकृत् अप्र-
योजकः—इति ॥

सू. निर्देशात्तस्यान्यदर्थोदिति चेत् ॥ २९ ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् पश्यसि,—अप्रयोजकः पुरोडाशस्य स्विष्टकृत्—
इति, नैतदेवम्, अग्निं प्रति निर्देशात् ‘तस्य’ (पुरोडाशस्य)
स्विष्टकृत्त्वार्थम् अन्यः पुरोडाश उत्पादयितव्यः, यस्य उत्तरार्द्धात्
स्विष्टकृदिज्यते, तस्य अग्नये सहस्रल्पितस्य नेष्टे यजमानः, कवम्
असौ तदन्यस्यै देवतायै दद्यात् । कवम् अग्निं प्रतिनिर्देशः?
—इति । इदं श्रूयते,—अङ्गिरसा वा इत उत्तमाः सुवर्गं लोक-

* स्विष्टकृदिज्या अप्रयोजिका इति क० सं० पु० पाठ ॥

भा. मायंस्ते यज्ञवास्तव्यायंस्ते पुरोडाशं कूर्मं भूत्वा सर्पं तमपश्यं-
स्तमब्रुवन् इन्द्राय धियस्व वृहस्पतये धियस्व आदित्याय*
धियस्व स नाधियत तमब्रुवन् अग्नये धियस्वेति सोऽधियत यदा-
ग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाचुततो भवति—
इति । तस्मात् तेन सिष्टकृतो न सग्वन्धः, एवं चेत् तस्मात्
अन्यत् द्रव्यम् अर्थात् उत्पादयितव्यं, न हि अनुत्पन्नस्य द्रव्यस्य
उत्तरार्द्धा† भवति—इति ॥

सू न शेषसन्निधानात् ॥ ३० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नेतदेवं सन्निहितो हि शेषः, यस्मिन् अनुत्पाद्यमानेऽर्थो
न सिध्यति, सोऽर्थादुत्पाद्यते । सन्निहिते च शेषे सति सिध्यति
उत्तरार्द्धात् ग्रहणम् । तस्मात् न अर्थात् द्रव्यम् उत्पादयितव्यं,
यदेव अन्यार्थे द्रव्यं सन्निहितं, तस्य एव उत्तरार्द्धाद्गृहीतव्यम्,
उत्तरार्द्धमात्रं हि सिष्टकृते श्रूयते न अनुप्य द्रव्यस्य—इति, न
च एतावता व्यवहारो भवति, सर्वो हि कस्यचित् उत्तरार्द्धः, स
एष सन्निहितमपेक्षते, सन्निहितं च परार्थं । तस्मात् परार्थात्
द्रव्यात् सिष्टादिज्या । अतश्चाप्रयोजिका—इति । यदुक्तम्,
अनीशा अनेन न शक्यं दातुम्—इति, तदुच्यते, वाचनिक एष
शेषप्रतिपादनार्थं उत्सर्गः, स शक्यः कर्तुम्, दानं हि उत्सर्ग-
पूर्वकः परस्य स्वत्वसग्वन्धः, स न शक्योऽनीशा अनेन ॥

सू. कर्मकार्यात् ॥ ३१ ॥ (यु० १) ॥

भा. कर्मनिमित्तञ्च सिष्टकृतो भागः—इति श्रूयते । कथं?।
'देवा वै सिष्टकृतम् अब्रुवन् इदं नो वहेति सोऽग्निवीरं हृष्टे

* अग्निव्यामिति क० सं० पु० पाठः ॥

† उत्तरार्द्धमिति आ० सो० पु० पाठः ॥

भा भागोनेऽस्त्विति वृणीष्व—इति अब्रुवन् सोमब्रवीत् उत्तरार्द्धादेव मद्य स्रष्ट्वस्रष्टवद्यात्—इति, कर्म कुर्वतो भागोऽयम् उत्तरार्द्धादिति स्तुतिर्भवति, यद्याग्रयस्योत्तरार्द्धादित्युच्यते, ततोऽस्ति कर्मार्थेन भागेन सादृश्यमिदं,—तदाग्रेय इदं यत् किं वद सोति, तत्र सति सादृश्ये स्तुतिरुपपद्यते, प्रयोजकत्वे चासति सादृश्ये स्तुतिसामञ्जस्य न स्यात् । तस्मात् अमयोजकं पुरोडाशस्य सिष्टकदाग—इति ॥

ख लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ३२ ॥ (यु० २) ॥

भा लिङ्गमपि भवति—‘तत् यत् सर्वेभ्यो हविर्भ्यं समवद्यति, तस्मात् इदमुदरे विश्वरूपमन्नं समवधोयते’—इति, यदि परार्थात् द्रव्यात् सन्निहितादिज्यते, तदा तत्सन्निधानाविशेषात् सर्वेभ्योऽवधीयते—इति उपपद्यते, प्रयोजकत्वे त्वेकस्मादेवावधीयेत । तस्मात् अपि अमयोजकः ।

तथेदमपरं लिङ्गं,—शेषात् इडामवद्यति शेषात् सिष्टहतं यजति—इति । ‘ननु अयं विधिः स्यात् । न—इति ब्रूम’,—न अयं विधिर्विभक्तिर्वर्तमानापदेशो हि अयम्—इति ॥ (४।१।१२ अ०) ॥

अभिधारणे शेषधारणतत्पावयोरननुष्ठानाधिकरणम् ॥

ख अभिधारणे विप्रकर्षादनुयाजवत्पात्रभेदः स्यात् ॥
३३ ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति वाजपेयो,—‘वाजपेयेन साराज्यकामो यजेत’—इति, तत्र श्रूयते,—‘सप्तदशं प्राजापत्यान् पशूनालभते, सप्तदशो वै प्राजापतिः प्राजापतेराग्नौ’—इति, प्राजापत्यानाम् क्रतुपशूना च समुद्यो वक्ष्यते,—‘‘प्राजापत्येषु चाग्नानात्’—इति । अस्ति

भा. तु प्रकृतौ, 'प्रयाजशेषेण हवींष्यभिधारयति'—इति । तत्र सन्देहः,—किं प्राजापत्यानाम् वषा अभिधारयितुम् प्रयाज-
शेषस्य धारणार्थं पात्रम् अपरम् उत्पादयितव्यं, ततः तेन प्राजा-
पत्यानां वषा अभिधारयितव्याः, उत न शेषो धारयितव्यः,
नैव ततः प्राजापत्यानां वषा अभिधारणीयाः—इति । किं
प्राप्तम्?—अभिधारणे प्रयाजशेषधारणार्थं पात्रम् उत्पाद्येत,
प्रातःसवने च प्रयाजशेषो विप्रहृष्टकाले माध्यन्दिने सवने, ब्रह्म-
सामकाले प्राजापत्यानामालम्भः श्रूयते,—'तान् पर्यग्रहृतान्
उत्पद्यन्ति, ब्रह्मसामग्यालभते'—इति, व्यापृता च जुहूर्भवति ।
तस्मात् पात्रान्तरम् उत्पादनीयम्—इति, यथा अनुयाजेषु
पृषदाब्ध्यधारणार्थं पात्रम् उत्पाद्यते, 'पृषदाब्ध्येनानुयाजान्
यजति'—इति वचनात्, एवमत्रापि—इति ॥

सू. न वाऽपात्रत्वाद्पात्रत्वन्त्वेकदेशत्वात् ॥ ३४ ॥
(सि०) ॥

भा. न वा प्राजापत्यानां वषा अभिधार्याः । कुतः? । शेषा-
भावात् । 'कथं शेषाभावः?—इति चेत् । अपात्रत्वात् ।
कथम् अपात्रता? । एकदेशत्वात्, प्रयाजार्थस्य हि गृहीतस्य
आज्यस्य स एकदेशः शेषः । किम् अतः? । यद्येवं, एकदेश-
व्यापारः श्रूयमाणो नावयविनमुपादेयत्वेन चोदयति ।

'आह, उत्पत्तिं न चोदयेत्, धारणम् उत्पन्नस्य अर्घात्
भविष्यति'—इति । उच्यते, एकदेशत्वात् अभिधारणं द्रव्यमेव
न प्रयुक्ते—इत्युच्यते, कृतार्थस्य द्रव्यस्य अयम् एकदेशः
प्रातिपाद्यते, न अभिधारणं अथेकमे । 'ननु हविषां, द्वितीया-
निर्देशात् प्राधान्यं स्यात्' । न—इति उच्यते, अदृष्टो हि
हविषाम् उपकारः कल्प्येत, आज्यप्राधान्ये पुनर्जुह्वा रिक्तत्वं
दृष्टं प्रयोजनम्, आश्रयभागार्थेन आज्येन अर्घसंगो, जुह्वा

भा रिक्तया प्रयोजनं, नाभिघृतेन हविषा । तस्मात् प्राजापत्या
नाम् अभिधारिताभिर्वषाभिः प्रयोजनमेव नास्ति, किमर्थं
शेषो धार्यते—इति ॥

स हेतुत्वाच्च सहप्रयोगस्य ॥ ३५ ॥ (हे० १) ॥

भा हेतुत्वाच्च अभिधारणस्य, सहालभते—इति स्तुतिर्भवति,
'तीर्थं वै प्रातः सवनं, यत् प्रातः सवने पशव आलभ्यन्ते, तीर्थे
एवेतानालभते, सयोनित्वायायो वषानाम् अभिघृतत्वाय'
—इति अर्थान्तरेण वषाभिधारणम् अनुगृह्यन् न इहास्ति—
इति दर्शयति ॥

स अभावदर्शनाच्च ॥ ३६ ॥ (हे० २) ॥

भा अभाव खल्वप्यभिधारणस्य दर्शयति,—'सव्या वा एतर्हि
वषा यर्हि अनभिघृता, ब्रह्म वे ब्रह्मसाम, यत् ब्रह्मसाम्यालभते
तेन असव्या, तेन अभिघृता—इति, सव्यशब्दो रूचे भाष्यते
सव्या वषा—इति अनभिघृतता दर्शयति ॥

स सति सव्यवचनम् ॥ ३७ ॥ (पू०) ॥

भा आह नेतर्दर्शनं, सति एव हि अभिधारणे भवत्येतत् सव्य
वचनम् अस्ति हि वषाया अन्यदभिधारणम्,—'उपरतृणा
त्याज्य हिरण्यशकलं, यषा हिरण्यशकलं ततोऽभिधारयति'—
इति, तस्मिन् सति कथं सव्या भवेयुः ? ब्रुते च तस्मात् नेतत्
शक्यम् अवगन्तुम् रूक्षास्ता वषा दृश्यन्ते—इति, तेन नूनम्
अभिधारणं प्रयोज्येष्टेणास्ति—इति, सत्यस्मिन् अभिधारणे
प्रत्यक्षे, रूक्षास्ता—इति दर्शनं व्यामोह—इति ॥

सू. न तस्येति चेत् ॥ ३८ ॥ (उ०) ॥

भा. एव चेत् दृश्यते,—‘सत्यभिधारणे सत्याः—इति वचनम् अलिङ्गम्—इति, न अलिङ्गं, तस्य एतद्वचनं, यत् स्नेह्यत्वं करोति । कतमत् तत् ? । यत् प्रथमं, प्रथमं हि स्नेह्यत्वं करोति, न द्वितीयं ; स्निग्धस्य तत् भवति, न च स्निग्धस्य स्नेह्यत्वं क्रियते, यथा भवति लोके वादो,—यत् अस्माभिः कान्तारान्नि-
गीतैर्देवदत्तस्य गृहे स्निग्धं भुक्तं, तेन वयमरूचाः कृताः—इति, सत्स्वग्न्येयु स्निग्धेषु एव भोजनेषु, एवं तस्य अरूच्यकरणस्य अभिधारणस्य अभावात् रूचाः—इति वचनम् उपपद्यते, अस्मिंस्तु सति नोपपद्यते । तस्मात् अपि प्रयाजशेषेणाभिधारणं प्राजापत्यानां नास्ति—इति ॥

सू. स्यात्तस्य मुख्यत्वात् ॥ ३९ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. (इदं पदोत्तर सूत्रं) । यदि प्रथमस्य अभावात् सत्याः—इति वचनं भवत्यनुपपन्नं, तर्हि अन्यस्य प्रथमस्य विद्यमानत्वात् । कतमत् तत् ? । यच्छ्रय्यमाणाया अपरमुद्भासितायाः । अत्र उच्यते,—‘स्यात् तस्य मुख्यत्वात्’, यत् प्रयाजशेषेणाभिधारणं, तस्य एव अभावात् एतदुपपद्यते, सत्यपि अप्यमाणाया अभि-
धारणे उद्भासितायाश्च, यत् तावत् अप्यमाणायाः, तत् अग्ने-
रर्चोऽपि दहन्ति, यत् उद्भासितायाः, तत् अग्न्यवयवा उपमा
वयवाश्च नाशयन्ति, ना एषा रूचैव, इदन्तु प्रयाजशेषेण*
शीतायाः क्रियते, तत् स्नेह्यति, तेन स्निग्धायाः प्रदानकालम
भिधारणं यत्, तत् न स्नेह्यति, तत् इदं स्नेहनस्य अभिधा-
रणस्य अभावात् सत्यतावचनम् उपपद्यते—इति उक्तं, तस्मात्
न प्रयाजशेषो धार्यते—इति ॥ (४।१।१३ अ०) ॥

* अनुप्रयाजशेषेणेति आ० सो० पु० पाठः ॥

समानयनस्याज्यधर्मप्रयोजकताधिकरणम् ॥

समानयनन्तु मुख्य स्यात् लिङ्गदर्शनात् ॥ ४० ॥

भा दर्शपूर्णमासयो श्रूयते,—‘अतिहायेडो बर्हि प्रति समान यति’—इति । तत्र सन्देहः,—किं समानयनमाज्यस्य धर्माणं च प्रयोजकम् उत अप्रयोजकम्?—इति । किं प्राप्ताम्?—अप्रयोजकम्—इति । कुत ? । प्रयाजानुयाजार्थस्य आज्यस्य अयम् एकदेश समानीयते—इति पूर्वेण न्यायेन अप्रयोजकता प्राप्ता तदुच्यते—मुख्य समानयन लिङ्गदर्शनात् । किं लिङ्ग ? । ‘चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति न हि अत्र अनुयाजान् यक्ष्यन् भवति—इति आतिथ्याया श्रूयते—यदि प्रयाजार्थं समानयन तत तत्रैकं चतुर्गृहीत समानीयते, एकम् अप्यनु याजाना भवति ततश्च आतिथ्येडा ता सन्तिष्ठते—इति अनु याजाभावे उपपत्तिरिति समानयनार्थम् एकं चतुर्गृहीतं ग्राह्यं न तु अनुयाजार्थम् । तत्र बद्धना चतुर्गृहीतानां दर्शनम् उपपद्यते इतरथा हि अनुयाजाभावे न एवोपपत्तिरिति चतुर्गृहीतं तत्र चतुर्गृहीतानि—इति बद्धवचनं नोपपद्यते तस्मात् प्रयोजकं समानयनम्—इति ।

‘ननु लिङ्गम् उपदिश्यते का प्राप्तिः ? । उच्यते—दृष्टं तत्र प्रयोजनं प्रयाजो द्वौ यष्ट्यौ तत्र जुक्ताम् आज्येन प्रयोजनं नोपपत्तिरिति रिक्तायाम् उपपत्तौ रेचनम् अदृष्टार्थं जुक्ता निधानं दृष्टार्थमेव तेन प्रयाजहोमार्थम् आज्यसमानयनमोपपत्तमाज्यं

* पश्चानां प्रयाजानां मध्ये तृतीयं प्रयाजं इदंशब्देन बद्धं वचनान्तेन अभिधीयते तं तृतीयप्रयाजमतिक्रम्य बर्हिनामकं चतुर्थं प्रयाजं होतुम् उपपत्तिसञ्ज्ञकायां भुवि स्थितं घृतं जुक्तमानेतद्यमिति माधवः ॥

भा. प्रयोजयति, तत् अपि हि प्रयाजार्थम् अनुयाजार्थञ्च—इति वक्ष्यते ॥

सू. वचने हि हेत्वसामर्थ्ये ॥ ४१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ कस्मात् न वचनमेतत्,—‘चतुर्गृहीतान्याज्यानि’—इति । उच्यते, वचने हि हेतुरसमर्थितः स्यात्, न हि अचानुयाजान् यक्ष्यन् भवति—इति, यदा समानयनं न प्रयाजार्थम्—इति गम्यते, ‘तदा वचनं, यदा वचनं, तदा न अनुयाजाभावो हेतुः, असति हेतौ, न हि अत्र अनुयाजान् यक्ष्यन् भवति’—इति हेतुवन्निगदो नोपपद्येत । तस्मात् प्रयाजार्थं समानयनं प्रयोजकम् औपभृतस्य आज्यस्य । किं भवति प्रयोजनं ? । प्रयाजार्थं समानयने यावत् प्रयाजार्थं, तावत् सर्वं समानेयम्, अर्हम् औपभृतस्य, अप्रयोजकत्वे न नियोगतोऽर्हं यावत् तावत् वा ॥ (४।१।१४ अ०) ॥

औपभृतजौहवयोः क्रमेणोभयानुभयार्थताधिकरणम् ॥

सू. तच्चोत्पत्तिरविभक्ता स्यात् ॥ ४२ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘चतुर्जुक्ता गृह्णात्यष्टावुपभृति गृह्णाति’—इति । तत्र सन्देहः,—किं जौहवमौपभृतं च उभयमुभयार्थं, प्रयाजेभ्यश्चानुयाजेभ्यश्च, उत जौहवं प्रयाजेभ्यः, औपभृतम् अनुयाजेभ्यः ? अथ वा औपभृतं प्रयाजेभ्योऽनुयाजेभ्यश्च ?—इति । किं प्राप्तम् ?—उभयमुभयार्थम् । कुतः ? । यद्यदाज्येन क्रियते, तस्मै तस्मै भवितुमर्हत्यविशेषात् ॥

सू. तत्र जौहवमनुयाजप्रतिषेधार्थम् ॥ ४३ ॥ (सि०) ॥

भा. नैवम्,—उभयमुभयार्थम्—इति, जौहवं प्रयाजार्थम्, औप-

भा भृतम् उभयार्थं । कथं ? 'यत् जुह्वा गृह्णाति ऋतुभ्य तत्
गृह्णाति ऋतवो वै प्रयाजा — इति जौह्ववचनम् अनुयाज
प्रतिषेधार्थं प्रयाजान् सङ्कीर्तयति ।

आह ननु नास्त्यवानुयाजप्रतिषेधार्थं वचनं यदेतत् प्रया
जेभ्य तत् गृह्णाति — इति प्रयाजेषु उपदेशकमेतत् नास्ति
अस्य अनुयाजप्रतिषेधे सामर्थ्यम् — इति । उच्यते — न ब्रूम
प्रतिषेधकमेतत् — इति । किं तु उत्पत्तिवाक्ये आज्यानां नैव
प्रयोजनाभिसम्बन्धः अनेन वचनेन प्रयाजप्रयोजनता क्रियते
जौह्वस्य अनुयाजप्रयोजनतास्य वचनाभावादेव न गम्यते
— इति अनुयाजप्रतिषेधार्थं वचनम् — इति उच्यते ॥

ख औपभृतं तथेति चेत् ॥ ४४ ॥ (आ०) ॥

भा इति चेत् दृश्यते — जौह्वम् अनुयाजेभ्य प्रतिषिध्यते
औपभृतम् उभयार्थम् — इति भवतु जौह्वं प्रयाजार्थं न तु
औपभृतम् उभयार्थं तदपि तथा स्यात् यथा जौह्वम् ।
कथम् ? एतदपि अनुयाजार्थमेव श्रूयते यत् उपभृति गृह्णाति
अनुयाजेभ्य तत् गृह्णाति छन्दासि हि अनुयाजा — इति ।
अनुयाजार्थतास्य — इति ॥

ख स्यात् जुह्वप्रतिषेधान्नित्यानुवादः ॥ ४५ ॥
(आ० नि०) ॥

भा नेतदेवम् — उभयार्थं हि औपभृतम् एव हि श्रूयते — यत्
अष्टावुपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्य तत् गृह्णाति — इति ।
ननु उक्तम् अनुयाजेभ्य तत् गृह्णाति — इत्यनुयाजार्थतास्य
— इति । उच्यते 'जुह्वप्रतिषेधात् नित्यानुवादः । उभयस्मिन्
(औपभृते जौह्वे च) उभयार्थं प्राप्ते जौह्वम् अनुयाजेभ्य
प्रतिषिद्धं नोपभृतं तत् औपभृतरस्य उभयार्थतायां सत्यामन

भा. याजार्थतावचनं नित्यानुवादो भवितुमर्हति, न शक्नोति प्रयाजार्थतां प्रतिषेद्धुम्, प्रत्यक्षयुता हि सा, तस्मात् औपभृतम् उभयायै । समानयनं च ततो जुकां श्रूयते, तस्मात् अपि प्रयाजार्थता न शक्या बाधितुम् ॥ (४।१।१५ अ०) ।

उपभृति द्विचतुर्गृहीताचरणाधिकरणम् ॥

स. तदष्टसंख्यं श्रवणात् ॥ ४६ ॥ (पू०) ॥

भा. 'अष्टावुपभृति गृह्णाति'—इति श्रूयते । तत्र सन्देहः,—किं तत् औपभृतम् आज्यम् अष्टसंख्येन ग्रहणेन संस्क्रियते, उत चतुःसंख्या गुणभूता द्वयोर्यहणयोः?—इति । किं तावत् प्राप्तं?—अष्टसंख्या गुणभूता, न चतुःसंख्ये द्वे—इति । कुतः? । श्रवणात् अष्टसंख्या श्रूयते, चतुःसंख्या अष्टसंख्यया लक्ष्यते, अति-लक्षणाविशेषे च अतिग्न्याख्या, तस्मात् अष्टसंख्यं ग्रहणमेतत्—इति ॥

स. अनुग्रहाच्च जौहवस्य ॥ ४७ ॥ (यु० १) ॥

भा. अनुग्रहवादश्च भवति,—'चतुर्गृहीतं वा एतदभूतस्य आचारमाधार्य चिरितः प्राचीनं प्रयाजान् यजति समानयते चतुर्गृहीतत्वाय'—इति चतुर्गृहीतानुग्रहः कथं स्यात्?—इति । 'किं चतुर्गृहीतं भवति समानयनेन?' । न—इति ब्रूमः, चतुर्गृहीतं प्रथममेव तत्, आधारेभ्योधारिते, यत् अवशिष्ट चतुःसंख्यमेव तस्य ग्रहणमासीत् । 'किं तर्हि चतुर्गृहीतत्वाय?'—इति । चतुर्गृहीतस्य अनुग्रहार्थम्, अल्पं हि चतुर्गृहीतं होमायापर्याप्तं, तत्पर्याप्तं कथं स्यात्?—इति । एवं चतुर्गृहीतशब्देन अल्पम्—इति लक्ष्यते, अल्पत्वं च बल्लव कस्यचित् अपेक्ष्य भवति, यदि हि औपभृतम् अष्टसंख्यमेवं ५३ १/२ ॥

भा अल्प भवति तच्च चतुर्गृहीतशब्देन अल्पता शक्यते लक्षयितुम् ।
तस्मात् अपि पश्याम — औपम्ये अष्टसंख्या गुणभूता—इति ॥

ख द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं श्रवणं च समानयने ॥ ४८ ॥
(सि०) ॥

भा तुशब्द पक्ष आकर्तयति द्वे एते चतुर्गृहीते एव हेतु
समर्थितो भवति आतिशयाया — 'चतुर्गृहीतानि आज्यानि
भवन्ति न हि अत्र अनुयाजान् यक्ष्यन् भवति—इति असत्
संयन्नुयाजेषु एतत् अष्टगृहीतमव औपम्ये भवेत् यदा
अष्टसंख्या गुणभूता न तदा द्वयो चतुर्गृहीतयो सतो चतु
र्गृहीतान् आज्यानि—इति यज्वचनम् आज्येषु उपपद्यते ।
तस्मात् चतुर्गृहीते द्वे—इति ।

आह लिङ्गमेतत् प्राप्तिश्चरताम्—इति । तत् अभिधीयते
अनारम्य उच्यते — चतुर्गृहीत जुहोति—इति सर्वहोमेषु
तेन प्रयाजानुयाजेष्वपि न तदष्टगृहीतेन शक्यते बाधितुम्
नानाविषयत्वात् अष्टगृहीत द्वि यक्षणे चतुर्गृहीत द्वि होमे
अस्ति द्वि सम्भवो यत् अष्टगृहीतं गृह्येत चतुर्गृहीतं ह्वयेत्
तदेतत् इह अष्टस्य यक्षणे भवति कथं द्वे चतुर्गृहीते होमे
सम्पादयेत् ? तस्मात् द्वे एते चतुर्गृहीते अष्टगृहीते गृह्यमाणे
गृह्येते चतुर्गृहीते द्वे न अगृहीत्वा अष्टगृहीतं कश्चित् सम्पा
दयेत् । तस्मात् द्वे एते चतुर्गृहीते—इति ।

अथ यदुक्तम्—अष्टगृहीत श्रूयते अतिशय लक्षणाया गरी
यसी—इति उच्यते—उक्तम् अस्माभि अष्टसंख्याया प्रयोजन
—कथं द्वे चतुर्गृहीते स्याताम्?—इति । अपि च अष्टावुप
म्येति गृह्णाति—इति उपम्येति समानीते द्वे चतुर्गृहीते कथं
स्याताम्?—इति इतरथाऽसत्यशब्दे नानापात्रयोर्गृह्येयाता
तस्मात् अष्टशब्दश्रवणम् अदीप, साध्येतत्—द्वे चतुर्गृहीते

भा. उपभृति—इति । प्रयोजनं, द्वयोः चतुर्गृहीतयोः सतोः समानयनेभ्यः समानेतत्त्वं भवति, अष्टगृहीते सति न नियोगतोभ्यः ; तथा, यत्र अनुयाजार्थं न यद्दणं, तत्राप्यष्टगृहीतं, यथा पूर्वः पक्षः ; यथा च सिद्धान्तः, तथा चातुर्नास्थेषु चतुर्गृहीतम् उपभृति भवति—इति ॥ (४।१।१६ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य
प्रथमः पादः समाप्तः ॥ प्रयोजकपादोभ्यन् ॥

चतुर्थे अध्याये द्वितीयः पादः ॥



स्वरोच्छेदनाद्यप्रयोजकताधिकरणम् ॥

स स्वरस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयो—‘यो दीर्घतो यदग्नी
षोमीयं पशुमालभते’—इति, तत्र इदमाग्नातम्,—‘खादिरे
वभ्राति, पालाशे वभ्राति, रोहिते वभ्राति’—इति, तत्सन्निधा-
विदमपरमाग्नायते,—‘खरुणा पशुमनक्ति यूपस्य खरम् करोति’
—इति ।

अथ इदानीम् इदं सन्दिश्यते,—किं भेदेन यूपात् खरः
उत्पादयितव्यः, उत यूपं क्रियमाणमनुनिष्पन्नः शकलो गृह्यो-
तव्यः?—इति । तत्र इदं तावन्नः परीक्ष्यं, किं छेदनाद्युत्पत्तेः
प्रयोजकः खरः, उत अप्रयोजकः? । प्रयोजकः चेत्, भेदेन यूपात्
निष्पाद्येत, न चेत् प्रयोजको, यूपं निष्पद्यमानमनुनिष्पन्नः
शकलो ग्रहीष्यते—इति । ‘स कथं प्रयोजकः स्यात्? कथं वा
न प्रयोजकः?’—इति । यदि एषा वचनव्यक्तिः,—खरशब्दवाच्य
भाव्यते । कथं? । जोषणादिना इतिकर्तव्यताविशेषेण—इति,
ततः,—‘खरुणा पशुमनक्ति’—इति, स खरारत्यवगतो ग्रही-
ष्यते, ततः प्रयोजकः । अथैवं विज्ञायते,—‘खरुणा पशुमनक्ति’
—इति अनवगतः खरः, एतावदस्य विज्ञायतेऽङ्गनं तेन क्रियते
—इति, इदमपि,—‘यूपस्य खरम् करोति’—इति यूपैकदेशं
खरकर्मज्ञाने विनियुङ्क्ते—इति ततोऽप्रयोजकः ।

किं तावत् प्राप्तम्?—‘खरः त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात्’,
खरं यपेनेकनिष्पत्तिः स्यात्, यूपम् अनपेक्षमाणस्य खरोर्जा-

भा. यणादिना उत्पत्तिः। कुतः?। 'स्वकर्मशब्दत्वात्',—स्वो हि
 अस्य कर्मशब्दः स्वरुताया विधायको भवति, 'स्वरम् करोति'—
 इति, एवं च यूपकाष्ठावयवस्य स्वरुत्वं क्रियते—इति, 'यूपस्य
 स्वरम् करोति'—इति लक्षणया यूपशब्दः, खदिराद्यवयवस्य—
 इत्यर्थः। कुतः?। स्वरुत्वभावना हि श्रुत्या गम्यते,—'स्वरम्
 करोति'—इति स्वरम् उत्पादयति—इति, यूपावयवोपादानं
 वाक्येन, वाक्याच्च श्रुतिर्बलीयसी—इति। तस्मादेवं सति न
 नियोगतो यूपकाष्ठादेव स्वरः उत्पादयितव्यः, निरपेक्षात्
 अन्यस्मात् अपि वृक्षात् कर्तव्यो भेदेन—इति ॥

सू. जात्यन्तराच्च शङ्कते ॥ २ ॥ (यु०) ॥

भा. इतश्च निरपेक्षस्य स्वरोरुत्पत्तिः—इति गम्यते। कुतः?।
 जात्यन्तरात् अपि आशङ्का भवति, (वृक्षान्तरात्)। कथं?।
 'न अन्यस्य स्वरम् कुर्यात्, यदि अन्यस्य वृक्षस्य स्वरम् कुर्यात्,
 अन्येभ्यः लोकमन्वारोहेयुः, यूपस्य स्वरम् करोति'—इति। न
 हि यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणे जात्यन्तराशङ्काभवकल्पते, यूप-
 शक्यो हि स्वरकार्यं तदानीं विनियुज्येत। तस्मात् अपि भेदेन
 यूपात्, स्वरः उत्पादयितव्यः—इति ॥

सू. तदेकदेशो वा स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ ३ ॥ (सि०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। यूपैकदेशो हि यूपमनुनिष्पन्नः
 शक्यो ग्रहीतव्यः—इति। कस्मात्?। एवमाग्नायते,—'यदि
 अन्यस्य वृक्षस्य स्वरम् कुर्यात्, अन्येभ्यः लोकमन्वारोहेयुः,
 यूपस्य स्वरम् करोति'—इति, न च, अत्र अयमर्थो विधीयते,—
 स्वरम् उत्पादयति—इति। किं तर्हि?। स्वरकार्यं कर्तुम् यन्
 उत्पादते, तं यूपात्—इति। कुतः?। 'स्वरुत्वस्य तन्निमित्त-
 त्वात्, स्वरुत्वम् अत्र श्रूयते स्वरौ, 'यूपस्य स्वरम् करोति'—

भा इति । कस्य आत्मीयः?—यूपस्य इति, आत्मीयस्य समुदायस्य एकदेशो भवति, तस्मात् इदम् उच्यते,—अग्निं यष्टी पञ्चम्यर्थे भवति, यथा, शाकस्य देहि शाकात् देहि—इति, तथा कश्चित् तृतीयार्थे, घृतस्य यजति, घृतेन यजति । पञ्चम्यर्थे, घृतात् यजति, घृतस्य यजति—इति । द्वितीयार्थे वा, सोमस्य पिबति, सोम पिबति, सोमात् पिबति—इति ।

‘ननु उक्तं,—यूपावयवोऽत्र वाक्येन विधीयते, श्रुत्या खरो उत्पत्तिः, श्रुतिस्य वाक्यात् वलीयसी—इति । उच्यते,—सत्यम् एव, ‘यूपस्य—इति तु शब्दोऽविवक्षितार्थो भवति, तत्र श्रुति अपि बाध्यते, वाक्यमपि, न तु अस्मात्पक्षे किञ्चित् अविवक्षितार्थं, ‘खरम् करोति—इति स्वार्थ एवानुवादो भविष्यति—इति, यूपशकलो विधायिष्यते, खरशब्दश्चाङ्गनार्थेन शकले उपचरित—इति गम्यते अवयवप्रसिद्धिश्चेतनर्थं गमयिष्यति भवति हि ब्राह्मण,—‘अथ कस्मात् खरनाम? एतस्मात् वेषोऽवच्छिद्यते, तदस्यैतत् समिवाहर्भवति, तस्मात् खरनाम—इति ॥

ख

शकलश्रुतेश्च ॥ ४ ॥ (यु० १) ॥

भा इतश्च यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणम् । कुत ? । ‘शकलश्रुते शकलश्रुतिर्भवति खरो,—‘य प्रथमं शकलं परापतेत् स खरं कार्यं—इति शकलस्य एकदेश एकदेशस्य अग्रयोजक, सम्बन्धिशब्दत्वात् तावता च व्यवहारात् समुदायापेक्षिण, नच प्रकरणात् अन्यार्थेन खदिरादिना जोषणादिकर्मविशिष्टेन यागार्थेन प्रकृतेन अस्य एकवाक्यता—यूपाय खदिरादि जोषयते, क्षिन्ति, तर्जति च तत्र य शकलं प्रथमं परापतितस्त च खरमङ्गनार्थं करोति—इति, खरशब्दश्च तत्र अनुवदन्नेव उपचरति । तस्मात् नैतदस्ति,—पृथङ्निष्पत्तिः खर—इति,

भा. येन अन्यस्मात् अपि वृत्तात्—इति शङ्कते । तस्मात् जात्य-
न्तराशङ्कावचनं नित्यानुवादो यूषशकलस्तुत्यर्थः ॥

सू. प्रति-यूपं च दर्शनात् ॥ ५ ॥ (यु० २) ॥

भा. इतश्च न पृथङ्निष्पत्तिः स्वरः । कुतः ? । एकादशिन्यां,
'प्रति-यूपं च दर्शनात्', यथा, 'अनुपूर्वं स्वरभिः पञ्चन् समज्य
मध्यमे रशनागुणे स्वे स्वे स्वं स्वं यूषशकलम् उपगूहति'—इति
स्वरवज्जत्वं दर्शयति, यदि च स्वरः पृथङ्निष्पत्तिः स्यात्, एक
एवैकादशिन्यां तत्वेण कार्यं साधयेत् । यूपमनुनिष्पन्नस्य तु
ग्रहणे प्रकृतौ स्वयूपशकलेन अङ्गनं कृतम्—इति एकादशिन्या-
मपि चोदकः स्वयूपशकलमेव प्रापयति—इति वज्जत्वम् उपपन्नं
भवति, स्वयूपशकलग्रहणं च प्राकृतस्य ग्रहणात् अध्ववसीयते,
यादृशोऽसौ प्राकृतः, तादृशोऽसौ ग्रहीतव्यो न विशिष्टः—इति ।
तस्मात् स्वररूपत्वेन प्रयोजकः—इति ॥

सू. आदाने करोतिशब्दः ॥ ६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—उत्पत्तिरस्य शब्देन उच्यते,—'स्वरम् करोति'
—इति, एवं च करोतिशब्दोऽवकल्पिष्यते—इति । उच्यते,—
आदाने करोतिशब्दो भविष्यति, 'स्वरम् करोति',—स्वरमादत्ते
—इति, यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोति—इति
आदाने करोतिशब्दो भवति, एवमिहापि द्रष्टव्यम् ॥

पूर्वाधिकरणस्य सङ्क्षेपार्थं ॥

ख स्वरस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात्* ॥ १ ॥
(पू०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे यस्मि अग्नीषोमीय, तच्च श्रूयते,—‘स्वरणा यस्मि मनक्ति’—इति । अथ एष सन्देहः,—किं स्वर उत्पत्तिं प्रयोजयति, उत यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणम्?—इति । किं प्राप्तम्?—‘स्वरस्त्वनेकनिष्पत्तिः’ स्यात् प्रयोजयत्युत्पत्तिम्—इति । कुत ? । सोऽस्य कर्मशब्दो भवति, स्वरम् करोति—इति स्वरमुत्पादयतीत्यर्थः । एव चेत् उत्पत्तिरस्य शब्दवती । तस्मात् न एकया निष्पत्त्या यूपश्च स्वरश्च निष्पाद्यते—इति ॥

ख जात्यन्तराच्च शङ्कते ॥ २ ॥ (यु०) ॥

भा यदि यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणं भवेत् यूपकाष्ठस्य एव स्वरः स्यात् अन्यद्वचाशङ्का नोपपद्येत, भवति च, ‘यदि अन्यस्य वृक्षस्य स्वरम् कुर्यात् अन्येऽस्य लोकमन्वारोहेयुर्यूपस्य स्वरम् करोति’—इति, तस्मादपि यस्याम,—प्रयोजकः स्वरः—इति ॥

ख तदेकदेशो वा स्वरत्वस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ ३ ॥
(सि०) ॥

भा यूपमनुनिष्पन्नो वा गृह्येत स्वरः, तदेकदेशो हि एष, यष्टी निर्देशात्—यूपस्य स्वरम् करोति—इति, यदि हि वेदनम् उभयार्थं स्यात्, न स्वरयूपयोः कश्चित् सम्बन्धो भवेत् तच्च यष्टी नोपपद्येत, अस्ति तु यष्टी । तस्मात् यूपैकदेशः स्वरः,

* ‘व्याख्यानान्तरं तु विस्तरोक्तस्य सङ्क्षेपमाचार्यं हतं भाष्यं कारेति न व्याख्यायते’ इति तत्परममन्वानुसन्धेयम् ॥

भा अयययो यूपस्य, स्वरुर्नामैकदेशः कर्त्तव्यः, यथा पुरोदाशमफलम्
—इति ॥

स शकलश्रुतेय ॥ ४ ॥ (यु० १) ॥

भा. शकलश्रुतित्वं भवति, 'यः प्रथमः शकलः परापतेत्, स स्वरुः
कार्यः'—इति, एकदेशात् अययययो भवति, न एकदेशे श्रुय-
माणे अयययो कर्त्तव्यः—इति शब्दो भवति, विद्यमानस्य अय-
ययिन एकदेशो गृह्यते, तस्मात् अपि अययययः ॥

स प्रति-यूपं च दर्शनात् ॥ ५ ॥ (यु० २) ॥

भा. प्रति यूपं च तनु अपि स्वरुवो दृश्यन्ते, एकादशिन्यां, यथा,
—'अनुपूर्वं स्वरुभिः पशून् समन्वय मथमे रश्नागुणे स्वे स्वे
स्वं स्वं यूपशकलम् उपगूहति'—इति, स यदि, स्वरुमान् यूपः
कार्यः—इत्यर्थः 'स्वरुम् करोति'—इति, ततो वरुणां स्वरुणां
दर्शनम् उपपद्यते । प्रयोजकत्वे स्वरुः,—एक एव समञ्जनार्थं
स्वरुः उत्पाद्यते । तस्मात् अययययः—इति ॥

स आदाने करोतिशब्दः ॥ ६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अय यदुक्तम्,—उत्पत्तिः अस्य शब्देनाभिधीयते—'स्वरुं
करोति'—इति, करोतिशब्दश्चावकस्मिप्यते—इति । उच्यते,
—आदाने करोतिशब्दः भविष्यति,—'स्वरुं करोति'—इति
स्वरुमादत्ते—इति, यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोति
—इति आदाने करोतिशब्दः भवत्, एवम् इष्टाणि द्रष्टव्यम् ॥
(४।२।१ अ०) ॥

शाखाया आहार्यताधिकरणम् ॥

स

शाखायां तत्प्रधानत्वात् ॥ ७ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते, शाखामधिल्लत्य,—‘प्राचीमाहुरत्यु-
दीचीमाहुरति प्रागुदीचीमाहुरति’—इति । तत्र सन्देहः,—
किमयं दिग्वादः, उत शाखावादः?—इति । दिग्वादः—इति
प्राप्तम्, तथा श्रुतिशब्दः, शाखावादे लक्षणा—इति । तस्मात्
दिग्वाद—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—शाखावादः—इति । कुतः ?
यदि तावत् अयमर्थः,—प्राची दिगाहर्त्तव्या—इति, ततः,
अशक्योऽर्थः, अथ प्राचीन्दिशं प्रत्याहरणीयेति, ततः का आह
र्त्तव्या?—इति, वाक्ये शाखाशब्दस्य अभावात् अनुपपन्नोऽर्थ
सम्बन्धः । अथ प्रकृता शाखा—इति, ततः प्राचीशब्देन तस्या
एवाभिसम्बन्धो न्यायः । कुतः ? । प्रत्यक्षा हि प्राचीशब्देन
हरतेः एकवाक्यता, प्रकरणात् शाखाशब्देन भवेत्, उभयथा
अथ प्राचीशब्देः लक्षण्या प्रकृता वा शाखां लक्षयेत्, दिशो
वा अनीप्सितत्वात्, विहारदेशमीप्सिततमयुक्तम्* ।

अपि च, प्राची—इति सम्बन्धिशब्दोऽर्थः, सम्बन्धिशब्दाच्च सर्व
सापेक्षाः, विना पदान्तरेण, न परिपूर्णम् अर्थमभिवदन्ति, सा-
मान्यपदार्थसम्बन्धे च संख्यवहारानुपपत्तिः, सर्वस्य एव देशस्य
कुतश्चित् प्राग्भावात् । तथा शाखाशब्दोऽपि सम्बन्धिशब्दः
‘वृक्षस्य’—इत्येतत् अपेक्षते, यदा वृक्षस्य—इत्येतत् अपेक्षते,
तदा वृक्षस्य शाखा प्राची उदीची प्रागुदीची वा—इति भवति
सम्बन्धः, तथा च संख्यवहारोऽवकल्पते । यत्तु शाखावादे

* “दिशो वाऽनीप्सितत्वादित्ययं हेतुः, यस्माद्दिगनीप्सिता
तस्मात् विहारदेश वा लक्षयेत् शाखा चा” इति वार्तिकम् ॥

भा. लक्षणा—इति, उच्यते,—भवति लक्षणयापि शब्दार्थः । तस्मात्
शाखावादः—इति ॥ (४।२।२ अ०) ॥

छेदनस्य शाखामयुक्तताधिकरणम् ॥

सू. शाखायां तत्प्रधानत्वादुपवेपेण विभागः स्याद्वैषम्यं
तत्* ॥ ८ ॥ (सि०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः समाग्नयते,—‘मूलतः शाखां परिवारस्योप-
वेपं करोति’—इति । तत्र अयमर्थः सांशयिकः, किं शाखा-
छेदनस्य उभयं प्रयोजकं, शाखा उपवेपस्य उत शाखा प्रयो-
जिका उपवेपोऽनुनिष्पादी?—इति । किं प्राप्तम्?—उभयं
छेदनात् निष्पद्यते, शाखा शाखामूलं च, उभयं च प्रयोजनवत्,
अपेक्ष वत्सापाकरणादि करिष्यते, मूलत उपवेपः, तेन विज्ञेया-
भावात् उभयं प्रयोजकम् ।

इति प्राप्ते उच्यते,—‘शाखायां’ ब्रूमः, ‘तत्प्रधानत्वात्’
(शाखामधानत्वात्) ‘उपवेपेण विभागो’ भवेत्, शाखामनु-
निष्पन्नः गृह्येत । कथं तत्प्रधान्यं? । ‘शाखां परिवारस्य’—
इति द्वितीयानिर्देशात् । ‘ननु ‘उपवेपं करोति’—इत्यपि
द्वितीया’ । उच्यते,—न असौ परिवारस्यतेः कर्म । कस्य
तर्हि? । करोतेः ।

‘आह, कस्मात् एवम् अभिसम्बन्धो न भवति,—शाखां परि-
वारस्य मूलत उपवेपं करोति—इति, शाखाशब्दस्य यथैव अपे-
क्षया मूलस्यपि, तत्र अयमर्थः,—छेदनेन अयमूले विभजेत् ।

* ‘वैषम्यं तत्’ इति का० सं० पु० नास्ति ।

† “येयं पलाशशाखां हित्वा वृक्षादाहृता,
भागः प्रादेशपरिमितः उपवेपः कार्यः” इति

भा. किं प्रयोजनं?। विमज्ज मूलम्, उपवेधं करिष्यामि—इति।
उच्यते,—नैवं, व्यवहितकल्पना हि एवं भवेत्, अव्यवधानेन
शाखार्थे परिवासनं, वृत्ते तस्मिन् उपवेधकरणम्।

‘ननु प्रकृतत्वात् मूलम् उपवेधशब्देन सम्बध्यते’। उच्यते,
उभयसम्बन्धे विरोधः, विरोधे च प्रकरणात् वाक्यं बलीयः।
अथ सन्निहितेन सम्बध्यते, तथापि शाखाप्रयुक्तेन—इत्यापतति,
सिद्धमेव,—उपवेधो न प्रयोजयति ह्येदनम्—इति, एतत् अत्र
वैयर्थ्यम्॥

सू.

श्रुत्यपायाच्च ॥ ८ ॥ (यु०) ॥

भा. ‘शाखया वत्सानपाकरोति, शाखया गाः प्रापयति, शाखया
दोहयति’—इत्येवमादिषु शाखाग्रहणेषु न उपवेधस्य व्यापारः
ततः शाखाशब्दोपैति, न हि तत्मूलं शाखेत्याचर्जने। किमतः?।
यत्रैवं यत्र शाखाशब्दः, तदर्थं ह्येदनं, द्वितीयानिर्देशात्। अथापि
मूले शाखाशब्दो भवेत्, एवमपि शाखाशब्दोपदिष्टेषु न मूलम्,
अमूलपरिवासितत्वात्, यच्चैवं संस्कृतया शाखया क्रियते, तदर्थं
ह्येदनं, न च उपधानं मूलपरिवासितया क्रियते। तस्मात् न
तदर्थं ह्येदनं। किं भवति प्रयोजनं?। पौर्णमास्यामपि शाखा
उत्पाद्या, यथा पूर्वः यच्चः; यथा सिद्धान्तः, तथा न उत्पादयि-
तया—इति ॥ (४।२।२ अ०) ॥

शाखाग्रहणस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम्॥

घ हरणे तु जुहोतिर्योगसामान्यात् द्रव्याणां चार्थशेष-
त्वात् ॥ १० ॥ (यू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः आमनन्ति,—‘सह शाखया प्रतरं प्रहरति’
—इति। तत्र सन्देहः,—किं शाखाग्रहणं प्रतिपत्तिकर्म, उत

भा. अर्थकर्म?—इति । किं प्राप्तं?—‘हरणे तु जुहोति’ स्यात्, अर्थकर्म—इत्यर्थः । कुतः?। ‘योगसामान्यात्’, योगोऽस्याः समानः प्रस्तरेण, ‘सह शाख्या प्रस्तरं प्रहरति’—इति, सहयोगे यत्र तृतीया, तस्य गुणभावो, यत्र द्वितीया तस्य प्राधान्यं । प्रस्तरे च विस्पष्टो यजिः, शाखापि तस्मिन् एव यजौ प्रस्तरस्य विशेषणं, समानयोगित्वात् ।

आह, ‘ननु तत्र तत्र गुणभूता शाखा, तस्याः प्रतिपत्ति-
न्याय्याः, इतरथानेकगुणभावः प्रसज्येत’—इति । उच्यते,—
‘द्रव्याणां च अर्थशेषत्वात्’ उत्पत्त्या चिकीर्षितस्य शेषभूतान्येव
द्रव्यानि उपदिश्यन्ते, ‘भूतं भव्यायोपदिश्यते’ (२।१।४ सू०
भा०)—इति । तस्मात् अनेकगुणैव द्रव्याणां न्याय्या—इति ॥

स प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥ ११ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘प्रतिपत्तिर्वा’ शाखाप्रहरणं, ‘शब्दस्य तत्प्रधानत्वात्’, शब्दः
अत्र शाखाप्रधानः । कथं?। द्वितीयाश्रयणात् । ‘ननु अन्यत्र
एव सा द्वितीया,—प्रस्तरे, न शाखायाम्’ । उच्यते, प्रस्तरे
द्वितीयार्थः शाखायामपि । कथं?। तुल्ययोगात् सह शाख्या,
एवं प्रस्तरः प्रहृतो भवति, यदि शाखापि प्रह्रियते; तेन
तुल्ययोगे सहशब्दोऽर्थः, यदि प्रस्तरः प्रहरणे प्रधानं, शाखापि
प्रस्तरविशेषणं, तर्हि तुल्ययोगः, तस्मात् यः प्रस्तरे द्वितीयार्थः,
स शाखायाम् अपि, अतः शाखा प्रधानम् । अपि च, तत्र
तत्र शाखा गुणभूता, तस्यामन्यत्र उपदिश्यमानायाम् अनेक-
गुणभावः । ‘तत्र को दोषः?। दृष्टं कार्यं हित्वा अदृष्टं
कल्पयेत् । हतप्रयोजनायाः शाखाया अपनयनेन वेदिविच-
नात्* सूत्रप्रचारे दृष्टं कार्यं, न तु प्रहरणे किञ्चित् सूक्ष्ममपि
दृष्टमस्ति, तस्मात् प्रतिपत्तिर्न्याय्या ।

भा. आह,—‘ननु तृतीयाश्रवणात् परार्थेन शाखोच्चारणेन भवितुं न्याय्यम् । उच्यते, भवेत् एतत् न्याय्यं, यदि निश्चातकाला शाखा स्यात्, ततः प्रस्तरस्य कालपरिच्छेदाय कीर्त्यमाना परार्था उच्चार्येत, इह पुनः एतद्विपरीतम्,—निश्चातकालः प्रस्तरोग्निश्चातकाला शाखा । तस्मात् सत्यपि तृतीयाश्रवणे प्रस्तर एव शाखायाः कालं परिच्छेत्स्यति, यथा द्वितीया-निर्दिष्टः, तथा शाखा द्रष्टव्या, यथा तृतीयानिर्दिष्टा, तथा प्रस्तरः ; सामर्थ्यं हि बलवत्तरम्—इति ॥

स. अर्थोऽपीति चेत् ॥ १२ ॥ (आ०) ॥

भा. आह,—ननु गुणभावेषु द्वितीया भवति, यथा सक्तु मास-तैककपालेषु ॥

स. न, तस्यानधिकारादर्थस्य च कृतत्वात् ॥ १३ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. नैतत् सङ्गादिभिः तुल्यं, ‘तस्य’ सङ्गादेः अन्यत्र ‘अनधि-कारात्’, इह च शाखया अन्यस्य ‘अर्थस्य कृतत्वात्’ वत्सापा-करणादेः । आह,—‘ननु पुनरुक्तमेतत् सङ्गादीनां प्रदर्शनं समाधिर्य’—इति । उच्यते,—न पुनरुक्तता महान् दोषः, ब्रह्महत्वोऽपि यथ्यं वेदितव्यं भवति, यन्मन्त्रेण पुनरुक्तं नेच्छन्ति, अर्थापहृष्टास्तु विन्यतः पुनःपुनः अभिधीयमानं ब्रह्म मन्यन्ते एव । किं चिन्तायाः प्रयोजनं ? । यदि अर्थकर्म, पौर्णमास्यामपि शाखोत्पाद्या, अथ प्रतिपत्तिर्नोत्पादयितव्या—इति ॥ (४।२। ४ अ०) ॥

निनयनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥

ख उत्पत्त्यसंयोगात्प्रणीतानामाज्यवद्विभागः स्यात् ॥

१४ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोराम्नायते,—‘अपः प्रणयत्यापो वै अद्वा अद्वा-
मेवाक्षभ्य यजते’—इति, उभयत्र च प्रणीतानां व्यापारः,—
‘प्रणीताभिर्हवीषि संयौति’—इति, तथा, ‘अन्तर्वेदि प्रणीताः
निनयति’—इति । अत्र सन्देहः,—किम् उभयम् आसां प्रयो-
जकं संयवनं निनयनं च, उत संयवनार्थानां निनयनं प्रति-
पत्तिः?—इति । किं प्राप्तम्?—उत्पत्तिसंयोगो नासां केनचित्
प्रयोजनेन, उभाभ्याम् उत्पन्नानां संयोगः, तस्मात् न गम्यते
विशेषः, अगम्यमाने विशेषे उभयार्थानां विभागोऽयं, कश्चित्
यागः संयवने कश्चित् निनयने—इति, ‘आज्यवत्’, यथा
‘सर्वस्मै वा एतत् यज्ञाय गृह्यते यत् ध्रुवायाम् आज्यम्’—
इति ॥

ख. संयवनार्थानां वा प्रतिपत्तिरितरासां तत्प्रधान-
त्वात् ॥ १५ ॥ (सि०) ॥

भा. संयवनार्थाः प्रणीताः । कुतः ? । तृतीयानिर्देशात्, संयवनेऽपि
गुणभावो, द्वितीयानिर्देशाच्च निनयने प्राधान्यं । चिन्तायाः
प्रयोजनं,—पुरोडाशाभावे प्रणीतानामभावो यथा पयस्या-
याम् ॥ (४।२।५ अ०) ॥

दण्डदानस्यार्थकर्मताधिकरणम् ॥

स प्रासनवन्मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानं कृतार्थ-
त्वात् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रामत् यज्ञायातिष्ठ-
माना सा वनस्पतीन् प्राविशत्सैषा वाक् वनस्पतिषु वदति,
या दुन्दुभौ या च तूणवे या च वीणायां, यत् दीचिताय
दण्डं प्रयच्छति वाचमेवावरुन्मे, क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं
प्रयच्छति’, ‘मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति’—इत्येतत् उदाहरणं।
तत्र संशयः,—किं दीक्षितधारणे श्रेयभूतस्य दण्डस्य मैत्रावरुण
धारणं प्रतिपत्तिः, अथवा अर्थकर्म?—इति । किं प्राप्तम्?—
‘मैत्रावरुणाय दण्डदानं’ प्रतिपत्तिः । कुतः? दीक्षितधारणे
‘कृतार्थत्वात्’, ‘दण्डेन दीक्षयन्ति’—इति श्रेयभूतस्य अन्यव
च्यपारः प्रतिपत्तिर्न्याय्या, यथा, ‘चात्वात्से ह्येष विषाणां प्रा
स्यति’—इति कण्डूयने श्रेयभूतायाः प्रासनं प्रतिपत्तिः, एवम्
अत्रापि द्रष्टव्यं । द्वितीया च दण्डे विभक्तिः । तस्मात् प्राधान्यम्
—इति ॥

स अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात् स्वत्वत् ॥ १७ ॥ (सि०)

भा ‘अर्थकर्म वा’ स्यात् । कुतः? ‘कर्तृसंयोगात्’, कर्तृसंयोगो
भवति, ‘मैत्रावरुणाय दण्डम्’—इति कर्तृदण्डसंयोगो भवति,
तस्मिन् दण्डो गुणभूतः, पुरुषः प्रधानभूतः, पुरुषं हि स प्रचरितुं
समर्थं करोति । कथं? यथा पूर्व तमोऽविगाहतेऽपः* सर्पति गा
च सर्पे च वारयति अवलम्बनं च भवति, अतः पुरुषप्राधान्यात्
न प्रतिपत्तिः; ‘स्वत्वत्’ द्रष्टव्यं, यथा ‘सजमुद्गात्रे ददाति’—

भा. इति असत्यप्युपकारे पुरुषस्य प्रयोजनवत्त्वात्, निष्प्रयोजन-
त्वाच्च स्वजः, भवति पुरुषप्राधान्यम्, एवम् इच्छापि द्रष्टव्यं ।
तस्मात् न प्रतिपत्तिः—इति ।

अथ यदुक्तं,—द्वितीयाश्रवणात् दण्डप्राधान्यम्—इति ।
उच्यते,—“तथा युक्तं चानीप्सितम्”—(१।४।५ पा० सू०)
इति द्वितीया द्रष्टव्या । कुतः? मैत्रावरुणे चतुर्थीनिर्देशात्,
सम्प्रदाने हि चतुर्थी भवति, सम्प्रदानं च कर्मणा अभिप्रेयते,
तत्र दण्डादभिप्रेततरो मैत्रावरुणः—इति गम्यते ॥

स कर्मयुक्ते च दर्शनात् ॥ १८ ॥ (यु०) ॥

भा. ‘दण्डो प्रेषानन्वाह’ इत्यनूद्यते, तेन प्रचरतो दण्डं प्रदर्श-
यति । तत् अर्थकर्मणि सति उपपद्यते, प्रतिपत्तौ तु दण्डो
मैत्रावरुणाय दत्तस्ततोऽपवृज्येत, दत्तं च कर्तव्यम्—इति न तेन
प्रयोजनम्—इति न धार्येत, तत्र एतद्दर्शनं नोपपद्यते, तथा
‘अहिस्त्वां दशति—इति मैत्रावरुणं ब्रूयात् अहिरिव क्षेपः’—
इति, तथा, ‘मुशस्यन्वाह’—इति, मुशस्यशब्दस्य दण्डे प्रसिद्धः,
यथा, क नु खलु मुशसिनो भाणवका गङ्गामवतरेयुः—इति,
तस्मात् अपि अथकर्म ॥ (४।२।६ अ०) ॥

पूर्वाधिकरणे आशङ्कानिरासः ॥

तथा प्रासनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥

स उत्पत्तो येन संयुक्तं तदर्थं तत्. श्रुतिहेतुत्वात्तस्या-
र्थान्तरगमने शेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात् ॥ १९ ॥

भा. यदुक्तं,—यथा कृष्णविषाणप्रासनम्—इति । तत्र उच्यते,
—युक्तं तत्र उत्पद्यमानं यत्, येन प्रयोजनेन सम्बद्धम् उत्पद्यते,

भा. तत्, तदर्थमेव न्याय्यं, तस्य अन्यत्र गमने प्रतिपत्तिः—इत्येतत्
उपपद्यते, यदि न दृष्टं प्रयोजनं भवति; इष्टं तु दृष्टं प्रयोजनं
मैवावस्थास्य धारणे, तस्मात् विषममेतत् ।

अथ वा अधिकरणान्तरं, विषाणायाः कण्डूयनं मासनं च
उभयमपि प्रयोजकम्—इति पूर्वः पक्षः, 'एकनिष्पत्तेः सर्वं
समं स्यात्' (४।१।२२ सू०)—इति । उत्तरः पक्षः,—कण्डूयने
तृतीयानिर्देशात् विषाणाया गुणभावः, मासने च द्वितीया-
निर्देशात्, अन्यत्र च हतार्थत्वात् प्रधान्यम्—इति ॥ (४।२।
७ अ०) ॥

अवभृथगमनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥

सू. सौमिके च हतार्थत्वात् ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमेऽवभृथो,—'वारुणेनैककपालेन अवभृथ-
मभ्यवपत्ति'—इति । तत्र अस्नायते,—'वरुणगृहीतं वा एतत्
यज्ञस्य यदृजीपं* यदयावाणः यदौन्दुवरी यदभिषवणफलकं,
तस्मात् यत्किञ्चित् सोमलिप्तं द्रव्यं तेन अवभृथं यन्ति'—
इति । तत्र संशयः,—किं सोमलिप्तानां द्रव्याणाम् अवभृथगमनं
प्रतिपत्तिः, अथ वा अर्थकर्म?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—
प्रतिपत्तिः—इति । कुतः? । 'हतार्थत्वात्', हतार्थान्येतानि
द्रव्याणि तत्र तत्र, तेषाम् अवभृथगमनं प्रतिपत्तिर्न्याय्या ॥

सू. अर्थकर्म वाभिधानसंयोगात् ॥ २१ ॥ (पू०) ॥

भा. अर्थकर्म वा, अभिधानेन संयोगात्, 'तेन अवभृथं यन्ति'—
इति, तेन अवभृथसंज्ञकं निष्पादयन्ति—इति, तृतीया 'तेन'—

* निष्पौडितस्य सोमस्य नीरसो भाग अजीपम् इति माधवः ॥

भा. इति, द्वितीया 'अवभृथम्'—इति । तस्मात् सोमलिप्तं गुण-
भूतम्, अवभृथः प्रधानभूतः—इति ॥

स. प्रतिपत्तिर्वा तन्न्यायत्वाद्देशार्थावभृथश्रुतिः ॥ २२ ॥
(७०) ॥

भा. 'प्रतिपत्तिर्वा' । कुतः ? । 'तन्न्यायत्वात्' एव, एष हि न्यायः,
यत् अन्यत्र छतार्थमन्यत्र प्रतिपाद्यते, तत् इह यदि सोमलिप्तं
द्रव्यम् अवभृथे करणं विधीयते, ततोर्ध्वकर्म, अथ सोमलिप्तेन
यानं विधीयते, ततः प्रतिपत्तिः, न हि अत्र सोमलिप्तं विधीयते
अवभृथे, तथा सति अवभृथसोमलिप्तसम्बन्धः 'अभ्यवयन्ति'—
इत्यनेन आख्यातेन विधीयेत, तत्र वाक्येन विधानं स्यात्, न तु
श्रुत्या, यानेभ्युना विधीयमाने श्रुत्या विधानं, तत्परिगृहीतं
भवति, श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी, तस्मात् प्रतिपत्तिः । अथ यत्
उक्तम्,—'अर्धकर्म अभिधानेन संयोगात्'—इति । तत्र ब्रूमः,
—एवं सति देशार्था अवभृथश्रुतिः,—'अवभृथं यन्ति'—इति,
अवभृथेन देशं लक्षयति, यस्मिन् देशेऽवभृथः, तं देशं यन्ति—
इति । तस्मात् प्रतिपत्तिः—इति ॥ (४।२।८ अ०) ॥

कर्तृदेशकालविधीनां नियमार्थताधिकरणम् ॥

स. कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगे नित्यसमवायात् ॥
२३ ॥ (५०) ॥

भा. इदं श्रूयते,—'पशुबन्धस्य यज्ञक्रतोः षट्त्विजः, दर्शपूर्ण-
मासयोर्यज्ञक्रतोश्चत्वार षट्त्विजः, चातुर्मास्यानां क्रतूनां प्रष्ट-
षट्त्विजः, अग्निहोत्रस्य यज्ञक्रतोः एक षट्त्विक्, सौम्यस्याध्वरस्य
यज्ञक्रतोः सप्तदश षट्त्विजः, तथा, 'समे दशपूर्णमासाभ्यां
यजेत, प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत ; पूर्णमास्यां पूर्णमास्या

भा यजेत, अमावास्यायाममावास्थया—इति । तत्र सन्देहः,—
कि कर्तृदेशकाला विधीयन्ते, उत अनूद्यन्ते?—इति । किं तावत्
प्राप्तम्?—‘कर्तृदेशकालानाम् अचोदनम् (अनुवाद) । कुत ?।
‘प्रयोगे नित्यसमवायात्’, प्रयोगे नित्यसमवेता एते—इति न,
चरते कर्तृदेशकालेभ्यः, प्रयोग सिध्यति । तेन प्रयोगचोदनायैव
प्राप्तानामनुवादः । ‘ननु विषमादिप्रतिषेधार्थमेतद्वचनं भवि
ष्यति । नेति ब्रूमः, उपदेशकमेव ज्ञातीयक वचनम् न प्रति
षेधकं, तस्मात् अनुवादः—इति ॥

ख नियमार्था वा श्रुतिः ॥ २४ ॥ (सि०) ॥

भा उच्यते,—न चैतदस्य अनुवाद—इति, अनुवादमात्रम् अत्र
ईकं, यदि विधिः, एवम् अपूर्वम् अर्थं प्रकरिष्यति, तस्मात् विधि
—इति । ‘ननु प्रयोगाद्भत्वात् प्राप्त एव—इति । उच्यते,—
‘नियमार्था श्रुतिः भविष्यति । कीदृश नियमः ?। अनियतस्य
नियतता, प्रयोगाद्भूतया सर्वे देशा प्राप्नुवन्ति, न तु समुच्चयेन,
यदा समः, न तदा विषमः, यदा विषमः, न तदा समः, स एष
समः प्राप्तश्च अप्राप्तश्च, यदा न प्राप्तः, स पक्षो विधिः प्रयो
जयति, अतो विषमचिकीर्षायाम् अपि समो विधीयते । तस्मात्
विषमस्य अप्राप्तिः विधौ सति भवति—इति समो विधीयते ।
एवम् इतरेष्वपि, तस्मात् विधिः—इति ॥ (४।२।६ अ०) ॥

द्रव्यगुणविधानस्य नियमार्थताधिकरणम् ॥

ख तथा द्रव्येषु गुणश्रुतिरुत्पत्तिसंयोगात् ॥ २५ ॥

भा (अधिकरणप्रदेशोभयम्*) । इदमामनन्ति,—‘वायव्यं श्वेतं

* ‘पूर्वाधिकरणोक्तयुक्तैवावश्यं सिद्धेस्तस्यैवाग्रहः इति टीका ॥

भा मालमेत भूतिकामः, तथा, 'सोमारौद्रं घृते चरुं निर्वपेत् शुक्लानां व्रीह्योणां ब्रह्मवर्चसकामः', तथा नैर्ऋतं चरुम् निर्वपेत् कृष्णानां व्रीह्योणाम्—इति । तत्र सन्देहः,—किं श्वेतादिवर्णा विधीयते, उत अनूद्यते?—इति । किं प्राप्तम्?—अनूद्यते, द्रव्यश्रुतिगृहीतत्वात् । विधिर्वा,—पक्षे प्राप्तस्य नियमार्थः—इति । पक्षोक्तं प्रयोजनम् उभयोरप्यधिकरणयोः ॥ (४ । २ । १० अ०) ॥

अवघातादिसंस्कारविधानस्य नियमार्थताधिकरणम् ॥

स संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥ २६ ॥

भा (अयमप्यधिकरणप्रदेशः) । दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'व्रीह्योन् अवहन्ति, तण्डुलान् पिनष्टि'—इति, तत् किम्, इमौ विधी, उत अनुवादौ?—इति संशयेऽर्थप्राप्तत्वात्, अनुवादौ—इति प्राप्ते नियमार्थत्वात् विधी?—इति ॥ (४ । २ । ११ अ०) ॥

यागस्वरूपनिरूपणाधिकरणम् ॥

स यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थ-
त्वात् ॥ २७ ॥

भा शेषविनियोगः उक्तः, किं तत् प्रधानं? यस्य एते शेषाः—इति । उच्यते,—यजति ददाति जुहोति—इत्येवंलक्षणम् । अथ किंलक्षणको यजतिजुहोतिर्ददातिश्च?—इति । 'यजति-चोदना, तावत् 'द्रव्यदेवताक्रियं',—द्रव्यं देवता च, तस्य द्रव्यस्य क्रिया, (यया तयोः सम्बन्धो भवति) ; 'समुदाये' (समुदितेष्वेयु) यजतिशब्दो भवति, लोके इष्टोऽनेन पशुपतिः—इति, तेन मन्यामक्षे,—द्रव्य-देवता-क्रियस्यार्थस्य यजतिशब्देन प्रत्यायनं

भा क्रियते—इति । लक्षणकर्मणि प्रयोजनं न वक्तव्यम्, ज्ञानमेव
अत्र प्रयोजनम्—इति ॥ (४।२।१२ अ०) ॥

होमस्वरूपनिरूपणाधिकरणम् ॥

स तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात् ॥ २८ ॥

भा अथ किलक्षणको जुहोति ?—इति ‘तदुक्ते’ (यजत्युक्तेर्ध्वं)
जुहोति श्रूयते, आसेचनाधिके तस्मात् यजतिरेव असेचना
धिको जुहोति, ऊतमनेन—इति एवज्ञातीयके वक्तारो भवन्ति
लोके, वेदेऽपि यजतिचोदित जुहोतिना अनुवदति—‘सङ्घा
मिण चतुर्होत्रा याजयेत्, चतुर्गृहीतमान्ध ह्यत्वा चतुर्होतार
व्याचचीत पूर्वेण महेणाहं जुहुयादुत्तरेणाह्वम्—इति ॥

अथ ददाति किलक्षणक ?—इति । आत्मन स्वत्वव्याप्ति
परस्य स्वत्वेन सम्बन्धः । यजति ददाति जुहोतिषु सर्वेषु उत्
सर्गं समानं तत्र यजतिर्देवताम् उद्दिश्योत्सर्गमान्, जुहोति
आसेचनाधिकः ददाति उत्सर्गपूर्वकं परस्वत्वेन सम्बन्धः,—
इत्येष एषा विशेषः—इति ॥ (२।४।१३ अ०) ॥

* “समुदाये ह्यतार्थत्वादित्ययुक्तोर्ध्वं ग्रन्थं न हि यागशब्दो
द्रव्यदेवताक्रिय त्रितयमपि ब्रवीति, किं तर्हि यजिधानुवाचम्
इत्यादि “उच्यते—न पदार्थलक्षणमिदं, किं तर्हि यजेत स्वर्गकाम
इति साधनत्वेन यागस्य चोद्यमानस्य प्रयोगः कथ्यते, यत् देवतो
हेतुः द्रव्यं त्यजति तेन यागोऽनुष्ठितो भवति, न त्यागमात्रे यागः
ह्येतो भवतीति, तस्मात् प्रयोगकथनमेवैतत् सूचकारस्य यजतिचोद
नेत्याह, चोदनेति हि वाक्यमुच्यते’ इत्यन्तम् वार्तिकमनुसन्धेयम् ॥

† स्थायित्वा इति का० व्री० पु० पाठः ॥

वर्हिपः आतिथ्यादिसाधारण्याधिकरणम् ॥

सू विधेः कर्मापवर्गित्वादर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात् ॥
२६ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘यत् आतिथ्यायां वर्हिः, तत् उपसदां, तत् अग्नोपोमीयस्य’*—इति । तत्र सन्देहः,—किं परद्रव्यस्य उपदेशः (१), उत निरिष्टिकस्य (२), अथ वा धर्मविधिप्रदेशः (३), अथ वा द्रव्यसाधारण्यम्?—इति । किं प्राप्तम्?—(१) ‘परद्रव्यस्य उपदेशः । कुतः ? । परद्रव्यस्य उपदेशसदृशः शब्दः,—‘यत् आतिथ्यायां, तत् उपसदाम्’—इति, यथा, यो देव-दत्तस्य गौः, स विष्णुमित्रस्य कर्त्तव्यः—इति देवदत्तात् आच्छिद्य विष्णुमित्राय दीयते—इति, अतः परद्रव्यस्य उपदेशः’—इति । न च एतदस्ति, तथा सति आतिथ्यायां तस्य विधानं यत् पूर्वं, तत् अनर्थकं स्यात् ।

(२) ‘एवं तर्हि निरिष्टिकस्य उपदेशः, तेन आतिथ्यायां यत् [विहितम्, आतिथ्यायां यत् उपात्तम्]—इति, तथा सत्यर्थवत् आतिथ्यायां तत् वचनं, निरिष्टिकेन तु उपसदः कर्त्तव्या भवन्ति, न च, एष शिष्टानामाचारः, न च, सर्वे चोदकप्राप्ता धर्मा भवेयुः, अतो ब्रूमः,—(३) ‘विधेः कर्मापवर्गित्वात् अर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात्’, तत् वर्हिः परिसमाप्तायाम् आतिथ्यायाम् अपवृत्तं, पूर्वं तत् आतिथ्यायाः, उपसत्काले आतिथ्यासम्बन्धः तस्य नास्ति, भूतपूर्वेण आतिथ्यया कर्मणा स्रष्टेयं, लक्षणा-

* क्रीतं सोमं शकटेश्वरथाप्य प्राचीनवंशप्रत्यानयनेभिर्मुखो यामिष्टिं निर्वपति, सेयम् आतिथ्या, तत ऊर्ध्वं त्रिषु दिनेषु अनुष्ठीयमाना उपसदः, औपवसथ्ये दि० ३० नो० १०००
भाधवः ॥

भा शब्दश्च न न्याय्य । तस्मात् आतिथ्यावर्हिष आङ्गस्याभावात्
यद्वर्मकमातिथ्यावर्हिः, तद्वर्मकम् उपसदाम् अग्नीषोमीयस्य च
—इति न्याय्यम् ॥

स अपि वोत्पत्तिसयोगादर्थसम्बन्धोऽविशिष्टानां प्रयो
गैकत्वहेतुः स्यात् ॥ ३० ॥ (सि०) ॥

भा अपि वा—इति पक्षो व्यावर्तते । उत्पत्तिसयोग एव एष
अस्य वर्हिषः, यदि हि उत्पन्नम् आतिथ्याया वर्हिः विशिष्ट
स्यात्, तस्य धर्मा औपसदे वर्हिषि अतिदिश्येरन्, न तु तदस्ति
केनचित् वाक्येन । एव प्रकृत्य, वर्हिषो विशेषो वक्ष्यते,—
‘आश्ववाल प्रस्तर, विधृतो चैक्षथौ’—इति, तेन, न पर
विहितं वर्हिः उच्यते, न निरिष्टिकं न कुतश्चिद्वर्मा प्रति
दिश्यन्ते, किं तर्हि?—साधारणमग्नीषा वर्हिः उच्यते,—यत्
आतिथ्यायां विधीयते, तत् एवोपसदाम्, अग्नीषोमीयस्य च
विधीयते—इति अविशिष्टाना वर्हिषा संयोग एकेन सर्वेषा,
यत् आदौ वर्हिर्लूयते, तत् एव न सर्वेषाम् अर्थेन, साधारणो
वर्हिषः प्रयोगः । एव श्रुति शब्दस्य, परिगृहीता भविष्यति
इतरया धर्मसंज्ञा भवेत् श्रुतिसंज्ञाविशेषे च श्रुतिन्याय्या
न संज्ञा । तस्मात् त्रयाणां साधारण वर्हिः—इति, पक्षोक्तं
प्रयोजनम् ॥ (४।२।१४ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिन कृती मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य
द्वितीयः पादः ॥

चतुर्थे अध्याये तृतीयः पादः ॥

—१११—

द्रव्यसंस्कारकर्मणां क्रत्वर्थताधिकरणम् ॥

स. द्रव्यसंस्कारकर्मणु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः
स्यात् ॥ १ ॥ (सि०) ॥

भा. 'यस्य खादिरः सुवो भवति, स च्छन्दसामेव रसेनावद्यति, सरसा अस्य आज्जतयो भवन्ति। यस्य पर्णमयी जुह्वर्भवति, न स पापं श्लोकं गृह्णोति'—इति ; यस्याश्वत्थो उपभृत् भवति, ब्रह्मणैवास्यान्नमवरुन्धे', यस्य वैकङ्कती ध्रुवा भवति, प्रत्येवास्य आज्जतयस्तिष्ठन्ति, अथो प्रैव जायते, यस्य एवरूपाः सुवा भवन्ति, सर्वाण्येवैनं रूपाणि पशूनाम् उपतिष्ठन्ते, नास्य अप-
रूपम् आत्मन् जायते'—इति। तथा ज्योतिष्टोमसंस्कारे फल-
श्रुतिः, 'यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते, तथा, 'केशभ्रू-
वपते, दतो धावते, नखानि निक्षन्तति स्नाति, मृता वा एषा
त्वगमेधं वाभ्येतदात्मनि शमलं तदेवोपहृते मेध एव मेधम्†
एवमुपैति। कर्मणि फलं श्रूयते,—'अभीषू वा एतौ यज्ञस्य
यदाधारौ, चक्षुषी वा एतौ यज्ञस्य यदाज्यभागौ, यत्
प्रयाजानुयाजा ईज्यन्ते, वर्म वा एतत् यज्ञस्य क्रियते, वर्म
यजमानस्य भ्रातृव्यस्य अभिभूत्यै'—इति।

अत्र सन्देहः,—किम् इमे फलविधयः, उत अर्थवादाः?—
इति। किं प्राप्तम्?—फलविधयः, प्रवृत्तिविशेषकरत्वात् फल-

* स ब्रह्मणैवान्नमवरुन्धे इति का० क्री० पु० पाठः ॥

† मेध एव इति आ० सो० पु० पाठः ॥

भा विधेः, यथा, खादिरं वीर्यकामस्य दूषं कुर्यात्, मालाशं ब्रह्म-
वर्धसकामस्य, वैत्वमन्नाद्यकामस्य—इति, यद्यैते फलविधयः,
एवम् इहापि दृष्टव्यम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—फलार्थवादाः—
इति। कुतः?। ‘परार्थत्वात्,—कृत्वर्थान्येतानि, जुहः प्रदाने
गुणभूता, उपभृदुपधारणे, क्षुवा आज्यधारणे, अङ्गनवपनादि च
यजमाने, आधारावाज्यभागौ प्रयाजानुयाजाश्च आग्नेयादिषु।
यदि फलेऽपि गुणभावः स्यात्, अन्यत्रोपदिष्टानाम् अन्यत्र पुन-
र्गुणभाव उपदिष्टः—इति प्रतिज्ञायेत, न चैतत् न्याय्यं, परार्थता
हि गुणभावः, कृत्वर्थता चैषा शब्देन,—‘जुक्ता जुहोति’ (जुक्ता
होममभिनिर्वर्त्तयति)—इति, एवं सर्वत्र। तस्मात् न एते
पुरुषार्थाः ॥

स. उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् ॥ २ ॥ (यु०) ॥

भा. ‘अथ उच्येत,—पुरुषमपि प्रति गुणभाव उपदिष्टः,—‘यस्य
परमयो जुहर्मवति न स पापं श्लोकं शृणोति’—इत्येवमा-
दिभिर्वाक्यैः—इति। तत्र न। कस्मात्?। ‘उत्पत्तेरतत्प्रधान-
त्वात्’, तत्र, ‘मालाश्या जुक्ता अ पापश्लोकश्रवणं क्रियते’—
इति न कश्चित् शब्दः आह, एतावत् श्रूयते,—‘यस्य असौ
भवति, न स पापं श्लोकं शृणोति’—इति, एतावत् अत्र शब्देन
गम्यते,—‘यस्य एवंलक्षणा जुहः, तस्य अ-पापश्लोकश्रवणम्’
—इति। तत्र, जुक्ता तत् क्रियते, जुह्वा तदर्थः?—इति,
नैतत् शब्दः आह।

‘ननु अनुमानादेतत् गम्यते,—ध्रुवं मालाश्या जुक्ता तत्
क्रियते, यतस्तस्या सत्या तत् भवति’—इति। अत्र उच्यते,
—न, एवद्वातीयकं कार्यकारणत्वेऽनुमानं भवति, कार्यकारण
सम्बन्धो नाम स भवति, यस्मिन् यति यत् भवति, यस्मिंश्च
असति यच्च भवति, तत्र एव कार्यकारणसम्बन्धः, इह तु तद्भावे

भा. भावो ज्ञातः, न अभावेऽभावः,—‘यस्य पालाशी न भवति तस्य
अ-पापश्लोकश्रवणं नास्ति’—इति, न, एवज्ञातीयकः शब्दोऽस्ति,
तेन न, नियोगतोऽवगम्यते,—तेन इदं क्रियते—इति, लक्षण-
मेतत् पुरुषस्य गम्यते, तस्मात् न अनुमानम् ।

अपि च, यस्यापि जुहः पालाशी भवति, तस्यापि पाप-
श्लोकश्रवणं भवति । कथम् अवगम्यते ? प्रत्यक्षतः । ‘ननु
एवं सति अग्निहोत्रेणापि फलं न साधेत । न ऊतमात्रेण फलं
दृश्यते’—इति । नैष दोषः, न हि तत्र उच्यते,—तावतैव फलं
भवति—इति, इह तु वर्तमानायां जुहसत्तायां वर्तमानस्य
पापश्लोकश्रवणस्य प्रतिषेधः, तस्मात् न तत्र अनुमानम्,—इदं
कार्ये, इदं कारणम्—इति । अग्निहोत्रादिषु तु शब्देनैव कार्य-
कारणसम्बन्ध उच्यते,—तस्मात् तत्र तत्कालेऽदृश्यमानेऽपि फले,
कालान्तरे फलं भविष्यति—इति गम्यते, न तु एवज्ञातीयकेषु,
तस्मात् न एवज्ञातीयकेभ्यः फलमस्ति—इति ।

‘ननु ‘यस्य पालाशी जुहर्भवति, न स पापं श्लोकं शृणोति’
—इत्येवम् उक्ते तत एव तत्फलं भवति—इति गम्यते, तस्मात्
इह अपि कालान्तरे फलं भविष्यति’—इति । उच्यते,—सत्यं
गम्यते, प्रमाणं तत्र किम्?—इति विचारयामः, न तावत्
प्रत्यक्षं, न अनुमानं, न इतरत् दृष्टविषयम् उपमानादि, नो
खल्वपि शब्दः—इत्येतत् उक्तम्, वाक्यार्थोऽपि पदार्थापजनितो
भवति, न अन्यथा, तदुक्तं,—(१ । १ । २५ सू०)—‘तद्धूतानां
क्रियार्थेन समाग्नयः’—इति । तस्मात् अ-प्रमाणमूलत्वात्
मिथ्याविज्ञानमेतत् । लौकिकेषु वाक्येषु अथैवं गम्यते, तानि
हि विज्ञातेर्ग्ये प्रयुज्यमानानि अथाहार्यपदानि गौणानि
विपरिणत—व्यवहितार्थानि च प्रयुज्यन्ते, तस्मात् तस्माद्दृश्यात्
वचनागम्येषु अपि अर्थेषु भवति तत्त्वरूपो मिथ्याप्रत्ययः, यथा
मृगतृष्णादिषु ।

भा अपि च, वर्त्तमानापदेशोभ्य, न च, अयमर्थो वर्त्तमान
तस्मात् न, खादिरसुवादिसङ्गाधे तत् फल भवेत्. तद्देवमापतति,
—खादिरादौ सति भवति तत् फल नापि भवति असत्यपि
भवति वा न वा—इति, नैव विज्ञायत—कुत तत् फलम्—
इति । तस्मात् एवञ्जातीयकेषु उच्चरितेषु न कश्चित् प्रवृत्तिर्न
कुतश्चित् निवृत्ति—इत्यानर्थक्यमक्रियार्थत्वात् । अर्थवादे तु
सति भवति प्रयोजन खदिरादे, सुवादिषु कर्मार्थेषु प्रयो
जनयत्सु । यदि एषा क्रतुम् प्रति प्रयोजनवत्ता न स्यात्
तत एतद्देव फल कयाचिच्छब्दद्वयया भवेत् वा न वा?—इति
विचार्यत, सति तु पारार्थ्ये नैव काचिच्छब्दप्रवृत्तिराश्रयितुम्
शक्यते, केमर्थ्यं हि सा कल्प्येत । तस्मात् एवञ्जातीयका
अर्थवादा, अर्थवादत्वे च अवत्तमाने वत्तमानशब्द प्रशसार्थ
उपपत्स्यते ॥

स फलन्तु तत्प्रधानायाम् ॥ ३ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्त—यथा, 'खादिरं वीर्यकामस्य शूषं कुर्यात्
पेल्वमन्नाद्यकामस्य पालाशं ब्रह्मवर्षसकामस्य—इति युक्त तेषु
विधिविभक्तिं कुर्यात्—इति वीर्यखादिरसम्बन्धस्य विधावी,
न च वर्त्तमानापदेशिनी । तस्मात् तत्र अविरोध—इति एवं
हि पदवाक्यार्थग्यायबिद् श्लोकमामनन्ति—

कुर्यात् क्रियेत, कर्त्तव्यं भवेत् स्यात्—इति पञ्चमम् ।

एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियत विधिलक्षणम् ॥

—इति । विधिविभक्तिं हि विधायिका लिङ्गम् मन्यमाना
श्लोकमिमं समामनन्ति । अस्ति चात्र विधिविभक्तिः । तस्मात्
अनुपपत्तिर्नमेतत्—इति ॥ (४।३।२ अ०) ॥

नैमित्तिकानां बार्हद्गिरादीनामनित्यार्थत्वाधिकरणम् ॥

सू. नैमित्तिके विकारत्वात् क्रतुप्रधानमन्यत् स्यात् ॥ ४ ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे नैमित्तिकं,—‘बार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्म-
साम कुर्यात्, पार्थुरशमां* राजन्यस्य, रायोवाजीयं वैश्यस्य’
—इति, तथा अग्नौ नैमित्तिकं,—‘साहस्रं प्रथमं चिन्वानः
चिन्वीत, द्विसाहस्रं द्वितीयं, त्रिसाहस्रं तृतीयम्’—इति, तथा
दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्’,
कांस्येन ब्रह्मवर्चसकामस्य, मार्त्तिकेन प्रतिष्ठाकामस्य’—इत्ये-
तानि नैमित्तिकानि । तेषु सन्देहः,—किम् एतान्येव नैमित्ति-
कानि नित्यार्थे, उत अन्यत् तत्र तत्र नित्यार्थे?—इति ।

किं प्राप्तमेतान्येव?—इति । कुतः? अत्र ब्रह्मसामादिभिर-
वश्यं भवितव्यं, चोदितानि हि तानि, सन्निहितानि साधनानि
आकाङ्क्षन्ति, न च, एषां सन्ति विहितानि साधनानि, समीप-
तश्च नैमित्तिकानि उपनिपतन्ति, तैः प्रकृतैः सन्निहितैरेतानि
निराकाङ्क्षीक्रियन्ते—इत्येतत् न्याय्यम् । कथम्? नैमित्तिकं
हि सन्निहितं, वाक्यात् अवगम्यते, नान्यत् श्रूयते,—यावांश्च
श्रुतस्य उत्सर्गे दोषः, तावानेव श्रुतकल्पनायाम् ।

‘आह, ननु निमित्तार्थानि तानि प्रकृतानि’ । उच्यते,—
नैष दोषः,—अन्यार्थमपि प्रकृतम् अन्येन सम्बध्यते, यथा,
शाल्यार्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते, उपस्पृश्यते
च, एवम् इहापि द्रष्टव्यम् । अथ वा, अस्त्येवात्र श्रवान्तरवाक्यं,
यथा, ‘गोदोहनेन प्रणयेत्’—इति, तत् अकामसम्बद्धं गोदो-
हनेन प्रणयनं प्रापयति । न च, शक्यं श्रुतमुत्सृष्टम् । योग्यं,

भा. 'पशुकामस्य'—इति शब्दः, स पशुकामसम्बन्धं शक्नुयात् कर्तुम्, न अवान्तरवाक्यस्य अर्थे निवारयितुम्, न च, गम्यमानं, विना कारणेन, अविवक्षितम्—इति शक्यं वदितुम्। भवन्ति च द्विष्टानि* वाक्यानि, यथा श्वेतो धावति अलम्बुसानां याता—इति। तस्मात् नैमित्तिकान्येव नित्यार्थे भवितुमर्हन्ति—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'नैमित्तिके' श्रूयमाणे क्तत्वर्थम् 'अन्यत् स्यात्'—इति। कुतः?। 'विकारत्वात्' (विशेषे श्रुतत्वात्—इत्यर्थः), विशेषे हि तत्र नैमित्तिकं श्रूयते, तत्, असति तस्मिन् विशेषे न भवितुमर्हति। यदुक्तम्, अवश्यकर्तव्यानि—इति, नैष दोषः,—अवश्यकर्तव्यत्वात् करिष्यन्ते। यत्तु, नान्यदेपां विहितं साधनम्—इति, सामान्यविहितं भविष्यति—इति न दोषः। किन्तु तत्?। अभीवर्त्ता ब्रह्मसाम, अष्टादशमवगतोऽग्निः, वारणं प्रणयनपात्रम्। अथ यदुक्तं, सन्निहितैः प्रकृतैर्नैमित्तिकैर्ब्रह्मसामादीनि सम्भन्त्यन्ते—इति। न—इति ब्रूमः,—न हि वार्हङ्गिरादीनां प्रकरणम्। अथोचेरत,—प्रकृतैः स्तोत्रादिभिः सम्बध्यन्ते—इति, एतदपि नोपपद्यते,—यद्यपि प्रकृतानि नित्यानि स्तोत्रादीनि, तथापि वाक्येन निमित्तसंयोगे श्रूयन्ते वार्हङ्गिरादीनि, वाक्यं च प्रकरणाद्भूतीयः। यदुक्तं,—सन्निधानाद्वाक्यादवगतोऽयमर्थः—इति, न, एवञ्जातीयको वाक्यार्थः सामान्यं पदार्थं बाधितुमर्हति, निमित्तसंयोगे हि वार्हङ्गिरादीनामर्थवत्ता। तस्मात् तत्र तत्रान्यत् नैमित्तिकाद्—इति।

अथ यदुक्तम्,—अवान्तरवाक्येन गोदोहनमपि प्रापितं न शक्यम् उत्खण्डुम्, षट्ते कारणात्, (अविवक्षितं कल्पयितुम्),

* द्विविधानि इति आ० सो० पु० पाठः ॥

† इदञ्च 'उत्खण्डुम्' इत्यस्य विवरणम् ॥

भा द्विष्ट हि तत् भवति—इति । उच्यते,—कारणात् अविवक्षितम् । किं कारणम् ? न हि, इदं युगपत् भवति,—परिपूर्णेन च अर्थाभिधानम् अवान्तरवाक्येन च—इति । कथम् ? प्रणयति—इति प्रपूर्वे नयतौ विधिविभक्तिं स्वपदगतमर्थं श्रुत्या विदधाति, प्रणयनादिसम्बन्धमपि गोदोहनादि श्रुत्या, वाक्येन च । यस्त फलस्य गोदोहनादेश्च सम्बन्धः, स हित्वा श्रुत्यर्थे, केवलेन वाक्येन । ‘अथ, प्रणयनस्य गोदोहनादिसम्बन्धः, गोदोहना देश्च फलेन सम्बन्धं वदति’—इति उच्यते । न, द्वार्थाभिधानात् भिद्येत नितरा वाक्यं, न च एतन्निरास्यम् ।

यत्तु,—श्वेतो धावति—इत्येवमादि, भवेत् तत्र विशेषानवगमात् उभयार्थावगतिः । इह तु गम्यते विशेषः कमिपदोच्चारणं, स इह श्रौतोऽर्थः । मन्येत, यदि गोदोहनादेः क्रिया सम्बन्धो विवक्ष्यते, कमिपदं प्रमादो भवेत् न च अयं प्रमादः, नैवावान्तरवाक्यार्थं विवक्षिते कमिपदसम्बन्धोऽप्यकल्पते । तस्मात् न द्विष्ट वाक्यं गोदोहनादि कमिसम्बन्ध एव अत्र अभिधीयते, न नित्यकार्यं भवितुमर्हति—इति, एव सर्वत्र ॥ (४।३। २ अ०) ॥

दध्यादेर्नित्यनैमित्तिकोभयार्थताधिकरणम् ॥

(सयोग पृथक्कन्यायः) ॥

स एकस्य तूभयत्वे सयोगपृथक्कम् ॥ ५ ॥ (सि०) ॥

भा अग्निहोत्रे श्रूयते,—‘दध्रा जुहोति’—इति, पुनश्च ‘दध्रेन्द्रिय-कामस्य जुहुयात्’—इति, तथा अग्नीषोमीये पशवाग्न्यायते—‘खादिरे वध्नाति’—इति, पुनश्च ‘खादिर वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् अत्राप्यन्येत्

भा उत नेमित्तिकमेव?—इति । किं प्राप्तम्?—पूर्वेण न्यायेनान्यत्
—इति । एव प्राप्ते ब्रूम,—‘एकस्य उभयत्वे’—(नित्यत्वे
नेमित्तिकत्वे च) ‘सयोगपृथक्त्वम्’ कारण, तत् इह सयोग
पृथक्त्वम् अस्ति,—एक सयोग—‘दध्ना जुहोति’—इति, एक,
—‘दध्नेन्द्रियकामस्य’—इति, तथा एक,—‘खादिरे बध्नाति’
—इति अपर,—‘खादिर वीर्यकामस्य’—इति । तस्मात्
नित्यार्थे कामाय च दधि—खादिरादि—इति ॥

सू शेषः इति चेत् ॥ ६ ॥ (आ०) ॥

भा इति चेत् पश्यसि—कस्मात् न पूर्वस्य अयमपि शेषो भवति?
यदेतदुक्तं,—‘दध्ना जुहोति, ‘खादिरे बध्नाति’—इति, तस्य
एव तु दध्ना फलम् इन्द्रिय, तथा खादिरस्य वीर्यं, तच्च इह
च एक वाक्यम्—इति ॥

सू नार्थपृथक्त्वात्* ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नेतदेव—पृथगेतावर्थो यश्च दधिहोमसयोग यश्च दधी
न्द्रियसयोग, तथा खादिरस्य बध्नातिना सयोग वीर्येण च,
हावेतावर्थो हावपि च विधित्सितौ अर्थेकत्वाच्चैक वाक्य समधि
गतम् इहार्थद्वयेन भिद्येत वाक्यम् । कथं? जुहोतिसमभि

* ‘प्रणयनं हि विधीयमानं पाचाकाङ्क्षमेव विधीयते, तत्र यत्
प्रणयति, केनापि पात्रेण, तच्चमसेनेति तस्याकाङ्क्षा निवर्तयति ।
अतः प्रणयनस्य युक्तेकवाक्यता प्रयोजनेकत्वात् इह तु दध्ना जुहो
तीति होमप्रयोजनेनैव निराकाङ्क्षत्वात् नान्यत् प्रयोजनमपेक्षते,
इतरदपि इन्द्रियेण साधेन निराकाङ्क्षीकृतम्, तस्मात् द्वयोरपि
साध्ययो परस्परसम्बन्धो नास्त्यर्थभेदात्” इति वार्त्तिकमवानु
न्येयम् ॥

भा. व्याहृता विधिविभक्तिः, असम्भवे औतस्य होमविधानस्य, गुणं समभिव्याहृतं विधातुमर्हति, तदसम्भवे गुणफलसम्बन्धम् । तत्र हि अत्यन्ताय श्रुतिः उत्सृष्टा वाक्यानुरोधेन स्यात्, न च, युगपत् सम्भवासम्भवौ सम्भवतः । तस्मात् यदेव नैमित्तिकं तदेव नित्यार्थम्—इति ॥ (४।३।३ अ०) ॥

पयोव्रतादीनां क्रतुधर्मताधिकरणम् ॥

सू. द्रव्याणान्तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः
स्यात् ॥ ८ ॥ (सि०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे समामनन्ति,—‘पयोव्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू-
राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य’—इति । तत्र सन्देहः,—किम्
अयं पुरुषधर्मः, उत क्रतोः?—इति । प्रकरणं बाधित्वा वाक्येन
विनियुक्तः पुरुषस्थ—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—पुरुषाणां क्रिया-
र्थानां शरीरधारणार्थो बलकरणार्थश्चायं संस्कारो व्रतं नाम,
स क्रतुधर्मो भवितुमर्हति, प्रकरणानुपपत्तयः । ‘ननु वाक्यात्
पुरुषधमेः’—इति । न—इति ब्रूमः,—तथा सति फलं कल्प्यं,
कृप्तम् इतरत्र, प्रयोगवचनेनोपसंहृतं हि तत् प्रधानस्य ।
तस्मात् क्रतुधर्मः ॥

सू. पृथक्त्वादवतिष्ठेत ॥ ९ ॥ (यु०) ॥

भा. ‘अथ पुरुषसंयोगः किमर्थः?’ । व्यवस्थापनार्थः—इति ब्रूमः,
—पयोव्रतं ज्योतिष्टोमस्य भवति, तत्तु ब्राह्मणकर्तृकस्य एव, न
अन्यकर्तृकस्य—इति । एवं सर्वत्र ॥ (४।३।४ अ०) ॥

विश्वजिदादीना सफलत्वाधिकरणम् ॥

(इत प्रभृति अधिकरणत्रयम् विश्वजिन्न्याय) ॥

स चोदनायां फलाश्रुते कर्ममात्रं विधीयेत न ह्यशब्द
प्रतीयते ॥ १० ॥

भा इदमामनन्ति,—‘तस्मात् पितृभ्य पूर्वदु करोति’—इति,
तथा, सर्वभ्यो वा एष देवेभ्य सर्वेभ्य हन्द्भ्य सर्वेभ्य पुष्टेभ्य
आत्मानमागुरते, य सत्रायागुरते, स विश्वजिता अतिरात्रेण
सर्वपुष्टेन सर्वस्तोमेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत—इत्येव लक्षणके
श्रुते, भवति संदेह,—किं निष्फलमेतत् कर्ममात्रम्, उत स
फलम्?—इति । किं प्राप्त?—निष्फलम्—इति । कुत ?
‘फलाश्रुते’, शब्दप्रमाणके कर्मणि एवज्ञातीयके ‘न हि अशब्द
प्रतीयते ।

‘ननु वैदिकानि कर्माणि फलवन्ति भवन्ति—इत्येवम् उक्तम्’ ।
उच्यते,—फलदर्शनात्तानि फलवन्ति—इति उक्त, न वैदिक
त्वात् । ‘एव तर्हि कर्तव्यतावगमात् फलवन्ति—इति अथ
वक्ष्याम, सुखफलं हि कर्तव्यं भवति’—इति । उच्यते,—प्रत्यक्ष
विरुद्धम् एवज्ञातीयकस्य कर्तव्यत्वं साक्षाद्वि तत् दुःखफलमव
गच्छाम, न च एवज्ञातीयक प्रत्यक्षविरुद्धं वचनं प्रमाणं भवति,
यथा अम्बुनि मञ्जुत्पलावूनि, शिलां श्वनौ पावकं शीत—
इति । अपि च अनुमानात् अत्र सुखफलता,—यस्मात् कर्तव्यम्
अतः सुखफलम्—इति प्रत्यक्षं च अनुमानाद्भूतीय । तस्मात्
निष्फलम् एवज्ञातीयकम्—इति ।

‘एव हि अत्र फलं कल्प्येत, यद्येतत् फलवत् एवम् उपदेशो
‘यवान् भवति’—इति । उच्यते—कामं वाक्यम् अनर्थकम्—
इति न्याय्यं वचनं भवेत्, भवन्ति हि अनर्थकान्यपि वचनानि,

भा.—दश दाडिमानि, षडपूयाः—इत्येवञ्जातीयकानि । ‘ननु विश्वजिह्वापारः सुखफलः’—इति । उत्तरं,—सुखफलं हि भवति अपूर्वं, न व्यापारः, न च, अयम् अपूर्वस्य कर्तव्यताम् आह, फलकर्तव्यतायां हि सत्यां तत् अवगम्यते, वाक्यार्थस्य फलस्य कर्तव्यताम् आह न पदार्थः, न च, अत्र फलसम्बद्धं वाक्यमस्ति । तस्मात् न, अयम् अपूर्वस्य विधायकः शब्दः, व्यापारमात्रमेव* विदधाति, स च व्यापारो न तदात्वे सुखफलः, न अपि आयत्यां, भङ्गित्वात्, तत्र अपूर्वं कल्पयित्वा फलमवगम्येत, फलं च कल्पयित्वा अपूर्वम्, एवम् इतरेतराश्रयं भवति, इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्ते । तस्मात् निष्फलम् एवञ्जातीयकम्—इति ।

‘आह,—अथाह्वरिष्यामहे फलवचनम्† । उच्यते,—न शक्यं परिपूर्णं वाक्ये अथाहर्तुम्, परिपूर्णं ह्येदं वाक्यं,—विश्वजित् यागः कर्तव्यः—इति, न, किञ्चित् पदमस्ति साकाङ्क्षं, येन अथाहृत्य फलं सम्बध्येत, यथा‡ अक्षेमेऽपि पथि, भवति विप्रलम्भक उपदेशः,—क्षेमोऽयं, यथा गच्छतु भवान् अनेन—इति, परिपूर्णमेव इदं वाक्यं, न अथाह्वारमर्हति विप्रलम्भककर्तृकं, एवम् इदमपि परिपूर्णं वाक्यं न अथाह्वारमर्हति । अपि च, अथाह्वयमाणेन एव इदं वाक्यं सम्बध्येत, विश्वजित् यागः कर्तव्यः, इदं च फलं भवति—इति, दाविमौ अर्थौ, एकार्थं च वाक्यं समधिगतम् । तस्मात् अनर्थकम् एवञ्जातीयकं कर्म—इति ॥

* यागमात्रमेव इति का० श्री० पु० पाठः ।

† फलमिति आ० सो० पु० पाठः ।

‡ क्षेमोऽयं पन्था इति का० श्री० पु० पाठः ।

स अपि वाऽग्निानसामर्थ्याच्चोदनाऽर्थेन गम्येतार्थानां
 ह्यर्थयत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थतो ह्यसमर्था-
 नामानन्तर्येऽप्यसम्बन्धः तस्माच्छ्रुत्येकदेशः सः ॥
 ११ ॥ (सि०) ॥

भा 'अपि वा—इति पक्षव्यावृत्तिः । न चैतदस्ति,—अफलम्
 —इति, फल—'चोदना अर्थेन गम्येत' । कतमेन अर्थेन ?
 कर्तव्यतावचनेन । 'आह,—ननु व्यापारस्य प्रत्यक्षविरुद्धा
 कर्तव्यता' । न व्यापारस्य उच्यते । कस्य तर्हि ? व्यापारेण
 अन्यस्य कस्यचित्—इति, भवति तेन इदानीं वाक्य साकार्क्षं,
 तत्र अथाहारोऽवकल्पते, भवति च अथाहारेण अपि कल्पना,
 यथा, 'द्वार द्वारम्—इति उक्ते, सन्नियताम् अपान्नियताम्—
 इति । 'कथं पुन अवगम्यते, इह अथाहारेण कल्पयितव्यम् ?'
 —इति । 'आग्निानसामर्थ्यात्', एवम् इदम् आग्निानम् अर्थं
 यत् भविष्यति, शक्नोति च अर्थमवगमयितुम् । तस्मात् न
 अनर्थकम् ।

'ननु यत् पदम् अध्याह्रियते, तत् पौरुषेय, तेन अवगतं च
 अप्रमाणम्' । उच्यते,—न अपूर्वम् अध्याहरिष्याम, वैदिकेन
 एव अस्य सह अन्यत्र समानातन, एकवाक्यताम् अध्वव
 साम । 'आह—न एव शक्यम् अन्तिकादुपनिषत्तितं हि पदं,
 वाक्यार्थम् उपजनयितुमलं भवति, न दूरादवतिष्ठमानम्' । अत्र
 उच्यते—अवहितमपि हि पराणुद्य व्यवधायकम् आनन्तर्येण
 मनसि विपरिवर्तमानम् असमेव भवति विशेषम् उपजनयितुम्,
 यथा,

'इत पश्यसि धावन्त दूरे जात वनरपतिम् ।

त्वा व्रवीमि विशालाक्षि ! या पिनक्षि जरद्भवम् ॥

भा.—इति 'इतः पश्यसि'—शब्दो बुद्धौ भवति, सः, 'दूरे जातं वनस्पतिम्,—एतैः पदैर्यवहितेन 'जरङ्गवम्'—इत्यनेन शब्देन व्यवधायकानि अपोद्य सम्वध्यमानः सम्वध्यते, 'अर्थानां हि अर्थवत्त्वेन' हेतुना व्यवहितान्यपि 'वचनानि' सम्वध्यन्ते, यानि पुनर् 'अयतो हि' असमर्थानि, तानि 'आनन्तर्येऽपि' सति न परस्परेण सम्वन्धनं हन्ति, यथा, 'या पिनाक्ष जरङ्गवम्'—इत्येवमादीनि। तस्मात् न पौनपेयता भविष्यति। 'आह, —ननु अत्रापि अपेक्षा पौनपेयो'। उच्यते,—न अपेक्षा वेदे, वेदार्थप्रतिपत्तावभ्युपाय एव भवति, अनन्तरापेक्षायाम् असम्भन्त्याम् 'आम्नानसामर्थ्यात्' इतरापेक्षा वृत्तिराश्रीयते। 'तस्मात् श्रुत्येकदेशः सः', (फलकानपदं दूरेऽपि सत् तस्य वाक्यस्य एकदेशभूतम् इत्यर्थः) ॥

सू. वाक्यार्थश्च गुणार्थवत् ॥ १२ ॥ (यु०) ॥

भा 'इन्द्राय राज्ञे श्रूकरः'—इति यथा वाक्यान्तरस्येन विधि-शब्देन गुणविधानं भवति, एवं फलविधानमपि भवितुमर्हति—इति, यथा, 'वरुणो वा एतमपे प्रत्यगृह्णात'—इति व्यवधारण-कल्पना। एमम् इदमपि द्रष्टव्यम् ॥ (४।३।५ अ०) ॥

विश्वजिदादीनामेकफलताधिकरणम् ॥

सू. तत्सर्वार्थमनादेशात् ॥ १३ ॥ (पू०) ॥

भा 'तस्मात् पितृभ्यः पूर्वदुः करोति'—इति, 'विश्वजिता यजेत'—इति फलवत् एवंविधं कर्म—इत्येतत् समधिगतम्। इदं तु सन्दिह्यते,—किं सर्वफलमेतत् कर्म, उत एकफलम्?—इति। किं प्राप्तं?—'तत् सर्वार्थम्'—इति। कुतः?। 'अनादेशात्,—

भा न किञ्चित् इह अतिदिश्यते,—इदं नाम फलम्—इति । अस्ति चेत्, विज्ञायेत । तस्मात् सर्वार्थम् अविशेषात् ॥

ख एक वा चोदनैकत्वात् ॥ १४ ॥ (सि०)

भा एक फल स्यात् न 'वा सर्वार्थम् । कुत ? । 'चोदनैकत्वात् साकाङ्क्षत्वात् एतत् अर्थिपदेन सम्बध्यते—इत्युक्तं यद्वा नेके नापि सम्बद्धम् शक्नोति, तत् एकेन सम्बध्यते, एकेन सम्बद्धं सत् निराकाङ्क्षं भवति न तत् अपरेणापि सम्बन्धमर्हति । तस्मात् एकैव कर्तव्यता—चोदना न्याय्या, तस्मात् एकफलता—इति ॥ (४ । ३ । ६ अ०) ॥

विश्वजिदादीनां स्वर्गफलताधिकरणम् ॥

ख स स्वर्गं स्यात्, सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥ १५ ॥
(सि०) ॥

भा एवञ्जातीयकेष्वेवोदाहारणेष्वेतत् समधिगतम्—एक फलम्—इति । इदम् इदानीं सन्दिश्यते—किं यत्किञ्चित् उत स्वर्गं ?—इति । यत्किञ्चित्—इति प्राप्तम् विश्लेषानभिधानात् तत उच्यते,—'स स्वर्गं स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्,—सर्वं हि पुरुषाः स्वर्गकामाः । कुत एतत् ? । प्रीतिर्हि स्वर्गं, सर्वश्च प्रीतिं प्रार्थयते । 'किम् अतः । यद्येवम् अविशेषवचनं शब्दो न विशेषे थवस्थापितो भविष्यति यजेत 'कुर्यात्—इति । तस्मात् स्वर्गफलम् एवञ्जातीयकम्—इति ॥

ख प्रत्ययाञ्च ॥ १६ ॥ (यु०) ॥

भा भवति च,—अनादिष्टफले कर्मणि स्वर्गं फलम्—इति प्रत्ययो लोके एवम् उच्यते,—आरामस्तु देवदत्त, नियतोऽयं स्वर्गं

भा. तडागद्यत् देवदत्तः, नियतोऽस्य स्वर्गः—इति । किम् अतो यद्येवम् ? । इत्थमनेन न्यायेन स्वर्ग सम्प्रत्ययो भवति, यस्मात् स्वर्गफलेषु कर्मसु कर्मव्येषु फलवचनं नैव उच्चारयन्ति, गम्यते एव—इति । तस्मादपि अवगच्छामः, एवञ्जातीयकेषु स्वर्गः फलम्—इति ॥ (४।३।७ अ०) ॥

रात्रिसवस्यार्थवादिकफलकत्वाधिकरणम् ॥

(रात्रिसवन्यायः) ॥

स्र क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत्कार्णाजिनिः ॥ १७ ॥ (पू०) ॥

भा. रात्रोः प्रकृत्य श्रूयते,—‘प्रतितिष्ठन्ति ह वा एते, य एता उपयन्ति; ब्रह्मवर्चस्विनोऽन्नादा भवन्ति, य एता उपयन्ति’—इति । तत्र सन्देहः,—किं ते फलार्थवादाः, उत फलविधयः ? —इति । किम् प्राप्तं ?—फलार्थवादाः—इति ‘कार्णाजिनिः’ मेने । कुतः ? । फलार्थवादसरूपा एते शब्दाः—इति । किं सा-रूप्यम् ? । विधिविभक्तेरभावः, ‘अङ्गवत्’, यथा, ‘यस्य खादिरः सुवो भवति, स च्छन्दसामेव रसेनावद्यति’—इत्येवमादिषु ॥

स्र फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात् ॥ १८ ॥

(सि०) ॥

भा. ‘आत्रेयः’ पुनराचार्यः एवञ्जातीयकेभ्यः, ‘फलम्’ अस्ति—इति मेने, न, फलार्थवादः—इति । कुतः ? । अश्रुतफलत्वेभ्य-मीपा, फलचोदनया वाक्यशेषभूतया भवितव्यं । तस्मात् अन्या व्यवहिता सती अव्यवहिता कल्पनीया, इयं त्वव्यवहिता कृतैव, प्रतिष्ठया ब्रह्मवर्चससत्तया च समभिव्याहार आसां प्रत्यक्षः, विधिविभक्तिमात्रमन्यतोऽपेक्ष्यम् ।

भा 'आह—कथं केवल विधिविभक्तिमात्रम् अन्यतो भविष्यति? यत् अनेन प्रतिष्ठादिना धात्वर्थेन सम्भत्स्यते—इति। उच्यते—सह धात्वर्थेन, भविष्यति, न केवल, तस्मात् अदोष। अथ वा रात्रौणा या विधायिका विभक्ति, सा इममपि प्रतिष्ठादि विशेष विधास्यति प्रयोगवचनेन, स्तुतिर्वा सह प्रतिष्ठादिभिर्विधाची भविष्यति—इति ॥

स अङ्गेपु स्तुतिः परार्थत्वात् ॥ १६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्त—यथा 'यस्य खादिर क्षुवी भवति—इत्येवमादिषु फलश्रुति अर्थवादो भवति एवम् इत्यापि स्यात्—इति युक्तं तत्र फलार्थवाद फलविधिसम्भवात् फलार्थवाद सम्भवाच्च। तदुक्तं—द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुति अर्थवाद स्यात् (४।३।१ सू०)—इति ॥ (४।३।८ अ०) ॥

काम्यानां यथोक्त—काम्यफलकत्वाधिकरणम् ॥

स काम्ये कर्मणि नित्यं स्वर्गो यथा यच्चाङ्गे कत्वर्थः ॥
२० ॥ (पृ०) ॥

भा काम्यानि कर्माणि उदाहरणम्—'सौम्यं चक्रं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकाम—इत्येवमादीनि—इति। तत्र सन्देहः,—किम् एषा स्वर्गं फलं काम्यं उत काम एव?—इति। किं प्राप्तम्?—काम्ये कर्मणि नित्यं स्वर्गं स्यात्। कथं? सर्वपुरुषार्थाभिधायी सामान्यवचनं शब्दं न विशेषे अवस्थापितो भवति, शक्यते हि अस्य दूरस्थेनापि स्वर्गकामशब्देन सम्बन्धः। 'आह—'ननु विशेषक शब्दं श्रूयते—ब्रह्मवर्चसकाम'—इति। नप्यविशेषक, उपाधिकर एष यथा काष्ठान्याहृतम् प्रक्षिप्तं उच्यते—भवता शाकम् अपि आहृतं चम्—इति, काष्ठाक्षरणे

भा. शाकाहरणम् उपाधिः क्रियते—इति । किम् इदम् उपाधिः क्रियते ?—इति । काष्ठाहरणाधिकारसमीपे द्वितीयं कर्मापधीयते, सति काष्ठाहरणे, इदम् अपरं कर्तव्यम्—इति । एवम्, इहापि स्वर्गफले फलमपरम् उपधीमते,—‘ब्रह्मवर्चसकामो यागेन स्वर्गमभिनिर्वर्त्तयेत्’—इति । न हि, तत्र ब्रह्मवर्चसफल-वचनं स्वर्गफलस्य प्रतिषेधकं, ‘यथा, यज्ञाङ्गे कर्त्वर्थः’,—गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्—इति, यः पशुकामः स गोदोहनेन प्रणयनम् अभिनिर्वर्त्तयेत्—इति ॥

ख वीते च कारणे नियमात् ॥ २१ ॥ (यु०) ॥

भा. ‘वीते च कारणे’, वीतायां फलेष्टायाम् अवाप्ते वा फले समाप्तिनियमो दृश्यते, वृष्टिकामेष्ट्या,—‘यदि वर्षेत् तावत्येव जुञ्ज्यात्, यदि न वर्षेत् श्वेभूते जुञ्ज्यात्’—इति, यदि न स्वर्गः, किमर्थं समाप्तिनियमो भवेत् । तस्मात् नित्यः स्वर्गः—इति ॥

ख कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते ॥ २२ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘कामो वा’ फलं भवेत्, न स्वर्गः, ‘तत्संयोगेन’ अस्य चोदना भवति, न स्वर्गकामसंयोगेन, आनुमानिकोऽस्य स्वर्गकामेन एक-वाक्यभावः, प्रत्यक्षस्तु कामवचनेन, प्रत्यक्षं च अनुमानाद्भलीयः । तस्मात् काम एव फलम्—इति ॥

ख अङ्गे गुणत्वात् ॥ २३ ॥ (आ० नि० १) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा यज्ञाङ्गे—इति, युक्तं, ‘अङ्गे, गुणत्वात्’, प्रत्यक्षः तत्र क्रतुना संयोगः, कामेन च,—‘यः पशुकामः स्यात्, स गोदोहनेन प्रणयनम् अभिनिर्वर्त्तयेत्’—इति, न तु अत्र प्रत्यक्षः शब्दोऽस्ति,—यो ब्रह्मवर्चसकामः स्यात्, स यागेन

भा स्वर्गमभिनिर्वर्त्तयेत्—इति । कथं तर्हि?—यो ब्रह्मवर्चसकाम
स्यात् स तत् यागेन निर्वर्त्तयेत्—इति । तस्मात् न अङ्गवत्
भविष्यतीति—इति ॥

सू वीते च नियमस्तदर्थम् ॥ २४ ॥ (आ० नि० २) ॥

भा अथ यदुक्तं,—वीतया फलेच्छायाम्, अवाप्ते वा फले समाप्ति
नियमो दृश्यते—इति । तत्र ब्रूम,—‘वीते नियमस्तदर्थं’, वीते
नियमो भवति, तस्मै प्रयोजनाय । कस्मै? । शिष्टाविगर्हणाय,—
उपक्रम्य अपरिसमापयत,—तदनन्तरमेवैनं शिष्टा विगर्हयेयुः,
—प्राक्रमिकोभ्य कापुरुष—इति वदन्त, ये हि देवेभ्य
सङ्कल्प्य हवि, न यागमभिनिर्वर्त्तयन्ति, तान् शिष्टा विगर्हन्ते
तस्मात् अवश्य समापयितव्यं, तत्र एतद्दर्शनं युक्तं भविष्यति,—
‘यदि वर्षत् तावत्थेव जुहुयात्—इति । तस्मात् काम्यानां
काम एव फलम्—इति ॥ (४।३।६ अ०) ॥

दर्शपूर्णमासादीनाम् सर्वकामार्थताधिकरणम् ॥

(इत प्रभृति अधिकरणद्वयं दर्शपूर्णमासन्याय) ॥

सू सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात् ॥ २५ ॥ (पू०) ॥

भा इदमाग्नयते,—‘एकस्मै वा अन्या इष्टय कामाय आहि-
यन्ते सर्वभ्यो दर्शपूर्णमासौ, ‘एकस्मै वाग्ये कृतव कामाय
‘आहियन्ते, सर्वभ्यो ज्योतिष्टोम’—इति । तत्र सन्देहः,—किम्
अङ्गकामे अङ्गाङ्गकामैश्च सह अस्य अनुवादः, अथवा विधिः ?
—इति । किं प्राप्तम्?—अनुवाद—इति, यदेतत् ‘सार्वकाम्यं’,
तदनुद्यते, अङ्गकामैश्च अङ्गाङ्गकामैश्च सह, सन्ति हि अङ्ग-
कामाश्च अङ्गाङ्गकामाश्च, यथा ‘आह्वार्यपुरीषा यशुकामस्य

भा. वेदिं कुर्यात्, खननपुरीषां प्रतिष्ठाकामस्य—इत्येवमादयः,
तथा,—‘यदि कामयेत, वर्षेत् पर्जन्यः’—इति नीचैः सदो
मिनुयात्—इति, तत् विहितमेव इदमभिधीयते,—इत्यनुवादं
न्यायम् मन्यामहे ॥

सू. फलोपदेशो वा प्रधानशब्दसंप्रयोगात् ॥ २६ ॥
(सि०) ॥

भा. फलविधिर्वा । कुतः ? । प्रधानशब्देन फलसंयोगो भवति,
—‘सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ’, ‘सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः’—इति च,
प्रधानाभिधानेन च प्रधानस्य सर्वफलवत्ता विहिता । तस्मात्
न अनुवादः । अथ अङ्गकामान् अङ्गाङ्गकामांश्चापेक्षते, तथा
लक्षणाशब्दः स्यात्, श्रुतिश्च लक्षणाया गरीयसी । तस्मात्
प्रयोगवचनेन विधिः—इति ॥ (४।३।१० अ०) ॥

दर्शपूर्णमासादीनां प्रति-फलं पृथगनुष्ठानाधिकरणम् ॥

(योगसिद्ध्यन्यायः) ॥

सू. तच्च सर्वेऽविशेषात् ॥ २७ ॥ (पू०) ॥

भा. एवञ्जातीयकेषु एव उदाहरणेषु एतत् उक्तं,—प्रधाने सर्व-
कामानां विधिः—इति । इदम् इदानीं सन्दिह्यते,—किं सहत्-
प्रयोगे सर्व कामाः, उत पर्यायेण ?—इति । किं प्राप्तम् ?—
सहत्प्रयोगे ‘सर्वे’ कामाः—इति । कथं ? । सर्वेषां कामानां
दर्शपूर्णमासौ निमित्तं, ज्योतिष्टोमश्च—इति, निमित्तं चेत्
सर्वेषां कामानां, कोऽत्र खलु कामो न भविष्यति ?—इति ।
तस्मात् योगपक्षेन सर्वे कामाः—इति ॥

सू योगसिद्धिर्व्यर्थस्योत्पत्त्यसयोगित्वात् ॥ २८ ॥ (सि०) ॥

भा न चैतदस्ति, सर्वे युगपत् कामा — इति, पर्यायो 'योग सिद्धि', पर्यायेण भवेयु कामा — इति । कुत ? । 'अथस्य उत्पत्त्यसयोगित्वात्' अर्था इमे कामा नाम, न सर्वे एव युगपत् उत्पद्यन्ते असम्भवो युगपदुत्पत्ते सर्वथा, विरोधात् । अथ वा, 'उत्पत्त्यसयोगित्वात्' — इति न, कामानामेतत् उत्पत्तिवचनम्, उत्पन्नाना लक्षणत्वेन वचन, ये सर्वे कामास्तेभ्यो दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोमश्च — इति, न सर्वे कामा कर्मण श्रूयन्ते, ये सर्वे कामास्तेभ्यो हि कर्म विधीयते । तस्मात् न कामाना साहित्य गम्यते — इति ॥ (४।३।११ अ०) ॥

एव वा —

काम्यानामैहिकामुष्मिकफलवत्त्वाधिकरणम् ॥

(वर्णकान्तरम्) ॥

सू तच्च सर्वेऽविशेषात् ॥ २७ ॥ (पू०) ॥

भा काम्यानि कर्माणि उदाहरणम् — सौर्यं चरुं निर्वपेत् वक्षं वर्चसकाम, ऐन्द्राग्रमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकाम, चित्रया यजेत पशुकाम, वैश्वदेवो साङ्ग्यद्वायव्यो* निर्वपेत् शामकाम — इति, तेषु सन्देहः — किम् इह लोके कामा, उत अमुष्मिन् लोके? — इति । किं प्राप्तम्? — तच्च (अमुष्मिन् लोके) कामा, "अविशेषात् यथा स्वर्ग एवम् इममपि, न हि, अनन्तरानर्हते कर्मणि फलम् उपलभ्यते पशवादि, यच्च अनन्तरम् उपलभ्यते, तत् तत — इति विज्ञायते, यथा यत्कालं मर्द्दनं, तत्कालं मर्द्दनं

* सायण्येषोम् इति आ० सो० पु० पाठः ।

भा सुरा, यच्च कालान्तरे उपलभ्यते, तस्याप्यन्यदेव कारणं प्रत्यक्षं,
शरीरयहणस्य तु न अदृष्टादृते किञ्चित् कारणमस्ति । तस्मात्
विशिष्टेन्द्रियशरीरादि फल पशुसम्बन्धसमये पशुफलात् कर्मणो
भवति—इत्येव बोद्धव्यम् । तद्वि दर्शयति,—‘कैकयो यद्
विवित्सन् दास्यम् उवाच अनया मा राष्ट्रप्रतिपादनीयया
इच्छा याजयेति, सोऽब्रवीत् न वै सौम्य राष्ट्रप्रतिपादनीया
वेत्य, अमुष्मै कामाय यज्ञा आह्नियन्’—इति जन्मान्तरफलता
दशयति । तस्मात् जन्मान्तरफलानि काम्यानि—इति ॥

सू योगसिद्धिर्व्यर्थस्योत्पत्त्यसंयोगित्वात् ॥ २८ ॥
(सि०) ॥

भा इह एवैषा सिद्धि योगस्य, उत्पत्त्या योगो न सम्भवति,
य पशुभ्य कामयते, स एतेन यागेन कुर्वात्—इति, न
अत्रेतत् गम्यते,—इह जन्मनि न सम्भवति—इति । यच्च,
—अनन्तरं नोपलभ्यते—इति, तन्न, प्रत्यक्षानुमानाभ्या न
गम्यते, शब्देन त्वस्ति गति । यत्तु,—कालान्तरेऽन्यत् कारणम्
—इति, न एष दोष, अन्यदपि भविष्यति एतदपि । यच्च,
—‘अमुष्मै कामाय यज्ञा आह्नियन्ते’—इति, अत्र उच्यते,—
एवम् अस्य चक्षुर्मेतम्,—इह यस्य फल तेन त्वा न याजयामि,
यस्य अमुच फल तेन च याजयिष्यामि—इति । तस्मात् एतत्
परिहृतम्—इति ॥ (४।३।१२ अ०) ॥

सौचामण्यादीनां चयनाद्यङ्गताधिकरणम् ॥

सू समवाये चोदनासंयोगस्यार्थवत्त्वात् ॥ २९ ॥ (सि

भा ‘अग्निं चित्वा सौचामण्या यजेत, वाजयेयेन इह दृष्टम्

भा सवेन यजेत'—इति । तत्र सन्देहः,—किम् अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः
 एषः, उत कालार्थः संयोगः?—इति । अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः—
 इति ब्रूमः,—एवं हि श्रुतिविनियुक्तोर्ध्वः, इतरथा कालो
 लक्ष्येत, श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्यास्या न लक्षणा । तस्मात्
 अश्वरङ्गं सोचामणी, वाजपेयाङ्गं दृष्टस्पतिसवः—इति ॥

स कालश्रुतौ काल इति चेत् ॥ ३० ॥ (आ०) ॥

भा एवं चेत् पश्यसि,—अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः—इति, अथ काल-
 विधानं कस्मात् न भवति? कालविधिरूपो हि शब्दः 'चित्वा'
 (चयनेऽभिनिर्वृत्ते)—इति ॥

स नासमवायात्प्रयोजनेन स्यात् ॥ ३१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'न' एतदेवम्, 'असमवायात्' शब्द—'प्रयोजनेन' (शब्दार्थेन
 —इत्यर्थः),—शब्दार्थस्त्वयनं, तेन असमवायः स्यात् सोचामण्या,
 वाजपेयेन च दृष्टस्पतिसवस्य ; प्रकरणं च बाधेत, अग्निप्रकरणे
 श्रूयमाणः अग्नेर्धर्मो गम्यते यागः, वाजपेयप्रकरणे च वाजपेयस्य,
 इतरथा, तयोः प्रकरणेभ्यस्य धर्मः कालो गम्येत । तस्मात्
 अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः—इति ॥ (४।३।१३ अ०) ॥

वैश्वधादेः पौर्णमास्याद्यङ्गताधिकरणम् ॥

स उभयार्थमिति चेत् ॥ ३२ ॥ (पू०) ॥

भा दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति,—'संख्याय्य पौर्णमासी वैश्वधमनु-
 निर्वपति'—इति । तत्र सन्देहः,—किम् उभयाङ्गं वैश्वधः, का-
 लार्थः पौर्णमासोसंयोगः ; उत अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः?—इति ।
 किं प्राप्तम्?—एवं चेत् उभयार्थो वैश्वधः । कुतः? । प्रकरणे

भा. उभयोः आम्नानसामर्थ्यात्, कालविधिसारूप्याच्च 'संस्थाप्य'
—इति ॥

स. न शब्दैकत्वात् ॥ ३३ ॥ (सि०) ॥

भा. एकः शब्दः,—'अनुनिर्वपति'—इति, एकस्मिन् एव वाक्ये न
द्वौ सम्बन्धौ शक्नोति विधातुम्,—वैमृधस्य दर्शपूर्णमासाभ्यां,
पूर्णमासीकालेन च । एकार्थत्वात् हि एकं वाक्यं समधिगतम् ॥

स. प्रकरणादिति चेत् ॥ ३४ ॥ (आ०) ॥

भा. प्रकरणात्—इति यदुक्तं,—तत्परिहर्तव्यम् ॥

स. नोत्पत्तिसंयोगात् ॥ ३५ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदेवम्,—एतदेव वैमृधस्य उत्पत्तिवाक्यं, तत् दर्शपूर्ण-
मासाभ्यां वा प्रकरणात् एकवाक्यभावमियात्, प्रत्यक्षं वा
पौर्णमास्या, तत्र प्रत्यक्षसंयोगः प्रकरणात् बलवान्, प्रत्यक्षस्य
पौर्णमास्या संयोगः, परोक्षः कालेन, तस्मात् पौर्णमास्या अङ्गं
वैमृधः—इति ॥ (४।३।१४ अ०) ॥

अनुयाजादीनामाग्निमासतोर्द्धकालताधिकरणम् ॥

स. अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात्प्रयोजनेन सम्बन्धात् ॥
३६ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'आग्निमासतात् ऊर्द्धम् अनुयाजैश्चरन्ति',
'प्रहृत्य परिधीन् जुहोति हारियोजनम्'—इति । तत्र सन्देहः,
—किम् अङ्गम् विधीयते, उत कालः?—इति । अङ्गविधाने
श्रुतिः, कालविधाने खद्येयः, तस्मात् अङ्गविधानम्—इति प्राप्ते

भा ब्रूम —अनुत्पत्तिवाक्ये 'काल स्यात्', अग्निमासत सोमाङ्गम् अनुयाजा पश्वङ्ग, तत्र न तयो परस्परं सम्बन्धः। तथा, परिधय पश्वङ्ग, हारियोजनम् अन्यदेव प्रधानम्। अनुयाज अग्निमासत च प्राप्तम् आनन्तर्यमेव तयोर्न प्राप्तं, तत् विधीयते, तथा, हारियोजनस्य परिधिप्रहरणस्य च। एवं च सति, न हारियोजनस्य परिधिप्रहरणेन कश्चित् उपकार क्रियते, हारियोजनेन वा परिधिप्रहरणस्य। 'ननु परिधिप्रहरणस्य उपरिष्ठाङ्गावेन तस्य उपक्रियेत—इति। उच्यते, न हि उपरिभावार्थं परिधिप्रहरणम् अनुष्ठेयम्, विद्यते एव एतत् पश्वङ्गं, तस्मिन् सति तस्य उपरिभावो विद्यते एव—इति। तस्मात् कालार्थं सम्बन्ध—इति॥ (४।३।१५ अ०)॥

सोमादीनां दर्शपूर्णमासोत्तरकालतादधिकरणम्॥

स उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद्वाक्यस्य तत्प्रधान-
त्वात्॥ ३७॥

भा इदम् आग्नायते,—'दर्शपूर्णमासौ इद्धा सोमेन यजेत—
इति। तत्र सन्देहः—किम् एतत् अङ्गस्य विधानम् उत
कालस्य?—इति। किं प्राप्तम्?—श्रुते अङ्गस्य। इति प्राप्ते
उच्यते,—अस्मिन् कालाङ्गविधानसंशये 'काल स्यात् वाक्यस्य
तत्प्रधानत्वात्', कालप्रधानं हि एतत् वाक्यं न यागविधानं
परम् अतत्परतास्य, रूपावचनात्। कथं रूपावचनम्?।
देवताभावात्। कथम् अभावः?। अश्रुतत्वात्, या हि यस्य
श्रूयते, सा तस्य देवता भवति, श्रुत्या हि देवता गम्यते, न
प्रत्यक्षादिभिः। तस्मात् न अपूर्वस्य यागस्य विधानं, काह्यं
अनुवादे न त्रयं दोषः,—विहितदेवताको हि अनूद्यते। तस्मात्

भा. अत्र कालार्थः सम्बन्धः—इति । तच्च दर्शयति—‘एष वै देवरथो यत् दर्शपूर्णमासौ, यद्दर्शपूर्णमासाविद्धा सोमेन यजते, रथस्पष्ट एव अवसाने वरे देवानामवस्यति’—इति, प्रदर्शिते मार्गे रथेन यातुम् सुखं भवति, एवं दर्शपूर्णमासाविद्धा सोमेन यष्टुम् सुखं भवति, दर्शपूर्णमासप्रवृत्तीनि तस्य दीक्षणीयादीनि स्वयस्तानि भवन्ति, एवम् अर्थवादोऽर्थवान् भवति ॥ (४।३। १६ अ०) ॥

वैश्वानरेष्टेः पुत्रगतफलकत्वाधिकरणम् ॥

(इतः प्रवृत्ति अधिकरणद्वयं जातेष्टिन्यायः) ॥

ख फलसंयोगस्त्वचोदिते न स्यादशेषभूतत्वात् ॥ ३८ ॥

भा. ‘वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते’—इति । तच्च सन्देहः,—किम् आत्मनिःश्रेयसाय, उत पुत्रनिःश्रेयसाय?—इति । आत्मनिःश्रेयसाय—इति ब्रूमः,—न इमानि फलदानि परस्य भवन्ति कर्माणि । कुतः? । आधाने आत्मनेपदनिर्देशात्, यथा,—‘यदि एकं कपालं नश्येदेको मासः संवत्सरस्य अपेतः स्यात्, अथ यजमानः प्रमीयेत द्वावापृथिवीयम् एक-कपालं निर्वपेत् । यदि द्वे नश्येयातां, द्वौ मासौ संवत्सरस्य अपेती स्यातां, अथ यजमानः प्रमीयेत आश्विनं द्विकपालं निर्वपेत्, सङ्ख्यायोदासयति यजमानस्य गोपीवाय’—इति, कपालनाशे निमित्ते आत्मनिःश्रेयसफलं कर्म दर्शयति; एवम् इहापि द्रष्टव्यम्, तस्मात् आत्मनिःश्रेयसम्—इति ।

* यो दर्शपूर्णमासाविति माधवीयन्यायमालोयां पाठः । अवसाने निश्चिते, वरे मार्गे इति माधवः ।

भा. — एवं प्राप्ते वृमः,—‘फलमयोगो’ न स्यात् पितुः, फलवचनं शेषभूतं पुत्रस्य, न पितुः । कथम्? । एवं श्रूयते,—‘वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वधेत् मुचे जाते, यत् अष्टाकपालो भवति, गायत्रेवैनं ब्रह्मवर्षसेन पुनाति, यत् नवकपालो भवति, विष्टतै-
वास्मिंस्तेजो दधाति, यत् दशकपालो विराजैवास्मिन् अन्नाद्यं दधाति, यत् एकादशकालः विष्टुभैवास्मिन् इन्द्रियं दधाति, यत् द्वादशकपालो जगत्येवास्मिन् पशून् दधाति । यस्मिन् जाते एताम् इष्टिं निर्वपति, पूत एव स तेजस्वी अन्नाद् इन्द्रियादी पशुमान् भवति’—इति, यो जातः, तत्र फलं श्रूयते, नास्ति वचनस्य अतिभारः । तस्मात् पुत्रस्य फलम्—इति ।

यदुक्तं,—न परस्य फलदान्येतानि कर्मणि—इति, तदुच्यते, यत् पुत्रस्य फलम्, आत्मनः सा प्रीतिः, तस्मात् आत्मनेपदं न विरुध्यते, एतामेव आत्मनः प्रीतिमभिप्रेत्य भवति वचनम्,—‘आत्मा वै पुत्रः’—इति,

‘अद्वाद्वात् सम्भवसि हृदयादभिजायसे ।

आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्’—
इति ॥

य अद्वादान्तृपद्यातसंयोगो निमित्तार्थः ॥ ३८ ॥

(आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—‘यदि एकं कपालं नश्येत्’—इत्येवमादि । तत्र उच्यते,—‘अद्वादान्तृ उपघातसंयोगो निमित्तार्थः’ उपपद्यते, नाग्यथा, न हि, कपाले नष्टे तदन्वेषणायां इष्टिर्दुष्ठा, न हि, काकिन्यां नष्टाया तदन्वेषणं कार्यापणेन क्रियते ॥ (४।३। १० अ०) ॥

एवं वा,—

वैश्वानरेष्टे जातकर्मोत्तरकालताधिकरणम् ॥

सू. अङ्गानानुपघातसंयोगो निमित्तार्थः ॥ ३८ ॥

भा. 'वैश्वानरं द्वादशकपाखं निर्वपेत् पुत्रे जाते'—इति । तत्र सन्देहः,—किं जातमात्रे, उत हते जातकर्मणि?—इति । जातमात्रे—इति वृमः,—सम्प्राप्ते हि निमित्ते नैमित्तिकेन भवितव्यम् । एवं प्राप्ते वृमः,—हते जातकर्मणि—इति । कुतः? । सामर्थ्यात्, हते हि जातकर्मणि प्राशनं तस्य विधीयते, यदि प्राक् जातकर्मणः, इष्टिः क्रियते, प्राशनकालो विप्रहृष्येत, तत्र अस्य शरीरधारणं न स्यात्! अथ यदुक्तम्,—सम्प्राप्ते निमित्ते हि नैमित्तिकेन भवितव्यमिति । उच्यते,—'अङ्गानानुपघातसंयोगो निमित्तार्थः',—'उपघातः' पुत्रजन्म, तत् भूतं निमित्तम्, न तत्कालोद्भूतम्, तत्र निमित्तम्, हतेऽपि जातकर्मणि नापैति । इतरग्निन् पक्षे कालोऽपेयात्, लघ्वा चाग्निन् पक्षे स्यात् । तस्मात् हते जातकर्मणि—इति ।

*अथ किमन्तर्गताष्टे यस्मिन् कस्मिन् वा अहनि, उत अकाले?—इति । किम् प्राप्तम्?—यस्मिन् कस्मिन् वा अहनीति,—एवम् अनियमः प्राप्तः । अत्रोच्यते,—'पौर्णमास्याममावास्यायां वा । कुतः? । श्रुतेः, एवं हि श्रूयते,—'य इहा पशुना गोमेन वा यजेत, स पौर्णमास्याम् अमावास्यायां वा यजेत'—इति । नातिभारो वनस्य, इतरग्निन् पक्षे कालोऽपेयात् । लघ्वाप्यग्निन् पक्षे स्यात्! अन्यस्यां तिद्यावन्तर्गताष्टे वा कुर्वन् गवानि अङ्गानि उपमर्हन्तुम् न शक्नुयात्! कार्यं गौचक्ष

भा नोपसङ्गहीयात्' तस्मात् अतीति दशाहे षोडशमास्याममा
वास्याया वा कुर्यात्—इति ॥ (४।३।१८ अ०) ॥

सौत्रामण्याद्यङ्गानां सकालकर्तव्यताधिकरणम् ॥

स प्रधानेनाभिसंयोगादङ्गानां मुख्यकालत्वम्* ॥

४० ॥ (पू०) ॥

भा 'अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत', 'वाजपेयेन इष्टा
वृद्धस्पतिसवेन यजेत'—इति, अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः—इत्युक्तम्,
एतत् इदानीं सन्दिश्यते,—किं चितमात्रे, तद्वमध्ये एव कर्तव्यम्,
उत सकाले कर्तव्यम्?—इति, तथा वाजपेये किं 'वृद्धस्पतिसवे,
उत सकाले?—इति। 'मुख्यकालत्वम्' अनयोः स्यात्। कुत?।
प्रधानकालत्वात् 'अङ्गानाम्', एको हि कालः प्रधानानाम्
अङ्गानां च—इति वक्ष्यते,—'अङ्गानि तु विधानत्वात् प्रधानेन
उपदिश्येरन्'—इति, अग्निचयनं कृत्वा न तावति एव रघातथं,
सौत्रामणीसंज्ञकोऽपरो यागः कर्तव्यः—इति। तथा, वाजपेयम्
अभिनिर्वर्त्य न एतावता कृती स्यात्, वृद्धस्पतिसवसंज्ञकं यागम्
अभिनिर्वर्तयेत्—इति ॥

स अपवृत्ते तु चोदना तत्सामान्यात् सकाले स्यात् ॥

४१ ॥ (सि०) ॥

भा 'अपवृत्ते' यागे चोद्यते यागान्तरम् इदम्, अपवृत्तिश्च सर्वेषु
यागाङ्गेषु अकृतेषु न भवति†, न, यथा भवान् मन्यते,—

* इदञ्च अधिकरणम् वार्तिक तत्परम् शाश्वदोपिकापु अथ नोष्ठि
वितम् ॥

† कृतेषु भवति इति का० श्री० पु० पाठः ॥

भा. यागमात्रे निर्वर्त्तते—इति । कुतः ? । करणविभक्त्या संयोगात्,—
 ‘वाजपेयेन इष्ट्वा’ (वाजपेयेन फलस्य व्यापारं कृत्वा), साङ्गेन
 च व्यापारो गम्यते न निरङ्गेन, भवेत् तद्वमध्ये प्रयोगः, यदि
 वाजपेयम् अभिनिर्वर्त्त्य—इतोऽस्मिन्भावो वाजपेयस्य स्यात्,
 ततः प्रधानमात्रं वाजपेयसंज्ञकम् अभिनिर्वर्त्त्य—इति गम्येत,
 न तु एवमस्ति । तस्मात् यद्योक्तानि सर्वाण्यङ्गानि कृत्वेत्यर्थः ।
 एवं चेत्, निर्वर्त्तते प्रयोगे, अतिक्रान्ते वाजपेयकाले यागः प्रयुज्यते,
 तस्य चोदनासामान्यात्, ज्योतिष्टौमिके विध्यन्ते प्राप्ते स्वेन
 चोदकप्राप्तेन कालेन भवितव्यम्, सौवामण्याः चोदनासामा-
 न्यात्, दर्शपूर्णमासकालेन—इति ।

‘आहुः,—‘वाजपेये तावत् ‘इष्ट्वा’—इतिवचनात् यागम्
 अभिनिर्वर्त्त्य—इति गम्यते, अग्नौ तु नोपपद्यते, तत्र ‘चित्वा’—
 इतिवचनात् चयनम् अभिनिर्वर्त्त्य—इत्यर्थः स्यात् । उच्यते,
 —नैतदेवम्,—‘अग्निं चित्वा’—इति हि श्रूयते, (अग्निं चयनेन
 संस्तुत्य—इत्यर्थः), ‘अग्निः’—इति ज्वलनोद्भिधीयते, न तस्य
 स्थलस्थापनमात्रम् उपकारः, यदि स्थलस्थिते यागो भवति,
 ततश्चयनेन अग्नेः उपकारोऽस्ति, ‘तमभिनिर्वर्त्त्य’—इति स्थल-
 स्थितेऽग्नौ यागमभिनिर्वर्त्त्येति गम्यते, यावत् स्थलस्थितेऽग्नौ
 यागो न भवति, न तावदाग्निः चयनेनोपक्रियते । येन अग्नि-
 र्यजमानस्य उपकरोति, सोऽग्निरुपकारो न स्थलस्थापनमात्रम् ।
 तस्मात् तच्चापि यागम् अभिनिर्वर्त्त्य—इति गम्यते ॥ (४।३।
 १८ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य
 तृतीयः पादः समाप्तः ॥

चतुर्थे अध्याये चतुर्थः पादः ॥



राजसूयेज्यानां विदेवनाद्यङ्गकत्वाधिकरणम् ॥

छ. प्रकरणशब्दसामान्याञ्चोदनानामनङ्गत्वम् ॥ १ ॥
(पू०) ॥

भा सन्ति श्रुतमत्यादीनि ऐष्टिकानि कर्माणि,—मल्हादयः
मशवः, पवित्रादयः सोमाः, वाल्मीकवपायां होमः—इत्येव-
मादीनि दार्वाहोमिकानि; तथा,—‘यष्टौहो दीयति, राजन्यं
जिनाति, गौनःश्रेष्ठमापयति अभिपिचते*’—इति, एतेषां
मन्त्रिधौ श्रूयते,—‘राजसूयेन साराज्यकामो यजेत’—इति, स
एव रूपवतां यागानां मन्त्रिधौ अरूपः शब्दः श्रूयमाणः समु-
दायवाचकः समधिगतः। तत्र सन्देहः,—किं सर्वेषाम् अनुमत्या-
दीनां समुदायस्य राजसूयशब्दो वाचकः, उत केवाञ्चिद्वचकः
केवाञ्चित् न?—इति। किं प्राप्तम्?—सर्वेषां वाचक’—इति।
श्रुतः?। ‘प्रकरणशब्दसामान्यात्,—प्रकरणशब्दः सर्वेषां समानो
राजसूयेन—इति, राजा सत्र श्रूयते, तस्मात् राजसूयः, राज्ञो
वा यज्ञो राजसूयः, तत् प्रकरणसन्निधाने सति, विशेषाभावे
च सर्वेषां वाचको भवितुमर्हति, यच्च राजसूयशब्दितः ततः
फलं भवति। तस्मात् सर्वेषां प्रधानानि—इति ॥

* माल्हा मण्डिगलतनमुक्ता। यापता ययमा पुष्टे भारं बोहुं
मन्त्रिर्भवति तावन्त्यस्या यष्टौहो इति माधवः। ‘यष्टौहोम’ इत्यत्र
‘मष्टौहो’ इति आ० सो० मु० पाठः। एवं परत्र ॥

स अपि वाङ्मनिज्याः स्युस्ततो विशिष्टत्वात् ॥ २ ॥
(सि०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। या 'अनिज्याः' ता 'अङ्ग', यथा विदेवनादयः, 'राजसूयसंज्ञकेन यागेन स्वाराज्यं कुर्यात्'—इत्युच्यमाने यागेनैव स्वाराज्यं साध्यते, न अयागेन, अयागाद्य विदेवनादयः। तस्मात् अङ्गं भवेयुः, इज्यानां फलवतीनां यूयमाणाः—इति ॥ (४।४।१ अ०) ॥

विदेवनस्य ह्यत्स्वराजसूयाङ्गताधिकरणम् ॥

स. मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये ॥ ३ ॥ (पू०) ॥

भा. राजसूयेऽभिषेचनीयमध्ये 'यष्टौहो दीव्यति'—इति विदेवनादयः समाग्नताः, ते किम् अभिषेचनीयस्य अङ्गम्, उत ह्यत्स्वस्य राजसूयस्य?—इति संशयः। उच्यते,—मथाग्नानात् अभिषेचनीयस्य—इति, तथा आनन्तर्यम् अनुग्रहीष्यते—इति ॥

स सर्वासां वा समत्वाच्चोदनातः स्यान्नहि तस्य प्रकरणं
देशार्थमुच्यते मध्ये ॥ ४ ॥ (सि०) ॥

भा. 'सर्वासां' चानुमत्यादीनां चोदनानामङ्गं विदेवनादि स्यात्। कुतः?। 'चोदनातः' 'समत्वात्', समाना एता अनुमत्याद्या चोदनाः, ताः सर्वाः फलवत्यस्य प्रधानभूताः; सर्वासाम् आसां 'प्रकरणं', 'न हि' अभिषेचनीयस्य केवलस्य। ब्रह्मणात् अभिषेचनीयस्य प्राप्नुवन्ति, प्रकरणात् सर्वासां, प्रकरणं च ब्रह्माङ्गलीयः। तस्मात् न अभिषेचनीयस्य केवलस्य—इति, अभिषेचनीयस्य तु मध्ये स्थानं विदेवनादीनां, तत्र क्रियमाणाः सर्वासाम् उप-
कुर्वन्ति—इति ॥ (४।४।२ अ०) ॥

सौम्यादीनामुपसत्कालकत्वाधिकरणम् ॥

स प्रकरणाविभागे च विप्रतिषिद्धं ह्युभयम् ॥ ५ ॥
(पू०) ॥

भा राजसूये उपसदः प्रकृत्य श्रूयते,—‘पुरस्तात् उपसदां सौम्येन प्रचरन्ति, अन्तरा त्वाष्ट्रेण, उपरिष्ठात् वेष्टवेन’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् उपसदङ्गं सौम्यादयः, उत उपसत्कालाः?—इति । उपसदङ्गम्—इति ब्रूमः । कुतः? । उपसत्सयोगस्य श्रुतत्वात्, कालविधौ सति लक्षणा स्यात्, तस्मात् उपसदङ्गम्—इति ।

‘ननु कालवत् अङ्गम् भविष्यति, तथा सति उभयम् अनुगृह्येत,—उपसत्सयोगस्य, ‘पुरस्तात्’—इति च कालाभिधानम्, उपसच्छब्दसंयोगात् उपसदङ्गता भविष्यति, पुरस्ताच्छब्दसामर्थ्याच्च पूर्वादिषु प्रयोगः’—इति । उच्यते,—‘विप्रतिषिद्धं हि उभयं’,—न शक्नोति ‘उपसदाम्’—इत्येष शब्दः, सौम्यादींश्च विशेषुम्, एकस्मिन् वाक्ये, पूर्वादींश्च, भिद्येत हि तथा वाक्यम् । तस्मात् न कालवत् अङ्गम् ॥

स अपि वा कालमात्रं स्याददर्शनादिशेषस्य ॥ ६ ॥
(सि०) ॥

भा ‘अपि वा’—इति पक्षव्यावृत्तिः । ‘कालमात्रं स्यात्’, न अङ्गप्रयोजनसम्यग्त्वः । कुतः? । ‘अदर्शनादिशेषस्य’,—न अन्यैः कालाभिधानैः अस्य कश्चित् विशेषो लक्ष्यते, ‘आग्निमासतात् ऊर्द्धम् अनुयाजैश्चरन्ति’—इत्येवमादिभिः, अत्रापि हि सौम्यादयो विहिता उपसदोऽपि, इदम् आनुपूर्वम् अविहितम्, तत् विधीयते । तस्मात् कालमात्रम्—इति ॥ (४।४।३ अ०) ॥

आमनहोमानां साङ्ग्यहायण्यङ्गताधिकरणम् ॥

स फलवद्वोक्तहेतुत्वादितरस्य प्रधानं स्यात् ॥ ७ ॥

भा 'वैश्वदेवो साङ्ग्यहायणीं निर्वपेत् यामकामः'—इति । तत्र आमनहोमाः श्रूयन्ते,—'आमनस्य'—इति तिस्र आङ्गतीर्जुहोति—इति । अत्र सन्देहः,—किम् समप्रधानभूता आमनहोमाः साङ्ग्यहायणीष्या, उत अङ्गम् तस्याः?—इति । किं प्राप्तम्?—समप्रधानभूताः—इति । कुतः? । तुल्यहेतुत्वात् इतरस्य, तुल्यं हि यजिमत्त्वं । 'ननु अफला होमाः' । उच्यते,—'यामकामः'—इति अत्र अनुषज्यते । तस्मात् समप्रधानभूताः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'फलवत् वा उक्तहेतुत्वात् इतरस्य प्रधानं स्यात्'—न चैतदस्ति,—समप्रधानभूताः होमाः इष्या—इति, फलवत् हि अफलस्य प्रधानम्, फलवती चेष्टिः, अफला होमाः ।

'ननु उक्तम्,—अनुषङ्गो भविष्यति'—इति । उच्यते,—न अनुषङ्गः प्राप्नोति । कुतः? । व्यवायात्, तदुक्तं, (२।१।४६ सू०) —'व्यवायात् न अनुषज्येत'—इति । केन व्यवायः? । परिधिमक्षै,—'उपोऽस्युपस्त्वं देवेष्वधुयोऽहं सजातेषु भूयासं प्रियः सजातानाम् उपशेत्ता वसवित्'—इत्येवमादिभिः, एतान् अनुब्रूम्य, 'आमनस्य'—इति तिस्र आङ्गतीर्जुहोति—इत्यामनन्ति । तस्मात् साङ्ग्यहायण्या अङ्गम् आमनहोमाः—इति ॥ (४।४।४ अ०) ॥

* आमनस्यामनस्य देवा इति क० सं० पु० पाठः । आमनमस्यामनमस्य देवा इति का० क्री० पु० पाठः ॥

स. नित्यो वा स्यादर्थवादस्तयोः कर्मण्यसम्बन्धाद्भङ्गि-
त्वाच्चान्तरायस्य ॥ ११ ॥ (सि०) ॥

भा. यदुक्तम्,—नित्यो नैमित्तिकश्च—इति, तत्र, 'नित्यः' एव
'स्यात्', ज्येष्ठशब्दात् सार्वगत्याच्च । यदुक्तं,—देवतान्तराये
निमित्ते श्रूयते—इति, न देवतान्तरायो निमित्तत्वेन गम्यते ।
'तयोः' (अभ्यर्चयजमानयोः) 'कर्मणि' अन्तरायेण 'असम्बन्धात्',
—न हि एतत् श्रूयते,—अभ्यर्चुणा देवता अन्तरितव्या यज-
मानेन वा—इति, अनित्यो हि अन्तरायः । न च, एवं-
शब्दोऽस्ति,—अन्तराये सति दधियहो ग्रहीतव्यः—इति, विनैव
संयोगेन, दधियहस्य ग्रहणम्, अन्तरायसमाधानं त्वस्य प्र-
योजनम्—इति, तदेतत् नित्यवत् ग्रहणम्, अनित्यं प्रयोजनम् ।
नित्यं गृहीयात्, अनित्यम् अन्तरायं समाधातुम्—इति न
अवकल्पते, तत्र प्रयोजने अनित्यत्वात् ग्रहणे नित्यवत्श्रुति-
र्वाध्येत, अर्थवादत्वे तु न बाध्यते, न हि तत् अन्तरायं समा-
धातुम् गृह्यते, अन्यदेव प्रयोजनम् अस्यास्ति—इति प्रशंसितुम्
अभिधीयते । दधियहस्य तु सोमाद्भूतैव प्रयोजनम्—इति ।
। 'भङ्गित्वाच्च अन्तरायस्य',—भङ्गी च अन्तरायोऽनित्यो नित्य-
प्रशंसार्थे सङ्कीर्त्यते । तस्मात् न एष दोषः, नित्य एव दधियहः
—इति ॥ (४।४।५ अ०) ॥

वैश्वानरस्य नैमित्तिकत्वाधिकरणम् ॥

स. वैश्वानरस्य नित्यः स्यान्नित्यैः समानसङ्ख्यत्वात् ॥
१२ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति अग्निः,—'य एवं विद्वानग्निश्चिनुते'—इति । तत्र
श्रूयते,—'यो वै संवत्सरमुप्यमभृत्वाग्निश्चिनुते, यथा सामिगर्भो

भा विपद्यते, तादृगेव तदार्त्तिमार्च्चेत्, वैश्वानर द्वादशकपाल पुर
 स्तात् निर्वपेत् संवत्सरो वाग्निर्वैश्वानरो, यथा संवत्सरमाप्त्वा
 काले आगते विजायते, एवमेव संवत्सरमाप्त्वा काले आगते
 अग्निश्चिनुते नार्त्तिमृच्छेत्—इति, एषा वाग्ने प्रिया तनूर्यत्
 वैश्वानर, प्रियामेवास्य तनूमवरुन्धे—इति । तत्र सन्देहः,—
 किं नित्यो वैश्वानर, अथ नैमित्तिक ?—इति । किं प्राप्तम् ?
 —अत्रापि 'नित्य' एव । अर्थवादः,—उत्पन्नस्य संवत्सराभरणेन
 कृतो दोषः, वैश्वानरेण विहन्यते—इति, 'नित्यै' चास्य
 समानसङ्ख्यत्वं भवति,—'चीर्येतानि हवीषि भवन्ति, त्रय इमे
 लोका एषा लोकानामारोह्याय—इति, लोकानां हविषा
 सामान्यं नास्ति, यदि यथा लोका नित्या त्रय, एवम् इमानि
 हवीषि नित्यानि त्रीणि,—एव लोके सस्तवो घटते । तस्मात्
 नित्यो वैश्वानर—इति ॥

स पक्षे वोत्पन्नसयोगात् ॥ १३ ॥ (सि०) ॥

भा उत्पन्नस्य निमित्ते उत्पन्नाभरणे निर्घातेन सयोगः, न अ
 सयुक्तस्य उत्पन्नस्य दोषनिर्घातप्रयोजनता, तस्मात् इह न
 दधियहवत् विरोधोऽस्ति, तेन न अर्थवादः, नैमित्तिक—इति ।
 अथ यदुक्तं—लोकैः समानसङ्ख्यत्वं नित्यत्वात् उपपद्यते, न
 अन्यथा—इति । तत्र ब्रूमः,—चित्वाल्लोकानां हविषा च सामा
 न्यात् अर्थवादो भविष्यति—इति ॥ (४।४।६ अ०) ॥

पश्चाद्व्यतिरेकः नैमित्तिकत्वाधिकरणम् ॥

स पट्चितिः पूर्ववत्त्वात् ॥ १४ ॥ (पृ०) ॥

भा अस्ति अग्निः,—'य एव विद्वान् अग्निसिनुते'—इति । तत्र

भा श्रूयते,—‘संवत्सरो वा एनं प्रतिष्ठायै नुदति योऽग्निश्चित्वा न
प्रतितिष्ठति पञ्च पूर्वाश्रितयो भवन्ति, अथ षष्ठीश्चितिं चिनुते’*
—इति । तत्र सन्देहः,—किं योऽयं नित्य एवाग्निः स एवायं
पट्चितिकः उच्यते, उत एकचितिको नैमित्तिकः?—इति । किं
प्राप्तं?—तस्मिन् एव नित्ये अग्नौ षष्ठी चितिरेषा विधीयते,
नित्यायामेव पद्यामेपोर्ध्ववादः,—योऽपि न प्रतिष्ठार्हः, सो-
ऽभ्यनया पद्या चित्या प्रतिष्ठातुमर्हति—इति चितिप्रशंसा ।
किमयमेव वर्ण्यते?। षष्ठीशब्दव्यवणात्,—पद्या हि पूरणी
षष्ठी, एकस्या हि चितौ षष्ठीशब्दः न सामञ्जस्येन स्यात् ।
तस्मात्, पट्चितिकः अग्निर्नित्यः—इति ॥

स ताभिश्च तुल्यसङ्ख्यानात् ॥ १५ ॥ (यु० १) ॥

भा ‘ताभिश्च’ पूर्वाभिरस्या तुल्यवत् ‘प्रसङ्ख्यानं’ भवति ।
कथम्?। ‘इयं वाव प्रथमा चिति, ओषधयः पुरीषम्,
अन्तरीक्षं वाव द्वितीया चितिः, वयांसि पुरीषम्; असौ वाव
तृतीया चिति’, नक्षत्राणि पुरीषम्, यज्ञो वाव चतुर्थी चितिः,
दक्षिणा पुरीष, यजमानो वाव पञ्चमी चिति, प्रजाः पुरीषं,
संवत्सरो वाव षष्ठी चिति, षडतय पुरीषम्†—इति, तुल्याना
च तुल्यवत् अनुक्रमणं भवति, यथा,—‘देवा षडपयो गन्धर्वाः
तेऽन्यत आसन् । अक्षरा रक्षांसि पिशाचाः तेऽन्यत आसन्’
—इति, तुल्यवत् अमूया चितीनाम् अनुक्रमणम् अनया पद्या ।
तस्मात् एतया, तत्तुल्यया भवितव्य, यदि च यस्मिन् एव क्रतौ

* नाङ्गसेन छप्ते व्यागभाषे भृमदेशे नानाविधाभिरिष्टकाभि-
पद्याकारेण स्थानं निष्पाद्यते, सेय चितिरिति भाधय ।

† अथ, सर्वत्र ‘वाव’ स्थले ‘वाच इति पाठः आ० सो० पु० । एवं
का० स० पु० ।

भा ता, तस्मिन् एवैषा, तत् एताभि तुभ्याः तस्मात् अपि स
एव नित्योऽग्निं पट्चितिक — इति ॥

स अर्थवादोपपत्तेश्च ॥ १६ ॥ (यु० ७) ॥

भा अर्थवादस्य भवति,—‘पट्चितयो भवन्ति, पट् पुरीषाणि,
तानि द्वादश सम्पद्यन्ते द्वादश मासा सवत्सर, सवत्सर एवं
प्रतिष्ठति’—इति, तत् एकचित्तिके अग्नी न सामङ्ग्येन
वचनं भवति । तस्मात् नित्य एव पट्चितिक ॥

स एकचित्तिर्वा स्यादपटक्ते हि चोद्यते निमित्तेन ॥
१७ ॥ (सि०) ॥

भा ‘एकचित्तिर्वा’ (नैमित्तिक) ‘स्यात् । कुत ? । ‘अपटक्ते
हि यागे ‘चोद्यते, अप्रतिष्ठया ‘निमित्तेन’,—यो न प्रति
तिष्ठति तस्य एषा चिति उच्यते नैमित्तिकी, सा न नित्या
भवितुमर्हति ।

अपि च ‘अपटक्ते यागे ‘चोद्यते सा, न वर्तमाने भवितु
मर्हति । ‘ननु ‘चित्त्वा’—इति चयने निर्हते न यागे’ । उच्यते,
—नेतत् पदार्थे निर्हते ‘चित्त्वा’—इति, किं तर्हि ?—वाक्यार्थे
—‘अग्निं चित्त्वा’—इति अग्ने चयनेनार्थम् अभिनिर्वर्त्य—इति,
कृते च यागे चयनेन अग्ने अर्थो निर्वर्तितो भवति न अन्यथा ।
पक्षीशब्दस्य पक्षपूर्वाश्चितय उक्ता, ता अग्रेत्यावकल्पिष्यते,
तस्मात् निर्हते यागे—इत्युच्यते । तस्मात् वचनात् एकचित्ति
अग्नि ॥

स विप्रतिषेधात्ताभि समानसङ्ख्यात्वम् ॥ १८ ॥
(आ० नि०) ॥

भा (द्वयो सूत्रयो इदम् उत्तरम्—“ताभिश्च तुल्यसङ्ख्यानात्”

भा “अर्थवादोपपत्तेश्च—इति। ‘ताभि’ (नित्याभि) ‘समान सङ्ख्यत्वं भविष्यति, अथवादश्च उपपत्स्यते,—पञ्च पूर्वाश्रितयो भवन्ति, याभिरसौ चित्तिभि न प्रतितिष्ठते, अथेय पष्ठो प्रतिष्ठार्थम्—इति, तास्य सपुरोषा अपेक्ष्य द्वादशत्वेन सस्तवो भविष्यति, ‘विप्रतिषेधात्’ एकस्य, पट्सङ्ख्याया द्वादश सङ्ख्यायाश्च—इति। अतुल्यानामपि तुल्यवत् अनुक्रमण भवति, यथा,—‘देवा मनुष्या पितर तेऽन्यत आसन्’—इति॥ (४। ४। ७ अ०)॥

पिण्डपितृयज्ञस्यानङ्गताधिकरणम्॥

स पित्र्यज्ञ स्वकालत्वादनङ्ग स्यात्॥ १६॥ (सि०)॥

भा अस्ति आमावास्या कर्मण पित्र्यज्ञ,—‘अमावास्यायाम अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति’—इति, तत्र सशय,—किम् आमावास्यास्य कर्मण पिण्डपितृयज्ञोऽङ्गम् उत अनङ्गम्?—इति। किम् प्राप्तम्?—अङ्ग, फलवत्सन्निधानात् निष्क्रय वचनाच्च।

‘आह ननु फलवत्सन्निधावफल तदङ्ग भवति, फलवच्च इह कल्प्येत सुर्गेण’—इति। उच्यते,—सत्यम् अमावास्यायैकवाक्यत्वात् न शक्यं सुर्गे कल्पयितुम्—इति। ‘आह,—काल वचनत्वात् न कर्मणा एकवाक्यत्वं सम्भवति’—इति। उच्यते,—लक्षणयापि तावत् कर्मैकवाक्यता सम्भवति। सुर्गे कल्प्ये न लक्षणा, न श्रुति। एव च आमनन्ति—‘यत् पितृभ्य पूर्वेषु करोति, पितृभ्य एतत् यज्ञं निष्क्रीय यजमानो देवेभ्य प्रतनुते’—इति, अमावास्या प्रति निष्क्रेतुम् च श्रूयते, तस्मात् तदङ्ग भूतम्—इति।

एव प्राप्ते ब्रूम,—‘पित्र्यज्ञ स्वकालत्वात् अनङ्ग स्यात्,

भा अनङ्गभूत' पिण्डपितृयज्ञ । कस्मात् ? 'सुकालत्वात्,—स
शब्दाभिहितेन कालेन अस्य सम्बन्ध, न कर्मणा लक्षितेन—
इति, यथा, 'दर्शपूर्णमासाभ्याम् इद्वा सोमेन यजेत'—इति,
यथा, 'तदेतत् पुरस्तात् उपसदा सौम्येन चरन्ति'—इति च
काले एवाय मुख्य शब्दो न कर्मणि, कर्मणि लक्षणा, श्रुतिय
लक्षणाया बलीयसी । यच्च उक्त,—लक्षणया कर्मैकवाक्यता
भविष्यति—इति, तच्च न । कस्मात् ? अनुवादे हि लक्षण
न्यास्या, न विधौ, विधिश्चाय, तस्मात् न अमावास्याकर्मणा
सम्बन्ध, एकस्मिन् काले द्वे कर्मणी परस्पररेणासम्बन्धे—इति ॥

स तुल्यवच्च प्रसङ्गानात् ॥ २० ॥ (यु० १) ॥

भा तुल्यवच्चान्यै प्रधाने प्रसङ्गायते,—'चत्वारो वै महायज्ञा,
—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोम, पिण्डपितृयज्ञ'—
इति महायज्ञे तुल्यवत् प्रसङ्गायते, कास्य महायज्ञता
स्यात् अन्यत फलवत्ताया ? तस्मादनङ्गम् ॥

स प्रतिषिद्धे च दर्शनात् ॥ २१ ॥ (यु० २) ॥

भा इतश्च अनङ्गम्—प्रतिषिद्धे' अमावास्ये पिण्डपितृयज्ञं
दर्शयति,—'पौर्णमासीमेव यजेत भ्रातृष्वान् न अमावास्या,
हत्वा भ्रातृष्वम् अमावास्यया यजेत, पिण्डपितृयज्ञेनैव अमा
वास्याया प्रीणाति—इति, असत्याममावास्याया पिण्डपित
यज्ञ दर्शयति, तदनङ्गत्वे उपपद्यते, तस्मात् अपि न अङ्ग
पिण्डपितृयज्ञ—इति ।

किं प्रयोजन चिन्ताया ? यदि पौर्णमास्यामाधानं तत्
अनन्तरायाममावास्याया न क्रियते, यथा पूर्वपक्ष, यथा—
तर्हि सिद्धान्त, तथा कर्तव्य । इदम् अपर प्रयोजन,—कुतः
पायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुहोति, मासं दर्शपूर्णमासाभ्या

भा यजेत—इति, यथा पूर्वः पक्षः, तथा कर्त्तव्यः पिण्डपितृयज्ञः;
यथा सिद्धान्तः, तथा न कर्त्तव्यः—इति। श्लोकनपि उदा-
हरन्ति,—

‘आधानं पौर्णमास्यां चेदृत्ते दर्शं करिष्यते।

अनङ्गं पितृयज्ञस्येत् तत्रैव न करिष्यते’—

इति ॥ (४।४।८ अ०) ॥

रशनायाः यूपान्नताधिकरणम् ॥

स पश्वङ्गं रशना स्यात्तदागमे विधानात् ॥ २२ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘आश्विनं यद्गृह्येत्वा चिष्टता यूपं
परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुम् उपाकरोति’—इति। तच्च
संशयः,—किं पश्वङ्गं रशना, उत यूपान्नम्?—इति। किं
प्राप्तम्?—‘पश्वङ्गम्’। कुतः?। ‘तदागमे विधानात्’, पश्वागमे
हि विधीयते, पशुना अस्याः सम्बन्धः उत्पत्तिवाक्ये श्रूयते,—
‘परिध्याण कृत्वा उपाकरोति पशुं नान्यथा’—इति; एव श्रुति-
र्भवति, कालयचने लक्षणा स्यात्,—परिध्याणेन कालो लक्ष्येत
—इति ॥

स यूपान्नं वा तत्संस्कारात् ॥ २३ ॥ (सि०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे प्रत्यक्षो हि यूपस्य संस्कारः, रशना हि यां
च यावर्तो च द्रदिग्गो मावां यूपस्य सञ्जनयति, द्रदिग्ना च
प्रयोजनं यूपस्य। तस्मात् यूपस्य एव द्रदिग्ने रशना स्यात्।
द्वितीया च विभक्तिः तत्प्राधान्ये एव भवति, रशनायां च तृतीया,
तृतीया च गुणत्वे तस्याः, तस्मात् यूपान्नम्। यत्तु,—तदागमे
विधानात्—इत्युक्तं, तत्परिहर्तव्यम्, उच्यते,—तदागमे विधानं

भा वाक्यम् द्वितीया च विभक्ति श्रुति प्रत्यक्ष च वाक्य बाधेयाताम्
—इति। यत्तु लक्षणा—इति श्रुत्यसम्भवे लक्षणापि न्याय्यैव॥

ख अर्थनादस्य तदर्थवत् ॥ २४ ॥ (यु०) ॥

भा एव च मन्त्रार्थवादोर्ध्ववान् भविष्यति,—‘युवा सुवासा परि
योत आगात् स उ थेयान् भवति जायमान त धीरास कवय
उन्नयन्ति स्वाधो मनसा देवयन्ते—इति। तस्मात् धूपाङ्गम
रशना—इति।

किं प्रयोजन चिन्ताया ?। अग्नौ श्रूयते—‘एकयूपे एकादश
पशवो नियोज्या—इति प्रति पशु रशना कार्या यदि पूर्वं
पक्ष सिद्धान्ते द्वैरशन्यमेव। श्लोकमपि उदाहरन्ति—

‘पशवङ्ग रशना नेत् यदेकस्मिन् बलन् नियुज्जोत।

प्रति पशु रशना कार्या यूपे चेत् द्वैरशन्य स्यात्—
इति ॥ (४।४।८ अ०) ॥

सरो पशवङ्गताधिकरणम् ॥

ख स्वरुश्चाप्येकदेशत्वात् ॥ २५ ॥ (यू०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशु अग्नौषोमीय सोमाङ्गभूत—‘यो
दीक्षितो यत् अग्नौषोमीय पशुमालभत—इति। तत्र श्रूयते
—मृदणा मृधितिना च पशुमनक्ति—इति। तत्र सन्देह
—किं धूपाङ्ग मृद उत पशवङ्गम्?—इति। किं मासम्?—
धूपाङ्गम्—इति ब्रूम। कुत ?। ‘एकदेशत्वात्’ एकदेश स्वरु
यूपस्य—इति श्रूयते,—‘यूपस्य मृदं करोति’—इति (स्वरुमन्तं
यूपं कुर्यात्—इत्यर्थः), एव स यूपो भवति—इति, यथा च
पाशम् ॥

स निष्क्रयश्च तदङ्गवत् ॥ २६ ॥ (यु०) ॥

भा. यूपान्नामिव स्रग्मन् निष्क्रयवादो दर्शयति,—‘अपश्यन् ह स्म वै पुरा षट्पयो ये यूपं प्रापयन्ति, सम्भज्य सुवन्ते मन्यन्ते, यज्ञ-
वैशसाय वा इदं कर्म—इति ते प्रस्तरं सुवनिष्क्रयम् अपश्यन्,
यूपस्य स्रग्मन् अयज्ञवैशसाय’—इति निष्क्रयग्रवणात् तदङ्गत्वं
विज्ञायते । तस्मात् यूपान्नाम्—इति ॥

स. पश्वङ्गं वार्यकर्मत्वात् ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘पश्वङ्गं वा’, तस्य हि अङ्गनार्थेन स्रग्मणा प्रयोजनं, तथा
हि श्रूयते,—‘स्रग्मणा पशुमनक्ति’—इति, तत् अङ्गनं पशोः,
स्वरोत्पत्तिं प्रयोजयति, यदि तदर्थः एषः स्रग्मः, ततो दृष्टं
प्रयोजनम्, अयं यूपार्थः, अदृष्टं प्रयोजनं ततः कल्प्यम् । तस्मात्
पश्वङ्गम्—इति ॥

स. भक्त्या निष्क्रयवादः स्यात् ॥ २८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. कया भक्त्या ? एवमाह,—‘यूपः’ किलाग्नी प्रक्षिप्यः, यत्
स्वः प्रक्षिप्यते, तेन यूपः प्रक्षिप्यते—इति न एष निष्क्रय इव
भवति,—अनया भक्त्या स्तुतिः—इति ।

किं भवति प्रयोजनम् ? । एकयूपे एकादश पशवो यदा
नियुज्यन्ते, तदा एकस्यैव पशोः समङ्गनं, पूर्वस्मिन् पक्षे ; सर्वेषां,
सिद्धान्ते । शोकश्च भवति,—

स्र्ग्यूपान्नामिति चेत् एकस्यैव समङ्गनम् ।

बहूनामेकयूपत्वे, सर्वेषां तु समङ्गनम्—

इति ॥ (४।४।१० अ०) ॥

मीमांसा-दर्शने

आधारादीनामङ्गनाधिकरश्च ॥

स दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानान्यविशेषात् ॥
२६ ॥ (पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र श्रूयन्ते,—आग्नेयाग्नीषोमीयोर्षांशु-
याजेन्द्राग्नसान्याय्ययागाः, तथा आधारावाज्यभागौ, प्रयाजां-
नुयाजाः पक्षीसंयाजाः, समिष्टयजुः सिष्टहवत्—इति । तत्र
सन्देहः,—किं सर्वे यागाः प्रधानभूता उत केचित् गुणभूताः?—
इति । किं प्राप्तम्?—दर्शपूर्णमासयोर्यावत् इज्याः ताः सर्वाः
प्रधानभूताः—इति, 'यजेत स्वर्गकामः'—इत्यविशेषेण यागेभ्यः
फलं श्रूयते, फलवच्च प्रधानं, सर्वे चामी यागाः । तस्मात् सर्वे
प्रधानभूताः—इति ॥

स अपि वाङ्मानि कानिचित् येष्वङ्गत्वेन संस्तुतिः,
सामान्योह्यभिसस्तवः* ॥ ३० ॥ (सि०) ॥

भा. 'अपि वा' 'कानिचित्' 'वाङ्मानि' भवेयुः । कानि पुनः
तानि? । येषु अङ्गत्वेन संस्तुतिः, यथा 'अभीषू वा एतौ
यज्ञस्य यत् आधारी, चक्षुषो वा एतौ यज्ञस्य यत् आज्य
भागौ, यत् प्रयाजानुयाजाश्च इज्यन्ते वर्गं वा एतत् यज्ञस्य
क्रियते, वर्गं वा यजमानस्य भ्रातृचर्याभिभूत्यै'—इति ।
अभीषू रघस्याङ्गं, चक्षुषो चक्षुष्मतः, वर्गं वर्गवतः, 'सामान्यो
ह्यभिसस्तवो' युक्तः, यदि च वाङ्मानि तानि संस्तुतानि,
ततः सस्तवोर्भयान् भवति । तस्मात् अङ्गसंस्तुतान्यङ्गानि—
इति ॥

स. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ३१ ॥ (यु०) ॥

भा. एवं च कृत्वा अन्यार्थदर्शनम् उपपन्नं भवति,—‘प्रजाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति’—इति । न च, प्रयाजान् यजति, न च अनुयाजान् यजति—इति च ॥

स. अविशिष्टन्तु कारणं प्रधानेषु गुणस्य विद्यमानत्वात् ॥
३२ ॥ (आ०) ॥

भा. अविशिष्टमेतत् कारणं संस्तवो नाम, आग्नेयादीनामध्यङ्गत्वेन संस्तुतिरस्ति,—‘शिरो वा एतत् यज्ञस्य यदाग्नेयः, हृदयम् उपांशुयागः, पादावग्नीषोमीयः’—इति, शिरः शिरस्त्वतोद्भूतं, हृदयं हृदयवतः, पादौ पादवतः—इति सर्वस्यैव अङ्गत्वेन संस्तुतिः—इति सर्वमेव अङ्गं प्राप्नोति, तत्* प्रधानं न स्यात् असति प्रधाने कस्याङ्गम्? तस्मात् न एतदङ्गम्—इति ॥

स. नानुक्तेऽन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात् ॥ ३३ ॥ (यु०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—‘अन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात्’, न तत्साधकं भवति, परार्थं हि तत् वाक्यं, न दृश्यमानस्य प्रयाजादेः प्राप्पणार्थम्, तस्मात् अन्यदस्य प्रमाणमन्वेष्टव्यं श्रुत्यन्तरं न्यायो वा, तस्मिन् असति, मृगतृष्णादर्शनमिव तत् भवति, संस्तुतिरप्यसति न्याये, असाधिकैव ॥

स पृथक् त्वभिधानयोर्निवेशः, श्रुतितो व्यपदेशाच्च,
तत्पुनर्मुख्यलक्षणं यत्फलवत्त्वं, तत्सन्निधावसंयुक्तं
तदङ्गं स्यात्, भागित्वात् कारणस्याश्रुतश्चान्य-
सम्बन्धः ॥ ३४ ॥ (आ०. नि०) ॥

भा तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यदुक्तं,—सर्वाणि समप्रधानानि—
इति, नैतदेवं, दर्शपूर्णमासशब्दवाचनानि प्रधानानि कर्माणि।
कुतः?। फलसंयोगात्,—दर्शपूर्णमासशब्दकेभ्यः फलं श्रूयते,—
'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—इति। कानि पुनर्दर्श-
पूर्णमासशब्दकानि?। येषां वचने पौर्णमासीशब्दोऽमावास्या-
शब्दो वा, आग्नेयादीनि तानि। 'ननु अमावास्याशब्दकाना-
नेव फलं श्रूयते'। उच्यते,—'पृथक्' समुदाययोः 'निवेशः'
एतयोः 'अभिधानयोः,—'पौर्णमासी'—इति च 'अमावास्या'
—इति च, चिन्वाग्नेयादिषु यः समुदायः, तत्र पौर्णमासीशब्दः,
इतरेषु अमावास्याशब्दः।

'कथं 'पौर्णमासी' 'अमावास्या'—इति च द्विशब्दः श्रूयते?।
वर्धयत् 'व्यपदेशाच्च। 'कथं तद्व्यपदेशः?। द्विवचननिर्देशात्,
—'दर्शपूर्णमासाभ्याम्'—इति, एकार्थो च दर्शमावास्या
शब्दौ। कथं?। 'दर्शो वा एतयोः पूर्वः, पूर्णमास उत्तरस्तयोरथ
यत् पूर्णमासं पूर्वमारभते तत् अथवापूर्वं प्रक्रियते, दर्शपूर्ण-
मासमारभमाणः सरस्वत्यै चरुं निर्वपेत्, सरस्वते द्वादशकपालम्
अमावास्या वै सरस्वती, पूर्णमासः सरस्वान्, उभावेतौ यथापूर्वं
कल्पयित्वा रभते षष्ठ्यै षष्ठ्येत्येवाधो मिथुनत्वाद्य'—इति। तत्र
दर्शशब्देन प्रकृत्या अमावास्याशब्देन ब्रुवन्नेकार्थता दर्शयति,
शक्यते च चन्द्रस्यादर्शनेन अमावास्या दर्श'—इति लक्षयितुम्,
'यथा चक्षुषोरभावे सति 'चक्षुष्मान्'—इति चक्षुर्भ्यां लक्षयते।

भा. एतस्मात् व्यपदेशाच्च श्रुतितश्च (लोके श्रवणात्) । एकार्थताम्
 एवाश्वयस्यामः । तत् पुनर्मुखलक्षणं, यत् फलवत्त्वं, यदन्यत्
 तत्सन्निधौ श्रूयते, तत् तदङ्गम् । 'कथम् ?' इतिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य
 सन्निधौ श्रूयमाणम्, इतिकर्तव्यताविशेषणत्वेन परिपूरणसमर्थं
 तदङ्गम् भवितुमर्हति, श्रवण्यमाने वाक्यशेषे फलं कल्पयि-
 तव्यम् स्यात्—इति ।

‘आह, ननु दर्शपूर्णमासफलमेवात्रानुपपद्यते’ । उच्यते,—
 शक्यमनुपपत्तुम्, किन्तु दर्शपूर्णमासवाक्यं साकाङ्क्षमेव स्यात् ।
 अन्यथा अस्य इतिकर्तव्यता श्रूयता कल्पयेत् । एषामपि प्र-
 याजादीनामन्या ! कल्पयेत् । एतदितिकर्तव्यता श्रवण्यमाना
 उत्पद्येत, तेन अङ्गत्वं, कारणं भागीति, एषाम् अन्येन फलेन
 सम्बन्धोऽश्रुतः । तस्मात् न सर्वाणि समप्रधानानि, आधारा-
 दीनि गुणकर्माणि—इति ॥

सू. गुणाश्च नामसंयुक्ता विधीयन्ते नाङ्गेऽप्यपद्यन्ते ॥

३५ ॥ (यु०) ॥

भा. नामविशेषसंयुक्तास्तु गुणविशेषा विधीयन्ते, यथा,—‘चतुर्होत्रा
 पूर्णमासीमभिमृषेत् पञ्चहोत्रा अमावास्याम्’—इति, सर्वेषु
 प्रधानेषु, अस्मिन् समुदाये चतुर्होत्रा, अस्मिन् पञ्चहोत्रा—
 इतिविभागाविज्ञानाच्चेदं नोपपद्येत । भवति चैवंलक्षणकं गुण-
 विधानम्, तस्मात् अस्मात्पक्ष एव—इति । अपि च अङ्गत्वेन
 आधारादीनां संस्तुतिरुपपन्ना भविष्यति ॥

स तुल्या च कारणश्रुतिरन्यैरङ्गाङ्गिसम्बन्धः* ॥
३६ ॥ (आ०) ॥

भा अथ यदुक्तम्,—आग्नेयादीनामप्यङ्गत्वेन संस्तुतिरङ्गत्वम्
ख्यापयेत्—इति, तत्परिहर्तव्यम् ।

स उत्पत्तावभिसम्बन्धस्तस्मादङ्गोपदेशः स्यात् ॥
३७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नेष दोषः, प्रधानानामप्येषा सतामुत्पत्त्यपेक्षा शिरादि
स्तुतिर्भविष्यति—इति, जायमानस्य हि पुरुषस्य अग्रे शिरो
जायते, मध्ये मध्यं पश्चात्पादौ, एवमाग्नेयोऽयतः, उपासुयाजो
मध्ये, अग्नोपोमीयः पश्चादिति,—एतस्मात् सामान्यादेषा स्तुतिः
—इति ॥

स तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ३८ ॥ (यु०) ॥

भा 'चतुर्दश पूर्णमास्यामाहुतयो ऋयन्ते, त्रयोदश अमावास्या
याम्—इति, इतरथा न चतुर्दश पूर्णमास्यामाहुतयो भवेयुः,
न वा अमावास्याया त्रयोदश—इति । तस्मात् आग्नेयादीनि
प्रधानानि, आधारादीन्यङ्गानि—इति सिद्धम् ॥ (४।४।
११ अ०) ॥

ज्योतिष्टोमे दीपजीर्णदीनामङ्गताधिकरणम् ॥

स ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम् ॥
३९ ॥ (पृ०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमो,—ज्योतिष्टोमेन सर्गकामो यजेत—इति ।

भा. तत्र दोक्षणीयादयश्च यागा विद्यन्ते, सौत्ये चाहनि सोमयागः ।
तत्र सन्देहः,—किम् अत्र यागमात्रं प्रधानम्, उत सोमयागः ?
—इति । किं प्राप्तम्?—ज्योतिष्टोमे तुल्यानि सर्वाणि भवेयुः ।
कुतः ? । अविशिष्टं हि कारणं, यागात् फलं श्रूयते, सर्वे चामी
यागाः, फलवच्च प्रधानम् । तस्मात् ज्योतिष्टोमे सर्वे यागाः
प्रधानम्—इति ॥

स गुणानान्तृत्पत्तिवाक्येन सम्वन्धात्कारणश्रुतिस्तस्मा-
त्सोमः प्रधानं स्यात् ॥ ४० ॥ (सि०) ॥

भा. 'गुणानां तु उत्पत्तिवाक्येन' सम्वन्धो भवति । केषां
गुणानाम् ? । ज्योतिषां स्तोमानाम् । कतमेन उत्पत्तिवाक्येन
सम्वन्धो भवति ? । 'ज्योतिष्टोमेन, स्वर्गकामो यजेत'—इति,
ज्योतिष्टोमात् यागात् स्वर्गः श्रूयते, न यागमात्रात् ; यत्र च
ज्योतींषि स्तोमाः, स ज्योतिष्टोमः । कस्य ज्योतींषि स्तोमाः ? ।
सोमयागस्य—इति ब्रूमः, एवं हि श्राम्नायते,—'कतमानि
वा एतानि ज्योतींषि, ये एते तस्य स्तोमाः,—चिष्टपञ्चदश-
सप्तदशेकविंशाः एतानि वा ज्योतींषि, तान्येतस्य स्तोमाः'—
इति, सोमयागस्य स्तोमा अङ्गं, समभिव्याहारात्,—'यहं
वा गृहीत्वा चमसं वा उन्नीय स्तोत्रम् उपाकरोति'—इति,
ते च स्तोमाश्चिष्टदादयः । कथम् ? । 'चिष्टत् वद्धिः पवमानं,
पञ्चदशान्याज्यानि'—इत्येवमादिभिः श्रवणैः ।

तस्मात् चिष्टदादिस्तोमकः सोमयागः, स ज्योतिष्टोमः—
इति । यश्च ज्योतिष्टोमः ततः फलं, यतश्च फलं तदेव प्रधानम्
—इति । 'कथं पुनश्चिष्टदादयो ज्योतींषि* ? । उच्यते,—भवन्तु
वा ज्योतींषि, मा वा भुवन्, ज्योतिःशब्देन तावत् उक्तानि ।

भा वचनमात्रेणापि शब्दो भवति विज्ञेयतो लक्षणायाम्। अपि
द्योततेर्वा दीप्तिकर्मणो ज्योततेर्वा ज्योतिःशब्द लभन्ते, द्योत्य
हि ते शब्दै, द्योतयन्ति—इति वा स्तुत्याम्। तस्मात् सो
यागो ज्योतिष्टोम, स च प्रधान, गुणभूता दीक्षणीयादय-
इति ॥

स

तथा चान्वार्यदर्शनम् ॥ ४१ ॥

भा 'शिरो वा एतत् यज्ञस्य यत् दीक्षणीया'—इत्येवमादि च
लिङ्ग दृश्यते, तथा गुणाय ज्योतिष्टोमविकारे दीक्षणीयादयो
दृश्यन्ते,—'चतुर्विंशतिमान हिरण्य दीक्षणीयाया दद्यात्
प्रापणीयाया द्वे चतुर्विंशतिमाने—इति, तुल्यत्वे न प्रवर्त्तयि
ष्यन्ते दीक्षणीयादयः। तस्मात् अपि सामयाग प्रधानम्—
इति ॥ (४।४।१२ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिन द्वातौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य
चतुर्थं पाद ॥ समाप्तस्यायमध्याय ॥

पञ्चमे अध्याये प्रथमः पादः ॥

—

अथ क्रमनियमाधिकरणम् ॥ (वर्णकचयसहितम्) ॥

(श्रुतिबलीयस्त्वन्यायः) ॥

६ श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात् ॥ १ ॥

भा. चतुर्थेऽध्याये प्रयोजकाप्रयोजकलक्षणं दत्तं, तन्न प्रसक्तं चम्
इह इदानीं क्रमनियमलक्षणम् उच्यते, तत् श्रुत्यर्थपाठप्रवृत्ति
काण्डमुखेऽवच्यते, श्रुत्यादीनाम् च बलाबलम्। आदितस्तु
श्रुतिक्रमश्चिन्तयते,—किं यथाश्रुति पदार्थानाम् क्रम आस्थेयः,
उत अनियमेन?—इति। किं प्राप्तम्?—एकत्वात् कर्तुः,
अनेकत्वाच्च पदार्थानाम्, अवश्यम्भाविनि क्रमे लाघवात् प्रयोग-
प्राप्तिभावाच्च अनियमः—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः।

‘श्रुतिलक्षणम् आनुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात्’—इति, श्रुतिर्ग्रहणम्
अक्षराणां, तन्निमित्तं यस्य क्रमस्य, स साधुः क्रमः, श्रुति-
प्रमाणका हि वैदिका अर्थाः, नैषामन्यत् प्रमाणमस्ति (१। १।
२ सू०)—इत्युक्तम्। ‘किम् इह उदाहरणम्?’। सचे दीक्षा-
क्रमः, ‘ये ऋत्विजस्ते यजमानाः’—इति* उक्त्वा, तेषां दीक्षा-
क्रम विधत्ते,—‘अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति,
तत उद्गातारं, ततो होतारं, ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वा
अर्द्धिनो दीक्षयति, ब्राह्मणाच्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारम्
उद्गातुः, मैत्रावरुणं होतुः, ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो
दीक्षयति, आग्नीध्रं ब्रह्मणः, प्रतिहर्तारम् उद्गातुः, अक्षावाकं
होतुः; ततस्तमुन्नेता दीक्षयित्वा पदिनो दीक्षयति, पोतारं

भा ब्रह्मणः, सुब्रह्मण्यम् उद्गातुः, श्रावस्तुतं होतुः; ततस्तमन्यो
ब्राह्मणो दीक्षयति, ब्रह्मचारी वा आचार्यप्रेषितः—इति
अनियमेन क्रमः कर्त्तव्यो, यथा पूर्वः पक्षः; यथा तर्हि सिद्धान्तः
एष एव क्रमः कर्त्तव्यः—इति ।

तत्र आह, 'अन्यार्यं श्रुतिवचनम्—इति । उच्यते,—
किमयं न साधुः? । न, 'न साधुः—इति ब्रूमः । न्यार्यं
तर्हि । 'न ब्रूमः,—न साधुः क्रमः—इति, किं तर्हि?—उक्तस्य
पुनर्वचनमन्यार्यम्—इति । उच्यते,—साधोर्वचनं ब्रह्मशो-
भ्युच्यमानं न्यार्यमेव, असाधोस्तु सहस्रद्वयन्यार्यम् । 'आह,
सहस्रवचनेन ज्ञातस्य पुनर्वचने न प्रयोजनमस्ति—इति ।
उच्यते,—भवति अप्रसरणम् अपि प्रयोजनम्—इत्युक्तम् ।
'वृत्तिकारेण तत् कार्यम्—इति चेत् । सूत्रकारस्याप्यविशेषो
वृत्तिकारेण । १म वर्णकम् ॥

अथ वा अर्थान्तरमेव इदम्, तत्र हि अन्य एव संशयो
विचारो निर्णयश्च,—श्रुतिप्रमाणको धर्मः, अन्यप्रमाणकः?—
इति संशयः । प्रत्यक्षादीनाम् अधिगम्य—निमित्तत्वात् न
तत्प्रमाणकः, अतीन्द्रियत्वाच्चोदनालक्षणः—इति विचारः ।
चोदनालक्षणः एव—इति निर्णयः । इह तु सिद्धे तत्प्रमाण्ये
व्यवहारक्रमस्य साधुत्वावधारणम् । २य वर्णकम् ॥

अथ वा श्रुतिविचारोऽयं,—किं पदार्थाः कर्त्तव्याः?—इति
विधानम्, किं वा क्रमो विधीयते?—इति । अनेकार्थविधाना-
नुपपत्तेः क्रमे* अनुवादः पदार्थानां विधिः; अवदानवाक्येष्वेव,
पदार्थविधानं श्रुत्या, क्रमविधानं वाक्येन, तस्मात् न क्रमो
विधीयते—इति पूर्वः पक्षः । 'ननु अवदानवाक्येषु क्रमो
विधीयते' । सत्यं विधीयते, पाठेन, न श्रुत्या, 'ये ऋत्विजस्ते

भा. यजमानाः—इति तु, दीक्षायाः प्राप्तत्वात्, क्रमविधानार्था
 श्रुतिः—इति सिद्धान्तः। तस्मात् अपुनरुक्तम्—इति ॥ इय
 वर्णकम्। (५।१।१ अ०) ॥

क्रमस्य कचिदार्थिकत्वाधिकरणम् ॥

स

अर्थाच्च ॥ २ ॥

भा किम् एष एव उत्सर्गः ?। सर्वत्र श्रुतिवशेनैव भवितुमर्हति—
 इति, उक्तं हि,—‘चोदनालक्षणोर्ध्वा धर्मः (१।१।२ सू०)—
 इति।

एवं प्राप्ते धूमः,—‘अर्थाच्च’ (सामर्थ्याच्च) क्रमो विधीयते—
 इति, गुणभूतो हि पदार्थानां क्रमो भवति, यच्च यस्य निर्वर्त्य-
 मानस्य उपकरोति, स तस्य गुणभूतः, यस्मिंश्चाश्रीयमाणे पदार्थः
 एव न सम्पद्यते, न स गुणभूतः, विनापि तेन, न वेगुण्यम्। एवं
 प्रत्यक्षः क्रमस्य गुणभावो यत्र, तत्र अर्थेन स एवाश्रयितव्यः,
 यथा ‘जाते धरं ददाति, जातमञ्जलिना गृह्णाति, जातमग्नि-
 प्राणिति’—इति, अर्थात् पूर्वमभिप्राणितव्यम्, ततः अङ्गिष्ठा
 गृहीतव्यः, ततो वरो देयः—इति, तथा विमोक्षः पूर्वमाग्नात्,
 पश्चात्तद्योगः, अर्थात् विपरीतः कार्यः। याज्यानुदाहृतं
 विपर्ययेण आग्नाते, विपर्ययेण कर्त्तव्ये; न अत्र
 मीयते, यतो देवतोपलक्षणार्थानुवाक्या, प्रदानार्था
 ‘अग्निहोत्रं जुहोति’—इति पूर्वमाग्नातम्, ‘योदं
 इति पश्चात्, असम्भवात् पूर्वमोदनः पक्षः।
 विपर्ययेण आग्नाती, तौ च विपर्ययेण
 २ अ०) ॥

क्रमस्य क्वचिदनियमाधिकरणम् ॥

ख अनियमोऽन्यत्र ॥ ३ ॥

भा. अन्यस्मिन् विषये क्रमस्य नियमो नास्ति, यथा दर्शपूर्ण-
मासयोर्याजमानानां प्रयाजानुमन्त्रणादीनाम् नानाशाखान्तर-
समागतानां 'वसन्तमृतूनाम् मीणामि'—इत्येवमादीनाम्,
'एको मम'—इत्येवमादीनाञ्च ॥ (५।१।३ अ०) ॥

क्रमस्य क्वचित् पाठानुसारिताधिकरणम् ॥ (पाठक्रमन्याय) ॥

ख क्रमेण वा नियम्येत क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात् ॥ ४ ॥
(सि०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोराम्नातं,—'समिधो यजति तनूनपातं यजति
द्रवो यजति बर्हिर्यजति स्वाहाकारं यजति'—इति । तत्र
संशयः,—किम् अनियतेनैव क्रमेण एषाम् अनुष्ठानम्, उत, यः
पाठक्रमः स एव नियम्येत?—इति । किं प्राप्तम्?—नियम-
कारिणः शास्त्रस्याभावात् अनियमः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'क्रमेण' एव 'नियम्येत' एकस्मिन् क्रतौ—
इति । कुतः? । 'तद्गुणत्वात्', तद्गुणत्वं हि गम्यते पदार्थानाम्,
यथा, छायात्, अनुलिम्पेत्, भुञ्जीत—इति च क्रमेण अनुष्ठानम्
अवगम्यते, वाक्यात् पदार्थानाम्, यथा चाट्टष्टार्थेषु उपदिश्य-
मानेषु, कश्चित् ब्रूयात्,—'देवाय धूपो देयः, पुष्पाण्यवकरि-
तयानि चन्दनेनानुलेप्यथः उपहारोऽस्मै उपहर्तव्यः, एवं ह्यते
देवस्तुप्यति'—इति, तमन्यः प्रतिब्रूते, नैतदेवं, न प्रथमं धूपो
दातव्यः, प्रथमं पुष्पानि अवकरितयानि—इति; एवं मन्यते,
—धूपदानस्य प्राथम्यम् अनेन उक्तम्—इति । तस्मात्
वाचनिक एषाम् एष क्रमः—इति ॥

भा. प्रथमः पदार्थो यतः कुतश्चिदारब्धः, द्वितीयादिषु भवति संशयः,—किं तत एव द्वितीयोऽपि पदार्थ आरब्धः, उत द्वितीयादिषु अनियमः?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—नियम-कारिणः शास्त्रस्याभावात् अनियमः—इति ।

एवं प्राप्ते, ब्रूमः,—यतः पूर्वं आरब्धः, तत एव द्वितीयादयोऽपि पदार्था आरब्धव्याः—इति । कुतः एतत्? । ‘तदुपक्रमात्’, सर्वे हि पदार्थाः प्रधानकालात् न विप्रकटव्याः, प्रधानं हि चिकीर्षितं, हृतं वा तेषां निमित्तं, स ह्यवचनं हि भवति,—‘पदार्थैः स ह्य प्रधानं कर्तव्यम्’—इति, यत्र पदार्थसमाग्नानां तु अवश्यभावी विप्रकर्षः, तथापि तु यावद्विनाशव्यवहितः शक्यः पदार्थः कर्तुम्, तावद्विषयधनम् अवश्यं कर्तव्यम्, ततोऽभ्यधिकेन न व्यवधातव्यम्—इति, यदि द्वितीयं पदार्थमन्यत आरभेत, ततोऽधिदैर्घ्यं व्यवधातुं, तथा प्रयोगवचनं बाधेत । ‘ननु तथा सति कश्चिदल्पैर्द्व्यवहितो भविष्यति’ । उच्यते,—अनुमतानां व्यवधायकानां त्यागेन कश्चित् अभ्यधिको गुणो भवति—इति तस्मात् यतः पूर्वपदार्थ आरब्धः, तत एव उत्तर आरम्भणीयः—इति ॥

ए सत्त्वमिति चेत् ॥ ८ ॥ (आ०) ॥

भा इति चेत् पश्यसि, प्रधानाविप्रकर्षेण प्रयोगवचनानुपपन्नः—इति, ‘सर्वे तर्हि गुणकाण्डम् एकं हिन् अपवर्जयितव्यं, यथा सौर्यादिषु ॥

ए नास्तित्वात् ॥ १० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नेतदेवं, सप्तप्रयोगे एव हि न अनुष्ठितः स्यात् ॥

भा इति गम्यते । प्रतिपत्तुम् च अनेन क्रमेण शक्यते, नान्येन,
अत एव च कृत्वा पाठक्रमापचारे, विनष्टः—इत्युच्यते, इतरथा
हि, यत् यस्य प्रयोजनं, तस्मिन् निर्वर्त्तमाने एव किं नष्टं स्यात्?
अदृष्टं कल्प्येत, तच्च अन्यास्यं दृष्टे सति । तस्मात् स्वशब्द-
क्रमः,—य एव पदार्थानां वाचकः शब्दः, स एव क्रमस्यापि ॥

ख तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ७ ॥ (यु०) ॥

भा एवं च अन्यार्थं दर्शयति,—‘व्यत्यस्तमृतव्या उपदधाति ।
व्यत्यस्तं योद्धृशिनं शंसति । आश्विनो दशमो गृह्यते; तं तृतीयं
जुहोति’—इति, यदि अनियमेन उपधानं शंसनं च, व्यत्यस्त-
वचनम् अनर्थकं स्यात् । न हि, कथञ्चित् अव्यत्यासः—इति,
तथा आश्विनस्य तृतीयस्य होमानुवादो न अवकल्प्येत, यदि
पाठक्रमेण नियमः—इति । तथा,—‘अभिचरता प्रतिलोमं
होतव्यम्, प्राणानेव अस्य प्रतोचः प्रतियौति’—इति कचित्
प्रतिलोमं विदधदनुलोमं दर्शयति, तदुपपद्यते, यदि पाठक्रमेण
प्रयोगः, इतरथा, सर्वमनुलोमं स्यात्, प्रतिलोमदर्शनं नोप-
पद्येत । तथा ‘चतुर्थोत्तमयोः प्रतिसमानयति’—इति उक्ते
सति, ‘अतिहायेडो बर्हिः प्रतिसमानयति’—इति उच्यते, तेन
बर्हिषः चतुर्थता दर्शयति, सा पाठक्रमे नियामकेवकल्पते ॥
(५।१।४ अ०) ॥

क्रमस्य कश्चित् प्रथमप्रवृत्त्यनुसारिताधिकरणम् ॥ (पार्ष्णिक्प्रामन्यायः) ॥

ख प्रवृत्त्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात् ॥ ८ ॥
(सि०) ॥

भा वाजपेये ‘सप्तदश माजापत्यान् पशून् आस्रभते’—इति,
श्रूयते । तेषु पशुषु चोदकप्राप्ताः मोक्षणादयो धर्माः, तच्च

भा. प्रथमः पदार्थो यतः कुतश्चिदारब्धः, द्वितीयादिषु भवति संशयः,—किं तत एव द्वितीयोऽपि पदार्थ आरब्धः, उत द्वितीयादिषु अनियमः?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—नियमकारिणः शास्त्रस्याभावात् अनियमः—इति ।

एवं प्राप्ते, ब्रूमः,—यतः पूर्वं आरब्धः, तत एव द्वितीयादयोऽपि पदार्था आरब्धव्याः*—इति । कुतः एतत्? । ‘तदुपक्रमात्’, सर्वे हि पदार्थाः प्रधानकालात् न विप्रकटव्याः, प्रधानं हि चिकीर्षितं, हतं वा तेषां निमित्तं, सहवचनं हि भवति,—‘पदार्थैः सह प्रधानं कर्तव्यम्’—इति, वज्रपदार्थसमाग्नानात् अवश्यम्भावी विप्रकर्षः, तथापि तु यावद्भिन्नावबहितः शक्यः पदार्थः कर्तुम्, तावद्भिन्नवधानम् अवश्यं कर्तव्यम्, ततोऽभ्यधिकेना न व्यवधातव्यम्—इति, यदि द्वितीयं पदार्थमन्यत आरभेत, ततोऽधिदैरपि व्यवद्ध्यत्, तथा प्रयोगवचनं बाधेत ॥ ‘ननु तथा सति कश्चिदल्पैर्द्वयवहितो भविष्यति’ । उच्यते,—अनुमतानां व्यवधायकानां त्यागेन कश्चित् अभ्यधिको गुणो भवति—इति तस्मात् यतः पूर्वपदार्थ आरब्धः, तत एव उत्तर आरम्भणीयः—इति ॥

सर्वमिति चेत् ॥ ९ ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् पश्यसि, प्रधानाविप्रकर्षेण प्रयोगवचनानुयहः—इति, ‘सर्वे’ तर्हि गुणकाण्डम् एकस्मिन् अपवर्जयितव्यं, यथा सौर्यादिषु ॥

नास्तत्त्वात् ॥ १० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नेतदेवं, सहप्रयोगे एव हि न अनुष्ठितः स्यात् ॥

* द्वितीयादिषु पदार्थ आरब्ध इति का० क्री० पु० पाठः ॥

† अभ्यधिके इति पाठः का० क्री० प० पाठः ॥

घ. क्रत्वन्तरवदिति चेत् ॥ ११ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा क्रत्वन्तरेषु सौर्यादिषु—इति, तत् परि-
हर्तव्यम् ॥

घ. नासमवायात् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न तेषामर्थात् क्रमः प्राप्नोति, यो नियम्येत, अङ्गाश्रयो हि
नियमो भवितुमर्हति, अत्रङ्गसमाश्रयस्य स्वयमङ्गता कल्प्येत ।
(५।१।५ अ०) ॥

क्रमस्य क्वचित् अत्र नानुसारिताधिकरणम् ॥

घ. स्थानाच्चोत्पत्तिसयोगात् ॥ १३ ॥

भा. 'एकविंशेन अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्, विनवेनौजस्तामं,
अथविंशेन प्रतिष्ठाकामम्'—इत्येवमादि श्रूयते । तत्र आगमेन
सङ्ख्यापूरणम्—इति वक्ष्यते । तत्र आगमे क्रियमाणे, किम्
अनियमज्ज्ञेयः* सर्वा षड्च आगमयितव्याः, उत काण्ड-
क्रमेभ्यः?—इति । किं प्राप्तम्?—अनियमेन—इति । कुतः?।
अतिरात्रे विनवादिश्रद्दार्धनेताः प्राप्नुवन्ति, तत्र एतासां प्राप्नु-
वतीनाम् पाठक्रमो नास्ति—इति । एवं प्राप्ते उच्यते,—यदासां
समागमाये स्थानं, तेनैता अत्र नियम्यन्ते, या, पूर्वे समागमाताः,
ताः पूर्वमेव प्रयोक्तव्याः, आनुपूर्वस्य हि दृष्टमेतत् प्रयोजनं,
यदुत्तरस्य फलं। तदपि चिकीर्षितमेव—इति । विनवादिश्रद्दैः
अतिरात्रे, योगपद्धेन आसां प्राप्तेः पाठक्रमस्य अविषयः—

* अनियमज्ज्ञेय इति वा० जी० पु० पाठः ॥

† यदुत्तरस्य फलम इति वा० जी० पु० पाठः ॥

भा. इति अधिकरणान्तरम्—इति भवति मतिः । समाग्न्यायपाठ-
क्रमादेव अत्र नियमः—इति पुनरुक्तता गम्यते—इति अन्यथा
वर्ण्यते,—

सु स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ॥ १३ ॥

भा साद्यस्त्रे* श्रूयते,—‘सह पशूनालभते’—इति । तत्र एषो-
ऽथः समधिगतः,—सवनीयकाले त्रयाणाम् आलम्भः—इति ।
अथ अत्र पाठक्रमात्, किम् अग्निषोमीयः पूर्वम् आलब्धव्यः, उत
स्थानक्रमात् पूर्वं सवनीयः?—इति । किं प्राप्तम् पूर्वम्?—
अग्निषोमीयः—इति । कुतः? । पाठक्रमात् । एवं प्राप्ते ब्रूमः,
—सवनीयः पूर्वं, ‘स्थानात्’, यदि पूर्वम् अग्निषोमीयः स्यात्,
सवनीयस्थानं व्याहन्येत । ‘आश्विनं गृहीत्वा चिह्नता यूषं
परिवीय’—इति । ‘ननु इरात्रापि पाठक्रमो वाध्येत’ । वाध्यतां,
तस्य हि प्रतिषेधार्थः सहशब्दः समाग्न्यातः, अप्रतिषिद्धं च
आश्विनपक्षस्थानम्, तन्न वाधितव्यम् ॥ (५ । १ । ६, अ०) ॥

अथक्रमस्य मुख्यक्रमानुसारिताधिकरणम् ॥

सु मुख्यक्रमेण वाङ्मनानां तदर्थत्वात् ॥ १४ ॥

भा ‘सरस्वती’ भवतः, एतत् वै दैव्यं मिथुनम्—इति श्रूयते ।
तत्र सन्देहः,—किं सोदेवत्यस्य प्रथमं धर्माः, उत पुंदेवत्यस्य ?
—इति । नियमकारिणः शास्त्रस्य अभावात् अनियमः,—
इति प्राप्ते ब्रूमः,—‘मुख्यक्रमेण वा’ नियमः स्यात्—इति
सोदेवत्यस्य हि पूर्वं याज्यानुवाक्ययोः समाग्न्यान्,—‘प्राणो
देवो सरस्वती’—इति । तस्मात् सोदेवत्यस्य पूर्वं प्रदानेन

* साद्यस्त्रे सोमपादविशेषः ॥

† सरस्वती च सरस्वत्य, सौ देवते पदोपसंयोगोऽसौ सरस्वती ॥

मा भवितव्यम्, तस्मात् सोऽदेवत्यस्य पूर्वे धर्माः कार्याः, तथा हि प्रधानकायता भवति अङ्गानाम्, इतरथा, ये पदार्थैर्व्यवधानं सामर्थ्यात् अनुज्ञातं, तेभ्योऽधिकैरपि व्यवधानं स्यात् ॥ (५। १। ७ अ०) ॥

अत्रेव मुद्राक्रमपेक्षया पाठस्य सहाय्यधिकरणम् ॥

च प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वात् यथाक्रमं प्रतीयेत ॥ १५ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोः पूर्वमौपधधर्माः क्रमाग्नाताः, ततः आज्यस्य। तत्र सन्देहः,—किन् अग्नीषोमीयधर्माणाम्, मुख्यक्रमेण पूर्वम् आज्यस्य धर्माः कर्तव्याः, उत यथापाठम्?—इति। मुख्य क्रमानुसारेण आज्यस्य पूर्वम्,—इति प्राप्ते ब्रूमः,—प्रकृतौ यथापाठं प्रतीयेत, स्वशब्दो हि तेषां पाठक्रमः, सः अन्यदा प्रियमात्रे बाधितः स्यात्, सहत्वस्य पुनरुपसङ्घाहकः प्रयोगवचनः, सुत्रमेव पदार्थे सन्निह्यकात्रे न बाधितो भविष्यति। अपि च पाठक्रमे स्वशब्दः,—‘साध्यायोऽधेतयः’—इति, मुख्यक्रमेण प्रयोगवचनेकवाक्यता सूचमा* ॥ (५। १। ८ अ०) ॥

प्रकरणपठान्न तन्मन्त्राद्य बलीयानधिकरणम् ॥

स मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात् प्रयोगरूपसामर्थ्यात् तस्मात् उत्पत्तिदेशः सः ॥ १६ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोः, आग्नेयस्य पूर्वे मन्त्रपाठः, उत्तरो ब्राह्मणस्य। तत्र सन्देहः,—कतमः पाठो बलीयान्—इति। उच्यते,—अनियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्य अभावात्—इति।

* यद्युक्तं क्रमं बन्धु इत्यर्थे इति वार्तिकम् ॥

† वम्य इति का० श्री० पु० पाठः ॥

भा. एवं प्राप्ते ब्रूमः,—मन्त्रपाठो बलीयान्। कुतः?। 'प्रयोगरूप-
'सामर्थ्यात्',—प्रयोगाय मन्त्रस्य रूपसामर्थ्ये, तदस्य सामर्थ्ये येन
मन्त्रः प्रयुज्यते, तस्य च प्रयुज्यमानस्य क्रमो दृष्टाय भवति।
'ननु च ब्राह्मणपाठस्य अपि तदेव प्रयोजनम्'। उच्यते,—
'उत्पत्तिदेशः सः',—अपरमपि तस्य प्रयोजनं कर्मात्पत्त्यर्थे
भविष्यति ॥ (५।१।६ अ०) ॥

प्रयोगवचनात् चोदकस्य बलवत्तदधिकरणम् ॥

सू. तद्वचनाद्विहतैः यथाप्रधानं स्यात् ॥ १७ ॥ (पृ०) ॥

भा. अस्ति अध्वरकल्पा नामेष्टि,—'आग्नावैष्णवम् एकादशकपालं
निर्वपेत्, सरस्वती आज्यभागा स्यात् वार्हस्पत्यश्चरः'—इति।
तत्र सन्देहः,—किम् आग्नेयविकारस्य वार्हस्पत्यस्य पूर्वं धर्माः
कार्याः, चोदको बलवत्तरः, प्रयोगवचनात्, उत उपांशुयाज-
विकारस्य प्रयोगवचनो बलवत्तरः, चोदकात्?—इति। किम्
प्राप्तम्?—'विहतौ' अस्यां, 'यथाप्रधानं स्यात्', 'तद्वचनात्',
—तेषां साक्षाद्वचनक्रमो विहतौ, तेन सन्निहितानाम् उप-
संहारक प्रयोगवचनो हि प्रत्यक्षः, तद्वर्माणं च आनुमानिकः
चोदकेन हि स प्राप्तः। तस्मात् प्रत्यक्षः प्रयोगवचनो बलवत्तरः,
तेन चोदक आनुमानिको बाध्यते ॥

सू. विप्रतिपत्तौ वा प्रकृत्यन्वयाद्यथाप्रकृति ॥

१८ ॥ (सि०) ॥

भा. मुख्याङ्गक्रम—'विप्रतिपत्तौ वा', यथा प्रहतौ, तथैव विहतौ
भवितुमर्हति—इति। कुतः?। 'प्रकृत्यन्वयात्', यादृशाः प्रहतौ
धर्माः, तादृशा एव विहतौ भवितुमर्हन्ति—इति, मुख्यक्रमेण
क्रियमाणा न प्रकृतिवत् हताः स्युः। चोदको हि प्रयोग-

भा. वचनात् वलत्तरः, स हि उत्पादयति प्रापयति च। प्रापितान्
अभिसमीक्ष्य प्रयोगवचन उपसंहरति, स प्राप्तेषु उत्पन्नः
प्राप्तिनिमित्तक उत्तरकाल पूर्वप्राप्तं न बाधितुमर्हति चोदकं,
प्रत्यक्षोऽपि सन्; बहिरङ्गत्वात्, यथाप्राप्तानेवोपसंहरिष्यति।
तस्मात् पूर्वं बार्हस्पत्यस्य धर्माः, तत आज्यस्य—इति ॥ (५।
१।१० अ०) ॥

विहता क्वचित् प्रकृतिधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ (शाकमेधोयन्याय) ॥

ख विहतिः प्रकृतिधर्मत्वात्तत्काला स्याद्यथाशिष्टम् ॥
१६ ॥ (पू०) ॥

भा चातुर्मास्येषु शाकमेधः तृतीयं पर्व, तस्य अवयवाः,—‘अग्नये-
ऽनीकवते प्रातरष्टाकपालो, मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यो मध्यन्दिने
षष्ठः, मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सर्वासां दुग्धे सायमोदनम्’—इति।
तत्र सन्देहः,—किम् एता इन्द्रकाणा इष्टयः, उत सद्यस्काणाः?
—इति। किं प्राप्तम्?—‘विहतिः’ ‘तत्काला’ भवितुमर्हति
—इति, ‘यथाशिष्टं’,—यथा प्रकृतिप्रकृता, तथा विहतिः स्यात्,
प्रकृतिधर्मा हि सा, तस्मात् या विहतिः, सा इन्द्रकाणा
भवितुमर्हति*—इति ॥

ख अपि वा क्रमकालसंयुक्ता सद्यः क्रियेत तत्र विधेरनु-
मानात्प्रकृतिधर्मलोपः स्यात् ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा अष्टः कालेषु ये पदार्था उच्यन्ते, प्रातर्मध्यन्दिने सायम्—
इति, क्रमेण ते एकस्मिन् अहनि—इति प्रतीयन्ते, यथा देवदत्तः
प्रातः अपूपं भक्षयति मध्यन्दिने विविधमन्नमयाति, अपराह्णे

भा. मोदकान् भक्षयति—इति एकस्मिन् अहनि—इति गम्यते ।
तस्मात् सदस्कात्वा एवञ्जातीयका विवृतयः, द्वैहकार्यं हि
चोदकप्राप्तम् आनुमानिकं, प्रत्यक्षरूपया सदस्कात्तया बाध्यते ॥

ख. कालोत्कर्ष इति चेत् ॥ २१ ॥ (आ०) ॥

भा. 'इति चेत्' पश्यसि,—प्रातः साङ्गं श्रूयते, तथा मध्यन्दिने
सायं च—इति, उत्कर्षो भविष्यति, यद्येतेषु कालेषु साङ्गं, न च,
द्वैहकालताया बाधः, एकस्याद्भः प्रातरनीकवन्तम् उपव्रंस्यते,
द्वितीयस्य प्रातर्यक्ष्यते । एवं सान्तपनीया* पूर्वद्युर्मध्यन्दिने
उपव्रंस्यते, अपरेद्युर्मध्यन्दिने यक्ष्यते, तथा गृहमेधीये सायम्
उपव्रंस्यते पूर्वद्युः, सायं यागः अपरेद्युः—इति । 'ननु वाक्यात्
एकमहर्गम्यते'—इत्युक्तम् । उच्यते,—पदार्थसामर्थ्यजनितो हि
वाक्यार्थो भवति, न च, अत्र पदार्थसामर्थ्यम् अस्ति, येनेकम्
अहर्गम्येत ॥

ख. न तत्सम्बन्धात् ॥ २२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवम् । कस्मात् ? । 'तत्सम्बन्धात्,—एककालसम्बद्धानि
प्रधानानि अङ्गैः सह श्रूयन्ते । कथम् साङ्गं हि प्रधानं प्रातः-
काले श्रूयते, तथा मध्यन्दिने सायं च ; न अङ्गानि प्रातः-
कालादिषु । तत्र अन्यकालेषु अङ्गेष्वन्यकालेषु च प्रधानेषु,
न, साङ्गं तेषु कालेषु कृतं स्यात् । तस्मात् सदस्कात्वा एवेता
विवृतयः—इति । अपि च,—'द्वैहं साकमेधेः'—इति श्रूयते,
तत् सदस्कात्वात् उपपद्यते ॥ (५।१।१२ अ०) ॥

* सान्तपनीया इति पाठः का० भो० पु० । तत्र हि अपि सर्वत्र तदनुमुखा वृत्तिः ॥

† सदस्कात्वात् इति का० भो० पु० पाठः ॥

अनुयाजादुत्कर्षप्रयाजान्तापकर्षाधिकरणम् ॥ (तदातितदन्त्याय) ॥

स अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्यथोक्तमुत्कर्षे स्यात् ॥
२३ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘आग्निमासतादूर्ध्वम् अनुयाजैश्चरन्ति’
—इति उत्कर्षः, तथा अग्नीषोमीये पशौ, तिष्ठन्तं पशुं प्रयजन्ति
इत्यपकर्षः । तत्र सन्देहः,—किम् उत्कर्षे अनुयाजमात्रम् उत-
क्षय्यते, अपकर्षे च प्रयाजमात्रम्, उत उत्कर्षे अनुयाजादि, अपकर्षे
च प्रयाजानाम्?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—यावदुक्तम्,
उत्कर्षापकर्षयोः स्यात् । कुतः? । ‘अङ्गानाम् मुख्यकालत्वात्’,
—एवम् अन्येषा प्रधानकालता भविष्यति—इति । तत्र सह-
त्वस्य प्रापक* प्रयोगवचनः अनुग्रहीष्यते ॥

स तदादि वाभिसम्बन्धात्तदन्तमपकर्षे स्यात् ॥
२४ ॥ (सि०) ॥

भा * तदादि उत्कर्षे, तदन्तम् अपकर्षे गम्येत । कुतः? । ‘अभि-
सम्बन्धात्’, यत्* अनुयाजानां परस्तात् समान्नायते, तत्
प्रधानादन्तरं प्रयोगवचनेन प्राप्त वाधित्वा पाठसामर्थ्यात्
अनुयाजेभ्यः परस्तात् क्रियते, तथा यस्ततः परः, स ततः
परस्तात् । एवमेक उत्क्षय्यमाणः सर्वे गुणकाण्डम् उत्कर्षति,
तथाऽपक्षय्यमाणोऽपकर्षति—इति ॥ (५।१।१२ अ०) ॥

प्रष्टव्या प्रोक्षणादीनां सैमिकपूर्वभाविताधिकरणम् ॥

स प्रष्टव्या कृतकालानाम् ॥ २५ ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते प्रातरनुवाककाले, ‘प्रतिप्रस्थातः सवनीयान

* यदि इति का० श्री० पु० पाठः । एव परस्व ‘तथा’ इत्यत्र तदा इत्यपि ॥

भा. निर्वपस्वेति श्रेयसि—इति सवनीयानाम् निर्वपकालः, अस्ति च वह्निष्पवमाने स्तुते 'अग्नीदग्नीन् विहरः वह्निस्तृणीहि पुरोडाशानलङ्कुर'—इति । तत्र सन्देहः,—किं प्रातरनुवाककाले सवनीयान् निरूप्य प्रचरणीहोमादयः सौमिकाः पदार्थाः, उत पौरोडाशाः प्रागलङ्करणत्—इति । किं प्राप्तम्?—अनियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्य अभावात् ।

—इत्येवं प्राप्ते वृमः,—'प्रवृत्त्या हतकालानाम्,—ज्ञात-
कालानाम् पदार्थानाम् प्रवृत्त्या नियमः स्यात्, प्रयुज्यमानमेव हि पूर्वपदार्थम् अभिनियच्छति, स तस्य परस्तात् समाम्नातः, परस्तात् कर्तव्यः; सौमिकस्य तु पदार्थस्य प्रचरणीहोमस्य वचनात् क्रमो बाधितः, अलङ्करणं च वह्निष्पवमानस्य परस्तात् समाम्नातं, तस्मात् तस्य पूर्वः पदार्था निर्वपणादीनामन्तः, तत उत्तरे सौमिकाः पदार्थाः कर्तव्याः—इति ॥

स. शब्दविप्रतिषेधाच्च ॥ २६ ॥ (यु०) ॥

भा. शब्दश्च विप्रतिषिध्यते,—'अलङ्कुर'—इत्युक्तः मोक्षणादीन् प्रतिषद्येत, अस्मत्पक्षे तु, 'अलङ्कुर'—इत्युक्ते अलङ्करणमेव प्रतिपत्स्यते, तत्र अलङ्करणे प्राप्तकाले प्राप्तकालवचनो लोडन्तो-
भ्युपहोष्यते । तस्मात् अत्र प्रावृत्तिकः क्रमः—इति ॥ (५।
१।१३ अ०) ॥

वैश्वतयूपकर्ममाचपकपाधिकरणम् ॥ (यूपकर्मव्याप) ॥

स. असंयोगात् वैकृतं तदेव प्रतिश्रूयते ॥ २७ ॥

भा. अस्ति दर्शपूर्णमासप्रवृत्तिके पशावग्रीयोमोये वैश्वतं यूपकर्म, तत् प्रतिश्रूयते,—'दीक्षासु यूपं च्छिनत्ति'—इति । तत् प्रति-
श्रूयमाणम् अर्वाचीनान्यपि अग्रीयोमोय-प्रणयनादीनि प्रति-

भा. कर्षन्ति, उत न?—इति संशये, प्रतिकर्षन्ति, सम्बन्धात्—इति गम्यते ।

तथा प्राप्ते ब्रूमः,—विहतावभ्यधिकं यत्, तत् प्रतिहृष्यमाणं ततोऽर्वाचीनान्यपि अश्लोषोमीयप्रणयनादीनि न प्रतिकृष्टुमर्हन्ति । कथम्? । 'असंयोगात्', पाशुकं यूपकर्म, ततः प्राचीनं सौमिकं, न तयोः परस्परेण सम्बन्धः,—न, सौमिकः पदार्थः, पाशुकस्य उपकारकः पशोर्वा, यदि हि तयोः उपकारकः स्यात्, ततस्तस्य उपकुर्वतः क्रमोऽप्यस्य साहाय्यं कुर्वन् गुणभूतः स्यात्, न त्वेतदस्ति, तस्मात् नैषां परस्परेण क्रमे नियमः, अतो यूपमात्रं प्रतिहृष्यते । अपि च यूपमात्रं प्रतिहृष्य ह्येतार्थे शब्दे सौमिकानाम् स्वक्रमबाधो न भविष्यति—इति ॥ (५ । १ । १४ अ०) ॥

दक्षिणाग्निकर्षोत्तमानपवर्षाधिकरणम् ॥

स प्रासङ्गिकं च नोत्कर्षदसंयोगात् ॥ २८ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'आग्निमास्तादूर्ध्वम् अनुयाजेश्वरन्ति'—इति, अनुयाजा उत्क्षय्यमाणा दाक्षिणाग्निकौ होमौ उत कर्षन्ति, न?—इति संशयः । सम्बन्धात् उत्कर्षन्ति ।

—इति प्राप्ते उच्यते,—नैतावुत्कर्षुमर्हन्ति, ये तयोः स्वे अनुयाजाः, सम्बद्धास्ते, न प्रयुक्ताः परकीयैः, तेषाम् अद्यो निर्वर्तितः—इति । पदार्थानाम् च क्रमो भवति, न पदार्थप्रयोजनानाम्, यौगपद्येन हि पदार्था उपकुर्वन्ति—इति वक्ष्यामः, पदार्थानाम् च उत्पत्तिः क्रमवती, पृथक्शब्दत्वात् उत्पत्तेः, न पदार्थप्रयोजनस्य, युगपत्प्रयोगवचनेन अभिहितत्वात् । अतोऽनुयाजोत्पत्तेः उत्कर्षिकाया अभावात् दाक्षिणाग्निकौ होमौ न उत्क्षय्येयानाम्—इति । अपि च अनुयाजमात्रम् उत्क्षय्य

भा. कृतार्थे शब्दे दाक्षिणाग्रिकयोर्होमयोः सुक्रमबाधो न भविष्यति
—इति ॥ (५।१।१५ अ०) ॥

पुरोडाशभिवासनान्तम्य दर्शेऽनपकर्षाधिकरणम् ॥

स तथाऽपूर्वम् ॥ २६ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोर्वेदिः, हविरभिवासनोत्तरकाले समाग्नता, सा
अमावास्याया प्रतिहृष्यते,—‘पूर्वेद्युरमावास्याया वेदिं करोति’
—इति, सा त्वपहृष्यमाणा ततोर्वाचीनान् पदार्थानपकर्षति,
न?—इति संशयः। उच्यते,—सम्बन्धात् प्रतिकर्षति। इत्येवं
माते ब्रूमः,—‘तथाऽपूर्वम्’, अमहतिपूर्विकायाम् अमावास्यायां
वेदिकरण पूर्वद्युराग्नताम्, उभयोरपि श्वोभूते हविरभिवासनं,
अभिवासनं कृत्वा अमावास्यायां वेदिः कर्तव्यः—इति न श्रुत्या-
दीनाम् अन्यतमत् कारणमस्ति, तस्मात् न अभिवासनान्ताः
प्रतिक्रष्टव्याः—इति, अभिवासने च अपहृष्यमाणे हवींषि
भस्मी भवेयुः ॥ (५।१।१६ अ०) ॥

सान्तपनीयाया अग्निहोत्रानुत्कर्षकताधिकरणम् ॥

स सान्तपनीया तृत्कर्पेटग्निहोत्रं सवनवद्देगुग्यात् ॥
३० ॥ ‘पू०’ ॥

भा. चातुर्मास्येषु साकमेधावयवः सान्तपनीया नाम इष्टिः,—
‘मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यो मध्यन्दिने चमं निर्वपति’—इति, सा देवात्
मानुषात् वा मतिबन्धात्* उत्हृष्यमाणा अग्निहोत्रम् उत्कर्षत्,
न वा?—इति संशये, उच्यते,—‘सान्तपनीया तु उत्कर्षेत् अग्नि-

भा. होचं सवनवत् वेगुण्यात्, यदि न उत्कर्षेत्, अग्निहोत्रसवने
 'अग्निहोत्रकाले उद्धृते अग्रावग्निहोत्रं विगुणं स्यात्' तस्मात्
 उत्कृष्टव्यं, सवनवत्,—यद्या प्रातःसवनं देवात् मानुषात् वा
 प्रतिषन्धात्* उत्क्रष्टव्यमात्रं माध्वन्दिनं सवनम् उत्कर्षति—इति,
 एवम् अत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

स अत्र्यवायाञ्च ॥ ३१ ॥ (यु०) ॥

भा. एवं सान्त्तपनीयम् अग्निहोत्रेण न व्यवहितं भविष्यति—
 इति, तत्र क्रमोऽनुपहीष्यते, क्रमभेदे च दोषः स्यात्,—'अथ
 वा एतत् यज्ञाच्छिद्यते† यदन्यस्य तद्धे विततेऽन्यस्य तत्
 प्रतीयते'—इति ॥

स असम्बन्धात् नोत्कर्षेत् ॥ ३२ ॥ (अ०) ॥

भा. न अग्निहोत्रस्य सान्त्तपनीया अङ्गं, न सान्त्तपनीयाया वा
 अग्निहोत्र, तेन नाग्रावग्निहोत्रस्य परस्तात् कर्त्तव्या, अतो न
 अग्निहोत्रम् उत्क्रष्टव्यम् ॥

स प्रापणाञ्च निमित्तस्य ॥ ३३ ॥ (यु०) ॥

भा. प्रातः च अग्निहोत्रस्य निमित्तं,—'माय जुहोति, प्रातर्जुहोति,
 उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, प्रथमास्तमिते जुहोति, सन्धी
 जुहोति, नक्षत्राणि दृष्ट्वा जुहोति'—इति, तत् न अति
 क्रमितव्यं, तस्मात् अपि न उत्कर्षं। यदुक्तं,—वेगुण्यम्—इति
 उत्कर्षेऽपि वेगुण्यं कालान्यत्वात्। 'अङ्गप्राप्तेर्जघन्य काल
 विधिर्माध्यताम्'—इति चेत्। न, कालस्य निमित्तत्वात्,

भा तदपाये अगुतमेव सर्वं प्रियेत, निमित्तं च अनुपादेयत्वेन
अवणात् सप्तमी हि आधारादिष्वसम्भवात् निमित्तसप्तमी
द्रष्टव्या । अथ यदुक्तं सवनवत उत्क्रष्टव्यम्—इति, तदुच्यते,—

स सम्बन्धात् सवनोत्कर्षः ॥ ३४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा सम्बद्धं हि सवनं सवनेन एककृतुसम्बन्धात्, तत् उत्क्रष्टव्यम् ॥
(५।१।१७) ॥

उक्त्यागुरोधेन बोद्धव्यत्वाधिकारणम् ॥

स षोडशी चोक्त्यसंयोगात् ॥ ३५ ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते, षोडशिनं प्रहृत्य 'त पराश्वमुक्ष्येभ्यो
विगृह्णाति'—इति, यदा देवान् मानुषात् वा प्रतिबन्धात्
उत्क्रष्टव्यानि उत्क्रष्टव्यन्ते किम् तदा षोडशी उत्क्रष्टव्या, न?—
इति भवति शङ्क्य । किं प्राप्तम्?—न उत्क्रष्टव्यम् । कुत ?
एव स्तोत्रं स्वस्मिन् काले षोडशिनं हतं भविष्यति—इति
—समयाध्युषिते सूर्ये षोडशिनस्तोत्रम् उपाकरोति—इति ।
तस्मात् अनुत्कर्ष—इति ।

एव प्राप्ते वृत्तम्,— षोडशी च उत्क्रष्टव्यम् । कस्मात् ?
'उक्त्यसंयोगात् उत्क्रष्टव्यसंयोगो हि षोडशिनो भवति,—'तं
पराश्वम् उक्ष्येभ्यो विगृह्णाति'—इति । तस्मात् उत्क्रष्टव्यं
षोडशी । यदुक्तं,—षोडशिनस्तोत्रकालेन अर्चनं भविष्यति
—इति, उच्यते, स्तोत्रममनुरुध्यमानस्य प्रधानव्रमो विगृह्येत ।
तस्मात् न स्तोत्रव्रमोऽनुरोध्य, उभयं न शक्यम् अनुगृह्येतुम्,
एव वा गृह्येत्वा चमसं बोद्धीय स्तोत्रम् उपाकरोति—इति

भा. श्रूयते । तस्मात् उत्क्रष्टव्यः षोडशी-इति ॥ (५।१।
१८ अ०) ॥

इति श्रीश्वरसामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये पञ्चमस्याध्यायस्य
प्रथमः पादः ॥

पञ्चमे अध्याये द्वितीयः पादः ॥



वाजपेयपशूनां मध्येषामेकदोषाकरणादि—धर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥

(पदार्थानुसमयन्यादः) ॥

स सन्निपाते प्रधानानामेकैकस्य गुणानां सत्त्वकम्भे
स्यात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा वाजपेये,—‘सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते’—इति
श्रूयते, अग्नीषोमीये च वशी पशुधर्माः समागताः सोदकेन
प्राप्ताः ; तेषु संशयः,—किम् एकस्य आदेरारभ्य धर्मान्
सर्वान् कृत्वा, द्वितीयस्य पुनरादित उपक्रमितव्याः, अथ प्रथमः
तावत् सर्वेषां कर्त्तव्यः, ततो द्वितीयः?—इति । किं प्राप्तम्?
—‘एकैकस्य’ सर्वे अपवर्जयितव्याः—इति । कुतः? । प्रधाना-
सत्तेरनुपपत्तयः, इतरथा प्रधानासत्तिर्विप्रक्षयेत । यथा वज्रपु
अश्वेषु प्रतिगृह्यतेषु ये पुरोडाशाः, तेषु नैकजातीयानुसमयः,
एवम् इच्छापि—इति ॥

स सर्वेषां वैकजातीयं कृतानुपूर्वत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा एकजातीयानुसमयः कर्त्तव्यः । किम् एवं भविष्यति? । सङ्गत्वं
अनुपपद्यते, तत्सङ्गत्वं श्रूयते,—‘वैश्वदेवीं कृत्वा पशु
भिक्षुरन्ति’—इति, एकस्मिन् काले पशूनां भवारः ।

‘ननु एवं सति पूर्वस्य पदार्थस्य उत्तरः पदार्थः पञ्चमंर-
थापारेण व्यवधीयते’ । नैष दोषः, एवमपि कृतमेव आनुपूर्व्यं,
—योगसौ पञ्चमस्तरे व्यापारः स एवासी, न पदार्थान्तरं,
पदार्थास्तरेण व्यवधानं भवति ॥

स कारणादभ्यावृत्तिः ॥ ३ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्तं,—बहुषु पुरोडाशेषु न एकजातीयानुसमयः—
इति, तत् परिहर्तव्यम्, अत्र उच्यते,—युक्तं तत्र, यत् 'कारणात्
अभ्यावृत्तिः',—एकजातीयानुसमये हि त्रियमाणे सहस्रस्य
अधिश्रयणे ह्यते प्रथमः शुष्येत्, तस्य च प्रथमं न शक्येत कर्तुम् ॥
(५।२।१ अ०) ॥

, अथ वा अधिकरणान्तरम्,—

सहस्राद्यप्रतिपदस्य ह्येकैकस्य एकदा सर्वधर्मोन्मुक्तानधिकरणम् ॥

(काण्डानुसमयन्यायः) ॥

स. कारणादभ्यावृत्तिः ॥ ३ ॥

भा अनेकसहस्राश्वप्रतियहे तथानुष्ठानम्—इति पूर्वः पद्यः।
काण्डानुसमयोभ्युपेतव्यः*—इति सिद्धान्तः ॥ (५।२।२ अ०) ॥

मुष्टिकपालादीनाम मनुदायानुसमयाधिकरणम् ॥

स मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेषु
चैकेन ॥ ४ ॥ (पू०) ॥

भा मुष्ट्यादिषु संशयः,—किं मुष्टिना अनुसमयः, उत चतुर्भि
मुष्टिभिः?—इति। किं प्राप्तम्?—मुष्टिना—इति। वृतः?।
एकमुष्टिनिर्वापो हि एक* पदार्थः, न चतुर्मुष्टिनिर्वापः।
कथम्?। एकस्मिन् मुष्टौ निरुप्ते यतीभावः पर्यवस्यति, न प्रक्यं
वदितुम्,—न किञ्चित् निरुक्तम्—इति, न च, निरुप्ते निर्वापो
न ह्यतः स्यात्, न च मुष्टिमात्रेण निरुप्तेन न प्रयोजनं, न हि

* एकस्मिन् स्रवणसंज्ञापात्रे काण्डानुसमय इति ॥

† मुष्टिमात्रे निरुप्ते इति का० श्रौ० पू० पृ० ५७७ ॥

भा. एकस्मिन्, अनिरुक्ते चत्वारः सम्भवन्ति, मुष्टिसमानाधिकरणो हि चतुःशब्दः, तस्मात् मुष्टिना अनुसमयः कार्यः । एवं,—
'कपालान् उपदधाति'—इति, तथा, 'मध्याद्वदति पूर्वार्द्धा-
द्वदति', तथा, 'अर्द्धेभ्यर्द्धे'वपति पावयति'—इति ॥

४ सञ्चोणि त्वेककार्यत्वादेपां तद्गुणत्वात् ॥ ५ ॥
(सि०) ॥

भा. सञ्चोणि तु समास्य अनुसमेयात्, नैकमुष्टिनिर्वापः पदार्थः,
चतुःसङ्ख्यत्वात् निर्वापस्य । कथं चतुःसङ्ख्यता? चतुःशब्दस्य
निर्वपतिना सम्बन्धात्, एवं सङ्घ कमणा, अनेकगुणविधानं
न्याय्यं, इतरथा, मुष्टिसम्बन्धे सति वाक्यभेदः प्रसज्येत ।
अनिर्वापाङ्गं च स्यात् । तथोपधानादिष्वपि, अष्टाकपालम्
एकादशरूपान्नं निर्वपति—इति निर्देशात् । 'द्विरवदति
द्विरर्द्धे एकविंशत्या पावयति'—इति सङ्ख्यादीनाम् त्रिया-
गुणत्वं भवति । तस्मात् समुदायेन अनुसमयः—इति ॥ (५ ।
२ । ३ अ०) ॥

अवदानस्य प्रदानाभ्यामुपमयाधिकरणम् ॥

५ संयुक्ते तु प्रक्रमात्तदङ्गं स्यादितरस्य तदर्थत्वात् ॥ ६ ॥

भा. दण्डपूर्णमासयोः श्रूयते,—'द्विर्ध्वियोवदति'—इति । तत्र
संशयः,—किं अवदानेन अनुसमयः, उतावदानेन प्रदानान्नेन?
—इति । किं प्राप्तम्?—अवदानेन—इति श्रूयते । कुतः? ।
पृथग्पदार्थत्वात्, पृथक् पदार्था हि अवदानं, यतोभाषस्य
पर्यपमाणात्, अवदतिष्यचनात् । एवं प्राप्ते श्रूयते,—'संयुक्ते तु
प्रक्रमात् तदङ्गं स्यात्, इतरस्य तदर्थत्वात्', न अवदानं पृथक्
पदार्थः, प्रदानस्य स उपक्रमः, इतरथा अवदनेः श्रुष्टार्थता

भा स्यात्' सङ्गाविशेषविधानार्थम् च पुनर्वचनम् । तस्मात्
पदार्थावयवोद्बोधनं, न च अवयवसङ्घटनं प्रयोगवचनेन उच्यते,
तस्मात् प्रदानान्तेन अनुसमयः—इति ॥ (५।२।४ अ०) ॥

अद्वयादेः परित्यागान्तरानुसमयाधिकरणम् ॥

स वचनात् परित्यागान्तमञ्जनादि स्यात् ॥ ७ ॥
(सि०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे अग्नीषोमीयपञ्चौ यूपस्य अञ्जनाद्याः पदार्थाः
श्रूयन्ते, तेषु यूपैकादशिन्यां प्राप्तेषु संशयः,—किं अञ्जनादीनाम्
एकेकेन अनुसमयः, उत अञ्जनादिना परित्यागान्तेन?—इति ।
किं प्राप्तम्?—परित्यागान्तम् अञ्जनादि स्यात् । कुतः? ।
'वचनात्', वचनमिदं भवति,—'अञ्जनादि यजमानो यूपं नाव
यजेत् आ-परित्यागात्'—इति, न च शक्यं, बलपञ्जनादिना
अनुसमयः कर्तुम् न च अनवस्यष्टुम् । तस्मात् परित्यागान्तेन
अनुसमयः ॥

स कारणाद्दानवसर्गः स्यात् यथा पाचष्टद्विः ॥ ८ ॥
(पू०) ॥

भा सङ्घटनस्य प्रापकः प्रयोगवचनोऽनुयधीष्यते—इति पदार्थेन
अनुसमयः । 'अनवसर्ग' च प्रवर्तते अर्थात् कृतः, साक्षात्
यजमानेन अभ्ययाः, एवं दृष्टार्थता अनवसर्गस्य, इतरथा
अदृष्टार्थता स्यात् । न च अर्थात् कृतं चोदकं प्रापयति ।
तस्मात् यूपान्तरेणोद्बोधितत्वेन कारणेन अवयवेत्, यथा
'पृथदाग्नेन अनुयाजान् यजति'—इति अर्थात् तस्य धारणार्थं
पाचम्भिद्यते ॥

स. न वा शब्दकृतत्वान्यायमात्रमितरदर्थात्पाच-
विट्द्विः ॥ ८ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. न वैतत्पदार्थेन अनुसमयः—इति, परिध्याणान्तेन पदार्थ-
काण्डेन अनुसमयः स्यात्, शब्दद्वयं हि प्रकृतौ अनवसर्जनं,
शक्नोति हि ऋतेऽपि यजमानात्, अर्धयुः यूपमुच्छ्रयितुम् ।
'सौकर्यम्'—इति चेत् । विधिशब्दो बाधित ! दृष्टार्थता एवं
हि नियम्येत ! भोजने प्राङ्मुखता इव, अतोऽसम्भवात्, पदार्थ-
काण्डेन अनुसमयः, प्रयोगवचनस्य च न्यायमात्रत्वं, चोदकः
ततो यत्नीयान्, पाचविट्द्विस्त्वर्थात् कर्त्तव्या ॥ (५।२।
५ अ०) ॥

द्वैताद्यवदानेषु पदार्थानुसमयाधिकरणम् ॥

स. पशुंगणे तस्य तस्यापवर्जयेत्प्रश्वेकत्वात् ॥ १० ॥
(पू०) ॥

भा. वाजपेये प्राजापत्याः पशवः । तेषु सन्देहः,—किम् एकैकस्य
पशोर्देवतानि अवदाय ततः सौविष्टहृतानि, तत ऐर्दानि ; अथ
दैवतैर्देवतानामनुसमयः, सौविष्टहृतैः सौविष्टहृतानाम्, ऐर्दे-
रैदानाम्?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—एकैकस्य हृतानि
अवदाय ततो होतव्यं, प्रकृतौ वचनात्, एतद्व्यतिरिक्तं प्राजापत्येष्वपि
चोदकेनैव प्राप्नोति ॥

स. दैवतैर्वैककर्म्यात् ॥ ११ ॥ (सि०) ॥

भा. न एतदेवम्, 'दैवतैः' दैवतानां, सौविष्टहृतैः सौविष्टहृतानाम्,
ऐर्देरैदानाम्—इति । कस्मात् ? । 'वैककर्म्यात्', एवं
भवति, यद्य वचनात् प्रकृतौ हृत्स्वावदानम्—इति, '१'

भा. अवदाय न तावति एव होतव्यं, सौविष्टहृतानि अवदेयानि; सौविष्टहृतानि अवदाय न तावत्येव होतव्यं, ऐडानि अवदेयानि—इति प्रकृतौ श्रूयते, तत् इह दैवतैर्देवतानाम् अनुसमयं कुर्वन्नैनं प्राहृतं धर्मं बाधेत, दैवतानि अवदाय नैव जुहोति, सौविष्टहृतानि अवद्यति—इति; अथ सौविष्टहृतानि अवदाय नैव जुहोति, ऐडानि अवद्यति—इति। तस्मात् पदार्थमात्रेण अनुसमयः—इति ॥

स मन्त्रस्य चार्थवत्त्वात् ॥ १२ ॥ (यु०) ॥

भा. एवं मनोतामश्चस्तत्त्वं भविष्यति, इतरथा पर्यायेणैव स्यात्। तस्मात् दैवतैर्देवतानां सौविष्टहृतैः सौविष्टहृतानां ऐडैरेडानाम्—इति ॥ (५।२।६ अ०) ॥

गामावीजेष्टौ उलूखलादीनाम तन्नामाधिकरणम् ॥

स नानावीजेष्टेकमुलूखलं विभवात् ॥ १३ ॥ (सि०) ॥

भा. अस्ति राजसूये नानावीजेष्टः,—‘अग्नये गृध्रपतये सुती-
नामष्टाकपालं निर्वपेत्, सोमाय वनस्पतये श्यामायां चतुर्म्—
इत्येवमादि। अस्ति तु तत्र प्राहृतोऽप्यहन्तिः। तत्र सन्देहः,—
किं तत्रैकम् उलूखलं पर्यायेण, उत यौगपद्येन बहूनि?—इति।
कुतः संशयः?। यदि ह्यष्टाजिनाधस्तरणादयः पृथक् पदार्थाः,
ततो भेदः; अथ ह्यष्टाजिनास्तरणादिः तदुलूखलनिर्णयस्त एकः
पदार्थः, ततः तद्यम्—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—एकम्—
इति। कुतः?। पर्यायेण ‘विभवात्,—एकस्य उपादानेन
विभवेर्द्वितीयस्य उपादानम् अनर्थकं स्यात्। तस्मात् तद्यम्—
इति ॥

ख. विष्टद्विर्वा नियमानुपूर्वस्य तदर्थत्वात् ॥ १४ ॥ (पू०) ॥

भा. 'विष्टद्विः' उलूखलानां स्यात्, नियतं हि आनुपूर्व्यं पाठकृतं सहत्वे सति उपपद्यते, पदार्थानां च अनुसमयः, पृथक्पदार्थाश्च अधस्तरणादयो यतोभावस्य पर्यवसानात्, अधस्तरणादिभिश्च पदैरभिधानात् । तस्मात् विष्टद्विः—इति ॥

ख. एकं वा तण्डुलभावाद्गन्तेस्तदर्थत्वात् ॥ १५ ॥ (उ०) ॥

भा. 'एकं वा' उलूखलं पर्यायेण स्यात्, एको हि अधस्तरणादिः तण्डुलपर्यन्तः पदार्थः, स्तरणादिर्हन्तेरुपक्रमः फलीकरणान्तश्च तस्यैव शेषः*, यतो हन्तिस्तण्डुलनिष्पत्त्यर्थः, एवं स्तरणादीनां हन्तेषु न अदृष्टार्थता भविष्यति । तस्मात् तच्चम्—इति ॥ (५।२।७ अ०) ॥

अग्नीषोमीयपणौ प्रयाजानुयाजयोः पाचभेदाधिकारणम् ॥

ख. विकारे त्वनुयाजानां पाचभेदोऽर्थभेदात् स्यात् ॥ १६ ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः, तच्च श्रूयते,—'पृष-
दाज्येना अनुयाजान् यजति'—इति । तच्च सन्देहः,—किं
प्रयाजानुयाजानाम् एकं पाचम् आन्धस्य पृषदाज्यस्य च
धारणार्थम्, उत भिद्यते ? किं प्राप्तं ?—एकम्—इति । कुतः ?
प्रकृतावेकं, प्रकृतिवत् इच्छापि एकेन भवितव्यम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'पाचभेदः' 'स्यात्' । कुतः ? 'अर्थभेदात्',
शुद्धस्य प्रयाजा अर्थः, पृषतोऽप्यनुयाजाः, पृषति गृह्यमागे

* फलीकरण इत्यत्र नमैव विमेषा इति का० श्री० पु० पाठः ॥

† दक्षिणमाश्रमं प्रवृत्तम् ॥

भा. प्रयाजानां वैगुण्यं, शुद्धेऽनुयाजानाम् । न च, एकास्मिन् पात्रे विविक्तं शक्यं कर्तुम् । भर्ग्यादायामपि क्रियमाणायाम् प्रदीयमानं संसृज्येत । अपि च आकारभेदादुपभृतः उपभृत्त्वं विद्ध्येत । प्राणिमात्रपुष्करा हि सा, एकपुष्करा च ।

‘अथ उच्यते,—पृषदाज्यनप्याज्यमेव—इति न मिश्रत्वं दोषाय—इति । नैतदेवं, प्रकृतौ उत्पदनावेक्षणयोः प्रयो जनमेतत्, यत् आज्यस्यापरेण द्रव्येण असंसर्गः । एवं चेत् अनुपपन्नं, यत् प्रयाजा पृषदाज्येन इज्येरन्—इति । अपि च, एवं सति अवश्यं हवियः काचित् भावा अपनीयते । न च शक्यं, प्रयाजकार्येभ्यस्तिग्नुयाजार्यं यद्भोतुम्, प्रकृतावेककालं यद्गुणम्, इच्छापि एककालमेव कर्तव्यम् । तस्मात् पात्रभेदः—इति ॥ (५।२।८ अ०) ॥

नारिष्टहोमस्योपहोमपूर्वताधिकरणम् ॥

ख प्रकृतेः पूर्वोक्तत्वात्पूर्वमन्ते स्यान्न ह्यचोदितस्य शेषान्नानम् ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा अग्नौ नद्यवेष्ट्या श्रूयते,—‘अग्नये हस्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टा-
कपालं निर्वपेत्, सोऽव जुहोति, अग्नये स्वाहा, हस्तिकाभ्यः
स्वाहा’—इत्येवमादिहोमाः समाप्ताः । सन्ति तु प्रकृतौ
नारिष्टहोमाः* । तत्र सन्देहः,—किं नारिष्टहोमाः पूर्वम्, उत
उपहोमाः?—इति संशये उच्यते, प्राकृतं पूर्वम्, वैकृतमनो स्यात्
—इति । युतः? । चोदितस्य परिपूर्णस्य शेष आम्नायते, यथा
जातस्य पुष्टस्य घ्नीदनकम् ॥

* इत्थं न तत्रोपपन्नमिति इत्यादि तन्मैराध्यायतयो नारिष्टहोमा इति भाष्यम् ॥

स. मुख्यानन्तर्यमात्रेयस्तेन तुल्यश्रुतित्वादशब्दत्वात्
प्राकृतानाम् व्यवयः स्यात् ॥ १८ ॥ (पू०) ॥

भा. 'आत्रेयो' मन्यते स्म, 'मुख्यानन्तर्यं' वैद्यतस्य, पश्चात् तु
प्राकृतं प्रयुज्येत। प्रधानानन्तरं विद्यतस्य पाठः प्रत्यक्षः, तस्मात्
पूर्वम् उपहोमाः ततो नारिष्ठहोमाः—इति। 'प्राकृतानां
व्यवयः स्यात्', यतः ते न श्रूयन्ते ॥

स. अन्ते तु वादरायणस्तेषां प्रधानशब्द-
त्वात् ॥ १९ ॥ (उ०) ॥

भा. 'वादरायणस्तु' आचार्यो मन्यते स्म, 'अन्ते' वैद्यतानां प्रयोगः
—इति। कुतः?। प्रधानशब्दगृहीतत्वात्, प्राकृतानामङ्गानाम्
प्रधानशब्दगृहीतत्वं, तत्प्रधानशब्दगृहीतानि हि प्राकृतानि
अङ्गानि, तस्मात् च प्रधानशब्दात् परमेतत्,—'सोऽत्र जुहोति
अग्नये स्वाहा कृत्तिकाभ्यः स्वाहा'—इत्येवमादि। तस्मात्
प्रत्यक्षादेव क्रमान्नारिष्ठहोमेभ्यः पराञ्च उपहोमाः—इति ॥

स. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ २० ॥ (यु०) ॥

भा. अन्यार्थाऽपि चैतमर्थं दर्शयति,—'अध्वरस्य पूर्वमवाग्नेरप
मेत्येतत् कर्म, यदग्निकर्म'—इति; पश्चात्समाग्नातस्य पश्चात्
'प्रयोगं दर्शयति ॥ (५।२।९ अ०) ॥

विदेवनादीनामभिषेकपूर्वताधिकरणम् ॥

स. कृतदेशात्तु पर्वेषां स देशः स्यात्तेन प्रत्यक्षसंयोगात्
न्यायमात्रमितरत् ॥ २१ ॥

भा. राजसूये श्रूयते,—'अक्षैर्दीप्यति शौनःशेषमाध्यापयति, अग्नि-

भा पिच्यते—इति । तत्र सन्देह —किम् देवनादीनामन्ते प्रयोगः,
उत अभिषेकात् पूर्वम्?—इति । किम् प्राप्तम्?—‘अन्ते तु
वादरायण —इत्यन्ते प्रयोग कर्तव्य —इति । एव प्राप्ते
ब्रूम —‘छतदेशात् अभिषेकात् पूर्वे तु प्रयोगः, छतदेशो हि
अभिषेकः, माहेन्द्रस्य स्तोत्र प्रत्यभिधिचरते —इति प्रत्यक्षानु
ययायाभिषेकात् पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । ‘न्यायमात्रम् इतरत्,—
‘अन्ते तु वादरायण —इति ॥ (५।।२।१० अ०) ॥

सावित्रहोमादीनां दीक्षणीयपूर्वप्रयोगाधिकरणम् ॥

स प्राकृताच्च पुरस्ताद्यत् ॥ २२ ॥

भा अस्ति अग्नि —‘य एव विद्वानग्निश्चिनुते’—इति । तत्र
‘ दीक्षणीयाया पूर्वं सावित्रहोमा उखासम्भरणम् इष्टका
पशुश्च—इत्येतदग्नातम् । किं तदेव पूर्वं कर्तव्यम् उत
दीक्षणीया?—इति । किं प्राप्तम्?—वैद्यतानामन्ते प्रयोग
‘अन्ते तु वादरायण —इति । एव प्राप्ते ब्रूम,—पूर्वं सावित्र
होमा, इष्टका, पशुकपासम्भरण च । कुत ? । प्रत्यक्षपाठात्
पुन तत्र दीक्षणीया आग्नाता तस्याश्च पुरस्तात् सावित्र
होमा इष्टका पशुकपासम्भरण च । तस्मात् तेषां पूर्वं प्रयोग
—इति ॥ (५।२।११ अ०) ॥

याजमानमन्त्राराणां स्वल्पप्रतिभोक्तानां पूर्वभाषिताधिकरणम् ॥

स सन्निपातश्चेत् यथोक्तमन्ते स्यात् ॥ २३ ॥

भा अग्नी दीक्षणीयाया परतो स्वल्पप्रतिभोचनादि* आग्नातं

* यच्च इतः सन उपरि जलमानः भोक्तुं चाभरकविना वा स्वल्पप्रतिभो रति
मात्रम् ॥

भा. तस्मिन् एव क्रमे चोदकेन दीक्षितसंस्काराः प्राप्ताः । तत्र सन्देहः,—किम् अनियमः, उत पूर्वं रुक्मप्रतिमोचनादि, उत दीक्षितसंस्काराः?—इति । किं प्राप्तम्?—अनियमः । अथ वा, यथा प्रत्यक्षपाठक्रमात् दीक्षणीयायाः पुरत उखासम्भरणदयः, एवं रुक्मप्रतिमोचनादीनि—इति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—दीक्षितसंस्काराः पूर्वं कर्तव्याः—इति । कुतः? । दीक्षणीयां प्रति यः पाठक्रमः, यथा च चोदकः, तयोभयेऽपि परस्तात् दीक्षणीयायाः कार्याः । यः तेषां परस्परापेक्षः क्रमः, तत्र न कश्चिदुखासम्भरणस्येव प्रत्यक्षः पाठक्रमः पूर्वत्वम् साधयति । अस्ति तु संस्काराणां प्रवृत्तौ पूर्वं पाठः, विवृत्तौ रुक्मप्रतिमोचनस्य उत्तरः, तेन यद्योक्त एव क्रमः स्यात्, अन्ते वैवृत्तम्—इति । ‘अथ किमर्थं सन्निपात आशङ्कते?’ । ननु अयं सन्निपात एव व्यक्तः । असन्दिग्धे सन्दिग्धवचनमेतत्, यथा

‘इजाना वज्रमियज्ञैर्वाङ्मण वेदपारगाः* ।

शाखाणि चेत् प्रमाणं स्युः, प्राप्ताः ते परमां गतिम्—इति । तस्मात् न दोषः—इति ॥ (५ । २ । १२ अ०) ॥

इति श्रीशवरस्वामिनः ह्यतो मीमांसाभाष्ये पञ्चमस्याध्यायस्य
द्वितीयः पादः ॥

* शाखाया वज्रयुता इति का० को० पु० पाठः ॥

पञ्चमे अथाये तृतीयः पादः ॥

—

प्रयाजादीनाम एकादशादिसङ्ख्यायां सर्वसम्पाद्यताधिकरणम् ॥

घ विवृद्धिः कर्मभेदात्पृथग्पदाज्यवत्तस्य तस्योप-
दिश्येत ॥ १ ॥ (पृ०) ॥

भा अग्निषोमीये पशौ श्रूयते,—‘एकादश प्रयाजान् यजति एका-
दशानुयाजान् यजति’—इति । चातुर्मास्येषु नव प्रयाजान्
यजति नव अनुयाजान् यजति’—इति । अग्नौ श्रूयते, ‘षडुप-
सदः’—इति । तत्र सन्देहः,—किं प्रतिप्रयाजमेकादशसङ्ख्या
प्रत्यनुयाजं च, तथा चातुर्मास्येषु नवसङ्ख्या, तथा अग्नौ
चोपसत्षडुपसङ्ख्या, उत सर्वसम्पाद्या सङ्ख्या?—इति । किं
प्राप्तम्?—प्रतिप्रधानं सङ्ख्या भिद्यते—इति । कुतः? । भिन्नानि
हि तानि कर्मणि, तानि च प्रधानानि प्रति, सङ्ख्या श्रूयते;
प्रधानसन्निधौ च गुणः शिष्यमाणः प्रतिप्रधानं भिद्यते, यथा
‘पृथग्पदाज्येनानुयाजान् यजति’—इति प्रत्यनुयाजं पृथक्ता गुणो
भिद्यते, एवम् इहापि—इति ॥

ख अपि वा सर्वसङ्ख्यात्वादिकारः प्रतीयेत ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा सर्वसम्पाद्या सङ्ख्या कल्प्येत । कुतः? । पृथक्त्वनिवेशिनी हि
सङ्ख्या असति पृथक्लेभ्यासेन कल्प्येत, यावत्सम्भवो भेदस्य,
तावत्सेवाभ्यस्येत, यावति सम्भवति, तावति पृथक्त्वनिवेश एव
न्यास्यः, तस्मात् सर्वसम्पाद्यैव सङ्ख्या । यत्तु,—‘पृथग्पदान्यवत्’—
इति, न, पृथक्ता एकरस्य न संभवति, न असौ पृथक्त्वनिवेशिनी,
न च, एकरस्य क्रियमाणा मर्यादा तद्वेणोपकरोति—इति ।

भा. तस्मात् अवश्यं भेत्तव्या, तत्रेण तु उपकरोति सङ्ख्या, इतरा-
पेक्षा हि सा भवति । एवं सति सङ्ख्यत्वस्य प्रापकः प्रयोग-
वचनोऽनुपहोष्यते—इति ॥ (५।३।२ अ०) ॥

प्रथमादीनां तिष्ठणामुपसर्गां स्वस्थानादत्यधिकरणम् ॥

घ. स्वस्थानात्तु विवृध्येरन् कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥ ३ ॥

भा. उपसत्सु सन्देहः,—किम् आदृष्टिर्दण्डकलितवत्, उत स्व-
स्थानात् विवर्द्धन्ते?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—आवर्त्त-
नीयानामर्थानामेष धर्मः, यदुत दण्डकलितवत्, यो हि
उच्यते,—‘चिरनुवाकः पथ्यताम्’—इति, स आदित आरभ्य
परिसमाप्य पुनरादित आरभ्यते, तस्मात् दण्डकलितवदा-
दृष्टिः ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘स्वस्थानात्’ विवर्द्धितुमर्हति । कुतः? ।
‘कृतानुपूर्व्यत्वात्’, कृतमानुपूर्व्यम् उपसत्सु, ‘प्रथमां हत्वा
मध्यमा कर्त्तव्या, तत उत्तमा’—इति । तत्र यदि दण्डकलि-
तवदादृष्टिः स्यात्, उत्तमां हत्वा पुनराद्याया अभ्यासे क्रिय-
माणेऽस्थाने सा विवृद्धिः कृता भवति । स्वस्थानविवृद्धौ नैष
दोषः । तस्मात् स्वस्थाने विवृद्धिः—इति ॥ (५।३।२ अ०) ॥

सामिधेनीषु धागन्तूनामन्ते निवेशाधिकरणम् ॥

ख. समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धायाः स्यु-
र्द्यावाष्ट्रिव्योरन्तराले समर्हणात् ॥ ४ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः सामिधेन्यः ‘सामिधेनीरन्वाह’—इति ।

* यथा दृष्टेन भूप्रदेशे समिधमानः पुरुषः धामूलायं कृत्वा दण्डं पुनः पुनः पातयति,
न तु दण्डस्य प्रत्यवयवम् प्रथमादृष्टिं करोति इति साधकः ॥

भा तत्र काम्या सामिधेनीकल्पा 'एकविंशतिमनुब्रूयात् प्रतिष्ठा
 कामस्य — इत्येवमादयः, तत्र आगमेन सङ्ख्यापूरणं वक्ष्यते। तत्र
 सन्देहः — किम् आगन्तूनामन्ते निवेशः, उत समिधमानवती*
 समिधवती च अन्तरेण निवेशः ? — इति। किं तावत् प्राप्तम् ? —
 अन्ते निवेशः, 'अन्ते तु वादरायण (५।२।१६ सू०) — इत्यनेन
 न्यायेन — इति। एव प्राप्ते ब्रूमः — 'समिधमानवतीं समिध
 वती च अन्तरेण निवेशः — इति। कुत ?। 'द्यावापृथिव्योरन्त
 राले समर्हणात्' (सस्तवादित्यर्थः), 'इयं वै समिधमानवती,
 असौ समिधवती यदन्तरा, तद्वार्या इत्यन्तरिक्षसस्तुतेभ्यो
 अन्तराले विधीयन्ते। तस्मात् न अन्ते स्युः — इति॥

स तच्छब्दो वा ॥ ५ ॥ (सि०) ॥ '

भा अथ वा या धार्याशब्दिका ता तत्र भवितुमर्हन्ति, तेन
 शब्देन तत्र सस्तव सस्तवाच्च विधानं, यथा, 'पृथुपाजवत्यौ
 धार्ये उष्णिक्कुम्भौ धार्ये — इति। 'का पुनरेता धार्या —
 इति नाम ? न अस्य शब्दस्य प्रसिद्धिम् उपलभामः। उच्यते,
 — सामिधेन्यो धार्या। कुत ?। एव हि भगवतः पाणिनेर्वचनं
 "पार्य सान्नाय निवार्य धार्या मान हविर्निवास सामिधे
 नीषु (३।१।२६ सू०) — इति, अस्मात् वचनात् श्रुतिमनुमिमी
 महे। कतमास सामिधेनीषु ? — इति। उच्यते, — अविशेषात्
 सर्वास्त्विति गम्यते इह तु समिधमानवतीं समिधवती च अन्त
 रेण धार्या स्युः — इति सर्वासु सामिधेनीषु सतीषु धार्याव
 चनात् विशिष्टानां सामिधेनीनां धार्याशब्दः — इति गम्यते।

ननु पाणिनियचनादविशेषेण सर्वा धार्या। न — इत्याह
 विशिष्टास्वाप वचनम् उपपद्यते एव। 'यदि विशिष्टा, ततः

* समिधमानाध्वरः इत्येवैवैकः समिधमानवतीः। समिधो अथ चारुतेत्येवैवैकः
 समिधवती इति साधनम् ॥

भा. काः?—इति । उच्यते,—यासु धार्याशब्दः श्रूयते, ताः तावत् धार्याः, तासु च धार्यासु सतीषु वचनम् अर्थवत् भवति । अर्थवति च सति वचने न अन्या धार्याः, प्रमाणाभावात्—इति ॥

ख उष्णिक्कुभोरन्ते दर्शनात् ॥ ६ ॥ 'यु० ॥

भा. 'उष्णिक्कुभोः' च 'अन्ते' प्रयोगो दृश्यते,—'यज्जगत्या परिदधादन्तं यज्ञं गच्छेत्, अथ यच्चिष्टुमा परिदधाति नान्तं गच्छति'—इति । 'ननु त्रिष्टुम् अत्रान्ते दृश्यते, न उष्णिक्कुभौ'—इति । उच्यते,—त्रिष्टुभमेवायम् उष्णिक्कुभौ—इति वृत्ते । कथम्? । 'त्रिष्टुभो वोढ्यम्'—इत्येवमन्ते संस्तुतेः 'त्रिष्टुभो वा एतद्वीर्यं यत् उष्णिक्कुभौ'—इति कारणे कायवत् उपचारः कृतः ॥ (५ । ३ । ३ अ०) ॥

वह्निष्पवमाने अग्नूना पर्यासात्तरकास्तार्धिकरणम् ॥

ख. स्तोमविद्वद्भौ वह्निष्पवमाने पुरस्तात्पर्यासादागन्तवः
स्यस्तयाहि दृष्टं द्वादशाहे ॥ ७ ॥ (प०) ॥

भा. सन्ति विद्वद्भ्यस्तोमकाः क्रतवः,—'एकविंशेन अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेद्युष्णिगेन ओजस्कामं त्रयविंशेन प्रतिष्ठाकामम्'—इति, तत्र आगमेन सङ्गरापूरणं वक्ष्यते । अथ वह्निष्पवमाने वैद्वतेषु आनीयमानेषु भवति संशयः । किं वैद्वतानामन्ते निवेशः, उत प्राक् पर्यासात्?—इति । किं प्राप्तम्?—'पुरस्तात्पर्यासादागन्तवः स्युः, तथा हि दृष्टं द्वादशाहे', 'स्तोत्रियानुरूपो तृचौ भवतः, दृषण्वन्तस्तृचा भवन्ति, तृच उत्तमः पर्यासः'—इति इहापि प्राक्पर्यासादागन्तुभिर्भवितव्यम् ॥

* अथमर्थं प्राक्तनानां वह्निष्पवमानस्तानां अग्नूनां दृष्टानां श्रोत्रीयेऽनुरूपं पर्यासः चेति श्रीशिव नामानि, तत्र सोदकान्तपोऽनुरूपपर्यासोऽनुरूपेणैव दृषण्वन्तस्तृचा भवन्ति इति म धर ॥

स पर्यास इति चान्ताख्या ॥ ८ ॥ (यु०) ॥

भा पर्यासशब्दश्च अन्तवचनो लोके दृश्यते, यथा, चैवपर्यासः, नदीपर्यासः—इति । एवं पर्यासोऽन्ते कृतो भविष्यति ॥

स अन्ते वा तदुक्तम् ॥ ९ ॥ (सि०) ॥

भा अन्ते वा एवञ्जातीयकं वैकृतं स्यात्, उक्तम्,—‘अन्ते तु वाद रायणः’ (५।२।१६ सू०)—इति ॥

स वचनात्तु द्वादशाहे ॥ १० ॥ (आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्तम्,—‘तथाहि दृष्ट द्वादशाहे’—इति, तत्परि-
हर्तव्यम् । अत्र उच्यते, वचनात् द्वादशाहे भवति, ‘स्तौत्रियानु-
रूपी तृचौ भवतः दृषण्वन्तस्तृचा भवन्ति, तृच उत्तमः पर्यासः’
—इति । न हि वचनस्य अतिभारोऽस्ति ॥

स अतद्विकारस्य ॥ ११ ॥ (१ यु०) ॥

भा न च, अयं तद्विकारः, यत्ततो धर्मान् गृहीयात्—इति ॥

स तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् ॥ १२ ॥ (२ यु०) ॥

भा योऽपि तद्विकारः, तच्चाप्यन्ते एव निवेशः । कुतः ? । ‘अपूर्व-
त्वात्, दृषण्वन्ता तृचानाम्, दृषण्वन्त एव प्राक्पर्यासात्, यावत्
वचनं वाचनिकं, न सदृशम् उपसङ्क्रामति ॥ (५।३।४ अ०) ॥

मन्त्रैवागन्तूना साक्षां मध्ये निवेशाधिकरणम् ॥ १

स अन्ते तूत्तरयोर्द्वाधात् ॥ १३ ॥ (पू०) ॥

भा इष्टमपि विष्टुस्तोमकाः कृतव उदाहरणम् । तत्र उत्तरयो

भा. पवमानयोः साम्नामागमः—इति वक्ष्यते (१० अ०) । तत्र
 आगम्यमानेषु सामसु सन्देहः,—किं तेषामन्ते निवेशः, उत
 गायत्री-वृहत्पुष्टु?—इति । किं प्राप्तम्?—‘अन्ते उत्तरयो-
 र्दथात्’ । उक्तः अत्र न्यायः,—‘अन्ते तु वादरायणः’—इति ।
 तस्मात् अन्ते निवेशः—इति ॥

स. अपि वा गायत्री-वृहत्पुष्टु वचनात् ॥ १४ ॥ ‘सि० ॥

भा. ‘गायत्री-वृहत्पुष्टु’ निवेशः । कस्मात्? । ‘वचनात्’,
 ‘वीणि ह वै यज्ञस्य उदराणि गायत्री-वृहत्पुष्टुविति । अत्र
 ह्येव आवपन्ति अत एवोदपन्ति*—इति वचनेन अस्ति उपा-
 लम्भः । तस्मात् न एषाम् अन्ते निवेशः—इति ॥ (५।३।
 ५ अ०) ॥

पद्मेष्टकादीनां क्रलशिशेषताधिकरणम् ॥

स. ग्रहेष्टकमौपानुवाक्यं सवनचितिशेषः
 स्यात् ॥ १५ ॥ ‘पू० ॥

भा. औपानुवाक्ये काण्डे यद्वा इष्टकाश्च समाभ्नाताः,—‘एष वै
 हविषा हविर्यजते, यो दाभ्यं गृह्णीत्वा सोमाय यजते’—इति,
 तथा, ‘परा वा एतस्यायुः प्राण एति योऽंशुं गृह्णाति’—इति,
 तथा ‘इष्टकाश्चित्रिणीरुपदधाति, वक्षिणीरुपदधाति, भूतेष्टका
 उपदधाति’—इति । तत्र सन्देहः,—किं ग्रहेष्टकमौपानुवाक्यं
 सवनशेषश्चितिशेषश्च, अथ किं कृतुशेषोऽग्निशेषश्च?—इति ।

* अदमर्धं, सोमस्य विष्टद्वये साध्यमावापं क्रियते, आवापं च उदापं, तावुभौ
 आवापोदापो गायत्रादिवेषे नान्यचेति । ‘उदाते ज्ञानमन्त्रम्’ इत्येव मान्दिन-
 पवमानस्यारम्भः । माघिष्ठयेत्येव आर्भवंपवमानस्य । तावुभौ गायत्री-वृहत्पुष्टु, तयो-
 रावापं न तु विष्टुपुजगतौ चन्द्रस्योरन्यधोऽनुधयोः समावापनीयम् इति माधवः ॥

भा किं प्राप्तम्?—‘सवनचितिशेषः’। कुतः?। यच्चै‘ सवनानि
आरभ्यन्ते, इष्टकाभिस्थितयः, यच्च येन आरभ्यन्ते तत्तदङ्गम् ॥

स कृत्वग्निशेषो वा चोदितत्वादचोदनानुपूर्वस्य ॥
१६ ॥ (मि०) ॥

भा ‘कृत्वग्निशेषः’ स्यात्। कुतः?। ‘चोदितत्वात्’, अग्निश्वेतव्य
श्रूयते,—‘य एवं विद्वानग्निं चिनुते’—इति, न चितिश्चेतव्या,
इष्टकाचयनेन अग्निश्वेतव्य श्रूयते, ‘अग्निम्’—इति द्वितीया-
निर्देशात्, तथा ‘यो दाभ्य गृहीत्वा सोमाय यजते’—इति
अदाभ्यस्य यजतिना सम्बन्धः, तथा अंशोः। तस्मात् सहत्
यागसम्बन्धं हृत्वा हतार्थः शब्दो भवति, श्रुतं सम्बन्धम् अग्नि-
निर्वर्त्यम्। तथा सहदग्निसम्बन्धं हृत्वा हतो मन्येत, ‘अचोदना’
चितिसवनयोः, न हि ते कर्तव्यतया चोद्येते, परार्थं हि
तयोः श्रवणं। किं प्रयोजनं?। सवनचितिशेषत्वे, प्रति सवन
यज्ञे, प्रति-चिति च इष्टकोपधानं। कृत्वग्निशेषत्वे सहत्
यज्ञेणोपधाने ॥ (५।३।६ अ०) ॥

चिचिष्णादीना मध्यमधितानुपधानाधिकरणम् ॥

स अन्ते स्युरथवायात् ॥ १७ ॥ (पू०) ॥

भा. श्रौषानुवाक्ये श्रूयते,—‘चिचिष्णीरुपदधाति, वचिष्णीरुप
दधाति’—इति। तत्र सन्देहः,—किम् एताः पञ्चम्या चिता-
दुपधेयाः, उत मध्यमायाम्?—इति। किं प्राप्तम्?—पञ्चम्याम
एवेष्टकाः हतक्रमाः, अन्या नेताभिर्द्यवेष्ट्यन्ते ॥

स लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १८ ॥ (यु०) ॥

भा आवर्णनं वा उत्तमा चितिः ‘अन्या इष्टका उपदधाति’—इति ॥

स. मध्यमायान्तु वचनात् ब्राह्मणवत्यः ॥ १९ ॥
(सि०) ॥

भा. नेवेता अन्तर्गायां चितौ । 'कस्यां तर्हि ? । मध्यमायां' ।
कुतः ? । 'ब्राह्मणवत्यः' एता इष्टकाः, तासां मध्यमा चिति-
राम्नायते,—'थां वै काचित् ब्राह्मणवतीम् इष्टकाम् अभि-
जानीयात्, तां मध्यमायां चित्तावुपदध्यात्'—इति । 'ननु सर्वा
एवेष्टका ब्राह्मणवत्यः' । न—इत्याह, अपरा लिङ्गक्रमात्
समाख्यानाच्च । तस्मात् एता नान्ते स्युः—इति ॥ (५।३।
७ अ०) ॥

लोकम्पृणात् पूर्वं चित्रिण्यावुपधानाधिकरणम् ॥

स. प्राग्लोकम्पृणायास्तस्याः सम्पूरणार्थत्वात् ॥ २० ॥

भा. औपानुवाक्ये काण्डे इष्टकाः समाभ्नाताः,—'वज्रिणीरुप-
दधाति, चित्रिणीरुपदधाति, भूतेष्टका उपदधाति'—इति ।
तत्र इदं समधिगतं,—मध्यमायां चित्तावुपधेयाः—इति । तत्र
सन्देहः,—किं प्राक् लोकम्पृणायाः*, उत मध्यात्?—इति । किं
प्राप्तम्?—'अन्ते तु वादरायणः'—इति । एवं प्राप्ते उच्यते,—
'प्राक् लोकम्पृणायाः तस्याः सम्पूरणार्थत्वात्', सम्पूरणार्थता
तस्याः श्रूयते,—'यदेवास्योनं, यच्छिद्रं, तत् अनया पूरयति,
लोकं पृणच्छिद्रं पृण'—इति । अपूर्वत्वात् वार्थस्य, विधिरेवार्थं
संस्तवेन—इति गम्यते । तस्मात् प्राक् लोकम्पृणायाः स्यात् ॥
(५।३। ८ अ०) ॥

* लोकं पृणच्छिद्रं पृण इत्यनेन उपधीयमाना इष्टका लोकम्पृणा ॥

इष्टिस्थिताग्निहोत्राद्यनुष्ठानाधिकरणम् ॥

स संस्थते कर्म सस्काराणान्तर्दर्थत्वात् ॥ २१ ॥ (पू०) ॥

भा आधाने सन्ति पवमानेष्टय । सन्ति च नियतानि कर्माणि, अग्निहोत्रादीनि । अनियतानि च ऐन्द्राग्रादीनि । तत्र सन्देहः, —किं पवमानेष्टी कृत्वा कर्माणि प्रतिपत्तव्यानि, उत आहित, मात्रेषु अग्नियु?—इति । किं प्राप्तम्?—आहितमात्रेषु—इति । कुत ? । आहितमात्रेषु असौ अग्नियु कर्माणि कर्तुम् समर्थो भवति, यथा 'आहिताग्निर्न क्षिन्न दार्व दध्यात्'—इति । दर्शयति च,—'अग्नि वै सृष्टम् अग्निहोत्रेण अनुव्रवन्ति—इति आहितमात्रेषु अग्निहोत्र दर्शयति । तस्मात् न पवमानेष्टय प्रतीक्षितव्या—इति ।

एव प्राप्ते ब्रूम,—पवमानेष्टिभिः संस्थतेषु अग्नियु कर्माणि वर्तेरन् । कुत ? । 'सस्काराणां तदर्थत्वात्, सस्कारशब्दा एते आहवनीयादयः सस्कारस्य कस्यचित् अभावेन, आहवनीयादियु प्रतिपत्तिरस्यात् । तस्मात् संस्थतेषु अग्नियु कर्माणि—इति ॥

स अनन्तरं व्रतं तद्भूतत्वात् ॥ २२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा यत्—'आहिताग्निर्न क्षिन्न दार्व दध्यात्—इत्येवमादि, युक्तं, यत् आहितमात्रेषु क्रियते, आहिताग्ने तद्भूतम् उच्यते, स च, आहितमात्रेषु आहिताग्नि संवृत्तः । तस्मात् 'अनन्तरं व्रतं स्यात्, 'तद्भूतत्वात् ॥

स पूर्वं च लिङ्गदर्शनात् ॥ २३ ॥ (आभा०) ॥

भा अथ यदुक्तम्,—आहितमात्रेषु अग्निहोत्रं दर्शयति, पूर्वम् इष्टिभ्यः—इति, तस्य कः परिहारः?—इत्याभाषान्न सुप्रम् ॥

स. अर्थवादो वा अर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥ २४ ॥ (उ०) ॥

भा. 'अर्थवादः' एषः। कुतः?। 'अर्थस्य विद्यमानत्वात्', विद्यमानो हि तत्र अन्य एव अग्निहोत्रहोमः। कथं होतव्यम् अग्निहोत्रं न होतव्यम्?—इति मीमांसने ब्रह्मवादिभिः। 'यत् यजुषा' जुहुयात् अथवापूर्वमाहुती जुहुयात् यदि न जुहुयात् अग्निः परापतेत् तूष्णीमेव होतव्यम्—इति, तस्य तूष्णीहोमस्य प्रशस्योऽभ्यमर्थवादः ॥

स. न्यायविप्रतिषेधाच्च ॥ २५ ॥ (यु०) ॥

भा. न्यायविप्रतिषेधश्च भवेत्, यदि अनन्तरम् अग्निहोत्रादयः स्युः, यः पूर्वाह्णो न्यायः, स विप्रतिषेधेत,—'न वा तासां तदर्थात्'—इति। तस्मात् संसृजते कर्माणि भवेयुः—इति ॥ (५।३।६ अ०) ॥

अग्निचिद्वर्षणादिप्रतानां कृत्वन्तेऽनुष्ठानाधिकरणम् ॥

स. सञ्चिते त्वग्निचिद्युक्तं प्रापणान्निमित्तस्य ॥ २६ ॥
(पृ०) ॥

भा. 'अग्निचिद्वर्षति, न धावेन्न खियमुपेयात्, तस्मात् अग्निचित्ता पक्षिणो न अशितव्याः'—इत्येवमादयः पदार्थाः श्रूयन्ते। तेषु सन्देहः,—किं सञ्चितमात्रे प्रतिपत्तव्याः उत कृत्वन्ते?—इति। किं प्राप्तम्?—सञ्चितमात्रे एव—इति। अग्निं याश्चितवान् सोऽग्निचित्—इति तस्य श्रूयमाणश्चितवतोऽनन्तरमेव प्राप्तुं वन्ति, प्राप्ते निमित्ते नैमित्तिकं कर्तव्यम्। तस्मात् अनन्तरमेव ॥

स क्रत्वन्ते वा प्रयोगवचनाभावात् ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा प्रयोगवचनो हि अत्र तान् पदार्थान् प्रापयति, येषां क्रत्वर्थत्वं, न चैषा क्रत्वर्थत्वमस्ति, पुरुषार्थां ह्येते । कथं ? प्रतिषेधे पुरुषः श्रूयते,—‘वर्षति न धावेन्न खियमुपेयात्’—इत्येवमादि, न च क्रत्वर्था एते प्रसक्ताः, येन प्रतिषेध क्रतोरुप कुर्यात् ।

‘ननु पुरुषार्था अपि चितवन्तः श्रवणाच्चयनानन्तरं प्राप्ताः ।
न—इति ब्रूम,—

स अग्नेः कर्मत्वनिर्द्देशात् ॥ २८ ॥ (यु०) ॥

भा अग्नये चयनं तत्, यदग्नेः स्वं कार्यं कुर्वन् साक्षाद्ये वर्तते, तत् तदर्थं । कश्च तस्य स्वार्थः ? यागसिद्धिः, सिद्धे च यागे चयनेन उपहृतं भवति । तस्मात् सिद्धे यागेऽग्निचित्, तेन क्रत्वन्ते—इति ॥ (५।३।१० अ०) ॥

दीक्षाया इष्टिसिद्धताधिकरणम् ॥

स परेणावेदनाद्दीक्षितः स्यात्सर्वैर्दीक्षाभिसम्बन्धात् ॥
२८ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत् दीक्षिष्यमाणः’—इति, तथा ‘दण्डेन दीक्षयति, मेखलया दीक्षयति, कृष्णाजिनेन दीक्षयति’—इत्येवमादि । तत्र सन्देहः,—किं सर्वेर्दीक्षितो भवति, अथ वा इच्छन्ते दीक्षितः ?—इति । किं तावत् प्राप्तम् ?—‘सर्वेः’—इति । कुतः ? ‘दीक्षाभिसम्बन्धात्’, दीक्षाम्बन्धो भवति,—‘दण्डेन दीक्षयति’ (दीक्षामस्य करोति—इत्यर्थः), यदि इच्छन्ते दीक्षितः स्यात् ।

भा. कथंम् अस्य दण्डेन दीक्षां कुर्यात्, तेन इच्छा न दीक्षितः ।
 न च, अस्य इच्छन्ते दीक्षितशब्दं पश्यामः, आवेदने त्वस्य
 दीक्षितशब्दः, तस्मात् न तावति दीक्षितः स्यात् । न च
 सम्भवति समुच्चये विकल्पो न्याय्यः, पक्षे बाधः स्यात्, तत्र
 प्रयोगवचनो बाधेत । तस्मात् भिन्नेष्वपि दीक्षासम्बन्धवाक्येषु
 प्रयोगवचनेन 'सङ्केतवाक्यता—इति आवेदनकाले दीक्षितः
 स्यात् ॥

स. इच्छन्ते वा तदर्थं ह्यविशेषार्थसम्बन्धात् ॥ ३० ॥
 (सि०) ॥

भा. 'इच्छन्ते वा' दीक्षितः स्यात्, 'तदर्थं हि' सा (दीक्षणार्था) ।
 कथं? । दीक्षिष्यमानस्य अदीक्षितस्य सा भवति, यदि तस्या
 उत्तरकाले दीक्षितः, एवं सा दीक्षिष्यमाणस्य । तस्मात् वाक्या-
 दवगम्यते,—भवति तदा दीक्षितः—इति, दीक्षाकरणे पदार्थे
 निर्दिष्टे किमिति न दीक्षितः स्यात्? वाक्यं हि निरपेक्षं
 दीक्षितः—इति ज्ञापयति ।

यत्तु,—दीक्षासम्बन्धो 'दण्डेन दीक्षयति'—इति; कथं स
 दीक्षितत्वे स्यात्?—इति दण्डेनैवं सम्पादयति—इत्यव-
 गच्छामः, यत्तु,—अनन्तरं दीक्षितशब्दो नास्ति—इति; न
 शब्दस्य अप्रयोगः अर्थाभावे हेतुः; सत्यप्यर्थे तदवसराभावात्
 प्रयुज्यते शब्दः । अन्येन च दीक्षितः—इत्यवगम्यते वाक्येन,
 'अग्रावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत् दीक्षिष्यमाणः'—इति ।
 यच्च,—आवेदनकाले दीक्षितशब्दः—इति; इच्छन्तेऽपि दीक्षि-
 तस्य असावविरुद्धः, प्रयोगवचनस्याविरुद्धः, यतः एकं दीक्षा-
 करणम्, अन्येर्दीक्षितं सम्पादयति—इति गम्यते ॥

स समाख्यानं च तद्वत् ॥ ३१ ॥ (यु०) ॥

भा. इतश्च पश्यामः, इष्टिर्दीक्षणायां, इष्ट्यन्ते च प्रवृत्तिः—
इति । कस्मात् ? । 'समाख्यानं च तद्वत्'—इति यद्वज्राय
उपदिष्टः । कथम् ? । दीक्षणीया—इति तादर्थ्यकरी समाख्या
भवति, यथा स्नानीयम् भोजनीयञ्च—इति । तस्माच्च पश्यामः,
इष्टिर्दीक्षणायां इष्ट्यन्ते च प्रवृत्तिः—इति ॥ (५।३।११ अ०) ॥

काम्येष्टीनामनियमेनानुष्ठानाधिकरणम् ॥

स अङ्गवत् क्रतूनामानुपूर्व्यम् ॥ ३२ ॥ (पू०) ॥

भा. इह काम्या इष्टय उदाहरणम्,—'ऐन्द्राग्रमेकादशकपालं
निर्वपेत्'—इत्येवमादयः, गवादयः सोमाः, सौग्यादयः पशवः ।
तत्र सन्देहः,—किं येन क्रमेण अधीताः, तेनैव क्रमेण प्रयोज्यन्ते,
उत अनियमः ?—इति । किं तावत् प्राप्तम् ?—'क्रतूनामानु
पूर्व्यं' यत् पाठे, तदेव प्रयोगे भवितुमर्हति, एवं पाठक्रमो
ऽनुगृहीतो भविष्यति, इतरथा पाठक्रमो बाधेत, तन्मा भूत्—
इति क्रमेण अनुष्ठानतथ्यम् ॥

स न वासम्बन्धात् ॥ ३३ ॥ (सि०) ॥

भा. 'न वा', अयं क्रमो नियम्येत । कुतः ? । 'असम्बन्धात्',
पृथक् पृथक् एषा कर्मणाम् प्रयोगवचनानि, तानि स्वपदार्थानाम्
उपसंहारकाणि, यो यस्य न उपकारकः, स तस्य न क्रमेण,
न उत्क्रमेण, यो यस्य उपकरोति कस्यचित्, तस्य उपकुर्वतः
क्रमः साधारण्ये वर्तते । न च, एतानि कर्माणि अन्योन्यस्य
उपकुर्वन्ति, तस्मात् न एषा क्रमः साधारण्ये वर्तते । तस्मात्
असम्बन्धः—इति ॥

सू काम्यत्वाच्च ॥ ३४ ॥ 'यु०' ॥

भा काम्यानि च एतानि कर्माणि, कामाश्च न क्रमेण उत्पद्यन्ते,
तेन निमित्तस्य अक्रमत्वाच्च क्रमवन्तः—इति ॥

सू आनर्थक्यान्वेति चेत् ॥ ३५ ॥ 'आ०' ॥

भा इति यदुक्तम् पृथ्वपक्षे, तदेव पुनरुच्यते परिहर्तुम्, एवं
क्रमेण पाठोर्ध्वान् भविष्यति—इति । एतदाभाषान्तं सूत्रम् ॥

सू स्वाद्विद्यार्थत्वाद्यथा परेषु सर्वस्वारात् ॥ ३६ ॥
(आ० नि०, ॥

भा 'स्यात्' अर्थवान् क्रमपाठः, असत्यपि प्रयोगे क्रमे, विद्या-
पक्षणार्थत्वात्,—कर्मावबोधनार्थायां विद्यायां क्रमनियमादृष्टं
तदाश्रयमेव भविष्यति—इति, यथा, त्वत्पक्षे 'परेषु सव-
स्वारात्', यस्यापि क्रमोद्भूतम्—इति पक्षः, तस्यापि सर्वस्वारात्
परेषां सर्वस्वारेण यः क्रमः तस्य अदृष्टार्थता अवश्यं कल्प-
नीया ॥ (५।३।१२ अ०) ॥

यज्ञानामग्निष्टोमपूर्वकताधिकरणम् ॥

सू य एतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात् ॥ ३७ ॥ (मि०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'एष वाव प्रथमो यज्ञानां यत् ज्योति-
ष्टोमः, य एतेनानिष्ठा अद्यान्येन यजेत गर्तपत्यमेव तज्जायते
प्रवामीयते'—इति । तत्र मन्त्रे ह्यः,—'यः एतेन'—इति कस्य

* 'एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यत् ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ठा अद्यान्येन यजेत
गर्तपतितमेव हि तत् जीव्यते प्रवामीयते'—इति माधवीये पाठः । तत्राम्नायाऽप्यकारि-
—'यथा गर्तपतितमुद्दिष्ट पवायद्यादिकं पुनर्न काण्यपदुच्यते, केवल जीव्यते, तथा,
प्रथमममुद्दिष्ट यज्ञात्तर पक्षाद्य नोपदुक्त, यज्ञानामय नैवापराधेन अपच्यतुभाग् भवती-
त्यर्थः' इति ॥

भा अथ वाद ?—इति प्रश्नेन एवोपक्रम । उच्यते,—‘य एतन्
—इति अग्निष्टोमस्य वाद । कुत ?। ‘प्रकरणात्, तस्य हि
प्रकरणे भवति एतद्वचन, प्रकृतवाचीनि च सर्वनामानि भवन्ति ॥

ख लिङ्गमात्रं ॥ ३८ ॥ (हे०) ॥

भा लिङ्गमपि भवति,—तत्र श्रूयते, ‘यस्य नवतिशत स्तोत्रीया
—इति अग्निष्टोमस्य हि भवन्ति नवतिशत स्तोत्रीया ।
कथं ?। त्रिष्टुप् वह्निष्पवमान, पञ्चदशानि आज्यानि, तानि
चत्वारि सा एकोनसप्तति । पञ्चदशो माध्यन्दिन पवमान
तेन चतुरशीति । सप्तदशानि पृष्ठानि, तानि चत्वारि
साष्टपष्टि, चतुरशीत्या सह द्विपञ्चाशच्छत । सप्तदश आर्भवं
पवमान, तेन पञ्च्यधिकं शतं नव च । एकविंश यज्ञायज्ञीयम्
—इति तदेतन्नवतिशतम् अग्निष्टोमस्य, तस्मादप्यग्निष्टोम ॥
(५।३।१३ अ०) ॥

—

ज्योतिष्टोमविकाराणाम् अग्निष्टोमपूर्वकताधिकरणम् ॥

ख अथान्येनेति संस्थानाम् सन्निधानात् ॥ ३९ ॥ (पू०) ॥

भा ‘अथ अन्येन—इति किं संस्थाना वाद, अथ ज्योतिष्टोम
विकाराणाम् एवेकाह्यादीनाम्?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?
—‘संस्थानाम्—इति । कुत ?। ‘सन्निधानात्, सन्निहिता
तस्मिन् प्रकरणे संस्था, तासां वाद प्रकरणानुपपत्तयः ॥

ख तत्प्रकृतेर्वापत्तिविहारौ हि न तुल्यैर्पृषपद्येते ॥ ४० ॥
(सि०) ॥

भा ‘तत्प्रकृतेर्वा’ गवादेर्वाद स्यात्, ‘आपत्तिविहारौ हि
प्रकृतिविकारमात्रेषु ‘उपपद्येते’, न तुल्यशब्देषु एव ज्योतिष्टोम

भा. शब्दकेषु । नैवम् अभिसम्बन्धः क्रियते,—‘अथान्येन’ ज्योति-
 ष्टोमशब्दकेन—इति । कथं तर्हि?—‘अन्येन’—इति प्रकृतात्
 इतरत् ब्रवीति, न, स ज्योतिष्टोमेन विशिष्यते, न हि शब्दस्य
 अर्थः समीपगतेन हतप्रयोजनेन एकदेशेऽवस्थापयितव्यो भवति,
 न हि वाक्येन श्रुतिर्वाध्यते । अथ, ज्योतिष्टोमोऽन्येन—
 इत्यभिसम्बध्यते, ततो नतरां संस्थावादः । कथं पुनरापत्ति-
 विहारौ? । ‘प्रजापतिर्वा अग्निष्टोमः, स उत्तरान् एकाहान्
 असृजत ते दृष्ट्वा अब्रुवन्, न वै स्वेनात्मना प्रभवामः—इति,
 तेभ्यः स्वातन्त्र्यं प्रायच्छत्*, तथा च ते प्राभवन् तत् । यथा
 वा ‘इदमग्नेर्जातादथ्यग्नयो विज्ञियन्ते’ । एवं वा, ‘एतस्मात्
 यज्ञादन्ये यज्ञक्रतवो विज्ञियन्ते, यो वै विष्टदग्न्यं यज्ञक्रतु-
 मापद्यते, स तं दीपयति, यः पञ्चदशं, स तं, यः सप्तदशं,
 स तं, यः एकविंशं, स तम्—इत्येवमाज्जरेको यज्ञः—इति ।
 एते वै सर्वे ज्योतिष्टोमाः भवन्ति—इति । एवं वैकृतानाम्
 सङ्कीर्तनात्, तेषामेव वादः—इति गम्यते । कथम्? । ‘अथा-
 न्येन’—इति, योऽसावन्यः, तत्र प्राकृतान् धर्मान् विहृतान्
 दर्शयति, अतो मग्न्यामहे, यस्य यतो विहृतिः, तेन अन्येन
 —इति ॥

स प्रशंसा वा विहरणाभावात् ॥ ४१ ॥ (आ०) ॥

भा यद्येवं न तर्हि तद्विकाराणाम् वादः, तत्र न विहारो नापत्तिः
 प्रकरणादिभिः, ते धर्मा ज्योतिष्टोमस्य, यदि हि गवाद्यो
 पिज्ञियेरन् प्रकरणादीनि बाधेरन्, तदापत्तिः प्रत्यक्षविरुद्धा,
 ‘प्रशंसा’ त्वेपा, आपत्तिविहाराभावात् ॥

* न कथं सोम आत्मना प्रभवाम इति मेभ्यः मां तनुं प्रायश्चदिति माधवोपे पाठः ॥

स विधिप्रत्ययाद्वा न ह्येकस्मात्प्रशंसा स्यात् ॥ ४२ ॥
(आ० नि०) ॥

भा अत्र उच्यते,—यद्यप्यापत्तिविहारौ न विधीयेते, ते तथापि चार्द्धकैर्न विधीयेते, ये प्रहृतौ कर्त्तव्याः, ते चोदकवचनात् विहृतावपि कर्त्तव्या गम्यन्ते, तदापत्तिविहाराविव यत्र भवतः, तेन अन्यतः—इति ग यत् । न ह्येकस्मात् प्रशंसा स्यात्, योऽसावन्यः, स कथम् अनया प्रशंसया लक्ष्येत?—इत्येवमर्था प्रशंसा ॥ (५।३।१४ अ०) ॥

सर्वेषामेकानेकस्तोमकानाम् अग्निष्टोमपूर्वकताधिकरणम् ॥

स एकस्तोमे वा क्रतुसयोगात् ॥ ४३ ॥ (पू०) ॥

भा 'य एतेनानिष्ठा, अधान्येन यजेत'—इति श्रूयते। तत्र एषोऽर्थः सर्वाधिगतः,—तद्विकाराणाम् वादः—इति। अथ इदानीं सन्दिह्यते,—किम् एकस्तोमकस्य, अनेकस्तोमकस्य च?—इति। किं प्राप्तम्?—एकस्तोमकस्य वादः। कुतः?। 'क्रतुसयोगात्', एकस्तोमे क्रतुसयोगो भवति,—“यो वै त्रिष्टदग्न्यं यज्ञक्रतुमापद्यते स तन्दीपयति, यः पञ्चदशं स तं, यः सप्तदशं स तं, य एकविंश स तं”। त्रिष्टदादय एकस्तोमकाः। तस्मात् तेषां वादः—इति ॥

स सर्वेषां वा चोदनाविशेषात् प्रशंसा स्तोमनाम् ॥ ४४ ॥ (सि०) ॥

भा 'सर्वेषां' च एष वादः, एकस्तोमकानाम् अनेकस्तोमकानाम् च। कुतः?। अविशेषवचनात् अन्यशब्दस्य। 'ननु एकस्तोमका क्रतवः सङ्कीर्त्यन्ते'। सत्यं सङ्कीर्त्यन्ते, प्रशंसार्थं, न

भा. विशेषार्थम् । कः पुनः प्रशंसार्थः ? । 'यो वै विद्वदन्यं यज्ञक्रतु-
मापद्यते स तन्दीपयति', चोदकप्राप्ता धर्मा अभ्यस्ताः महतौ,
विद्वतौ सखं प्रतिपद्यन्ते ॥ (५।३।१५ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः द्वाती मीमांसाभाष्ये पञ्चमसूत्राध्यायस्य
ततीयः पादः ॥

पञ्चमे अध्याये चतुर्थं पादः ॥

— १ ॥ —

पाठक्रमापेक्षया श्रुत्यर्थोर्बलवत्ताधिकरणम् ॥

स क्रमको योऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थ-
परत्वाच्च ॥ १ ॥

भा इह पाठक्रमस्य श्रुत्यर्थक्रमाभ्या सह बाधा प्रति विचारणम्
—किं पाठक्रम ताभ्या तुल्य, उत बाध्यते?—इति । किं
प्राप्तम्?—तुल्यबलायेतौ, पाठोऽपि हि कारण श्रुत्यर्थावधि,
न च प्रामाण्ये कश्चित् विशेषोऽस्ति, तस्मात् अनियम —इति ।
एव प्राप्ते ब्रूम, —पाठक्रमो हि बाध्यते श्रुत्या अर्थेन च ।
कुत ? । ‘श्रुतिविशेषात् अर्थपरत्वाच्च । श्रुतिविशेष कः ? । यत्र
श्रवण तत्र प्रत्यक्ष कारण, पाठक्रमस्तु आनुमानिक पाठक्रमेण
स्मरणम् एवम् अभिनिर्वर्तयितव्यम्—इत्यवगम्यते तस्यार्थ
वत्त्वेनेकया उपपत्त्या तस्य एवानुष्ठान श्रुत्या पुन अनुष्ठान
मेव, एव भवति—इति प्रत्यक्षादवगम्यते ।

तथा अर्थेन । कुत ? । अर्थपरत्वात् अर्थार्थं हि सर्वं
(प्रधानार्थं) प्रधानम् अभिनिर्वर्तयति—इति सर्वं क्रियते ।
तस्मात् पाठ ताभ्या बाध्यते ।

किम् उदाहरण प्रयोजनं च ? । श्रुत्याम् ‘आश्विनो दशमी
गृह्यते त तृतीय जुहति अत्र पाठक्रमस्य बलीयस्त्वे तृतीयस्य
ग्रहण, सिद्धान्ते तु दशमस्य । अर्थ, अग्निहोत्रहोम पूर्व
आम्नायते पश्चाच्छ्रवणम् एव कर्तव्यम्, यदि पाठो बलवान्,
सिद्धान्ते श्रवण पूर्व, ततो होम ॥ (५।४।१ अ०) ॥

भा

च ।

स्तोमः

मुख्यक्रमेणाग्रेयस्य पूर्वमवदानार्थानुष्ठानाधिकरणम् ॥

स. अवदानाभिधारणासादनेष्वानुपूर्व्यं प्रवृत्त्या
स्यात् ॥ २ ॥ (पूर्व०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासी, तत्र पूर्वं दध्नी धर्माः समाग्नताः, पश्चात्
आग्नेयस्य, प्रदानं च आग्नेयस्य पूर्वम् । तत्र सन्देहः,—किं
प्रावृत्तिकेन क्रमेण पूर्वं दध्नी अवदानाभिधारणासादनानि,
उत मुख्यक्रमेण पूर्वम् आग्नेयस्य?—इति । किं प्राप्तम्?—
अनियमः—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अवदानादिषु प्रावृत्ति-
केन पूर्वं दध्नी—इति । कुतः? । एवम् अनुज्ञातेभ्यो व्यव-
धायकेभ्यो न अभ्यधिकोऽन्यो वा व्यवधायकः कल्पितो भवि-
ष्यति, दर्शयति च दध्नीः पूर्वमेव देयम्—इति ॥

स. यथाप्रदानं वा तदर्थत्वात् ॥ ३ ॥ (सि०) ॥

भा. 'यथाप्रदानं वा' कर्त्तव्यानि, यस्य प्रदानं पूर्वम्, तस्य
अवदानानि पूर्वम्, तस्मात् आग्नेयस्य । कुतः? । प्रदान-
चोदनागृहीतत्वात् अवदानादीनाम्, प्रदानोपक्रमा एते न
पृथक्पदार्था एते—इत्युक्तम् । अभिधारणम् अवदानं च तस्य
प्रदानचिकीर्षयैव क्रियते । आसादनम् अपि प्रदानार्थमव
(आसन्नकरणम्), एवं दृष्टार्थता भवति । तस्मात् मुख्यक्रमेण
अङ्गानाम् प्रयोगः—इति ।

यत्तु, दध्नीः पूर्वं प्रवृत्तिः—इति; अर्थात् पूर्वं प्रवृत्तिः, न
पाठात् । प्रावृत्तिकाच्च मुख्यक्रमो बलीयान्, मुख्यक्रमे गृह्य-
माणे प्रथम एकः पदार्थो विप्रकृष्टकालः स्यात्, प्रावृत्तिक
पुनर्गृह्यमाणे सर्वेषां विप्रकर्षः । तस्मात् मुख्यक्रमो बलीयान्
—इति । अथ . . . रक्तम्,—दध्नीः पूर्वम् अवदेयम्—

भा इति; अथ उच्यते,—ग्रन्ताभिप्रायमेतत् भविष्यति । तस्मात्
अदोषः ॥

ख लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४ ॥ (यु० १) ॥

भा 'लिङ्गम् अपि अस्मिन् अर्थं भवति,—'स वै ध्रुवामेव अयेभि
धारयति, ततो हि प्रथमावाज्यभागौ यज्यन् भवति'—इति
तस्मादपि मुख्यक्रमेण नियमः—इति ॥ (५।४।२ अ०) ॥

इष्टिषोक्तयोः पौर्वापर्यानिपमाधिकरणम् ॥

ख वचनादिष्टिपूर्वत्वम् ॥ ५ ॥ (पू०) ॥

भा इष्टिपूर्वत्वं समाम्नातं । तत्र सन्देहः,—किम् इष्टिपूर्वत्वं,
सोमपूर्वत्वं वा विकल्पः, अथ वा इष्टिपूर्वत्वमेव?—इति । किं
माप्तम्?—'इष्टिपूर्वत्वम्' एव स्यात् । कुतः? । 'वचनात्,
वचनम् इदं भवति,—'एष वै देवरथो यत् दर्शपूर्णमासौ, यो
दर्शपूर्णमासौ इद्धा सोमेन यजते, रथस्पष्ट एवावसाने वरे
देवानामवस्यति'—इति, नास्ति वचनस्य अतिभारः । तस्मात्
इष्टिपूर्वत्वमेव—इति ॥

ख सोमश्चैकेषामग्राधेयस्यर्तुनक्षत्रातिक्रमवचनात्
तदन्तेनानर्थकं हि स्यात् ॥ ६ ॥ (सि०) ॥

भा इष्टिपूर्वत्वम्—इत्येतत् गृहीतम्; किन्तु 'सोमश्च एकेषां पुरो
दर्शपूर्णमासयोः स्यात् । कुतः? । 'अग्राधेयस्य ऋतुनक्षत्राति-
क्रमवचनात्,—'यः सोमेन यज्यमाणोऽग्नीनादधीत, नर्तुम् स
प्रतीक्षेत् न नक्षत्रम्—इति, यः सोमयागं ऋतुमादधीत, स न
प्रतीक्षेत् नक्षत्रं नाभ्युतुं तावत्येवादधीत—इति आनन्तर्यम्
उच्यते, इतरथा, ऋतुनक्षत्रातिक्रमवचनम् 'अनर्थकं स्यात्'।

भा. आनन्तर्येनपेक्ष्यमाणे यस्यैव ऋतुनक्षत्रे उक्ते तस्यैव तयोरना-
दरः कीर्तितः स्यात्, तस्मादस्ति सोमाधानयोरानन्तर्यमिति ।
अपि च विस्पष्टा च अद्यतनी विभक्तिः,—‘सोमेन यद्यमाणः’—
—इति, सा च न इष्टिपूर्वत्वम् अनुज्ञाय विवक्ष्यते, न तदा
अद्यतनकालविवक्षा, तत्र अयं शब्दो विप्रतिषिद्धेऽपि तस्मात्
आनन्तर्यविवक्षेत्यवगम्यते ॥

स. तदर्थवचनाच्च नाविशेषात्तदर्थत्वम् ॥ ७ ॥ (यु० १) ॥

भा. इतश्च सोमाधानयोः आनन्तर्यम् । कुतः ? । ‘तदर्थवचनात्’,
‘यः सोमेन यजेत स अग्निमादधीत’—इति ‘च’ । सर्वैरप्यसौ
यद्यमाणोऽग्निमाधत्ते सोमेन अग्निहोत्रादिभिश्च, न असति
सोमस्य विशेषे सोमार्थता स्यात् । अयम् असौ विशेषः स्यात्,
यदानन्तर्ये सोमाधानयोः—इति ॥

स. अयद्यमाणस्य च पवमानहविषां कालनिर्देशात्
आनन्तर्याद्विशङ्का स्यात् ॥ ८ ॥ (यु० २) ॥

भा. सोमेन ‘अयद्यमाणस्य च पवमानहविषां’ कालो निर्द्दिश्यते,
—‘यः सोमेन अयद्यमाणोऽग्निमादधीत, स पुरा संवत्सरात्
हवोषि निर्वपेत्’—इति, न खलु कश्चित् अयद्यमाणः, सर्वस्य
विहितत्वात् । तस्मात् अनन्तरम् अयद्यमाणः—इति गम्यते ॥

स. इष्टिरयद्यमाणस्य, तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम् ॥ ९ ॥
(प्र०) ॥

भा. इदं प्रयोजनसूत्रम् व्यर्थते । चीष्मधिकरणम्, किं प्रयोजनं
चिन्तायाः ? । ‘इष्टिः अयद्यमाणस्य’ सोमेन निरभिसन्धिके
आधाने ; तदर्थत्वे तु ‘सोमपूर्वत्वं’, सोमार्थतायां त्वाधानस्य
सोमपूर्वत्वं स्यात् ॥ (५।४।३ अ०) ॥

ब्राह्मणस्यापौष्टिहोमयोः पौष्ट्यापयानिबन्धाधिकरणम् ॥

स उत्कर्षात् ब्राह्मणस्य सोमः स्यात् ॥ १० ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति आधान, तत्र एषोर्ध्वः समधिगतः,—इष्टिपूर्वत्व सोम-
पूर्वत्व च—इति । इदानीं सन्देहः,—किं चयाणाम् वर्णानाम्
इष्टिपूर्वत्व सोमपूर्वत्व वा, उत ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वमेव, उत
केवला पौर्णमासी उत्स्थाप्यते, ब्राह्मणस्य उभौ कल्पौ?—इति ।
अथ वा कर्मान्तरम् इदं, यत् ऊर्ध्वं सोमात्, अथ वा एकं हवि
उत्स्थाप्यते, ब्राह्मणस्य उभावैव कल्पौ?—इति । किं प्राप्तम्?
—चयाणाम् वर्णानाम् इष्टिपूर्वत्व सोमपूर्वत्व वा । कुत ?
अविशेषात्,—न कश्चित् विशेषमवगच्छाम । एव प्राप्ते ब्रूम,
—ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्व स्यात् । कस्मात् ? । ‘उत्कर्षात्,
उत्कर्षा’ हि श्रूयते, ‘आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया, स सोमेन
इद्धा अग्नीषोमीयो भवति, यदेवाद् पौर्णमासं हवि, तत्र हि
अनुनिर्वपेत्, तर्हि उभयदेवत्यो भवति’—इति । किम् इव हि
वचनं न कुर्यात् । तस्मात् ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वमेव—इति ॥

स पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् ॥ ११ ॥ (सि०) ॥

भा यदुक्तं, ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वम् एव—इति, तन्न, तस्य अपि
उभौ कल्पौ । कुत ? । अविशेषात्, न हि कल्पयो ब्राह्मणस्य
कश्चिद्विशेष आम्नायते । ‘ननु इदानीमेव उक्तं,—ब्राह्मणस्य
उत्कर्षं—इति । न—इति ब्रूम,—पौर्णमासीमात्रस्य तत्र
उत्कर्षः, श्रुतिसंयोग पौर्णमास्या तत्र,—‘यदेवाद् पौर्णमासं
हवि’—इति, यावद्वचनं वाचनिकं, तत्र न ग्याय क्रमते ।
तस्यैव एकदेशे उत्थाप्ये नूनमपरोऽप्येकदेश उत्स्थाप्यते—इति ॥

स. सर्वस्य वैककर्मात् ॥ १२ ॥ (आ०) ॥

भा. यदुच्यते,—केवला पीर्णमासी उत्क्षिप्यते—इति । तत्र, छात्स्त्रस्य दर्शपूर्णमासकर्मण उत्कर्षः, एवं फलेन सम्बन्धः, इतरथा न स्यात् फलम् । एकदेशत्वात् पीर्णमास्याः, केवलायाम् उत्क्षिप्यमाणायां अवशिष्टस्य पूर्वत्र क्रियमाणस्य न फलं स्यात्, एकदेशत्वात्, अफलत्वाच्च उक्तम् अपि न क्रियेत, समुदाये च उत्क्षिप्यमाणे भवति फलम् । तस्मात् अर्थात् समुदायस्य उत्कर्षः, एवं छात्स्त्रोपदेशोऽर्थवान् भविष्यति—इति । तस्मात् सर्वस्य उत्कर्षः, सोमपूर्वत्वम् एव ब्राह्मणस्य—इति ॥

स. स्याद्वा विधिस्तदर्थेन ॥ १३ ॥ (पू० २) ॥

भा. नेतदस्ति, यदेवं समुदायस्य असति वचने उत्कर्षः परि-कल्प्येत, तस्मात् अन्यदेवेवंनामकं कर्म ऊर्द्धं सोमात् स्यात् । एवम् एकदेशस्य अश्रुतं फलं न कल्पयितव्यं भविष्यति, नामधेयन्तु द्वयोः कर्मणोः एकम्, अक्षाः पादाः मायाः—इति यथा ; पीर्णमासधर्मकं वा कर्मान्तरं चोद्यते—इति कर्मविधानं, श्रुतेः एतत् भवति, तत् वाक्यस्य बाधकम् । तस्मात् कर्मान्तरम्—इति ॥

स. प्रकरणात्तु कालः स्यात् ॥ १४ ॥ (सि० २) ॥

भा. कर्मान्तरस्य एतदाचकम्—इति प्रामाणाभावः । प्रकृतस्य कर्मणो वाचकम्—इति प्रत्यक्षं, यच्च सप्रमाणकं, तत् याद्यं, अन्यायश्चानेकार्थत्वं । धर्मपक्षे लक्षणाशब्दः श्रुतिसम्भवे कल्प्यः स्यात् । अपि च अस्य रूपं न गम्यते, रूपावचनात् न कर्मान्तरं । तस्मात् प्रसिद्धेन नाम्ना प्रकृतस्य कर्मणो ग्रहणं कालविधानार्थं स्यात्, फलवत्त्वाच्च छात्स्त्रस्य उत्कर्षः, ब्राह्मणस्य

भा च तथैव । यत्तु, श्रुतिर्वाक्यात् बलीयसी—इति, अत्र उच्यते,
—यत्र फलं न श्रूयते, वाक्यार्थापि तावत् तत्र गृह्यते; न
च, इह फलस्य अवणमस्ति । कल्प्यं फलम्—इति यदि
उच्यते, न तत्, फलवचनम् अन्तरेण । तत्र फलवचनः शब्दः
कल्पित, तेन च सहैकवाक्यता । कालवचनेन तु सह प्रत्यक्षेण
एकवाक्यता—इति । तस्मात् न कर्मान्तरं । स्थितं तावदपर्यव-
सितम् अधिकरणम् ॥ (५।४।४ अ०) ॥

नर्तुम् प्रतीचेदित्यादिना सोमकालबाधाधिकरणम् ॥

ख स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात् ॥ १५ ॥ (पू०) ॥

भा 'यः सोमेन यच्च्यमाणोऽग्निमादधीत, नर्तुम् स प्रतीचेत्* न
नक्षत्रम्—इति । अत्र सन्देहः,—किम् आधानस्य अयं काल-
विशेषबाधः, उत सोमस्य?—इति । किं प्राप्तम्?—आधानस्य
कालबाधः, 'स्वकाले स्यात्' सोमः । कुतः? । 'अविप्रतिषेधात्',
अङ्गमाधानं, तस्य कालबाधो न्यायः, न प्रधानस्य । 'अङ्ग-
गुणविरोधे च तादर्थ्यात्'—इति वक्ष्यते ॥

ख अपनयो बाधानस्य सर्वकालत्वात् ॥ १६ ॥ (सि० १) ॥

भा 'अपनयो वा' आधानात् सोमकालस्य स्यात् । कुतः? ।
'आधानस्य सर्वकालत्वात्', नैवाधाने कश्चित् कालनियमोऽस्ति,
—'यदहुरेवैनं यद्वोपनमेत् तदहुरादधीत'—इति, अमाप्तमेव
तत् आधानस्य, यत् प्रतिषिध्यते । तस्मात् सोमस्य कालबाधः
—इति ॥

* सञ्जेत् इति साधवीये पाठः । सञ्जतिर्भातुर्देवर्षाये वर्जते इति तथापि ॥

† यत्र उपनमेन इति साधवीये पाठः ॥

घ. पौर्णमास्यूहं सोमात् ब्राह्मणस्य वचनात् ॥ १७ ॥
(सि० २) ॥

भा. स्थितादुत्तरं । न वा एतदस्ति,—हस्तौ दशपूर्णमासी उत्-
ह्रियेते, 'ऊहं सोमात्', केवला पौर्णमासी उत्ह्रियेते । कुतः ? ।
'वचनात्', वचनमिदं,—'यदेवादः पौर्णमासं हविः तत्तर्ह्यनु-
निर्वपेत्'—इति, नास्ति वचनस्य अतिभारः । तस्मात् पौर्ण-
मासीमात्रम् उत्ह्रियेत । यत्तु फलं नास्ति—इति, समुदायादेव
फलं भविष्यति—इति, वचनादेवंविज्ञानात् । तस्मात् अदोषः ॥

घ. एकं शब्दसामर्थ्यात् प्राक्कृत्स्नविधानात् ॥ १८ ॥
(सि० ३) ॥

भा. 'एकं वा' हविः उत्ह्रियेत, न हस्तौ पौर्णमासी । कुतः ? ।
'शब्दसामर्थ्यात्', एकं हविः उत्क्रष्टुम् शब्दः समर्थः, 'यदेवादः
पौर्णमासं हविः'—इति श्रूयते, यावद्वचनं वाचनिकं, तावद्वचनेन
उत्क्रष्टुम् शक्यते, न अन्यदपि । प्राक्सोमात् कृत्स्नम् विधीयते,
ततो यत् वचनेन उत्ह्रियेते, तदूहं सोमात्, यत् न उत्ह्रियेते,
तत् प्राग्भवितुमर्हति । तस्मात् एकं हविः उत्क्रष्टव्यं, ब्राह्मणस्य
उभौ कल्पौ—इति ॥ (५ । ४ । ५ अ०) ॥

याजस्य सोमादनृत्पर्याधिकरणम् ॥

घ. पुरोडाशस्त्वनिर्द्देशे तद्युक्ते देवताभावात् ॥ १९ ॥
(सि०) ॥

भा. इदं श्रूयते,—'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया, स सोमेन दृष्ट्वा
अग्नीषोमीयो भवति, यदेवादः पौर्णमासं हविः तत्तर्ह्यनुनिर्वपेत्,
तद्युभयदेवत्यो भवति'—इति । यस्मात् तस्मिन् काले स

भा अग्नीषोमीयो भवति, न प्राचीने काले, तस्मात् अदो हविः अनुनिर्वपेत्—इति, अग्नीषोमीयत्वं विधाय द्विदेवताकत्वं हेतुत्वेन निर्दिश्यते, तस्मात् अग्नीषोमीयं हविः हेतुमत् स्यात्, न अन्यदेवताकं, तदा असौ अग्नीषोमी यद्युमर्हति, न प्राक् सारस्य देवता—इति भवति पुरुषस्यापि यद्युर्देवताभिसम्बन्धः। तस्मात् पुरोडाशः अग्नीषोमीयो न अन्यद्विदेवताकः—इति सिद्धम्॥

ख. आज्यमपीति चेत् ॥ २० ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् पश्यसि अग्नीषोमीयत्वात् पुरोडाशः—इति, आज्यमपि हि अग्नीषोमीयं। तस्मात् तदप्युत्तम्येत ॥

ख न मिश्रदेवतत्वादैनद्राग्नवत् ॥ २१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. मिश्रदेवतं हि आज्यं,—अग्नीषोमीयं, प्राजापत्यं, वैष्णवम्—इति च, पुरोडाशः त्वग्नीषोमीय एव। न तु अत्र मिश्रदेवतस्य वादः, मिश्रदेवतस्य हि प्रागपि भावोऽभवत्कल्प्यते। यद्यपि तदानीं यजमानो न अग्नीषोमीयः तद्देवतार्हः, तथापि आज्यं हविः करिष्यत्येष, प्राजापतिं यक्षयति, विष्णुं वा। तस्मात् तस्य जडभावे न एष हेतुः अग्नीषोमीयत्वं नाम। यथा चतुर्धाकरणं मिश्रदेवतत्वात् ऐन्द्राग्नेन भवति, तद्वत्तत्र 'आग्नेयः'—इति ऐन्द्राग्नौ न शक्यते वदितुम्; तद्वितः साकाङ्क्षात् न उत्पद्यते—इति। एवम् इह अग्नीषोमीयशब्देन न शक्यम् आज्यं वदितुम् अग्नीषोमीयो हि असौ। तस्मात् शक्यं प्राक् यजमानेन कर्तुम्—इति। तस्मात् न तस्य उत्कर्षेऽग्नीषोमीयता यजमानस्य हेतुः—इति, मिश्रदेवतस्य यक्षणासामान्यात् 'ऐन्द्राग्नवत्'—इत्युक्तम् ॥ (५।४।६ अ०) ॥

विहृतानामेन्द्राग्नादीनां सद्यस्कालाधिकरणम् ॥

स विहृतेः प्रकृतिकालत्वात्सद्यस्कालोत्तरा विहृतिः
तयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥ २२ ॥ (सि०) ॥

भा. इह वैहृतातानि कर्माणि उदाहरणम्,—‘ऐन्द्राग्नम् एकादश-
कपालं निर्वपेत्’—इत्येवमादीनि । तत्र सन्देहः,—किम् एता
विहृतयोः सद्यस्कालाः, उत इहकालाः?—इति । किं प्राप्तम्?
—विहृतिः प्राकृतान् धर्माद्योदकेन गृह्णाति, अतः ते धर्मा
आनुमानिकाः, पौर्णमासी चान्यः कालः; स यदि वा प्रकृत्या
गृह्येत, यदि वा विहृत्या, असम्भवेऽन्यतरस्याः कालस्त्यक्तव्यः,
तत्र आनुमानिको वैहृतस्य त्यज्यतां, न प्रत्यक्षश्रुतः प्राकृतस्य
—इति न्याय्यम् । तस्मात् सद्यस्काला एता विहृतयो भवेयुः
—इति ॥

स द्वैयहकाल्ये तु यथान्यायम् ॥ २३ ॥ (पू०) ॥

भा. ‘द्वैयहकाल्ये’ क्रियमाणे ‘यथान्यायं’ कृतं भवति, तस्मात्
द्वैयहकाल्यं स्यात् । चोदकः तथा अनुगृहीतो भवति, प्रकृतौ
हि श्रूयते,—‘पूर्वेद्युः अग्निं गृह्णाति, उत्तरमहर्द्धवता यजेत’
—इति । तस्मात् इहकालम् एकमभिनिर्वर्त्य, तदहरेवोप
क्रम्यापरेद्युः परिसमापयेत् ॥

स वचनाद्वैककाल्यं स्यात् ॥ २४ ॥ (उ०) ॥

भा. नैतदेवं,—इहकाला विहृतयो भवेयुः—इति, सद्यस्कालाः
स्युः । कस्मात्? । वचनमिदं भवति यः,—‘इष्ट्या पशुना
सोमेन आययथेन वा यज्यमाणः स पौर्णमास्याममावास्याया
वा यजेत’—इति, साङ्गस्य एतद्वचनम् । तस्मात् साङ्गं पौर्ण

भा नास्थाममावास्थायां वा कुर्वीत—इति गम्यते, तेन सद्वस्त्राणां
विहतयः ॥ (५।४।७ अ०) ॥

सोमान सान्नाय्यविकारादीनामुत्कर्षाधिकरणम् ॥

ख 'सान्नाय्याग्निपोमीयविकारा ऊर्ध्वं सोमात्'
प्रकृतिवत् ॥ २५ ॥

भा इह सान्नाय्यविकाराद्य अग्नीपोमीयविकाराद्य उदाहरणम्,
सान्नाय्यविकाराः तावत् यथा, 'आमिच्छा यमुः'—इति, 'अग्नी
पोमीयम् एकादशकपालं निर्वपेत् श्यामाकं, ब्राह्मणो वसन्ते
ब्रह्मवर्चसकानः'—इत्येवमादयः। तत्र सन्देहः,—किम् एते
प्रागूर्ध्वं च सोमात्, उत ऊर्ध्वम्?—इति। किं प्राप्तम्?—प्रागूर्ध्वं
च, विशेषानवगमात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'ऊर्ध्वं सोमात् स्युः'
—इति, प्रवृत्तिर्हि एयाम् ऊर्ध्वं सोमात्, चोदकेन एभिरेषि
ऊर्ध्वं सोमात् भवितव्यम्। सान्नाय्यस्य ऊर्ध्वं सोमात्, वचनेन,
—'असोमयाजो सन्नयेत्'—इति। अग्नीपोमीयस्यापि,—
'आग्नेयो ब्राह्मणो देवतथा स सोमेन इद्धा भवति, यदेवादः
पौर्यमासं हविः, तत्तर्ह्यनुनिर्वपेत्'—इति, तर्हि स उभयदेवतयो
भवति—इति, तद्विकृतिः अपि सोमात् ऊर्ध्वं भवितुमर्हति ॥
(५।४।८ अ०) ॥

सोमविकाराणां दर्शपूर्णमासात् पूर्वम् कर्मयताधिकरणम् ॥

ख तथा सोमविकारा दर्शपूर्णमासाभ्याम् ॥ २६ ॥

भा सोमविकारा गवादय एकाद्याः। तेषु सन्देहः,—किं दर्श
पूर्णमासात् प्रागूर्ध्वं च प्रयोक्तव्या, उत ऊर्ध्वम्?—इति। किं
प्राप्तम्?—अनियमः, अविशेषात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'तथा

भा. सोमविकाराः, दशपूर्णमासाभ्याम् ऊहं रयुः, ज्योतिष्टोमो
 दर्शपूर्णमासाभ्याम् ऊहं भवति,—‘दशपूर्णमासाभ्याम् इद्धा
 सोमेन यजेत’—इति चोदकेन एय धर्मो गवादिषु अप्येकाहेषु
 प्राप्नोति । तस्मात् तेषु दर्शपूर्णमासाभ्याम् ऊहं कर्त्तव्याः
 इति ॥ (५।४।९ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिकृती मोमांसाभाष्य पञ्चमस्याध्यायस्य
 चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ समाप्तश्च पञ्चमोऽध्यायः ॥

यष्टे अध्याये प्रथमः पादः ॥



यागादिवर्कणाम् स्वर्गादिफलसाधनताधिकरणम् ॥ (अधिकारव्याप्य) ॥

सू. 'द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसन्वन्धः ॥ १ ॥'
(पृ०) ॥

भा. 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इत्येवमादि समाग्न्यायते । तत्र सन्देहः,—किं स्वर्गो गुणतः, कर्म प्रधानतः; उत कर्म गुणतः, स्वर्गः प्रधानतः?—इति । कुतः संशयः? । इह 'स्वर्गकामो'ऽपि निर्दिश्यते, 'यजेत'—इत्यपि । अत्र स्वर्गकामयागयोः सम्बन्धो गम्यते; तस्मिंश्च सम्बन्धे किं यागः साधनत्वेन सम्बध्यते, उत साध्यत्वेन?—इति भवति विचारणा ।

तत्र यदि स्वर्गकामस्य पुरुषस्य यागः कर्तव्यतया चोद्यते, 'स्वर्गकामेन यागः कर्तव्यः'—इति, स्वर्गच्छाविशिष्टस्य स सिध्यति—इति गम्यते । स्वर्गच्छा तत्र पुरुषस्य यागं प्रत्युपदिश्यते, तेन तस्य स सिध्यति न अन्यस्य—इति,* यः स्वर्गकामः, स शक्नोति पुरुषो यागं साधयितुम् ।

अथ स्वर्गकामस्य कामः कर्तव्यतया चोद्यते, ततो यागविशिष्टा कर्तव्यता—इति यागः साधकोभ्युपगम्यते । स चायम् उभयो-
रभ्यर्थः एतस्मात् उच्चरितादाक्यात् गम्यते,—यागो वा कर्तव्यः
कामो वा—इति । न चैतत् योगपद्येन सम्भवति, यदा कामः,
न तदा यागः, यदा यागः, न तदा कामः, वचनव्यक्तिभेदात्,†
उपपन्नः संशयः ।

* यत्र सर्वः कामः, तत्र कैश्चित् इत्यधिकं पाठः आ० शं० पु० ॥

† वचनव्यक्तिभेदात् । अस्मात् इति पाठः आ० शं० पु० ॥

भा. तथा इदम् अपरम् सन्दिग्धं, किं प्रीतिः स्वर्गः, उत द्रव्यम्?
—इति, यदि द्रव्यं स्वर्गः, ततः प्रधानं कर्म, द्रव्यं गुणभूतम्।
अथ प्रीतिः स्वर्गः, ततो यागो गुणभूतः, स्वर्गः प्रधानम्?—
इति। कुतः संशयः?। नास्त्यत्र कामस्य गुणत्वेन प्राधान्येन
वा श्रुतिः, सम्बन्धमात्रं तु अस्य यागेन गम्यते, द्रव्यस्य तु
कर्माद्यन्ता स्वभावतः, पुरुषप्रयत्नस्य च फलार्थता*।

किं तावत् प्राप्तम्?—स्वर्गो गुणतः, कर्म प्रधानतः—इति।
तत्र तावदर्णयन्ति,—द्रव्यं स्वर्गः—इति। कथम् अवगम्यते?।
सर्वेषाम् एव शब्दानाम् अर्थज्ञाने लौकिकः प्रयोगोऽभ्युपायः,
तस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे द्रव्यवचनः स्वर्गशब्दो लक्ष्यते,—‘कौशिकानि
सूक्ष्माणि वासांसि स्वर्गः, चन्दनानि स्वर्गः, इष्टवर्षाः
स्त्रियः स्वर्गः’—इति, यद्यत् प्रीतिमत् द्रव्यं, तत्तत् स्वर्गशब्देन
उच्यते। तेन सामानाधिकरण्यात् ‘प्रीतिमत् द्रव्यं स्वर्गः’—
इति मन्यामहे, ‘उपमानात् शब्दप्रवृत्तिः—इति चेत्’। न
इति कस्मिंश्चित् अनुपमिते लोके प्रसिद्धः, यस्य एतदुपमानं
स्यात्, तस्मात् नोपमानम्। अतो द्रव्यं स्वर्गः—इति।

‘न—इत्याह, प्रीतिः स्वर्गः—इति, न द्रव्यम्, व्यभिचारात्,
—तदेव हि द्रव्यं कस्याञ्चिदवस्थायां न स्वर्गशब्दोऽभिदधाति;
प्रीतिं तु कस्याञ्चिदवस्थायां न, न अभिदधाति। तस्मात्
अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् एतदवगम्यते,—प्रीतौ स्वर्गशब्दो वर्तते’
—इति।

नैतदस्ति,—प्रीतेरभिधायकः स्वर्गशब्दः—इति। कुतः?।
विशेषणत्वात्, यत् विशेषणं, न तच्छब्देन उच्यते। तत्
यथा, ‘दण्डो’—इति दण्डनिमित्तः पुरुषवचनः, दण्डोभ्य

* द्रव्यस्य कर्माद्यन्ता गम्यते स्वभावतः, पुरुषप्रयत्नस्य च प्रीत्यर्थता इति का० ब्रौ०
पु० प० ॥

† अत्राह, न हि कस्मिंश्चिदुपमाने इति का० ब्रौ० पु० प० ॥

भा निमित्त, न अभिधेय । एवम् एष न प्रीतिवचन प्रीतिसाधन वचनस्तु एष स्वर्गशब्द — इति ।

‘ननु स्वर्गशब्दो लोके प्रसिद्धो विशिष्टे देशे,—‘यस्मिन् न उरण, न शीत, न क्षुत् न तृष्णा, न श्रमति, न भ्रान्ति, पुण्यवृत्त एव प्रेत्य तत्र गच्छन्ति, नान्ये । अत्र उच्यते,—यदि तत्र केचित् अमृतत्वा गच्छन्ति, तत आगच्छन्ति अजनित्वा, तर्हि स प्रत्यक्षो देश एव ज्ञातीयक न तु अनुमानात् गम्यते* ।

‘ननु च अन्ये सिद्धा केचित् दृष्टवन्त, ते च आख्यातवन्त — इति चेत् । न तत्र प्रमाणमस्ति,—‘सिद्धा एव ज्ञातीयका सन्ति ते च दृष्टा आचक्षीरन्’—इति । तस्मात् एव ज्ञातीयको देश एव नास्ति ।

‘ननु च लोकात् आख्यानैभ्यो वेदाच्च अवगम्यते,—देश एव ज्ञातीयक स्वर्ग — इति । तत्र, पुरुषाणाम् एवविधेन देशेन असम्बन्धात् अप्रमाण वच । आख्यानम् अपि पुरुषप्रणीतत्वात् अनादरणीयम् । वेदिकम् अपि स्वर्गाख्यान विधिपर नास्त्येव, भवति तु विध्यन्तरेण एकवाक्यभूत श्रुतिपर । यद्यपि केवल सुखव्यवसायापत्त्या तादृशो देश स्यात् तथापि असम्प्रत्यक्षस्य अविरोध प्रीतिसाधने स्वर्गशब्द इति । तेन देशेन व्यवहारा भावात् कुत तस्य अभिधायक स्वर्गशब्दो भविष्यति?—इति ।

यदा प्रीतिमत् इत्य स्वर्ग, तदा ब्रूम,—‘इच्छाणाम् कर्मसयोगे गुणत्वेन अभिसम्बन्ध — इति, याग अथ कर्त्तव्य — इति ज्ञायते स्वर्गकामस्य, तत्र अवश्य स्वर्गस्य यागस्य च सम्बन्ध, तत्र भूत इत्यम् भव्य कर्म, भूतस्य च भवार्थता न्याय्या, दृष्टार्थात्वात्, न तु भव्यस्य भूतार्थता तत्र दृष्ट उपकार त्यज्येत ।

कथं पुन अवगम्यते,—याग कर्त्तव्यतया चोच्यते—इति,

* यदि न तत्र केचित् अमृतता गच्छन्ति न च तत आगच्छन्ति अजनित्वा न तर्हि स प्रत्यक्ष इह एव ज्ञातीयक न ज्ञानुमानात् गम्यते इति का० श्री० पु० पाठः ।

भा. यदा कामस्यापि कर्तव्यता अस्मात् वाक्यात् अवगम्यते ।
 उच्यते, कामस्य कर्तव्यता वाक्यात्, यज्यर्घ्यस्य कर्तव्यता श्रुतेः,
 श्रुतिश्च वाक्यात् बलीयसी । तस्मात् अयम् अर्थः,—स्वर्गकामो
 यागं कुर्यात्—इति स्वर्गकामस्य यागः कर्तव्यः—इति ; कर्तव्यश्च
 सुखवान्, अकर्तव्यो दुःखवान् ; कर्तव्यः—इति चैनै वृत्ते ;
 तस्मात् सुखफलो यागो भविष्यति, स तु यस्य इच्छा, तस्य
 सिध्यति न अन्यस्य—इति गम्यते । तेन स्वर्गच्छा यागस्य
 गुणभूता, सर्वस्यापि कर्मणो द्रव्येच्छा भवति गुणभूता, तथा
 द्रव्यमानेतुम् यतते, दृष्टेनैव द्वारेण ; इह तु स्वर्गसंज्ञकद्रव्येच्छैव
 नियम्यते, यथैव सा गुणभूता प्राप्ता ; तथैव सती नियम्यते,
 दृष्टेनैव द्वारेण, न अदृष्टेन उपकारेण ; तेन स्वर्गच्छया गुण-
 भूतया स्वर्गद्रव्यं प्रति यतिष्यते यागं साधयितुम् । अध्याम्य-
 दृष्टेन, तथापि न दोषः ॥

सू. असाधकं तु तादर्थ्यात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. तुशब्देन पक्षो व्यावर्त्यते । तत एतावत् तावत् वर्णयन्ति,—
 प्रीतिः स्वर्गः—इति । कुतः ? । एवम् उक्तम् भवता,—‘प्रीति-
 विशिष्टे द्रव्ये स्वर्गशब्दो वर्तते’—इति, यद्येवं, पूर्वं तर्हि प्रीती
 वर्तितुमर्हति, तां हि स न व्यभिचरति, व्यभिचरति पुनः
 द्रव्यं,—यस्य एव प्रीतिसाधनस्य द्रव्यस्य वक्ता स्वर्गशब्दः, तदेव
 यदा न प्रीतिसाधनं भवति, तदा न स्वर्गशब्देन अभिधीयते ।
 तस्मात् प्रीतिवचनोप्यम् । यत्तु उक्तं,—दण्डिशब्दवत्—इति,
 सोऽपि प्रतीते शब्दात् दण्डे, दण्डिनि प्रत्ययमादधाति, अन्त-
 र्गतः तत्र दण्डशब्दः, स दण्डस्य वाचकः ; इह पुनः स्वर्गशब्दः
 एव प्रीतेः अभिधाता ।

प्रीतिवचनञ्चेत्, यागो गुणभूतः प्रीतिः प्रधानम् । कुतः ? ।
 ‘तादर्थ्यात्’ परुषप्रयत्नस्य, प्रीत्यर्थं हि परुषो यत्नते चेन्न च

भा प्रीतिर्यागसाधनम्—इति विज्ञायते । द्रव्यं हि यागसाधनं, न षडते द्रव्यात् यागो भवति, यस्मात् द्रव्यदेवताक्रिये यजतिशब्दो वर्तते । असत्यामपि प्रीत्या भवति यागः । यदि च यागो न प्रीत्यर्थो भवेत् असाधकं कर्म भवेत्, साधयितारं न अधि गच्छेत्, यो हि प्रीत्यर्थं, स साध्यते नान्यः ।

‘ननु कर्त्तव्यतया यागः श्रूयते । उच्यते,—सत्यं कर्त्तव्यतया श्रूयते, कामोऽपि कर्त्तव्यतया अवगम्यते । ‘आह, श्रुत्या यागस्य, वाक्येन कामस्य । न च उभयो, वाक्यभेदः प्रसङ्गात् । उच्यते, यद्यपि यागः कर्त्तव्यः श्रूयते, तथापि न कर्त्तव्यः सुखदः कर्त्तव्यो भवति दुःखदो यागः, तस्मात् प्रत्यक्षेण अकर्त्तव्यः, प्रत्यक्षेण च दुःखदः । ‘कर्त्तव्यतावचनात् अनुमानेन सुखदो भवति—इति । उच्यते, अनुमानं च प्रत्यक्षविरोधात् न प्रमाणम् । तस्मात् अकर्त्तव्यो यागः, यदि न प्रीत्यर्थः ।

‘अथ अन्येन फलवचनेन सम्भत्स्यते—इति । उच्यते,—सम्बन्धमानोऽप्यविधीयमानो न समीपवचनमात्रेण फलवान् विज्ञायते । तस्मात् अनर्थको मा भूत्—इति स्वर्गस्य कर्त्तव्यता गम्यते पुण्यप्रयत्नश्च यागविशिष्टः—इति यागः तस्य कारणः स्यात् । तस्मात् सुष्ठु उक्तं,—यागो गुणभूतः स्वर्गः प्रधानभूतः—इति ॥

स प्रत्यर्थं चाभिसयोगात् कर्मतो ह्यभिसम्बन्धः तस्मात् कर्मोपदेशः स्यात् ॥ ३ ॥ (यु०) ॥

भा न वैवलम् आनर्थक्यभयात् यागस्य गुणभावः ब्रूमः किं तर्हि स्वर्गस्य कर्मत्वं प्रति करणत्वेन यागो विधीयते । ‘ननु यागः कर्त्तव्यतया श्रुत्या विधीयते । सत्यमेवम् आनर्थक्यं तु तथा भवति, स्वर्गः प्रत्यक्षिते यागे, स्वर्गकामः, तस्मिन् निष्फले विधीयमानोऽपि निष्प्रयोजनः स्यात् तत्र अस्य

भा. उपदेशवैयर्थ्यम्, द्वयोश्च विधीयमानयोः परस्पररेण असम्बद्धयोः वाक्यभेदः प्रसङ्गः । अतो न स्वर्गकामपदेन स्वार्था विधीयते, किंतु हि, उद्दिश्यते । तत्र वाक्यात् अवगतस्य कामस्य कर्तव्यता अवगम्यते, यागस्य च करणता । एवं च यागकर्तव्यतायां न प्रत्यक्षविरोधो भविष्यति । तस्मात् 'कर्मोपदेशः स्यात्,— कर्म स्वर्गे प्रति उपदिश्यते, न स्वर्गः कर्म प्रति ।

'किम् अतः यदि स्वर्गो न उपदिश्यते?' । एतदतो भवति,— न हि, अनुपदिष्टोऽनर्थप्राप्तश्च गुणो भवति । तस्मात् स्वर्गः प्रधानतः, कर्म गुणतः—इति ।

अपि च, 'यस्य स्वर्गः इष्टः स्यात्, स यागं निर्वर्त्तयेत्'—इति असम्बद्धमिव, अन्यदिच्छति, अन्यत् करोति—इति । 'अथ मतं,—ततः स्वर्गो भवति—इति सम्बन्धात् इदं गम्यते'—इति । न, शब्दप्रमाणकानाम्, अन्तरेण शब्दम्, अवगतिर्न्याय्या । वाक्यात् एव अस्मात् इमं सम्बन्धम् अवगच्छामः, यथा, काष्ठानि आहृतुकामोऽरण्यं गच्छेत्—इति यदि ब्रूयात्, ब्रूयात् एतत्,—दृष्टं तत्र प्रमाणान्तरेणारण्यगमनस्य काष्ठाहरणसामर्थ्यम्—इति ।

'अथ मन्यते,—उपदेशानर्थक्यं सा भूत्—इत्यर्थापत्तिः भविष्यति'—इति । उच्यते, न उपदेशानर्थक्यस्य एतत् सामर्थ्यं, यत् अन्तरेण फलवचनं, यागस्य प्रीतिः फलम् अवगम्येत । कामम् अस्य आनर्थक्यं भवतु, न जातुचित् सामर्थ्यम् अस्य जायते । न हि, दग्धुकामस्य उदकोपादानम् असति दाहेऽनर्थकम्—इति दहनशक्तिमस्य जनयेत् । अथ वा, स्वर्गकामस्य यागो विधीयते—इति पक्षान्तरावलम्बेन अस्य अर्थवत्ता भविष्यति ।

'ननु इतरस्मिन् अपि पक्षे स्वर्गकामस्य यागो विधीयते, न यागात् स्वर्गः' । नैतदेवं, तस्मिन् खलु पक्षे स्वर्गं प्रार्थयमानस्य अनुष्ठानम् अनूद्य यागः तस्य उपायत्वेन विधीयते—इति न

भा दीय । 'तत् अनुष्ठानं स्वर्गं प्रति—इति नास्ति वचनम्—
इति चेत् । इष्टमर्थं प्रति अनुष्ठानं भवति, स्वर्गकामस्य च स्वर्गं
इष्टं, तदनुष्ठानविशेषयह्णार्थमेव स्वर्गकामविशेषयह्णम्—
इति निरवयवम् । तस्मात् स्वर्गकामस्य ध्यागर्कमोपदेशः स्यात्
अतः स्वर्गं प्रधानतः, कर्म गुणतः—इति स्वर्गकामम् अधिष्ठत्य
'यजेत'—इति वचनम् । इत्यधिकारलक्षणम् इदं सिद्धं
भवति ॥ (६।१।१ अ०) ॥

यागादिषु मनुष्यैर्वाधिकासाधिकरणम् ॥

ख फलार्थत्वात् कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकार
स्यात् ॥ ४ ॥ (पू०) ॥

भा इदमामनन्ति,—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, ज्योति
ष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इत्येवमादि । तत्र सन्देहः,—किं
यावत् किञ्चित् सत्त्वं, तत् सर्वम् अधिष्ठत्य एतदुच्यते, उत
समर्थम् अधिष्ठत्य?—इति । किं प्राप्तम्?—सर्वाधिकारः,
अविशेषात् । 'ननु वृक्षादयो न किञ्चित् कामयन्ते कथम्
तेषाम् अधिकारः स्यात्? । उच्यते, मा भूत् अचेतनानाम्,
तिरश्चस्तु अधिष्ठत्य 'यजेत'—इति ब्रूयात् । 'ननु तिर्यक्षोऽपि
न किञ्चित् कामयन्ते । न—इति ब्रूम, कामयन्ते सुखम् एव
हि दृश्यते, धर्मोपतप्ता ह्यायाम् उपसर्पन्ति शीतेन पीडिता
आतपम् ।

'आह, ननु तिर्यक्ष आसन्नं फलं चेतयन्ते, न कालान्तरफलं
प्रार्थयन्ते कालान्तरफलाणि च वैदिकानि कर्माणि । उच्यते,—
कालान्तरेऽपि फलं कामयमाना लक्ष्यन्ते,—शुनं चतुर्दश्याम्
उपवसतं पश्याम, श्वेनांश्च अष्टम्याम् । न चैषा व्याध्याशङ्का,
नियतनिमित्तत्वात् नानाद्वाराणामपि तस्मिन् काले दशनात्

भा. समानाहाराणामपि अन्यस्मिन् काले अदर्शनात् । विज्ञानि च वेदे भवन्ति,—‘देवा वै सत्रमासत’—इत्येवमादीनि देवतानाम् ऋषीणां वनस्पतीनाम् अधिकारं दर्शयन्ति ।

‘ननु कार्त्स्न्येन विधिम् उपसंहर्तुम् न शक्नुवन्ति—इति अनधिकृताः’ । उच्यते,—यागं कर्तुम् शक्नुवन्ति केचित्, तस्मात् ‘यजेत’—इत्येवमादीनि अधिकारिष्यन्ति शक्नुवतः, विष्णुक्रमादिवचनानि तु अशक्तान् न अधिकारिष्यन्ति । तत्र योऽनुपदिष्टविष्णुक्रमादिकः स केवलं यागं करिष्यति, कः तस्य दोषः ? । इव्यपरियहोऽपि देवयामः, हस्तिग्रामः, ऋषभस्य ग्रामः—इति उपचारात् अस्त्येव—इति । तस्मात् अमनुष्याणामपि शक्नुवताम् अधिकारः—इति ॥

स कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कार्त्स्न्येन गम्यते ॥ ५ ॥
(सि०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न चैतदस्ति,—तिर्यगादीनामपि अधिकारः—इति । कस्य तर्हि ? । यः समर्थः ह्यत्स्नं कर्म अभिनिर्वर्त्तयितुम् । न चैते, शक्नुवन्ति तिर्यगादयः ह्यत्स्नं कर्माभिनिर्वर्त्तयितुम्, तस्मात् एषां न सुखस्याभ्युपायः कर्म—इति, कथं यो न शक्यते कर्तुम्, सोऽभ्युपायः स्यात् ?—इति । न देवानां, देवतान्तराभावात्, न हि आत्मानम् उद्दिश्य त्यागः सम्भवति, त्याग एवासौ न स्यात्, न ऋषीणाम्, आर्षेयाभावात्, न भृग्वादयो भृग्वादिभिः सगोत्रा भवन्ति,* न चैषां सामर्थ्यं प्रत्यक्षम् ।

भा अपि च तिर्यश्चो न कालान्तरफलेन अर्थिन, आसन्न हि कामयन्ते। 'ननु च उक्तं, कालान्तरफलार्थिन तिरश्च पश्याम, शुन श्येनाश्चतुर्दश्याम् अष्टम्या च उपवसत —इति। उच्यते, —न जन्मान्तरफलार्थिन उपवसन्ति। 'कथम् अवगम्यते?। वेदमध्यएनाभावात् ये वेदमधीयते ते एतद्विदुः,—इदं कर्म कृत्वा, इदं फलममुच प्राप्नोति—इति, न चेते वेदमधीयते, नापि स्मृतिशाखाणि, नाप्यन्येभ्य अवगच्छन्ति*, तस्मात् न विदन्ति धर्मम्। अविदास कथम् अनुतिष्ठेयुः, तस्मात् न धर्माय उपवसन्ति—इति।

'किमथ तर्क्षयाम् उपवास?। उच्यते, रोगात् अरुचि रेणाम्?। 'कथं पुनर्नियते काले रोगो भवति। उच्यते, नियतकाला अपि रोगा भवन्ति, यथा तृतीयकाश्चातुर्थकाश्चेति। तस्मात् मनुष्याणाम् अधिकार —इति। न च तिरश्चा द्रव्य परिग्रहः, न हि एते द्रव्य स्वेच्छया उपयुञ्जना दृश्यन्ते तस्मात् अनीशाना धनस्य। यत्तु देवयामो हस्तिग्राम —इति उपचारमात्रं तत्। तस्मात् अपि न तिरश्चाम् अधिकार —इति।

यानि पुनर्लिङ्गानि —'देवा वै सचमासत'—इत्येवमादीनि अर्थवादा ते विधिप्ररोचनार्था विद्यन्ते हि विधिरन्य तेषु सर्वेषु न च विधेर्विधिनैकवाक्यभावो भवति वचनव्यक्तिभेदात्। स्तुतिस्तु सा,—इत्य नाम सत्राणि आसितव्यानि, यत् कृतकृत्या अपि आसते देवा, आसन्नचेतना अपि तिर्यश्च, अचेतना अपि वनस्पतयः, किमङ्ग पुनर्विदासो मनुष्या —इति।

'ननु विष्णुक्रमादिषु अनधिज्ञता केवल याग करिष्यन्ति।

श्रीनेमाप्यीन्द्रशब्देधारणन इतिरित्युक्तम्। तस्मात् अथसर्व देवतामित्यभिप्रेत्य एतद्वाच्यमिति इति नान्वयः ॥

* नाप्यन्येभ्योऽपगच्छन्ति इति का० श्री० पु० ॥

भा. नेवं, गुणा यागं प्रत्युपदिश्यन्ते, न कर्तारं प्रति, तेन यागमात्रे क्रियमाणे वैगुण्यम्—इति न फलसम्बन्धः स्यात् । 'कथं पुनर्यागं प्रत्युपदिश्यन्ते?'—इति चेत् । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य यागवचनस्यानिकादुपनिपतिताः शक्नुवन्ति तं निराकाङ्क्षीकर्तुम्, इतरथा हि कर्तृन् अधिकुर्वन्तु गुणवचनेषु अनिष्टताकाङ्क्षं फलवचनम्* अनर्थकमेव स्यात् । अनुपपन्नञ्च फलवचनम् अभविष्यत्, तत्र साकाङ्क्षत्वात् वाक्यम् उपरोत्स्यते । 'अथ एतदेव वाक्यं समर्थानां सगुणं कर्म विधास्यति, असमर्थानां विगुणम्'—इति । तच्च, सद्यदुच्चारणे उभयशक्तिविरोधात् वाक्यमिदमेत, साकाङ्क्षं हि तत् इतिकर्तव्यतां प्रति । तस्मात् साङ्गयागोपदेशः सः—इति निरङ्गयागोपदेशाभावः । तस्मात् मनुष्याणामेव अधिकारः—इति ।

प्रयोजनं पक्षोक्तं, केचित् आहुः सद्यस्वसंयत्सरं न नियोगतो दिवसेषु कल्पयितव्यं, पूर्वपक्षे तदायुषां देवतादीनां सम्भवति—इति, सिद्धान्ते तत्र सम्भवदपि दिवसेष्वेव अवकल्पयितव्यम्—इति; तत्तु उपारिष्टादस्यास्यामः ॥ (६।१।२ अ०) ॥

यागादिषु स्त्रीषु मोक्षमयोरधिकाराधिकरणम् ॥

स लिङ्गविशेषनिर्देशात् पुंयुक्तमैतिशायनः ॥ ६ ॥
(पू०) ॥

भा. 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—इत्येवमादि समाग्नयते । तत्र सन्देहः,—किं स्वर्गकामं पुमांसमधिष्ठत्य 'यजेत'—इत्येष शब्दः उच्चरितः, अथ वा अनियमः,—स्त्रियं पुमांसं च?—इति । किं प्राप्तम्?—पुंलिङ्गम् अधिष्ठतं मेने 'ऐतिशायनः' । कुतः? । 'लिङ्गविशेषनिर्देशात्' (पुंलिङ्गेन विशेषेण निर्देशो

भा भवति स्वर्गकामो यजेत—इति) । तस्मात् पुमान् उक्तो यजेत—इति, न स्त्री ॥

ख तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ॥ ७ ॥ (यु०) ॥

भा 'अविज्ञाते' गर्भे हते भ्रूणहृत्यानुवादो भवति,—'तस्मात् अविज्ञातेन गर्भेण हतेन भ्रूणह्रा भवति'—इति । भ्रूणह्रा पापघातनः, यश्च* उभयोर्लोकयोः उपकरोति, तस्य हन्ता भ्रूणह्रा, यज्ञहन्ता भ्रूणह्रा, स यज्ञसाधनवधकारी, तस्मात् यज्ञ भ्रूणशब्देन अभिदधति, स हि विभर्त्ति वा सर्वं, भूतिं वा आनयति । अतो भ्रूणह्रा यज्ञवधकारी, स पुंयुक्तत्वात् अनुवादोऽवकल्पते, अविज्ञाते गर्भे हन्यमाने कदाचित् पुमान् हन्येत, तत्र यज्ञाधिकृतस्य हतत्वात् यज्ञवधो भ्रूणहृत्या स्यात् । इतरथा, यदि उभयोः अधिकारः, ततो विज्ञाते च अविज्ञाते च यज्ञवधः स्यात्, तत्र अधिज्ञातग्रहणम् अतयम्—इति कल्प्येत । तस्मात् विवक्षिता पुष्टिर्ज्ञस्य वाचिका विभक्तिः—इति ।

तथा आचैयीं हत्वा भ्रूणह्रा भवति, आचैयीम् आपन्नगर्भाम् थाङ्गः, 'अव' (कुक्षौ) अस्या विद्यते—इति आचैयी । तस्मात् अपि पुंसोऽधिकारो गम्यते, यथा, 'पशुनालभेत'—इति पुं पशुरेवालभ्यते, लिङ्गविशेषनिर्देशात् । एवम् इहापि द्रष्टव्यमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—

ख जातिं तु वादरायणोऽविशेषात्, तस्मात् स्त्रयपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात् ॥ ८ ॥ (सि०) ॥

भा तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति, पुंसोऽधिकारः—इति, 'जातिस्तु वादरायणः' अधिकृता मन्व्यते स्म । 'आह, किमर्थं

भा. स्वर्गकामः—इति जातिशब्दः समधिगतः?। न इत्याह ।
 कथं तर्हि?। यौगिकः, स्वर्गच्छायोगेन वर्तते । 'केन तर्हि'
 • शब्देन जातिः उक्ता, या अधिष्ठता—इति गम्यते?। नैव च
 वयं ब्रूमः, जातिवचन इह शब्दः अधिकारकः—इति, किन्तर्हि,
 स्वर्गकामशब्देनोभावपि स्त्रीपुंसावधिक्रियेते—इति, अतो न
 विवक्षितं पुलिङ्गम्—इति । कुतः?। 'अविशेषात्', न हि
 शक्तौत्येषा विभक्तिः स्वर्गकामं लिङ्गेन विशेषम् । कथम्?।
 लक्षणत्वेन श्रवणात्,—स्वर्गे कामो यस्य, तम् एष लक्षयति
 शब्दः, तेन लक्षणेन अधिष्ठतो 'यजेत'—इति शब्देन उच्यते ।
 तत्र लक्षणम् अविशिष्टं स्त्रियां पुंसि च । तस्मात् शब्देन
 उभावपि स्त्रीपुंसावधिकृतौ—इति गम्यते । तत्र केन अधिकारः
 स्त्रिया निवर्त्यते?।

'विभक्त्या इति चेत्' । तत्र । कस्मात्?। पुंवचनत्वात् स्त्री-
 निवृत्तौ अशक्तिः । 'पुंसो विभक्त्या पुनर्वचनम् अनर्थकम्—इति
 चेत्' । न, आनर्थक्येऽपि स्त्रीनिवृत्तेः अभावः, परिसङ्ख्येयायां
 स्वार्थहानिः परार्थकल्पना प्राप्तवाधस्य । न च आनर्थक्यम्,
 निर्देशार्थत्वात् । 'तस्मात् खरपि प्रतीयेत' जात्यर्थस्य अ-
 विशिष्टत्वात् ॥

सू. चोदितत्वात् ययाश्रुति ॥ ६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा 'अथ यदुक्त,—'पशुमालभेत'—इति पुंश्रुतत्वात् पुंलिङ्ग-
 वचनसामर्थ्यात्, एवमिहापि पुंलिङ्गवचनसामर्थ्यात् पुमानधि-
 क्रियते यागवचनेन—इति, तत्परिहर्तव्यम् । अत्र उच्यते,—
 न अत्र जातिद्रव्यस्य लक्षणत्वेन श्रूयते, यदि हि लक्षणत्वेन
 श्रूयत, ततः स्त्रिया अपि यागः उक्तो न पुंवचनेन विवर्त्येत,
 इदं तु पशुत्वं यागस्य विशेषणत्वेन श्रूयते, तत्र पशुत्वस्य
 यागस्य च सम्बन्धो न द्रव्ययागयोः, यथा पशुत्वं यागसम्बद्धम्,

भा. एवं पुंस्त्वमेकत्वं च, सोऽयमनेकविशेषणविशिष्टो यागः श्रूयते,
स 'यथाश्रुति' एव कर्त्तव्यः, उपादेयत्वेन 'चोदितत्वात्'।

यच्च,—दोषश्रुतिरविज्ञाते गर्भे हते आचरेयां च पुंशुश्रूयत्वेन
—इति, तत्परिहर्त्तव्यम्। अत्र उच्यते,—अविज्ञातेन गर्भेण
इत्यनुपादः प्रशंसार्थः, आचरेयी च न हन्तव्या—इति, इत्थं
गर्भो न हन्तव्यः, यत् अव्यक्तेनाप्येनसी भवति। पुंलिङ्गविभक्तिः
श्रूयमाणा न शक्नोति स्त्रियं निवर्त्तयितुम्, किम् अङ्ग पुनः
अविज्ञातगर्भवचनं लिङ्गम्। तथा गोचप्रशंसार्थमाचरेया अवध-
सङ्कोर्त्तनं, न च आपन्नसत्त्वा आचरेयी, गोत्रं हि एतत्, न हि
अवशब्दादर्थं तद्धित उत्पन्नः, समर्थानाम् हि तद्धित उत्पद्यते ;
न च अवशब्दस्य सामर्थ्यमस्ति ॥

स. द्रव्यवत्त्वात्तु पुंसां स्यात्, द्रव्यसंयुक्तं, क्रयविक्रयाभ्याम्
अद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात् ॥ १० ॥
(पू०) ॥

भा. 'पुंसां' 'तु' 'स्यात्' अधिकारः, 'द्रव्यवत्त्वात्', द्रव्यवन्तो हि
पुमांसो न स्त्रियः, 'द्रव्यसंयुक्तं' च एतत् कर्म, 'वीहिभिर्यजेत,
यवैर्यजेत'—इत्येवमादि। कथम्?। 'अद्रव्यत्वं स्त्रीणां', 'क्रय-
विक्रयाभ्यां', क्रयविक्रयसंयुक्ता हि स्त्रियः, पित्रा विक्रीयन्ते, भर्ता
क्रीयन्ते, विक्रीतत्वाच्च पितृधनानामनीशिन्यः। क्रीतत्वाच्च भर्तृ-
धनानाम्। विक्रयो हि श्रूयते, 'गतमधिरथं दुहितृमते दद्यात्,
आर्ये गोमिथुनम्'—इति। न च, एतत् दृष्टार्थे सति आनमने-
दृष्टार्थं भवितुमर्हति। एवं 'द्रव्यैः' समानयोगित्वं 'स्त्रीणाम्' ॥

स. तथा च अन्यार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥ (उदा०) ॥

भा. 'या पत्या क्रीता सती अध्वान्यैश्चरति'—इति क्रीततां
दर्शयति ॥

सू. तादर्थ्यात्कर्मतादर्थ्यम् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'आह, यदनया भक्तोपसर्पणेन वा कर्त्तनेन वा धनम् उपार्जितं, तेन यच्यते'—इति। उचरते,—तदप्यस्या न स्वं, यदा हि सा अन्यस्य सुभूता, तदा यत् तदीयं, तदपि तस्यैव। अपि च, स्वामिनस्तथा कर्म कर्त्तव्यं, न तत्परित्यज्य स्वकर्माहंति कर्तुम्, यत् तथा अन्येन प्रकारेण उपार्ज्यते, तत् पत्युरेव स्वं भवितुमर्हति—इति। एवं च स्मरति,—

“भार्या दासश्च पुत्रश्च निर्द्विनाः सर्व एव ते।

यत्ते समधिगच्छन्ति, यस्य ते तस्य तद्धनम्”—इति ॥

सू. फलोत्साहाविशेषान् ॥ १३ ॥ (उ०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। न च एतदस्ति,—निर्द्विना स्त्री—इति, द्रव्यवती हि सा, 'फलोत्साहाविशेषात्', स्मृतिप्रामाण्यात् अस्य तथा भवितव्यं फलार्थिन्यापि, श्रुतिविशेषात् फलार्थिन्या यष्टव्यम्, यदि स्मृतिमनुबध्यमाना परवशा निर्द्विना च स्यात्, 'यजेत'—इत्युक्ते सति न यजेत, तत्र स्मृत्या श्रुतिर्वाधेत। न च एतत् न्याय्यम्। तस्मात् फलार्थिनी सती स्मृतिमप्रमाणीकृत्य द्रव्यं परिगृहीयात् यजेत च—इति ॥

सू. अर्थेन च समवेतत्वात् ॥ १४ ॥ (यु०) ॥

भा. 'अर्थेन च' अस्याः समवेतत्वं भवति, एवं दानकाले संवादः क्रियते,—‘धर्मं च अर्थं च कामे च न अतिचरितव्या’—इति। यत्तु उचरते,—‘भार्यादयो निर्द्विनाः’—इति, स्मर्यमाणमपि निर्द्विनत्वम् अन्यायमेव, श्रुतिविरोधात्। तस्मात् अस्मात्स्वमतः अनेन प्रकारेण उचरते, संव्यवहारप्रसिद्धार्थम् ॥

ख क्रयस्य धर्ममाचत्वम् ॥ १५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा यत्तु क्रयः श्रूयते,—धर्ममाचं तु तत्, नासौ क्रयः—इति,
क्रयो हि उच्चनीचपण्यपणो भवति। नियतं त्विदं दानं
शतमक्षिरथं, शोभनाम् अशोभनाश्च कन्यां प्रति। स्मार्त्तं च
श्रुतिविषद्वं विक्रयं नानुमन्यन्ते। तस्मात् अविक्रयोऽयम्—
इति ॥

ख स्ववत्तामपि दर्शयति* ॥ १६ ॥ (यु०) ॥

भा. 'पत्नी वै पारिण्यस्य ईद्रे पत्यैव गतमनुमतं क्रियते'।
तथा भसदा पत्नीः संयाजयन्ति†, भसदीर्या हि पत्नयः भसदा वा
एताः परगृह्णाणम् ऐश्वर्यमवसन्धते—इति ॥ (६।१।३ अ०) ॥

योगे दम्पत्योः सदाधिकाराधिकरणम् ॥

ख स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात् ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा स्ववन्तावुभावपि दम्पती—इत्येवं तावत् स्थितं। तत्र सन्देहः,
—किं पृथक् पत्नी यजेत, पृथक् यजमानः, उत सम्भूय यजे-
याताम्?—इति। किं प्राप्तम्?—पृथक्तेन। कुतः?। एक-
वचनस्य विवक्षितत्वात्, उपादेयत्वेन कर्त्ता 'यजेत'—इति
श्रूयते, तस्मात् एकवचनं विवक्ष्यते, यथा न द्वौ पुरुषौ सम्भूय
यजेयाताम्, तथा अत्रापि द्रष्टव्यम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात्', वचना-
तयोः सहक्रिया। एवं हि स्मरन्ति,—'धर्मं चार्थं च कामे च

* १६ खचं का० श्री० पुस्तके खवतया नास्ति ॥

† पत्यैवगुप्तमिति का० श्री० पु० पाठः ॥

‡ लाघन्या पत्नी संयाजयन्ति इति का० श्री० प० पाठः ॥

भा. नातिचरितव्या—इति, तथा 'सहधर्मश्चरितव्यः, सहापत्यम् उत्पायितव्यम्—इति। 'उच्यते,—स्मृतिवचनेन न श्रुतिवचनं युक्तं बाधितुम्। न—इति ब्रूमः,—इह किञ्चित् कर्म स्त्रीपुंस-कर्तृकमेव, यथा दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोमः—इति, यत्र पत्न्य-वेक्षितेन यजमानावेक्षितेन च आज्येन होम उच्यते, तत्र अन्यतराभावे वैगुण्यम्।

‘ननु पुंसो यजमानस्य यजमानावेक्षितमाज्यं, स्त्रिया यज-मानायाः पत्न्यवेक्षितं भविष्यति’—इति। न—इति आह,—न अयम् ईक्षितृसंस्कारः, ईक्षितुः संस्कारो यदि, तदैवं स्यात्; आज्यसंस्कारश्च अयं, गुणभूतौ ईक्षितारौ, तत्र अन्यतरापाये नियतं वैगुण्यं, सर्वाङ्गोपसंहारी च प्रयोगवचनः। 'तत्र एतत् स्यात्,—स्त्री यजमाना पुमांसं परिक्रम्यति आज्यस्य ईक्षितारं, पुनांश्च स्त्रियन्त्ववेक्षित्रीम्—इति। तत्र न, पत्नीति हि यज्ञस्य स्वामिनी—इत्युच्यते. न क्रीता; पत्नी—इति सम्बन्धिशब्दोभ्यं, यजमानः—इति च स्वामी, न क्रीतः। तस्मात् स्त्रीपुंसयोरेकम् एवङ्गातीयकं कर्म—इति।

तत्र श्रुतिसामर्थ्यात् 'यः—कश्चित्, यया—कयाचित् सह सम्भूय यजेत’—इति प्राप्ते इदम् उच्यते,—‘यस्त्वया कश्चित् धर्मः कयाचित् सह कर्तव्यः, सोऽनया सह’—इति, तेन न श्रुतिविरोधः स्मृतेः—इति गम्यते। अथ यदुक्तं,—केवलस्य पुंसोऽधिकारः केवलायाश्च स्त्रिया 'यजेत’—इत्येकवचनस्य विवक्षितत्वात्—इति, तत् परिहर्तव्यम्। इदं तावदयं प्रष्टव्यः*,—‘यजेत’—इत्येकवचने विवक्षिते, कथं षोडशभि-र्हर्तृत्वग्भिः सह यागो भवति?—इति। एवम् उच्यते, प्रति-

* अथ “अथ यदुक्तं एकवचनस्य विवक्षितत्वात् केवलयोरेव कर्तृत्वम् इत्यस्योक्तार भाष्यकारेणोक्तम्” इत्यादिना “तस्मात् ‘इदं तावदयं प्रष्टव्यं’ इत्यादि ‘यया अध्वर्यु-आध्वर्यवेपु’ इत्यस्य भाष्ये नास्तीति युक्तम्” इत्यनेन सर्वभूषेण तन्त्ररत्नप्रताप भाष्ये दूष्यमिव निररुद्धं ॥

भा कारक क्रियाभेदः, याजमानानेव पदार्थान् परिक्रयादीन् कुर्वन् 'यजते'—इत्युच्यते यजमानः, आध्वर्यवानेव कुर्वन् अध्वर्य-
यजति—इत्येवम् उच्यते, यथा सम्भरणमेव कुर्वती स्थाली पक्लिं करोति—इत्युच्यते, यस्य च कारकस्य य आत्मीयो व्यापारः, स एकवचने विवक्षिते एकेन कर्त्तव्यो भवति—इति ।
एव चेत् यावान् व्यापारो यजमानस्य स तावान्, न सम्भूय कर्त्तव्यः, एकेनैको याजमानोऽपरेणापरः । द्वादशे वा शते एकेन षट्पञ्चाशत्, अपरेणापि षट्पञ्चाशत्—इति । इह तु पत्नी-
व्यापारः अन्य एव, न तत्र पत्नी प्रवर्त्तमाना यजमानस्य एकत्व विह्वलि, यथा अध्वरेण अध्वर्यवेण प्रवर्त्तमानः । अवश्यं च सह पत्न्या यष्ट्यं, मध्यक हि इदं दम्पत्योर्धनं, तत्र यागोऽवश्यं सह पत्न्या कर्त्तव्यः, इतरथा अन्यतरानिच्छाया त्याग एव न सर्वर्त्तत, तथा हि द्वितीया पत्न्या विना त्यागो नैवावकल्पते, यस्य द्वितीया पत्न्यस्ति, तत्र कर्त्तव्यार्थान् एका करिष्यति । कर्तृसंस्कारार्थेषु नैव दोषः, सम्भवन्ति हि तानि सर्वत्र—इति ॥

ख लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १८ ॥ (यु०) ॥

भा लिङ्गं खल्वपि दृश्यते, 'योक्त्रेण पत्नीं सन्नहति, मेखलाया यजमानं मिथुनत्वाय'—इति । यदि स्त्रीपुंसावेकत्र, योक्त्रस्य मेखलायाश्च विभागो वाक्यात् गम्यते, मिथुनसस्तवश्च, तदेतत् स्त्रीपुंससाधनके कर्मण्युपपद्यते, न अन्यथा ॥

ख क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्वमुच्यते ॥ १९ ॥ (पू०) ॥

भा रियतादुत्तरमुच्यते । तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नेतदस्ति, यदुक्तं स्वतो स्त्री—इति, क्रीता हि सा, दृष्टार्थत्वात् अधिरथ शतदानस्य, अतो यदस्याः स्वामित्वम् उच्यते, तत् भक्त्या ;

भा यथा पूर्णकोष्ठाक बलीवर्द्धानाम् ईष्टे—इति, एव पन्नपि पारिणत्यस्य ईष्टे—इति ॥

स फलार्थित्वात् स्वामित्वेनाभिसम्बन्धः ॥ २० ॥ (उ०) ॥

भा नेतदस्ति, क्रयो मुख्य, गौण स्वामित्वम्—इति फलार्थिनी हि सा, स्मृतिर्नादरिष्यते, स्मृत्यनुरोधात् अस्मा रयात्, स्वती श्रुत्यनुरोधात् ॥

स फलवत्तां च दर्शयति* ॥ २१ ॥

भा 'स पत्नी पत्या सहतेन गच्छता यज्ञस्य धुर्यायुक्तावभूता । सञ्जानानौ विजहीताम् अरातीर्दिवि ज्योतिरजरमारमेताम् —इति दम्पत्यो फल दर्शयति । तस्मात् अप्युभावधिकृतौ —इति सिद्धम् ॥ (६।१।४ अ०) ॥

एकस्मै पुंस् आधानाधिकाराधिकरणम् ॥

स द्वाधान च द्वियज्ञवत् ॥ २२ ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति आधान,—‘य एव विद्वानग्निमाधत्ते’—इति । तत्र ब्रह्मामनन्ति,—‘क्षौमे वसानावग्निमादधीयाताम्’—इति । तत्र एषोर्ध्वं साशयिक,—किं द्वौ पुरुषावादधीयाता उतैक पुरुष ?—इति । कथं सशय ? । उच्यते,—इह एतत् श्रूयते,—‘वसानावादधीयाताम्’—इति । तत्र वचनमर्थप्राप्तं पुनः श्रूयते, तत् किं पुंलिङ्गसम्बन्धार्थं, उत क्षौमविधेयम्?—इति उभयोर्विद्यमानत्वात् भवति सशय, यदि लिङ्गसम्बन्धार्थम्, उभौ पुरुषौ आधास्येते, अथ क्षौमसम्बन्धार्थं तत एक ।

किं प्राप्तं?—‘द्वाधानानु द्वियज्ञवत्’ स्यात्, यथा ‘एतेन द्वौ

भा. राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्—इति द्वयोः पुरुषयो-
 द्वियज्ञो भवति, एवं द्वाधानं द्वयोः पुरुषयोः स्यात्. ततो-
 विशेषात्, 'वसानौ'—इति अवणात् एव पुरुषौ गम्येते; न
 पदान्तरगतेन क्षौमेन अस्य सम्बन्धः, श्रुत्यवगतं हि अवणात्
 अवगतं, पदान्तरसम्बन्धं वाक्यात् अवगतं, श्रुतिश्च वाक्यात्
 बलीयसी, वसानशब्दगतंश्च अर्थं आधानेन सम्बन्धते, न
 क्षौमशब्दगतः।

'आह, 'वसानौ'—इति नायं केवलं पुल्लिङ्ग एव, स्त्रीपुंसयोः
 रम्यभिधायको भवति, यथा कुक्कुटश्च कुक्कुटी च कुक्कुटी, शूकरश्च
 शूकरी च शूकरौ—इति, एवं वसानश्च वसाना च वसानौ
 स्याताम्—इति। अत्र उच्यते,—यत्र न अर्थः, प्रकरणं वा
 विशेषकं, विधायकश्च शब्दः, नास्ति अनुवादः। तत्र द्वौ पुमानौ
 गम्येते, यथा द्वावानय—इत्युक्तः पुमांसावानयति; द्वे आनय-
 —इति स्त्रियौ, तेन स्त्रियो वाचकमेकारान्तं दिवचनम्—इति
 गम्यते, औकारान्तमपि द्वयोः पुंसोर्वाचकम्—इति। 'यत्र
 इदानीं स्त्रीपुंसयोः प्रयुज्यमानमौकारान्तं दृश्यते, तत्र किं
 पुमान् सद्वितीयः तस्य निमित्तम्, उत स्त्री सद्वितीयाः?'—
 इति। उच्यते,—पुंसि सद्वितीये दृष्टः, यथा ब्राह्मणावानय-
 —इति, इहापि पुमान् सद्वितीयोऽर्थः। तस्मात् पुंनिमित्तम्
 —इति गम्यते।

'अत्र आह, प्रयोगो यदि दृष्टं प्रमाणं द्वयोः पुंसोर्दृष्टः, कथम्
 एकस्मिन् स्यात्?'। अत्र उच्यते,—पुंसि च द्वित्वे च दृष्टः—
 इति शक्यते वदितुम्, न द्वयोः द्वययोः—इति, पुंभावं द्वित्वं
 च एव शब्दः न व्यभिचरति, द्वयं पुनर्यव्यभिचरति। अपि च
 • युगपदधिकरणवचनताया* दन्दरहतेर्दिवचनवज्जवचनोपपत्तेश्च,

* "अधिकरण गम्यस्य प्रतिपाद्यं, तदनेकं यत्र युगपत् प्रतिपदमुच्यते, तत्रैव द्वयं,
 तेन धवणदिरावित्यत्र पुनपदेन धवणदिरौ वक्तव्यौ, न पर्यायेण पूर्वं धव- पद्यात्

भा प्रमित्रयोर्वैरुणयोः—इति च दर्शनात्। इतरेतरयोगे च अर्थे
समासविधानात् इन्द्रापवादत्वात् च एकशेषस्य, यथैव खदिरौ
च धवली च—इति निर्देशनं क्रियते, एवम् अत्रापि द्रष्टव्यम्।
तस्मात् पुंसि द्वित्वे च वर्तते—इति गम्यते। न च खीद्वित्वे
द्रष्टः।.

‘अत्र आह, नन्वत्रैव दर्शनात्, खीपुंसयोर्वाचकः’—इति
गम्यते। अत्र उच्यते,—उक्तम् एतत् “अन्याद्यस्य अनेकार्थत्वम्”
—इति पुमान् सद्वितीयोऽस्यार्थो भविष्यति, खीपुंसौ च—इति
अन्याद्यम्। ‘अथ इदानीं सद्वितीयस्य पुंसो विधौ कोऽन्यः
सहायः?’—इति। खिया अनभिधेयत्वात्, अवश्यम्भावित्वाच्च
द्वितीयस्य, अपरः सद्वितीयः पुमान्, एवम् इतरोऽपीतरेण
सद्वितीयः, इतरोऽपीतरेण—इति द्वौवैव पुमासावुपादीयेते।
तस्मात् इह द्वौ पुमांसौ आधाने विधीयेते—इति उच्यते।

‘ननु खीपुंसयोर्वाचकम् औकारान्तं द्विवचनं स्मरन्ति’। न
एषा स्मृतिरस्ति—इति ब्रूमः। ‘आह, भगवतः पाणिने-
र्वचनात् स्मृतिमनुमास्यामहे, “पुमान् खिया” (१।२।६७
पा० ख०)—इति। उच्यते,—न, पाणिनेर्वचनं ‘कुकुटौ’—इति
औकारः खीपुंसयोर्वाचकः—इति। कथन्तर्हि, यत्र खीपुंसयोः
सहवचनं, तत्र सद्वितीयो वा पुमान्—इति ह्यत्वा अकारान्तस्य
औकारः प्राप्नोति, सद्वितीया वा खी—इति ह्यत्वा एकारः।
पुंशब्दः तत्र साधुः न खीशब्दः—इति पाणिनेर्वचनं। “पुमान्
शिष्यते”—इति च ब्रूते, तेन सुतरां गम्यते,—पुंसोर्वाचक
औकारः—इति। तस्मात् द्वयोः पुंसोः अधिकारः—इति।

‘ननु छौमविधानपरमेतत् वाक्यं स्यात्, छौमसम्बन्धस्य

खदिर इत्येवम्। तेन यवशब्दोऽपीतरसहितसार्थोभिधायी, खदिरशब्दोऽपि। मया
सति युगपदभिधानमनयोर्भवति, सार्थसाक्षाभिधाने तु शब्दपौर्वापर्यादर्थपौर्वापर्यमेव
घ्यात, तच्च छूतिविबद्धम्’ इति तन्तरत्नमवावधेयम् ॥

भा अर्थवत्त्वात्, इतरथा चौमवचनम् अनर्थकं स्यात्। अत्र उच्यते,
—‘वसानावादधीयाताम्’—इति अस्ति सम्बन्ध, न ‘चौमे
आदधीयाताम्’—इति। तस्मात् सन्निहृष्टमपि न तत्सम्बन्धम्
आधानेन। ‘आह, वसानशब्देन सह सम्बन्धमानम् अर्थवत्
भविष्यति’। वसानसन्निहृष्टे अपि चौमे न विधीयते, विधा
यकस्य शब्दस्य अभावात्, न हि वसानशब्दो विधायक, न
चौमशब्द, नानयो समुदायः। ‘कस्तर्हि विधातुम् शक्नोति?’
‘आदधीयाताम्’—इत्यत्र या लिङ्।

‘आह, सा खलु विधास्यति?’। उच्यते, सा स्वशब्दगत
माधानं शक्नोति विधातुम्, श्रवणात्, विहितत्वात् आधानस्य,
आनर्थके वसानौ—इति शक्नोति वाक्येन विधातुम्, भवति
हि वसानयो आधानसम्बन्ध, तत्र नात्यन्ताय सार्धं परि
त्यक्तो भवति, चौमवसानसम्बन्धे तु विधातये, ‘आदधीयाताम्’
—इत्याधानम् उत्सृज्य विदधानोऽत्यन्ताय युति जज्ञात्।
आधानसन्निहृष्टे च लिङ्गे विधातये युतिर्विप्रहृष्ट न चौम
वसानसम्बन्ध विधातुम् उत्सृज्यते अर्थविप्रकर्षात्। अपि च
उत्सृज्य युति, चौमवसानसम्बन्धे विधीयमाने चौम वसानस्य
शङ्क स्यात् न आधानस्य। तत्र चौमाभावेऽपि न आधानं
विगुणम्—इति चौमाभावेऽपि आधानं स्यात्।

‘आह, वसानगुणताया तर्हि कोर्धो विवक्ष्यते?’। उच्यते,
—न कश्चित्, अत एव अस्य पक्षस्य परित्यागः। ‘आह,
चौमवसानश्रवणम् इदानीं कथम्?’—इति। उच्यते, न
शक्यते उभय विधातुम् चौम लिङ्गं च, भिद्येत हि तथा
वाक्यम्। तस्मात् अचौमयो चौमशब्दोऽनुवाद, अर्थप्राप्ते च
वसने वसानौ पुमासौ—इत्यर्थः। ते च प्रायेण विचेष्टमानस्य
मन्त्रिणे चौमसदृशे भवत, विचेष्टमानस्य वा शब्दवती भवत
—इति। तस्मात् दयो पुंसोरधिकार—इति॥

सू. गुणस्य तु विधानत्वात् पल्ल्या* द्वितीयशब्दः
स्यात् ॥ २३ ॥ (सि०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नैतदस्ति, यदुक्तं 'द्वौ पुरुषौ
आदधीयाताम्'—इति, एक एवादधीत; 'वसन्तेऽप्राक्ष्णोऽग्नि-
मादधीत'—इति एकवचनं हि विवक्षितं । तस्मात् एक एव
आदधीत । 'ननु इदं वचनं 'द्वौ पुमांसावादधीयाताम्'—
इति' । न—इत्याह, 'गुणस्य तु विधानत्वात्', चौमविधानम्
अस्तिन् वाक्ये ग्याय्यं, तथा हि अपूर्वार्थो विहितो भवति,
गम्यते हि विशेषनियमः । इतरथा चौमवचनमनुवादमात्रं
स्यात्, वादमात्रं च अनर्थकं, पक्षे च अनुवादः, न च एक-
पक्षवचन एव शब्दः, गौणत्वे च साधारणं सादृश्यं । तस्मात्
प्रमादाध्ययनमवगम्येत विनैव हेतुना ।

'आह, ननु पुमांसौ विधेयौ, तद्विधाने च न चौमविधानं,
वाक्यभेदो हि तथा स्यात्, श्रुतिगम्यौ च पुमांसौ, वाक्यगम्यं
च चौमं वाधेयाताम्—इति । अत्र उच्यते,—न पुमांसौ
विधेयौ, प्राप्त एव अत्र सद्वितीयः पुमान् सोऽनूद्यते । कथम् ? ।
एकोऽत्र पुमान् श्रूयते, तस्य 'पल्ल्या द्वितीयशब्दः स्यात्' । न
च, यत् प्राक् वचनात् गम्यते, तद्विधेयं भवति । तस्मात् चौम-
विधानं, न वाक्यभेदो भवति ।

यदुच्यते, 'न चौमस्य विधायकोऽस्ति'—इति । तदुच्यते,
'आदधीयाताम्'—इति तद्विधास्यति । ननु 'एतत् आधानं
श्रुत्या विधातुम् समर्थं, नान्यत्'—इति । उच्यते,—शब्दान्तरेण
विहितत्वात् आधानस्य न विधायकं, विहितत्वाच्च पुंसः स-

* पल्ल्या इति शा० शेष० पु० पाठः । पल्ल्याम् इति तु का० ऋ० एव क० स०
प्रथितपुस्तकवये पाठः । किन्तु सर्वत्रैव भाष्ये परच 'पल्ल्या द्वितीयशब्दः स्यात्' इति
उक्तत्वात् पल्ल्या इत्येव पाठः साधु ॥

भा. द्वितीयस्य, तस्यापि न विधायकम्, अतः तदसम्भवात् क्षौमस्य विधायिका लिङ् भविष्यति, वाक्यसामर्थ्यात्। यस्तु 'अस्मिन् पक्षे अत्यन्ताय स्वार्थे जहाति'—इति। न अत्यन्ताय ह्यास्यति, आधाने वासः क्षौमं कुर्यात्—इति; अस्मिन् पक्षे पुंशब्दः स्त्रीपुंसयोः वृत्तः—इति गम्यते, अस्ति हि तत्र तस्य निमित्तं पुमान् सद्वितीयः, एवमादि च दृष्ट्वा भगवता पाणिनिना सूत्रं प्रणीतं, "पुमान् स्त्रिया" (१।२।६७ पा० सू०)—इति, तस्य विषयः पुंशब्दः शिष्यमाणः साधुर्भवति, न. स्त्रीशब्दः—इति। तस्मात् एकः पुमानादधीत न द्वौ—इति ॥ (६।१।५ अं०) ॥

पम्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमादावेवाधिकाराधिकारणम् ॥

स तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात् ॥ २४ ॥

भा. 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इत्येवमादिषु एतदुक्तं स्त्रीपुंसयोः सहाधिकारः—इति। अथ इदानीं सन्दिह्यते, किं सर्वं याजमानं पक्षरा कर्तव्यम्, उत यावदुक्तमाशीः ब्रह्मचर्यं च?—इति। किं प्राप्तं?—सर्वे याजमानं पक्षराः स्यात्, सापि हि यजमाना, तुल्यत्वात्। तस्मात् सर्वे तस्याः—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'तस्या यावदुक्तं' स्यात्, वचनप्रामाण्यात्, 'आशीः' ब्रह्मचर्ये च स्यात्। कस्मात्?। 'अतुल्यत्वात्' अतुल्या हि स्त्रीपुंसाः, यजमानः पुमान् विद्वान्, पत्नी स्त्री च अविद्या च।

'किम् अतः? यदेवं हि एतत् अतुल्यत्वम्। एतदतो भवति,

* 'आशीर्ब्रह्मेन केवलमुपमादय पक्षरा स्वरूपे, ते उपशोरपि सम्भवन्ति' इति शक्तिरिति ॥

भा. क्रत्वर्थेषु यानि याजमानानि श्रवणानि, तेषु उपादेयत्वेन श्रवणात् विवक्षितं लिङ्गं, तेन तेषु पत्नी न स्यात्, यानि च क्रत्वर्थानि समखकाणि तेषु अविद्यत्वात् पत्नी न स्यात्। 'तत् पत्न्या अध्ययनस्य प्रयोजकं स्यात्—इति यदि उच्येत'। तन्न, असत्यपि प्रयोजकत्वे तस्य निर्दोषिर्भविष्यति। अस्ति, हि तस्य पुमान् निर्वर्तकः, यच्च क्रत्वर्थः, तत् एकेन* येन—केनचित् निर्वर्तयितव्यं। तस्मात् प्रतिपिङ्गस्य पत्न्या अध्ययनस्य पुनः प्रसवे, न किञ्चित् अस्ति प्रमाणम्। अतः तदपि पत्नी न कुर्यात्, यास्त्वाश्रियः, यच्च ब्रह्मचर्यं, तत् पुरुष प्रति गुणभूतं, न तच्च अन्यतरेण कृते सिध्यति, अन्यतरस्य हि संस्कारो ह्येते। न च तच्च उपादेयत्वेन यजमानस्य श्रवणं। तस्मात् लिङ्गस्य विवक्षितम्। अतः आशीर्वाद्यं च उभयोरपि स्यात्, यच्च आहृत्य उच्यते, यथा, 'पत्न्या आन्यमवेक्षते'—इति। तस्मात् अतुल्यत्वात् असमानविधानां पत्नी यजमानेन भवितुमर्हति—इति ॥ (६।१।६ अ०) ॥

यामे श्रद्धास्नानधिकाराधिकरणम् ॥

स चातुर्वर्ण्यमविशेषात् ॥ २५ ॥ (पु०) ॥

भा. अग्निहोत्रादीनि कर्माणि उदाहरणं, तेषु सन्देहः,—किम् चतुर्णां वर्णानां तानि भवेयुः, उत अपशुद्राणां त्रयाणां वर्णानाम्?—इति। किं तावत् प्राप्तं?—चातुर्वर्ण्यमधिष्ठत्य, 'यजेत', 'जुहुयात्'—इत्येवमादि शब्दन् उच्यरति वेदः†। कुतः?। 'अविशेषात्', न हि कश्चिद्विशेष उपादीयते। तस्मात् श्रद्धो न निवर्तते ॥

* एकेन इति आ० सो० पुस्तके नास्ति ॥

† इत्येवमादीनुप्यते इति पाठः का० श्रौ० पु० ॥

स निर्देशाद्वा* चयाणां स्यादग्राधेये ह्यसम्बन्धः कतुपु
ब्राह्मणश्रुतिरित्याचेयः ॥ २६ ॥ (सि०) ॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति, 'चयाणाम्' अधिकारः स्यात्।
कुतः?। 'अग्राधेये' 'निर्देशात्', अग्राधेये चयाणां निर्देशो
भवति, 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, योष्मे राजन्यः, शरदि
वैश्यः'—इति, शूद्रस्य आधाने श्रुतिर्नास्ति—इत्यनग्निः शूद्रः
असमर्थोऽग्निहोत्रादि निर्वर्त्तयितुम्। तस्मात् 'अग्निहोत्रं जुहु-
यात् स्वर्गकामः'—इत्येवमादिषु शूद्रस्य प्रापिका श्रुतिर्नास्ति।
ब्राह्मणादीन् एवाधिहृत्य सा प्रवर्त्तते, ते हि समर्था अग्नि-
मत्त्वात्, आहवनीयादयो न शूद्रस्य, अविधानात्, संस्कार-
शब्दत्वाच्च आहवनीयादीनाम्। तस्मात् अनधिहृतोऽग्नि-
होत्रादिषु शूद्रः—'इत्याचेयः' मन्यते स्म ॥

स निमित्तार्थेन वादरिः तस्मात् सर्वधिकारं
स्यात् ॥ २७ ॥ (पुनः पृ०) ॥

भा. यदुक्तम्,—अनुधिकारः शूद्रस्य—इति, तन्न, सर्वे हि अर्थिनम्
अधिहृत्य 'यजेत'—इत्युच्यते, सोऽसति प्रतियेधवचने शूद्रास्त
व्यावर्त्तते। यत्तु असमर्थोऽग्न्यभावात्—इति, स्यात् एवास्याग्निः
अर्घप्राप्तः, कामश्रुतिपरिगृहीतत्वात्।

'अथ आह, ननु अग्राधेयचोदना ब्राह्मणादिसंयुक्ता न
शूद्रस्य'—इति। 'उच्यते, 'निमित्तार्थेन' ताः श्रुतयो न प्रापिकाः।
कथं?। निमित्तश्रुत्या एते शब्दाः,—ब्राह्मण आदधानो वसन्ते,
राज्यन्यो योष्मे, वैश्यः शरदि—इति ब्राह्मणादीनां वसन्ता-
दिभिः सम्बन्धो गम्यते, तेन वसन्तादिसम्बन्धार्था ब्राह्मणादयः

* निर्देशमात्राद्वा इति व० म० पु० एवं वा० धी० पु० पाठः ॥

† आसर्वभावात् इति पाठः वा० श्री० पु० ॥

भा. —इत्येव गम्यते, तथा च आदधातिर्न वाक्केन श्रुद्रात् व्याव-
र्त्तितो भविष्यति । 'तस्मात्' 'वादर्तिः' 'सर्वाधिकारं' शास्त्रं
गम्यते स्म—इति गम्यते ॥

स अपि वान्वार्थदर्शनात् यथाश्रुति प्रतीयेत ॥
२८ ॥ (७०) ॥

भा. अपि वा—इति पक्षो व्यावर्त्तयते । यथाश्रुत्येव प्रतीयेत,
ब्राह्मणादयो हि आधाने श्रूयन्ते, तेन ब्राह्मणादिकर्तृकम्
आधानं, वसन्तादिश्रवणाच्च वसन्तादिकालकं । तथा च, इदं
श्रुद्रवर्जितानामेव अनुक्रमणं भवति, 'वार्हद्भिरं ब्राह्मणस्य
ब्रह्मसाम कुर्यात्, पाथुरश्वं राजन्यस्य, रायोवाजीयं वैश्यस्य'—
इति, श्रुद्रस्य साम न आमनन्ति । तथा 'मयोव्रतं ब्राह्मणस्य,
यवागूराजन्यस्य, आमिच्छा वैश्यस्य'—इति, तथा आधाने
'अष्टसु प्रक्रमेषु ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, एकादशसु राजन्यः,
द्वादशसु वैश्यः'—इति । एवम् अब्रह्मसामकम् अवतकम् अ-
प्रक्रमकं च श्रुद्रस्य प्रयुक्तम् अपि कर्म निष्फलं स्यात् । तस्मात्
न श्रुद्रो जुहुयात् यजेत वा ॥

स. निर्देशात्तु पक्षे स्यात् ॥ २९ ॥ (पुनः पू०) ॥

भा. नैतदेवं,—श्रुद्रस्य अग्रभावात् अनधिकारोऽग्निहोत्रादिषु—
इति । अस्ति हि श्रुद्रस्य आधानं, 'य एवं विद्वानग्निमाधत्ते'—
इति शास्त्रं सामान्येन । इदम् अपि निमित्तार्थं भविष्यति,
तस्मात् सर्वाधिकारं शास्त्रं भवितुमर्हति—इति ॥

स. वैगुण्यान्नेति चेत् ॥ ३० ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—अब्रह्मसामकं अवतकम् अप्रक्रमकं च श्रुद्रस्य कर्म
प्रयुक्तम् अपि फलं न साधयेत् विगुणम्—इति, तत् परिहर्तव्यम् ॥

स. न काम्यत्वात् ॥ ३१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा न एष परिहारः, काम्यत्वात्, कामयिष्यते शूद्रः अभीवर्त-
नाम ब्रह्मसाम, तद्धि अनारभ्य किञ्चित् आम्नातं अविशेषेण,
'चक्षुर्विदित आदधात्'—इति अनियतमक्रमेण शूद्रस्य निय-
म्यते। व्रतेऽपि 'मस्तु शूद्रस्य'—इतिसम्बन्धदर्शनात् अथव-
सीयते, मस्तु एव शूद्रस्य। तस्मात् चातुर्वर्ण्यम् अधिक्रियेत ॥

स. संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥ ३२ ॥ (यु०) ॥

भा व्रते च विशेषोऽवगम्यते तत्प्रधान्यं (पुरुषप्रधान्यं हि
व्रते)। 'किम् अतः, यत् पुरुषप्रधानता?'। एतदतो भवति,
पुरुषप्रधानः संस्कारो न शक्नोति अनुपसंख्यमाणः, तस्य
अधिकारं व्यावर्त्तयितुम्। तत् कथम्?—इति। 'यजेत'—
इति हि स्वर्गकामेऽभिधीयमाने तत्कामः शूद्रो न अभिहितः
—इति कथं गम्यते? किं^० हि स यागस्य पुरुषनिवर्त्यं न
निर्वर्त्तयति?। 'व्रतम्—इति चेत्'। न, सामर्थ्यापजननाय
हि तत् यस्य एव उच्येत, तस्य एव तेन विना न सामर्थ्ये,
नान्यस्य। एष एव हि व्रतस्य अद्भभावो यत्, कर्त्तारं समर्थं
करोति, यस्य तु तेन न प्रयोजनं, स तदनपेक्षीव यागस्य
अभिनिर्वर्त्तयति। तस्मात् अपि अशूद्रवर्जनम् ॥

स. अपि वा वेदनिर्द्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत ॥ ३३ ॥
(उ०) ॥

भा एवं न प्रापकाणि श्रवणानि—इत्युक्तं, शक्यते तु वक्तुम्
प्रापकाणि—इति, न च सूत्रकारेण तत् व्यपदिष्टं, नैमित्तिकेषु
अपि तेषु सत्यं शक्य एव शूद्रपर्युदासो वक्तुम्—इति, न तदा-
दृतं, हेत्वन्तरं व्यपदिष्टम्। अपि वा—इति पक्षव्यावर्त्तनम्।

भा. शूद्रः—इति। नैय दोषः,—‘विद्यानिर्देशात्, विद्यां निर्देश्यति, अनुक्तामपि अध्येष्यते—इति, ‘शक्यते हि अनुक्तमप्यध्येतुम्। तस्मात् चातुर्वर्ण्यस्याप्यधिकारः ॥

स. अवैद्यत्वादभावः कर्मणि स्यात् ॥ ३७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न च एतदस्ति,—शूद्रोऽध्येष्यते—इति, प्रतिषिद्धम् अस्य अध्ययनं, ‘शूद्रेण न अध्येतव्यम्’—इति, अधीयानस्यापि अध्ययनं सफलं न भवति, दोषश्च जायते। अतोऽवैद्यः शूद्रः, अस्य ‘अभावः कर्मणि’—इति सिद्धम्।

अथापि वैद्यत्वेन सिध्येत्*, तथाप्यनश्रित्वात् ‘अभावः कर्मणि स्यात्’। ‘अथ कथम् अनश्रिता?’—इति। मापकानि हि ब्राह्मणादीनामाधाने वाक्यानि। ‘ननु ‘य एवं विद्वानग्निमाधत्ते’—इति आधानस्य विधायकं; तत्र ब्राह्मणस्य, ‘वसन्ते अग्निमादधीत’—इति निमित्तार्थानि वचनानि—इति गम्यते’। अत्र उच्यते,—‘ब्राह्मणोऽग्निमादधीत’—इति श्रुत्या विधानं गम्यते। ‘यः एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते’—इति स्तुत्या, तत् आनुमानिकं प्रत्यक्षश्रुतात् दुर्बलं। तस्मात् मापकाणि वचनानि, अतः शूद्रस्य अनधिकारः ॥

स. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ३८ ॥ (यु०) ॥

भा. ‘अन्यार्थदर्शनं’ ‘च’ भवति, यथा शूद्रस्य न अध्ययनम्—इति। किं लिङ्गं भवति?। ‘यद्यु वा एतत् ज्ञमज्ञानं, यत् शूद्रः, तस्मात् शूद्रसमीपे न अध्येयम्’—इति अनध्ययनं शूद्रस्य दर्शयति। तस्मात् अप्यशूद्राणाम् अधिकारः। ‘ननु आहवनीयादिनापि, यागो वचनप्रामाण्यात् शूद्रस्य विधीयते’।

* अवैद्यत्वेन न सिध्येत् इति का० श्री० पु० पाठः ॥

भा. उच्यते, न अत्र यागसङ्गावो विधीयते स्वर्गकामस्य, किं तर्हि स्वर्गफलता विशिष्टस्य यागस्य । तस्मात् असम्भवः श्रुद्रस्य अग्निहोत्रादिषु ॥ (६।१।७ अ०) ॥

यागे निर्धनम्राप्यधिकारः अधिकरणम् ॥

ख. त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नः कर्मणो द्रव्यसिद्धि-
त्वात् ॥ ३९ ॥ (पू०) ॥

भा. अग्निहोत्रादिषु एव सन्देहः,—किम् अद्रव्यस्य अधिकारो न ?
—इति । उच्यते, 'त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नो' अधिक्रियेत, न
अद्रव्यः । कुतः ? । न हि शक्नोत्यद्रव्यो द्रव्यसंयुक्तं कर्म अनुष्ठानम् ।
तस्मात् अद्रव्यस्य अनधिकारः ॥

ख. अनित्यत्वात् नैवं स्यादर्थाद्भि द्रव्यसंयोगः ॥ ४० ॥
(सि०) ॥

भा. 'नैवं स्यात्', 'यदुक्तम्,—अद्रव्यस्य अनधिकारः—इति ।
कुतः ? । 'अनित्यत्वात्,—अनित्यो द्रव्यसंयोगः, न हि कश्चित्
जात्या अद्रव्य एव पुरुषः । अस्ति उपायो येन द्रव्यवान्
भवति । यः शक्नोति यष्टुम्, तस्य 'यजेत'—इति वाचको
भवति, यो न कश्चिदपि शक्नोति यागम् अभिनिर्वर्त्तयितुम्,
तं न अधिकरोति 'यजेत'—शब्दः । यस्तु केनचित् प्रकारेण
शक्नोति, न तं वर्जयित्वा प्रवर्त्तते । 'अर्धात्' च 'द्रव्यसंयोगः'
भविष्यति, जीविष्यति विना धनेन—इत्येतत् अनुपपन्नम् ।
तस्मात् अर्धात् द्रव्यसंयोगः ॥ (६।१।८ अ०) ॥

यानिऽहो न स्यादधिकाराधिकरणम् ॥

स

अङ्गहीनस्य तद्वर्मा ॥ ४१ ॥

भा अङ्गिहोत्रादिषु एवाङ्गहीनं प्रति सन्देहः,—किम् असावधि-
क्रियते, उत न?—इति । तत्राप्यधिरणातिदेशः । असमर्थः—
इति कृत्वा पूर्वः पक्षः, शक्तेर्विद्यमानत्वात् उत्तरः । तदिदम्
अभिधीयते,—‘अङ्गहीनस्य तद्वर्मा’ । किन्धर्मा? अद्रव्यधर्मा
—इति ॥ (६।१।८ अ०) ॥

अधिकृत्यादिवैकल्यस्य यामानधिकाराधिकरणम् ॥

स

उत्पत्तौ नित्यसंयोगात्* ॥ ४२ ॥

भा यस्य तु अप्रतिसमाधेयमङ्गवैकल्यं, तं प्रति विचारः,—किं
अधिक्रियते, न?—इति, पूर्वाधिकरणेन अधिक्रियते—इति
प्राप्ते ब्रूमः,—न अधिक्रियते—इति । कुतः? शक्त्यभावात्, न
असौ केनचित् अपि प्रकारेण शक्नोति यद्युम्, तस्मात् तस्य
अधिकारो न गम्यते ।

‘ननु यत् शक्नोति, तच्च अधिक्रियते—इति, चक्षुर्विकलो
विना आज्यावेक्षण्येन, विना विष्णुक्रमैः पद्भुः, विना प्रैषादि-
अवघेनेन च बधिरः, एतान् पदार्थान् प्रति चक्षुर्विकलादीनाम-
नधिकारः’—इति । न—इत्युच्यते, न आज्यावेक्षणादि पुरुषं
प्रति निर्दिश्यते, यदि हि तं प्रति निर्दिश्येत, ततो विकलो-
ऽप्यधिक्रियेत, क्रतुम् प्रति एवाम् उपदेशः, प्रकरणाविशेषात्,
पुरुषस्य च आख्यातेन अनभिधानात्—इति, उक्तमेतत्
“विधिर्वा संयोगान्तरात्”—(३।४।१३ सू०) इत्यत्र । तस्य

* “उत्पत्तौ नित्यसंयोगात् आत्यन्तादीनामनधिकारोऽप्रतिसमाधेयत्वात् । इत्येवा-
ननवधिगतत्वात् पूर्वोक्तं न्यायः” इति वार्तिकमभामुपमेदम् ॥

भा. विना विगुणं कर्म प्रयुक्तमपि न फलं साधयेत् । तस्मात्
तस्य अनधिकारः ॥ (६।१।१० अ०) ॥

दर्शपूर्णमासयोः चार्घ्येयस्यैवाधिकाराधिकारणम् ॥

स. अत्र्यार्घ्यस्य हानं स्यात् ॥ ४३ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘आर्घ्यं दृणीते, एकं दृणीते, द्वौ दृणीते, त्रीन् दृणीते, न चतुरो दृणीते, न पञ्चातिदृणीते’*—
इति । तच्च सन्देहः,—किम् अत्र्यार्घ्यस्य अधिकारः उत न?—
इति । किं प्राप्तम्?—अत्र्यार्घ्ययोग्यधिक्रियते—इति । कुतः?।
‘आर्घ्यं दृणीते’—इति सामान्यवचनम्, तस्मात् एकं वरिष्यति
द्वौ वा, तच्च दर्शयति, ‘एकं दृणीते द्वौ दृणीते’—इति तथा
प्रतिषेधति, ‘न चतुरो दृणीते’—इति ‘न पञ्चातिदृणीते’—
इति । न हि अप्राप्तस्य प्रतिषेधोऽवकल्पते । तस्मात् अत्र्यार्घ्यो-
ग्यधिक्रियेत ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—यो न चार्घ्येयः, स न अधिक्रियेत । कुतः?।
‘त्रीन् दृणीते’—इति विशेषवचनात्, विधिय अप्राप्तत्वात् ।
‘ननु ‘एकं दृणीते’—इत्यपि विशेषवचनमस्ति’ । न—इत्युच्यते,
विधायिकाया विभक्तैरभावात् । ‘ननु स्तुत्या विधास्यन्ते, यथा
‘त्रीन् दृणीते’—इति । उच्यते, त्रयाणामेव स्तुतिः, सा चित्त्वं
विधास्यति । ‘एकं दृणीते’—इत्यवयुत्यवादोऽयं त्रयाणामेव,
तत्रापि चित्त्वमेव श्रूयते विधातुम् । एवम् एकवाक्येन विधानं
भविष्यति—इति । ‘न चतुरो दृणीते, न पञ्चातिदृणीते’—

* ‘अधिर्गोचरवर्तकं कश्चपभरदाजादिस्तस्य सम्बन्ध आर्घ्येयत्वं दृणीते उच्चारयति,
कश्चपभोऽह भरदाभोऽहमिति तदुच्चारणम् । एकमार्घ्येयमुच्चारयति तत्रोदाहृतम् ।
ह्यार्घ्येयानुच्चारयति उपसन्नुवमिहभोऽहमित्यादि, त्रीन् आर्घ्येयानुच्चारयति चाहिरम-
बाहं स्यात्भारदाभोऽहमित्यादय इति व्यापमाहानुमतेषा ॥

भा इति नित्यानुवादो भविष्यति । तस्मात् चरार्थस्य अधिकारो
नान्यस्य—इति ॥ (६।१।११ अ०) ॥

चातुर्वर्णातिरिक्तस्य रथकारस्याधानेऽधिकाराधिकरणम् ॥ (रथकारन्यायः) ॥

स वचनाद्रथकारस्याधानेऽस्य* सर्वशेषत्वात् ॥ ४४ ॥
(सि०) ॥

भा आधाने श्रूयते,—‘वर्षासु रथकार आदधीत’—इति । तत्र
सन्देहः—किं चैवर्णिकानामन्यतमो रथकारः, आहोसित्
अचैवर्णिकः ?—इति । किं प्राप्तम्?—‘रथकारस्य’ अचैवर्णिकस्य
आधानमेतत् । कुत ? ‘वचनात्’, न हि वचनस्य किञ्चित्
अहत्त्यमस्ति†, सर्वशेषस्य अचैवर्णिक आधाने‡, ब्राह्मणरान्यन्य
विशामुक्तम् आधानं, परिशेषात् अचैवर्णिको रथकार स्यात् ॥

स न्यायो वा कर्मसंयोगात् शूद्रस्य प्रतिषिद्ध
त्वात् ॥ ४५ ॥ (पू०) ॥

भा ‘न्यायो वा’ स्यात्, चैवर्णिको रथकार रथकर्मणा विशेषेण
उच्यते, शूद्रो हि असमर्थत्वात् प्रतिषिद्धः । तस्मात् चैवर्णिको
रथकार स्यात् ॥

स अकर्मत्वात् नैवं स्यात् ॥ ४६ ॥ (उ०) ॥

भा नास्ति चैवर्णिको रथकारः, प्रतिषिद्धः हि तस्य शिल्पोप
जोदित्वं, अचैवर्णिकस्त्वस्ति । तस्मात् वचनप्रामाण्यात् स
आधारयते ॥

* आधानस्य इति क० घ० पु० पाठः । आधाने इति का० ग्री० पु० पाठः ॥

† अहत्त्यमस्ति इति आ० भा० पु० पाठः ॥

‡ आधानेन इति आ० से० पु० पाठः ॥

ख. आनर्थक्यं च संयोगात् ॥ ४७ ॥ (यु०) ॥

भा. ब्राह्मणादिषु वसन्तादयो नियताः, तान् प्रति वर्षा उच्यमाना अप्यसम्बन्धात् आनर्थक्यं प्राप्नुयुः । तस्मात् अत्रैवर्णिको रथकारः—इति ॥

ख. गुणार्थेनेति चेत् ॥ ४८ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं चेत् पश्यसि,—नास्ति चैवर्णिको रथकारः, प्रतिपिद्वत्वात् शिल्पोपजीवित्वस्य—इति । 'गुणार्थेन'* कश्चित् भविष्यति रथकारो वैतथ्येन, तस्य इदम् आधानं विज्ञायते ॥

ख. उक्तमनिमित्तत्वम् ॥ ४९ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. उक्तम्, एतत् अस्माभिः,—न निमित्ताद्यन्येतानि श्रवणानि—इति । 'किम् अतो यदि न निमित्तार्थानि?' । एतत् अतो भवति, प्रापकाणि—इति, प्रापितत्वात् तेषाम् आधानस्य, पुनः प्रापकम् अनर्थकं, तेन यस्य अप्राप्तं, तस्य भविष्यति—इति । 'अथ उच्यते, एतदेकं निमित्तार्थं भविष्यति'—इति । नैतदेवम् अवकल्पते, वसन्तादिसंयुक्तं तत् कर्धामिव वर्षाभिः सम्बन्धेत । अपि च, प्रापकपक्षे आधानं विधीयते श्रुत्या, निमित्तपक्षे पुनर्वर्षा विधातव्याः वाक्येन, श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी—इति । तस्मात् अत्रैवर्णिकस्य इदम् आधानम्—इति ॥

ख. सौधन्वनास्तु हीनत्वात् मन्त्रवर्णात्प्रतीयेरन् ॥ ५० ॥
(रथ सि०) ॥

भा. न तु सर्व एव अत्रैवर्णिको रथकारः, 'सौधन्वनाः'—इत्येष

भा जातिवचनः शब्दः, सौधन्वना नाम जातिः अभिधीयते, क्षीनास्तु किञ्चित् चैवर्णिकेभ्यः, जात्यन्तरं, न तु शूद्राः, न वैश्या, न क्षत्रियाः, तेषाम् इदमाधानम्। 'कथम् अवगम्यते?। प्रसिद्धैर्मन्त्रवर्णाच्च, मन्त्रवर्णा हि भवति, 'सौधन्वना ऋभवः श्रुचक्षसः'—इति, 'ऋभूणान्तु'—इति रथकारस्य आधानमन्त्रः, तस्मात् सौधन्वना ऋभवः—इति, ऋभवश्च रथकाराः। अपि च 'नेमिं नयन्ति ऋभवो यथा'—इति ये नेमिं नयन्ति ते ऋभवः—इत्युच्यन्ते, रथकाराश्च नेमिं नयन्ति। तस्मात् अत्रैवर्णिकानाम् अशूद्राणाम् एतत् आधानम्—इति ॥ (६।१।१२ अ०) ॥

चैवर्णिकभिन्नस्य निषादस्य रौद्रशमोर्गधिकाराधिकरणम् ॥ (निषादस्यपतिव्यापः) ॥

स्यपतिर्निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात् ॥ ५१ ॥

भा 'वास्तुमध्ये रौद्रं चक्रं निर्वपेत्, यत्र रुद्रः प्रजाः शमयेत्'—इत्येताम् इष्टिं प्रकृत्य उच्यते, 'एतया निषादस्यपतिं याजयेत्'—इति। निषादस्यपतिं प्रति संन्देहः,—किम् अधिहता-नाम् अन्यतमः, उत अन्य एव?—इति। अन्यतम'—इति द्रुमः, स हि समर्थः, विदित्वात् अग्रिमत्वाच्च, अन्योऽविदित्वाद्-नमित्वात् असमर्थः—इति।

'ननु निषादस्यपतिशब्दस्तत्र नोपपद्यते'। उच्यते,—न, नोपपद्यते, निषादानां रथपतिः—इति यद्योसमासो भविष्यति, श्रेष्ठो निषादानाम्। तस्मात् अधिहताधिकारम् एतत् शास्त्रम्—इति। एवं प्राप्ते द्रुमः,—'रथपतिर्निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात्, निषाद एव रथपतिर्भवितुमर्हति। कस्मात्?। 'शब्दसामर्थ्यात्', निषादं हि निषादशब्दः शक्नोति वदितुम् अघो-नैव, निषादानान्तु रथपतिं लक्षणाया द्रूयात्। अतिलक्षणा-

भा. विशये च श्रुतिन्याय्या न लक्षणा । 'अथ उच्यते,—नैष दोषः,
 निपादशब्दो निपादवचन एव, यद्यी सम्बन्धस्य वाचिका'—
 'इति । तत्र, यद्यत्रयवणात्, न अत्र यद्यी षष्ठुमः । 'आह,
 लोपसामर्थ्यात् यद्यर्थो भवगम्यते'—इति । सत्यमवगम्यते, न
 तु लोपेन । केन तर्हि ? निपादशब्दलक्षणम्, तस्याश्च
 'दौर्बल्यम्—इत्युक्तम् । समानाधिकरणसमासस्तु वलीयान् ।
 तत्र हि स्वार्थे शब्दौ वृत्तौ भवतः* । द्वितीया च विभक्तिः
 तत्रेण उभाभ्यां सम्बध्यते, तेन द्वितीयानिर्दिष्टो निपादो
 गम्यते । तत्र यद्यर्थं कल्पयन् अश्रुतं गृह्णीयात् । तस्मात्
 निपाद एव स्थपतिः स्यात् ॥

ख. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ५२ ॥

भा. लिङ्गं दृश्यते, 'कूटं दक्षिणा'—इति निपादस्य द्रव्यं दर्शयति ।
 कूटं हि निपादानाम् एवोपकारकं, न आर्याणाम्, एवं समेव
 तन्निपादानाम्—इति ॥ (६।१।१३ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः क्षतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य
 प्रथमः पादः ॥

* "तस्मात् लोपे नास्ति प्रमाणं, ततो राजपुरुष इत्यत्रापि राजा चासौ पुरुषयेतीदृशो
 विग्रहः कर्तव्यः, तत्रापि यद्यीयवणमेव नास्ति, किन्तु स्वस्वामिण्यस्यान् षष्ठ्यर्थमारोप्य
 तदा समासो भवति । 'राज' पुरुष इति वाक्यम् 'अर्थषट्कार्यम्' इति वार्तिकमत्रानु-
 सन्धेयम् ॥

पठे अथाये द्वितीयः पादः ॥



“ सवे प्रत्येकस्य सविशः फलमस्वत्वाधिकरणम् ॥ ”

स पुरुषार्थैकसिद्धित्वात् तस्य तस्याधिकारः
स्यात् ॥ १ ॥ (सि०) ॥

भा ‘द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्’, ‘चट्विक्रामा उपेयुः’, तथा,
‘तत्र तत्रैवकामाः सचम् उपेयुः’, ‘सप्तदशावराः चतुर्विंशतिपरमाः
सचमासीरन्’—इति । तेषु सन्देहः,—किं तस्य तस्य ह्यत्स्नेन
फलेन अर्थिनः सवे अधिकारः, उत पर्यदोऽर्थिन्या अधिकारः?
—इति । ‘आह, ननु अर्थिनो बह्वसंख्याविशिष्टा निर्दिश्यन्ते,
कथम् एषाम् एकशोऽधिकारो भविष्यति?—इति’ । उच्यते,
‘चट्विक्रामाः’—इत्येवमादि विधीयमानम् चट्विलक्षितेषु सम-
स्तेषु अस्त्येषु च प्राप्तं न शक्यं बह्ववचनेन विशेषेऽवस्थापयितुम्,
तेन तं तमधिकुर्यात् पर्यदं वा?—इति भवति सन्देहः ।

किं तावत् प्राप्तम्?—एकैको न समर्था बह्वकर्तृकं सचम्
रचयितुम्* पर्यदन्तु कर्त्तृमर्थिनोऽवगच्छामः । न च अकर्तुः
फलं भवति, न च एकः कर्त्ता उच्यते, तस्मात् समस्तानां फलम् ।
एकैकरय फलावयवः, मध्यकं स्यात् ह्यत्स्नं फलम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः, ‘तस्य तस्य’ अर्थिनः ह्यत्स्नं फलं सचात्
नियन्ते । कुतः? । पुरुषार्थस्य एकैकरय सिद्धिर्यतो भवति,
सहक्रियमाणे सर्वैः एकैकः पुरुषार्थं साधयति तद्येन, कतूणाम्
फलं च भवति, एकैकस्य अपि कर्त्ता ।

भा. 'आह, ननु एतत् उक्तम्,—एकैको न शक्नोति बह्वकृतं कर्तुम्—इति । उच्यते, शक्नोति एकैकस्य सातद्वयविवक्षायां, यदा एकैकः सातद्वयेण प्रवर्तते, तदा अन्यान् सङ्ख्यानिर्द्वयार्थं सामादिभिः प्रयोच्यते । एवम् एकः पुरुषार्थं साधयति, इतर इतरश्च, तेन सर्वे कर्तारः सव्यपेक्षा भविष्यन्ति । सर्वे चेत् कर्तारः, पृथक् पृथगेव फलेन सम्भत्स्यन्ते ॥

स. अपि चोत्पत्तिसंयोगो यथा स्यात् सत्त्वदर्शनं, तथा भावो विभागे स्यात् ॥ २ ॥ (यु०) ॥

भा. 'अपि च' नैतत् विरुद्धं, यदेकं कर्म बह्वभिः क्रियते—इति । 'यदि उच्येत, विरुद्धम्, एकेन कर्मणि कृते द्वितीयः किं कुर्यात्?'—इति । अत्र उच्यते,—पर्यायेण क्रियायाम् एवं दोषः, तद्वेण तु क्रियायां भवति कश्चित् सम्भवः, 'यथा स्यात् सत्त्वदर्शनं तथा भावो विभागे स्यात्,—यथा एकैकस्य सत्त्वस्य हृस्तिनोऽश्वस्य वा दर्शनम् एकैकेन हृत्स्त्वमभिनिर्वर्त्यते,' एवमेव सचे तच्चभावो भवेत्, सर्वेषां मध्यकं द्रव्यं, मध्यकस्य आहवनीयस्योपरि अध्वर्युः अपविध्यति, तत्र सर्वे कर्तारः तद्वेण भवन्ति ।

न च अत्र उत्पन्नसंयोगः, उत्पत्त्यैव तु सङ्ख्यायां कर्म संयुज्यते, यदि हि उत्पन्नं संयुज्येत, ततोऽनेकसम्बन्धार्थम्—इति वचनं गम्येत, उत्पत्तिसंयोगे त्वेतन्नास्ति, तस्मात् एकैकस्य हृत्स्त्वेन फलेन अभिसम्बन्धः—इति ॥ (६।२।१ अ०) ॥

दर्शदौ कर्त्तव्यनियमाधिकरणम् ॥

स. प्रयोगे पुरुषश्रुतेः यथाकामी प्रयोगे स्यात् ॥ ३ ॥ (पू०) ॥

भा. 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग-

भा. कामो यजेत—इति श्रूयते। अत्र सन्देहः,—किम् अनियमेन
 एको द्वौ बहवो वा यजेरन्, अथ वा एक एव यजेत?—इति।
 ‘ननु तृतीये (७ पा०। १८ सू०) उक्तं “शास्त्रफलं प्रयोक्तारि”
 —इति। यदा प्रयोक्तारि, तदा विवक्षितम् एकत्वं यथा, तथा
 वक्ष्यामः इह तु तदेवाधिप्यते, पुनश्च निर्णय्यते—इति।

किं प्राप्तम्?—‘यथाकामी प्रयोगे स्यात्’। कुतः?। ‘पुरुष
 श्रुतेः’, पुरुषः श्रूयते, पुरुषे यागं आवधित्वा कृतार्थः शब्दः एकस्य
 द्वयोर्बहूनां वा यागं न वारयति। न असौ पुरुषो यागे
 श्रूयते,—यागमभिनिर्वर्त्तयेत्, यागेन वा फलम् अभिनिर्वर्त्तयेत्
 —इति, कथन्तर्हि?—यागेन फलं प्राप्नुयात्—इति, यागस्य
 वा फलनिर्वर्त्तत्वा नाङ्गं पुरुषः, यदि हि अङ्गम् अभिविष्यत्
 यागे फलनिर्वर्त्तौ वा, तदा सङ्ख्या गुणभूता तदङ्गं पुरुषं
 परिच्छिन्ध्यात्। अथ पुनः अनङ्गीभूतं पुरुषं प्रकाशयत् सक्षय-
 त्वेनैव पुरुषेभिसम्बध्येत, न गुणवचनतया; तत्र च अविवक्षितं
 सङ्ख्यावचनं, यावान् अर्थो समर्थस्त तावन्तं सर्वमधिहृत्य एतत्
 उच्यमानं न शक्यते एकेन वचनेन विशेषयितुम्। ‘कथं च
 पुरुषप्राधान्यम्?’। न फलोत्पत्त्या किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, न
 यागोत्पत्त्या, आत्मा तु फलसम्बद्धः सर्वस्य इह, तदर्थं कर्म
 कर्तव्यम्, इतरथा उच्यमानमपि न क्रियेत, तत्र वचनानर्थक्यं
 स्यात्, तस्मात् यथाकाम्यं स्यात्,—एको द्वौ बहवो वा यजे-
 रन्—इति, तथा च दर्शयति,—‘युवं हि रथः स्वर्पती—इति
 द्वयोः यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्’—इति, ‘एते अश्वमिन्दवः
 —इति यज्ञभ्यो यजमानेभ्यः’—इति द्वयोः बहूनां च यागं
 प्रदर्शयति॥

प्रत्यर्थं श्रुतिभाव इति चेत् ॥ ४ ॥ (आ०) ॥

‘इति चेत्’, इदं चेत् पश्यसि, ‘प्रत्यर्थं श्रुतिभावः’ स्यात्,

भा. यागमभिनिर्वर्त्तयेत् ततश्च फलं प्राप्नुयात्—इति । कुतः ?
 एतत् उभयं हि एतस्मात् अवगम्यते, कतरदत्र जहीमः ?—
 इति न अध्वर्यामः । तस्मात् उभयमपि प्रत्येतव्यम् । ‘आह,
 ननु अनेकार्थवचनता न न्याय्या’—इति । उच्यते, यत् अव-
 गम्यते तन्न्याय्यम्, उभयं च प्रतीयते, तस्मात् उभयार्थवचनतैव
 न्याय्या । यागं प्रति च गुणभावात् विवक्षितम् एकवचनम् ॥

स. तादर्थ्ये न गुणार्थताऽनुक्तेऽर्थान्तरत्वात् कर्तुः
 प्रधानभूतत्वात् ॥ ५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं, ‘तादर्थ्ये’ पुरुषे प्रधानभूते* सति न अङ्गभूतः
 पुरुषः प्रतीयते, ‘अनुक्ते’ हि न्याये न प्रतीमः अर्थान्तरं, यतः
 गुणभावात् प्रधानभावः, प्रधानभूतश्च अत्र कर्त्ता, वचनस्य
 अर्थवत्त्वात्, अतो न गुणभावः कर्तुः अवकल्पते, चोदनैकत्वात्,
 एका हि विधायिका चोदना, सा यदि फलोत्पत्तिं वा
 यागोत्पत्तिं वा विधत्ते, तदा कर्त्ता न स्वार्थेन, यदा पुनः
 स्वार्थेन, तदा यागः फलं वा तादर्थ्येन, न च एतत् यौगपद्येन
 भवति, स्वार्थ एकः, तदर्थ इतरो वैपरीत्येन वा—इति, यथा
 उभाभ्यां बाहुभ्याम् इपून् अस्यति देवदत्तः—इति गम्यते, न
 च यौगपद्येन, यदा दक्षिणेन अस्यति, तदा सध्येन धनुःपृष्ठं
 नमयति, न तेन अपि अस्यति—इति गम्यते, तत्र व्यापृत-
 त्वात् । एवं यदा पुरुषप्राधान्यं, तदा यागस्य फलस्य वा
 गुणभावो गम्यते, तत्र व्यापृतत्वात् न तयोः प्राधान्यमपि
 गम्यते । तस्मात् न यागे फले वा पुरुषस्य गुणभावः, अतो
 यथाकाम्यं स्यात्, एको दौ बहवो वा यजेरन्—इति ॥

स अपि वा कामसंयोगे सम्बन्धात्प्रयोगायोपदिश्येत,
प्रत्यर्थं हि विधिभ्रुतिर्विपाणायवत् ॥ ६ ॥ (सि०) ॥

भा 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः, 'प्रयोगायोपदिश्येत' कर्ता,
न स्वार्थेन । कथम् ? 'यजेत' इत्यस्यार्थः यागं कुर्यात्, यागेन
वा कुर्यात्—इति, सत्ताभिव्यक्तिमात्रं गम्यते, न फलस्य कर्मा
धाता वा, स्वर्गकामशब्दस्य स्वर्गकाममात्रे वर्तते, न विशेषम्
अवलम्बते, आत्मनः परस्य वा—इति,* शब्दप्रमाणकाश्च वयम्
ईदृशेषु अर्थेषु । 'कथन्तर्हि कामस्य आत्मसम्बन्धोऽवगम्यते ?'
'सम्बन्धात्', फलकामोऽनुक्तेऽपि शब्देन, आत्मनः एव फलं
कामयते, न परस्य, यच्च तु उभावर्थौ वक्तव्यौ भवतः, 'प्रत्यर्थं'
तच्च विधिः श्रूयते, यथा 'हृष्णविपाणया कण्डूयति', चात्वाले
हृष्णविपाणायाम् प्राप्स्यति—इति । यच्च एवं द्वे श्रुती विधावगौ
भवतः, तच्च गुणभावः प्राधान्यं च गम्यते । न त्वच्च एवं द्वे
विधायिके श्रुती विद्येते, गुणभूतस्तु पुरुषः श्रूयते 'भावयेत्—
इति, तच्च यज्यर्थः करणं ; कर्म वा । 'सम्बन्धात्तु पुरुषप्राधान्यं,
न कस्यचित् सुखेन उत्पन्नेन प्रयोजन, सुखसम्बन्धेन आत्मनस्तु
लभ्यम् । तस्मात् सम्बन्धात् पुरुषप्राधान्यं गम्यते, न श्रुतेः ।
श्रुतो गुणभूतस्य पुरुषस्य सङ्ख्या विवक्षिता—इति ॥

स अन्यस्य स्यादिति चेत् ॥ ७ ॥ (आ०) ॥

भा 'इति चेत् भवान् पश्यति, एवं सति यदि स्वर्गकामः अन्यस्य
अपि स्वर्गे कामयमानो भवति, अन्यस्य स्वर्गं कामयमानोऽपि
अन्यो यजेत, तच्च पूर्वोक्तो न्यायः प्रत्युद्धृतो भवति, "शाखफल
प्रयोक्तारि"—इति ॥

* सर्वप्रतीतिमात्रे स्वर्गकामशब्दो वर्तते इत्यधिक पाठः आ० भो० पु० ॥

† अन्य इति का० को० पु० पाठः ॥

स. अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः ॥ ८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा न परस्य स्वर्गकामः—इत्येवं न यजेत, न, अन्यस्य स्वर्गकाम-
शब्दो न वाचकः—इति; कथन्तर्हि?—फलमसौ न प्राप्नोति—
इति। कथं पुनः फलस्य अप्राप्तिः?। उपयहद्विशेषप्रवणात्,
'यजेत'—इति, यद्वा आधाने, 'ब्राह्मणो वसन्तोऽग्निमादधीत'—
इति, तदा तु कामयुतौ उपयहोऽनुवाद एव ॥

स. फलकामो निमित्तमिति चेत् ॥ ९ ॥ (आ०) ॥

भा एवं 'चेत्' भवान् मन्यते, न स्वर्गकामशब्दो न वाचकः—
इति, अन्यो न यजते फलाभावात्, न अस्य यागः—इति,
सूक्तवाकफलार्थितया तर्हि यजेत, 'आशास्तेभ्यं यजमानः आयु-
राशास्ते'—इति प्रयोजयितारं निर्द्देशयति होता, फलविधिस्य
'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति'—इति विधानात्, यदि फलविधिः
अयं मास्त्रवर्णिकः, तर्हि सूक्तवाकेन प्रस्तरः प्रहृतो भवति,
इतरथा अदृष्टं कल्पयेत्। तस्मात् आनुषङ्गिकफलार्थम् अन्यस्य
स्वर्गकामोऽन्यो यजेत—इति ॥

स. न नित्यत्वात् ॥ १० ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदस्ति, यस्य एव प्रधानकर्मफलं, तस्य एव आनुषङ्गिकमपि
भवितुमर्हति, एवं स्वार्थेन आधानं हतं भवति, न हि आधानस्य
स्वार्थतायाम् अस्ति विशेषः प्रधानफलं वा आनुषङ्गिकं वा
सर्वमेव आधातरि समवेतुमर्हति, नित्यकाम्यता च विरुध्येत,
यद्यायुरादिकामो यजेत, न तर्हि नित्यं, यदि नित्यं न
आयुरादिकामः। तस्मात् न अवस्थितो न्यायः प्रत्युद्ध्रियेत, न
च पुरुषः प्रधानभूतश्रोयते गुणभावात्तु अस्य विवक्षितमेकत्वम्।
तस्मात् एक एव यजेत ॥

सू. कर्म तथेति चेत् ॥ ११ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तं, द्योर्बद्धनास्र यागं दर्शयति,—‘युवं हि स्यः
सुःपतो—इति द्योः यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्’, ‘एते अस्य-
मिन्द्रवः—इति बज्रभ्यो यजमानेभ्यः प्रतिपदं कुर्यात्’—इति
द्वियजमानके बज्रयजमानके च कर्मणि प्रतिपद्विधानं ‘कर्म’
‘तथा’ युक्तं स्यात्—इति, तत्परिच्छेदार्थम् ॥

सू. न समवायात् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं, समवेतं हि कर्म विद्यते द्वाभ्यां यजमानाभ्यां बज्र-
भिश्च यजमानैः, वचनेन, यथा अक्षीनाः, तेषु प्रतिपद्विधानम्
अर्थवत् भविष्यति। तस्मात् एको यजेत—इति ॥ (६।२।
२ अ०) ॥

आरब्धकाम्यकर्माहोऽपि समाप्तिनियमाधिकरक्तम् ॥

सू. प्रक्रमात्तु नियम्येतारम्भस्य क्रियानिमित्तत्वात् ॥
१३ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘प्रजाकामो यजेत’, ‘ग्रामकामो यजेत’—इत्येवमादि कर्म
समाग्नयते। तत्र सन्देहः,—किं प्रक्रान्तं नियोगतः समाप-
नीयम्, उतेच्छया कार्य्यं हेयं वा?—इति। किं प्राप्तं?—
नियोगतः परिसमापयितव्यम्—इति। कुतः?। एवं हि श्रूयते,
—इदं कामो यजेत—इति, एव तस्य आध्यातस्य अर्थम्
उपदिशन्ति, ‘उपक्रमप्रवृत्ति अपवर्गपर्यन्तम् आह’—इति,
उपक्रमादारभ्य यावत् परिसमाप्तिः—इत्येतावान् व्यापार-
विशेषः तस्य अर्थः, न यथा पाकः त्यागः—इति। तत्र हि
पाकसत्तामात्रं निर्दिश्यते, न आरभ्य परिसमापयितव्यम्—

भा इति । एवं च आख्यातायै लौकिका अपि प्रतिपद्यन्ते, तत्र न आरम्भे पुरुषप्रयत्नः चोद्यते—इति गम्यते । यतश्चोदितं न नियोगत आरम्भे, नियोगतः पुनः परिसमापयन्ति, तेन नोभे आरम्भपरिसमाप्ति शब्दार्थः, किन्तर्हि?—परिसमाप्तिः शब्दार्थः, परिसमाप्तगम्यप्राप्तत्वात् आरम्भश्च । • तस्मात् परिसमाप्तिः शब्दार्थः—इति गम्यते । सा चेत् शब्दार्थः, सा कर्त्तव्यतया चोद्यते, आरम्भे नास्ति कर्त्तव्यतावचनं; तेन न नियोगत आरम्भः, नियोगतस्तु परिसमाप्तिः । तेन उपक्रान्ते कर्मणि यदि वीयात् फलेच्छा, अवाप्नोति वा फल, तस्यामप्य-वस्याया, कर्त्तव्यमेव उपक्रान्तस्य परिसमापनम् ।

‘ननु अर्घिनो योर्ध्वः, सोऽथ कर्त्तव्यतयोच्यते’ । नैतदेवं, वाक्यार्थो हि स भवति, यागस्य तु कर्त्तव्यता युत्या गम्यते, तस्मात् यामकामेण याग आरब्धः परिसमापनीयः, यामादि-कामनावचन निमित्तत्वेन तदा भवति, निमित्ते च उत्पन्ने यत् कर्त्तव्यम्—इत्युच्यते, तद्दिनष्टेऽपि निमित्ते कर्त्तव्यमेव, उप-क्रान्तस्य समापन कर्त्तव्यम्—इति चोद्यते, तद्दिनष्टेऽपि निमित्ते कर्त्तव्यम्, न हि तद्दिनष्टम् अनुत्पन्नं भवति, उत्पत्तिश्च निमित्तं न भावः । तस्मात् वीतायामपि फलेच्छायाम् उपक्रान्तं परि-समापयितव्यम् । क्रियाया हि निमित्तम् आरम्भः, सोऽपि परिसमाप्तेः—इति ॥

॥ फलार्थित्वाद्वाऽनियमो यथानुपक्रान्ते ॥ १४ ॥ (पू०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । ‘अनियमो’ ‘वा’ । कस्मात्? । ‘फलार्थित्वात् फलार्थिनः (फलं चिकीर्षमाणस्य) उपायोऽर्थं विधीयते, न कर्त्तव्यता, सा हि विधीयमाना फलस्य वा यागस्य वा स्यात्, फलस्य न तावत् वक्तव्या, न हि यो यत् कामयते तस्य तत् कर्त्तव्यता उपदेष्टव्या, वेदैवासौ २२

स. कर्म तथेति चेत् ॥ ११ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तं, द्वयोर्बह्वनाञ्च यागं दर्शयति,—‘युवं हि स्वः
स्वःपती—इति द्वयोः यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्’, ‘एते अक्षय-
मिन्द्रवः—इति बह्वभ्यो यजमानेभ्यः प्रतिपदं कुर्यात्’—इति
द्वियजमानके बह्वयजमानके च कर्मणि प्रतिपदिधानं ‘कर्म’
‘तथा’ युक्तं स्यात्—इति, तत्परिहर्तव्यम् ॥

स. न समवायात् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं, समवेतं हि कर्म विद्यते द्वाभ्यां यजमानाभ्यां बह्व-
भिश्च यजमानैः, वचनेन, यथा अक्षीनाः, तेषु प्रतिपदिधानम्
अर्थवत् भविष्यति। तस्मात् एको यजेत—इति ॥ (६।२।
२ अ०) ॥

आरब्धकाम्यकर्माणोऽपि समाप्तिनियमाधिकरणम् ॥

स. प्रकृमात्तु नियम्येतारम्भस्य क्रियानिमित्तत्वात् ॥
१३ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘प्रजाकामो यजेत’, ‘ग्रामकामो यजेत’—इत्येवमादि कर्म
समाग्नयते। तत्र सन्देहः,—किं प्रक्रान्तं नियोगतः समाप-
नीयम्, उतेच्छ्या कार्यं हेयं वा?—इति। किं प्राप्तं?—
नियोगतः परिसमापयितव्यम्—इति। कुतः?। एवं हि श्रूयते,
—इदं कामो, यजेत—इति, एवं तस्य आख्यातस्य अर्थम्
उपदिशन्ति, ‘उपक्रममभ्युक्तिं अपवर्गपर्यन्तम् आह’—इति,
उपक्रमादारभ्य यावत् परिसमाप्तिः—इत्येतावान् व्यापार-
विशेषः तस्य अर्थः, न यथा पाकः त्यागः—इति। तत्र हि
पाकसत्तामात्रं निर्दिश्यते, न आरभ्य परिसमापयितव्यम्—

भा इति । एवं च आख्यातायै लौकिका अपि प्रतिपद्यन्ते, तत्र न आरम्भे पुनपप्रयत्नः चोद्यते—इति गम्यते । यतश्चोदितं न नियोगत आरम्भे, नियोगतः पुनः परिसमापयन्ति, तेन नोभे आरम्भपरिसमाप्ते शब्दार्थः, किन्तु—परिसमाप्तिः शब्दार्थः, परिसमाप्तगामर्थप्राप्तत्वात् आरम्भश्च । • तस्मात् परिसमाप्तिः शब्दार्थः—इति गम्यते । सा चेत् शब्दार्थः, सा कर्त्तव्यतया चोद्यते, आरम्भे नास्ति कर्त्तव्यतावचनं; तेन न नियोगत आरम्भः, नियोगतस्तु परिसमाप्तिः । तेन उपक्रान्ते कर्मणि यदि वीयात् फलेच्छा, अवाप्नोति वा फलं, तस्यानप्य-
वस्थायां, कर्त्तव्यमेव उपक्रान्तस्य परिसमापनम् ।

‘ननु अर्थिनो योर्भ्यः, सोऽत्र कर्त्तव्यतयोच्यते’ । नैतदेवं, वाक्यार्थो हि स भवति, यागस्य तु कर्त्तव्यता युत्या गम्यते; तस्मात् ग्रामकामेण याग आरब्धः परिसमापनीयः; ग्रामादि-
कामनावचनं निमित्तत्वेन तदा भवति, निमित्ते च उत्पन्ने यत् कर्त्तव्यम्—इत्युच्यते, तद्दिनष्टेऽपि निमित्ते कर्त्तव्यमेव, उप-
क्रान्तस्य समापनं कर्त्तव्यम्—इति चोद्यते, तद्दिनष्टेऽपि निमित्ते कर्त्तव्यम्, न हि तद्दिनष्टम् अनुत्पन्नं भवति, उत्पत्तिश्च निमित्तं न भावः । तस्मात् वीतायामपि फलेच्छायाम् उपक्रान्तं परि-
समापयितव्यम् । क्रियाया हि निमित्तम् आरम्भः, सोऽपि परिसमाप्तेः—इति ॥

सू. फलार्थित्वाद्वाऽनियमो यथानुपक्रान्ते ॥ १४ ॥ (पू०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । ‘अनियमो’ ‘वा’ । कस्मात् ?
‘फलार्थित्वात्’ फलार्थिनः (फलं चिकीर्षमाणस्य) उपायोर्भ्यः
विधीयते, न कर्त्तव्यता, सा हि विधीयमाना फलस्य वा
वा स्यात्, फलस्य न तावत् वक्तव्या, न हि यो यत्
तस्य तत् कर्त्तव्यता उपदेष्टव्या, वेदैवासौ मयैवैतत्

भा —इति, उपायं तु न वेद, तमाकाङ्क्षते, इदम् उपदिश्यते,—
 याग उपायः—इति, यागेन क्रियते—इति । न च यागस्य
 कर्त्तव्यता, प्रत्यक्षविरोधात्, प्रत्यक्षस्तु केशो यागः, यदि
 यागेन अन्यस्य कर्त्तव्यता, तदा न विरोधः; यागकर्त्तव्यतायां
 फलं करण्यं, न च, कल्प्यमानस्य प्रमाणमस्ति? । कर्त्तव्यो
 पदेशश्च श्रद्धादिषु अर्थेषु भवति, तस्मात् न यागः कर्त्तव्यः ।
 फलकामस्य यत् इष्टं तत् कर्त्तव्यमनूद्य यद्याप्नाप्नोति यागस्य
 साधनता विधीयते, तेन न अवश्यं समापनीयं भवति, यथा
 अनुपक्रान्तं न अवश्योपकर्मितव्यम्, एवम् उपक्रान्तं न अवश्यं
 समापयितव्यम् । यत्तु वाक्यार्थः श्रुत्या बाध्यते—इति, यत्र
 श्रुत्यर्थो न सम्भवति, तत्र वाक्यार्थो गृह्यते,—इत्युक्तमेव ।
 तस्मात् अनियमः ॥

ख नियमो वा तन्निमित्तत्वात्कर्तुस्तत्कारणं स्यात् ॥
 १५ ॥ (उ०) ॥

भा आरम्भो हि निमित्तं समाप्तेः । कथं? । 'तत्' 'कर्तुः' कारणं
 स्यात् । किं कारणम्? । सत्यसङ्कल्पता, यो हि आरब्धमेव-
 ज्ञातीयकं समापयति, न तं शिष्टा विगर्हन्ते,—प्राक्रमिकोऽयम्
 असंख्यवह्यार्थः—इति, शिष्टविगर्हणा च दोषः । तस्मात् आरभ्य
 समापयितव्यम् । 'आह, शिष्टाः पुनः किमर्थं विगर्हन्ते'—
 इति । उच्यते,—विगर्हन्ते तावत्, किं नो विदितेन कारणेन?
 —इति* ॥ (६।२।३ अ०) ॥

* अत्र 'न च स्मात्तलोचनं मूलात् विना विगर्हणे शिष्टा', अशिष्टा एव ते स्यु यदि
 विगर्हयेयुः विना श्रावणेन, न च सर्वेषामाचार्याणां धर्मप्रशिक्षितचेतसामशिष्टत्वं शक्यं
 मङ्गीकर्तुम् अतः शिष्टाश्चारात् विगर्हणरूपा सन्ति सन्ति सन्ति कल्प्यन्ते—प्रकाश
 माधोप कथं कथम् समापनीयमिति । किञ्च नैतिरीयानामनन्यपरं भवनमस्ति, इत
 प्रकृत्य अगमापममिति प्राक्षिप्त विद्यते 'देवताग्रे वा एव आह्वयते' इति 'दृश्ये

आरब्धलौकिककर्माणः समाप्तेरनिवृत्तिमाधिकरणम् ॥

ख. लोके कर्माणि वेदवत्ततोऽधिपुरुषज्ञानम् ॥ १६ ॥

(पू०) ॥

भा. केनचित् गुह्यम् उपक्रान्तं भवति शकटं रथो वा, वीता अस्य फलेच्छा, अवाप्नोति वा फलम् । तत्र सन्देहः,—किं तेन नियोगतः परिसमापयितव्यम्, उत इच्छया उत्सृष्टव्यम् अपि?—इति । किं प्राप्तम्?—‘लोके कर्माणि’ एवज्ञातीयकानि उपक्रम्य परिसमापयितव्यानि, यथैव वेदिकानि तथैव तानि नियोगतः परिसमापनीयानि । कुतः?। ‘ततोऽधिपुरुषज्ञानं’, ततः तत्पुरुषज्ञानं भवितुमर्हति । कुतः?। शाखात्, आम्नायते हि तद्वृणं शाखं, तत्रापि देवतायापारोऽङ्गीक्रियते,—पूर्वस्यां दिशि एता देवता इतरास्त एताः—इति, यदि शास्त्रज्ञे देवतायापारे उपक्रम्यापरिसमाप्यमाने शिष्टविगर्हणम्, एवम् इहापि भवितुमर्हति ॥

ख. अपराधेऽपि च तैः शास्त्रम् ॥ १७ ॥ (यु०) ॥

भा. तेषां ‘च’ लौकिकानाम् ‘अपराधे’ ‘तैः’ तत्त्वभिः प्रायश्चित्त-शास्त्रमाम्नायते, ‘आरे भग्रे इन्द्रयाज्वद्वयः पायसं च ब्राह्मणो भोजयितव्यः’—इति, प्रायश्चित्तं च यद्यदृष्टार्थं, न शाखादृते; अथ प्रसङ्गपरिहाराय, ततोऽप्यादृतमेव तत्—इति गम्यते ॥

इत्युक्त्वा न दत्ते, वैधातवीयेन यजेत, न देवताभ्य आदृष्टयते’ इति । दृष्टयते आवाप्तेऽपि फले समाप्ति कारीयां, ‘यदि वर्षेत् तापत्येव क्षेतव्यम्’ इति” इति तन्मन्त्रमवानुसन्धेयम् ॥

* यथैव वेदिकानि नियोगतः परिसमापनीयानि तथैवैतत् इति पाठ. आ. से. प. एवं क. सु. पु. ॥

† का. जी. पुलके ‘अपि’कारो भवति ॥

स अशास्त्रा तूपसम्प्राप्तिः शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकं, तस्मा-
दर्थेन गम्येताप्राप्ते शास्त्रमर्थवत् ॥ १८ ॥ (सि०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । ‘अशास्त्रा तु’ एषाम् ‘उप-
सम्प्राप्तिः’—इति ब्रूमः । स्मृतेरस्याः शास्त्रं भवता अनुमीयते,
—न शास्त्रमन्तरेण स्मृतिः, न च स्मृतिम् अन्तरेण तद्वर्णा ग्रन्थ
उपपद्यते—इति; अत उच्यते,—भवति अत्र स्मृतिः,—एवमिदं
गृह्यादि कर्म रमणीयं भवति—इति, न अस्मात् कर्मणोऽदृष्टं
किञ्चित्—इति । या च असौ रमणीयता सा अन्तरेणापि
शास्त्रं, शक्या ज्ञातुम्, ज्ञात्वा च स्मर्यते । तस्मात् न अस्याः
स्मृतेः शास्त्रं प्रकल्प्यम्, यद्यन्तरेण शास्त्रं, न प्राप्येत, ततः
शास्त्रम् अत्रार्थवत्—इति प्रकल्प्येत । तस्मात् न इदं शास्त्रोक्तं,
शास्त्रोक्ते च सामिह्यते त्यक्तेभ्यस्तं शिष्टा गर्हन्ते, देवताश्रये च ।
‘ननु अत्रापि देवताः परिगृहीताः,—अस्यान्दिशि इयं देवता
यद्यतेऽस्यामियम्’—इति । उच्यते, पुरुषमनु देवताः शिष्टाः
स्मरन्ति, न गृहमनु, तस्मात् अदोषः—इति ॥ (६।२।४ अ०) ॥

प्रतिषिद्धकर्माणामनुष्ठानेऽनिष्टापाताधिकरणम् ॥ (कलहव्याय) ॥

स प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात्क्रिया स्यात् प्रतिषिद्धानां विभक्त-
त्वादकर्मणाम् ॥ १९ ॥ (पू०) ॥

भा. इदं हि उपदिशन्ति,—‘न कलङ्गं भक्षयितव्यम्, न लघुनं
न गृह्णनं च’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् एवज्जातीयकं फल-
कामेन न भक्षयितव्यम्, निष्कामेण आद्यम्, अथ वा नियोगतो
वर्जयितव्यमेव?—इति । किं प्राप्तम्?—फलार्थिना न भक्षयि-
तव्यम्, अनार्थिनोऽनियमः—इति । कुतः? । नियमो ह्ययम्
उच्यते,—इदं न भक्षयितव्यम्—इति, एवम् उक्ते ह्यमापतति,

भा —यदि वा अभक्षणं कर्त्तव्यम्—इति, यदि वा भक्षणं न कर्त्तव्यम्—इति, यदि नञ्विशिष्टं भक्षणं कर्त्तव्यम्—इत्यभ्युपगम्यते, ततोभक्षणं श्रुत्या तथो विदधाति, नञ् भक्षयति विशेषणं, तदभापाराच्च कर्त्तव्यतया नञ् न सम्यधते । अथ नञर्थः कर्त्तव्यः, ततो वाक्येन विधानं, भक्षयतिश्च नञ्विशेषणं, श्रुतिश्च वाक्याद्गोचरीयसी । तस्मात् अभक्षणं कर्त्तव्यम्—इति गम्यते, अभक्षणं च भक्षणाभावः, न तस्य कर्त्तव्यता अस्ति । तस्मात् यः तत्र मानसो व्यापारः, स इह उपदिश्यते, येन उपायेन नञ्विशिष्टं भक्षणं भवति ; पूर्वं नञ्भक्षयत्योः सम्बन्धः, ततो विधानं । यथा, 'नोद्यन्तमादित्यमीचेत'—इत्येवमादिषु प्रजापतिव्रतेषु कुर्वत फलं, अकुर्वतो न फलं न दोषः ; एवम् इहापि, 'विभक्तत्वात् अकर्मणाम्', न अत्र कर्म प्रतिषिध्यते, अकर्ममात्रम् उपदिश्यते, अन्यद्वि कर्म भक्षणं प्रतिषिध्यमानं, अन्यत् अकर्म मानसः सङ्कल्पः—इति ॥

स. शास्त्राणां त्वर्यवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते तयोरसम-
वायित्वात्तादर्थ्यं विध्यतिक्रमः ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा. उपवर्णनापरिहारः द्वावत् उच्यते,—युक्तं, यत् प्रजापति-
व्रतेषु 'शास्त्राणाम् अर्यवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते'; तत्र नियमः
कर्त्तव्यतयोपदिश्यते, यस्य कर्त्तव्यः, स कल्याणोदयः, यो न
कर्त्तव्यः स पापोदयः । 'कथं पुनः प्रजापतिव्रतेषु नियमः
कर्त्तव्यतया चोद्यते?'—इति । उच्यते, तस्य व्रतम्—इति प्रकृत्य
प्रजापतिव्रतानि समाग्नानि, व्रतम्—इति च मानसं कर्म
उच्यते,—इदं न कारिष्यामि—इति यः सङ्कल्पः । कतमस्य
व्रतम् ? 'नोद्यन्तमादित्यमीचेत'—इति, यथा तदीक्षणं न
भवति, तथा मानसो व्यापारः कर्त्तव्यः, तस्य च पाप्मनम् । तत्र
तस्मात् पुरुषार्थोऽस्ति—इत्यवगन्तव्यम् । तत्र च एतान्येव

भा प्रकृत्य उच्यते,—‘एतावता ह्येनसाभ्युक्तो भवति’—इति (एतावता ह्येनसाभ्युक्त एनसा भवति)—इति ।

अथ इह ‘तयो’ असनवायित्वम् इह क्रिया प्रतिषिध्यते, न अक्रिया उपदिश्यते, न हि, कलञ्ज भक्षयन् प्रतिषेधविधिं न अतिक्रामति, इह पुनरादित्य पश्यन् न अतिक्रामति विधि न हि तस्य दर्शनं प्रतिषिद्धम्, नियम तत्र उपदिष्ट, यस्त नियम करोति, स फलेन सम्बध्यते, इह तु प्रतिषिध्यते कलञ्जादि । कथम् अवगम्यते ? । न अत्र तस्य, व्रतम्—इति प्रकृत्य वचनमस्ति । न च, न भक्षयितव्यम्—इत्यस्य मानसो व्यापारोऽर्थः, भक्षयितव्यम्—इति च भक्षण कर्तव्य शब्देन उच्यते, न—इति तत् प्रतिषिध्यते अत्यूयैव । एव प्रसिद्धोऽर्थोऽनुगृहीतो भवति, इतरथा लक्षणा स्यात्, अतिलक्षणाविशये च अतिगर्हाद्या न लक्षणा । तस्मात् इह प्रतिषेधः ।

“उच्यते, अस्तु प्रतिषिद्धं नाम, दोष अत्र न श्रूयते* । तस्मात् प्रतिषिद्धमप्यनुष्ठातव्यम्—इति । ‘कल्पयिष्यते—इति चेत् । न प्रमाणाभावात् । ‘अर्थोपपत्तिः प्रमाणम् उपदेशवैयर्थ्यं प्रसङ्गात्—इति यद्युच्येत । नेतदेव, व्यर्थोऽपि हि उपदेशोऽज्ञानात् सम्भवति, तस्मात् न कल्प्यो दोष —इति । उच्यते, सत्यं न कल्पनीयं, किन्तु कृप्त एव । कथम् ? । अनन्तरमेवैवं शिष्टा वर्जयेयुः, पतितं कर्मफलेभ्यः—इति यदन्तः, मद्याद्य एव दोषः, यच्छिष्टा वर्जयन्ति । तस्मात् नियोगतः कलञ्जादि न भक्षयितव्यम्—इति, यथा, न सर्पाय अङ्गुलिं दद्यात् तत्र दोषदर्शनात् नियोगतो न सर्पाय अङ्गुलिर्दीयते, काटको वा न पादेन अधिष्ठोयते, एवम् इदमपि—इति ॥ (६।२। ५ अ०) ॥

* अत्र प्रतिषिद्धं नाम न दोषोऽत्र श्रूयते इति पाठः का० श्रौ० सु० ॥

† अत्रादौ पक्षेऽप्युच्यते इति हेतुः अत्र अत्रैव नैवे इति धातिवचनानुसंधानम् ।

गुर्वनुगमनादीनामुपनयनोत्तरकालकर्तव्यताधिकारणम् ॥

स. तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्त्तेरन् ॥ २१ ॥
(पृ०) ॥ . .

भा. इह स्मार्त्ताः पदार्था उदाहरणम्, प्रत्युपस्थितनियमाश्च
आचाराः,—‘गुरुरनुगन्तव्योऽभिवादयितव्यश्च’, दृढवयाः प्रत्यु-
त्थेयः सम्मन्तव्यश्च—इति । तत्र सन्देहः,—किं जातमात्राणाम्
इमे पदार्था उत उपनीतानाम्?—इति । किं प्राप्तम्?—
अविशेषोपदेशात् जातमात्राणाम् । कुतः? । पुरुषे ते शिष्यन्ते,
जातमात्रश्च पुरुषो भवति । तस्मात् जातमात्राणाम् इमे
पदार्थाः,—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—

स. अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्त्तेरन् ॥ २२ ॥
(सि०) ॥

भा. ‘अपि वा’—इति पक्षव्यावृत्तिः । ‘उपायेन प्रवर्त्तेरन्’ (उप-
नयनेन सह प्रवर्त्तेरन्), ‘वेदतुल्यत्वात्’, वेदतुल्या हि स्मृतिः,
वेदिका एव पदार्थाः स्मर्यन्ते—इत्युक्तं (१।३।१ अ०), वैदि-
काश्च पदार्था उपनयनोत्तरकाले समाम्नाताः, स्मार्त्ताश्च एते
वेदिका एव, तस्मात् उपनयनोत्तरकाला एते—इति ॥ (६।
२।६ अ०) ॥

एव “विधायकपदस्य नञ्प्रत्ययेन अन्वये सति रात्रिं प्रा भक्षणप्रवृत्तिमस्य निषेधस्य
विधेयत्वम् न च निषेधो व्यर्थ, नरकपतनिवारकत्वम् । एवञ्च सति श्रुते न किमपि
कन्-] तत्पक्षे च श्रुतं सकन्-] कल्या इति तदर्थं भक्षणस्यै लक्षणा आशयक्या ।
तस्मात् स्वर्गकामिनो नावाधिकारः किन्तु नरकात् भीतस्य अधिकारः” इति व्याख्या
च नुमन्येता ॥

अग्निहोत्रादिधावज्जीवकर्मणाम् सकालमावकर्मण्यताधिकरणम् ॥ (अग्निहोत्रव्य ५) ॥

स अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात् पुरुषार्थो* विधीयते ॥ २३ ॥
(१ म पू०) ॥

भा इदमाभिनन्ति,—‘यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत’—इति पुरुषार्थोभ्यं यागो विधीयते, न अयमभ्यासः कर्मशेषः—इत्युक्तम् । इह इदानीं सन्दिह्यते, किं सातत्येन होतव्यं, उत न सातत्येन?—इति । किं प्राप्तम्?—पुरुषं प्रत्युपदिष्टत्वात् सातत्येन, अयं पुरुषः—इति सातत्येन अनुष्ठातव्यम् । ‘ननु ‘प्रदोषम् अग्निहोत्रं होतव्यं, क्षुष्टाया प्रातर्’—इति श्रूयते, ‘पौर्णमास्यां पौर्णमासेन यजेत, अमावास्यायामामावास्येन यजेत’—इति । नैव सर्वाङ्गोपसंहारेण प्रयोगः, अतः कालमात्रेण हीने न दोषः ॥

स. तस्मिन्नसम्भवन्नर्यात् ॥ २४ ॥ (२य पू०) ॥

भा नैतदस्ति, यत्, जुहुधि जुहुधि—इत्येव होतव्यम्—इति, यथा शक्नोति, तथा जुहुयात्—इत्युच्यते, न च सातत्येन शक्यते, अवश्यम् अनेन आहारविहाराः कर्तव्याः । तस्मात् अर्थावबुद्धेषु कालेषु होतव्यम्—इति ॥

स. न कालेभ्य उपदिश्यन्ते ॥ २५ ॥ (सि०) ॥

भा न चेतदस्ति, यदुक्तम्, अर्थावबुद्धेषु कालेषु सततं होतव्यम्—इति, काल एव श्रूयते,—‘प्रदोषम् अग्निहोत्रं होतव्यं, क्षुष्टायां प्रातर्’—इति । तथा, ‘पौर्णमास्यां पौर्णमासेन यजेत, अमावास्यायामामावास्येन यजेत’—इति । तस्मात् न

* पुरुषार्थोऽभिधीयते इति अ० को० पु० ख क० म० पु० पाठः ॥

† कालमात्रे हीनेऽपि इति का० श्री० पु० पाठः ॥

भा. सातत्यम्—इति । ‘आह, ननु विगुणस्यापि प्रयोगात् न काल—आदरणीयः’—इति । अत्र उच्यते, न कालो गुणः, निमित्तं हि एतत्—इत्युक्तम् । तस्मात् अन्येषु कालेषु अविहितत्वात् हतमप्यहतम् स्यात् । तस्मात् आश्रितकालस्य यावज्जीवं प्रयोगः—इति ॥

ख. दर्शनात्काललिङ्गानां कालविधानम् ॥ २६ ॥ (यु०) ॥

भा. लिङ्गं च भवति,—‘अप वा एष सर्गात् लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजो सन् पूर्णमासीममावस्यां वा अतिपातयेत्’—इति, यदि सर्वस्मिन् काले होमः, तदा कस्यातिपत्तिः स्यात्? तस्मादपि न सततमभ्यासः ॥ (६।२।७ अ०) ॥

अग्निहोत्रादीनां सकालादप्याद्याह्न्यधिकरणम् ॥

ख. तेषामौत्पत्तिकत्वादागमेन प्रवर्त्तत ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘प्रदोषे* अग्निहोत्रं होतव्यम्, व्युष्टायां प्रातरु’—इति, तथा ‘पौर्णमास्यां पौर्णमासेन यजेतामावास्यायामामावास्येन यजत’—इति । तत्र सन्देहः,—किं सद्यत् प्रदोषे होतव्यम्, उत प्रदोषे प्रदोषे?—इति, तथा सद्यत् व्युष्टायां प्रातः, उत व्युष्टायां व्युष्टायाम्?—इति, तथा किं सद्यत् पौर्णमास्याममावास्यायां वा, उत आगते आगते काले?—इति । किं प्राप्तम्?—सद्यत् हत्वा हतार्थः शब्दः, न नियमः पौनःपुन्ये ।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘आगमेन प्रवर्त्तत’, आगते आगते काले प्रयोगः कर्तव्यः—इति । कुतः? । ‘तेषाम् औत्पत्तिकत्वात्’, उत्पद्यमानं कर्म कालसंयुक्तमेव उत्पद्यते, तदुक्तं,—निमित्तार्थाः

* सर्वेषु पुच्छकेषु पूर्वंच प्रदोषमग्निहोत्रम् होतव्यमिति पठित्वा, अत्र प्रदोषे इति पठितं न शङ्क्यते ॥

भा. कालश्रुतयः—इति, निमित्ते च संप्राप्तिर्नैमित्तिकोऽर्थः कर्तव्यो भवति । तस्मात् आगते आगते काले प्रयोगः कर्तव्यः ॥

ख तथा हि लिङ्गदर्शनम् ॥ २८ ॥ (यु०) ॥

भा. 'अथ वा एष स्वर्गात् लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन् पूर्णमासीममावास्या वा अतिपातयेत्'—इति आगते आगते काले प्रयोगं दर्शयति ॥ (६।२।८ अ०) ॥

दर्शादौ भेदाद्याहत्या सोमाहत्याधिकरणम् ॥

ख तथान्तःक्रतुप्रयुक्तानि ॥ २९ ॥

भा. 'भिन्ने जुहोति स्तन्ने जुहोति'—इति दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते । तत्र सन्देहः,—सहत् भिन्ने स्तन्ने च कृत्वा कृतार्थः, उत भिन्ने भिन्ने स्तन्ने स्तन्ने च?—इति । तत्र अधिकरणातिदेशो यः पूर्वच पूर्व, पक्षः स इह पूर्वः, य उत्तरः, स इह उत्तरः—इति, सहत् कृत्वा कृतार्थः—इति पूर्वः पक्षः, निमित्तत्वात् पुनः प्रयोगः—इति उत्तरः ॥ (६।२।९ अ०) ॥

गुर्ध्वनुगमनादीनां प्रतिनिमित्तमाहत्याधिकरणम् ॥

घ. आचाराद्गृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात् ॥ ३० ॥

भा. 'गुरुरनुगन्तव्योऽभिवादयितव्यश्च, दृढवयाः प्रत्युत्थेयः सम्मन्तव्यश्च'—इति । तत्र सन्देहः,—किम् आगते आगते गुरौ दृढवयसि च, यदुक्तं, तत् कर्तव्यम्, उत सहत्कृते कृतार्थता?—इति । 'आचारात् गृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात्'—इति अधिकरणातिदेशः । तत्र यः पूर्वः पक्षः, स इह पूर्वः, यः उत्तरः स उत्तरः, सहत्कृत्वा कृतार्थः—इति पूर्वः

भा. पक्षः, निमित्तत्वात् पुनः प्रयोगः—इति उत्तरः ॥ (६।२।
१० अ०) ॥

अष्टपथापाकरणस्य ब्राह्मणचक्षिपवैश्यानां नित्यताधिकरणम् ॥

स. ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्केन
संयोगात् ॥ ३१ ॥

भा इदं श्रूयते,—‘सोमेन यजेत’, ‘गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणम् उप-
नयीत’, ‘प्रजाम् उत्पादयेत्’—इति। तत्र सन्देहः,—किं
नित्यानि एतानि उत अनित्यानि?—इति। किं प्राप्तिम्?—
कामसंयोगात् अनित्यानि।

इति प्राप्ते उच्यते, ब्राह्मणादीनाम् सोमादीनि नित्यानि—
इति। कुतः?। ऋणवाक्केन हि संयोगो भवति, ‘जायमानो
ह वै ब्राह्मणचिभिर्ऋणवा* जायते यज्ञेन देवेभ्यो ब्रह्मचर्येण
ऋषिभ्यः प्रजया पितृभ्यः—इति, स वै तर्ह्यनृणो यदा यज्वा
ब्रह्मचारी प्रजावान्—इति, ऋणसंस्तवोऽवश्यकर्तव्यानां भवति,
तस्मात् नित्यानि—इति।

‘ननु खिन्नमसाधकं, न्याय उच्यताम्, यस्यैतत् द्योतकम्’
—इति। उच्यते,—अकामसंयुक्तानि एषां पृथक् वाक्यानि
भवन्ति, ‘वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत’, ‘यावज्जीवम् अग्निहोत्रं
जुहोति’, ‘यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत’। तथा ‘विद्या-
मधीयीत’। तथा ‘प्रजा उत्पादयितव्या’—इति।—एवं नित्य-
तायाः प्राप्तायाः इदं खिन्नं भवति—इति।

अथ वा अयम् अन्योऽर्थः, ‘ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृण-
वाक्केन संयोगात्, सोमादयो नियताः किं ब्राह्मणस्यैव,

* अथ सर्वेष्वेव पुष्टके ऋणवा इति पाठः। किन्तु पञ्चाक्षरे ऋणवान् इति
पाठो दृश्यते ॥

भा. राजन्यवैश्ययोः अनियताः, उत सर्वेषां नियताः?—इति। किं प्राप्तम्?—ब्राह्मणस्यैव नियता न इतरयोः—इति। कुतः?। एवं श्रूयते,—‘जायमानो ह वै ब्राह्मणः’—इति, ब्राह्मणस्य नियमो दृश्यते, न इतरयोः, ब्राह्मणसङ्कीर्तनात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सर्वेषां नियमः। कुतः?। अविशेषेण नियमविधानं यत्, तत् अकामसंयुक्तं वचनं नियामकं, तत् अविशिष्टं सर्वेषां, तस्मात् सर्वेषां नियमः—इति।

‘ननु, जायमानो ह वै ब्राह्मणः—इति ब्राह्मणस्य सङ्कीर्तनम्’। उच्यते, भवति अस्मिन् वचने ब्राह्मणसङ्कीर्तनम्, न तु एतत् नियमस्य विधायकम्, एतैरकामसंयुक्तैर्वचनैर्विहितस्य नियमस्य अनुवादोऽयमवदानस्तुत्यर्थः, तस्मात् न अत्र ब्राह्मणसङ्कीर्तनेन राजन्यस्य वैश्यस्य वा अनियमो विज्ञायते। ब्राह्मणग्रहणं तु प्रदर्शनायै, जायमानो ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यो वा—इति, तथा जायमानो जातश्च—इति॥ (६।२।११ अ०)॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः सतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठ्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

भा. सा च पौर्णमासी; यदमावास्यायां विहितं, सा च अमावास्या
—इति, साङ्गममावास्यायां विहितं, पौर्णमास्यां च, तस्मात्
‘साङ्गं दर्शपूर्णमासशब्देन उच्यते—इति जैमिनिर्मन्यते स्म ॥

ख अपि वाऽप्येकदेशे स्यात् प्रधाने ह्यर्थनिर्दृष्टिर्गुण-
मात्रमितरत्तदर्थत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘अपि वा’—इति पक्षव्यावृत्तिः। ‘अप्येकदेशे’ऽङ्गानाम् ‘स्यात्’
एव प्रयोगः, यतः साङ्गस्यापि अनङ्गस्यापि प्रयुज्यमानस्य
प्रधानात् एव अयमर्थो निष्पद्यते, ‘गुणमात्रं’ सर्वाङ्गप्रयोगेण
भवति। को गुणः? साङ्गात् स्वर्गाभिनिर्दृष्टिः, प्रधानमात्रादि-
दमन्यत् फलम्। तस्मात् स्वर्गप्राप्तये संपूर्णाङ्गं करिष्यामि
—इति आरब्धं, यदि कानिचित् अङ्गानि न शक्नोति कर्तुम्,
तथापि अस्मात् एकदेशाङ्गगुणयुक्तात् प्रधानात् फलं भविष्यति।
तस्मात् प्रधानमात्रस्य प्रयोगमाह, न अङ्गानाम्, दर्शपूर्णमास-
शब्दकः अग्निहोत्रशब्दकश्च प्रधानपदार्थाभ्यानि अङ्गानि
तदर्शनीति ॥

ख. तदकर्मणि च दोषस्तस्मात् ततो विशेषः स्यात्
प्रधानेनाभिसम्बन्धात् ॥ ३ ॥ (१ यु०) ॥

भा. माधानातिक्रमे ‘दोषः’ श्रूयते,—‘अथ वा एय स्वर्गाष्टोका-
च्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजो सन् पौर्णमासीममावास्यां या-
तिपातयेत्’—इति प्रधानातिक्रमे दोषं ब्रुवन् तस्य नित्यता
दर्शयति ॥

ख. कर्माभेदं तु जैमिनिः प्रयोगवचनैकत्वात् सर्वेषा-
मुपदेशः स्यादिति ॥ ४ ॥ (आ०) ॥

भा. यदुक्तं,—नास्ति भेदः,—इमानि अङ्गानि, इमानि प्रधानानि

भा.—इति, 'प्रयोगवचनैकत्वात्'—इति 'जैमिनिः' आह स्म,
'सर्वेषाम्' उपदेशकः, 'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमा-
वास्यायाममावास्याया यजेत'—इति ॥

स अर्थस्य व्यपवर्गित्वादेकस्यापि प्रयोगे स्यात् यथा
क्रत्वन्तरेषु ॥ ५॥ (आ० नि०) ॥

भा. एकाङ्गप्रयोगेऽपि स्यात् विगुणादपि फलमित्यर्थः । कुतः ?
'अर्थस्य व्यपवर्गित्वात्', व्यपवृत्तमङ्गेभ्यः प्रधानम्, अग्निहोत्र-
संज्ञकात् दर्शपूर्णमाससंज्ञकाच्च फलमिह भवति । तद्वि कर्त्तव्य-
तया उपदिश्यते । यत् पौर्णमास्याम् उपदिष्टं, सा पौर्णमासी,
यदमावास्यायां सा अमावास्या, 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमा-
वास्यायां पौर्णमास्यां चाचुरतो भवति'—इति । तस्मात् अग्नेये
पुरोडाशः अग्नीषोमाभ्यां च, आन्यं चाग्नीषोमादिभ्यः पौर्ण-
मास्याम् । आग्नेयसान्याय्यादीनाममावास्यायाम् ।

यदुक्तं,—'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यायाममा-
वास्याया यजेत'—इति साङ्गस्य विधानात् साङ्गं दर्शपूर्णमास-
शब्देनाभिधीयते—इति, नैतदेवं, सिद्धे हि दर्शार्थे पौर्णमासार्थे
च साङ्गं फले विधीयते । तस्मात् न साङ्गमग्निहोत्रपदवाच्यं
दर्शपौर्णमासपदवाच्यम् । यच्च अग्निहोत्रं तत् इह चोद्यते
कर्त्तव्यतया, यौ च दर्शपूर्णमासौ । तस्मात् विगुणमपि कर्त्तव्यमेव
अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च । 'यथा क्रत्वन्तरेषु' प्रकृतिविकृतिषु
परस्य धर्मा परस्य न भवन्ति, एवं न कामसंयुक्तस्य धर्मा
नित्यस्य भवितुमर्हन्ति ॥

स विध्यपराधे च दर्शनात् समाप्तेः ॥ ६ ॥ (२ यु०) ॥

भा. विध्यपराधेषु च समाप्तिं दर्शयति, 'तदेव यादृक् तादृक्
होतव्यम्'—इति विगुणस्य समाप्तिं दर्शयति ॥

स . प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥ ७ ॥ (३ यु०) ॥

भा विध्यपराधे च प्रायश्चित्तानि विधीयन्ते निमित्ते कर्माङ्ग भूतानि, यथा, 'भिन्ने जुहोति'—इति। विगुणे निष्फले सति कस्याङ्गभूतैः प्रयोजनं स्यात्? तस्मात्-विगुणानामपि प्रयोगः कर्तव्यः—इति ॥ (६।३।१ अ०) ॥

अथैकस्य काम्यस्य निष्फलत्वाधिकरणम् ॥

स काम्येषु चैवमर्थित्वात् ॥ ८ ॥ (पू०) ॥

भा 'ऐन्द्राग्रमेकादशकपालं निर्वपेत् मजाकामः', 'सौर्यं चरं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः', 'वैश्वदेवीं साङ्ग्याद्यायणीं निर्वपेत् धामकामः'—इत्येवमादिषु सन्देहः,—किं विगुणमपि फलवत्, उत अविगुणमेव फलवत्?—इति। किं प्राप्तम्?—'काम्येषु चैव' स्यात्, विगुणमपि फलवत्—इति। कुतः?। 'अर्थित्वात्', यदि विगुणमपि फलवत् एवं अर्धिमात्रमधिकृतं भविष्यति, अन्यथा सामान्यशब्दोऽग्तरेण विशेषः*, विशेषेभ्यश्चापितो भविष्यति। 'असमर्थत्वान्नाधिक्रियते'—इति चेत्। साङ्गं न समर्थः कर्तुम्, प्रधानमात्रं तु शक्नोति, प्रधानमात्रे अधि-करिष्यति ॥

स असंयोगात् नैवं स्यात् विधेः शब्दप्रमाण-
त्वात् ॥ ९ ॥ (सि०) ॥

भा. तु शब्दात् पक्षो विपरिवर्तते, 'नैवं स्यात्',—यदुक्तं विगुणमपि फलवत्—इति, 'असंयोगात्' प्रधानमात्रस्य फलेन, साङ्गात्

भा. न्तरेऽपि, यदा क्रिया भवति चलनं पतनं वा, तदापि तावान्
एव सोऽर्थः, न च कश्चित् तत्र व्यतिरिक्तो विशेषो ह्येनो वा,
नो खल्वप्यन्यदेव रूपं, न च ग्रन्थान्तरं वाचकम्।

‘ननु आश्रयभेदो विस्पष्टः’। उच्यते, भिन्नमेव वयमाश्रयं
प्रतिजानीमहे, न तु तद्भेदादाश्रितस्य भेदः, अन्यत्वात्, न हि,
अजि वाससि वा भिन्ने तद्भेदात् पुरुषभेदो गम्यते। ‘सोऽपि
तस्य आत्मा भिन्नः’—इति चेत्। नैतदेवं, विशेषमुपलभमानै-
रेवं शक्यं बह्वुम्, न च, अस्य विशेष उपलभ्यते।

“ननु अयमेव विशेषो यत्, एकोऽपि विनष्टः, एकोऽपि
वर्तते। ‘न विनष्टः’—इति यदुच्यते*, तन्न, प्रागस्य उप-
सर्गभवात्, सत्त्वे प्रमाणं नास्ति, तस्मात् विनष्टः। न च,
प्रत्यभिज्ञायते तद्द्रव्यातिरिक्तः, भेदानुपसर्गभात्। ‘कथं हि
‘चलति’—इति प्रत्ययः—इति?’ चेत्। उच्यते,—देशान्तरे
सम्यतिपत्तिदर्शनात्, तत् देशान्तरं गच्छत् आगच्छच्च ‘चलति’
—इत्युच्यते, तत्र गन्तापि प्रत्यक्षाः, देशान्तरमपि, तेन गतम्
—इति च उच्यते, आगतः—इति च उच्यते”। सत्यं,

भा. विनष्टादविनष्टोऽन्यः, योऽपि तु असावन्यः, सोऽपि यजतिशब्द-
वाच्य एव, यजतिसामान्यं न भिद्यते, न च शब्देन न उच्यते ।
तस्मात् योऽपि नीवारणं कुर्यात्, तेनापि चोदितमेव ह्यतः,
चोदितं च कुर्वत् ईप्सितं भवति, न अपूर्वह्यतः । नामधेयं
च दर्शयति 'दर्शः'—इति वा 'पूर्णमासः'—इति वा अस्यैव
सामान्यस्य, यथा सत्त्वेषु सामान्यस्य नामधेयं, न व्यक्तीनाम् ।
किं प्रयोजनं चिन्तायाः? उत्तरेणाधिकरणेनैतत् विचार्यते ॥
(६।३।३ अ०) ॥

नित्यकर्मणोऽनित्यप्रारम्भकर्मणश्च द्रव्यापचारे प्रतिनिधित्वा समापनाधिकरणम् ॥

स. श्रुतिप्रमाणत्वाच्छिष्टाभावे नागमोऽन्यस्याशिष्ट-
त्वात् ॥ १३ ॥ (पू०) ॥

भा. अग्निहोत्रादीनि नित्यानि कर्माणि, उदाहरणं । तेषु श्रुत-
द्रव्यापचारे भवति सन्देहः,—किं प्रतिनिधिम् उपादाय प्रयोगः
कर्तव्यः, उत तदन्तं कर्म उत्सृष्टव्यम्?—इति । किं प्राप्तम्?
—शिष्टस्य अभावे 'न आगमोऽन्यस्य', तदन्तमेव उत्सृष्टव्यम् ।
कुतः? । 'अशिष्टत्वात्', यत् प्रीक्षितव्यगुणकं श्रुतं फलवत्, तत्
नीवारगुणकं क्रियमाणम् अप्रफलकं भवति, तस्मात् तदन्तमेव
उत्सृष्टव्यम्—इति ॥

स. क्वचिद्विधानाञ्च ॥ १४ ॥ (यु०) ॥

भा. क्वचित् विधीयते,—'यदि सोमं न विन्देत् पूतीकानभिपुणु-
यात्'—इति, यदि च प्रतिनिधिम् उपादाय प्रयोगः कर्तव्यः
स्यात्, न विधीयेत! विधीयते तु, तस्मात् यच्च न विधीयते,
न तत्र प्रतिनिधिः—इति ॥

स आगमो वा चोदनार्थाविशेषात् ॥ १५ ॥ (सि०) ॥

भा 'आगमो वा' प्रतिनिधेयस्य द्रव्यस्य । कुतः ? 'चोदनार्था-
विशेषात्', यजतिचोदनाचोदितो हि अर्थो न विशिष्यते
नोतिभिर्नोवारैर्वा क्रियमाणः, यागस्य अवश्यकर्तव्यो नित्येषु
अनित्येषु च मारुतधेयु ॥

स नियमार्थः क्वचिद्विधिः ॥ १६ ॥ (यु०) ॥

भा अथ यदुक्तं,—'क्वचित् विधानात्'—इति । उच्यते,—'निय-
मार्थः क्वचित् विधिः', सोमाभावे बह्व्यु सदृशेषु प्राप्तेषु नियमः
क्रियते,—पूतोका एवाभिपोतव्या—इति । तस्मात् प्रतिनिधिम्
'उपादाय प्रयोगः कर्तव्यः—इति ॥

स तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि ॥ १७ ॥ (आ० नि०)

भा कथम् पुनरिदम् अवगम्यते,—नियमार्थमेव तदवचनम्?—
इति । उच्यते,—यतः प्राप्ताः पूतीकाः । कथं च ते प्राप्ताः ?
'तच्चिकीर्षा हि', तच्च सादृश्यचिकीर्षा—इत्येतत् वक्ष्यामः,
तच्चिकीर्षया च प्राप्ताः पूतीकाः । तस्मात् 'तन्नित्यं', वचनमेतत्
नियमाय नित्यम्—इति गम्यते ॥ (६।२।४ अ०) ॥

देवतागन्धक्रियावाक्पचारे प्रतिनिधत्वाधिकारम् ॥

स न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थसंयोगात् ॥ १८ ॥
(सि०) ॥

भा देवता 'आग्नेयोष्ठाकपालः'—इत्येवमाद्याः, अग्निः, 'यत्
आदपनीये जुहति तेन योगस्य अभीष्टः प्रीतो भवति'—इति ।
शब्दो (मय) 'यद्देवसदनं दामि'—इत्येवमादिः, प्रियाः

भा. 'समिधो यजति', 'तनूनपातं यजति'—इत्येवमाद्याः। तत्र सन्देहः,—देवताग्नि-शब्द-क्रियाणाम् अपचारे प्रतिनिधिः उपादेयः, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—पूर्वाधिकरणन्यायेन प्रतिनिधायान्यत्, प्रयोगः कर्तव्यः—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'न' देवताग्नि शब्द-क्रियाणाम् अपचारे प्रतिनिधिना भवितव्यम्—इति। कुतः?। 'अन्यार्थसंयोगात्', प्रतिनिधीयमानम् अन्यत् एतेभ्यः, अन्यच्च* तेषामर्थं न शक्यतां कर्तुम्। कथं तेषाम् अर्थः?। देवता तावदुद्देशेन अर्थं साधयति, अग्निम् उद्दिश्य, अष्टाकपालः पीर्णमास्या-ममावास्यायां च त्यजते। यच्च अन्येषु हविःषु विहितं, न ततो दर्शपूर्णमासौ भवतः, तत्र अन्या उद्दिश्यमाना न श्रुताया उद्दिश्याया अर्थं कुर्यात्, न हि अन्यस्याम् उद्दिश्यमानायां दर्शपूर्णमासौ भवतः। तस्मात् न देवता प्रतिनिधीयते।

तथा, 'यत् आहवनीये जुहति'—इत्याहवनीयापचारे न अन्योऽग्निः प्रतिनिधातव्यः, अन्यत् वा द्रव्यम्—इति। कुतः?। 'अन्यार्थसंयोगात्', प्रतिनिधीयमानम् आहवनीयकार्यं न वर्तते। कथम्?। अदृष्टम् आहवनीयस्य कार्यम्, आहवनीयस्य उपरि त्यज्यमाने यत् भवति, न तत् अन्यस्य उपरि; न हि, यजतिशब्देन सामर्थ्यात् तत् गृह्यते, यस्योपरि त्यज्यते, न हि, उपरि त्यज्यमानस्य देशः किञ्चित् उपकरोति—इति। तस्मात् न अग्नेः प्रतिनिधिः।

तथा, मखापचारे न अन्यो मखः प्रतिनिधीयते, मखस्य हि एतत् प्रयोजनम्, यत् स्मरयति क्रियां साधनं वा, असति स्मरणे न क्रिया संवर्तते, तत् अपचरिते भवे यदि तस्यार्थं

* अन्यच्च इति पाठः ड० घ० पु० एवं वा० भो० पुस्तके नास्ति ॥

† अपिर्तमिति वा० भो० पु० पाठः ॥

भा अन्यं शब्दम् उच्चारयति* पूर्वं प्रतीतेर्भ्यं शब्दम् उच्चारयन्, न शब्देनार्थं प्रतीयात्! अथ प्रतीतमपि पुनः प्रतिनिधिशब्दोच्चारणेन प्रतीयात् (शब्दात् प्रतीतिं कुर्यात्), एवञ्च प्रतिनिधि-शब्दोच्चारणानुरोधोऽनर्थकः स्यात्; न हि, शब्देन प्रत्यापयितव्यम्—इति किञ्चित् प्रमाणमस्ति, यत् अस्ति, तत् विशेषैवा-नेन शब्देन बहिर्वादिना—इत्येवं, तदभावे शब्दान्तरानुरोधोऽनर्थकः स्यात्। तस्मात् न शब्दस्य प्रतिनिधिः।

क्रियापचारे न क्रियान्तरम्, 'अन्यार्थसंयोगात्', समि-दयजिमन्तो दर्शपूर्णमासौ कर्तव्यौ, तौ अन्यस्यां क्रियमाणयां न तदन्तौ भवतः। तस्मात् क्रियायां न प्रतिनिधिः—इति॥

स. देवतायां च तदर्थत्वात् ॥ १८ ॥ (यु०) ॥

भा देवतायाम् अपरो विशेषः, येन न प्रतिनिधीयते, देवता नाम, यदर्थं किञ्चित् चोद्यते, सा; अन्या तस्याः स्थाने प्रतिनिधीयमाना न देवता स्यात्, चोदिता हि देवता भवति, न अचोदिता, सम्बन्धिशब्दस्य एव, या यदर्थं चोद्यते, सा तस्यैव देवता, न अन्यस्य; 'देवता'—इति सम्बन्धिशब्दो न जातिशब्दः। तस्मादपि न देवतायाः प्रतिनिधिः—इति॥ (६।३।५ अ०) ॥

८:

प्रतिपिङ्गवस्य प्रतिनिधित्वाभावाधिकरणम् ॥

स. प्रतिपिङ्गं चाविशेषेण हि तच्छ्रुतिः ॥ २० ॥

भा. अथ यत् प्रतिपिङ्गम्—'अयज्ञिया वै वरकाः कोद्रवा', अयज्ञिया वै मायाः—इति, किं नत् श्रुतद्रव्यापचारे प्रति-

भा. निधातव्यम्, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—प्रतिनिधेयम्—
इति, “आगमो वा चोदनार्थाविशेषात्” (६।३।१५ सू०)—
इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘प्रतिषिद्धं च’ न प्रतिनिधातव्यम्
—इति, अविशेषेण हि एतत् उच्यते,—न यज्ञार्हो माषा
वरकाः कोद्रवाश्च—इति, यज्ञसम्बन्ध एषां प्रतिषिध्यते० नैते
यज्ञाद्गन्धं नेतव्याः—इति, प्रतिनिधीयमानाश्च अद्गन्धं
नीता स्युः । तस्मात् न एते प्रतिनिधातव्याः—इति ॥ (६।
३।६ अ०) ॥

स्वामिन प्रतिनिधभावाधिकरणम् ॥

स. तथा स्वामिनः फलसमवायात् फलस्य कर्मयोगि-
त्वात् ॥ २१ ॥

भा. अग्निहोत्रादीनि कर्माणि उदाहरणं । तेषु स्वामिनि अप-
चरति सन्देहः,—किम् अन्यः प्रतिनिधातव्यो न?—इति ।
किं प्राप्तम्?—प्रतिनिधातव्यः—इति । कुत?। “आगमो वा
चोदनार्थाविशेषात्”—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘तथा स्वामिनः’
स्यात् । कोऽर्थः?। न प्रतिनिधिः । कुतः?। ‘फलसमवायात्’,
योऽर्थो स्वत्यागेन चत्विजः परिक्रीणीते, यश्च एवं प्रदेयं
त्यजति, स स्वामी, यदि स प्रतिनिधीयते, स्वामिना यत्
कर्तव्यं, तत् सर्वं कुर्यात्, तत् सर्वं कुर्वन्, स्वाम्येव स्यात्, न
प्रतिनिधिः; स एव हि फलेन सम्यध्यते । य उत्सर्गं करोति,
स फलवान् भवति, तदुक्तं,—“शाखफलं प्रयोक्तारि” (३।७।
१८ सू०)—इति । तस्मात् न स्वामिनः प्रतिनिधिः—इति ॥
(६।३।७ अ०) ॥

सचे कस्यचित् स्वामिनोऽपचारे प्रतिनिध्यादानाधिकरणम् ॥ (सजन्मत्वात्) ॥

स वह्मनां तु प्रवृत्तेऽन्यमागमयेद्वैगुण्यात् ॥ २२ ॥

भा. सचाणि उदाहरणं,—‘सप्तदशावराः सचमासीरन्’—इति, तेपु कस्मिंश्चित् स्वामिनि अपचरति सन्देहः,—किं तर्च अन्य-प्रतिनिधातव्यः, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—न स्वामिनि प्रतिनिधिः—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘वह्मनां’ यजमानानां प्रवृत्ते कर्मणि, अपचरिते कस्मिंश्चित् स्वामिनि अन्यमागमयेत् । कुतः? । एवम् अवैगुण्यं भवति—इति, स्वामिगता सप्तदशादि-सङ्ख्या तत्र अङ्गं, तथा विना कर्म विगुणं, तत्सम्पादनाय अन्यः आगमयितव्यः ।

‘ननु स्वामिगता सङ्ख्या, न तु आगम्यमानः स्वामी—इति वक्ष्यामः; तेन अशक्यैव सा सङ्ख्या उपादातुम्’—इति । उच्यते,—स्वामिगता न हि भविष्यति, न हि सा शक्या कर्तुम्—इति; इदं तु शक्यं कर्तुम्, ये स्वामिनां पदार्थाः, ते इह सप्तदशावरे कर्तव्याः—इत्येतत् उपादातं भविष्यति । तस्मात् प्रतिनिधातव्यं तच्च—इति ॥ (६।३।८ अ०) ॥

सचे प्रतिनिहितस्वामिनाधिकरणम् ॥

सः स्वामी स्यात् तत्संयोगात् ॥ २३ ॥ (पू०) ॥

भा. तस्मिन् आगम्यमाने इदानीं सन्देहः,—किम् अस्मीं स्वामी, उत कर्मकरः?—इति । किं प्राप्तम्?—‘स स्वामी स्यात्’ । तस्मात्? । ‘तत्संयोगात्’, तेन (स्वामित्वेन) संयोगः, यो हि अस्मीं आनीयते, स स्वामी क्रियते, स्वामिनि अपचरिते अन्यो यदि स्वामी क्रियते, ततः स प्रतिनिधिः ह्यतो भवति । तस्मात् स्वामी—इति ॥

स. कर्मकरो वा भृतत्वात्* ॥ २४ ॥ (सि०) ॥

भा. 'कर्मकरो वा' स स्यात्। कुतः?। 'भृतत्वात्', भृतो हि
असौ तैः शिष्टैः स्वामिभिः प्रयुक्तः, परिक्रीयमाणो न स्वामी
भवति, यः फलं प्राप्नोति, सः स्वामी, यः परस्त्रोपकारे वर्तते,
स कर्मकरः, नैव असौ फलं प्राप्नोति। कुतः?। यो हि
आरभ्य परिसमापयति, स फलवान्, एष हि आख्यातार्थः,
स हि उपब्रामप्रवृत्तिः अपवर्गपर्यन्तम् आह। 'ननु तेषां तत्र
विगुणं कुर्वन्ति, सप्तदशानां स्वामिनामभावात्, तस्मात् तेषां
न स्वामिनः, नो चेत् स्वामिनः, न फलं प्राप्नुवन्ति'। उच्यते,
न सप्तदशावराः फलसमवाये भवेयुः—इति श्रूयते, न सङ्ख्या
फलपरिप्लवे गुणभूता। किन्तुहि?—पदार्थेषु, सप्तदशावरैर्याज-
मानाः पदार्थाः कर्त्तव्याः—इति, ते च प्रतिनिधित्वेन क्रियन्ते,
अफलत्वेऽपि च सत्यं सङ्कल्पं कर्तुम् अन्यमानयन्ति। आनीय-
मानस्य च न तेन प्रयोजनम् ॥

स. तस्मिंश्च फलदर्शनात् ॥ २५ ॥ (यु०) ॥

भा. 'तस्मिंश्च दिष्टां गतिं गते फलं दर्शयति,—'यो दीक्षितानां
प्रमीयेत अपि तस्य फलम्—इति। तस्मात् कर्मकरः—इति ॥
(६।२।८ अ०) ॥

सचे प्रतिनिधित्वस्य यजमानधर्मप्रादित्वाधिकरणम् ॥

स. स तद्वर्मा स्यात् कर्मसंयोगात् ॥ २६ ॥

भा. बहूनां कस्मिंश्चित् अपचरिते प्रतिनिधेयोऽन्यः—इत्येतत्

भा समधिगतम्, इदम् इदानीं तत्र सन्दिग्धं,—किम् असौ स्वामि-
धर्मा स्यात्, उत षट्विग्धर्मा?। किं प्राप्तम्?—षट्विग्धर्मा।
कुतः?। परार्थे हि स यजति, यश्च परार्थं यजति, स षट्विक्-
—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘स तद्वर्मा स्यात्’ (स्वामिधर्मा),
तस्य हि कार्यं श्रूयते, यश्च यस्य कार्यम् अधितिष्ठति, स तद्वर्मे
सम्बध्यते, यथा सुग्धर्मे.* स्वधितिरिति ॥ (६।३।१० अ०) ॥

शुतद्रव्यापचारे तत्तद्वर्गस्यैव प्रतिनिधित्वाधिकरणम् ॥

सू० सामान्यं तच्चिकीर्षा हि ॥ २७ ॥

भा श्रुते द्रव्ये अपचरति प्रतिनिधिम् उपादाय प्रयोक्तव्यम्—इति
स्थितम्। तत्र सन्देहः,—किं यत्किञ्चित् द्रव्यं उपादाय प्रयोगः
कर्तव्यः, उत सदृशम्?—इति। किं प्राप्तम्?—यत्किञ्चित् उपा-
दाय—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘सामान्यं यच्च गृह्यते, तत्
उपादातव्यं सदृशम्—इति। कुतः?। सर्वे हि आह्वतिवचना-
शब्दाः, आह्वतिश्च यद्यपि अङ्गभावेन श्रूयते, तथापि न साक्षात्
तस्याः क्रियां प्रत्यङ्गभावः। यत्तु क्रियासाधनं द्रव्यमर्थादङ्गभूतं
प्राप्तं, तत् परिच्छिन्दतो क्रियाया अङ्गभावं याति, यत्किञ्च
आह्वत्या विशेषा, परिच्छिद्यन्ते, ते विशेषा अङ्गभूताः, अथ
तस्या आह्वतावपचरितायाम् अर्धप्राप्तं द्रव्यं गृहीतव्यमेव,
यस्मिंश्च सदृशे गृह्यमाणे तेषां विशेषाणां केचित् संगृहीता
भवन्ति, स तत्र लाभो लभ्यते—इति, तत्सदृश द्रव्यम् उपादातव्यं
भवति। तस्मात् नीक्षीणाम् अपचारे नीवारा, प्रतिनिधेया-
—इति ॥ (६।३।११ अ०) ॥

* सुवधर्मेति का० को० पु० पाठः ॥

† यत् किञ्चित् प्रतिनिधिम् इति क० म० पु० पाठः। यत् किञ्चित् प्रतिनिधिमिति
आ० को० पु० पाठः ॥

द्रव्यापचारे वैकल्पिकद्रव्यान्तरानुपादानाधिकरणम् ॥

स निर्देशात्तु विकल्पे यत्प्रवृत्तम् ॥ २८ ॥ (सि०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्निपोमीयः, 'यो दीक्षितो यत् अग्निपोमीयं पशुमालभते'—इति। तत्र श्रूयते, 'खद्विरे पशुं वध्नाति पालाशे वध्नाति रौद्धितके वध्नाति'—इति। तत्र कदाचित् खद्विरगुणके प्रयोगे आरब्धे खद्विरो विनष्टः, तत्र सन्देहः,—किं वैकल्पिकस्य उपादानम् उत खद्विरसदृशस्य?—इति। किं प्राप्तम्?—वैकल्पिकस्य—इति। कुतः?। स हि श्रुतः, खद्विरसदृशो न श्रूयते, तस्मात् वैकल्पिकस्य उपादानम्—इति।

एवं प्राप्ते घूमः,—'विकल्पे यत् प्रवृत्तं', तत्सदृशम् उपादेयं, यत् प्रवृत्तं यस्मिन् प्रयोगे, तत् निर्दिष्टं, तत् अङ्गभूतं, वैकल्पिकम् अनङ्गम्। आश्रितखद्विरे प्रयोगे पालाशरौद्धितकावनङ्गभूतौ, तौ न शक्येते यदा खद्विरः, तदा एव कर्तुम् अशक्यं च अश्रुतं। तस्मात् आश्रितखद्विरे प्रयोगे इतरौ न उपादेयौ, अनङ्गभूतत्वात्, खद्विरस्य सदृशम् अन्वेषितव्यम्—इति ॥

स — अशब्दमिति चेत् ॥ २९ ॥ (आ०) ॥

भा 'इति चेत्' पश्यसि,—खद्विरसदृशम् उपादेयम्—इति, अशब्दमेवं ह्यतं भवति। तस्मात् शब्दवत्त्वात् वैकल्पिकम् उपादेयम् ॥

स नानङ्गत्वात् ॥ ३० ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदेवम्, अनङ्गं तस्मिन् प्रयोगे वैकल्पिकं, आश्रितखद्विरो

भा हि स प्रयोगो, यो निर्दिष्टः, तस्य निर्देशात् इतरावश्रुती ।
 “ननु निर्देशाभावेऽङ्गभावविरोधः, तेन श्रुती—इति । ‘किम्
 श्रुतः?’ । यद्येषम्, यदा उपात्तस्य अभावः, तदा श्रवणम् ।
 नैतदेवं, नैमित्तिकं हि तथा प्रतिज्ञायेत, सति वचने* निमित्ते,
 असति खद्विरे इतरौ श्रुतौ—इति । तत्र को दोषः? । स एव
 अपेक्षितोऽनपेक्षितश्च—इति विरोधो भवेत्, संस्काराश्च खद्विरे
 कर्तव्याः, खद्विरसदृशे तदुद्घा गृह्यमाणे श्रुतबुद्ध्या कृता भवन्ति,
 वैकल्पिकेन तु श्रुतेन असम्बद्धाः† । तस्मात् उपात्तसदृशो याज्ञः
 —इति ॥ (६।३।१२ अ०) ॥

पूतिकस्य सोमप्रतिनिधित्वाधिकरणम् ॥

स वचनाच्चान्याय्यमभावे तत्सामान्येन प्रतिनिधिर-
 भावादितरस्य ॥ ३१ ॥

भा. इदमामनन्ति, ‘यदि न सोमं विन्देत् पूतीकानभिपुण्यत्’—
 इति । तत्र सन्देहः,—किम् अयमभावे निमित्ते विधिः, उत
 प्रतिनिधिनियमः?—इति । किं प्राप्तम्?—अभावे विधिः—
 इति । कुतः? । विधानात्, न हि प्रतिनिधिर्विधीयते, साध-
 सिद्ध्ये साधनं स्वयमेवोपादीयते, इदं तु विधीयते, तत्
 कल्पान्तरपक्षे अर्थवत् भवति । तस्मात् न प्रतिनिधिः ।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘प्रतिनिधिः’ स्यात् । कुतः? । विन्दे
 हि साधने साधसिद्ध्यर्थं साधनान्तरम् उपादीयते, श्रुतस्य
 अभावात् । ‘ननु अन्यास्याः पूतीकाः, अन्यद्वि सदृशान्तर-
 मस्ति’—इति । तदुच्यते,—‘वचनात्’,—सदृशे प्राप्ते, वक्तुं
 वा असदृशेषु पूतीका अपसदृशा नियम्यन्ते । कथम्? । तद्वि

* अति निमित्तवचने इति वा० त्री० पु० ॥

† अश्रुतेन सम्बद्धा इति वा० स० पु० एवं वा० सो० पु० ॥

भा. प्रक्रान्तं कर्म अवश्यं कर्तव्यं, तस्याम् अवस्थायाम् अन्तरेणैव वचनं प्रतिनिधेयं द्रव्यान्तरं प्राप्तमेव, प्राप्ते वचनं न विधिः— इति गम्यते; प्राप्तस्य अनुवादो भवितुमर्हति। 'किमर्थम् अनुवादः?—इति चेत्'। उच्यते,—अपसादृश्यम् अप्राप्तं, तदिधानार्थम् अनुवादः। मयोजनं पक्षोक्तं, प्रतिनिधिपक्षे सोमसदृशस्य उपादानं पूतीकविनाशे, द्रव्यान्तरविधौ पूतीक-सदृशम् उपादेयम् ॥ (६।३।१३ अ०) ॥

प्रतिनिधिपक्षारे उपासदृश्यसदृशस्य पुनः प्रतिनिधिनाधिकरणम् ॥

स. न प्रतिनिधौ समत्वात् ॥ ३२ ॥

भा. इदं विचार्यते, श्रुते द्रव्ये उपात्ते अपचरिते प्रतिनिधिम् उपादाय मयोगः प्राप्तः, यदा सोमस्य विनष्टः प्रतिनिहितः, तदा किं प्रतिनिधिसदृशम् उपादेयम्, उत उपात्तस्य विनष्टस्य?— इति। किं प्राप्तम्?—प्रतिनिहिते विनष्टे तत्सदृशम् उपादेयं पूर्वेन न्यायेन। एव प्राप्ते ब्रूमः,—'प्रतिनिधौ' 'न' स्यात् प्रतिनिधिः—इति। कुतः?। 'समत्वात्', यद्यैव असौ पूर्वः प्रतिनिहितः श्रुतचिकीर्षया, न प्रतिनिधिचिकीर्षया; एवम् अयमपि श्रुतचिकीर्षया, न प्रतिनिधिचिकीर्षया। तस्मात् न प्रतिनिधिसदृशम् उपादेयम् उपात्तनष्टस्य एव सदृशोन्वेपितयः—इति ॥ (६।३।१४ अ०) ॥

श्रुतस्यापि प्रतिनिधेरपक्षारे उपासदृश्यस्य पुनः प्रतिनिधिनाधिकरणम् ॥

स. स्यात् श्रुतिलक्षणे नियतत्वात् ॥ ३३ ॥ (पू०) ॥

भा. अथ श्रुतिलक्षणे कथं? यथा, 'यदि सोमं न विन्देत् पूतीकान् अभियुज्यात्'—इति, पूतीकेषु विनष्टेषु पूतीकसदृशम् उपा-

भा देयम् उत सोमसदृशम्?—इति । किं प्राप्तम्?—‘स्यात्
श्रुतिलक्षणे’ प्रतिनिधौ प्रतिनिधिसदृशस्य उपादानं कर्तव्यम्
सोमाभावे पूतीकव्यक्तयो विहिता, स चायं श्रुतः सोमाभावः ।
तस्मात् पूतीकव्यक्तय उपादेयाः—इति ॥

स ‘न, तदीप्सा हि ॥ ३४ ॥ (सि०) ॥

भा नेतदेव, न हि पूतीकव्यक्तीनामीप्सा, पूतीकेषु यत् सोम
सादृश्यं, तन्नियम्यते, तथा हि पूतीकविधानं दृष्टार्थम्, असदृश
विधानेऽदृष्ट कल्प्येत । अतो यस्मिन् तत् अपूतीकसदृशेऽपि द्रव्ये
भवति तत् यद्वीतव्यं, न पूतीकसादृश्यमाद्रियेत—इति ॥ (६।
२। १५ अ०) ॥

मुख्यापचारे तत्प्राप्तौ तस्यैवोपादानाधिकरणम् ॥

स मुख्याधिगमे मुख्यभागमो हि तदभावात् ॥ ३५ ॥

भा अथ यत्र विनष्टे श्रुते प्रतिनिधिम् उपादातुम् प्रस्थितो
मुख्यमेव उपलभते, तत्र किं प्रतिनिधिमेव उपाददीत, उत तमेव
मुख्यम्?—इति । किं तावत् प्राप्तं?—प्रतिनिधिं उपादातव्यं
—इति, एवसङ्कल्पितवानसौ प्रतिनिधिम् उपाददान एव सत्य-
सङ्कल्पो भवति । तस्मात् प्रतिनिधातव्यम्—इति । एव प्राप्ते
ब्रूम, —‘मुख्याधिगमे’ तमेव उपाददीत, अभावे हि श्रुतस्य,
अनुकल्पः, प्रतिनिधिः, श्रुते हि सकला व्यक्तयः, प्रतिनिधौ
विकलाः । अथ यदुक्तं,—सङ्कल्पभेददोष—इति, श्रुतेषु अस्मै
शिष्टविगर्हणाया वा ॥ (६। २। १६ अ०) ॥

प्रतिनिधिना प्रारब्धे कर्मणि श्रुतद्रव्यत्वात्पि प्रतिनिधिनैव समापनाधिकरणम् ॥

ख प्रवृत्तेऽपीति चेत् ॥ ३६ ॥ (पू०) ॥

भा. अथ अग्निहोत्रादिषु कर्मसु श्रुतद्रव्यापचारे प्रतिनिधौ उपात्ते कृतेषु केपुचित् संस्कारेषु यदि तदेव श्रुतम् उपलभ्येत, किं श्रुतम् उपादीयेत, उत तेनैव प्रतिनिहितेन समापयितव्यम्?—इति । किं प्राप्तम्?—श्रुतम् उपादीयेत प्रवृत्तेऽपि, तदुक्तम्, “आगमो हि तदभावात्”—इति । तस्मात् न प्रतिनिधातव्यम्—इति ॥

ख नानर्थकत्वात् ॥ ३७ ॥ (सि०) ॥

भा. नेतदेवं, येन हि खदिराभावे कदरे पशुर्नियुक्तो भवति, अथ खदिरम् उपलभते, प्रवृत्तेर्भवे किं खदिरेण कुर्यात्? अर्थाथं हि खदिरोपादानं न खदिरोपादानार्थमेव । तस्मात् न श्रुतम् उपादीयेत ॥ (६।३।१७ अ०) ॥

भत्वपि सन्धारयेत्येवमुक्ती मुष्मन्निवोपादानाधिकरणम् ॥

ख द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं तदर्थत्वात् ॥ ३८ ॥

भा. प्रवृत्ते पशुकर्मणि, यूपकाले अस्ति महत्कदरं द्रव्यं तच्चणादि-संस्कारक्षमं, अस्ति खदिरद्रव्यम् अनेवज्ञातीयकं । तत्र किम् उपादेयम्?—इति । संस्कारा न परिशोभ्यन्ते—इति कदर उपादीयेत—इति ।

एवं प्राप्ते भूमः,—‘द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं’ इति आद्रियेरन्, न संस्कारान् । कुतः? । ‘तदर्थत्वात्’, संस्कारा हि द्रव्यं कर्म-योग्यं कुर्वन्ति, तत्र संस्कारपरिशोषे द्रव्यमपि नावत् गृह्यते, द्रव्याभावे न द्रव्यं, न संस्काराः, द्रव्यं तेषां दारुं वचनप्रामा-

भा. एयात्, तदभावे नष्टद्वारं न अपूर्वं गच्छेयुः । तस्मात् खदिरम्
उपाददीरन्—इति ॥ (६।३।१८ अ०) ॥

प्रयोजनाद्योग्यस्य मुख्यस्य सर्वेऽपि प्रतिनिध्यादानाधिकारणम् ॥

ख. अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे तदुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थ-
शेषत्वात् ॥ ३९ ॥

भा. अस्ति यूपकाले खदिरलता पशोरप्रागल्भ्ये न समर्थाः,
कदरद्रव्यं तु तत् समर्थं । तत्र सन्देहः,—किम् उपादेयं
खदिरद्रव्यम्, उत कदरद्रव्यम्?—इति । खदिरद्रव्यम्—इति
आह, तद्वि श्रुतं, तत् उपाददानः शास्त्रविहितं करोति,
प्रतिनिधौ अश्रुतकारी स्यात् । तस्मात् न प्रतिनिधातव्यम्
—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘अर्थद्रव्यविरोधे’ अर्थे प्रति
आदत्तत्वं, तदर्थं हि द्रव्योपादानं नियोजनात्, अप्रागल्भ्यं
पशोः भविष्यति—इति, न द्रव्यमेव उपादीयेत—इति, कदरम्
उपाददानो द्रव्यश्रुतिं बाधते, अर्थे तु अनुगृह्णाति, खदिर-
लताम् उपाददानः उभयं बाधते । तस्मात् कदरद्रव्यम् उपा-
देयम्, द्रव्याभावे हि तदुत्पत्तिः (प्रतिनिधेरुत्पत्तिः) उक्ता,
द्रव्याणि अर्थे प्रति शेषभूतानि ॥ , (६।३।१८ अ०) ॥

प्रधाननिर्वाचकत्वे चानिर्वाचापयोजनस्यापि मुख्योपादानाधिकारणम् ॥

ख. विधिरूप्येकदेशे स्यात् ॥ ४० ॥ (पू०) ॥

भा. सन्ति ब्रौह्मणः, यावन्तो द्रवदानमूर्चं निर्वर्तयन्ति, तथा
सन्ति नीवाराः शेषकार्याणाम् अपि पर्याप्ताः, तत्र किम्
उपादेयम्?—इति । किं प्राप्तम्?—‘अपि’ ‘एकदेशे’—इव-

भा. दानमात्रेऽपि निर्वर्त्यमाने प्रतिनिधिः उपादेयः। किंकारणम्?।

शेषकार्याणां सम्पत्तिर्भविष्यति—इति ॥

अपि वाऽर्थस्य शक्यत्वात् एकदेशेन निर्वर्त्तितार्थ-
नामविभक्तत्वाद्गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात् ॥ ४१ ॥
(सि०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षस्थावृत्तिः। 'एकदेशेन' ब्रोहीणां
प्रधानमात्रं निर्वर्त्तयितव्यम्। कुतः?। 'अर्थस्य शक्यत्वात्',
योच्चार्यो, येन कार्ये तत्तावत् निर्वर्त्त्यते, शेषकार्याणि यदि
न शक्यानि, न अङ्गानुरोधेन प्रधानस्य गुणो बाधितव्यः।
तत् हि अङ्गं, यत् प्रधानस्य उपकरोति, न यत् अपकारे
वर्त्तते। तत्र च शेषकार्याणि क्रियमाणानि प्रधाने ब्रोहित्वं
गुणं विह्वल्युः, ब्रोहित्वं च प्रधाने साक्षादङ्गभूतं श्रूयते,—
'ब्रोहिभिर्यजेत'—इति। तस्मात् न तेषु अङ्गानुरोधः कार्यः,
अस्ति हि अङ्गप्रधानविभागे एतत् एवं स्यात्, अस्ति हि
असौ। तस्मात् न प्रतिनिधिः—इति। तथा च अन्यार्थ-
दर्शनमपि भवति, 'तदेव यादृक् तादृक् द्योतयम्'—इति ॥
(६।३।१८ अ०) ॥

इति ओशवरसामिनः छती मीमांसामाग्ये षष्ठस्याध्यायस्य
ततीयः पादः ॥

पष्ठे अध्याये चतुर्थः पादः ॥



अवदानाशे पुनरवदानार्थम् प्रतिनिध्यादानाधिकरणम् ॥

स शेषात् द्रवदाननाशे स्यात्तदर्थत्वात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां
पीर्णमास्या वाऽच्यते भवति’—इति । तत्र यदि द्रवदान-
मात्रम् उद्धृतं ध्यापयते, किं शेषात् पुनरवदेयं, न?—इति
भवति सशयः । किं प्राप्तम्?—‘द्रवदाननाशे’ ‘शेषात्’ पुनरव-
देयं । कुतः? । ‘तदर्थत्वात्’, अग्नये हि तद्धविः, अग्नये
यागो निर्वर्त्तयितव्यः—इति, तद्रवदाने विनष्टे यागः कर्त्तव्य
एवावतिष्ठते, प्रयोजनं च यागेन । स च आग्नेयेन क्रियमाणः
श्रुतः एवाभिनिर्वर्त्तितो भवति—इति किमिति न क्रियेत ।
तस्मात् शेषात् अवदातव्यम्—इति ॥

स निर्देशादान्यदागमयेत् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. अथ ‘वा अन्यत्’ हवि ‘आगमयेत्’ न शेषात् अवदातव्यम् ।
कुतः? । ‘निर्देशात्’, निर्देशो हि भवति,—‘मथात् पूर्वाह्णात्
अवदेयम्’—इति, द्रवदानं च होमसम्बद्धं, ‘द्रवदानं जुहोति’
—इति, तत्र अन्यत् शिष्ट मध्यस्य पूर्वाह्नस्य विशेषणार्थं । यच्च
तद्द्वोमसयुक्तं तदिनष्टं, तच्छेषेण क्रियमाणममध्येनापूर्वाह्णेन च
कृतं स्यात्, ‘ननु अवत्ते यत् शिष्टं ततो मथात् पूर्वाह्णाच्च
दृष्टीप्यत’ । उच्यते, एतच्च यत् मध्यं पूर्वाह्णे च तद्विहितं,
न इतरस्य ।

अथ वा ‘निर्देशात्’—इति, विनष्टे हि अन्यत् इत्थं निर्दि-
श्यते,—‘यस्य सर्वाणि हवींषि नश्येयुः दुष्येयुर्वा अपहरयुर्वा’

भा. आज्येन ता देवताः परिसङ्ख्याय यजेरन्—इति हविषो नाशे
आज्य प्राप्तम् । तेन न शेषात् अवदातयम्—इति ।

अपर आह,—शेषनिर्देशात्—इति, निर्दिश्यते हि तच्छिष्ट-
मपरेभ्यः 'शेषकार्येभ्यः'—इति, तत्र उपपद्यते, न हि तानि
शेषकार्याणि हवींषि प्रयोजयन्ति, न च अग्निवृत्तप्रयोजनं
हविरन्यत्र प्रतिपाद्यम् । तस्मात् न अयमर्थः ॥ (६।४।
१ अ०) ॥

स्त्रिष्टकद्वयं स्यात्तस्य नाशे पुनरवदानाधिकरणम् ॥

सू. अपि वा शेषभाजां स्याद्विशिष्टकारणत्वात् ॥ ३ ॥

भा. अथ स्त्रिष्टकद्वयमवत्तं यदि विनश्यति, तत्र किं शेषात्
अवदेयम् उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—पुनः शेषात् अव-
देयम्—इति । कुतः? । न अत्र द्वात्स्रस्य उत्तरार्द्धादवदीयते* ।
कस्य तर्हि? । सन्निहितस्य, सति हि प्रयोजने सन्निहितस्य
अवदेयम्—इति, तस्मात् अवदीयमाने श्रुतं दत्तं भवति ।
तस्मात् शेषात् अवदेयम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'शेषभाजां स्यात्' लोपः । कुतः? ।
'विशिष्टकारणत्वात्', विशिष्टं हि कारणं तस्य अवदाने, कथं
प्रतिपाद्येत?—इति; प्रतिपत्तिश्च विविक्तकरणेन उपकरोति,
तस्य विविक्तकरणाय प्रतिपाद्यमानस्य नियमोभयं स्त्रिष्टकद्वयेन
प्रतिपादयितव्यः, तथा हि स प्रतिपादितो भवति; स यदि
होमायोद्धृतो विपद्येत, दृते विवेके न पुनर्यहणं प्रयोजयेत्,
प्रतिपाद्यमानस्य स्त्रिष्टकद्वयेन प्रतिपादयितव्यः—इति, प्रति-
पाद्यमानाभावात् लोप एव स्त्रिष्टकतः स्यात्, प्रधाने दृते शिष्टं

* उत्तरार्द्धं दृते इति आ० सो० पु० पाठः ॥

† तस्य इति क० सं० पु० ॥

भा. सर्वशेषकार्यसाधारणम् । तत्र एकस्य उद्धृती शिष्टम् अन्यत्र
प्रतिपादनीयम् ॥ (६।४।२ अ०) ॥

अविज्ञानेव शेषमक्षणाधिकरणम् ॥

सू. निर्देशाच्छेषमक्षोऽन्यैः प्रधानवत् ॥ ४ ॥ (पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र भक्षाः प्राशित्र-चतुर्द्धाकरणं श्रयुवाक-
कालाः । तेषु सन्देहः,—किम् अन्ये एव तेषां भक्षयितारः,
उत प्रकरणगताः?—इति । किं प्राप्तम्?—‘शेषमक्षोऽन्यैः’
अप्रकरणस्यैः कर्तव्यः । कुतः? । ‘निर्देशात्’, निर्दिश्यन्ते हि
अध्वर्त्वादयः इडाभक्षे, ‘यजमानपक्षमा इडां भक्षयन्ति’—
इति, सर्वेषु भक्षयितृषु प्राप्तेषु परिसङ्ख्यानार्थो निर्देशः कियते,
—इडामेव एते भक्षयेयुः—इति, यथा ‘आग्नेयोऽष्टाकपालः’—
इति सर्वस्मिन् अवयविनि यागानियमे प्राप्ते इवदानमात्रं
श्रूयते, विधिर्वा न, प्राप्तत्वात्, न अनुवादोऽनर्थकत्वात्, परि-
सङ्ख्या तु अर्थवत्त्वाय; एवमेषां परिसङ्ख्या—इति । अपि च
यदि प्रज्ञाता एव भक्षयेयुः, अश्वमेधे दोषः स्यात्, बद्धत्वात्
भक्षाणां, भक्षयन्तो न्वियेरन् ॥

सू. सर्वेषां समवायात्स्यात् ॥ ५ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘सर्वेषां’ प्रकृतैरेव भक्षयेत, तद्धि भक्षणं पुरुषसंस्कारार्थं,
पुरुषाः संस्कृताः प्रचरिष्यन्ति—इति । तेषु विनिगमनाया
अभावात् यावन्तः प्रकरणे संवेताः, ते सर्वे भक्षयेयुरिति ॥

सू. निर्देशस्य गुणार्थत्वम् ॥ ६ ॥ (आ० नि० १म) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—‘निर्देशात्’—इति, गुणार्थः सः,—अन्ये कर्म-

भा. करत्वात् एव प्राप्ताः, तत्र यजमानः तेषां पञ्चमो वचनात् निर्दिश्यते, तत्प्राप्तयै चेदं वचनम्; ततो न परिसङ्ख्या ॥

सू. प्रधाने श्रुतिलक्षणम् ॥ ७ ॥ (आ० नि० २५) ॥

भा. यत्तु ह्यवदानमात्रं प्रधाने निर्दिश्यते, तत् वन्ननप्रामाण्यात् परिसङ्ख्यानाथे, न हि तत्र कस्यचित् अपूर्वस्य विधिः, इह यजमानो विधीयते, विधिपरिसङ्ख्यासंशये विधिर्न्यायान्। तत्र स्वार्थे शब्दः, परिसङ्ख्यायां त्रयो दोषाः,—स्वार्थज्ञानम्, अस्वार्थपरिग्रहः, प्राप्तवाधश्च—इति। तस्मात् प्राकृता एव भक्षयेयुः—इति ॥

सू. अर्थवदिति चेत् ॥ ८ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—अश्वमेधे विरोधः स्यात्, वज्रत्वात् भक्षाणाम्—इति, तत्परिहर्तव्यम् ॥

सू. न चोदनाविरोधात् ॥ ९ ॥ (आ० नि० ३५) ॥

भा. अश्वमेधे न सर्वे भक्षयिष्यन्ति, अर्थात् सर्वे भक्षयन्तोऽश्वमेधं न समापयेयुः, तत्र अश्वमेधश्रुतिः प्रत्यक्षा, सा विरुध्यमाना चोदकप्राप्तं सर्वभक्षणं बाधते, प्रकृतौ तु न विरोधः। तस्मात् सर्वे प्रकृता भक्षयेयुः—इति ॥ (६।४।३ अ०) ॥

लक्ष्मिकदेवमेधे प्रायश्चित्तानुष्ठानाधिकरणम् ॥

सू. अर्थसमवायात्प्रायश्चित्तमेकदेशेऽपि ॥ १० ॥
(सि०) ॥

भा. स्तो दशपूर्णमासौ, तत्र आमनन्ति, 'भिन्ने जुहोति, स्कन्ने जुहोति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं हात्स्ने भिन्ने स्कन्ने च

भा. प्रायश्चित्तम्, उत एकदेशेऽपि भिन्ने स्तूत्रे च?—इति । किं पुनः सर्वभिन्नम्, किम् एकदेशभिन्नम्?—इति, चूर्णीकृतम् अयोग्यं प्रयोजनाय, छत्स्विभिन्नम्; यत् शकले विगतेऽपि प्रयोजनसमर्थम्, तत् एकदेशभिन्नम्—इति । किं प्राप्तम्?—एकदेशभित्तेऽपि 'प्रायश्चित्तम्' । कस्मात्? । 'अर्थसमवायात्', समवेतं तत्र भेदनम्, एकदेशभिन्नमपि भिन्नम्—इति, एवं प्राप्ते निमित्ते नैमित्तिकं कर्तव्यं भवति ॥

सू. न त्वशेषे वैगुण्यात्तदर्थं हि ॥ ११ ॥ (पू०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं ध्यावर्तयति । 'न' 'अशेषे' भिन्ने प्रायश्चित्तं स्यात्, विनष्टसंस्कारार्थं हि प्रायश्चित्तम् । कुतः? । एतद्भेदनवता प्रयोजनमस्ति, न होमेन, तेन संस्कृतेन प्रयोगः करिष्यते—इति प्रायश्चित्तम् क्रियते, न च, तेन चूर्णीकृतेन प्रयोगः शक्यते कर्तुम् । तस्मात् प्रायश्चित्तम् अनर्थकम् । एकदेश-भिन्नेन तु संस्कृतेन शक्यते प्रयोगः, तस्मात् एकदेशभिन्ने प्रायश्चित्तम् स्यात्—इति ॥

सू. स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वादतद्धर्मो नित्यसंयोगान्न हि तस्य गुणार्थेनानित्यत्वात् ॥ १२ ॥ (उ०) ॥

भा. 'स्यात् वा' प्रायश्चित्तं, छत्स्विभिन्नेऽपि । कुतः? । 'प्राप्त-निमित्तत्वात्', प्राप्तं हि निमित्तं भेदनं, प्राप्ते च निमित्ते नैमित्तिकं कर्तव्यम् । यच्च उक्तं,—ध्यापनसंस्कारार्थं प्रायश्चित्तम्—इति, न अयं तस्य धर्मः । कुतः? । 'नित्यसंयोगात्', नित्यवत् होमः, अनित्यं हि भेदनं, न हि नित्यम् 'अनित्यस्य उपकर्तुम्' चोद्यते, यदि नित्यं दशपूर्णमासयोरङ्गं नानित्यस्य उपकाराय । कुतः? । कदाचित् अनित्यं नैव स्यात्, तत्र कथं तस्य उपकारकं भवेत्? । तत्र को दोषः? । न शक्यं

भा. नित्येन उपकर्तुम्, तेन 'नित्यम् उपकुर्यात्'—इति वचनं प्रलाप एव। अथ नैमित्तिकं, न दोषो भवति। तस्मात् अस्मात्पक्ष एव। अस्मिन् पक्षे यदा भिन्नं, तदा होमः, यदा न भिन्नं, तदा नेव होमो विधीयते; भवदीये पक्षे भवति दोषः, नित्यानित्ययोर्नास्ति सम्बन्धः—इति। अतस्मात् भिन्नमात्रे प्रायश्चित्तम्—इति ॥

सू. गुणानाञ्च परार्थत्वाद्वचनात् व्यपाश्रयः
स्यात् ॥ १३ ॥ (यु०) ॥

भा. असति वचने न गुणो गुणार्थो भवितुमर्हति, प्रकरणतः सर्वे प्रधानार्थम्, भिन्नमपि होमोऽपि, न च भिन्नम् आधारभावेन* उपदिश्यते, भिन्नस्य आधारभावे हि न होमान्तरं विधीयेत। प्रधानस्य एव हि तदा भिन्नो गुणः—इति गम्यते, तत्र आहवनीयसंयोगो बाधेत। 'वचनाद्विकल्पः'—इति चेत्। न, निमित्तत्वेन सम्भवात्, होमस्य च श्रुत्या विहितत्वात्, यदा होमो विधीयते, तदा श्रुत्या, यदा भिन्नो गुणः, तदा वाक्येन। तस्मात् न आधारो भिन्नः। 'यद्युच्येत,—निमित्तपक्षेऽपि न होमान्तरं, प्रकृतस्यैव होमस्य निमित्तं विधीयेत'—इति। तन्न, अनुपादीयमानं हि निमित्तम्—इत्युच्यते, यदि हि विधीयेत, निमित्तमेव तत् न स्यात्। यदि च यस्यापि निमित्तं सोऽपि उद्दिश्येत, तत्र द्वयोः उद्दिश्यमानयोः सम्बन्धः एव न स्यात्। न च, अत्र भेदनं कुर्यात्—इति विधीयते, भेदने निर्दृष्टे यदन्यत् श्रूयते, तद्विधीयते ॥

सू. भेदार्थमिति चेत् ॥ १४ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ उच्येत,—एवमुपायं तत्कपालं सन्धीयते, 'गायत्र्या

भा. त्वा अताक्षरया सन्धीत—इति तत्कपालं सन्ध्याम्—इति ।
तत्र वक्ष्यामः,—

सू. शेषभूतत्वात् ॥ १५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न भेदतस्य शेषभूतं युज्यते, न तत् सन्धातुम् शक्यते होमेन
मन्त्रेण वा । नृदापि सन्धीयमानस्य भिन्नबुद्धिर्नैवापेयात् ॥

सू. अनर्थकश्च सर्वनाशे स्यात् ॥ १६ ॥ (यु०) ॥

भा. 'सर्वनाशे च श्रूयते,—'भिन्नम् कपालमाप्तुं प्रवहन्ति'—इति,
तत्र अनर्थकः संस्कारः । 'ननु तत् उद्धृत्योपधायिष्यते' । न
—इति ब्रूमः,—'अन्यत् उपदधाति'—इति हि आमनन्ति ।
तस्मात् नैमित्तिकं कमाङ्गं 'भिन्ने जुहोति'—इति ॥ (६।४।
४ अ०) ॥

धामे सर्वदाहे प्रायश्चित्तानुष्ठानाधिकरणम् । (धामेष्टिन्याय) ।

सू. क्षामे तु सर्वदाहे स्यादेकदेशस्यावर्जनीय-
त्वात् ॥ १७ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'अथ यस्य पुरोडाशौ क्षायतः तं
यज्ञं वरुणो गृह्णाति, यदा तद्विः सन्तिष्ठेत अथ तदेव हवि-
र्निर्वपेत्, यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तः'—इति । तत्र सन्देहः,
—किं सर्वक्षामे प्रायश्चित्तं, उत एकदेशे क्षामे?—इति । किं
प्राप्तम्?—प्राप्तनिमित्तत्वात् हत्स्ने वा एकदेशे वा । एवं प्राप्ते
ब्रूमः,—'क्षामे तु सर्वदाहे स्यात्'—इति । तुशब्दः पक्षं स्थावर्त-
यति, क्षामे सर्वदाहे प्रायश्चित्तं स्यात् । कुतः? 'एकदेशस्य
अवर्जनीयत्वात्', न शक्यते एकदेशक्षामता यर्जयितुम्, नियत-
मग्निमंयोगे दाक्षस्य सूक्ष्मा अवयवाः क्षीयन्ते, तत्रेष्टं च

भा. कपालेषु अधः पाकाद्यं पुरोडाशोऽधिशीयते, उपरि च अङ्गारा अभ्युच्चते, तदवजनीयं, निमित्तत्वेनापि श्रूयमाणं नित्यमेव स्यात्। तत्र 'यस्य'—इति निमित्तश्रवणम् विवक्षितं स्यात्। तस्मात् सर्वं चाग्ने प्रायश्चित्तम्—इति ॥

स. दर्शनाद्वैकदेशे स्यात् ॥ १८ ॥ (आ०)* ॥

भा. न च एतदस्ति,—सर्वदाह्ये प्रायश्चित्तम्—इति, एकदेशे चायति, भवितुमर्हति, निमित्तं हि उपसम्प्राप्तं चाणं नाम, एकदेशचाणमपि चाणमेव*, यदि तत्र न क्रियते, श्रुतं न क्रियेत, न च एतत् युक्तम्। अपि च दर्शयति,—'यदा तद्विः सन्तिष्ठेत, अथेतदेव हविर्निर्वपेत्'—इति, तेनैव हविषा संस्थानं दर्शयति, तत् सर्वं चाग्ने न अवकल्पते। तस्मात् एकदेशे एव चायति प्रायश्चित्तम्—इति ॥

स. अन्येन वैतच्छास्त्रादि कारणप्राप्तिः ॥ १९ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। न च एतदस्ति,—यदुक्तम्,—
एकदेशेऽपि चायति प्रायश्चित्तम्—इति, किन्तुर्ह?—हृत्पञ्चामे
एव प्रायश्चित्तं, उपसंप्राप्तं हि निमित्तं, यत् शास्त्रोक्तं 'पुरोडाशौ
चायतः'—इति, हृत्पञ्चस्य चातिः न अवयवस्य, न च एकदेश-
चामे, तस्य अवर्जनीयत्वात्। अथ यदुक्तं,—चामेण हविषा
समाप्तिर्दृश्यते,—'यदा तद्विः सन्तिष्ठेत'—इति; उच्यते,
संस्थाने निमित्ते प्रायश्चित्तं, यदाप्यन्येनापि हविषा तत्
संस्थाप्यते, तदापि प्रायश्चित्तम्—इति न दोषः ॥

* हृत्पञ्चापमपि चाणमेवेत्यधिकं वा० श्री० पुस्तकसंशोधन न सञ्चते ।

सू. तद्विःशब्दान्नेति चेत् ॥ २० ॥ (आ०) ॥

भा. एवं 'चेत्' उच्यते,—अन्येन हविषा यदा संस्थाप्यते—इति, नैवं, 'तद्विःशब्दात्', तद्विःशब्दोऽपि भवति, 'यदा तत् हविः सन्तिष्ठेत'—इति; अत्र अन्येन हविषा संस्थाप्यमाने तद्विःशब्दो न अवकल्पेत—इति ॥

सू. स्यादन्यायत्वादिज्यागामी* हविःशब्दः तस्मिन् संयोगात् ॥ २१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'स्यात्' 'इज्यागामी हविःशब्दः' 'तद्विः सन्तिष्ठेत' (तद्विष्क कर्म सन्तिष्ठेत)—इति। 'ननु मुख्याभावे गौणो गृह्यते, न अन्यथा'—इति। उच्यते, मुख्याभाव एव अयम्। कथं?। यदा सन्तिष्ठेत, तत् कर्म तेन हविषेति वाक्यमिद्येत! अवाचकं च स्यात्! कर्मैव हि सन्तिष्ठते, न हविः, तेन निमित्तम्, 'तत् हविः'—इत्यनुवादः। अनुवादस्येत् अन्यहविष्केऽपि कर्मणि संस्थिते प्रायश्चित्तम्—इति गम्यते। 'कथं पुनर्हविःशब्दः कर्मणि वर्तते?'—इति। 'तस्मिन्संयोगात्', हविःसम्बद्धं कर्म हविःशब्देन हविःसम्बन्धात् अवगम्यते, यथा प्रसङ्गकारितया देवदत्तसम्बद्धया लक्ष्यते सिंहः, एवं हविषापि कर्म लक्ष्यते। तस्मात् हस्त्वक्षामे प्रायश्चित्तम्—इति ॥ (६।४।५ अ०) ॥

एकहविराजःवपि पञ्चरात्रविर्वापाधिकरणम् ॥

सू. यथाश्रुतीति चेत् ॥ २२ ॥ (पू०) ॥

भा. 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—इति श्रूयते, तत्र

* अन्यायत्वान् इति का० शी० पुलकैर्नास्ति।

† हविषु एव बुद्धिपल्लवाम् इति आ० हो० प० पाठः।

भा. इदमस्ति वचनं,—‘यस्य उभयं हविरार्तिमार्चेत् ऐन्द्रं पञ्च-
शरावमोदनं निर्वपेत्’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् उभय-
स्मिन्* आर्त्ते पञ्चशरावो निर्वप्यः, उत अन्यतरस्मिन्?—
इति । किं प्राप्तम्?—‘इति चेत्’ पश्यसि,—एवञ्जातीयके
एकस्मिन्—इति ।

तत्र ब्रूमः,—उभयोः—इति । कुतः?। ‘यद्यायुति’ भवितु-
मर्हति, यत् यत् श्रूयते, तत् अवगम्यते, उभयोश्चात्तो श्रूयते,
श्रूयमाणं च विवक्षितम् न्याय्यम्, इतरथा यावदेव हविः—
इति तावदेव उभयं हविः—इति स्यात् । तस्मात् उभयो-
रार्त्त्यां पञ्चशरावः—इति ॥

ख. न तस्मैक्षणत्वादुपपातो हि कारणम् ॥ २३ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदेवं, ‘उपपातो हि’ आर्त्तिभग्वद्द्रव्यं, तत् ‘कारणं’,
तस्य लक्षणं हविरार्त्तिः, तत् व्यस्तं समस्तं च निमित्तं, न हि
उभयशब्देन शक्यं विशिष्टम्, विशिष्यमाणे हि वाक्यग्निद्येत,
—हविषः आर्त्तो पञ्चशरावः, स च उभयस्य हविषः—इति ।

‘आह, यदि विशेषणं न मृष्यते, हविषापि ते विशेषणं
न प्राप्नोति’ । तदभिधीयते,—मृष्यामहे हविषा विशेषणम्,
अविशेष्यमाणेऽनर्थकं स्यात्, ‘यस्य आर्त्तिमार्चेत्’—इत्यविशेष्ये
यत्किञ्चित्—इति गम्यते, तत्र सर्वस्य एव किञ्चित् आर्त्ति-
मृच्छति, अन्ततश्चरितं निमित्तपितं चिन्तितम्—इति, तत्र
‘यस्य’—इति निमित्तवचनं नित्यमनुपपन्नं गम्यते । तस्मात्
अवश्यमार्त्तिविशेष्यथा, सा च हविषा विशिष्यते, तथा हविः

* उभयस्मैति का० श्री० पु० पाठः ।

† ‘एवञ्जातीयके समानार्थमिति’ इति पाठः ख० सं० पु० एवं वा० सो० पु० पाठः ।

‡ अविशेष्यमाणे दन्तिद्विदिति मध्येति इति का० श्री० पु० पाठः ।

§ चिन्तितमिति का० श्री० पु० मृच्छेति नास्ति ।

भा. आर्त्तिसम्बन्धनिर्दत्तिर्निमित्तं पञ्चशरावस्य ; शक्नोति हि श्रुत्या तं सम्बन्धं वक्तुम् । हविरुभयसम्बन्धं तु वाक्येन ब्रूयात्, दुर्बलं च वाक्यं श्रुतेः ।

‘ननु हविरार्त्तिसम्बन्धोऽपि वाक्येन एव’ । उच्यते, आर्त्ति-
निर्दत्तिरस्ति तत्र गम्यते, सा च श्रुत्या, हविरुभयसम्बन्धेऽत्यन्तं
श्रुतिरुपवर्ज्यते । तस्मात् न तत्सम्बन्धो निर्वर्त्यमानो नि-
र्दिश्यते—इति । ‘कथं तर्हि उभयशब्दः?’ । ‘उभयम्’—इति
नित्यानुवादः, एकस्मिन् अप्यार्त्तं अपरस्मिन् अपि । तस्मादुक्तं
‘यस्य उभयं हविरार्त्तिसम्बन्धम्’—इति ।

‘अथ कस्मात् न पदद्वयविशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तं प्रतीयते?—
इति, यस्य उभयगुणविशिष्टं हविरार्त्तिसम्बन्धम्—इति’ । अत्र
उच्यते, कथं तावत् भवान् मन्यते, विशिष्टेन अर्थेन विशिष्टा
आर्त्तिर्निमित्तम्?—इति । ‘आह, विशिष्टार्थस्य सन्निधानात्
विशिष्टोऽर्थो आर्त्तिसन्निहितः’ । किंपुनः स्यात् यद्येवं भवेत्? ।
‘तत उभयविशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तम्—इति गम्यते’ । अत्र
उच्यते, इदं तावत् देवानाम्भियः प्रष्टव्यः, यस्यापि हि
विशिष्टार्थः आर्त्तिसन्निहितो भवति, किं तस्याविशिष्टो दण्डैः
पराणुद्यते? । ‘किम् अतो यत्र पराणुद्यते?’ । एतदतो भवति,
अविशिष्टगताप्यार्त्तिर्निमित्तं पञ्चशरावस्य भवति । ‘ननु उभय-
शब्दो हविरुभयेष्वप्यस्ति’ । न, हविःशब्देनासम्बन्धमानः तत्र
शक्नोति विशेषम् । ‘आनन्तर्यात् सम्भत्स्यते तर्हि’ । तथापि
न समर्थः, न हि असौ निवृत्तिं प्रयोजयति ।

‘आह, विशेषवचनत्वात् तन्निवर्त्तको भविष्यति ; यथा
शुक्ला गौरानीयताम्—इति, न, एवम् अभिहिते कृष्णाम्
आनयन्ति, शुक्लशब्दः एनां गां कृष्णादिभ्यो निवर्त्तयति’ ।
उच्यते, विषम उपन्यासः, न तत्र गवाकृत्या द्रव्यं लक्षयित्वा,
तस्यानयनम् उच्यते, तत्रापि चेदेवम् अभविष्यत्, नैव एनां

ग. शुक्लशब्दो* व्यशेद्यत, उभयविशेषणविशिष्टं तु तत्र आनयनं प्रधानम् उच्यते, इह पुनरातिहविद्वलक्षिते द्रव्ये पञ्चशरावः । 'किं पुनः कारणम्, प्रधानभूते आख्यातार्थे संक्षृत्य विशेषणं भवति, परार्थे पुनर्विद्युज्य?—इति' । उच्यते, प्रधानभूते आहतिर्गुणो वा तत्सम्बन्धार्थम् उच्यते, तत्र उभयविशेषण-विशिष्टः एकस्मात् वाक्यात् अवगम्यते, तद्विशिष्टं च हत्वा हती भवति, अन्यतरविशिष्टं कुर्वन् अश्रुतं कुर्यात्, यत्र पुनराहति-लक्षिते द्रव्ये आख्यातार्थः कीर्त्यते, तत्र सर्वेष्वेव तज्जातीयेषु उक्तो भवति, न तत्र एकस्मिन् निर्दिष्टे हतां मन्येत, अपरस्मिन् अपि हि आहतिलक्षिते तत् उक्तमेव, तत्र उक्तम् अप्रतिपिद्वं च किमिति न क्रियेत? आख्यातार्थे पुनः प्रधाने न तस्य आहति-लक्षितेन सम्बन्धः, तत्र तदाहतिकान्तरे अनुपसंख्यमाणेऽपि हतमेव प्रधानं, सगुणं च प्रधानं भवति, न च किञ्चित् श्रुतं ह्यीयेतेति, तस्मात् तत्र विशेषणं युक्तं, न तु इह तथा, इह हि 'हविराहतिकस्य द्रव्यस्य आत्तो पञ्चशरावः'—इत्युक्तं, तत्र शक्यं विशेषवचनेन प्रतिषेधावाचकेन निवर्तयितुम् ।

अपि च उभयशब्दे हविषा सम्बध्यमानेऽपि नैव उभयविशिष्टा आर्त्तिः प्रतीयते । 'किंकारणं? । हविषा उभयशब्दः सम्बध्यते, न 'आर्त्तिमाहत्'—इत्यनेन पदेन, तत्र सन्निहितेऽपि उभयशब्दे हविःशब्दस्य यावानर्थः, तावतैवात्तिः सम्बध्यते, अविशिष्टश्च तत्र अर्थः । तस्मात् न उभयविशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तम्—इति ।

'अथ आर्ष्याश्रयविभक्तियोगात् उभयशब्दस्य, उभयविशिष्टा आर्त्तिः—इत्युच्यते' । तच्च, विभक्तिसंयोगो हि हविर्विशेषणम् उभयशब्दं शङ्कयात् कर्तुम्, समभिध्याहारात्, न आर्त्तिविशेषणं, न हि, अस्य आर्ष्या हविर्विशिष्टस्य समभिध्याहारोऽस्ति ।

भा. 'अथ उच्यते,—असत्यपि समभिव्याहारे आर्त्तिशब्दसन्निधानात् तद्विशिष्टेवार्त्तिः प्रत्येक्ष्यते'—इति । तन्न, असत्यां हि आकाङ्क्षायां सन्निधानम् अकारणं भवति, यथा भार्या राज्ञः, पुत्रयो देवदत्तस्य—इति । 'एकवाक्यगतत्वात् तद्विशिष्टं गम्यते—इति चेत्' । नैतदेवम्, एकस्मिन् अपि वाक्ये तदवयवभूतस्य अनपेक्षितस्य नैव भवति सम्बन्धः, यथा, अश्वेन व्रजति श्वेतेन पटेन आवृतः—इति, न अनपेक्षितस्य अश्वस्य श्वेत्यं विशेषणं भवति ।

• 'अथ उच्यते,—आर्त्तिविशिष्टेन हविषा उभयस्य सम्बन्धः'—इति । तदपि नोपपद्यते, न हि 'आर्त्तिमार्च्चेत्'—इति हविर्विशेषणत्वेन उपादीयते, किन्तु हि?—पञ्चशरावरस्य निमित्तत्वेन, हविरार्त्तः उभय पञ्चशरावसम्बन्धे यौगपद्येन अभ्युपगम्यमाने वाक्यमिद्येत ।

'अथ हविः आहूतिलक्षितेन सम्बद्धं, 'मार्च्चेत्'—इति पुनः हविर्विशिष्टेन उभयशब्देन सम्बध्येत' । तथापि वाक्यमिद्येत । तस्मात् न उभयविशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तम् ।

'आह, यथैव व्याख्यातार्थप्राधान्ये उभयविशिष्टा उच्यते—इति न अन्यतरविशिष्टा निमित्तम् गम्यते, एवम् इतरस्मिन् अपि पक्षे उभयविशेषणविशिष्टा सा उच्यते—इति यद्यपि स्वेन आत्मनाविशिष्टा, तथापि अन्यतरविशिष्टा भवन्ती न निमित्तं भवितुमर्हति—इति, को विशेषः?'—इति । तदभिधीयते, सत्पक्षे उपादेयत्वेन विशेषणद्वयं, त्वत्पक्षे पुनर्लक्षणत्वेन । 'आह, किम् अतः, यत् लक्षणत्वेन ?' । उच्यते, एतत् अती भवति, हविराहूत्या लक्ष्यते द्रव्यं, तस्य किञ्चित् वक्तव्यम्—इति तत् अलक्षितम् उच्यमानं न विज्ञायेत कस्य स्यात्?—इति, अथ वा सर्वस्यैव द्रव्यस्य—इति गम्येत ; तस्मिन् उभयस्मिन् अभ्यविशिष्टे सति तस्य आश्रयं लक्षयितुम् हविराहूतिः उच्यते,

भा. तत्र द्वयमापतति, यत् हविराहृतिकं तदार्त्तम्—इति, यद्वा यत् हविराहृतिकं, तदुभयम्—इति, यदि तावत् यत् हविराहृतिकं तदार्त्तम्—इत्यपेक्ष्यते ततो हविराहृतिकम् उभयम् अनुभयं वा आर्त्तं निमित्तम् गम्यते। अथ यत् हविराहृतिकं तत् उभयम्—इति ततो न आर्त्तिर्हविषा विशेष्टम्। हविषा अविशिष्टमाणायां आर्त्ता उभयशब्दो हविर्विशेष्टयति—इति नैतत् अवकल्पते। 'कथम्?'—इति। एवं किल विशेष्टेन, यत् हविराहृतिकम् उभयम्—इति, तत्र पुनर्वक्तव्यम्, यत् हविराहृतिकम् उभयं, तच्चेदार्त्तम्—इति, कथं तेन विशिष्टेन आर्त्तिः सम्बन्धेत?—इति, न पुनः उभयहविःशब्दौ च आर्त्ति- विशेषणार्थम् उच्चार्येयाताम्। अथ पुनरुच्चारणं न क्रियते, तथा यद्यपि हविःशब्दः तच्चेन आर्त्त्युभयात्रयलक्षणार्थं न उच्चार्येत, अविशिष्टम् आर्त्तलक्षणं स्यात्, अविशिष्टम् उभयस्य; विशिष्टे इष्टे पुनरुच्चारणं कर्त्तव्यम्, तत्र वाक्यभेदः।

एवम् उभयशब्दो यदि आर्च्छतिना सम्बन्धेत न हविर्विशिष्टं स्यात्, तत्र अविशिष्टस्य हविष आर्त्तिर्निमित्तम्, स्यात्। अथ हविःशब्देन सम्बन्धेत, पुनरात्तिसम्बन्धार्थं हविःशब्दसहितम् उच्चार्येत, तच्चेतत्—इति वा सर्वनाम्ना निर्दिश्येत, तत्र स एव वाक्यभेदः।

उपादेयत्वे पुनर्न अन्योन्यविशेषणत्वेन प्रयोजनं; द्वयमपि आर्त्तिं विशिष्टम् उच्चार्येत, तत्र न अन्यतरविशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तम् भविष्यति; लक्षणत्वे तु अन्यतरविशिष्टा भवति—इत्येष विशेषः। अपि च, सर्वस्यैव पदस्य पदान्तरसम्बन्धे सति च, शब्दादृते तृतीयेन पदेन सत्यां गती सन्निहितेनापि सम्बन्धो न युक्तः, न हि भवति, 'भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य'—इत्यत्र राजा पुरुषविशेषणम्, असत्यान्तु गती उपादेयस्य अनेकस्यापि प्रधानेन सम्बन्धोभ्यकल्पते व्यवहितेनापि; व्यव-

भाधानात् अर्थी बलीयान्—इति, लक्षणत्वे तु, लक्षणद्वयसन्नि-
पातेऽवश्यं हेयेऽन्यतमस्मिन् अवहितो गुणो वा ह्यतथो भवति ॥
(६।४।६ अ०) ॥

होमाभिषवोभयकर्तृरेव भक्षणाधिकरणम् ॥

ख होमाभिषवभक्षणं च तद्वत् ॥ २४ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘हविर्धाने धावभिरभिपुत्याहवनीये
ऊत्वा प्रत्यक्षः परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति’—इति । तत्र
अन्येन वचनेन अभिषव उक्तः, यजतिना होमः, तौ तावत् न
विधीयते, न च तयोः क्रमः, अर्थात् एव हि स प्राप्तः ; तस्मात्
एककर्तृक होमाभिषवभक्ष्या भक्षणं विधीयते,—अभिषवे ह्यते
होमे च तत्कर्तृभिः भक्षणं कर्तव्यम्—इति । तत्र एष सन्देहः,
—किम् उभयं यः कुर्यात् स एव भक्षयेत्, उत अन्यतरेणापि
भक्षणम्?—इति । किं प्राप्तम्?—‘होमाभिषवभक्षणं च तद्वत्,
तद्वदेव स्यात्, यद्वद्विष्य आर्त्तिः । कथं ? नैतदेवम् सम्बध्यते,
—अभिपुत्य ततो ऊत्वा ततो भक्षयेत्—इति, न अनेन
अभिषवस्य होमस्य च क्रमः कीर्त्यते, अभिपुत्य ये जुह्वति, ते
भक्षयन्ति—इति, वाक्यं हि एवम्भिद्येत,—अभिपुत्य भक्षयन्ति,
ऊत्वा भक्षयन्ति—इति । तस्मात् होमाभिषवयोः परस्परेण
सम्बन्धो नास्ति—इति एकेनापि भक्षणं सम्बध्येत, अपरेणापि,
अभिपुत्य भक्षयन्ति*—इति । तस्मात् अन्यतरेण निमित्तेन
भक्षणं भवति—इति ॥

ख उभाभ्यां वा न हि तयोर्द्विर्गमशास्त्रम् ॥ २५ ॥ (सि०) ॥

भा उभाभ्यां वा निमित्ताभ्यां भक्षयेत्, न भक्षणं होमाभिषवयो-

भा धर्मा विधीयते, किं हि स्यात् यदि तयोर्धर्मा विधीयेत? होमाभिपवौ प्रधानम्—इति भक्षणं गुणः प्रति-प्रधानं भिद्येत। अथ पुनः उभाभ्यां निमित्ताभ्या भक्षणं विधीयते, तस्मिन् विहिते एकोर्धो विहितो भवति, तेनैकं वाक्यं, तदेतावति पर्यवसितं भवति, अभिपुत्य ऊत्वा भक्षयन्ति—इति। तत्र एतदवान्तरं वाक्यं, 'ऊत्वा भक्षयन्ति'—इति, न च महावाक्ये सति अवान्तरवाक्यं प्रमाणं भवति, पदान्तरस्य बाधनात्, यथा, 'नोद्यन्तमादित्यनीक्षेत'—इति प्रतिषेधो गम्यते महावाक्यात्, अवान्तरवाक्यात् ईक्षणविधानम्। तस्मात् अन्यतरनिमित्तं भक्षणम् अश्रुतं, महावाक्यात् इदम् अवगम्यते, हे निमित्ते भक्षणस्य—इति, भक्षणं च अन्यथा कुर्वन् श्रुतं परित्यजेत्। तस्मात् उभाभ्यां भक्षणम्—इति ॥ (६।४।७ अ०) ॥

पुनराधानं प्रति वज्रानुगमद्वयस्य निमित्ताधिकरणम् ॥

स पुनराधेयमोदनवत् ॥ २६ ॥ (पू०) ॥

भा अग्निहोत्रे श्रूयते,—'यस्योभावनुगतावग्री अभिनिच्छोचेत्, यस्य वाग्भ्युदियात् पुनराधेयमेव तस्य प्रायश्चित्तिः'*—इति; तत्र सन्देहः,—किम् अन्यतरानुगमने पुनराधेयम्, उत उभ्यानुगमने?—इति। किं प्राप्तम्?—'पुनराधेयमोदनवत्' स्यात्, यथा पञ्चशरावोऽन्यतरस्य आर्तो भवति, एवं पुनराधेयम् अन्यतरानुगमने भवितुमर्हति, वाक्यभेदप्रसङ्गात्—इति, यथा इह यद्ये, इह सुष्ठतं करिष्यामि—इत्येवमेवाभिसम्बन्धः—इति ॥

* आहवनीयगार्हपत्यावुभावग्री अनुगतौ नष्टौ यदा भवतस्तदा स्वर्यस्य अस्तमय उदयो वा यदि भवेत तदा पुनराधेयं कार्यमित्यर्थ इति माधव ॥

† इत्येवमेव तत समिन्वते इति का० श्री० पू० पाठः ॥

स. द्रव्योत्पत्तेर्वोभयोः स्यात् ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. द्रव्ये विनष्टे. तस्यैव द्रव्यस्य उत्पत्तिरत्र प्रायश्चित्तं, तस्य*
दृष्टं प्रयोजनं, कथं द्रव्यं भवेत्?—इति पुनराधानं क्रियते;
तत्र एष धर्मो,—दावग्रो सद्य उत्पद्येते, न पृथक्त्वेन; तत्र,
अन्यतरानुगमने न शक्यते एक आधातुम्, विगुणं स्यात्।
'अथ द्वितीयमप्यादधोत'। स यदि तावदाहवनीयः, तत्र
आहवनीयोऽन्यो होमार्थो विद्यते एव—इति न स होमाय
स्यात्। यच्च होमार्थम् उत्पाद्यते स आहवनीयः, यत एव
संस्कारशब्दः, संस्कारशब्दश्च एकेनापि संस्कारेण विना न
भवति, एषोऽपि च संस्कारः, यत् होमार्थता, 'यत् आहवनीये
जुहोति'—इति श्रूयते, तत् एकस्मिन् अनुगते, एकस्मिन्
आधीयमाने वैगुण्यं, द्वयोरपि हि वैगुण्यमेव। तस्मात् न
एकस्मिन् अनुगते पुनराधेयम् अशक्यत्वात्—इति ॥ (६।४।
८ अ०) ॥

पञ्चशरावनिर्वापस्य कर्मान्तरताधिकरणम् ॥

स. पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः
स्यात् ॥ २८ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'यस्य उभयं हविरार्तिमार्च्छेत्
ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं
हविषि आर्त्ते पञ्चशरावः प्रतिनिधिः, उत निमित्ते कर्मान्तरम्?
—इति। 'कथं प्रतिनिधिः, कथं कर्मान्तरम्?'—इति। यद्येवम्
अभिसम्बन्धो भवति,—पञ्चशरावं निर्वपेत् (कुर्यात्)—इति,

भा ततः साम्नायस्य कार्ये पञ्चशरावः प्रतिनिधिः—इति; अथ न पञ्चशरावो निर्वपतिना, किन्तु देवतया सम्बध्यते* पञ्चशरावम् ऐन्द्रं कुर्यात्—इति, ततो निमित्ते यजतिर्विधीयते ।

किं तावत् प्राप्तम्?—‘पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात्’, ‘पञ्चशरावः’ साम्नायस्य ‘प्रतिनिधिः’ । कुतः?। ‘द्रव्यश्रुतेः’, द्रव्यस्य निर्वापे श्रवणं, न इन्द्रसम्बन्धः । कुतः?। एवं निर्वापविधिर्भविष्यति, तच्च श्रुतिर्विधायिका, इतरथा द्रव्यदेवतासम्बन्धे वाक्यं स्यात्, तच्च दुर्बलं श्रुतेः । तस्मात् प्रतिनिधिः—इति ॥

छ चोदना वा द्रव्यदेवताविधिरवाच्ये
हि ॥ २६ ॥ (सि०) ॥

भा निमित्ते वा यजतिः कर्मान्तरं, ‘द्रव्यदेवताविधिः’; द्रव्यदेवतम् इह श्रूयते,—‘पञ्चशरावम् ऐन्द्रं कुर्यात्’—इति, इतरथा हि ‘ऐन्द्रम्’—इति प्रमादपाठोऽवगम्येत । ऐन्द्रमाहेन्द्रयोर्वा अयथार्थानुवादः ‘ऐन्द्रम्’—इति स्यात् । ‘अवाचे हि’ ते देवते, ऐन्द्रशब्देन इन्द्रो महेन्द्रश्च न शक्योऽनुवदितुम्; विशेषणत्वे वाक्यभेदः । ‘ननु श्रुतिर्विधीयसी’—इत्युक्तम् । सत्यमेवं, किन्तु इतरस्मिन् पक्षे बाध्यतेतरां श्रुतिः, ऐन्द्रशब्दस्य श्रुतत्वात् ॥ (६।४।८ अ०) ॥

पञ्चशरावयामस्य नैमित्तिकदर्शयागावृत्ताधिकरण

छ स प्रत्यामनेत्स्यानात् ॥ ३० ॥ (पू०) ॥

भा. स एष नैमित्तिको यागः, किम् अमावास्यां प्रति आमनेत्,

* पञ्चशरावो देवतया सम्बध्यते इति का० क्री० पु० पाठः । पञ्चशरावो न निर्वपतिना सम्बध्यते इति आ० शं० पु० पाठः ।

भा. न?—इति। किं प्राप्तम्?—‘स प्रत्यामनेत्, स्थानात्’, ‘स’ एष यागः अमावास्यां प्रति आग्नातुमर्हति। कुतः?। ‘स्थानात्’, यागे विनष्टे याग एष अयमाणा यदि न नष्टस्याङ्गं, ततोर्ध्वान् भवति; अथ अङ्गं, निष्प्रयोजनस्यार्थं क्रियमाणं निष्प्रयोजनमेव भवितुमर्हति, विगुणं च निष्प्रयोजनमेव, विनष्टमावास्याम्—इति प्रत्यक्षम्, इदम् अपि कर्तव्यम्—इति शाब्दं, यत् विनष्टं, तत् निष्फलम्—इति न कर्तव्यम्; इदं च कर्तव्यम्—इति प्रत्याग्नायोध्वगम्यते ॥

ख. अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात् ॥ ३१ ॥ (सि०) ॥

भा. अङ्गं वा एतत् विधीयते, हविष आर्त्तो निमित्ते यागः श्रूयते, तत्र चयमापतति,—यदा निमित्ते स्वतत्त्वं कल्प्यं फलं, यदा अमावास्याया यत् कार्यं तदस्य, यदा तस्य अङ्गम्—इति। स्वप्रधानं तावत् न, कल्प्यत्वात् फलस्य। न अमावास्यायाः कार्यं। किं कारणम्?। अथवणात्, नैवं श्रूयते,—तस्याः कार्यं वर्तते—इति, कर्तव्योपदेशेनापि न अन्यतमाध्यवसानं त्रिषु एषु पक्षेषु; तेषु च पक्षेषु विवक्षितेषु कर्तव्योपदेशोऽभवकल्प्यते।

‘ननु एवम् अभिसम्बन्धो भविष्यति,—यस्य उभयं हवि-
रार्त्तिमार्च्छेत् स एतेन यागेन साधयेत्, यत् साधयितुकामः;
किञ्च असौ साधयितुकामः, यदमावास्यायाः फलम्’—इति।
अत्र उच्यते,—फलपदेन सम्बन्धाभावात् सम्बन्धस्य विधायकं
वाक्यं, श्रुत्या च यागकर्तव्यता विधीयते, सा च वाक्यात्
बलीयसी। तस्मात् न तत्कार्यं वर्तते—इति। किन्वाहिं
प्रयोजनम्?। तस्या अमावास्याया अङ्गम्। ‘ननु एतदपि
नास्ति तस्या अङ्गम्’—इति। अत्र उच्यते,—तत्सम्बन्धेन
समाग्नानात्* तत्प्रयोगवचनेन गृह्यते, दर्शपूर्णमासाभ्यां फलं

* तत्प्रयोगवचनेन गृह्यते, दर्शपूर्णमासाभ्यां फलं

भा. साधयेत् सर्वैरङ्गैः सह, अस्यां च आर्त्तो एष याग इतिकर्तव्यता—इति । तस्मात् एवम् अवगम्यते,—विनष्टे हविषि आमा-
वार्यं यन्न शक्नोति स्वकार्यं कर्तुम्, तत् अनया इतिकर्तव्यतया
सहितं शक्नोति—इति । तस्मात् निमित्ते कर्माङ्गम्—इति ॥
(६। ४। २० अ०) ॥

सचायागूर्थाप्रवृत्त्य विश्वजिदावश्यकताधिकरणम् ॥

सू. विश्वजित्त्वप्रवृत्ते भावः कर्मणि स्यात् ॥ ३२ ॥ (सि०) ॥

भा. एतदाग्नयते,—‘सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्यः, सर्वेभ्यः
पृष्ठेभ्यः, आत्मानमागुरते, यः सचाय आगुरते, विश्वजिता
अतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत, सर्वाभ्यः एष
देवताभ्यः, सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्यः, आत्मानं निष्क्रीणीते’—इति,
सचाय आगुरते निमित्ते विश्वजित् श्रूयते । तच्च सन्देहः,—
किं सचाय आगुर्यं यः सचं प्रयुङ्क्ते, तस्य विश्वजित्, उत यो
न प्रयुङ्क्ते तस्य?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—यस्य प्रयुङ्क्ते,
यस्य न—इति अविशेषात्; अथ वा प्रयुञ्जानस्य । कुतः? ।
निमित्ते कर्माङ्गम् एवज्ञातीयकम्—इत्युक्तं, तत् अप्रयुज्य-
मानस्य कथम् अङ्गं स्यात्?—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘विश्वजित्त्वप्रवृत्ते’ भवेत्, सचस्य क्रियाया
अभावे विश्वजित् । किं कारणम्? । एवं हि श्रूयते,—‘यः
सचाय आगुरते, स विश्वजिता अतिरात्रेण यजेत’—इति,
यः सचं करिष्यामि—इत्येवम् आगुरते, स विश्वजिता यागेन
साधयेत्—इति, यदर्घम् असौ सचं कर्तुमिच्छति, तदर्घम्—
इति गम्यते । ‘कथम्? । य आगुरते, स तेन यजेत, यागेन
निर्वर्त्तयेत्—इति वाक्यार्थो गम्यते, न यागं निर्वर्त्तयेत्—इति ।
कुतः? । यागस्य गुणत्वेन अवणात् । ‘कथम् तस्य गुणत्वम्? ।

भा तृतीयानिर्देशात्, प्राधान्ये हि फलं कल्प्येत। इतरस्मिंस्तु पक्षे प्रत्यक्षात् वाक्यात् फलावगमः ॥

स निष्क्रयवादाच्च ॥ ३३ ॥ (यु०) ॥

भा एवं तच्च श्रूयते,—‘सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्यः, सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्य यत् आत्मानं निष्क्रीणीते’—इति, निष्क्रयद्वारेण च संस्तवः प्रवृत्ते न युज्यते। तस्मात् अप्रवृत्ते विश्वजित्—इति। ‘अथ कस्मात् नैवमभिसम्बन्धः क्रियते?—आगूर्यं सचाय विश्वजिता यजेत—इति, विश्वजितः सचस्य च सम्बन्धो विज्ञायेत, आगोरणवेलायाम्’—इति। नैवम्, आगोरणविशेषणं हि सचं सचविश्वजित्सम्बन्धे व्यवहितकल्पना स्यात्। श्रुतिश्च पुरुषेण विश्वजितं सम्बन्धयति,—‘विश्वजिता यजेत पुरुषः’—इति, न सचेण; सचस्य विश्वजित् यागः—इति, ‘आगूर्यं’—इति च; एवं अवणम् अर्घवत् भवति। सचाङ्गत्वे तु अर्घ्यमाप्तं न वक्तव्यम्, न च, आगूर्यं यजेत—इति आगोरणानन्तर्ये शक्यं विधातुम्, अशब्दार्थो हि तदा आश्रीयेत, समानकर्तृकता हि शब्दवती, पूर्वकालभावस्य च अर्घ्यमाप्तत्वात् न वक्तव्यता। तस्मात् ‘आगूर्यं’—इत्यत्रैव विश्वजितः सम्बन्धः, स चेत्, आगूर्यं* न सचेण यजेत तस्य विश्वजित्—इति ॥ (६।४।११ अ०) ॥

वर्धिपेत्यादिभुते इतकालविधानार्थताधिकरणम् ॥

स वत्ससंयोगे व्रतचोदना स्यात् ॥ ३४ ॥ (पू०)

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘वर्धिषा वै पूर्णमासे व्रतम् उप-
यन्ति, वरसेन अमावास्यायाम्’—इति। तच्च सन्देहः,—किं

* य आगूर्यं इति वा० जी० पू० पाठः ॥

† पूर्णमासे इतमुपयन्ति वापैरिति वा० जी० पू० पाठः । अथ इतं भोजनवर्तिन मासव ॥

भा. वत्ससाधनकं व्रतं विधीयते, उत व्रतस्य कालः—इति, अथ वत्सो व्रताङ्गम्—इति । किं प्राप्तम्?—वत्ससाधनकं व्रतं विधीयते?—इति, अमावास्यायां वत्सैव व्रतं कुर्यात्—इति, वत्स-व्रतस्योगोऽपूर्वः, स विधीयते, तस्मिंश्च विधीयमाने उभयमपि विहितं भवति वत्सो व्रतश्च ॥

ख. कालो वा उत्पन्नसंयोगात् यथोक्तस्य ॥ ३५ ॥ (सि०) ॥

भा. 'यथोक्तस्य' (वचनान्तरेण प्राप्तस्य) कालोऽयं विधीयते । कुतः? । 'उत्पन्नसंयोगात्', उत्पन्नसंयोगोऽयं व्रतस्य, न उत्पत्तिसंयोगः । कथम्? । 'अमायममांसं बज्रसर्पिष्कं व्रतं व्रतयन्ति'—इति विहितं पूर्वं व्रतम्, अमज्ञातश्च कालः, तस्मात् कालविधिरिति ॥

ख. अर्थापरिमाणाच्च ॥ ३६ ॥ (यु०) ॥

भा. न च शक्योऽर्थः परिमातुम्,—'वत्सेन व्रतम् उपयन्ति'—इति किं वत्सोऽत्र व्रतयितव्यः? (एवं वत्सेन व्रतम् उपगतं भवति), किं वत्सेन हस्तस्थानीयेन व्रतयितव्यम्?—इति (एवं तदुपेतं भवति), उत वत्सं सन्निधाय तदुपेयात्?—इति, नैव व्यवतिष्ठते शाखार्थः, करणं हि एतत् निर्दिष्टं, न इति-कर्तव्यता; एतावत् उक्तं,—वत्ससाधनं व्रतं कुर्यात् । कथम्?—इत्येतद्विशेषाकाङ्क्षमेव अवतिष्ठेत, नैव अर्थः परिच्छिद्यते, व्रते किं वत्सेन क्रियते—इति, अथ वा यदा तदेति? तथा वत्सो व्रतेन सम्बध्यमानः इष्टः स्यात्, अपरार्थतामापद्येत, परार्थतां च अथ द्योतयति विभक्तिः तृतीया, साधकतमे हि सा भवति । तस्मात् अपि काळार्थः संयोगः ॥

ख. वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात्तदङ्गं स्यात् ॥ ३७ ॥ (२)

भा. यदुक्तं,—विहितत्वात् व्रतस्य

भा० यत्तूक्तं, कालविधानार्थः—इति, तन्न, 'वत्सः' तदङ्गत्वेन विधीयते। कुतः?। 'श्रुतिसंयोगात्', वत्सेऽङ्गे विधीयमाने श्रुतिः निमित्तम्, काले लक्षणाशब्दः स्यात्। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या। तस्मात् अङ्गं वत्सः—इति ॥

ख० कालस्तु स्यादचोदना ॥ ३८ ॥ (उ०) ॥

भा० 'कालस्तु' एष निर्दिश्यते, न वत्सोऽङ्गं विधीयते, नैषा चोदना, बर्हिषा वै पौर्णमासे व्रतम् उपयन्ति, वत्सेन अमा वास्यायाम्—इति। कथम् अवगम्यते?। विधिना एकवाक्यत्वात्, परस्ताच्च विधिः समाग्न्यायते, 'पुरा वत्सानाम् उपाकर्त्तादम्पती अग्नौयताम्'—इति, यदि एषोऽपि विधिः स्यात्, वाक्यभिद्येत, अनुवादस्य तथाभूतस्य अर्थस्य भवति, न च वत्साङ्गता अप्राप्ता, अप्राप्तस्तु कालः ॥

ख० अनर्थकश्च कर्मसंयोगे ॥ ३९ ॥ (यु० १) ॥

भा० न च, शक्यो वत्सोऽव व्रतयितुम्, कर्मसंयोगे वत्सेन न अर्थशक्यते कश्चित् कर्तुम्। तस्मात् अपि न वत्सोऽङ्गम् ॥

ख० अवचनाच्च स्वशब्दस्य ॥ ४० ॥ (यु० २) ॥

भा० न च एतदुच्यते, विश्वस्य अपितं वत्सं व्रतयिष्यते—इति, न च, अस्य अर्थस्य स्वशब्दः श्रूयते, 'वत्सः'—इत्याह्वयशब्दमासे न वर्तते। तस्मात् एष कालः—इति ॥ (६।४।१२ अ०) ॥

बर्हिषेत्यायुक्तकालस्य सप्तपदसप्तयदुभयसाधारणताधिकरणम् ॥

ख० कालश्चेत्सन्नयत्पक्षे तस्मिन् संयोगात् ॥ ४१ ॥ (यू०) ॥

भा० कालार्थः संयोगः—इत्येतत् समधिगतम्; इदानीं सन्देहः—

भा किं सन्नयत्पक्षे एव काल, उत असन्नयतोर्भाप?—इति। किं प्राप्तम्?—‘सन्नयत्पक्षे’। कुत?। एव श्रूयते, ‘पुरा वत्सा-
नपाकर्त्ता’—इति, न च असन्नयतो वत्सापाकरणमस्ति,
तस्मात् सन्नयत्पक्षे एव कालः, अपाकरणम् लिङ्गम्—इति ॥

ख कालार्थत्वाद्दोभयोः प्रतीयेत ॥ ४२ ॥ (सि०) ॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, न सन्नयत्पक्ष एव, असन्नयतोर्भापे
कालः स्यात्। कुत?। ‘कालार्थत्वात्’, न वत्सापाकरणेन
व्रते किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, कालेन तु प्रयोजनं, येन च तत्र
प्रयोजनं, स लक्ष्यते। ‘कथं पुनर्वत्सापाकरणम् कालार्थम्?’—
इति, परार्थत्वात्, पयसे, हि ते अपाक्रियन्ते, तथाहि दृष्टार्थता
भवति, इतरथा अदृष्टार्थता स्यात्, तस्मात् न उपादेयत्वेन
वत्सापाकरणं श्रूयते—इति। यत्तूक्तं,—तस्मिन्संयोगात् सन्नयत्-
पक्षे एव—इति। तन्न, असन्नयतोर्भापि कालाह्वानात्, यस्यापि
न सान्नाय्य, तस्यापि वत्सापाकरणमेव न स्यात्, न तु वत्सा-
पाकरणकालोर्भापि, कालेन च न प्रयोजनं, न वत्सापाकरणेन,
यथा शङ्खवेलायामागन्तव्यम्—इति, यस्मिन्नपि ग्रामे शङ्खो न
आध्मायते, तस्मिन्नापि स तथाकालोर्भापि—इति, न आगमन
परिहास्यते। एवम् इहापि असत्यपि वत्सापाकरणे तत्काले
भिद्यमाने व्रतम्, तस्मिन् काले न परिहास्यते—इति ॥ (६।
४।१३ अ०) ॥

नञ् शाखपेत्यस्य कालं वधानं यन्ताधिकरणम् ॥

ख प्रस्तरे शाखा श्रयणवत् ॥ ४३ ॥ (पू०) ॥

भा ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां सर्गकामो यजेत—इति, तत्र श्रूयते,
‘सह शाखया प्रस्तरं महरति’—इति, तत्र सन्देहः,—किं शाखा

भा प्रस्तरस्याङ्गभूता, अङ्गप्रयोजनसम्बन्ध तयो अथ कालार्थ
सयोग प्रस्तरप्रहरणकाले शाखा प्रहर्न्या?—इति । कि
माप्त?—‘प्रस्तरे शाखा अयणवत् प्रस्तरस्य अङ्गभूता शाखा ।
कुत ?। सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति—इति, सहयुक्तेऽप्रधाने
तृतीया विभक्तिर्भवति (२ । ३ । १८ सू०), सा च शाखाया
तृतीया तस्मात् प्रस्तरस्य शाखा गुणभूता, प्रस्तरे च द्वितीया,
सहयोगे च तृतीया, तृतीया गुणत, द्वितीया प्रधानत ।
‘ननु न शाखया प्रस्तरस्य कश्चित् उपकार क्रियते । सत्यं न
दृष्टं क्रियते, किन्तु अदृष्टं क्रियते, ‘अयणवत्’, यथा ‘यस्य
मेवावर्णं श्रीणाति—इति द्वितीयातृतीयासथोगात् अदृष्टस्य
उपकारो गम्यते एवम् इच्छापि—इति ॥

ख कालविधिर्वोभयोर्विद्यमानत्वात् ॥ ४४ ॥ (सि०) ॥

भा ‘कालविधिर्वा स्यात् । कुत ?। ‘उभयोर्विद्यमानत्वात्,
प्रस्तरस्तावत् सुग्धारणार्थं माप्तो विद्यते, तस्य प्रहरणमपि
विशिष्टे काले वाक्यान्तरेण विहितं, ततः शाखाया प्रतिपाद
नार्थं, तस्य एतत् पुनर्वचनम् । ‘उच्यते, भवतु प्रस्तरस्य
पुनर्वचनं शाखा तु अत्र विधीयते—इति । उच्यते, ‘उभयो
अपि ‘विद्यमानत्वात् शाखा पूर्वं विहिता वत्सापाकरणार्था
इदानीं पुनः किं गुणभूता चोद्यते, उत प्रतिपाद्यते?—इति,
प्रतिपाद्यमानाया दृष्टं प्रयोजनं, देशवियोगात् प्रचरितुम्
अवकाशं स्यात् या यावती च मात्रा देशान्तरसयोगस्य न
दृष्टं किञ्चित् अस्ति तस्मात् प्रहरणं प्रतिपत्तिं तस्या, तस्मात्
परतः प्रयोजनाभावात् कालनियमं क्रियते* । ‘ननु तृतीया
प्रधाने भवति, सा च शाखायाम् । अत्र उच्यते, या असौ

भा. शाखायां तृतीया, सा द्वितीयार्धे; या च प्रस्तरे द्वितीया, सा तृतीयार्धे। 'कथम् अवगम्यते?। सङ्ख्योगे एकस्मिन् काले उभयमपि प्रवृत्तयम्—इति, अत्र यस्य निर्ज्ञातः कालः, तस्य अनुवादः, यस्य तु अनिर्ज्ञातः, तस्य विधिः, शाखायाश्च अनिर्ज्ञातः, प्रस्तरस्य निर्ज्ञातः, तस्य पुनरुच्चारणम् अनिर्ज्ञातार्धं, तत् अग्रधानम्; इतरस्य उच्चारणं प्रधानं, प्राधान्यं च द्वितीयार्धः, तत्र तृतीया; पारार्थ्यम् अपि तृतीयार्धः, तत्र द्वितीया। तस्मात् श्रयधार्थे विभक्तिवचनम् ॥

सू. अतस्संस्कारार्थत्वाच्च ॥ ४५ ॥ (यु० १) ॥

भा. न च, शाखया प्रस्तरस्य उपकारो दृष्टः क्रियते, काष्ठं, दृष्टमानस्य तृणस्य न उपकारे वर्तते, तृणं तु काष्ठस्य उपदुर्यात्। तस्मात् न शाखा प्रस्तरार्धा ॥

सू. तस्माच्च विप्रयोगे स्यात् ॥ ४६ ॥ (यु० २) ॥

भा. 'किं भवति प्रयोजनं, यदि प्रस्तरस्य गुणभूता, तयापि प्रस्तरप्रक्षारकास्ते शाखा प्रतिपाद्यते'—इति। उच्यते, यदि प्रस्तरस्य प्रवृत्तिमात्रस्य अङ्गभूता शाखा, ततो विना प्रस्तरेण, न प्रवृत्तया भवति; अथाङ्गभूता, विनापि प्रस्तरेण प्रवृत्तया,* अस्माभिः उक्तं प्रस्तरकामे प्रवृत्तया—इति, 'तस्माच्च विप्रयोगे स्यात्' 'तस्मात्', एव कारणात् प्रस्तरविप्रयोगेऽपि शाखायाः प्रक्षरणं स्यात्—इति ॥

सू. उपवेपथ्य पक्षे स्यात् ॥ ४७ ॥ (पू०) ॥

भा. यथा पूर्वः पक्षः, तथा सति, साध्यायै सति अस्मिन् च शाखा

भा विद्यते—इति उपवेषो सति च असति च स्यात्, यथा तु सिद्धान्तः, तथा सांन्यायपक्षे शाखा सती हि प्रतिपाद्यत—इति । तत्रैव उपवेषो न अन्यत्र—इति ॥ (६।४।१४ अ०) ॥

इति श्रीवरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठ्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

पष्ठे अथाये पञ्चमः पादः ॥

—१११—

दर्शेऽभ्युदयेऽथै नैमित्तिकदेवतापनयाधिकरणम् ॥

ख. अभ्युदये कालापराधादिज्याचोदना स्यात् यथा
पञ्चशरावे ॥ १ ॥ (पृ०) ॥

भा इदमामनन्ति, 'वि वा एनं प्रजया पशुभिरङ्घ्रयति, वर्धय-
त्यस्य भ्रातृत्वं, यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति धेधा
तण्डुलान् विभजेत् ये मधमाः स्युः, तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टा-
कपालं निर्वपेत्, ये स्यविष्टाः तान् इन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुम्,
ये चोदिष्टाः, तान् विष्णवे शिपिविष्टाय ऋते चरुम्—इति,
तत्र सन्देहः,—किं कालापराधे यागान्तरम् इदं चोद्यते, उत
तेषु एव प्रहतेषु कर्मसु निमित्ते देवतापनयः?—इति ।

किं प्राप्तम्?—'अभ्युदये' यः कालापराधः, तत्र 'इन्द्र्या-
चोदना स्यात्' । कथम्? । 'पुरोडाशमग्नये दात्रे मधमान् कुर्वते,
ये स्यविष्टाः तान् इन्द्राय प्रदात्रे दधानि चरुं कुर्यात्, चोदिष्टान्
विष्णवे शिपिविष्टाय'—इति, यजतिस्तु फलभोक्तृसंयोगादिति*
विधानं गम्यते, 'यथा पञ्चशरावे' द्रव्यदेवतासम्बन्धेन कर्मान्तरं
गम्यते, यथा पशुकामेष्ट्यां, 'यः पशुकामः स्यात्, सोऽमावा-
स्यायाम् इक्षा पशून् अपाकुर्यात्, ये स्यविष्टाः, तानग्नये
सनिमतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्, ये मधमाः, तान् विष्णवे शिपि-
विष्टाय ऋते चरुं येऽदिष्टाः, तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुम्—
इतिः श्रवम् इक्षापि—इति । अपि च न प्रहते द्रव्ये देवता

भा श्रूयते, 'ऋते चरम्'—इति हि तत्र भवति वचनं, न च श्रु-
त्यकाले अपण द्यतमस्ति तस्मात् कर्मान्तरम्* ॥

ख अपनयो वा विद्यमानत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा देवतापनयो वा। कुतः?। 'विद्यमानत्वात्', विद्यन्ते हि
कर्माणि प्रकृतानि, तेषु विद्यमानेषु पुनर्देवतासम्बन्धो हवियो
नोपपद्यते, यस्य अनुपपत्त्या यागः कल्पेयत। तस्मात् न
यागान्तरं, तेषु एव हविषु देवतान्तराणि विधीयन्ते ॥

ख तद्रूपत्वाच्च शब्दानाम् ॥ ३ ॥ (यु० १) ॥

भा देवतापनयसरूपाद्यामी शब्दाः भवन्ति, 'ये मध्यमाः, तेषां
देवतान्तरं विधीयते, तत्र द्वयं प्राप्तम्, अप्राप्ता देवता विधीयते।
'कथं पुनर्देवताविधानार्थं न अनकगुणविधानदोषो जायेत?'
—इति। उच्यते,—नेव अत्र अनेको गुणो विधीयते कस्मिंश्चित्
वाक्ये, 'तण्डुलान् विभजेत्'—इत्यत्र तावत् विभागमात्रं
विधीयते, अन्यत् सर्वमनूद्यते, तस्मात् अदोषः। ये मध्यमाः,
तेषाम् अग्निर्देवता विधीयते, अन्यत् पुरोडाशादि अनूद्यते, ये
स्यविष्टाः, तेषां दधिसहितानाम् इन्द्रो देवता अस्मिन् वाक्ये
विधीयते। तत्र अर्थप्राप्ते अपणे सति, चरता, सद्यः सप्तम्यर्थेन
अर्थप्राप्तेनैव अस्मिन् वाक्येऽनूद्यते, ये चोदिष्टाः, तेषां ऋत
सहितानाम् विष्णुः जिपिविष्टो देवता विधीयते, अन्यत् सर्व-
मनूद्यते। तस्मात् अदोषः ॥

ग आतश्चनाभ्यासस्य दर्शनात् ॥ ४ ॥ (यु० २) ॥

भा आतश्चनाभ्यासस्य दर्शयति। कथम्?। अर्थं श्रूयते,—'यदि

भा. विभीयादभिमोदेप्यतीति महारात्रे हवींषि निर्वपेत्, फलीकृतै-
स्तण्डुलैरुपासीत, अङ्गं दधि हविरातश्चनार्धं मिदध्यात्, अङ्गं न,
यद्यभ्युदियात् अनेनातच भचरेत्, यद्यु न, ब्राह्मणं भोजयेत्
—इति । यदि कर्मान्तरम्, उपादेयत्वेन तदा तण्डुला दधि
शृतं च; तस्मात् लौकिकानि उपादेयानि, न ह्येव तदा
प्रकृतानां ध्यापारः, तत्र अविनष्टे दधनि अपरेद्युरामावास्ये
क्रियमाणे विद्यते दधीति न आतश्चनमावर्त्तत, तस्यामेवाभ्युदि-
तेष्टौ दधि विद्यते—इति न आतश्चनं स्यात् । अथ निमित्ते
देवतापनयः, ततस्तस्मिन् दधनि चरः क्षतः—इति, पुनरा-
मावास्ये दोहे आतश्चनेन कार्यम्, एवम् आतश्चनाभ्यासस्य
दर्शनं देवताविधाने युज्यते—इति ॥

स्र अपूर्वत्वाद्विधानं स्यात् ॥ ५ ॥ (आ० नि० १) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा पशुकामेष्ट्यां कर्मान्तरं,—‘यः पशुकामः
स्यात्, सोऽमावास्याम् इद्धा वत्सानपाकुर्यात्’—इति, तत्परि-
हर्त्तव्यम् । तत्र उच्यते,—युक्तं, यत्, तत्र कर्मान्तरविधानम् ।
कुतः? । ‘अपूर्वत्वात्’—न तत्र कश्चित् पूर्वमाप्नो यागो विद्यते,
‘सोऽमावास्याम् इद्धा’—इति हि परिसमाप्ते तस्मिन् इद-
मारभ्यते; तत्र द्रव्यदेवतासंयुक्तो निर्वपतिशब्दो न अन्तरेण
उत्सर्गः, द्रव्यदेवतयोः सम्बन्धो विद्यते—इति यजतिं गमयति ।
न तु इह एवम्, इह हि यागः प्रकृतो गम्यते, तस्मिन्नेव
विद्यमानस्य द्रव्यस्य देवतासम्बन्धमार्चं विधीयते—इति न
दोषो भवति ॥

स्र. पयोदोपात्पञ्चशरावेऽदुष्टं हीतरत् ॥ ६ ॥
(आ० नि० २) ॥

भा. अथ यदुपवर्णितं,—यथा पञ्चशरावे

भा एवम् इहापि—इति, तत्परिहर्तव्यम्—इति । अथ उच्यते,
—युक्तं पञ्चशरारे कर्मान्तरं, दुष्टं हि तत्र द्रव्यं, यस्य देवता
विधीयते ; तत्र अवश्यं द्रव्यम् उपादेयत्वेन चोदयितव्यं,
तस्मिन् उपादीयमाने देवतान्तरे च अपूर्वः सम्बन्धो विधीयते,
तत् यागान्तरं भवति—इति । ‘इतरत्’ इह द्रव्यम् ‘अदुष्टं’,
तदनुद्य, मल्लते यागे देवता विधीयते—इत्युक्तं, तस्मात् अदोषः
—इति ॥

ख साध्याख्येऽपि तथेति चेत् ॥ ७ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं ‘चेत्’ पश्यसि, साध्याख्येऽपि दोषः, तदपि हि अग्न्युदये
तत्कालापभ्रंशात् दुष्टम्—इति ॥

ख न तस्यादुष्टत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥ ८ ॥
(आ० नि० १) ॥

भा नैतदेवं, पञ्चशरावे हि दुष्टं द्रव्यं, इह तादृशमेव अव-
तिष्ठते । ‘ननु कालापभ्रंशेन दुष्टम्’ । न दुष्यति, ‘अविशिष्टं
हि कारणम्’, अग्न्युदये प्रायश्चित्तविधानं दुष्टेऽग्न्युपपद्यते, काला-
पराधे अदुष्टेऽपि तत्, अकाले हि अभिमष्टत्वात् शक्यते देवता-
विधानं, न तु विनष्टस्य ॥

ख लक्षणार्था श्रुतश्रुतिः ॥ ९ ॥ (आ० नि० २) ॥

भा अथ यदुक्तं,—न मल्लते द्रव्ये देवता श्रूयते, ‘ग्रहते चरम्’—
इति तत्र भवति यत्नं, न च अग्न्युदयकाले यत्नं कृतमिति
—इति, तत्परिहर्तव्यम् । अथ उच्यते, ‘लक्षणार्था’ इयं
‘श्रुतश्रुतिः’, (धर्मलक्षणार्था) श्रुते, श्रुतगृह्यपरितोषधर्मकः—
इति ॥ (६।५।१ अ०) ॥

उपांशुयागेऽपि देवतापनयाधिकरणम् ॥

सू. उपांशुयाजेऽवचनात् यथाप्रकृति ॥ १० ॥ (पू०) ॥

भा. तस्मिन् एव अभ्युदये संशङ्कः, किम् उपांशुयागेऽपि देवता-
पनयो भवेत्, न?—इति। किं प्राप्तम्?—उपांशुयाजो 'यथा-
प्रकृति' स्यात्। कस्मात्?। 'अवचनात्', यथा अमीषु वचनं,
'मध्यमानामग्रये दात्रे पुरोडाशाः, स्थविष्ठानाम् इन्द्राय प्रदात्रे
दर्धानं चरः, क्षोदिष्ठानाम् विष्णवे पिशिविष्टाय श्दते चरः'—
इति। नैतत् उपांशुयाजेऽस्ति। तस्मात् स यथादेवते स्यात् ॥

सू. अपनयो वा प्रवृत्त्या यथेतरेषाम् ॥ ११ ॥ (सि०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। उपांशुयाजस्य 'अपनयः'।
केन कारणेन?। 'प्रवृत्त्या', अकाले तत्रप्रवृत्तिः देवतापनयस्य
कारणम्। कुतः?। न हि अत्र अभ्युदये सति तण्डुला विभा-
गार्थम् उपादीयते, किन्तु हि—अभ्युदितस्य हविषो विभाग
उच्यते, अभ्युदयेन अपराद्धस्य—इति। कथम् अवगम्यते?।
'यस्य अभ्युदियात्'—इतिविशेषश्रवणात्, सर्वस्यैव हि अप-
राधेन अभ्युदेति, अपराधश्च अकाले तत्रप्रवृत्तिः। एवञ्च सति
न तद्विः तण्डुलैः शक्यं विशेष्यम्। तस्मात् उपांशुयागस्यापि
विभागः, 'त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्'—इति हि अनेन वाक्येन
देवतापनयः क्रियते, विधिर्हि अत्र 'विभजेत्'—इति (विभागं
कुर्यादित्यर्थः)। कथमिति?। विभागे विशेष्यपराणि उत्तराणि
वाक्यानि,—इदमिदं च द्रव्यमस्यै देवतायै, इदमिदं च अस्यै—
इति। यस्य द्रव्यस्य विशेष्यविभागो नास्ति, तस्यापि 'विभजेत्'
—इति सामान्यविभागः। तस्मात् यथैव इतरेषां विभागः,
एवम् उपांशुयाजस्यापि—इति। अथ वा उपांशुयाजद्रव्यात्

भा. पूर्वेण वाक्येनापनीता देवता, न तदपरेण वाक्येन देवतान्तरे संयोजितं । तस्मात् प्रहीणमेव तत्* ॥ (६।५।२ अ०) ॥

अनिरुतेऽप्यभ्युदयेऽधिकरणम् ॥

स निरुते स्यात्तत्संयोगात् ॥ १२ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्मिन् एव उदाहरणे संशयः, किं यदि निरुतेऽभ्युदयोऽव-
गम्यते, तदाभ्युदितेष्टिः, उत अनिरुतेऽपि?—इति । किं
प्राप्तम्?—‘निरुतेऽवगतेऽभ्युदितेष्टिः स्यात् । कुतः? । ‘तत्-
संयोगात्’, निर्वापसंयोगो हि भवति,—‘यस्य हविर्निरुतम्’—
इति । तस्मात् अनिरुते नैतत् विधानम्—इति ॥

स प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥ १३ ॥ (सि०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । अकाले तत्प्रवृत्तिमात्रे स्यात्
एतद्विधानं, प्राप्तं हि तावत्येव निमित्तं,—‘यस्य हविः—
अभ्युदेति’—इति, हविर्प्रवृत्तं लक्षणत्वेन, ‘यस्य हविः—
अभ्युदेति’—इति हविर्लक्षित उदयो निमित्तं, प्रवृत्तं हवि-
र्लक्षयति, न उदासीनम्; तस्मात् ‘हविः अभ्युदेति’—इत्यु-
चनाने प्रवृत्तं हविः अभ्युदेति—इति गम्यते; न हि तत्
निरुतम्—इत्येतेन शक्यं विशेषयितुम्, भिद्येत हि तदा वाक्यं,
—यस्य हविर्निरुतं, न अनिरुतम्—इत्येवमपेक्षमाणे हविः
अभ्युदेति—इति न शक्यते विधानम् । तस्मात् अनिरुतेऽपि
इष्टिः—इति ॥

स लक्षणमात्रमितरत् ॥ १४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—निरुक्तसंयोगो भवति, 'यस्य हविर्निरुक्तम्'—
इति, लक्षणमात्रमेतत् 'निरुक्तम्'—इति, कस्मिंश्चित् पदार्थे
तस्य प्रवृत्ते—इत्यर्थः ॥

स. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ १५ ॥ (यु०) ॥

भा. अन्यार्थोऽपि च एतन्मर्थे दर्शयति, 'स यद्यगृहीतं हवि-
रभ्युदियात्, प्रज्ञातमेव तदैषा व्रतचर्या, यत् पूर्वद्युर्दुग्धं दधि
हविरेतन्मन्त्रं तत् कुर्वन्ति, प्रतिमुञ्चन्ति वत्सान्, तानेव तत्
पुनरपाकुर्वन्ति, तानपराह्णे पर्णशाखया अपाकरोति, तत्
यद्यैवादः प्रज्ञातमामावास्थं हविरेवमेव तद्यद्यु व्रतचर्यो वा
नोदाशसेत, गृहीतं वा हविरभ्युदियात् इतरथा तर्हि कुर्यात्,
एतानेव तण्डुलान् सहात्फलीकृतान्—इति, अगृहीते* हविषि
अन्यं विधिं ब्रुवन् गृहीतेभ्यनिरुक्ते वाभ्युदये प्रायश्चित्तं
दर्शयति ॥ (६।५।३ अ०) ॥

अनिरुक्तेभ्युदये वैहतीभ्यो निर्वापाधिकरणम् ॥

स अनिरुक्तेभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्याश्मरथ्य-
स्तण्डुलभूतेष्वपनयात् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा. प्रवृत्तमात्रं निमित्तम्—इति स्थितम्। नेमित्तिकस्तु देवता
पनयो देवतान्तरसंयोगश्च, किं निर्वापोत्तरकाले तण्डुलावस्थे
इतिपि कर्तव्यो निर्वापस्तु प्राकृतीभ्य एव स्यात्, ज्ञातेभ्युदये;
उत वैहतीभ्य एव?—इति संशयः। किं तावत् प्राप्तम्?—

भा 'अनिरुप्तेभ्युदिते प्राहृतीभ्यो निर्वपेत्—इत्याश्मरथ्य' आचार्यो मन्यते स्म। कुत ?। 'तण्डुलभूतेषु अपनयात्', तण्डुलभूतेषु अपनय श्रूयते, 'यस्य हविर्निरुप्त पुरस्तात् चन्द्रमा अभ्युदेति चेधा तण्डुलान् विभजेत्—इत्यभ्युदयावगमात्* अनन्तर तण्डुलविभागम् आह, सोऽन्तण्डुलभूतेषु न अवकल्पते। तस्मात् अनिरुप्ते तण्डुलाभावादनपनीता देवता प्राहृत्य—इति प्राहृतीभ्य एव निर्वपेत्—इति ॥

स व्यूर्द्धभागभ्यस्त्वाल्लेखनस्तत्कारित्वाद्देवतापनयस्य ॥
१७ ॥ (सि०) ॥

भा तुशब्द पक्ष आवर्तयति। व्यूर्द्ध या भजन्ते कर्म, ताभ्यो निर्वपेत्—इति 'आल्लेखेन' आचार्यो मन्यते स्म। कुत ?। तत् कारित्वात् देवतापनयस्य, यस्मात् अकाले तद्वप्रवृत्तिकारितो देवतापनय, तस्मात् अपनीता देवता—इति व्यूर्द्धभागभ्यो निर्वपेत् ॥ (६।५।४ अ०) ॥

किञ्चिद्विरुप्तेभ्युदयेदमिष्टस्य तृष्णीनिर्वापाधिकरणम् ॥

स विनिरुप्ते न मुष्टीनामपनयस्तद्गुणत्वात् ॥ १८ ॥
(१म पू०) ॥

भा अथ प्रारब्धे चतुर्मुष्टिनिर्वापे अपरिसमाप्ते भवति शक्य, यत् निरुप्त तत् निरुप्तमव, अवशिष्ट कि प्राहृतीभ्यो निर्वपेत्, कि वैहृतीभ्य, उत तृष्णीमेव?—इति। कि प्राप्तम्?—'विनिरुप्ते' (सामिनिरुप्ते—इत्यर्थ) न तत्र देवतापनय स्यात्। कुत ?। 'तद्गुणत्वात्, निर्वापरय गुणो देवता, न मुष्टीनाम्

भा. स च निर्वापः तद्देवताकः । कुतः ? । चतुःसङ्ख्यापूरणार्थत्वात्
 अभ्यासमात्रं कर्तव्यं, तच्च अभ्यासमात्रं पुनः क्रियते, पूर्वमेव
 ह्यते तस्मिन् निर्वापे न देवता अपनीता । स एव अयं पुनः
 क्रियते, पुनरपि क्रियमानस्य अनपनीतैव देवता भवितुमर्हति
 —इति प्राहृतीभ्य एव निर्वस्यं, न च उत्तरो मुष्टिः पृथक्
 पदार्था, येन देवतापनयो भवेत्, ह्यतस्य निर्वापस्य सङ्ख्या-
 पूरणम् एतत् क्रियते । तस्मात् अनपनयः—इति ॥

स अप्राकृतेन हि संयोगः तत्स्थानीयत्वात् ॥ १९ ॥
 (२य पू०) ॥

भा. न प्राहृतीभ्योः निर्वस्यं, काम्यस्तर्हि वैहृतीभ्यः । कुतः ? ।
 ‘अप्राकृतेन’ देवताविशेषेण संयोगः श्रूयते, न अधिकृतेन,—
 ‘वेधा तण्डुलान् विभजेत्’—इति प्राहृतीभ्य आच्छिद्य वैहृती-
 भ्यो निर्वस्यो विधीयते, ता इदानीं तत्स्थानीयाः । तस्मात्
 विनिर्गते निवृत्ता देवता अन्याः, अन्याश्चोपजाताः । तस्मात्
 वैहृतीनाम् संयोगेन निर्वापशेषः कर्तव्यः—इति ॥

स अभावाच्चेतरस्य स्यात् ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा. अभावात् इतरस्याहंस्थं देवतासंयुक्तस्य, न निर्वापो भवति
 देवतासंयुक्तः, यदि निर्वापोऽहं अन्यदेवत्योऽहं अभ्यन्यस्यै देव-
 तायै, नैव निर्वाप इतरदेवताको वा इतरदेवताको वा ;
 तस्मात् तूष्णीमेव निर्वस्यम्, अवश्यम् अन्यतरत्र सकल्पभेदो
 भवति ॥ (६।५।५ अ०) ॥

सन्नयदसन्नयदुभयस्यैवाभ्युदये प्रायश्चित्ताधिकरणम् ॥

स सान्नाय्यसंयोगान्नासन्नयतः स्यात् ॥ २१ ॥ (पू०) ॥

भा अभ्युद्घितेष्टिरेव उदाहरणम्। तत्र श्रूयते,—‘दधनि चरम्, श्रूते चरम्’—इति। तत्र सन्देहः,—किं सन्नयतो भवति अभ्युदये प्रायश्चित्तम् उत अविशेषेण?—इति। किं प्राप्तम्?—‘सन्नयत’ अभ्युदये प्रायश्चित्तम्। कुत?। ‘सान्नाय्यसंयोगात्’, सान्नाय्यसंयोगो हि भवति, ‘श्रूते चरम्, दधनि चरम्’—इति, श्रूताद्यभावात्, न असन्नयतो भवितुमर्हति, वैगुण्य हि तथा स्यात् ॥

स औपधसयोगाद्दोभयोः ॥ २२ ॥ (सि०) ॥

भा वाशब्द पक्ष व्यावर्त्तयति। ‘उभयो अपि स्यात् न केवलस्य सन्नयतः, ‘औपधसयोगात्’, ‘ये मध्यमा ये स्थविष्ठा ये चोदिष्ठा’—इति भवति औपधसयोगः, स च शक्योऽसन्नयतापि—इति। तस्मात् न असति कारणेऽसन्नयतो निवर्त्ततः, उभयो रपि पक्षयोः प्रायश्चित्तम्—इति ॥

स वैगुण्यान्नेति चेत् ॥ २३ ॥ (आ०) ॥

भा इति यदुक्त—असन्नयतो दध्न श्रूतस्य च अभावात्तदधिकरणता नास्ति। तस्मात् वैगुण्य तस्मिन् पक्षे—इति, तत् परिहर्त्तव्यम्—इति ॥

स नातत्संस्कारत्वात् ॥ २४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदेव, न हि दधि अधिकरणस्यरो अपणे श्रूयते, किन्तु यथा* स्थविष्ठा इन्द्राय प्रदावे, एव दध्यपि देवतासम्बन्धार्थे

* अत्र पश्यति परत्र एवमिति पाठा आ० नो० एव क० म० पुस्तक नास्ति ॥

भा. विधीयते, न चरुसम्बन्धार्थम्—इति, भिद्येत हि तथा वाक्यं,
—स्थविष्ठा देवतायै, दधनि च ते कर्त्तव्याः—इति; सप्तमी-
संयोगस्तु प्राप्त्यर्थेऽनुवादः। तस्मात् अविवक्षितं तेषां साहित्यं,
लक्षणत्वेन हि ते श्रूयन्ते—इति, न हि पयो दधि च नास्ति
—इति स्थविष्ठानाम् न देवतापनयो भवति, असन्नयतोऽपि
अर्थात् अन्तु अप्रयिष्यते—इति ॥ (६।५।६ अ०) ॥

सचाय प्रवृत्तमाचस्य विश्वजिदधिकरणम् ॥

स साम्युत्थाने विश्वजित्क्रीते विभागसंयोगात् ॥

२५ ॥ (पू०) ॥

भा इदमामनन्ति, 'यदि सचाय दीक्षिता अथ साभ्युत्तिष्ठेरन्,*
सोममपभज्य विश्वजिता अतिरात्रेण सर्वस्तोमेन सर्वपृष्ठेन
सर्ववेदसदक्षिणेन यजेरन्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं क्रीत
राजकस्योत्थाने विश्वजित्, उत प्रवृत्तमाचस्य?—इति। किं
प्राप्तम्?—'साभ्युत्थाने विश्वजित् क्रीते'† स्यात्। कुतः?।
'विभागसंयोगात्',—'सोममपभज्य विश्वजिता यजेरन्'—इति,
ये हि अक्रीते राजानि उत्तिष्ठन्ति, तेषां सोमविभागाभावात्
वैगुण्यं स्यात्। तस्मात् क्रीतराजका उत्तिष्ठन्तो विश्वजितं
कुर्युः ॥

स प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥ २६ ॥ (सि०) ॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। प्रवृत्तमाचस्य उत्थाने स्यात्,
कुतः?। 'प्रापणात् निमित्तस्य', साम्युत्थानं निमित्तं विश्वजितः,

* साभ्युत्तिष्ठामेरेन इति का० क्री० पू० पाठः। एवं तत्र अथेति पाठो नास्ति ॥

† अत्र सोमे इत्यधिकं पाठः का० क्री० पू० ॥

भा. तच्च प्राप्तं, न च तच्छक्यं विशेषयितुम्,—क्रीते सोमे साम्युत्थानम्
—इति ॥

सू. आदेशार्थेतरा श्रुतिः ॥ २७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—अक्रीते राजन्युत्तिष्ठन्तो विभागाभावात्
विगुणं कुर्युः—इति, तत्परिहर्तव्यम्; अत्र उच्यते,—न विभागो
विधीयते, भिद्येत हि तथा वाक्यं,—साम्युत्थाने विश्वजिता
यजेरन्, सोमस्य तु अपभागं हत्वेति; तेन 'अपभज्य'—इति
अनुवादः। कथम् प्राप्तिः?—इति चेत्। अर्थात् उत्तिष्ठतां
विभागो भवति धनस्य, सोम्यं सर्वद्रव्याणाम् विभागः सोम-
विभागेन लक्ष्यते,—सोमं विभज्याग्न्यानि च द्रव्याणि—इति
आदेशार्था इतरा श्रुतिर्भवति। तस्मात् क्रीते च अक्रीते च
राजनि उत्तिष्ठतां विश्वजित्—इति ॥ (६।५।७ अ०) ॥

दीक्षापरिमाणस्य द्वादशाहनिधमाधिकरणम् ॥

सू. दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात्* ॥ २८ ॥ (पृ०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमं प्रहृत्य श्रूयते,—'एका दीक्षा तिस्र उपसदः
पञ्चमीं प्रसृतः'—इति 'तिस्रो दीक्षाः' 'द्वादश दीक्षाः'—इति
बह्वनि दीक्षापरिमाणानि आग्नातानि। तेषु सन्देहः,—किम्
अनियमो,—यद्वा तदा परिमाणम् उपादेयम्; उत द्वादश
दीक्षाः?—इति। किं प्राप्तम्?—'दीक्षापरिमाणे यथाकामी'
स्यात्, नास्ति नियमः। कुतः?। 'अविशेषात्', न कश्चन

* अत्र "अवायुर्ह मिदानीं नर्जित" इत्यादिना "तस्यादिदमवावधारणा, दीक्षा
परिमाणे यथाकामीति निश्चयस्तुतः" इत्यनेन सन्देहेन वार्तिककृता सूत्राभिप्राय
सन्देहा द्वाक्याय भाष्यवाक्यानि नास्तीति। एतन्नेवाधिकरणं द्विधा विभक्त्य न्याय
मात्रावसधिकरणद्वयं प्रादुर्ग। ततश्च भाष्यस्यादमाहवाच्यदो अधिकरणसङ्ख्यामात्र
नास्ति ॥

भा. विशेष उपादीयते । तस्मात् यत्किञ्चित् परिमाणम् उपादेयम्—इति ॥

सू. द्वादशाहस्तु लिङ्गात् स्यात् ॥ २९ ॥ (सि०) ॥

भा. 'द्वादशाहः' एव परिमाणम् उपादीयेत । कुतः ? । 'लिङ्गात्' (सामर्थ्यात्—इत्यर्थः) । किं सामर्थ्यं ? । 'द्वादश रात्रीर्दीक्षितो भृतिं वन्वीत'—इति नित्यवदाम्नायते, न पाक्षिकं; तदेव नित्यं कुर्वन्, न शक्नोति अन्यत्परिमाणम् उपादातुम् । तस्मात् द्वादशाहः एव परिमाणं नियम्येत, अन्यानि परिमाणानि विहृतौ भविष्यन्तीति न एयाम् आनर्थक्यम्—इति ॥ (६।५। ८ अ०) ॥

गवामयने माघपौर्णमास्या पुरस्तादीक्षाधिकरणम् ॥

सू. पौर्णमास्यामनियमोऽविशेषात् ॥ ३० ॥ (१म पू०) ॥

भा. गवामयने श्रूयते,—'पुरस्तात् पौर्णमास्याश्चतुरहे दीक्षेरन्'—इति । तत्र सन्देहः,—कस्याः पौर्णमास्याः ?—इति । किं प्राप्तम् ?—'पौर्णमास्याम्—अनियमः'—इति । कुतः ? । 'अविशेषात्', न अत्र कश्चित् विशेषवचनः शब्दः उपादीयते ॥

सू. आनन्तर्यात् तु चैत्री स्यात् ॥ ३१ ॥ (२य पू०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतत्,—अनियमः—इति, 'चैत्री, पौर्णमासी तु भवेत् । कुतः ? । 'आनन्तर्यात्', पौर्णमासीम् उक्त्वा अनन्तरं वाक्यशेषे चैत्री सङ्कीर्त्यते, 'पुरस्तात् पौर्णमास्याश्चतुरहे दीक्षेरन्' चतुर्मुखं वा एषा पौर्णमासी सम्बत्स-

भा रस्य, या चैवी पौर्णमासी—इति । अत्र “सन्दिग्धेषु वाक्ये
श्रेयात्” (१।४।२६ सू०)—इति चैवी नियम्येत ॥

स माघी वैकाष्टकाश्रुतेः ॥ ३२ ॥ (सि०) ॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । न चैतत् अस्ति चैवी—इति,
किन्तु हि?—‘माघी’—इति । कुतः? । ‘एकाष्टकाश्रुतेः’, क्रये
हि एकाष्टकाश्रुतिर्भवति, तेषाम् ‘एकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते’
—इति । तस्मात् माघ्याः पुरस्तात् चतुरष्टे दीक्षितस्य
एकाष्टकायां क्रयः शक्यते कर्तुम्, न चैत्र्याः; तदेतत् सामर्थ्यं
नाम लिङ्गं, तत् वाक्यस्य बाधकं भवति । तस्मात् माघी पौर्ण-
मासी—इति ॥

स अन्या अपीति चेत् ॥ ३३ ॥ (आ०) ॥

भा इति चेत् पश्यसि,—माघी पौर्णमासी, एवम् एकाष्टकाया
क्रयः सम्पत्स्यते—इति; तत् न, अस्मात् अष्टम्य एकाष्टकाः,
‘द्वादश एकाष्टकाः’—इति, तेन न दोषः ॥

स न भक्तित्वादेया हि लोके ॥ ३४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदेवं, भाक्तो हि अन्यासु अष्टमीषु एकाष्टकाशब्दः, एषा
हि मुख्या, या माघ्या वृत्ताया, मुख्यगौणयोश्च मुखे सम्प्रत्ययः;
तस्मात् माघ्येव पौर्णमासी—इति ॥

स दीक्षापराधे चानुग्रहात् ॥ ३५ ॥ (यु० १) ॥

भा ‘एकाष्टकायां दीक्षेरन्, एषा वै सम्यक्संख्यं पक्षी, यत्
एकाष्टका’ इत्युक्ता पुनः, चतुरष्टे पुरस्तात् पौर्णमास्या दीक्षा
विधाय ‘तेषाम् एकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते, तेनैकाष्टकां

भा. नर्क्षवट् कुर्वन्ति—इति, दीक्षातः प्रचुरताम् एकाष्टकां क्रयेण तु गृह्णन् माध्याः पौर्णमास्याः अधिकारं दर्शयति। अस्याञ्च माध्याम् अष्टम्यामभीज्यमानायां भवति मन्त्रः, 'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रौ धेनुमिवायतौ, सम्बत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली—इति अष्टकायै सुराधसे स्वाहा'—इति, यागसौ माध्यष्टमी, ताम् एकाष्टकां दर्शयति ॥

स उत्थाने चानुप्ररोहत् ॥ ३६ ॥ (यु० २) ॥

भा. 'उत्थाने च' अनुप्ररोहं दर्शयति, 'तान् उत्तिष्ठत औषधयो वनस्पतयोऽनूत्तिष्ठन्ति'—इति वसन्ते उत्थानं दर्शयति, तस्मिन् औषधयो वनस्पतयश्च उत्तिष्ठन्ति। तस्मादपि सा नियम्यते ॥

स अस्यां च सर्वलिङ्गानि ॥ ३७ ॥ (यु० ३) ॥

भा. 'आते वा एते सम्बत्सरस्याभिदीक्षन्ते, य एकाष्टकायां दीक्षन्ते—इति, आर्त्ता यस्मिन् काले भवन्ति, स आर्त्तः कालः, शीतेन च आर्त्ता भवन्ति। तस्मात् माध्यष्टमी एकाष्टका—इति। तथा, 'व्यस्तं वा एते सम्बत्सरस्याभिदीक्षन्ते, य एकाष्टकायां दीक्षन्ते'—इति, अयनपरिवृत्तिर्यस्तशब्देन उच्यते। तथा 'अपो नाभिनन्दन्तोऽवभ्यमभ्यवेयन्ति'—इति चैत्र्यां दीक्षिता अभिनन्दन्तोऽवभ्यवेयुः। तस्मादपि माघी पौर्णमासी—इति ॥ (६।५।८ अ०) ॥

दीचोत्कर्षे तन्नित्यकानामनुत्कर्षाधिकरणम् ॥

स दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः
प्राप्तकालत्वात् ॥ ३८ ॥

भा इदम् श्रूयते,—‘तस्मात् दीक्षितो न ददाति न पचति न
जुहोति—इति ज्योतिष्टोमे समामनन्ति, यदि तु दैवात् मानु
षात् वा प्रतिबलात् दीक्षाकाल उत्पद्यते, तत्र सन्देहः,—
किं दानहोमपाकानाम् उत्कर्षः, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?
—‘अनुत्कर्षः’, नियता हि दान होम पाका, ‘यावज्जीवम्
अग्निहोत्र जुहोति—इत्येवमादिभिः श्रुतिभिः तेषामपवादो,—
येष्वहं स साद्वो ज्योतिष्टोमो विहितः, तावन्ति अहानि मुक्ता
अन्येषु अहस्य कर्त्तव्या, ज्योतिष्टोम विधानकालात् परतो
प्रतिपिद्धा। तस्मात् कर्त्तव्या, प्राप्तो हि तेषां काल—इति ॥

स उत्कर्षो वा दीक्षितत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥
३९ ॥ (सि०) ॥

भा वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते। यदुक्तम्,—‘नैषाम् उत्कर्षः—
इति नेतदेवम् उत्पद्यते। कुत?। ‘दीक्षितत्वात्’, दीक्षि
तस्य ते प्रतिपिद्धा, न दीक्षितो यस्मिन् काले, लक्षणा हि
एव स्यात् यथा तु वयं ब्रूम, तथा श्रुति कारणम्, प्राक् च
अवभृथात्, अयं दीक्षित एव, अविशिष्ट हि कारणम् यत्
एव ज्योतिष्टोमविधानकाले, तदेव अतिक्रान्तेऽपि, उभयत्र हि
दीक्षितत्वं हि कारणम्। तस्मात् तेषाम् उत्कर्षः—इति ॥ (६।
५।१० अ०) ॥

ज्योतिष्टोमोक्तत्वे प्रतिहोमानमुष्टानाधिकरणम् ॥

सू. तत्र प्रतिहोमो न विद्यते, यथा पूर्व्वेपाम् ॥ ४० ॥

भा. तत्र उत्सृज्यमाणे ज्योतिष्टोमे*, अहतेषु होमेषु किं परिसङ्ख्याय होमाः कर्त्तव्याः, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—परिसङ्ख्याय होमाः क्रियेरन् । किंकारणम्? । अवश्यकर्त्तव्यतया हि ते विहितानि होमाः, अतिपन्ना अपि कर्त्तव्या एव, तथा हि एषाम् अवश्यकर्त्तव्यता अनुगृहीता* भविष्यति, प्रधानमात्रं तु नियतं, न अत्र कालानुरोधः कर्त्तव्यः, नदीवेगस्थानीयत्वात् । यद्यपि अतिक्रान्ताः कालाः, अतिक्रान्तानाम् परिसङ्ख्याय प्रधानमात्राणि कर्त्तव्यानि, यथा अवश्यकर्त्तव्यं भुक्तिमृतकदानादि, यत् अतिक्रान्तं भवति, तत् परिसङ्ख्याय क्रियते, एवमिदम् अपि—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘तत्र प्रतिहोमो न विद्यते, यथा पूर्व्वेपा’, कर्त्तव्यम् अहत्वा कुर्यात्, न अकर्त्तव्यम्, अकर्त्तव्याश्च एते, प्रतिषिद्धत्वात्, ‘यथा पूर्व्वेपा’, असति कालातिक्रमे अहतानाम् न प्रतिहोमः, एवम् एषामपि—इति ॥

सू. कालप्राधान्याच्च ॥ ४१ ॥ (यु०) ॥

भा. कालप्राधान्यं च भवति, निमित्तत्वेन तस्य श्रुतत्वात्, तद्भावे विहितमेव न भवति, प्रधानमात्रं यद्यपि नियम्येत, तथापि निमित्ते काले, स च नदीवेगस्थानीयः कालोऽतिक्रान्तः, अतो न प्रतिहोमः कर्त्तव्यः—इति ॥ (६।५।११ अ०) ॥

उदवसानीयात्कर्मैऽपि प्रतिहोमाननुष्ठानाधिकरणम् ॥

स प्रतिषेधाच्चोर्द्धमवभृथादेष्टे. ॥ ४२ ॥

भा ऊर्द्धमवभृथात् आ उदवसानीयाया इष्टेर्य होमा, तेष्यति पक्षेऽसु दैवेन मानुषेण वा प्रतिबलेन भवति सशय — किं प्रति होम कर्त्तव्य, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—कर्त्तव्य —इति, उन्मुक्तदीक्षो हि स तदा भवति, दीक्षाणाम् उन्मोचनार्थो हि अवभृथ, तस्मात् कर्त्तव्या, ते न क्षता —इति।

एव प्राप्ते ब्रूम, — ऊर्द्धम् अवभृथात्, आ उदवसानीयाया 'इष्टे, अतिपन्नानाम् न प्रतिहोम स्यात्। कुत?। 'प्रति षेधात्, प्रतिषेधो हि भवति, 'एतया पुनराधेयसंस्मितया इष्ट्या अग्निहोत्र होतव्यम्—इति, प्रागुदवसानीयाया, होमस्य प्रतिषेध, यावत् उदवसानीया उत्कृष्यते, तावत् प्रतिषेध, एव श्रुति, इतरया खक्षणा स्यात्। तस्मात् अकर्त्तव्या, ते न क्षता —इति, न स्यात् प्रतिहोम —इति ॥ (६।५।१२ अ०) ॥

प्रतिहोम सायमग्निहोत्रप्रभृत्यारम्भाधिकरणम् ॥

स प्रतिहोमश्चेत सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि ह्वये-
रन् ॥ ४३ ॥

भा एतेषु एव उदाहरणेषु भवति सशय, किं प्रतिहोमे सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि आरभ्येरन्* उत प्रात अग्निहोत्र प्रभृतीनि?—इति। 'ननु नास्त्येव प्रतिहोम —इति स्थितम्। उच्यते,—अस्ति—इति क्त्वा चिन्तयाम। क्त्वा चिन्तेयम्, अन्येषु सदृशन्यायेषु उदाहरणेषु अस्या मयोजनम् अस्ति—

भा. इति चिन्तते । किं प्राप्तम्?—अनियमः, अर्थहृतत्वात् । एवं प्राप्ते द्रूमः,—यदि प्रतिहोमः क्रियते, सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि ह्येरन् । कुतः? । सायमग्निहोत्रादारभ्य अतिपन्नानि, तेनैवानुपूर्वण प्रतिहोतव्यानि—इति ॥ (६।५।१३ अ०) ॥

घोडशिसंस्थे प्रातरग्निहोत्रप्रभृत्यनुष्ठानाधिकरणम् ॥

सू. प्रातस्तु पोरशिनि ॥ ४४ ॥

भा. घोडशिसंस्थे सोमेतिपन्नेषु होमेषु सन्देहः,—किं सायमग्निहोत्रेण—इति, उत प्रातः*?—इति । किं प्राप्तम्?—सायमग्निहोत्रेणेति पूर्वस्मिन् अधिकरणे उक्तम्, उत्सर्गेण सर्ववैवम्—इति प्राप्तम् । तथा प्राप्ते उच्यते,—‘प्रातस्तु घोडशिनि’, घोडशिसंस्थे प्रातरग्निहोत्रादीनि अतिपन्नानि—इति प्रातरग्निहोत्रादेव समारभ्यानि—इति ॥ (६।५।१४ अ०) ॥

भेदनादिनिमित्तकहोमस्य दर्शपूर्णमासाङ्गताधिकरणम् ॥

सू. प्रायश्चित्तमधिकारे सर्व्वच दोषसामान्यात् ॥ ४५ ॥
(पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते, ‘भिन्ने जुहोति स्तन्ने जुहोति’—इति । तत्र किं दर्शपूर्णमासयोरेवैतत्,—भिन्ने स्तन्ने च प्रायश्चित्तम् उत यत्र भिद्यते स्तन्दति च?—इति । किं प्राप्तम्?

* “प्रात भवने वह्निपवमानेन स्तोत्रमाणा षष्ठिज शालायाः वह्निं प्रसर्पन्ति, तदानीमेकस्य शृष्टोऽन्य” इत्येव पिपीलिकावत् पङ्कजकारेण भक्तव्यम् । तत्र पुरतो गन्तुं कच्छं गृहीत्वैव शृष्टोऽन्यो गच्छेत् । एव यदि प्रसादादुद्गाता गृहीत कच्छं मुञ्चेत्, तदा दक्षिणमदक्षा प्रक्षालौ यज्ञं समापनीय । तं समाप्य पुनरपि यं यज्ञं प्रयोक्तव्यं तस्मिन् प्रयोगे पूर्वं यद्विहितं द्रव्यं तत् दद्यात् । यदा प्रतिहर्षा मुञ्चेत्, तदा तस्मिन्ने प्रयोगे सर्व्वस्य तथात” इति न्यायमालाङ्गमुन्नेया ॥

भा —प्रकरणे यत् प्रायश्चित्तम् एवञ्जातीयकम् किञ्चित् उत्पन्नं, तत् सर्वत्र यत्र यत्र भिद्यते स्फुन्दति वा, तत्र तत्र स्यात् । कस्मात् ? 'दोषसामान्यात्', समान निमित्तम् स्फुन्दनम् भेदनम् वा, स एवात्र दोष —इति अभिप्रेतम् । प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयो प्रायश्चित्तम्, वाक्यात् अन्यत्रापि, प्रकरणाच्च वाक्यबलीय । तस्मात् सर्वत्र स्फुन्दे भिन्ने च प्रायश्चित्तम्—इति ॥

सू प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् ॥ ४६ ॥ (सि० १) ॥

भा 'प्रकरणे एव भिन्ने स्फुन्दे वा प्रायश्चित्तम् । कुत ? 'शब्दहेतुत्वात्, तेन प्राकृतेन अर्थेन सच्चैकवाक्यता एषा होमानाम्, ततो होमवतो यागस्य प्रत्यायने प्रकृतो 'यजेत—इति शब्दो हेतु एव चेत् तदुपकारेणार्थवान् भविष्यति—इति, इतरथा विना वाक्येन, फल कल्पयितव्यम् स्यात् तस्मात् वाक्य फलाभावेनैव बाधितम्—इति कृत्वा प्रकरणम् अनुगृहीतव्यम्—इति ॥

सू अतद्विकारश्च ॥ ४७ ॥ (सि० २) ॥

भा न च, 'तद्विकार अग्निहोचम् ज्योतिष्टोमो वा, न दर्शपूर्णमासविकारः यदि तद्विकारो भवेत् तत्रापि स्फुन्दे भिन्ने वा प्रायश्चित्तम् स्यात्—इति ॥ (६।५।१५ अ०) ॥

आपन्नशब्दार्थनिर्णयाधिकरणम् ॥

सू व्यापन्नस्याप्सु गतौ यदभोज्यमार्याणां तत् प्रतीयेत ॥ ४८ ॥

भा 'व्यापन्नमाप्सु प्रक्षरति—इति श्रूयते । किं व्यापन्नम्—इत्युच्यते ?—इति तदभिधीयते,—आपन्नं, इषिणं येन कार्येन

भा क्रियते । किं तत् ? । यत् अभोज्यमार्याणाम्, केशकीटावपन्नम्
अन्येन वा उपघातेन उपहत, तद्वगपन्नम्—इति ॥ (६।५।
१६ अ०) ॥

अपच्छेदयोगपक्षेऽपि प्रायश्चित्ताधिकरणम् ॥

स विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं योगपक्षे न विद्यते ॥ ४६ ॥
(पू०) ॥

भा प्रस्तोतुङ्गाचोरुङ्गातृप्रतिहर्त्तृणां यत्र अपच्छेदः, किं तत्र
प्रायश्चित्तम् स्यात् न?—इति भवति संशयः । किं तावत्
प्राप्तम्?—‘प्रायश्चित्तम् योगपक्षे न विद्यते । कुत ? । ‘विभाग-
श्रुतेः’, विभक्तेः अपच्छेदे* प्रायश्चित्तमामनन्ति अपच्छेदस्य अयम्
विभागः, स उभाभ्यां साध्यते, इह च एकेन साध्यमाने श्रूयते
प्रायश्चित्तम्, उङ्गाचा प्रतिहर्त्ता वा । न च यदपरेण सह
क्रियते, तत् केवलेन कृतं भवति, यदि हि केवलेन कृतं स्यात्,
तेन कृतं, अपरं किं कुर्यात् ? । तस्मात् न युगपदपच्छिन्नयो
प्रायश्चित्तम्—इति ॥

स स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात्कालमात्रमेकम् ॥ ५० ॥
(सि०) ॥

भा ‘स्यात् वा’ प्रायश्चित्तम् योगपक्षेऽपि प्राप्तम् हि निमित्तम्
अपच्छेद उङ्गातृ प्रतिहतस्य । यत्र हि द्वयोः अपच्छेदः, तत्र
द्वावप्यपच्छिन्नौ, एकोऽप्यपरोऽपि, सयुक्तस्य हि पृथग्भावे
अपच्छेदः, स च उभयस्योऽपि, एकेनापि तत्र अपच्छेदः क्रियते
नपेक्ष्य अपरम्, अपरेणापि । ‘कालमात्रन्तु’ तत्र ‘एकम्, न

भा च कालेक्यादपच्छेदयोः ऐक्यं भवति । तस्मात् प्रायश्चित्तम्
युगवदपच्छेदेऽपि ॥ (६।५।२७ अ०) ॥

पौगण्येऽदाक्षिण्य सर्वस्वदाक्षिण्यविकल्पाधिकरणम् ॥

स तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात् ॥ ५१ ॥ (सि०) ॥

भा यद्युद्गातृप्रतिहर्त्राः युगवदपच्छेदो भवति, तत्र सन्देहः,—
किम् अदाक्षिण्यं, सर्वस्वं वा विकल्पः, उत समुच्चयः?—इति ।
किं प्राप्तम्?—‘तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात्’, विरुद्धौ हि एतौ
कल्पौ, सर्वस्वमदाक्षिण्यं च, तस्मात् विकल्पो भवितुमर्हति ॥

स प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहः स्यात् ॥ ५२ ॥ (यू०) ॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न च एतदस्ति,—विकल्पः—
इति, उभयोर्विधानात्, सर्वाङ्गोपसंहारी प्रयोगवचन एवम्
उपपद्यते । विकल्पे हि पक्षे बाधः, तस्मात् समुच्चयः । अथ
यदुक्तम्,—विरोधात् विकल्पः—इति । उच्यते,—‘प्रयोगान्तरे
वा उभयानुग्रहः स्यात्’, तेन पुनः ‘यजेत’—इत्युच्यते, द्विस्तस्य
प्रयोगः । तत्र एकस्मिन् प्रयोगे एकः कल्पः, अन्यस्मिन् अपरो
भविष्यति । एवम् अविरोधः । तस्मात् उभयं प्रायश्चित्तम्—
इति ॥

स न चैकसंयोगात् ॥ ५३ ॥ (उ०) ॥

भा न च, एतदेवम् । कुतः? । ‘एकसंयोगात्’, स एव यागः पुनः
क्रियेत, यदि अन्यतरेण विना वैगुण्यम्—इत्यवधार्येत, सर्वत्रैव
क्रियमाणे अदाक्षिण्याभावात् विगुणः स्यात्; न अन्यस्मिन्
प्रयोगे क्रियमाणे अन्यः प्रयोगानुगृह्यते, न च अदाक्षिण्यस्य

भा चेत् । प्रत्यक्षत्वेऽपि सति नैव बाधेत, यदि यथावर्णितोऽय-
माख्यातार्थो न भवेत्, सति पूर्वविज्ञाने अशक्यत्वात् प्राप्तं
बाधेतैव । तस्मात् परबलीयस्त्वं न्यायमेव—इति ॥ (६।५।
१६ अ०) ॥

उद्गातुष्वप्यप्येदेऽपि सर्वसदक्षिणादानाधिकरणम् ॥

स यद्युद्गाता जघन्यः स्यात् पुनर्यज्ञे सर्ववेदसन्दद्यात्,
यथेतरस्मिन् ॥ ५५ ॥

भा यदा प्रतिहर्तुः पूर्वमपच्छेदः तत उद्गातुः, तत्र अदक्षिणेन
इहा पुनर्यष्टयम् । तत्र सन्देहः,—पुनर्यागे किं द्वादशशतं
दातव्यम् उत सर्वसम्?—इति । किं प्राप्तम्?—द्वादशशतम् ।
कुतः? । एवं हि आम्नायते, 'तत्र तत् दद्यात्, यत् पूर्वस्मिन्
दास्यन् स्यात्', पूर्वस्मिंश्च प्रयोगे ज्योतिष्टोमदक्षिणैव प्राप्ता ।
तस्मात् द्वादशशतम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—तत्र 'पुनर्यज्ञे' सर्वं 'दद्यात्', 'यथा इतर-
स्मिन्' (पूर्वस्मिन् अहनि सर्वसम्) । 'कथम् तत्र सर्वसम्?—
इति चेत्' । प्रतिहर्तुः अपच्छेदात्, प्रतिहर्त्तरि अपच्छिन्ने
द्वादशशतं बाधित्वा सर्वस्य दास्यन् भवति । 'ननु पूर्वस्मिन्
अहनि द्वादशशतमप्यसौ दास्यन्नासीत्' । सत्यं, सर्वसदानेन
त उभय प्रदत्तं भवति, तस्मात् तद्वैयं । 'ननु अर्वागापि
द्वादशशतात् सर्वसम्' । नैतदेवम्, अधिकृते द्वादशशते सर्वसम्
अप्यधिकं भवति । अपि च पूर्वस्मिन् अहनि नैव द्वादशशतं
दास्यन् भवति—इति, एतावत् दास्यन्—इति उच्यते, यस्य
उत्तरकाले तावदानं भवति । न च, पूर्वस्मिन् अहनि द्वादश-
शतं दीयते, तस्मात् न तदास्यन्—इत्यवगम्यते, मिथ्याबुद्धिः
सा, तत्त्वेन व्यवहारः ।

भा. 'ननु च सर्वस्वम् अपि प्रतिषिद्धं भवति, तदप्यसौ न दास्यन्निति, साग्न्यस्य मिथ्याबुद्धिः'। न—इत्याह, साग्न्यास्य ज्योतिष्टोमस्य प्रयोगः, तत्र प्रथमप्रयोगे अदाक्षिण्यविरोधात् सर्वस्वम् बाध्यते, द्वितीयप्रयोगे तद्दानं चोद्यते; तत्र विरोधो नास्ति, तस्य एव यज्ञस्य स एव प्रयोगः, प्रतिहर्त्ता च तस्मिन् अपच्छिन्नः—इति द्वादशशतं बाधित्वा सर्वस्वमेव दास्यन् भवति। तस्मात् सर्वस्वम् तत्र देयम्—इति ॥ (६।५।२० अ०) ॥

अदग्नेऽपच्छेदे न सर्वेषामावभृताधिकरणम् ॥

छ. अहर्गणे यस्मिन्नपच्छेदस्तदावर्त्तत कर्मपृथक्कात् ॥
५६ ॥

भा. अहर्गणे यदा भवति कस्मिंश्चिदहनि उद्गातुः अपच्छेदः, तदा सन्देहः,—किं ह्यहो अहर्गणं आवर्त्तते, उत तदेव अहः?—इति। किं प्राप्तम्?—ह्यहोऽहर्गणः। कुतः?। अपरैरहोभिः विना, तदा विगुणं भवति, तस्मात् गण एवावर्त्तत—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'यस्मिन् अपच्छेदः', 'तत्' एव 'आवर्त्तत'। कुतः?। 'कर्मपृथक्कात्', पृथगेतानि कर्माणि, न अन्यत् अहः अन्यस्य गुणभूतं, इद्धा—इति च यागं परिसमाप्येति गम्यते, न साङ्गम्—इति; यान्यहर्गणैराणि साहचर्येण उपकरिष्यन्ति, विद्यन्त एव तानि; अतः साहचर्यं करिष्यन्ति—इति। तस्मात् तदेवावर्त्तत ॥ (६।५।२१ अ०) ॥

इति श्रीवरस्वामिनः क्षतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

पष्ठे अध्याये षष्ठ पाद ॥

—

सर्वे समानकल्पानाम् सहाधिकाराधिकरणम् ॥

स सन्निपातेऽवेगुण्यात् प्रकृतिवत्तुल्यकल्पा
यजेरन् ॥ १ ॥ (सि०) ॥

भा सचाणि उदाहरणम् 'सप्तदशावरा सचमासीरन् य एव
विद्वांस सचमासते य एव विद्वांस सचम् उपयन्ति'—इति । तत्र
सन्देहः,—किं समानकल्पानाम् भिन्नकल्पानाम् च सहाधिकारः,
उत समानकल्पानामेव?—इति । के पुनः समानकल्पाः ?
'राजन्यात्रिवधः श्ववसिष्ठवैश्यशुनकानाम् कण्डकश्चपसङ्कती
नाम् नाराशंसो द्वितीय प्रयाज तनूनपात् इतरेषाम् । एव
केचित् नाराशंसकल्पा केचित् तनूनपात्कल्पा । तत्र किं
तावत् प्राप्तम्?—सन्निपाते बहूनाम् यजमानानाम् ये एव
तुल्यकरणाः, त एव सह सचमासीरन् । कुत ? 'अवेगुण्यात्,
इतरथा यस्य कल्पो नोपसङ्गियेत, तस्य वेगुण्य स्यात् यथा
प्रकृतावेव विना साङ्गुण्येन, फलाभाव एवम् इच्छापि—इति ॥

स वचनाद्वा शिरोवत् स्यात् ॥ २ ॥ (पू०) ॥

भा वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते । न च, एतदस्ति, भिन्न
कल्पानाम् अनधिकारः—इति, तेभ्यः अधिक्रियेरन् । कुत ?
अविशेषेण सर्वेषां यजमानानाम् प्राप्तिः, न च भिन्नकल्पानाम्
प्रतिषेधः । 'ननु वेगुण्य भिन्नकल्पानाम् । अत्र उच्यते,—

* अथ वसिष्ठ इत्येव वसिष्ठ इति क० स० पु० पाठः । एवं वैश्य इत्येव वैश्य इति
क० स० द्वितीयपुनरुक्तपाठः ।

भा. 'वचनात्', सामान्यवचनेन भिन्नकल्पा अपि गृहीताः, तत्र 'शिरोवत्' बाधः 'स्यात्', यथा, 'पुरुषशीर्षम् उपदधाति'—इति-
वचनसामर्थ्यात् श्वशिरसां स्पर्शनं स्मृतिविमतिषिद्धम् अपि
क्रियते, एवं इच्छापि। अथ वा, 'आशिरवत्', यथा 'क्षतपेये
घृतघृतो भवति'—इतिवचनात् व्रतदुहि निवृत्त्यायाम् अन्या-
माशिरः* गां कल्पयन्ति। एवम् एतदपि वचनात् भविष्यति॥

सू. न वाऽनारभ्य-वादत्वात् ॥ ३ ॥ (उ०) ॥

भा. नेतदस्ति, यदुक्तं,—भिन्नकल्पानाम् अप्यधिकारः—इति,
समानकल्पाः एव अधिक्रियेरन्। कुतः?। अवैगुण्यात्। अथ
यदुक्तं,—वचनात् वैगुण्येनापि सेत्स्यति—इति; तन्न, 'अना-
रभ्यवादत्वात्', तद्वि वचनात् प्रकल्प्यते, यस्मिन् अकल्प्यमाने
वचनम् अनर्थकं भवति, यदि हि आरभ्य भिन्नकल्पान्, एतत्
उच्यते, ततो वचनम् अनर्थकं भवति—इति भिन्नकल्पानामपि
सर्वमभ्युपगम्येत, न तु आरभ्य भिन्नकल्पान्, एतत् उच्यते;
समानकल्पेषु अर्थवत्ता अस्य वचनस्य भविष्यति। तस्मात्
न भिन्नकल्पानाम् अधिकारः—इति॥

सू. स्याद्वा यज्ञार्थत्वादौदुम्बरीवत् ॥ ४ ॥ (आ०) ॥

भा. 'स्यात् वा' भिन्नकल्पानाम् अधिकारः। कुतः?। 'यज्ञार्थ-
त्वात् कल्पस्य, वसिष्ठादीनाम् नाराजसकल्पो यज्ञस्य साधकः;
स च यज्ञः सर्वेषां साधारणः, परकल्पेनापि सिद्धः सिद्धो भवति;
यथा, 'यजमानेन सम्मायौदुम्बरीं परिवासयन्ति'—इति यस्य
कस्यचित् परिमाणेन सिद्धो यज्ञोऽन्येषामपि सिद्धो भवति।
'उच्यते, ननु प्रयाजस्य वाक्येन पुरुषसम्यग्भ्यः, स च प्रकरण-
प्रामां यागार्थतां बाधियते—इति'। न—इति भूमः,—फलं

भा हि तदा कल्पयितव्यम् । 'ननु इतरघाप्यदृष्टम् अवश्यं कल्पनीयम् । तत्र उच्यते, सत्यं कल्पनीयं, प्रमाणेन तु प्रयोगवचनैकवाक्येन, द्वितीये तु पक्षे कल्पयित्वा शब्द, तेनैकवाक्यता स्यात् । 'अथ उच्येत, क्वचित् समाम्नातेन सहैकवाक्यता भविष्यति' । तथापि अभिहितेन यथाहितेन च कल्प्यमाना प्रकृतकल्पनाया गुह्यतरा स्यात् ॥

सू न, तत्प्रधानत्वात् ॥ ५ ॥ (आ० नि० १) ॥

भा नैतदेवम्, 'तत्प्रधानत्वात्', पुरुषार्था हि एष कल्पः । कथम् ? वसिष्ठादीनाम् नाराशंसो यज्ञाङ्गम्—इति, यच्च यस्य यज्ञाङ्गं, तेन सह फलदं कर्म तस्य भवति, तेनैवम् अभि सम्बन्धः क्रियते,—वसिष्ठानाम् नाराशसेन सहितं कर्म फलदं भवति—इति ॥

सू औदुम्बर्याः परार्थत्वात्कपालवत् ॥ ६ ॥
(आ० नि० २) ॥

भा अथ यदुपवर्णितं, यथा औदुम्बरी तथेह—इति, पाराश्व्यम् औदुम्बर्याः, यजमानो गुणत्वेन श्रूयते । 'ननु तत्रापि प्रयोगवचनः पुरुषप्रधान्यं कुर्यात्' । नैपदोषः, एकेनापि यजमानेन सम्मिता च इयं सर्वया यजमानसम्मिता भवति, न तु इह एकस्य संगृहीते सर्वया संगृहीत । तस्मात् 'औदुम्बर्याः' पाराश्व्यम्, 'कपालवत्', यथा, 'पुरोडाशकपालेन तुषा उप यपन्ति—इति परार्थकपालेन तुषा उपवपन्त्या,—इत्युषादीयते, एवमेतदपि—इति ॥

सू अन्येनापीति चेत् ॥ ७ ॥ (आ०) ॥

भा एवं 'चेत्' भवान् पश्यति,—यजमानेन सम्मान, तत् प्रयो

भा जनं स्वेनान्येन वा यजमानेन—इति, तथा प्रयोगान्तरे यो यजमानः तेनापि सम्मानं प्राप्नोति ॥

ख नैकत्वात्तस्य चानधिकारात् शब्दस्य चाविभक्त-
त्वात् ॥ ८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अत्र उच्यते, न प्रयोगान्तरस्य यजमानः प्रसज्यते^२। न तु यजमानशब्दे कश्चिद्विशेषः, यतो यजमानशब्दात् व्यवस्था स्यात्, किं तर्हि, एकत्वस्य विवक्षितत्वात्, न ह्यभ्यां याज मानानि कर्तव्यानि—इति न अन्य आनीयते। 'आह, अन्य एव तर्हि सर्वथाजमानेषु भवतु'। नैवं, कामिनं हि अधि-
कृत्य, साङ्गस्य यागस्य वचनम्। यजमानशब्दस्याविभक्त इह औदुम्बर्याः सम्माने; तस्मात् न अन्यो भविष्यति ॥

ख सन्निपातात्तु निमित्तविधातः स्याद्दृष्टद्वयन्तरवद्वि-
भक्तशिष्टत्वात् वसिष्ठविर्वर्त्ये ॥ ९ ॥ (आ०) ॥

भा तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। वज्रपु यजमानेषु 'सन्निपातात्', 'निमित्तविधातः स्यात्'। कुतः?। 'विभक्तशिष्टत्वात्, वसिष्ठ-
निर्वर्त्ये' प्रयोगे नाराशंसो नैमित्तिकः; अन्यस्मिन् तनूनपात् नैमित्तिकः, यत्र इदानीम् उभये कर्तारः सद्यहायेन^३, तत्र निर्द्विर्त्तने केवलेन। तस्मात् न केवलः कर्त्ता; न चेत् वसिष्ठः केवलः कर्त्ता, तस्मात् तन्निमित्तं तत्र न कर्त्तव्यम्, न च इतर-
निमित्तम्, उभयोरप्यन्योन्येन विधातः, 'दृष्टद्वयन्तरवत्', तत् यथा, 'दृष्टद्वयन्तरं पृष्ठं भवति'—इति न दृष्टत्साधनकं, न रयन्तरसाधनकम्—इति, नैव तत्र दृष्टत् निमित्तं भवति, न रयन्तरं वा। एवम् इहापि—इति ॥

* प्रसज्यते इति भा० श्लो० पु० पाठः ।

† वसिष्ठ इति भा० श्लो० पु० पाठः । ; साहायेन इति भा० श्लो० पु० पाठः ।

स. अपि वा कृत्स्नसंयोगादविघातः प्रतीयेत स्वामित्वेनाभिसम्बन्धात् ॥ १० ॥ (आ० नि० १) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षं व्यावर्त्तयति । कृत्स्नं प्रति केवलस्य कर्तृत्वेन संयोगो भवति, तस्मात् 'अविघातः' नैमित्तिकानाम् । कथम् पुनः कार्त्स्न्येन कर्त्तव्यत्वम् ? । 'स्वामित्वेनाभिसम्बन्धात्', कर्म प्रति स्वामित्वेन केवलानाम् वसिष्ठादीनामभिसम्बन्धो भवति, कर्म पुरुषाणाम् उपकारकं, तद्धि एकैकस्य शक्नोति फलं निर्वर्त्तयितुम् ; तस्मात् एकैकः कृत्स्नस्य कर्त्ता—इति तत् नैमित्तिकं सर्वं प्राप्नोति ; यथा, तुण्डमात्रे दीयताम्—इति, यद्यपि सा तुण्ड-डपित्थयोर्माता, तथापि तस्यै दीयते ; कार्त्स्न्येन हि तस्य सा माता भवति, न हि व्यासज्यते मातृत्वं ; तद्वत् इहापि द्रष्टव्यम् । तस्मात् असमानकल्पानाम् अनधिकारः ॥

स. साम्नोः कर्मवृद्धौकदेशेन संयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः तस्मात्तत्र विघातः स्यात् ॥ ११ ॥ (आ० नि० २) ॥

भा. अथ यदुक्तं, वृद्धद्रव्यन्तरवत्—इति, तत्परिहरणीयम् । वृद्ध-द्रव्यन्तरयोः 'साम्नोः' नैमित्तिक—'कर्मवृद्धौकदेशेन' संयोगो भवति, तत्र हि उभयोः साधकत्वं, न एकस्य । स्तोत्रैकदेशेन तु तत्र साम्नोः सम्बन्धः, न कृत्स्नेन स्तोत्रेण, गुणत्वेन हि तत्र साम श्रूयते, स्तोत्रं प्राधान्येन । तस्मात् तत्र विघातः स्यात् ॥ (६।६।१ अ०) ॥

मित्रकल्पयोरपि राज्ञः पुरोहितस्य च कुलाययज्ञेऽधिकाराधिकरणम् ॥

स. वचनात्तु द्विसंयोगस्तस्मादेकस्य पाणित्वम् ॥ १२ ॥
(पू०) ॥

भा. इदं समामनन्ति,—'एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामी

भा. यजेयाताम्—इति । तत्र सन्देहः,—किं राज्ञो द्वौ पुरोहितौ यजेयातां, उत राजा च पुरोहितश्च?—इति । किं प्राप्तम्? —राज्ञो द्वौ पुरोहितौ—इति । कुतः? । पुरोहितशब्दात् परं द्विवचनं श्रूयते, तच्छब्दवाच्यस्य द्वित्वं शक्नोति वदितुम् । पुरोहितश्च तच्छब्दवाच्यः श्रुत्या, न राजा; पुरोहितवचनः पुरोहितशब्दः; लक्षण्या युगपदधिकरणवचनतायां हि तत् भवति । ‘ननु एकस्य द्वौ पुरोहितौ न स्तः,’ ‘पुरोहितं वृणीत’—इति हि उपादीयमानस्य विवक्षितम् एकत्वम्—इति । उच्यते, ‘वचनात्’ एतत् भविष्यति, किं हि वचनं न कल्पयेत्? एतेनैव कारणेन द्वौ भविष्यतः, यथा वचनेन ‘अञ्जलिना जुहोति’—इत्येकस्यैव द्वौ पाणी भवतः, यद्यपि सद्यो प्राप्तः तथापि—इति ॥

ख अर्थाभावात् नैवं स्यात् ॥ १३ ॥ (उ०) ॥

भा तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते । ‘नैवं स्यात्,’ द्वौ पुरोहितौ—इति । कुतः? । ‘अर्थाभावात्,’ नैवायम् अर्थोऽस्ति,—द्वौ पुरोहितौ—इति, एकस्य राज्ञः एक एव पुरोहितः उपादेयत्वेन हि श्रूयते, ‘पुरोहितं करोति’—इति, एकत्वं विवक्षितम् । ‘ननु वचनात्—इत्युक्तम्’ । उच्यते, न तु वचनात् एतत् शक्यं, संस्कारनिमित्तत्वात् पुरोहितशब्दस्य, क्रियमाणोऽपि न पुरोहितः स्यात् ॥

ख अर्थानाञ्च विभक्तत्वात् न तच्छ्रुतेन
सम्बन्धः ॥ १४ ॥ (यु०) ॥

भा अर्थानाञ्च विभक्तत्वं श्रूयते,—‘तेजःसंस्तवो ब्राह्मणस्य, वीर्य-संस्तवो राजन्यस्य’ । ताभ्यां वर्णाभ्यां तेन तेन फलेन सम्बन्धो-भूयते । तस्मात् अपि न द्वौ पुरोहितौ—इति ।

घ पाणोः प्रत्यङ्गभावादसम्बन्धः प्रतीयेत ॥ १५ ॥
(आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्तम्, एतस्मात् एव कारणात् एकस्यैव पुरुषस्य द्वौ पाणौ भवतः—इति; युक्तं तत्र, 'पाणोः प्रत्यङ्गभूतत्वात्, अञ्जलिं प्रत्यङ्गभूतो* दक्षिणस्य पाणोः सद्यः पाणिः, तेन विना अञ्जलिरेव न भवति, न हि दाभ्यां दक्षिणाभ्याम् अञ्जलिः—इति उच्यते, तस्मात् राजा च पुरोहितश्च स्यात्। 'ननु तत्र राजपुरोहितश्च राजपुरोहितश्च राजपुरोहितौ यजेयाताम्—इति। उच्यते,—न तौ सामुज्यकामौ भवतः, स राजा पुरोहितेन सहैककार्यो भवति, न तु पुरोहितः पुरोहितेन; उभावपि तौ हि राजानम् अभिचरन्तौ पुरोहितौ—इत्युच्यते, न हि ताविच्छन्तौ,† संस्कारशब्दो हि पुरोहितः—इति। 'ननु लक्षणा भवति भवत्यप्ते'। उच्यते, श्रुत्यभावे लक्षणयापि व्यवहारो भवति, यथा, अग्नौ तिष्ठत्यवटे तिष्ठति—इति। तस्मात् राजा च पुरोहितश्च राजपुरोहितौ—इति ॥ (६। ६। २ अ०) ॥

यत्र ब्राह्मणभाजस्याधिकाराधिकरणम् ॥

घ सत्राणि सर्ववर्णानामविशेषात् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा इह सत्राणि उदाहरणम्। 'य एवं विद्वांसः सत्रमासते, य एवं विद्वांसः सत्रम् उपयन्ति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं सत्राणि त्रयाणामपि वर्णानाम्, उत ब्राह्मणानाम् एव?—इति। किं प्राप्तम्?—'सत्राणि सर्ववर्णानाम्' भवेयुः—इति।

* अञ्जलिं प्रत्यङ्गभूतो इति आ० सो० पु० पाठः ।

† तस्मिच्छन्तौ इति का० क्री० पु० पाठः ।

भा कस्मात्?। 'अविशेषात्', न हि कश्चिद्विशेष आश्रीयते, अमीषा
वर्णानाम् सत्त्वाणि भवन्ति, अमीषां न—इति । तस्मात् त्रया-
णामपि वर्णानाम् अधिकारः—इति ॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १७ ॥ (यु०) ॥

भा इतश्च पश्यामः, त्रयाणाम् सत्त्वाणि—इति । कुतः?। 'लिङ्ग-
दर्शनात्'। किं लिङ्गं भवति?। एवम् आह, 'वार्हङ्गिरं
ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्यात्, पार्थुरश्यं राजन्यस्य रायोवाजीयं
वैश्यस्य'—इति द्वादशाहे भवति वचनं ब्रह्मसामविधानपरम्,
तस्मिन् राजन्यवैश्यानाम् दर्शनं भवति । तस्मात् अपि सर्व-
वर्णानाम् अधिकारः—इति ॥

सू ब्राह्मणानां वेतरयोरात्विज्याभावात् ॥ १८ ॥
(सि०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । न च एतदस्ति, त्रयाणामपि
वर्णानाम्—इति । किं तर्हि?—'ब्राह्मणानाम्' एव स्यात् ।
कुतः?। 'इतरयोरात्विज्याभावात्', इतरयोर्हि वर्णयोराजन्य-
वैश्ययोः आत्विज्यं प्रतिषिद्धं; स्वयमेव आत्विज्येन च विना
विगुणत्वम् । तस्मात् ब्राह्मणानामेव स्यात् ॥

सू वचनादिति चेत् ॥ १९ ॥ (आ०) ॥

भा इति चेत् पश्यामि,—राजन्यवैश्ययोर्वेगुण्यमापद्यते—इति ।
'वचनात्' यजमानाः सन्तः षट्त्विजो भविष्यन्ति, 'ये यज-
मानास्ते षट्त्विजः'—इति । के पुनर्यजमानाः?। ये तत्र फलं
कामयमानाः सचकर्मणि प्रवृत्तास्ते राजन्या अपि वैश्या अपि,
तेषाम् षट्त्विक्कर्म विधीयते । 'तत्र एतत् स्यात्' तेषाम्
आत्विज्यं शक्यं कर्तुम्, तेषामेव तत् ब्राह्मणानाम्,

भा हि राजन्यवेश्याना, न तेषाम् इदम् आर्त्विज्यविधानमिति ।
 नेतदेव, यथैव ब्राह्मणाना यजमानानामप्राप्त वचनविधानात्
 भवति, एवम् अर्वाङ्गणानामपि यजमानाना वचनप्रामाण्या
 देव भवितुमर्हति—इति । तस्मात् आर्त्विज्यसंस्कृता राजन्य
 यैष्या अपि सचमासीरन्—इति ॥

स न स्वामित्वं हि विधीयते ॥ २० ॥ (आ० नि०) ॥

भा नेतदेवम्, 'स्वामित्वम्' अनेन वचनेन विधीयते,—एवकामा
 सचमासीरन्—इति विधीयते, न आर्त्विज्यम् । 'अथ 'ये' यज
 मानास्ते ऋत्विज —इत्यनेन वचनेन विहितम् आर्त्विज्यम्
 —इति । उच्यते, तदपि न । कथम् ? न अत्रैषा वचनव्यक्ति
 —ये यजमाना —इत्युद्देशपद,* 'ऋत्विज'—इति विधेयपद,
 तथा हि सति आर्त्विज्यमङ्गम् यजमानसंस्कारक विधीयेत, न
 यजमाना आर्त्विज्यस्य अङ्गम् तत्र माहृतार्थता नेयाम् आर्त्वि
 ज्याना स्यात् संस्कारस्य अदृष्ट कल्प्येत । स च यजमान
 विषय—इति पुनरदृष्टम् । तस्मात् न यजमानाना सताम्
 आर्त्विज्या पदार्था विधीयन्ते, किन्तर्हि ?—आर्त्विजानाम्
 पदार्थानाम् अनन्यकर्तृकता, एषा च वचनव्यक्ति,—ऋत्विज
 इत्युद्देशपदम् ते—इति विधीयते, ये यजमानास्त एव
 ऋत्विजो भवन्ति, न अन्ये—इति आर्त्विजेषु पदार्थेषु यज
 माना कर्तारो विधीयन्ते प्रत्याग्नानात् अन्ये निवर्तन्ते, एवं
 सति माहृतप्रयोजना एव आर्त्विजा पदार्था, न यजमान
 संस्कार अदृष्टो विधीयते—इति । 'यजमानकर्तृकल्पनाया
 मध्येषाम् अदृष्टम्—इति यदि कल्प्येत । तत्र ब्रूम,—इतर
 स्मिन् अपि पक्षे यजमानविषय सोऽदृष्ट संस्कार—इति

भा. अवश्यं कल्पनीयम्, यश्च उभयोः पक्षयोर्दोषः न तमेकश्चोद्यो भवति ॥

ख. गार्हपते वा स्यातामविप्रतिषेधात् ॥ २१ ॥ (आ०) ॥

भा. 'गार्हपते' पदार्थे राजन्यवैश्यौ भविष्यतः, न च, तत्र आर्त्विजप्रयोजनम्। तस्मात् अविप्रतिषेधः तेषाम्—इति ॥

ख. न वा कल्पविरोधात् ॥ २२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न चेत्तदस्ति,—गार्हपते वा पदार्थे राजन्यवैश्यौ—इति, कल्पविरोधो हि स्यात्,—'यजमानचमसः सोममय एकेषां, फलमयचमस एकेषाम्' तथा, 'ब्रह्मसाम गार्हपतिं ब्राह्मणानाम्, पार्थरश्मं राजन्यानाम्, रायोवाजीर्यं वैश्यानाम्'। तस्मात् गार्हपते निवेशः—इत्येतदपि नास्ति ॥

ख. स्वामित्वादितरेषामहीने लिङ्गदर्शनम् ॥ २३ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—लिङ्गदर्शनात्—इति, तत्परिहर्तव्यम्; अत्र उच्यते, अहीनमेव सर्वशब्देन वक्ष्यति, यतः स्वामित्वमृत्विजां विधीयते। अतः ऋत्विजां स्वामित्वात् राजन्यवैश्यानां सत्त्वं न अवकल्पते—इति। तस्मात् अहीने लिङ्गदर्शनम् ॥ (६।६। ३ अ०) ॥

मन्त्रे विद्यामिचतत्पुमानकल्पानामेवाधिकाराधिकरणम् ॥

ख. वासिष्ठानाम् वा ब्रह्मत्वनियमात् ॥ २४ ॥
(१ पू०) ॥

भा. एतत् समधिगतं ब्राह्मणानामेव सत्त्वं, न राजन्यवैश्यानाम्

भा —इति, अथ इदानीम् इदं सन्दिग्धं, किं सर्वेषां ब्राह्मणानाम्, उत वासिष्ठानां स, उत भृगुशुनकवसिष्ठान् वर्जयित्वा अन्येषाम्?—इति । किं प्राप्तम्?—सर्वेषाम् अविशेषात्, न हि कश्चिदिशेष आश्रीयतेऽमीषां ब्राह्मणानां सचम् अमीषां न—इति । तस्मात् सर्वेषाम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘वासिष्ठानाम् ब्रह्मत्वस्य नियमात्, वासिष्ठानां सचं स्यात्, न अन्येषाम् । कुतः? । ब्रह्मत्वस्य नियमो भवति, ‘वासिष्ठो ब्रह्मा भवति’—इत्यतो वासिष्ठानां, तत् समानकल्पानाञ्च सचं स्यात्—इति ॥

सु सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् ॥ २५ ॥ (२य पू०) ॥

भा ‘सर्वेषां वा’ सचं स्यात्, अविशेषात् । ‘ननु वासिष्ठो ब्रह्मा’—इत्युच्यते । न—इति आह, पुनः प्रतिस्मर्यते,—‘य एव कश्चन स्तोमभागमधीयीत स एव ब्रह्मा भवेत्’—इति । वासिष्ठोपदेशः इदानीं किमर्थः?—इति चेत् । स्तोमभाग-प्रशंसार्थः,—स्तोमभागान् अधीयानोऽवासिष्ठोऽपि वासिष्ठकार्थं समर्थः कर्तुम्—इति ॥

सु विश्वामित्रस्य ह्यौचनियमात् भृगुशुनकवसिष्ठानाम् अनधिकारः ॥ २६ ॥ (सि०) ॥

भा भृगवादीनाम् अनधिकारः स्यात् । कुतः? । वैश्वामित्रस्य ह्यौचं नियम्यते,—‘विश्वामित्रो ह्यौता भवति’—इति । तस्मात् वैश्वामित्राणाम्, तैश्च समानकल्पानाम् अधिकारः—इति ॥ (६। ६। ४ अ०) ॥

भवे अनाहिताग्नेरेवाधिकाराधिकरणम् ॥

स विद्धारस्य प्रभुत्वादनग्नीनामपि स्यात् ॥ २७ ॥
(पू०) ॥

भा सवाण्येव उदाहरणम्,—‘य एवं विद्वांसः सचमासते, य एवं विद्वांसः सचम् उपयन्ति’—इति; तेषु सन्देहः,—किं साग्नीनामनग्नीनाञ्च तानि भवन्ति, उत साग्नीनामेव?—इति। किं प्राप्तम्?—साग्नीनामनग्नीनाञ्च। कुतः?। ‘विद्धारस्य प्रभुत्वात्’, प्रभवति हि परकीयोऽपि विद्धारः सर्वेषाम् उपकर्तुम्, कर्त्तव्यो हि तेन सिध्यति—इति स यदीयेन—तदीयेन वा सिद्धिमुपैति। तस्मात् अनग्नीनामपि भवितुमर्हति—इति ॥

स सारस्वते च दर्शनात् ॥ २८ ॥ (यु० १) ॥

भा. सारस्वते च सचे भवति दर्शनं,—‘पररघैर्वा एते स्वर्गं लोकं यन्ति, येऽनाहिताग्रयः सचमासते’—इति, अनाहिताग्नीनां सचं दर्शयति। तस्मात् अपि सर्वेषाम् ॥

स प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥ २९ ॥ (यु० २) ॥

भा प्रायश्चित्त विधीयते,—‘अग्रये विविचयेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत् यस्याहिताग्नेः अन्यैरग्निभिः अग्रयः संसृज्येरन्’—इति, संसर्गाग्नीनाम् प्रायश्चित्तं दर्शयति, स एवं स्यात् अनाहितैः, नान्यथा, तस्मादप्यनग्नीना सवाणि—इति ॥

स साग्नीनां वेष्टिपूर्वत्वात् ॥ ३० ॥ (मि०) ॥

भा ‘साग्नीनाम् वा’ सवाणि, न अनग्नीनाम्। कस्मात्?। ‘इष्टिपूर्वत्वात्’, इष्टिपूर्वत्व सोमानामाग्नातं,—‘दर्शपूर्णमासौ इद्धा सोमेन यजेत’—इति ज्योतिषोक्तस्य इष्टिपूर्वत्वम् तच्चो

भा. दक्षपरम्परया सत्राणि प्रति प्राप्तम् । तस्मात् अग्नीनां तानि भवेयुः—इति ॥

स स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् ॥ ३१ ॥ (यु० १) ॥

भा. स्वार्थेन च अग्रयः प्रयुक्ताः । कथम् ? । उपग्रहविशेषात्, उपग्रहविशेषो हि भवति,—‘अग्नीनादधीत’—इति । तस्मात् अन्यस्य अग्निभिः अन्यस्य न सिद्धिः, यद्यपि क्रत्वर्था अग्रयः—इति ॥

स सन्निवापं च दर्शयति ॥ ३२ ॥ (यु० २) ॥

भा. ‘सावित्राणि होष्यन्तः सन्निवपेरन्’—इति तेनापि साग्रयः सत्राण्युपासते—इति गम्यते । एवं लिङ्गपरिहारौ अग्निष्टे-धिकरणेभ्यश्चिन्तयते ॥ (६।६।५ अ०) ॥

जुह्वादीनां साधारणाधिकरणम् ॥

स जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात्सन्देहे यथाकामी प्रती-
येत ॥ ३३ ॥ (पू०) ॥

भा. किं जुह्वादीनि पात्राणि कस्यचित् एव यजमानस्य, उप-
दाय प्रयोगः कर्तव्यः, उत अन्यानि साधारणानि कर्तव्यानि ?
किं प्राप्तम् ?—यस्य—कस्यचित् एव यजमानस्य उपादा-
प्रयोगः कर्तव्यः । कुतः ? । न हि स्वं पात्रं यजमानः प्रयुङ्क्ते
—स्वेन पात्रेण प्रयोगः कर्तव्यः—इति । तस्मात् परकीयपात्रे
अन्ये यजेरन्—इति ॥

सू. अपि* वान्यानि पात्राणि साधारणानि कुर्वीरन्
विप्रतिषेधाच्छास्त्रकृतत्वात् ॥ ३४ ॥ (सि०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। नेतदेवं, 'अन्यानि' हि
'पात्राणि साधारणानि' कतेयानि। कस्मान्?। 'विप्रति-
षेधात्', विप्रतिषेधो भवति, कदाचित्तानि पात्राणि उपात्तानि
भवेयुः, अथ मरणं कस्यचित् यजमानस्य आपद्येत, तत्र
विप्रतिषेधः स्यात्, 'आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च'—
इति यदि तं तेर्दहेयुः, इतरेषां यज्ञो विरुध्येत। अथ तैर्यज्ञं
समापयेयुः† इतरस्य शरीरसंस्काराः परिलुप्येरन्, अन्येषु
पुनः साधारणेषु उपादीयमानेषु न किञ्चित् अपि विरुध्येत।
तस्मात्‡ तथा कार्यम्—इति ॥

सू. प्रायश्चित्तमापदि स्यात् ॥ ३५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ इदानीं पूर्वोक्तस्य लिङ्गस्य परिहार उच्यते, प्राय-
श्चित्तम् अस्मत्पक्षे परिकल्पियते। कथम्?। अरण्ये कान्तारे
गच्छतां स्थितानां वा दस्युभयात् श्वापदभयात् वा चासे जाते
दावाग्निना वा संलुप्येरन्, मिथो वासविषयः प्रायश्चित्तस्य
भविष्यति—इति ॥ (६।६।६ अ०) ॥

* अपि चेति क० म० पु० पाठः ।

† त पक्षे अमरवद्वेदुरिति क० म० पु० पाठः ।

‡ न तथा कार्यमिति का० ऋ० पाठः ।

विहृतसप्तदशसामधेनीषु वर्षत्रयाधिकाराधिकरणम् ॥

स पुरुषकल्पेन वा विहृतौ कर्तृनियमः स्याद्यज्ञस्य
तद्गुणत्वादभावादितरान् प्रत्येकस्मिन्नधिकारः
स्यात्* ॥ ३६ ॥ (पू०) ॥

भा अधरकल्पा उदाहरणम्, 'आययणेष्टिः पशुः'—इत्येवंलक्षण
कानि कर्माणि, येषु सप्तदश सामिधेन्यः; तेषु सन्देहः,—किं
त्रयाणामपि वर्षानामेभिः कर्मभिरधिकारः, उत वैश्यस्यैव?—
इति । किं प्राप्तम्?—एतस्यां 'विहृतौ' 'पुरुषकल्पेन' कर्ता
नियम्येत । कुतः? । यज्ञोभयमधरकल्पादिः, एतत्सङ्ख्यागुणकः,
इयं च सङ्ख्या वैश्यस्य उक्ता, तेन वैश्य एव एतत् कर्म कर्तुं
कर्तुं समर्थः, सप्तदशगुणकमेतत् कर्म, तच्च सामदश्यम् अथै
श्वेन क्रियमाणम् असाधु, इतरान् प्रति हि तन्न चोद्यते,
तेन 'यजेत'—इत्यसामर्थ्यात् ब्राह्मणक्षत्रियान् न अधिकरि-
ष्यति—इति ॥

स लिङ्गाच्चेज्याविशेषवत् ॥ ३७ ॥ (यु०) ॥

भा लिङ्गं च भवति—यथा वैश्यस्य सामदश्यम्—इति, 'सप्तदशो
वैश्यः'—इति, तेन वैश्यस्य सामदश्यम्, अतो वैश्यस्य एवज्ञा-
तीयकानि कर्माणि, यथा इज्याविशेषो वैश्यस्य भवति,—
'वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत'—इति, वैश्यसम्बन्धात्; एवं साम-
दश्यं तस्यैव—इति ॥

ए न वा संयोगपृथक्ताद्गुणस्येज्याप्रधानत्वादसंयुक्ता हि
चोदना ॥ ३८ ॥ (सि०) ॥

भा न चैतदस्ति, पृथगेतौ संयोगो, एकं वाक्यं 'सप्तदश वैश्यस्य

भा. अनुब्रूयात्—इति, वाक्यान्तरम् अध्वरकल्पादियु 'सप्तदशानु-
ब्रूयात्—इति, स च गुणः—इज्याप्रधानो भवति, न इज्या
गुणार्था । किम् अतः ? । यद्येवं यत्र इज्या, तत्र तद्गुणेन भवि-
तव्यं, न यत्र गुणः, तत्र इज्याया, वैश्यस्य गुणानुरोधेन—
इज्यापि ; यथाणां वर्णानाम् इज्या, सा तत्र गुणम् आकाङ्क्षति
—इति । अपि च इज्या गुणभूतस्य अपरा चोदना, न सा
वैश्यसंयुक्ता, सा तु अवैश्यकं गुणं प्रत्याययति । 'प्रथमं स-
वैश्यकम्—इति चेत्' । न, वैश्यस्य प्रधानत्वात्, प्रधानभूतस्तत्र
वैश्यः श्रूयते । तस्मात् सर्वाधिकारः ॥

स. इज्यायां तद्गुणत्वादिशेषेण नियम्येत ॥ ३८ ॥ (यु०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—वैश्यस्तीमे यथा, तद्येहापि—इति ; युक्तं तत्र,
इज्या वैश्यस्य श्रूयते, तत्र वाचनिकेनैव विशेषेण नियम्येत ।
तस्मात् तत्र अदोषः—इति ॥ (६।६।७ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये यष्टस्याध्यायस्य
यष्टः पादः ॥

पठे अध्याये सप्तमः पादः ॥



विश्वजिति पित्रादीनामदेयताधिकरणम् ॥

ख स्वदाने सर्व्वमविशेषात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा इदमामनन्ति विश्वजिति, 'सर्व्वसुन्ददाति'—इति । तत्र सन्देहः,—किं यावत्किञ्चित् सुशब्देन उच्यते, यथा माता पिता—इत्येवमाद्यपि सर्व्वं देयं, उत यत्र प्रभुत्वयोगेन सुशब्द-स्तदेव देयम्?—इति । किं प्राप्तम्?—'अविशेषात्', माता पिता—इत्येवमाद्यपि दातव्यम् । 'ननु दानम्—इत्युच्यते स्वत्वनिवृत्तिः, परस्वत्वापादनं च, तत्र पित्रादीनाम् अशक्यं स्वत्वं निवर्त्तयितुम्, न हि कथञ्चित् पिता न पिता भवति' । उच्यते, सत्यं न असौ न पिता भवति, शक्यते तु परविधेयः कर्त्तुम्, परस्वत्वापादनं च दानं अर्थाच्च स्वत्यत्यागः । तस्मात् सर्व्वं देयम्—इति ॥

ख यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याशक्यत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा वाशब्देन पक्षो विपरिवर्त्तते । 'यस्य' प्रभुत्वयोगेन स्वत्वं, तदेव देयं न इतरत् । कस्मात्? प्रभुत्वयोगिनः शक्यत्वात्, 'इतरस्य' च 'अशक्यत्वात्', न हि पित्रादीनां शक्यते स्वत्वं परित्यक्तुम् ।

'ननु च उक्तं परविधेयीकरणं तस्य शक्यम्'—इति । उच्यते, प्रभुत्वयोगिनः स्वस्य अत्र दीयमानस्य सर्व्वत्वम् उच्यते, न अप्रभुत्वयोगिनः स्वस्य दानं, न च एतच्चारास्यं, यत् पित्रादीनां परिचारकत्वं, यस्य चैतत् न्याय्यम् अपि भवेत्, स दद्यादपि ।

भा 'अथ आह, ननु यत्र स्वशब्दो वर्तते, तद्देयम्—इत्युक्ते पित्रादयो दातव्या गम्यन्ते। तस्मात् तान्प्रति प्रभुत्वाय स्मृतिं बाधित्वापि यतितव्यम्—इति। अत्र उच्यते,—स्वशब्दोऽभ्यमात्मीय-धन-ज्ञातीनां प्रत्येकं वाचको न समुदायस्य, तत्र आत्मीये सर्वतायां ह्यतायां ह्यते शास्वार्थं न अशक्येषु ज्ञातिषु सर्वता कल्पनीया, नापि स्मृतिर्वाधितव्या। अपि च गवादीनामात्मीयानां चोदकेन प्राप्तौ सत्याभवश्यम् आत्मीयगता सर्वता उपादेया, तस्याश्च उपात्तायां ह्यतः शास्वार्थः—इति ज्ञातीनाम् उपादाने न किञ्चित् कारणमस्ति, तस्मात् न पित्रादयो देयाः। तस्मात् यत्र एव प्रभुत्वयोगेन स्वत्वं, तदेव देयम्—इति॥ (६। ७। १ अ०) ॥

विधयिति श्रित्या अदेयताधिकरणम्॥

स न भूमिः स्यात्सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥ ३ ॥

भा अत्रैव सर्वदाने संशयः,—किं भूमिर्देया, न?—इति। का पुनर्भूमिः अत्राभिप्रेता?। यदेतन्महदारब्धं द्रव्यान्तरं पृथिवी-गोलकं, न चैवमात्रं सृजिका वा।

तत्र किं प्राप्तम्?—अविशेषादेया, प्रभुत्वसम्बन्धेन हि तत्र स्वशब्दो वर्तते, शक्यते च मानसेन व्यापारेण स्वस्य स्वता निवर्तयितुम्—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘न भूमिर्देया’—इति। कुतः?। चेवाणाम् ईशितारो मनुष्या दृश्यन्ते, न ह्यस्त्वस्य पृथिवीगोलकस्य—इति।

‘आह, य इदानीं सार्वभौमः, स तर्हि दास्यति’। सोऽपि न—इति ब्रूमः। कुतः?। यावता भोगेन सार्वभौमो भूमेरीष्टे, तावता अन्योऽपि, न तत्र कश्चिद्विशेषः, सार्वभौमत्वेऽस्य त्वेतदधिकं यतः असौ पृथिव्यां सम्भूतानां व्रीक्षादीनां रक्षणेन

मा निर्विष्टस्य कस्यचित् भागस्य ईष्टे, न भूमेः, तन्निर्विष्टाश्च^{*}
ये मनुष्याः, तैरन्यत् सर्वप्राणिनाम् धारणविक्रमणादि यत्
भूमिहृतं, तत्रेशित्वं प्रति न कश्चिद्विशेषः । तस्मात् न भूमि
देया ॥ (६।७।२ अ०) ॥

विश्वजिति अथादीनामदेयताधिकरणम् ॥

स अकार्यत्वाच्च ततः पुनर्विशेषः स्यात् ॥ ४ ॥

भा विश्वजित्येव सन्देहः—किम् अश्वादयो देयाः, न?—इति ।
किं प्राप्तम्?—सर्वस्य विहितत्वात्, देया अश्वाः—इति । एवं
प्राप्ते ब्रूम, —यस्य च दानम् अकार्यं, तच्च न देयम्, यथा
अश्वानाम्; तेषां हि दानम् अकार्यम् । ‘एष हि विशेषः
अश्वानाम्, अन्येभ्यो द्रव्येभ्यः, यत् एषा दानं प्रतिपिथते,—
‘न केसरिणो ददाति न उभयतोदतः प्रतिगृह्णाति’—इति
विश्वजिति एव समाभ्यायते । तस्मात् न अश्वा देयाः—
इति ॥ (६।७।३ अ०) ॥

विश्वजिति विद्यमानानामेव सर्वप्राणिनाम् दानाधिकरणम् ॥

स नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति सम्बन्धः ॥ ५ ॥

भा विश्वजित्येव सन्देहः,—‘सर्वस्वं ददाति’—इति, किम् अर्जं
यित्वा उपकरणानि यावन्ति मनुष्यस्य, यावन्ति च शक्नोति
उपार्जयितुम्, सर्वाणि तानि दद्यात् हतभाण्डादीनि, उत यान्येष
अस्य विद्यन्ते, तानि सर्वाणि देयानि, न अविद्यमानानि कर्त-
व्यानि?—इति । कुतः संशयः? । उभयथा वचनव्यक्तेः सम्भवात्,

* तन्निर्विष्टा इति का० क्री० पु० पाठः ।

† सर्वप्राणिनामिति पाठः का० क्री० पृथक् नास्ति

भा. —यदि वा एवं वचनं व्यज्यते, यानि सर्वाणि खानि, (कानि तानि?—यानि पुरुषस्य उपकारकाणि शयनादीनि), तानि सर्वाणि दद्यात्—इति विधीयते, यदा यानि खानि पुरुषस्य दाने शक्यानि, तानि सर्वाणि—इति सर्वत्वं विधीयते। यदि दानं विधीयते, ततोऽप्राप्तदानानाम् कृतभाण्डकानामपि दानम्। अथ सर्वता विधीयते, ततो विद्यमानानामेव।

किं तावत् प्राप्तम्?—कृतभाण्डकानि देयानि—इति, तथा दानविधाने श्रुतिः अनुगृह्यते, इतरथा वाक्यं; तयोश्च श्रुतिर्यलोपसी। तस्मात् कृतभाण्डकानि देयानि—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘नित्यत्वाच्च अनित्येर्नास्ति सम्बन्धः’, चशब्दोन्वादेशे, न अश्वा दातव्याः—इत्युक्तं, कृतभाण्डकानि च न देयानि—इति; नित्यं हि विश्वजिति दानं चोदकेन प्राप्तम् अनूद्यते, अनित्यानि च कृतभाण्डकानि, न शक्यानि सर्वाणि विश्वजिति क्रियमाणे उपसर्त्तुम्, तत्र कृतभाण्डकानाम् केषाञ्चित् उत्पत्तिं विश्वजिति दानं प्रतीक्षेत, नेमित्तिकं तत् स्यात्, न नित्यं, नित्यवच्च तत् चोदकेन विधीयते, न निमित्तसयोगेन। तस्मात् अवश्यमेतदभ्युपगन्तव्यं,—साकस्यं देयानाम् प्राप्तानाम् विधीयते—इति, श्रुत्यसम्भवे च वाक्यार्थो ग्रहीतव्य एव भवति, तस्मात् न कृतभाण्डकानि दातव्यानि॥ (६। ७। ४ अ०) ॥

विश्वजिति धर्मार्षदेवकद्रुद्रस्यादेयताधिकरणम् ॥

स शूद्रस्य धर्मशास्त्रत्वात् ॥ ६ ॥

भा. विश्वजित्येव सन्दिह्यते,—किं परिचारकः शूद्रो देयः, न?—इति। किं प्राप्तम्?—सर्वस्य सस्य विहितत्वाद्देयः—इति।

भा एव प्राप्ते ब्रूम, 'शुद्धस्य न देय—इत्यन्वादेशः । कुत ?
 'धर्मशास्त्रत्वात्', धर्मशासनोपनतत्वात् तस्य,—'एवम् असौ
 तस्मै चेर्वाणकाय उपनत इमं शुश्रूषमाणो धर्मेण सम्भृत्यते *
 —इति सौम्यस्मै दीयमाणो न इच्छेदपि, न च अनिच्छत
 तस्य स प्रभवति, न च बलात्स्वीकर्तव्य, यस्त्वन्यायेन स्वीकुर्यात्
 स दद्यादपि, धर्मोपनतमात्रेण तु न शक्यो दातुम् ॥ (६।
 ७। ५ अ०) ॥

विद्यजिति दक्षिणाकाले विद्यमानानामेव सर्वमानाम देयताधिकरणम् ।

स दक्षिणाकाले यत्स्वं तत्प्रतीयेत तद्दान-
 संयोगात् ॥ ७ ॥

भा विश्वजित्येव सन्देह —किं प्राग्दक्षिणाकालात् विद्यमान
 नियोगतो दक्षिणाकाले निधातव्यम् ऊर्द्धं च दक्षिणाकालात्
 भविष्यत् अनागतमपि दक्षिणाकाले देयम् उत यदेव दक्षिणा
 काले विद्यते, तदेव देयम्?—इति । किं प्राप्तम्?—यस्यापि
 प्रागूर्द्धं च स्वता तदपि देय, स्वमात्रस्य दानविधानात् । एव
 प्राप्ते ब्रूम —'दक्षिणाकाले यत् स्व विद्यते 'तत् एव देय न
 यत प्रागूर्द्धं च । कुत ? स्वस्य अत्र दानम् अनूद्य साकल्य
 विधीयते तत्र दानं दक्षिणाकाले प्राप्तत्वात् तस्मिन्नेव काले
 अनुद्यते । तस्मात् दक्षिणाकाल एव विद्यमान देयम्—इति ॥
 (६। ७। ६ अ०) ॥

विश्वजिति दक्षिणादानेनपञ्चानामनुष्ठानाधिकरणम् ॥

स अशेषत्वात्तदन्तः स्यात् कर्मणो द्रव्यमिहित्वात् ॥
८ ॥ (१५ पृ०) ॥

भा. तस्मिन्नेव विश्वजिति सन्देहः,—किं दक्षिणाकाले एव विश्व-
जित् उत्सृष्टव्यः, उत न सर्वे दातव्यं, परिसमापनीयः?—इति ।
किं प्राप्तम्?—उत्सृष्टव्यः—इति । कुतः? । ‘अशेषत्वात्’ । कथम्
अशेषता? । ‘विश्वजिति सर्वस्वं ददाति’—इति, न च शक्यम्
अन्तरेण द्रव्यं, परिसमापयितुम् । तस्मात् ‘तदन्तः स्यात्’ ।

स अपि या शेषकर्म स्यात् क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥
९ ॥ (२५ पृ०) ॥

भा. ‘अपि वा’—इति पक्षव्याख्यातिः । ‘शेषकर्म स्यात्’, न सर्वस्वं
दक्षिणाकाले देयं, यावता तत् कर्म परिसमाप्यते, तावत् शेष-
यितव्यम् । कुतः? । ‘क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात्’, क्रतोः परि-
समाप्तिः प्रत्यक्षशिष्टा, ‘विश्वजिता यजेत’—इति विश्वजितम्
उपक्रस्य, परिसमापयेत्—इत्यर्थः । परिसमापयता यत् शक्यते
दातुम्, तावत् सर्वम्—इत्यर्थः । तस्मात् न तदन्तम् उत्सृष्टव्यम्
—इति ॥

स. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ १० ॥ (यु०) ॥

भा. एवञ्च कृत्वा ‘अन्यार्थदर्शनेन’ उपपद्यते,—‘अवभृथादुदेत्य
वत्सत्वचमाच्छादयति’—इति शेषे सति अमकल्पते ॥

स अशेषं तु समञ्जसादानेन शेषकर्म स्यात् ॥ ११ ॥
(आ०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं ध्यावन्तियति । एतत् समञ्जसाभूतं, यत् ‘अशेषं’

भा प्रदीयते—इति, एव 'सर्वस्व ददाति'—इति शब्दः उपपन्नो
भवति—इति । यत्तु प्रत्यक्षा समाप्ति—इति, तत्र ब्रूम,—
'आदानेन शेषकर्म' भविष्यति—इति । उच्यते,—

स नादानस्य नित्यत्वात् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा आदानं त्वनित्य, नित्य च शेषकर्म, न हि तयो सम्बन्धो
भवकल्पते । तस्मात् शेषयितव्य किञ्चित्—इति ॥

स दीक्षासु तु विनिर्देशादक्रत्वर्थेन *सयोगस्तस्मादवि-
रोध स्यात् ॥ १३ ॥ (सि०) ॥

भा तुशब्दः पक्ष व्यावर्त्तयति, नेतदस्ति,—किञ्चित् शेषयितव्यम्
—इति, 'दीक्षासु तु' विनिर्देशो[†] भवति, प्रवृत्तौ एव ज्योति
द्योमे, स इह चोदकेन प्राप्त,—इदं क्रत्वर्थम्, इदं भक्ष्यार्थम्,
इदम् आनमनाय—इति, तदिह यत् आनमनाय दातव्य तस्य
अय विकार सर्वता नाम । कुत एतत् ? यत 'स्व ददाति'
—इत्यनूद्यते, सर्वता एव विधीयते तेन, न अदातव्यस्य दान
विधीयते, न च भक्ष्यार्थे क्रत्वर्थे च दातव्यम् । 'तस्मात् अवि-
रोधो' भविष्यति—इति ॥ (६।७।७ अ०) ॥

अदम्येणस्योपि विद्यजिति सर्वस्वदानाधिकरणतः ॥

स अहर्गणे च तद्धर्मा स्यात् सर्वेषामविशेषात् ॥
१४ ॥ (सि०) ॥

भा अस्ति अहर्गण अष्टरात्र,—'अथ एतस्य अष्टरात्रस्य विप्र

* दीक्षासु तु विनिर्देशादक्रत्वत्वाच्च सयोग इति का० क्री० पु० पाठ । दीक्षासु
तु विनिर्देशादक्रत्वत्वाच्च न योग (?) इति क० म० पु० एव आ० सो० पु० पाठ ॥

† प्रवृत्तौ कर्त्तारश्च एव यजमानेन आक्रोय घन वचनवृत्तात् विधा व्यवस्थापितम्

भा जिदभिजितौ एकाद्यावभितः, उभयतोऽन्योतिर्मध्ये पडहः, पशु-
कामो हि एतेन यजेत—इति । तत्र सन्देहः,—किम् अहर्गण-
स्थस्यापि सर्वस्वमेव दक्षिणा स्यात्,* आहो दादशं शतम्?—
इति । किं प्राप्तम्?—सर्वस्वम् । कुतः? । ‘सर्वेषां’ त्रिग्वजिताम्
‘अविशेषात्’, य एव प्रकृतौ त्रिग्वजितो धर्मः, स एव चास्य
चोदकेन भविष्यति । तस्मात् सर्वस्वं देयम्—इति ॥

स द्वादशशतं वा प्रकृतिवत् ॥ १५ ॥ (पृ०) ॥

भा ‘द्वादशशतं वा’ देयम्—इति; ‘प्रकृतिवत्’ कर्त्तव्यं, ज्योति-
ष्टोत्रस्य प्रकृतिः, तत्र धर्मा विहिताः, न त्रिग्वजिति ह्येच्छाः
प्रतीयन्ते । तस्मात् द्वादशशतम् अत्र देयम्—इति ॥

स अतद्गुणत्वात् नैवं स्यात् ॥ १६ ॥ (उ०) ॥

भा तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । ‘नैवं’ भवितुमर्हति । कुतः? ।
नैव यतो त्रिग्वजितो गुणो द्वादशशतं; नामधेयेन हि अत्र
धर्मपक्षणम् । तस्मात् त्रिग्वजितो भविष्यति, न ज्योतिष्टोमात्
—इति ॥

स निङ्गदर्शनाच्च ॥ १७ ॥ (यु०) ॥

भा निङ्गं खल्वपि दर्शयति । किं निङ्गं भवति?—इति । एव-
माह, ‘होयते वा एष पशुभिर्या त्रिग्वजिति गवं न ददाति’—
इति नियतं सर्वस्वदानं दर्शयति अहर्गणे† ॥ (६। ७। ८ अ०) ॥

इदमेव दशाद्यं इदमेव मत्प्राप्त्यं, इदमेव दक्षिणादेमिति” इति माधवोदमवाङ्-
मुनेदम् ॥

* अथ इति वा० श्री० पु० प० ॥

† ‘तदेतत् माधवकारमतम् वाग्विषयकारणं द्वादशशतमितेव विहायितवान्” इत्यादि,
“युवकारणं नामातिदेशस्य प्रत्ययमात्रं कृत्य” इति वाग्विषयकारणं इत्यन्तं माधवोदमवाङ्मुनेदम् ॥

विश्वजिति द्वादशशतन्यूनधनस्याधिकाराधिकरणम् ॥

स विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात् ॥ १८ ॥ (पृ०) ॥

भा 'विश्वजिति सर्वस्वं ददाति'—इति ; तत्र एषोर्घ्यः साश्रयिकः, किं यस्य द्वादशशतम्, अधिकम्, ऊनं वा विद्यते, तस्यापि विश्वजिता अधिकारः, उत यस्य सकलमधिकं वा तस्यैव?—इति । किं प्राप्तम्?—'विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात्', न विशेषः कश्चिदाश्रीयते, यस्य द्वादशशतम् अधिकम्, ऊनं वा अस्ति—इति । तस्मात् सर्वस्य विश्वजिता अधिकारः—इति ॥

स अधिकं वा प्रतिप्रसवात् ॥ १९ ॥ (सि०) ॥

भा न चैतदस्ति, सर्वस्य विश्वजिता अधिकारः—इति, कस्य तर्हि?—यस्य द्वादशशतमस्ति, 'अधिकं वा'—इति । कुतः? 'प्रतिप्रसवात्', प्रतिप्रसवो हि ज्योतिष्टोमे सर्वस्य उच्यते,—द्वादशशतं विधाय आह, 'एतावता* वाव षड्विज अनिया अपि वा सर्वस्वेन'—इति, यदि एतावता नेच्छेयुः, सर्वस्वेनाभ्यानमयितव्या.—इति, तद्यदि द्वादशेन शतेन न इच्छन्ति, न इच्छन्तितरा ततो न्यूनान् । तस्मात् द्वादशशतं ज्योतिष्टोमे, यदा सर्वस्य तर्हि उभयमपि प्राप्तं, तत्र एकः पक्षो नियम्यते,—सर्वस्व देयम्—इति । स एष न विधिः, प्राप्तत्वात्, अनियतप्राप्तस्तु नियम्यते, स चेत् नियम्यते, यादृशस्तत्र, तादृश एव इह । तत्र च द्वादशशतम् अधिकं वा सर्वस्वम्, इहापि तददेव । तस्मात् न न्यूनधनस्य अधिकारः—इति ॥

स अनुग्रहाच्च पादवत् ॥ २० ॥ (यु०) ॥

भा चशब्देन अन्वाचयः । इतश्च अधिकं सर्वस्व, अधिके हि

भा. दीयमाने तदन्तर्गतत्वात् द्वादशशतमपि दत्तं भवति, 'पादवत्', यथा, कार्पापणे दीयमाने पादोऽपि दत्तो भवति, एवम् इहार्पण—इति ॥ (६। ७। ६ अ०) ॥

आध नेऽपरिमितं देयमित्यनेन बहुग्रान्तर्विधानाधिकरणम् ॥

छ. अपरिमिते शिष्टस्य सङ्ख्याप्रतिषेधस्तच्छ्रुति-
त्वात् ॥ २१ ॥ (पू०) ॥

भा. आधाने श्रूयते,—'एका देया षड् देयाः द्वादश देयाश्चतु-
विंशतिर्देयाः* शतं देयं सङ्ख्यं देयं अपरिमितं देयम्—इति ।
तत्र सन्देहः,—किं, यत् परिमितम् 'एका देया'—इत्येवमादि,
तत्र दातव्यम्—इति प्रतिषेधो विधीयते, उत अपरिमितं नाम
किञ्चित् तस्य दानं विधीयते?—इति । किं प्राप्तम्?—'अपरि-
मिते' श्रूयमाणे ब्रूमः, 'शिष्टस्य' एकादेः सङ्ख्येयस्य या 'सङ्ख्या',
सा प्रतिषिध्यते । कुतः? । 'तच्छ्रुतित्वात्', परिमितशब्दश्रवणात्
गणितम् अवगम्यते, तत्र एकादिकं, तस्य नशब्देन प्रतिषेधः
क्रियते, तत्र श्रुतोर्घ्यः हतो भवति, इतरथा अपरिमितशब्दे
प्रतिषिद्धमन्यजेत, अथवा यजत्वम् अस्यायः कल्प्येत; तस्मात्
परिमितस्य प्रतिषेधः—इति ॥

छ कल्पान्तरं वा तुल्यवत्प्रसङ्गात् ॥ २२ ॥ (नि०) ॥

भा. 'कल्पान्तरं वा' स्यात्,—अपरो दानकल्पो विधीयते, यथा
'एका देया'—इति दानविधिकल्पः, एवम् एषोऽपि दानविधि-
कल्प एव स्यात्, तेन हि पूर्वेण, तुल्यमेव इदं प्रसङ्गायते ।
का अत्रय पूर्वेण तुल्यता? । प्रतिष्ठातस्य अर्घ्यस्य अवगमिता

भा अतिरस्ति—इति; पूर्वच हि देयशब्दश्रुत्या* दानं विधीयते
—इति, इच्छापि देयशब्दश्रुतिः, सा श्रूयमाणा शक्नोति दानं
विधातुम्। प्रतिषेधे हि विधीयमाने वाक्यस्य व्यापारः; तच्च
दुर्बलं श्रुतिं प्रति; तस्मात् कल्पान्तरम्। यच्च अपरिमितशब्दे
प्रसिद्धिर्वाधने—इति, समुदायप्रसिद्धिरवयवप्रसिद्धेर्वाधिकैव
समाधिगता।

‘ननु नात्र प्रसिद्धिः, लक्षणेयं,—यत् वज्र, तत् न शक्यं परि-
मातुं, तस्मात् अपरिमितत्वेन सच्यते वज्रत्वम्—इति’। तच्च
न, अनेकस्मिन् अशक्यपरिमाणे सति वज्रपु रुदः, ‘अपरिमितम्
अस्य धनं’, वज्र—इति गम्यते; यथा, कुशलाः, प्रवीणः—इति
वज्रपु कुशानां लातुर्गुणेषु सत्सु निपुणतायामेव कुशलशब्दो
रोहद्रुदिशब्द एव भवति, वज्रपु च वीणावादस्य गुणेषु सत्सु
निपुण एव प्रवीणशब्दो वर्तमानो रुदः—इत्युच्यते। तस्मात्
सत्यपि लक्षणात्वे श्रुतिसामर्थ्यात् रोहति शब्दः। तस्मात्
समुदायप्रसिद्ध्या अपरिमितशब्देऽवयवप्रसिद्धिर्वाधते, अश्वकर्ण-
शब्दवत्। अतः कल्पान्तरम्—इति ॥ (६। ७। १० अ०) ॥

अपरिमितशब्देन सदसाधिकस्य पदसाधिकरणम् ॥

ख अनियमोऽविशेषात् ॥ २३ ॥ (पू०) ॥

भा अपरिमिते कल्पान्तरम्—इति समाधिगतम्। अथ इदानीं
सन्दिह्यते,—किं सद्यसात् जनम् अपरिमितम्, उत सद्यसात्
अधिकम्?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—‘अनियमोऽविशेषात्’,
न कस्यत् इह वज्रत्वे विशेष आश्रीयते,—सद्यसाजनम् अधिकं
वा—इति, अनाश्रीयमाणे यथा कृती तथा साधु। तस्मात्
अनियमः ॥

* देयशब्दात् श्रुत्या इति भा० भा० पू० पाठः ॥

† सद्यसात् यथा कृतमिति भा० श्री० पू० पाठः ॥

स अधिकं वा स्याद्वच्चर्यत्वादितरेषां सन्निधानात् ॥

२४ ॥

भा. 'वा'—इतिपक्षव्यावृत्तिः,—नैतदस्ति, अधिकम् ऊनं वा सह
 छात्—इति । किं तर्हि?—'अधिकम् एव—इति । कुतः?।
 'वच्चर्यत्वात्' अपरिमितशब्दस्य, वज्रपु हि इमं शब्दम् उप-
 चरन्ति,—इत्येतत् उक्तं, वज्रत्वं च आपेक्षिकं, किञ्चित् अपेक्ष्य
 ततोऽधिकं वज्र—इत्युच्यते । असत्याम् अपेक्षायाम् अपरि-
 पूर्णमेतत्, यथा, पुत्रः—इति किञ्चित् अपेक्ष्य भवति, न
 अन्यथा, तव प्रकृतं सन्निहितं च अपेक्ष्य निर्णयः; सहस्रं च
 सन्निहितम्; तस्मात् ततोऽधिकम् अपरिमितम्—इति ॥

स. अर्थवादश्च तद्वत्* ॥ २५ ॥ (यु०) ॥

भा. कथम् एवम्?। 'तत्र उल्लेखे वे अपरिमितम्'—इति तदूनता
 सहस्रस्य दर्शयति ॥ (६। ७। ११ अ०) ॥

इति ह धेत्वादिपरकृतिपुराकल्पानामर्थवादमाधिकारणम् ॥

स परकृति-पुराकल्पं च मनुष्यधर्मः स्यादर्थाय ह्यनु-
 कीर्तनम् ॥ २६ ॥ (१ म पू०) ॥

भा. इह परकृतयः पुराकल्पाश्च उदाहरणम्;—यथा, 'इति
 ह स्माह वकुर्वाणिर्मायान्मे पचत न वा एतेषां हविर्गृह्णन्ति'
 —इति, पुराकल्पः—'उल्लुकेह स्म पूर्वे समाजग्मुस्तान् ह
 असरा रक्षासि निर्जघ्नुः'—इत्येवमादयः । तेषु सन्देहः,—
 किम् एते मनुष्यधर्मा विधयः, उत तद्गोवाणाम्; अथ वा

भा अर्थवादाः?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—मनुष्यधर्मा विधयः—इति । कुतः? । ‘अर्थाय’ प्रयोजनाय ‘अनुकीर्तनम्’ एतत् भवति, कर्तृमनुष्यसम्बन्धकीर्तनेन क्रिया प्रशस्ता भवति, प्रशस्तं च प्रतिपाद्यं; स एष विधिरेव, अनेन प्रकारेण अतः—परैरपि मनुष्यैः कर्तव्यः—इति गम्यते ॥

सू तद्युक्ते च प्रतिषेधात् ॥ २७ ॥ (यु०) ॥

भा एवञ्जातीयकस्य विधेः प्रतिषेधो भवति,—‘तदु तद्वा न कुर्यात्’—इति, प्रसक्तस्य च प्रतिषेधो न्याय्यः । तस्मात् अपि विधयः—इति ॥

सू निर्देशाद्वा तद्धर्मः स्यात् पञ्चावत्तवत् ॥ २८ ॥
(२य पू) ॥

भा मनुष्यधर्मायं विधिः एवञ्जातीयकः* इति गृह्यते,—तत्र तु विशिष्टगोत्राणां निर्देशात् तेषामेव धर्मः—इति गम्यते; स्तुत्या हि अयं कर्तव्यः—इति ज्ञायते, स च विशिष्टगोत्राणां श्रूयते, तस्मात् तद्गोत्राणामेव कर्तव्यः; ‘पञ्चावत्तवत्’, यथा, ‘पञ्चावत्त जमदग्नीनाम्’—इति तद्गोत्राणामेव भवति, एवम् इहार्पि—इति ॥

सू विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात् ॥ २९ ॥
(३य पू०) ॥

भा तुशब्दात् एषोऽपि पक्षो व्यवर्त्तते, ‘विधी’ एतेषाम् ‘उपदेशः स्यात्’—विधी वेदेन स्तुतिनिर्देशः कृतः, न विधाश्रये पुरुषे, पुरुषग्रहणं विधिप्रशंसार्थं; विधिः—इति क्रियामाह; एतस्याः

भा क्रियाया भावो यस्मात् अनेन पुरुषेण क्रियते, तस्मात् साधु-
रिति, न तु अत्र पुरुषः क्रियासम्बन्धेन निर्दिश्यते, किन्तु
स्तोतव्यत्वेन। कुतः एतत् ?। स्तुतिपदस्य अन्यस्य अभावात्।
अपि च क्रियानिर्देशे श्रुत्या विधानं, क्रियापुरुषसम्बन्धनिर्देशे
वाक्येन, अतश्च दुर्धलम्। तस्मात् पुरुषमात्रस्य विधानं प्राप्नोति,
न तद्गोचाणाम्—इति ॥

स अर्थवादो वा विधिपक्षेपत्वात्तस्मात्* नित्यानुवादः
स्यात् ॥ ३० ॥ (सि०) ॥

भा एषोऽपि पक्षो वाशब्दात् विनिवृत्तः। नायं तद्गोचाणा
विधिः, न मनुष्यमात्रस्य वा विधिः, विधिरेव वा—इति, अयं
'अर्थवादस्तु'। कुतः ?। 'विधिपक्षेपत्वात्' अन्यं त्वव विधि-
सामनन्ति, परहृत्युदाहरणे तावत्, 'तस्मादारण्यमेवाग्री-
यात्'—इति, पुराकल्पोदाहरणे, 'गृहपतेरेवाग्निपु निर्मध्य
निर्वपेरन्'—इति। न च द्वयोर्विधोरेकवाक्यभावोऽस्ति, विधिना
हि सम्बन्धमानयोः परहृति—पुराकल्पवचनयोः अन्या वचन
यक्तिः, अन्या तु स्तुत्यर्थमवृत्तयोः; न च उभयं यौगपद्यन
सम्भवति। तस्मात् अर्थवादः—इति ॥ (६। ७। १२ अ०) ॥

सहस्रसंवत्सरस्य सहस्रदिनपरताधिकरणम् ॥

स. सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसम्भवात् मनुष्येषु ॥
३१ ॥ (१म पू०) ॥

भा. अस्ति सहस्रसंवत्सरम्—'पञ्चपञ्चाशत्सिद्धतः संवत्सराः,
पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदशाः, पञ्चपञ्चाशतः सप्तदशाः, पञ्चपञ्चा-
शत एकाविंशा विंशत्युज्जामयनं सहस्रसंवत्सरम्'—इति। तत्र

भा सन्देहः,—किं ये सहस्रायुषः. तेषाम् अनन अधिकारः, उत मनुष्याणाम्?—इति (यदापि मनुष्याणा, तदापि बहवो विकल्पाः घट्यमाणाः), अथ वा दिवसेषु संवत्सरशब्दः?—इति। किं प्राप्तम्?—सहस्रायुषा भवितुमर्हति। कुतः?। 'असम्भवात् मनुष्येषु', न मनुष्याणाम् एतावदायुर्विद्यते, गन्धर्वाद्यस्त्वेतावदायुषः—इति भवति स्मृतिः. उपचारोऽन्यार्थदर्शनं* च;— 'प्रजापतिं वै प्रजाः सृजमानं पाप्मा मृत्युरभिजघान स तपोऽभ्यस्यत सहस्रसंवत्सरान् पाप्मानं विजिह्वासन्'—इति, विस्पष्टं चेदं सहस्रसंवत्सरम्। तस्मात् न मनुष्याणाम्—इति ॥

स अपि वा तदधिकारान्मनुष्यधर्मः स्यात् ॥ ३२ ॥
(२य पू०) ॥

भा 'अपि वा'—इति पक्षस्थावृत्तिः,—न गन्धर्वादीना, मनुष्याणामेव अधिकारः—इति। कुतः?। 'तदधिकारात्', मनुष्याधिकार आसन्न समधिगतम्—इति, ते हि श्रुत्वान्त कात्स्न्येन यथोदितं विधिम् उपसंस्कृत्तुम्—इति। 'आह, ननु नेतावदायुषो मनुष्याः'। उच्यते, रसायनैः आयुर्दीर्घं प्राप्स्यन्ति—इति ॥

स नासामर्थ्यात् ॥ ३३ ॥ (२य पू० नि० १) ॥

भा न रसायनानामेतत् सामर्थ्यं दृष्ट, येन सहस्रसंवत्सरं जीवेयुः, एतानि हि अग्नेर्वह्निंकानि, बलीपलितरय नाशकानि, स्वरवर्णप्रसादकानि, मेधाजननानि, नेतावदायुषो दातृणि दृश्यन्ते। 'ननु स्वरवर्णप्रसादादिदर्शनादेव ज्योर्जीवनमप्यनुमास्यते†। न—इति ब्रूमः। कुतः?। 'शतायुषं युवप'—

* भा० भा० पृष्ठके 'उपचारोऽन्यार्थदर्शनं च' इत्यंशे सूत्रकथनस्याध्यासः ॥

† 'ज्योर्जीवनं चिरकालं जायमानं' इति भा० मी० पृष्ठके टीका ॥

भा इत्यनुवादः, स एवं व्योम्जोवे न अयकल्पते । 'अथ उच्यते,
—शतान्यायुरस्य—इति विपक्षीप्यामः' । नैवं सङ्ख्याशब्दानां
समास इष्यते, न च गमकानि भवन्ति, 'द्विवचनवद्वचनाना-
म्नानामसमासः'—इति चाभियुक्तवचनात् ॥

ख. सम्बन्धादर्शनात् ॥ ३४ ॥ (इय पृ० नि० २, ॥

भा न हि एतावदायुषा रसायनानां सम्बन्धो दृष्टपूर्वः, न च
सम्बन्धादर्शनेऽनुमानमस्ति । 'ननु सामान्यतोदृष्टं भविष्यति,
दृश्यन्ते तावत् अल्पस्य स्थिरभावस्य कारकाणि, एवम् अभ्यस्य-
मानानि धीर्यवत्तमानि स्थिरशरीरताम् उत्पादयित्वा,
'शतायुः पुरुषः'—इति सत्यपि वचने, अधिकं जीवन् दृश्यते
एवं—इति । अथ उच्यते,—न अयम् एकान्तः, कदाचित् यास
यावन्तीश शरीरस्थिरतामुत्पादयेयुः, न प्रागप्यदृष्टकार्णां, यद्या
प्रक्रामन्तोऽभ्यासात् प्रक्रमाणा दृष्टेयाश्च यावन्तीश माषा
प्राभूयन्ति, न तु अभ्यस्यन्ताः पुरुषादुपेक्षापि योजनमार्थं प्रमे-
युः, एवम् इहापि सम्बन्धाभावात् महत्प्रायुष्टं प्राप्नुयुर्नयेति*
सन्दिग्धं, सन्दिग्धं चेत्, सामान्यतोदृष्टं न प्रमात्, न च अदृ-
ष्टोर्घः प्रमात्प्रकारेण, शक्योऽभ्युपगमन् । तस्मात् अगम्य,
नैतावदायुषः मति- इति पुरुषवचनेन उक्तम् ॥ कथं तर्हि?
—इति ।

ग. स कुलकल्पः स्यादिति काष्ठाजिनिरेकमिन्द्र-
सम्भवात् ॥ ३५ ॥ (इय पृ०) ॥

भा. 'स', मनुष्याभिधारयते 'कुलकल्पो' भविष्यति—इत्येवं
'काष्ठाजिनिः' आचार्यो मन्यते एव । पुनः ? । 'एकमिन्द्र-

भा असम्भवात्, पुरुषाणाम् इदम् अनुशासन, न च एतत् एक
 शक्नोति पारयितुम्, यथा शक्यते, तथा पारयितव्यम्—इति
 गम्यमाने, बहवः शक्नुवन्तः प्रवर्त्तेरन्,—अन्येऽपि तत्कुलीना
 अन्येनारब्ध समापयेयुः—इति ॥

स अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात् ॥ ३६ ॥
 (इयं पू० नि०) ॥

भा शास्त्रफलं हि प्रयोक्तारि समधिगतं (३।७।८ अ०), यद्य
 कात्स्न्येन विधिम् उपसहर्तुं समर्थः, स एवाधिक्रियते—इति ।
 तस्मात् न कुलकल्पोऽधिक्रियते, कथं तर्हि?—सम्प्रदायभावेण
 धर्म—इत्यध्यवसीयते, एव श्रूयते, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य'—इति ।
 'एव तर्हि एतदध्यवसेय,—वचनप्रामाण्यात् एतत् कर्म कुर्वताम्
 आयुर्वर्द्धते—इति । तच्च न, प्रमाणाभावात्, न हि एतस्मिन्
 अर्थे वाक्यम् अन्यद्वा प्रमाणमस्ति । 'ननु अर्थापत्तिः, अन्यथा
 आनर्थक्यं भविष्यति—इति । उच्यते,—न आनर्थक्यम् अथ
 यनादेव हि अदृष्टं भविष्यति, तथा हि सामान्येन अदृष्टं
 कल्पयितुम् लघोयः, न तु कर्मणा आयुर्वर्द्धते—इति विशेषा
 दृष्टकल्पना । अथ वा आनर्थक्यमेव अभ्युपगम्येत, न अयुक्ति
 फलकल्पम् । 'अथ उच्येत, अर्द्धतृतीयानि शतानि दीक्षि
 ष्यन्तः चतुर्भिर्वर्षैः समाप्यन्ते—इति । एवमपि नियतपरिमाण
 होयेत, 'चतुर्विंशतिपरमाः सप्तदशावराः सप्तमासीरन्—
 इति । 'वचनस्य तु आनर्थक्यपरिहाराय परिमाणं द्वापयि
 ष्यते—इति चेत् । तदयुक्तम्, अध्ययनात् फलमस्ति । तस्मात्
 न एषा कल्पना—इति ॥ कथं तर्हि? । एवम्,—

स विप्रतिषेधात्तु गुण्यन्यतरः* स्यादिति लावुकायन ॥
३७ ॥ (सि० उपक्रम १) ॥

भा 'अन्यतर' अत्र गौण शब्द 'स्यात्,—यदि वा असवत्सरे
सवत्सरशब्द, यदि वा पञ्चपञ्चाशत —इति शब्दो गौण
—इति। कुत एतत्?। 'विप्रतिषेधात्', विप्रतिषेधो हि
भवति, उभयस्मिन् विहिते। कथं?। वाक्यं हि भिद्येत, यदि
पञ्चपञ्चाशतस्मिन्, न सवत्सरा, अथ सवत्सरास्मिन्, न
पञ्चपञ्चाशत। तस्मात् विरोधात् अन्यतरत् वचन गौणम्
—इति 'लावुकायन आचार्यो नन्यते स्म। आचार्यग्रहणं
पूजार्थं, नात्मन प्रतिषेधार्थम्॥

स सवत्सरो विचालित्वात् ॥ ३८ ॥ (सि० उ० २) ॥

भा एतदुक्तम्—अन्यतरत् गौणम्—इति, तदवधारयितव्यं
तदुच्यते सवत्सरवचन गौणम्—इति। कुत?। 'विचालि
त्वात् विचाली हि सवत्सरशब्द सावनोर्गम गणितदिवसक,
शीतोष्णवर्षालक्षणोर्गम, चान्द्रमसोर्गम स एव उच्यते कोऽन्याद्
शक्यते कल्पयितुम्। पञ्चपञ्चाशत —इत्ययन्तु व्यक्तपरिमाण
स्यार्थस्य वाचक, एकेनाप्युने न भवति ॥

स सा प्रकृति स्यादधिकारात् ॥ ३९ ॥ (४र्थ पू०) ॥

भा गवानयने मासा प्रकृता, मासेषु च सम्वत्सरशब्द उक्त,
—'यो वै मास सम्वत्सर —इति। तस्मात् पञ्चपञ्चाशतो
मासा —इति। 'ननु एतस्मिन् पक्षे सप्तसम्वत्सरशब्दो न
अवकल्पते। उच्यते, नामधेयमेतत् सप्तसम्वत्सरशब्द —

* गुण्यन्यतर इति का० श्री० पु० पट ॥

† उक्तपरिमाणस्यायस्य इति क० म० पु० पाट ॥

भा इति, न गुणविधि, नामधेय च न विधीयते, अविधीयमानश्च येन केनचित् गुणेन अवकल्प्यते ।

नैयोऽपि पक्षो युज्यते, अत्रापि हि स एव दोषः, न तावज्जीवनमस्ति, यावत्तैतत् अवकल्प्येत,* दाराग्निकालसोम पूर्वत्यापेक्ष्येति, तेनेतस्मिंश्च क्रियमाणेऽपरिसमाप्ते एवायु पर्युपयुक्त स्यात् तथा च अध्ययनात् एव अदृष्ट कल्प्येत ।

एव तद्धि,—द्वादशाह प्रकृतिरिति पञ्चपञ्चाशतो द्वादशाह भविष्यन्ति—इति, तथा च दृश्यते 'द्वादश वै रात्रयः सप्तत्वं रस्य प्रतिमा—इति तत्र स दोषो न भविष्येति । नैव, तत्र सम्बत्सरशब्दस्य साक्षात् प्रतिमाशब्देन सयोगात् । अपि च 'पञ्चपञ्चाशतविष्टत—इत्युक्त विष्टच्छब्दस्य द्वादशाहे दिवसे दृष्ट, न द्वादशरात्रे । तस्मात् नैवम् ॥

स अहानि वाभिसङ्गृह्यत्वात् ॥ ४० ॥ (सि०) ॥

भा वाशब्द पक्ष व्यावर्तयति—न च एतदस्ति,—पञ्चपञ्चाशतो द्वादशरात्रा—इति अहान्येव विष्टच्छब्देनाख्यायते । तस्मात् अह स सम्बत्सरशब्द—इति ॥ अथ वा, वाशब्द पक्षान्तरं व्यावर्तयति—न पञ्चपञ्चाशतो मासा, किन्तार्हि दिवसा, द्वादशाहे विष्टत् अह प्रकृत, तत्र सम्बत्सरशब्दो दृश्यते,— 'आदित्यो वा सर्वं षट्तव, स यदैवोदित्यथ वसन्तो यदा सङ्गवोऽथ श्रोमो यदा मध्यन्दिनोऽथ वर्षा, यदाभराक्रोऽथ शरत् यदाभस्तमेत्यथ हेमन्तशिशिरौ—इति सर्पान् षट्तून् अहनि सम्पादयति, एवं च षट्तव सम्बत्सर । तस्मात् अह

* अवकल्प्येत इति का० श्री० पु० पाठः ॥

† न हि अत्र भवत्सरशब्दो भाषातः प्रतिमाशब्देन मध्याह्नादिति क० स० पुरातन पुनरुपाठः । नैव न हि अत्र रात्रिशब्दो भवत्सरशब्दस्यापेक्ष्य प्रतिमाशब्देन मध्याह्नादिति शा० मा० पु० पाठः ॥

भा. सम्यत्सरशब्देन उच्यते । अपि च 'पञ्चपञ्चाशतस्तृष्टतः—
इति चिह्नां पञ्चपञ्चाशत्त्वं, न च द्वादशरात्रचिह्नत्, एकं हि
द्वादशाहे चिह्नद्वयः, न तत्र चिह्नसङ्ख्याया द्वादशरात्रेण मुख्यया
वृत्त्या सामानाधिकरण्यं, चिह्नद्वयःसम्बन्धलक्षणा स्यात्,
अभिसङ्ख्यं चिह्नद्वयः, तेन श्रुत्यैव सामानाधिकरण्यं, श्रुतिश्च
लक्षणाया ज्ञायसी । तस्मात् पञ्चपञ्चाशद्वहानि सम्यत्सरः
स्यात्—इति ॥ (६।७।१३ अ०) ॥

इति श्रीशिवरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये पष्ठस्याध्यायस्य
सप्तमः पादः ॥

पष्ठ अध्याये अष्टम पाद ॥



अथानाहिताग्ररेव चतुर्होत्रोभाधिकाराधिकरणम् ॥

स इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होम सस्कृतेष्वग्निषु स्याद
पूर्वोऽप्याधानस्य सर्वशेषत्वात् ॥ १ ॥ (१म पू०) ॥

भा इह चतुर्होतृष्वाग्नायते, 'प्रजाकाम चतुर्होत्रा याजयेच्चतु
र्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा चतुर्होतारं व्याचक्षीत पूर्वेण ग्रहेणाहं
जुहुयात् तदुत्तरेणार्द्धम्'—इति । तत्र सन्देहः—किं पत्र
मानेष्टिसंस्कृतेषु अग्निषु एवमादय उत असंस्कृतेष्वपि? तथा
पचान्तराश्रयणमपि वक्ष्यमाणं विचारयिष्यते । किं तावत्
प्राप्तम्?—संस्कृतेषु अग्निषु एवज्जातीयक 'अक्रतुशेषो ऽपि
होम स्यात् । यद्यप्यपूर्वा दर्विहोमा न कुतश्चिद्वर्मान्
आकाङ्क्षन्ति तथापि आहवनीयादयो होमादीन् आकाङ्क्षन्ति ।
यदाहवनीय जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टं प्रीतो भवति—
इत्यवमादिभिः श्रुतिभिः । एवमिष्टपूर्वत्वात् सर्वहोमानां
संस्कृताग्निवृत्तित्वम् एवज्जातीयकानाम्—इति ॥

स इष्टित्वेन तु सस्तवश्चतुर्होतृनसंस्कृतेषु दर्शयति ॥
२ ॥ (७०) ॥

भा तुशब्दात् पचो विपरिवर्तते । चतुर्होतृहोमा 'असंस्कृतेषु'
अग्निषु भवेयुः तथा हि दर्शयति एषा वा अनाहिताग्ने

* उच्यते इति का० क्री० पु० पाठः । शयिवो यता यौ अधश्च' इत्यादि
का मन्त्रपठोऽतः' इति साधवः ।

† अथ द्यमादिना आकादस्यम् इति पाठो भवितुं युक्तः ।

‡ मन्त्रमग्निवृत्तित्वमिति का० क्री० पु० पाठः ।

भा रिट्थितुर्होतारः—इति, अनाहिताग्नेरिष्टयो न विद्यन्ते, ये त्विते चतुर्होतारः, तस्येयैव इष्टिरिति, अनाहिताग्नेः एवज्जातीयकान् होमान् दर्शयति । तस्मात् असंस्कृतेषु भवेयुः । ‘ननु लिङ्गम् असाधकं, प्राप्तिर्वक्तव्या’—इति । तदुच्यते,—

छ. उपदेशस्त्वपूर्वत्वात् ॥ ३ ॥ (यु०) ॥

भा एवं तर्हि, अक्रतुशेषाणां विधिः एषा भविष्यति,—‘एषा अनाहिताग्नेः क्रिया’—इति । एवम् अर्थवदचनं भविष्यति, ‘वादनावम् अनयं कं भवति, अस्य च अस्ति विधिसामर्थ्यम् । तस्मात् विधिः असंस्कृतेषु—इति ॥

छ. स सर्वेषामविशेषात् ॥ ४ ॥ (रथ प०) ॥

भा. आह, एतत् गृह्यते विधिः—इति ; यत्तु,—अक्रतुशेषाणाम्—इति, तन्न, ‘सर्वेषां क्रतुशेषाणाम् अक्रतुशेषाणां च चतुर्होतृहोमानाम् । कुतः ? । ‘अविशेषात्’, न क्रतुशेषाणामेव अयं धर्म उच्यते, न अक्रतुशेषाणाम्—इति ; तस्मात् सर्वेषाम् ॥

छ. अपि वा क्रत्वभावादनाहिताग्नेरशेषभूत-
निर्देशः ॥ ५ ॥ (सि०) ॥

भा ‘अपि वा’—इति पक्षव्यावृत्तिः । अक्रतुशेषाणाम् एव अयं धर्मो न क्रतुशेषाणाम् । कुतः ? । ‘अनाहिताग्नेः’ ‘क्रत्वभावात्’, न हि अनाहिताग्नेः क्रतवः सन्ति ; न च क्रत्वङ्गं केवलं प्रयुज्यमानं कस्मैचित् प्रयोजनाय स्यात् ; न च अस्य अन्यत् फलं प्रकल्पयेत्, प्रमाणाभावात् ; वचनस्य हि अन्यदपि प्रयोगे जनमस्ति ; न च, अनेन वचनेन शक्यतेऽनाहिताग्नेः क्रतुः कल्पयितुम् । तस्मात् अक्रतुशेषाणाम् अयं धर्मः—इति ॥

स जपो वानग्निसंयोगात् ॥ ६ ॥ (आ०) ॥

भा वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते । न असंस्कृतेषु अग्निषु एव
ज्ञातीयका होमा स्युः । कुत ? । आधानस्य सर्वशेषत्वात् ।
'ननु वचनमिदम्—'एषा अनाहिताग्नेरिष्टि'—इति । न—
इति ब्रूम जपाद्यवाद एष भविष्यति, ये जपरूपास्तेषाम्
अर्थवादो, न सर्वेषां चतुर्होतृणाम्, एव, 'यदाहवनीये जुहोति'
—इत्येवमादीनां वचनानाम् अर्थवत्ता भविष्यति ॥

स इष्टित्वेन तु सस्तुते होमः स्यादनारभ्याग्निसंयोगा
दितरेषामवाच्यत्वात् ॥ ७ ॥ (उ०) ॥

भा यदुक्तम्—'एषा वा अनाहिताग्ने क्रिया इष्टितुल्या'—इति
जपानाम् एष वाद—इति, तन्न, नैषा वचनव्यक्तिः,—यैषा
अनाहिताग्ने, क्रिया, सा इष्टितुल्या—इति । किंकारणम् ? ।
सादृश्यमाचानुवादोऽनर्थकः स्यात्, इतरस्मिन् पक्षे विधि
अर्थवान्—येयम् इष्टि, एषा अनाहिताग्ने—इति तदिष्टि
संस्तवाद्धोमानामेव वादः । कथम् ? । इष्टिर्याग, स एवासचना
धिको होमः । यदुक्तम्—सर्वहोमार्थं आहवनीय—इति, तन्न
चतुर्होतृनेवाधिरूप्य उच्यते, किन्तु अविशेषेण होमान् स
चतुर्होतृषु असम्भवात् अन्येषु भविष्यति, चतुर्होतृषु च अना
हिताग्नेरुचरमानेषु आहवनीयो न अङ्गम्—इति* ॥

स उभयो पितृयज्ञवत् ॥ ८ ॥ (ज्या०) ॥

भा नैतदस्ति, अनाहिताग्नेरेव चतुर्होतार—इति, 'उभयो'
स्युः 'पितृयज्ञवत्', यथा पितृयज्ञ आहिताग्ने अनाहिताग्नेऽप्य,

भा. एवं चतुर्होतारोऽपि । कथम् अवगम्यते ? । वर्णितमेतत्,—
यदा अनुवादपक्षः, तदा आहिताग्नेः, यदा विधिपक्षः, तदा
अनाहिताग्नेः; उभयथा वचनव्यक्तिः प्रतीयते, न च प्रतीय-
मानोऽर्थः शक्यतेऽपक्रोतुम् । तस्मात् उभयोश्चतुर्होतारः—
इति ॥

स. निर्देशो वानाहिताग्नेरनारभ्याग्निसंयोगात् ॥ ८ ॥
(उ०) ॥

भा. 'न चैतदस्ति,—उभयोश्चतुर्होतारो भवेयुः—इति । कथम् ? ।
एष हि अनाहिताग्निनिर्देशः,—'एषा वा इष्टिः अनाहिताग्नेः'
—इति वचनेन अधिकृतः, न आहिताग्निः, निर्देशसामर्थ्यात् ।
अर्थवादे च उपक्षीणं तच्चैव न विरुध्यते—इति । 'यदाहवनीये
जुहोति'—इति वचनं न चतुर्होतृत्वेनैव अधिकृत्य उच्यते—
इत्युक्तम् । तस्मात् अनाहिताग्नेरेव ज्ञातीयका होमाः ॥

स. पितृयज्ञे संयुक्तस्य पुनर्वचनम् ॥ १० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—पितृयज्ञवत्—इति, युक्तं पितृयज्ञे, तत्र आहि-
ताग्निमयुक्तस्य पुनरेतद्वचनं भवति,—'अप्यनाहिताग्निना कार्यः'
—इति, एतद्वचनम् अनाहिताग्नेरपि—इति अनाहिताग्नौ
अन्वाहार्यकं करोति, इह तथा नास्ति वचनं, नियोगत एको
निर्देशः,—'एषा वा अनाहिताग्नेः'—इति, न अत्र अपिशब्दो-
क्तिः । तस्मात् पितृयज्ञेन अनुस्यमेतत् ॥ (६।८।१ अ०) ॥

अनाहिताग्निपुनर्वचनस्योपपत्तिः ॥

स. उपनयन्नादधीत होमसंयोगात् ॥ ११ ॥ (पू०) ॥

भा. इदमामनन्ति, 'उपनयंस्तिष्ठभिर्बुद्धयात्'—इति । तत्र

भा मन्देहः—किम् अयं होम आधानसंस्थतेषु अग्निषु, उत असंस्थतेषु?—इति। किं प्राप्तम्?—‘उपनयन्नादधीत’—इति। कुतः?। ‘होमसंयोगात्’ आहवनीयस्य, ‘यदाहवनीये जुहोति,’ तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति’—इति। तस्मात् आधानोत्तरकाला एते, होमाः—इति स्थितिः ॥

ख स्यपतीष्टिवल्लौकिको वा विद्याकर्मानुपूर्वत्वात् ॥
१२ ॥ (सि०) ॥

भा न चैतदस्ति,—‘आधाय एवज्ञातीयकं होतव्यम्’—इति। किं तर्हि?—लौकिके एव प्रवर्तते—इति। कुतः?। ‘विद्या-कर्मानुपूर्वत्वात्’, विद्याग्रहणार्था इमे होमाः; विद्यावस्य आधानेन अधिकारः, सामर्थ्यात्। अतः आधानोत्तरकालता नैषाम् अवकल्पते, यथा स्यपतीष्ट्याम् ॥

ख आधानञ्च भार्यासंयुक्तम् ॥ १३ ॥ (यु०) ॥

भा आधानं च भार्यासंयुक्तम् श्रूयते, विद्याग्रहणोत्तरकालस्य दार-संयुक्तं। तस्मात् अपि न अवकल्पते पूर्वकालता आधानस्य ॥

ख अकर्म चोर्द्धमाधानात्तत्समवायो हि कर्मभिः ॥
१४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा ‘अथ आह, या पूर्वमाधानात्, दारक्रिया, सा कर्मार्था भविष्यति, वचनाच्च ऊर्द्धमाधानात्, अपत्यार्था,—द्वयोर्गणिकसंयुक्तयोः, पिण्डपितृद्वयवत् नेप दोषो भविष्यति’—इति। अथ उपरान्ते,—‘अकर्म च’ दारक्रिया, या आधानोत्तरकाले। कुतः?। आहवनीयादि—‘समवायो’ ‘हि कर्मभिः’ भवति, सार्थं च

भा अग्रयः आधातव्याः—इति नियमः । तस्मात् उभयस्मिन्नपि
काले दारसंग्रहः—इत्येतत् नास्ति ॥

सू. आहवदिति चेत् ॥ १५ ॥ (आ०) ॥

भा. अत्र आह,—यथा पिण्डपितृयज्ञः आहिताग्नेः, अनाहिता-
ग्नेश्च भवति, एवं दारसंग्रहोऽपि—इति यदुक्तं, तत्परिहर्तव्यम् ॥

सू. न अतिविप्रतिषेधात् ॥ १६ ॥ (आ० नि० १) ॥

भा. नैवं ; अतिविप्रतिषेधो हि भवति, एवं क्रियमाणे दारकर्मणि
विद्याग्रहणोत्तरकालं श्रूयमाणं, पूर्वं क्रियते—इति विप्रतिषिद्धम् ।
अर्थादन्यदेवेदम्—इति चेत् ; न, अर्थप्राप्तस्यैव कालनियमः
एषः, उपनयनं च कर्माथं, तत् द्वितीयस्यां विप्रतिषिध्यते ॥

सू. सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो न प्रयोजयेत् ॥ १७ ॥
(आ० नि० २ एवं पू०) ॥

भा. अथ उच्यते,—‘प्रागाधानाच्च, कर्माधा एव, ऊर्द्धं च अप-
त्यार्था एव अस्य* भविष्यति, तेनैवं सति अस्य न किञ्चित्
विरोत्स्यते’—इति । उच्यते,—नैतदेवं, सर्वार्था हि सा, न
केवलम् अपत्यार्घ्यतामेत्यति, तदुक्तं,—फलोत्साहाविशेषात्—
इति । तस्मात् अपि न द्विद्वारसंग्रहः । अपि च एवं स्मर्यते,
—‘धर्मं च अर्थं च कामं च नातिचरितव्या’—इति, एवं सति
अतिचरिता स्यात्, अतो न द्विद्वारसंग्रहः । एकेव भार्या
कर्माधा अपत्यार्था च, तस्याश्च विद्याग्रहणोत्तरकालता । अतो
न आधानसंस्कृतेषु एते होमाः—इति ॥

स. सोमपानात्तु प्रापयं द्वितीयस्य तस्मादुपयच्छेत्* ॥
१८ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. गृह्यते एतत्,—मागुपनयनात्, नास्ति पत्नी—इति; यदुक्तम्
एकैव पत्नी—इति, तन्न मृश्यते, यथैव स्मृतिः,—‘धर्मे च अथे
च कामे च नातिचारितया’—इति, ‘धर्मप्रजासम्पत्ते दारे न
अन्यां कुर्वीत’—इति च; एवम् इदमापि स्मर्यते एव, अन्य-
तरापाये अन्यां कुर्वीत’—इति । तस्मात् यस्य न धर्मसम्पत्ता
न प्रजासम्पत्ता वा पत्नी, सोऽन्या कुर्वीत—इति । ‘सोमपानात्’
—इति च अर्थवादं व्यपदिशति स्म,—‘सोमपो न द्वितीया
जायामभ्यपूयते’—इति द्वितीयामापि जाया दर्शयति ॥

स. पितृयज्ञे तु दशनात्प्रागाधानात्प्रतीयेत ॥ १९ ॥
(आ० नि० ३) ॥

भा. ‘अथ कथं पितृयज्ञस्य द्वौ कालौ?’—इति । उच्यते, यत्नं
हि तत्र दृश्यते,—‘अप्यनाहिताग्निना कार्यः’—इति । तस्मात्
प्रागाधानात् पितृयज्ञः—इति ॥ (६।८।२ अ०) ॥

अनाहितेऽग्नौ स्यपतीष्टाधिकरणम् ॥

स. स्यपतीष्टिः प्रयाजवदग्न्याधेयं प्रयोजयेत्तादर्थ्याच्चा-
पद्येत ॥ २० ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति स्यपतीष्टिः,—‘एतया निपादश्चपत्तिं याजयेत्’—
इति । तत्र चन्देहः,—किम् आधानसंस्थितेषु अग्निषु स्यात्, उत
भोक्तृकेषु?—इति । किं प्राप्तम्?—संस्थितेषु—इति । कथम्? ।

भा 'यदाहवनीये जुहोति'—इत्येवमादिवचनात् । 'ननु शूद्रस्य आहवनीयाभावात् नास्ति तस्य श्रुतिः'—इति । उच्यते,—
 सा हि आहवनीयं प्रयोजयेत्, यथा प्रयाजान् श्रुतान्
 प्रयोजयति, एव चोदकसामर्थ्यात्—इति । 'तादर्थ्याच्च अप-
 टज्येत', स्थपतीष्वर्थं च आहिता अग्नयः, तस्याम् अपटक्तायाम्
 अपटज्येरन्, धारणं हि तेषां दृष्टकायम् आग्नातम्, अतिक्रान्ते
 कार्ये न स्यात्—इति ॥

ख * अपि वा लौकिकेऽग्नौ स्यादाधानस्यासर्वशेष-
 त्वात् ॥ २१ ॥ (सि०) ॥

भा 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः । लौकिकेषु अग्निषु 'स्यात्'
 न संसृतेषु । कुतः ? 'आधानस्यासर्वशेषत्वात्', सर्वकर्मशेष-
 भूता अग्नयः, तदङ्गमाधानं, न कर्माङ्गं, श्रुत्यादीनामभावात्
 न कर्मप्रयुक्तता आधानस्य, वाक्यसामर्थ्याच्च अग्निप्रयुक्तत्वं,
 यच्च दर्शपूर्णमासप्रयुक्तं, तच्चोदकेन प्राप्यते, न द्रव्यप्रयुक्तम् ।
 तस्मात् लौकिकेषु अग्निषु स्थपतीष्टिः—इति ॥ (६।८।
 ३ अ०) ॥

अनादिनेऽग्राववकीर्णिपशुनुष्ठानाधिकरणम् ॥

ख अवकीर्णि-पशुश्च* तददाधानस्याप्राप्तकाल-
 त्वात् ॥ २२ ॥

भा अस्ति अवकीर्णि-पशुः,—'ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैवहत गर्हभमा-
 लभेत'—इति । तत्र सन्देहः,—किं तदर्थम् आधानं कर्तव्यम्,
 उत लौकिकेषु अग्निषु तद्वर्त्तत?—इति । 'अवकीर्णि पशुश्च

भा तद्वत्—इत्यधिकरणातिदेशः,—पूर्वस्य अधिकरणस्य यः पूर्वः पक्षः, स अत्र पूर्वः पक्षः; यः सिद्धान्तः, स सिद्धान्तः;—सवार्थम् आधानम्, तस्मात् आहिताग्निषु—इति पूर्वः पक्षः। आधानस्य अप्राप्तकालत्वात्—इति सिद्धान्तः,—अप्राप्तोभयम् आधानस्य कालः—इत्येतदुक्तं। तस्मात् इदमपि कर्म लौकिकेषु—इति ॥ (६। ८। ४ अ०) ॥

देवकर्माणामुदगयनादिकालताधिकरणम् ॥

ख उदगयनपूर्वपक्षाच्चःपुण्याहेषु देवानि स्मृति-रूपा-
न्यार्थदर्शनात् ॥ २३ ॥ (सि०) ॥

भा देवानि कर्माणि उदाहरणम् उपनयनप्रभृतीनि। तत्र सन्देहः,—किम् अनियते काले देवानि कर्तव्यानि, उत उदगयन पूर्वपक्षाच्चः-पुण्याहेषु?—इति। अनियते—इति प्राप्ते उदगयनादिषु—इत्युच्यते। कुतः?। एवं स्मरन्ति.—‘तेषु कालेषु देवानि’—इति। रूपार्थवादश्च,—‘एतद्वै* देवाना रूपं, यत् उदगयनं, पूर्वपक्षोच्चः’—इति, न च वयं देवादीना रूपं विद्मः, अथ तेषु कालेषु देवानि क्रियन्ते, ततः एतेन सम्बन्धेन रूपवचनम् अवकल्पते। अन्यार्थं च वाक्यमेतत् दर्शयति,—पूर्वाक्तो वै देवाना, मध्यन्दिनो मनुष्याणाम्, अपराह्नः पितॄणाम्—इति। तस्मात् एतेषु कालेषु देवानि स्युः—इति ॥

ख अहनि च कर्मासाकल्यम् ॥ २४ ॥ (यु०) ॥

भा ‘अहनि च’ विशेषः,—सकलं कर्म अहन्येव शक्यते कर्तुम्—इति, न रात्रौ करिष्यति ॥ (६। ८। ५ अ०) ॥

पित्रकर्मणोऽपरपक्षादिक।सुताधिकरणम् ॥

स इतरेषु तु पित्राणि ॥ २५ ॥

भा आह्वादीनि अपरपक्षे अपराक्षे च, स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् ॥
(६। ८। ६ अ०^३) ॥

ज्योतिष्टोमाद्व्याज्जाक्रययोर्नित्यताधिकरणम् ॥

स याचजाक्रयणमविद्यमाने लोकवत् ॥ २६ ॥ (पू०) ॥

भा इदं सनाम्नायते ज्योतिष्टोमे,—‘द्वादश रात्रीर्दीक्षितो भृतिं वन्वीत’—इति, तथा ‘सोमं क्रीणाति’—इति। तत्र सन्देहः,—किं यस्य न विद्यते भृति, तेन वनितया, यस्य च न विद्यते सोमः, तेन क्रैतव्यः, उत उभयापि सति च असति च? किं प्राप्तम्?—‘याचजाक्रयणम् अविद्यमाने’ भृतिधने सोमे च स्यात्। कस्मात्?। द्रव्यसद्भावाद्ये याचजाक्रयणं, तत् विद्यमानेऽनर्थकम्; अनर्थकं च उक्तमपि न कर्तव्यम्। तस्मात् अविद्यमाने भवेत्, लोकवत्; यथा यस्य लोके नास्ति द्रव्य, स याचते क्रीणाति च, एवम् इच्छापि द्रष्टव्यम् ॥

स नियतं वार्यवत्त्वात् स्यात् ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘नियतं वा’ याचजाक्रयणं, तदविद्यमाने अविद्यमाने च द्रव्ये स्यात्, एवं याचजाक्रयणम् ‘अर्धवत्’ भवति, ज्योतिष्टोमप्रयुक्तं हि तत् श्रूयते, न द्रव्यप्रयुक्तं; तच्च नित्यं ज्योतिष्टोमस्य, नैवं वचनं भवति,—यदा द्रव्यं नास्ति, तदा कर्तव्यम्—इति;

* अथवाऽस्या अर्थमधिकरणं कर्तव्यता उदलेभिः। कर्तिके तु अधिकरणम् इत्युक्तम्।

भा ज्योतिष्टोमस्य च नित्यमङ्गमुक्तं, द्रव्याभावो निमित्तम् उक्तम्—
इति परिकल्प्येत, कल्पनाया शब्दो बाधेत । अतो याच्ना-
क्रयणमस्त्वतम् इत्यम् इहोपयोक्तव्यम्, अन्यथा वैगुण्यं भवति ।
तस्मात् सति च असति च द्रव्ये याच्नाक्रयणम् अनुष्ठातव्यम्
—इति । अथ यदुक्तं,—लोकवत्—इति, लोके कर्म अर्थलक्षण
भवति, न शब्दलक्षणं, यथा अर्थः, तथा क्रियते; न, यथा
शब्दः, वेदे तु शब्देनैव अर्थोऽवगम्यते, तथैव अनुष्ठेयम्—
इति । तस्मात् विद्यमानेऽपि कर्तव्यम् ॥ (६। ८। ७ अ०) ॥

ज्योतिष्टोमादिषु पद्योक्ततादोनामपि नित्यताधिकरणम् ॥

सू तथा भक्षप्रैपाच्छादनसंज्ञतहोमद्वेषम् ॥ २८ ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘ययो व्रत बाध्मणस्य यवागू राजन्यस्य,
आमिक्षा वैश्यस्य’—इति, तथा दर्शपूर्णमासयोः प्रैषः,—
‘प्रोक्षणीरासादयेध्मं वह्निरुपसादय क्षुचः समृद्धिं पत्नीं सन्न-
ष्ट्राज्येनोदेष्टि’—इति, तथा वाजपेये श्रूयते,—‘दर्भमयं वासो
भवति’—इति, पशौ संज्ञतहोमः,—‘यत् पशुर्मायुमतोरो
वा पद्मिराहत अग्निर्मा तस्मादेनसो पिश्वान्मुञ्चत्वहसः’—
इति, तथा, ‘योऽस्मान् देष्टि यच्च वयं द्विष्मः’—इति वचनम्,
एतानि उदाहरणवचनानि ।

तेषु सन्देहः,—किं यस्य अपरं भोजनं न विद्यते, स पयो
व्रतयेत्, यवागूमामिक्षां वा, उत विद्यमानेऽपि?—इति, तथा
यो प्रेषितः प्रैषार्थं न प्रतिपद्यते, स प्रेषितव्यः, उत प्रतिपद्य
मानोऽपि?—इति; तथा, यस्य सूत्रमयं वासो नास्ति, स
दर्भमयं परिद्धीत, उत विद्यमानेऽपि?—इति; तथा यस्य
पशुर्मायुम् कुर्यात्, उरो वा पादौ वा हन्यात्, स एतेन भवेण
ब्रूयात्, उत अन्योऽपि?—इति, तथा, यो देष्टि कश्चित्

भा अन्येन च द्विष्यते, स एव मयं ब्रूयात्,—‘योऽस्मान् द्वेष्टि’—
इति; उत अद्विषन् अद्विष्यमाणस्यापि?—इति।

तत्र अधिकरणातिदेशोऽयम्। तत्र यः पूर्वस्मिन् अधिकरणे
पूर्वः पक्षः, स इह पूर्वः पक्षः, यस्तत्र सिद्धान्तः, स इह
सिद्धान्तः,—अविद्यमाने कुर्यात्—इति पूर्वः पक्षः; ‘नियतं
वार्धवत्त्वात्’ (६। ८। २७ सू०)—इत्युत्तरः। स एव अत्र न्यायः,
यः पूर्वच ॥ (६। ८। ८ अ०) ॥

अपररात्रे व्रतस्थानिदमाधिकरणम् ॥

सू अनर्थकं त्वनित्यं स्यात् ॥ २६ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘मथन्दिनेऽपररात्रे वा व्रतं व्रतयति’—
इति। तत्र सन्देहः,—किं नियतम् अपररात्रे व्रतम्, उत अनि-
यतम्?—इति। किं प्राप्तम्?—‘नियतं च अर्धवत्त्वात् स्यात्’
—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘अनर्थकं त्वनित्यं स्यात्’, यदा
एवम् मन्येत,—अस्मिन् काले व्रतं मे जरिष्यति—इति, तदा
व्रतयेत्, यदा तु खलु मन्येत,—न सम्यक् जरिष्यति—इति,
तदा तत् व्रतं क्रियमाणम् अनर्थकं स्यात्, यदि हि अजीर्णन
यजमानो म्रियेत, तदा तखलोपः, तखलोपे च सखलोपः।
तस्मात् अनियतं तस्मिन् काले व्रतं व्रतयितव्यम्—इति ॥ (६।
८। ८ अ०) ॥

वाग्धोवाग्दीपोमीयपशुताधिकरणम् ॥ (एव विष्वाकर्षादिम्) ॥

स पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात् ॥ ३० ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयो,—‘यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं
पशुमासभते’—इति। तत्र सन्देहः,—किं यः—कश्चित् पशुरा-

भा लग्ननीयः, उत छागः?—इति वक्ष्यमाणेन अभिप्रायेण भवति संशयः। 'ननु एकेषामाग्नायते,—अजोऽधोघोमीयः'—इति, 'सर्वशाखाप्रत्ययं च एकं कर्म'—इति। अत्र उच्यते,—अति शाखं भिन्नानि कर्माणि—इति कृत्वा—चिन्ता। किं तावत् प्राप्तम्?—'पशुचोदनायाम् अनियमः'; उत्सर्गं कर्तव्ये द्रव्यं शक्यते उत्सृष्टुम्, न पशुत्वं, द्रव्यं हि साधकम्, अतः अत्र द्रव्यम् अन्तरेण, उत्सर्गो न सम्भवति—इति द्रव्यम् उपादीयते। तस्मिन् उपादीयमाने अनियमः, यत्किञ्चित् उत्सृष्टव्यम्—इति। कुतः एतत्?। 'अविशेषात्', न हि पशुत्वसम्बद्धेषु कश्चिद्विशेषः उपलभ्यते। तस्मात् यः—कश्चित् पशुः—इति॥

स छागो वा मन्त्रवर्णात् ॥ ३१ ॥ (सि०) ॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति,—यत्र—कचन द्रव्ये पशुत्वम् उपादेयम्—इति। अस्ति उत्सृष्टव्यस्य नियमकारणं मन्त्रवर्णं,—'अग्नये छागस्य वयाया मेदसोऽभुवृहि'—इति, छागप्रकाशनसमर्थो मन्त्रवर्णः समाग्नायते, यदि छागो न उपादेयः, ततस्तत्प्रकाशनसमर्थस्य उपादानम् अनर्थवत्, तेन अवगम्यते,—छागम् अधिकृत्य उत्सर्गं विदधाति—इति, मन्त्रवर्णिको द्रव्यनियमविधिः—इति॥

स न, चोदनाविरोधात् ॥ ३२ ॥ (आ०) ॥

भा नैतदेवं, न शक्नोति मन्त्रवर्णश्चोदनाया प्रत्यर्थित्या द्रव्यं निदन्तुम्, यत्र हि द्रव्यस्य प्रकाशकं न श्रूयते, तत्र अप्रकाशितमेव तत्कर्तव्यम्—इति। तस्मात् न मन्त्रवर्णात् प्रकाशननियमविधिः* कल्पयते,—एवमत्रा प्रकाश्यं प्रकाशयितव्यम्—इति।

* प्रकाशननियमविधिरिति आ० मो० पु० पाठः ।

† एव मन्त्रप्रकाशनमिति क० स० द्वितीयं पु० पाठः ।

भा. अत्र पुनः शब्देन अथगम्यते,—पशुत्वेन प्रकाशयितव्यम्—इति । तस्मात् न मन्त्रवर्णः तत्सद्भावे समर्थः । मन्त्रवर्णाद्धि कल्प्या प्रयोगवचनश्रुतिः, इह कृष्ण प्रयोगवचनेन 'उपसंहर्तव्या, अन्य एव पशुशब्दस्य अर्थः पशुत्वम्, अन्यो मन्त्रवर्णेन नियम्यते छागः । तस्मात् न मन्त्रवर्णस्योदनाविरोधेन नियन्तुमर्हति—इति ॥

स आर्पयवदिति चेत् ॥ ३३ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'इति चेत्' पश्यसि,—न पशुत्वम् अन्येभ्यः पशुभ्य आच्चे-
तव्यम्—इति ; यथा, 'आर्पयं वृणीते, चीन् वृणीते'—इति सामान्यश्रुतिः त्रिष्वयावतिष्ठते—इति, चित्वं विशेषो विव-
क्षितो न अन्ये विवक्षिताः—इति ; एवम् इहापि पशुत्वं, छागं प्रकल्पयितुम् विवक्षितं, न अन्यान् विशेषान्—इति ॥

स न, तत्र ह्यचोदितत्वात् ॥ ३४ ॥ (आ०) ॥

भा. नैतदेवं, 'तत्र हि' अचोदितं द्रव्यम् उत्पद्यं, मन्त्रवर्णं, वरणे पुनश्चोदितं ; तत्र चित्वसङ्गसम्यन्धस्य वरणे चोदितत्वात्, न अन्या सङ्गस्य क्रियते । आर्पयशब्दादपि न अनार्पयं, विशब्दस्य हि तत् सामर्थ्यं, येन आर्पयशब्दो विशिष्टसङ्गस्य विषयो निय-
म्यते, इह न मन्त्रस्य सामर्थ्यम् । तस्मात् अनियमः—इति ॥

स नियमो वेकार्थं ह्यर्थभेदाद्भेदः पृथक्तेनाभिधानात् ॥
३५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'नियमो वा', 'ऐकार्थं हि' पशुच्छागशब्दयोः,—सामान्यं पशुः—इति, छागादयो विशेषा उच्यन्ते । कथम् ? तैः सामा-
नाधिकरण्यात्, पशुः छागः, पशुरुद्रः, पशुर्मेघः पशुरुक्षुः—
इति । एवं सति न मन्त्रवर्णः पशुशब्देन विरुध्यते, तेन छागो-

भा. व्याख्येयश्चोदितः, मन्त्रवर्णे उपादीयमाने इदम् अवगम्यते, छागं विवक्षित्वा अयं पशुशब्दः उच्यते—इति, न अन्यान् विशेषान्—इति। छागोपकरणम् अस्य उपदर्शितं, यदुप-
 दशने पशुशब्दश्छगाभिप्रायः—इति गम्यते, यथा युगवरचे
 उपदर्शिते, ईयाचक्रादिसन्निधाने चेत् अक्षमानयेति उच्यते,
 तदा, यानाक्षमधिकृत्य ब्रूते—इति गम्यते, न तु विदेवनाक्षम्
 —इति। यदि हि अर्थभेदो भवेत् पशुच्छागशब्दयोः, पृथ-
 क्षेनाभिधानं, ततो भेदः स्यात्,—न छाग एव नियम्येत,
 अविहितः छागार्थः—इति अश्वोपादानम्। अपि च, छाग
 पक्षे तं मन्त्रवर्णं प्रकाशयेत्, छागार्थाभिधाने पुनः पशुशब्दस्य,
 छागप्राप्तावन्येषाम् अप्राप्तिरिति अन्यस्मिन् प्राप्ते लिङ्गेन
 नियमः क्रियते—इति ॥

स अनियमो वार्थान्तरत्वादन्यत्वं व्यतिरेकशब्द-
 भेदाभ्याम् ॥ ३६ ॥ (आ०) ॥

भा 'अनियमो वा', यः—कश्चित् पशुः उपादेयः, 'अर्थान्तर-
 त्वात्,—अर्थान्तरं पशुत्वम्, अर्थान्तरं छागत्वम्, अर्थयोरपि
 सामानाधिकरण्यं, न शब्दयोः। कथं पुनरर्थान्तरं गम्यते?।
 व्यतिरेकाच्छब्दभेदाच्च,—व्यतिरेको हि भवति,—कश्चित् पशुर्न
 छागः। तथा, 'छागः, पशुः'—इति शब्दभेदः; शब्दभेदादेवार्थ-
 भेदो न्याय्यः। एकस्मिन् वाक्ये समवायात्,—पशुं छागमानय—
 इति, इतरथा, अन्यतरेण सतार्थत्वात् अन्यतरो वाक्ये न सम-
 वेयात्, समवेति च। तस्मात् अन्यत् पशुत्वम्, अन्यत् छागत्वं;
 तस्मात् अनियमः,—यः—कश्चित् पशुः उपादेयः—इति।

तत्रोत्सृजिका* पक्षव्यावृत्तिः, अन्यत्वेऽपि सति नियम एव।

भा. कुतः ? । 'मन्त्रस्य प्रयोगवचनेन गृहीतत्वात्, मन्त्रसाधनं हि कर्म—इति गम्यते, यदि छागम् उपादास्यामहे, सगुणं कर्म शक्तामः कर्तुम्, मन्त्रम् उपाददानाः, मन्त्रस्य अपाक्षिकत्वात्, अथ अन्यम् उपादास्यामहे, मन्त्रस्य विषयाभावात् मन्त्रम् अप-जह्यतो न सगुणं कर्म निर्वर्तयेम, अतो न च श्रुतिं बाधामहे, अन्यस्मिन् पशुशब्दो वर्तते—इति, न च अन्यम् उपादास्यामहे, वैगुण्यादिभ्यतः । तस्मात् छागः एव उपादातव्यः—इति ॥

‘ननु अश्वम् उपाददाना नैव मन्त्रवर्णम् अपह्नास्यामः, स एव अश्वः छागो भविष्यति, यस्मिन्नगमनोऽश्वः, स छागः, हिदेर्गमेश्च छागशब्दः प्रसिद्धः ।

सू. रूपालिङ्गाच्च ॥ ३७ ॥ (आ०) ॥

भा. ‘कचित् मुष्करा भविष्यन्ति’—इति श्रूयते, यद्यन्तरेण वचनम्, अमुष्करास्तदेदम् उपपद्यते । तस्मात् द्विन्नगमनोऽश्वोऽपि छागः—इति कर्माख्या भविष्यति । अत्र उच्यते,—

सू. छागे न कर्माख्या रूपालिङ्गाभ्याम् ॥ ३८ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. ‘छागे’ ‘कर्माख्या’ रूपालिङ्गाभ्यां न अवकल्पते, न हि छाग-शब्दः द्विन्नगमनवचनः, समुदायो हि असौ पृथक् अर्धान्तरे प्रसिद्धो, न असौ अवयवप्रसिद्धा बाधितव्यः । तस्मात् न अश्वः छागः ॥

सू. रूपान्यत्वान्न जातिशब्दः स्यात् ॥ ३९ ॥
(आ० नि० १) ॥

भा. इदम् अन्यपदोत्तरं सूत्रम् । ‘अथ कस्मात् न वयोवचनो

* तेन इति का० क्री० पु० एष क० म० द्वितीय पु० पाठः ।

भवति? वयोवचना ह्येते शब्दाः ह्यागच्छागलो वस्तः—इति, तेन अश्वोऽपि वयोवचनो भविष्यति—इति। उच्यते,— नैतदेवं, सत्यं वयोवचनः, अजापतिगतस्तु वयो वदितुम् शक्नोति, यथा शोणः—इति वर्णवचनः अश्वजातिगतं वर्णं वदति, न अन्यम्। तस्मात् 'रूपान्यत्वात् न' वयोमात्रवचनः, किन्तु 'जातिशब्दः स्यात्', जात्याश्रयं वयो वदेत्। अतश्चाग एव नियम्यते ॥

स विकारो नोत्पत्तिकत्वात्* ॥ ४० ॥ (आ० नि० २) ॥

भा इदमपि पदोत्तरम्,—इह अश्वादीनां विकारश्चागशब्दः, किञ्चिदत्र अश्वादीनाम् उच्चार्यते, न किञ्चित् अन्यदेव। तस्मात् अश्वोऽपि ह्यागः—इति, 'न उत्पत्तिकत्वात्', ओत्पत्तिको हि नामिनाम्नोः सम्बन्धः—इत्युक्तम् (१।१।३ सू०), न आद्याविकारः सम्भवति—इति। तस्मात् न अश्वश्चागः, अतः ह्याग एव उपादातव्यः—इति ॥

स स नैमित्तिकः पशोर्गुणस्याचोदितत्वात् ॥ ४१ ॥
(आ० नि० ३) ॥

भा पदोत्तरमेव इदं सूत्रम्। अथ कस्मात् न छिद्रनिमित्तः ह्याग शब्दो भवति? एवं श्रूयते,—'शुषिरो वा एतर्हि पशुः यर्हि वषामुत्खिदन्ति'—इति। न—इत्युच्यते, छिद्रत्वस्य 'गुणस्य' 'पशोः' 'अचोदितत्वात्', 'अथङ्' पशुमालभेत—इति हि चोद्यते। तस्मात् अच्छिद्रः पशुः। न च, अवयवप्रसिद्धा समुदायप्रसिद्धिर्वाधन्ते,—इत्युक्तमेव। तस्मात् ह्याग एव उपादेयो न अश्वादयः—इति ॥

* 'विकार इति चेत् ॥ ४० ॥ नोत्पत्तिकत्वात् ॥ ४१ ॥' इत्येवं
या० भा० पुस्तके क० स० पुस्तके च पठितम्।

स जातेर्वा तत्प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम् ॥ ४२ ॥ (सि०) ॥

भा वाशब्दः अवधारणायाम् । यस्मात् अवयवप्रसिद्धा समुदायप्रसिद्धिर्न बाध्यते, तस्मात् 'जानेः' एव छागशब्दो वाचकः, एवं समुदायस्य अर्थवत्ता अनुगृहीता भाविष्यति—इति तत्प्रायवचनम् उपपद्यते, 'विश्वेपां देवानाम् उक्षाणां छागानां मेषाणा वपानां मेदसोऽनुब्रूहि'—इति जातिप्राये वचनम् उपपद्यते, प्रायेणापि हि नियमः क्रियते, यथा, अग्रप्राये लिखितं दृष्ट्वा अग्रोऽध्यम्—इति बुद्धिर्भवति । तस्मात् छाग एव उपादातव्यः—इति । छत्वा-चिन्तायां* प्रयोजनं न वक्तव्यम् ॥

इति श्रीशवरस्वामिनः छतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य अष्टमः पादः ॥ अथायश्च समाप्तः ॥

समाप्त्य पूर्वं षट्क ॥

* शास्त्राभारे विधौ एव "छागेऽग्नौपोमीथ" इति स्पष्टमुक्तत्वात् इयं छत्वा चिन्ता ।

मीमांसासूत्राणाम्

पूर्वार्धम्

अथराउफारि

सूचीपत्रम् ।

| सूत्रम् | पृष्ठ | सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|-------|--|-------|
| अक्षरं ऋतुमुक्तं सप्तमिप्रित्यानुवादः ११८ | | अक्षोदकाद्य पक्कारः ११९ | |
| अक्षर्यं चोदसाधानात्तन्ममवायो ०१६ | | अक्षोदना गुणार्थेन . . . १२६ | |
| अक्षर्यणि घाप्रत्ययावात् . . ६१० | | अक्षोदिन च कर्मभेदात् . . . १२१ | |
| अक्षर्यत्वात् नैव स्यात् ६३० | | अतन्मत्वात्प्राद्वन्नाथ . . . ६८८ | |
| अक्षर्यत्वाच्च तत् पुनर्विशेषः . ०४१ | | अतद्गुणत्वात् नैव ह्यति .. . ०४८ | |
| अगुणाच्च कर्मचोदना ... १०६ | | अतद्विकारय १०९ | |
| अगुणे तु कर्मशब्दे गुणसत्त्व प्रतीयते ११८ | | ” . . . ०१० | |
| अग्निं नृत्तिदृशमानं ऋतुशब्द . १०८ | | अतुन्यत्वात् नैव स्यात् ... १०१ | |
| अग्ने कर्मनिर्देशात् . ५०८ | | अतुन्यत्वात् वाच्यहीनं तस्य ... १९० | |
| अग्निहोमप्रकरणे तद्वत् १८० | | अतुल्यत्वादममानविधानां स्युः ... ४१४ | |
| अक्षवत् ऋतूनामानुपूर्व ५८० | | अवग्राप्यस्य वाच्य स्यात् ६१८ | |
| अक्षविधिर्वा निमित्तमयोगात् . ६६१ | | अथातः ऋतुर्गुरुत्वाद्यर्थो जिज्ञासा ४२७ | |
| अक्षद्वौनय तद्वत् ६१८ | | अथातः शेषस्य चक्षुः १०८ | |
| अक्षानां मुष्णकाक्षत्वादयोक्त . ५५० | | अथातो धर्मजिज्ञासा ... १ | |
| अक्षानानुपवातमयोगो निमित्तार्थ ५१९ | | अथान्येनेति मन्त्रानां मन्त्रिधमात् .. ५८२ | |
| अक्षे द्रवत्वात् ५०३ | | अद्रव्यत्वात् केवले कर्मशेष स्यात् १८८ | |
| अक्षेपु स्फुटि पदार्थत्वात् ५०१ | | अद्रव्यत्वात् शेष स्यात् २२६ | |
| अक्षेतनेर्धर्मभक्तात् . . . ५० | | अद्रव्यगद्गत्वात् , ८० | |

| श्रुतम् | प्रश्न | श्रुतम् | प्रश्न |
|--------------------------------------|--------|---------------------------------------|--------|
| अद्विर्वचन वा श्रुतिमयोऽगाविज्ञेयान् | २०२ | अनुप्रमर्षेषु सामान्यान् | १६४ |
| अधिक वा प्रतिप्रमदात् | ७५० | अनुमानस्य मर्यादाभङ्गमुक्तम् | ७९ |
| अधिक वा स्याद्वच्युत्वादितरेषां .. | ७५१ | अनुपपत्तौ वाक्यसमाप्तिं सर्वेषु | १९४ |
| अधिकारे च भन्तविधिरतदाख्ये | २५८ | अन्ते तु वादरायणकोषा प्रचाम.. | ४६३ |
| अध्वर्युर्वा तदर्थो हि न्यायपूर्व | ४९१ | अन्ते तत्तत्सोर्द्ध्यात् | ५०१ |
| अध्वर्युर्वा तद्व्यापनात् .. | ४०८ | अन्ते वा तदुक्तम् | ५०२ |
| अध्वर्युस्तु दशंगान् | ४९४ | अन्ते स्यु रथवायात्.. | ५०४ |
| अननरं शत तद्गुणत्वात् | ५०६ | अन्यमरेकार्थे | २४२ |
| अनपेक्षत्वात् | ९१ | अन्ययोर्पथोक्तम् | ४८ |
| अनर्थकघ्नूतद्वचनम् | १९२ | अन्नप्रतिषेधाच्च | १९६ |
| अनर्थकनूतिरनित्यस्यात् | ७७३ | अन्यदशंगानां | ८० |
| अनर्थक्य कर्ममयोगे .. | १८६ | अन्यदायं प्रतीयते | १९४ |
| अनर्थक्य मर्त्यनाशे स्यात् | ६८० | अन्यस्य स्यादिति चेत् | ६१८ |
| अनर्थक्योपदेशः स्यादमममन्वात् | २६१ | अस्या अपीति चेत्.. | ७१४ |
| अनाघातेष्वमन्त्रत्वमाघातेषु .. | १९८ | अन्यानर्थक्यान् | ४१ |
| अनित्यत्वात् तु नैव स्यात् | १८६ | अन्यपदानेकशब्दत्वम् | ७७ |
| अनित्यत्वात् नैव स्यादसंदि | १९७ | अन्याथा वा पुनः प्रति | १८१ |
| अनित्यदशंगानां | २६ | अन्यार्थनाभिमतत्वात् | ११८ |
| अनित्यमयोगात् | ४९ | अन्येन वित्तशक्तादि कारकप्राप्तिः | ६८१ |
| अनित्यमयोगात्त्वामर्थक्यम् | ४८ | अन्येनापीति चेत् | ७१८ |
| अनित्यमनित्यत्वं | ४४० | अन्यो वा स्यात् परित्यक्ताद्यानां | १८६ |
| अनित्यमो वाचीकारत्वादित्यम् | ७७८ | अपदेशो वा अर्थस्य विद्यमानत्वात् | ११९ |
| अनित्यमो विज्ञेयत्वात् .. | ७१९ | अपमपक्षेऽपदेशस्य विद्यमान .. | ४९८ |
| अनित्यमोऽभ्युदिते प्राप्तिभ्यो | ७०७ | अपमपक्षाद् पूर्वस्य अनुपपत्त्यर्थम् | १९८ |
| अनुपपत्त्य लोचने | ४६१ | अपमपक्षे वाच्यत्वस्य पूर्ववाक्यत्वात् | १८९ |
| अनुपपत्त्य वादयत .. | ७४० | अपमपक्षे वा अदृष्टा यमेतरेषां | ७०६ |
| अनुपपत्तौ तु काल स्यात् | ४०८ | अपमपक्षे वा विद्यमानत्वम् | ७०९ |

| सूचक | पृष्ठ | सूचक | पृष्ठ |
|-------------------------------------|-------|------------------------------------|-------|
| अपराधात् कर्तुं च पुत्रदर्शनम् | ४८ | अपि वा लौकिकेऽग्नौ | ७१८ |
| अपराधेऽपि च तै मात | ६४१ | अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन .. | ६४० |
| अपरिमिते शिष्टस्य सङ्ख्याप्रतिषेध | ८५१ | अपि वा वदनिर्देशादुपश्रुदाना . | ६२४ |
| अपठते तु चोदना तत्प्रामाण्यात् | ५१४ | अपि वाऽन्यतिरेकाद्रूपशब्दा | ६५७ |
| अपि चोत्पत्तिप्रयोगो यथा स्यात् | ६९५ | अपि वा शेषकर्म स्यात् क्रान्तौ | ७४७ |
| अपि वा कर्तुं प्रामाण्यात्प्रमाणमतु | ६५ | अपि वा शेषभाजा स्यात् | ६७५ |
| अपि वा कामप्रयोगे सम्बन्धात् | ६९८ | अपि वा श्रुतिभेदात् | ३८० |
| अपि वा कारणाप्रवृत्त तदर्थमर्थ | ४४० | अपि वा श्रुतिप्रयोगात् प्रकरणे | १२२ |
| अपि वा कारणाप्रवृत्ते प्रयुक्तानि | ६८ | अपि वा सद्भितीये भ्याद्देवता | ९०८ |
| अपि वा कालमात्र स्याददर्शना | ५१८ | अपि वा सर्वधर्म स्यात् | ७३ |
| अपि वा छत्तमयोगादविधान | ७३० | अपि वा सर्वसङ्ख्यात्वादिकार | ५६८ |
| अपि वा छत्तमयोगादेकमेव | ७५८ | अपि वा तत्पत्तिप्रयोगादर्थसम्बन्धो | ४८६ |
| अपि वा क्रत्वभावाद्नादिनाम्नो | ७२२ | अपूर्वत्वाद्विधान स्यात् | ७०३ |
| अपि वा क्रत्वकालमनुज्ञा सद्य | ५४८ | अप्रकरणे तु तदर्थस्य सतो | ३९६ |
| अपि वा क्रत्वप्रयोगाद्विधित्यन्त | २०७ | अप्रकृतत्वाच्च , | १४७ |
| अपि वा गद्यत्रोटद्वयतुष्टुपद्यु | ५०३ | अप्रयोगकलादेकस्यात् क्रियेरन | २३८ |
| अपि वाऽङ्गमनिष्ठा स्यात्ततो | ५१७ | अप्राकृतेन हि प्रयोग तत्प्रामाण्यो | ७०८ |
| अपि वाऽङ्गानि कानिचित् यज्यन् | ५९० | अप्राप्ता चातुपपत्ति प्रयोगे हि | ४५ |
| अपि वा तदधिकारानमतुल्यधर्म | ७५६ | अभातिप्रतिषेधाच्च , | ७२ |
| अपि वा द्विचत्तत्वात् प्रकृत | ४८५ | अभावदर्शनाच्च | ४५८ |
| अपि वा सामधेय स्यात् | ८६ | अभावाच्चेतरस्य स्यात् | ७०८ |
| अपि वाऽन्यानि पादानि | ७२८ | अभिधारेणे विप्रकर्षाद्दुपश्रवत् | ४५६ |
| अपि वाऽन्यायदर्शनात् यथाश्रुति | ६२३ | अभिधानस्य कर्मवत् | १२४ |
| अपि वाऽन्यकदमे स्यात् प्रधाने | ६५४ | अभिधाने यंशब्द | ६१ |
| अपि वा प्रयोगप्रामाण्यात् | ११५ | अभ्यासोऽकर्तव्यत्वात् पुरुषार्थो | ६४८ |
| अपि वाऽन्यप्रामाण्यात् चोदनार्थन | ४८८ | अभ्यदधे कालापरधादिभ्या | ७०१ |
| अपि वाऽन्य शब्दजात | ६७१ | अदत्तप्रामाण्य च पवमानविविधा | ४८८ |

सूत्रम्

पृष्ठ

| | |
|--------------------------------------|-----|
| अयनेषु सोदनान्तर सञ्ज्ञोपदब्धात् | १७८ |
| अर्थकर्म वा कर्तुं मथोगात् सावत् | ४७८ |
| अर्थकर्म वाभिधाननृयीगात् .. | ४८० |
| अर्थकृते वातुमान स्यात् क्रमेकले | ५२१ |
| अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे .. | ६७२ |
| अर्थलोपादकर्म स्यात् ... | २१९ |
| अर्थवदिति चेत् | ६७७ |
| अर्थवादस्य तदर्थवत् ... | ५२८ |
| अर्थवादस्य तद्वत् .. | ७१३ |
| अर्थवादोपपत्तेय .. | १८५ |
| " " .. | ५१४ |
| अर्थवादो वा .. | ६० |
| अर्थवादो वा अनुपपत्तात् ... | ३२० |
| अर्थवादो वा अर्थस्याविद्यमानत्वात् | ५७७ |
| अर्थवादो वा प्रकरणात् | २१५ |
| अर्थवादो वा विधि .. | ७५५ |
| अर्थविप्रतिषेधान् .. | ५७ |
| अथममवायात् प्रायश्चित्त ... | ६७७ |
| अर्थस्तु विधिशेषत्वात् तथा लोके | ५४ |
| अथमप्यप्यवगतिर्लक्ष्येकस्यापि .. | ६५५ |
| अथाथ .. | १२० |
| " " .. | १२८ |
| अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् ... | १०६ |
| अथानाद्य विभक्तत्वात् ... | ७१९ |
| अथापरिमाणाद्य .. | ६८५ |
| अर्थाभावात् नैव स्यात् ... | ७२१ |
| अर्थाभिधानकर्तृ च भविष्यता | ४५७ |

सूत्रम्

पृष्ठ

| | |
|------------------------------------|-----|
| अर्थाभिधानमामय्याकान्तेषु | १४३ |
| अर्थोपनिषेध .. | १०९ |
| अर्थेन च समवेतत्वात् ... | ६११ |
| अर्थेन त्वपठ्येत देवतानाम् ... | ११८ |
| अर्थेनेति चेत् . | ३७५ |
| अर्थेऽपीति चेत् | ४७१ |
| अर्थे ममवैपश्यतो द्रव्यकर्मणात् .. | ४४८ |
| अर्थेकत्वादेक वाक्यं साक्षाद्वा . | १३१ |
| अथकत्वे द्रव्यगुणयोरैक .. | १२५ |
| अवकीर्षिमस्य .. | ७६८ |
| अवचनाद्य समान्यस्य .. | ६८६ |
| अवतत्वाच्च कुट्टा तस्य च | २३४ |
| अवदानाभिधारणासादने | ५८७ |
| अवाक्यशेषाच्च | ७२ |
| अविज्ञेयान् | ३८ |
| अविद्यमानवचनात् | ३७ |
| अविभागाच्च शेषस्य | २४७ |
| अविभागाच्च कर्तृणां ... | १८९ |
| अविभागादिधानार्थे कृत्यर्थे .. | ८८ |
| अविद्यत परम् | ६० |
| अविशिष्टानु कारण प्रधानेषु .. | ३७१ |
| अविशिष्टानु वाक्यार्थ | ५८ |
| अविज्ञेयानु शास्त्रस्य यथानुति ... | ४४० |
| अविज्ञेयानु कृति-र्येति चेत् ... | २०९ |
| अवेत्तादमात्र कर्मणि स्यात् ... | ६९६ |
| अवेदो वक्ष्यमाणान् कर्तु ... | १७२ |
| अथवायाद्य | ५१६ |

| सूचक | पृष्ठ | सूचक | पृष्ठ |
|--------------------------------------|-------|---|-------|
| अशक्तौ त प्रतीयेरन | ४१० | आग्नेयवत पुनर्वचनम् | १०१ |
| अशब्द इति चत स्यादाक्ष | ४४१ | आग्नेयमूक्तद्वयत्वादभ्यासेन प्रतीयेत | १८२ |
| अश्वत्थमिति चेत् | ६६० | आधाराग्रिहोममरूपत्वात् | १४६ |
| अश्वत्थमनुवर्णत्वाच्च | २८२ | आधाराद्वृद्धमानपु तथा स्यात् | ६५० |
| अश्वत्था नृपमन्याग्रि शास्त्र | ६४४ | आश्वत्थमपीति चेत् | ४८४ |
| अश्वे नृपमनुमादानेन | ७४० | आज्याश्च मन्त्र मयोगात् | २४२ |
| अश्वत्थात् तदक्ष स्यात् कर्मसौ | ७४० | आज्या च दग्नात् स्त्रियुक्तद्वयत्वादस्य | १४१ |
| अश्वत्थात् नैव स्यात् सर्वादानात् | १४१ | आतश्चनान्भ्यामस्य दग्नात् | ७०२ |
| अस्यक्त प्रकरणादितिकर्म व्यतायि | १८२ | आदान करोतिशब्द | ४६८ |
| अस्ययोगात्, मुख्यस्य न्यादप | १८० | आदित्यवयौगपद्यम् | १० |
| अस्ययोगात्, नैव स्यात् विधे | ६४६ | आदशार्थेतरा त्रुति | ७११ |
| अस्ययोगात् वैद्यत तद्वत् प्रतिष्ठयत् | ५४१ | आधानश्च भार्यामुदुक्त | ७१६ |
| अस्यवत्त्वात्, नोत्तकपत | ५४४ | आधानमपि नयति चत् | ४२१ |
| असाधकत्वात् तद्वत् | ६०१ | आधाने सर्वार्थेपत्तात् | १०५ |
| अस्यानात् | २४ | आनन्त्यग्रामघोदना | १२८ |
| अस्याश्च मन्त्रलिङ्गानि | ७१५ | आनन्त्यग्राम तु वैधी स्यात् | ७१२ |
| अद्वयत्वे च तद्वत् | ७४८ | आनयक्य च मयोगात् | ६२१ |
| अद्वयत्वं यस्मिन्प्रश्ने दक्षदा | ७२५ | आनयक्यात्तद्वत् | १२२ |
| अद्वयानि वाभिषेकस्थानात् | ७६० | आनयक्यादकारण | ८८ |
| अद्वयवत् पुनर्वचनद्वयत्वात् | १११ | आनयक्यात्तद्वत् | ४८१ |
| अद्वयौ वा प्रकरणात् | १८६ | आनयक्यात्तद्वत् | १८ |
| आकाशिकरूपम् | ४८ | आनयक्यात्तद्वत् | १८८ |
| आकाशिकं क्रियार्थत्वात् | ८० | आनयक्यात्तद्वत् | १८८ |
| आकाशं चैव तद्वत्त्वात् | १८४ | आनयक्यात्तद्वत् | १८८ |
| आकाशं प्रवचनम् | १० | आनयक्यात्तद्वत् | १८८ |
| आकाशं हि दग्मयोगात् | ७४ | आनयक्यात्तद्वत् | १८८ |
| आत्मनो वा | ६६० | आनयक्यात्तद्वत् | १८८ |

सूच्यम्

४४

| | |
|---|-----|
| इतरेषु तु पित्राणि | ००१ |
| इष्टित्वेन तु सक्तम् | ११२ |
| इष्टित्वेन तु सक्तुनेष्टोमं स्याद... .. | ०६४ |
| इष्टिपूर्वत्वादप्युक्तशेषोष्टोमं | ०६९ |
| इष्टिरयत्नमात्रेण तादर्थ्येष्टोमं | ४८८ |
| इष्टान्ते वा तदर्थं ह्यविशेषार्थं | ४०८ |
| इष्टार्थमग्राधेयं प्रकरणात् | २०० |
| उक्तं समाख्यायैदमर्थं नस्मात् पूर्व | ८५ |
| उक्तान्तु वाक्यशेषत्वम् | ५१ |
| उक्तान्तु शब्दपूर्वत्वम् | २० |
| उक्तमनिमित्तत्वम् | ६३१ |
| उक्तयानित्यसंयोग | ६९ |
| उक्ताश्च यजमानत्वं | ४०५ |
| उक्त्यादिषु वार्थस्य नियमान्तात् | २०२ |
| उत्कर्षात् ब्राह्मणस्य शोभं स्यात् | ५८० |
| उत्कर्षो वा पक्षपादशेषस्य | २०१ |
| उत्कर्षो वा दीधितत्वादविशिष्ट | ०१६ |
| उत्थाने चानुप्ररोहान् | ०१५ |
| उत्पत्तावमित्यन्वयान्नादौप | ५२४ |
| उत्पत्तिकालविशेषे काल | ५१० |
| उत्पत्तिरिति चेत् | ५१८ |
| उत्पत्तेश्चानुप्रधानत्वात् | ४८८ |
| उत्पत्तौ तु ब्रह्मपुत्रे | ४८८ |
| उत्पत्तौ नित्य | ६१८ |
| उत्पत्तौ येन मयुक्त | ४०८ |
| उत्पत्तौ वा, वचनात् स्युर्त्यस्या | ४१ |
| उत्पत्तामधोगात् प्रणीतानामाद्य | ४०० |

सूच्यम्

४४

| | |
|---|-----|
| उत्पत्ताधिकारात् सति सर्ववक्ष्यम् | २४५ |
| उत्पत्तौ तु प्रधानत्वात् शेषकारौ | २८६ |
| उद्गम्यनपूर्वपक्षात्, पुष्पाद्येषु दैवानि | ००० |
| उद्गम्यनधर्मसमेकं च निसर्गोपात् | २५० |
| उपगाय छिद्रदर्शनात् | ४०१ |
| उपदेशस्त्वपूर्वत्वात् | ०६२ |
| उपदेशो वा याज्ञाशब्दो हि | ११२ |
| उपनयनादधीतं शोभसंयोगात् | ०६९ |
| उपवेष्टव्यं पक्षे स्यात् | ६८८ |
| उपवेष्ट्येऽप्रतिप्रसव | १०६ |
| उपाययागेऽवचनात् यथाप्रकृति | ००५ |
| उपायो वा तदर्थत्वात् | २२६ |
| उपयार्थमिति चेत् | ५० |
| उपयोऽपि नित्यवत् | ०६४ |
| उपाभ्यां वा न हि तयोर्धर्मज्ञात् | ६८८ |
| उत्थिक्कुम्भोरन्ते दर्शनात् | १०६ |
| उद् | ६२ |
| उत्थिक्कुम्भं करणेऽवयवत्वात् | ४१५ |
| एकं वा चोदनैकत्वात् | ५०० |
| एकं वा तदुक्तभावाद्देवतादर्थत्वात् | ५६२ |
| एकं वा संयोगरूपदीपना | २०० |
| एकं शब्दसामर्थ्यात् | ५८१ |
| एकचित्तिना स्यादप्युक्तं हि | ४१४ |
| एकव्युत्पत्तमेकस्य युतिसंयोगात् | १२४ |
| एकत्वेऽपि परम् | २०१ |
| एकत्वेऽपि पराणि निन्दाशक्ति | १०२ |
| एकदेश इति चेत् | २०० |

| श्रुतम् | पृष्ठ | श्रुतम् | पृष्ठ |
|--|-------|--|-------|
| एकदेशस्वाद्य विभक्तियत्यये श्यात् | ७८ | कर्तुं नो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् | १०९ |
| एकदेशस्वधीतृपणौ विद्यामान .. | ४३४ | कर्तुं देश काष्ठानामचोदन | ४८१ |
| एकनिष्पत्ते ... | ४४८ | कर्मां करो वा भूतत्वात् | ११४ |
| एकपाये क्रमाद्भयं पूर्वा भक्षयेत् | ११७ | कर्मकार्यात् .. | ४३३ |
| एकयुतिताद्य .. | ४४३ | कर्मकार्यात् सर्वेषां कृत्तिकृत | ४०२ |
| एकलोमे वा क्रतुमयोगात् .. | १८४ | कर्म तथेति चेत् .. | १४० |
| एकप्राचेत यथाकाम्यविशेषात् .. | १४८ | कर्मधर्मो वा प्रवणवत् .. | ७५ |
| एकस्मिन्नेकमयोगात् .. | १०७ | कर्मदुस्ते च दर्शनात् .. | ४७८ |
| एकस्मिन् वा देवताकारादिभागवत् | १७५ | कर्मोपपि जैमिनि पुनार्यमात् .. | ११० |
| एकस्मिन् वार्धधर्ममादेन्द्राग्रवत् | १०८ | कर्मां भेदक जैमिनि | ११४ |
| एकस्मिन् समवतगत्यात् ... | १४१ | कर्माद्यं कृ पञ्चकोपां सामिन .. | ४१६ |
| एकस्य कर्मभेदादिति चेत् .. | १८७ | कर्म के तव दर्शनात् .. | १४ |
| एकस्य तु छिद्रभेदात् प्रयोजनार्थं | १०१ | कजपाक्षर वा .. | ७५१ |
| एकस्य तूपपत्ते मयोगश्चकृतम् .. | ४८३ | कामो वा तत्प्रयोगेन चोद्यते | १०३ |
| एकस्मै च पुन युतिरविशेषा ... | १२८ | काश्यावाच ... | ३८१ |
| एकशब्दे परार्थत्वात् ... | ८९ | कास्ये कर्मणि नित्य सर्वो यथा | १०९ |
| रेन्द्रवाये तु वचनान् प्रतिकर्म | १४८ | कास्येषु धैर्यमर्थात् .. | १५६ |
| रेन्द्राग्रे तु छिद्रभावात् स्यात् ... | १०३ | कारण स्यात् इति चेत् | ८८ |
| शौतृपत्तिवत् शब्दार्थेन .. | ७ | कारणं च ... | १४९ |
| शौतृस्वर्गा परार्थत्वात् कदाचित् | ७१८ | कारणादभ्यासि .. | ३१८ |
| शौतृभूत तथेति चेत् .. | ४६१ | कारणादानवमर्ते स्यात् | ३६० |
| शौतृमयोदाहोमयो | ७१० | कारणादुपधाद्य .. | ३३८ |
| करोतिशब्दात् .. | १५ | कालग्राधान्याच ... | ७१७ |
| कर्तुं वा युतिमयोगात् .. | १८४ | कालविधिर्बोमयो ... | १८८ |
| कर्तुं वा युतिमयोगादिधि .. | ६०३ | कालयेत् मन्त्रपत् .. | १८६ |
| कर्तुं च यन्निदमातकाज्जाल .. | १८७ | कालयुक्तौ काल इति चेत् | ३०८ |
| कर्तुं च तु कर्मापमवादात् | १३३ | कालस्य स्यादचोदनात् .. | ६८६ |

| सूत्रम् | शृङ्खला | सूत्रम् | शृङ्खला |
|---------------------------------------|----------------------------------|---------|---------|
| कालार्थत्वाद्बोधयो ६६० | गुणार्थत्वाद्बोधयो .. १५० | | |
| कालौत्कर्षरति ५४६ | गुणस्तु कर्तृसमीक्षात् ... १५८ | | |
| कालो वा ६६५ | गुणस्तु नृत्तिमयोगात् . १६१ | | |
| कनकं चाभिधान २०१ | गुणस्य तु विधानत्वात् ६६८ | | |
| कनकवान् कर्मणः सत्त्वस्यात् २२६ | गुणस्य तु विधानार्थे . ६८ | | |
| कनकदेशात् पूर्वार्थं सदेव स्यात् ५६५ | गुणात्सम्बोधपक्षः . १८० | | |
| कनके वा विनियोगः स्यात् .. . २० | गुणादपत्तिपक्षः ६९ | | |
| कनकोपदेशादुभयस्य सम्बन्धन २५४ | गुणानाञ्च परार्थत्वात् .. १०८ | | |
| कर्तुनो वाच्यत्वादुपपत्तेः स्यात् २०९ | गुणानामनूत्पत्तिवाक्येन . ४२५ | | |
| कर्तुः फलार्थवादसम्बन्धः ... ५०१ | गुणाभावात् ... २५० | | |
| कर्तृविशेषो वा बोधिरिति ... ५०४ | गुणाभिधानात् .. १६४ | | |
| कर्तृत्वव्यतिथिर्हेतु ५४४ | गुणाभिधानात् पर्यायस्य . १६१ | | |
| कर्तृत्वे वा प्रयोगवचनान् ५०८ | गुणार्थो वा पुनः नृत्तिः .. २०० | | |
| कर्तृत्वो योः पर्यायस्याभ्यां ४८६ | गुणार्थत्वाद्बोधित्वेन .. ६२५ | | |
| कर्तृत्वस्य देशमात्रायात् २८२ | गुणार्थेनेति धेतुः .. ६२१ | | |
| कर्तृत्वे वा निषेधेन ५४० | गुणार्थो व्यपदेशः .. १२१ | | |
| कर्तृत्वस्य धर्मभावन ६१२ | गुणस्य नामसंयुक्ता .. ५४२ | | |
| क्रियाणाभावात् ६१० | कर्तृत्वस्यात् . १४६ | | |
| क्रीतत्वात् भक्त्या व्याप्तिः ... ६१४ | क्रीडो वा कर्ममात्रायात् ... ४२४ | | |
| कामे तु सर्वदाये ... ६८० | कर्मणादापनयः स्यात् .. १६८ | | |
| कार्येण वा व्याप्ता . ०२५ | कर्मणादापनीत .. १६८ | | |
| क्रीतिषु सामान्या ... ६२६ | कावन्तुतो मयो . २३२ | | |
| गुणत्वाच्च वेदने ... ४२६ | कर्ममवहित्वेन .. २३४ | | |
| गुणस्य कर्तृत्वविशेषे ... २८० | कर्ममाध्यायस्य पर्यायस्य ४०८ | | |
| गुणवादस्तु ... ४२५ | कर्ममाध्यायस्य भेदपक्षेण .. ४०८ | | |
| गुणविशेषादेव ४८६ | कर्मविशेषा वा विधानात् .. ०२४ | | |
| गुणस्य कर्तृत्वस्य व्याप्तिः ... १२० | कर्मस्य चाम्यहोनात् ... ४०८ | | |

| सूचक | पृष्ठ | सूचक | पृष्ठ |
|-------------------------------------|-------|---------------------------------------|-------|
| धर्मस्य प्रमाद्व्यानात् संयोगस्य .. | २४८ | जाति | १०९ |
| धर्मस्य तुल्यकाशलात् .. | २१४ | जातिन्तु वादरायणोऽविशेषात्... | ६०८ |
| धरावनीतिचेत् | २०६ | जातिविशेषात् पर | २४५ |
| धरी वा अर्थोक्तं | २०६ | जातेषां तत्प्राय | ००८ |
| धातुवर्णमविशेषात् | ६११ | जात्यन्तराश्च शङ्कते | ४०० |
| चिकीर्षा च मंद्गीमात् | ३८८ | कुद्धादीनामप्रयुक्तत्वात् मन्देहे ... | ०२८ |
| चोदना प्रति भावाच्च | ४१४ | ज्ञाते च वाचन | ४१८ |
| चोदना पुनरावृत्तिः | ११२ | ज्योतिष्टोमे तुल्यान्विशिष्टं ... | ४४४ |
| चोदनाया फलप्राप्ते | १४२ | तद्योदकेषु मन्त्राभ्यां | १२५ |
| चोदनायाम्बनारम्भो | ४४० | तच्छब्दो वा | ५०० |
| चोदनार्थकात्स्न्यात् | ३६८ | तच्छेषो नोपपद्यते | ८८ |
| चोदनालक्षणीयैः धर्मैः | ९ | तत्काले वा लिङ्गदर्शनात् .. | ४३२ |
| चोदना वा गुणानां .. | ४८६ | तत्प्रकरणे | ३१२ |
| चोदना वा द्रव्यदेवताविधिरतादे चि | ६८१ | तत्प्रकृतेश्चापि | ४८२ |
| चोदना वाऽनुरूपत्वात् .. | ४०० | तत्प्रकृत्यर्थं यथान्ये ... | २०१ |
| चोदना वाऽप्रकृतत्वात् | १४५ | तत्प्रकृत्यान्विशेषात् | ८८ |
| चोदना वा शब्दार्थम् | १४८ | तत्प्रधाने वा तुल्यवत् | २१४ |
| चोदितत्वात् यथायुति | ६०८ | तद्य औद्भवमनुयाज | ४६१ |
| चोदितान् प्रतीयेताविरोधात् | ०२ | तच्च तत्त्वमभियोगविशेषात् ... | ०० |
| चोदिते तु धराशलादया .. | २१८ | तद्य प्रतिबोमो न विद्यते ... | ०१० |
| चोदको चार्थक्यम् | ४४२ | तद्य विप्रतिषेधाद्विकल्प .. | ००२ |
| चन्द प्रतिषेधना | १०४ | तच्च सर्वोऽविशेषात् | ५०५ |
| चन्दय देवतावत् | १०६ | तदाद्योत् कर्तृपरिमाण .. | ०८० |
| चानो न कर्माश्चा .. | ००० | तदाद्योत् प्रतिवचनम् .. | ०१८ |
| चानो वा सम्बन्धान् | ००४ | तच्चैकतमपञ्चाङ्गम् | ४४२ |
| चानो चामग्नियोगात् | ०८४ | तद्योत्पत्तिविभक्ता | ४६१ |
| चापनी चैकदेशत्वात् | १८८ | तत्प्रयोगात् कर्माण्यवस्था .. | ४०० |

| सूचक | पृष्ठ. | सूचक | पृष्ठ. |
|--------------------------------|---------|--------------------------------|---------|
| तत्तत्प्रयोगात् त्रुत्तुसदाश्च | ... १८० | तथा च लिङ्गदर्शनं | ... ६४० |
| तत्तत्प्रयोगात् ... | ... १४० | तथाज्ञानमपीति | ... २४८ |
| तत् सर्वदाविशेषात् | .. १३४ | तद्योत्थानविमर्शने | ... २६१ |
| तत् सर्वार्थसमादेशात् | ... ४६६ | तदकस्मिन् च दोषस्तथा | ... ६१४ |
| तत् सर्वार्थविशेषात् | ६०६ | तदर्थत्वात् प्रयोगस्य | ... ८३ |
| तत्प्रतिदि | ... १०० | तदर्थवचनात् | .. ३८८ |
| तथा वानोऽर्थसंयोगात् | .. ४६० | तदर्थमास्वात | ... ३३ |
| तथा कालाभावात् ... | ... ८१ | तदर्थमिच्छातुरूपत्वात् | .. ७७ |
| तथा च लिङ्ग | ... ४४६ | तदर्थसंभ्रं श्रवणात् | ... ३११ |
| तथा च लोकाभूतेषु | ४४० | तदाप्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् | १६० |
| तथा चान्यार्थदर्शनम् | .. ५३४ | तदा दिवाभिमन्वत्वात् | .. ५३० |
| " " | ... ५३६ | तदुक्तत्वाच्च दोषमिति | .. ६०८ |
| " " | ... ३४२ | तदुक्ते श्रवणाच्चोति | .. ४८४ |
| " " | ... ५६५ | तदुक्तमे कस्मिन् प्रवर्थाय... | ४२६ |
| " " | .. ६१० | तदुपपन्न उपपन्नस्येत्यनेन | ... २१८ |
| " " | .. ६१६ | तदेकदेशो वा | .. ४६० |
| " " | ७०७ | तदेकपाचाणां समवायात् | ... २३८ |
| " " | ... ७४० | तद्वृत्त्या विधीयन् | .. ६४ |
| तथा इत्येव गुणमिति | ४८२ | तद्वृत्त्याहा मध्यस्थे | ... ४११ |
| तथा निमित्ते | .. ८६ | तद्वि शब्दात् निमित्ते | ... ६८२ |
| तथान्त त्रुत्तुप्रमाणानि | ... ६४० | तद्वृत्त्या त्रिषादेन | ... २४ |
| तथापूर्वम् | ४४३ | तद्वृत्त्या कर्तव्योऽभ्यासो | .. १४६ |
| तथा पञ्चभावात् ... | .. ४९ | तद्वृत्ते तु प्रतिषेधात् | ... ७१८ |
| तथा भवप्रैषाच्छादन | .. ७०२ | तद्वृत्ते तु फलमिति | .. ३६० |
| तथामिधानेन | ... २६० | तद्वृत्त्या च शब्दानां | .. ७०६ |
| तथा चान्योपयोगो | .. १११ | तद्वृत्त्यादिजननी यथाप्रधानं | ... ३४७ |
| तथा उपपन्न वेदिः | .. २६१ | तद्वृत्तिर्लिङ्गदर्शनं | ... ३०० |
| तथा श्रीमद्विष्णुसूक्तम् | ... ३६६ | " " | ... ४४५ |
| तथा सामिन् चतुष्टयमापात | ... ६६२ | तद्वृत्तिर्मेवमिति | ... ३४७ |

| सूत्रम् | प्र० | सूत्रम् | प्र० |
|-------------------------------------|------|---|------|
| तद्वत् प्रयोजनैकत्वात् २८२ | | तेनौत्कृष्टस्य ज्ञानविधि २०४ | |
| तद्वत् स्वमाकारे २०० | | तेषामर्थेन मध्यम २११ | |
| तद्वत्त्वमु वचनप्राप्ते २६६ | | तेषामर्थ्यतायैवशेन १९८ | |
| तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् ५०१ | | तेषामौत्पत्तिकत्वात् ६४८ | |
| तद्व्यापदेशश्च ८० | | तेष्वदर्शनात् विरोधस्य ७० | |
| तद्वित्यं तद्विकीर्षा हि ६६० | | तन्मन्त्राणां प्रयुक्तत्वात् ४०६ | |
| तद्वय फलमिद्वित्वात् ४१५ | | तस्यापि त्रयमप्यत्र ६२० | |
| तद्व्याच विप्रयोगे स्यात् ६८८ | | तयो विद्याख्या च २०८ | |
| तद्विषय फलदर्शनात् ६६५ | | विशेष पराधीनात् २०९ | |
| तद्विहितं शिष्यमानानि ६४० | | तद्व्यापत्तयवयेत् २०० | |
| तद्विषयमन्त्रवश्यात् ६४८ | | तद्विषयकाले यत्तत् तत् ७४६ | |
| तस्य निमित्तपरीक्षा ६ | | तद्विषयो नैमित्तिक शुक्तिमयोगात् ४२० | |
| तस्य रूपोपदेशाभ्याम् २६४ | | दर्शनात् कालचिह्नाना .. ६४८ | |
| तस्या यावदुक्तमाश्री ६२० | | दर्शनादिति चेत् २६० | |
| तस्योपदेशसमाख्यानेन ४०० | | दर्शनाद्विनियोग स्यात् ७४ | |
| तादर्थ्यात् कर्मणसादर्थ्यम् ... ६११ | | दर्शनाद्वैकदेशे स्यात् ६८१ | |
| तादर्थ्यात् गुणार्थता ६२० | | दर्शपूर्णमासयोरित्या ५२० | |
| तानि द्वैध गुणप्रधान ११२ | | दर्शत्वात् चिह्नदर्शनात् २८८ | |
| ताभिष्य तुल्यमप्यज्ञानात् ... ५२२ | | दिग्बिभागश्च तद्वत् २१६ | |
| ताद्यामग्निं प्रकृतित २०२ | | दीक्षाकालस्य शिष्टत्वात् ७१६ | |
| तुल्यं च साम्यदायिक ४४ | | दीक्षादक्षिणत्वं वचनान् २८१ | |
| तुल्यं सर्वेषां पञ्चविधि २०६ | | दीक्षामर्याये चातुप्रकात् ७१४ | |
| तुल्यत्वात् क्रिययोर्न ८१ | | दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात् ७१२ | |
| तुल्यत्वं कर्म धर्मण ७५ | | दीक्षासु तु विनिर्देशात् ७४८ | |
| तुल्यवश प्रमाद्व्यानात् ५२६ | | दरभूयस्त्वात् ४८ | |
| तुल्यश्रुतिनादा ११५ | | दग्नेते १२२ | |
| तुल्या च कारवश्रुति ५२४ | | देवताया च तदर्शनात् ६१२ | |

| सूचक | पृष्ठ | सूचक | पृष्ठ |
|--------------------------------------|-------|--------------------------------------|-------|
| देशमात्रं वा प्रत्यक्षं | २८४ | द्वैतव्यक्त्यां तु | ४८५ |
| देशमात्रं वाऽश्रित्येण | २८५ | द्व्याधानं च द्वियज्ञवत् | ६१६ |
| देशमैवैककर्म्यात् | ५११ | द्व्याकान्तेष्वभौ | ४१८ |
| दोषानु वैदिके स्यात् (... .. | २२४ | धर्ममात्रे तु कर्म स्यात् | ११५ |
| दोषात्त्रिष्टोत्रादिके स्यात् | २९८ | धर्मविप्रतिषेधाच्च | २०८ |
| दोषयोः कालभेदात् | २०० | धर्मस्य शब्दमूलत्वात् | ६४ |
| द्रव्यं चोत्पत्तिमद्योगात् | २१२ | धर्मोपदेशाच्च | २९८ |
| द्रव्यं वा स्याद्योदनाया | १८८ | न क्षमद्विषमात् | ०९ |
| द्रव्यगुणमन्वातेषु | २०८ | न क्षमव्यपदेशात् | १११ |
| द्रव्यवत्त्वात् पुंसां स्यात् | ६१० | न काम्यत्वात् | ६९४ |
| द्रव्यसंयोगाच्च | २२० | न कालविधिर्योदितत्वात् | २४८ |
| द्रव्यसंयोगाच्चोदना | १४० | न कालेभ्य उपदिश्याको | ६४८ |
| द्रव्यसंयोगो न दितस्य | १५० | न क्रिया स्यादिति चेत् | ८९ |
| द्रव्यमन्वात् प्रकृत्यविशेषात् | ४२० | न चैकं प्रति शिष्यते | २०९ |
| द्रव्यमन्वात्कर्मणु | ४८० | न चैकसंयोगात् | ०२९ |
| ३ प्रकारविशेषे | ६०१ | न चोदनाविरोधात् | १०० |
| द्रव्याणां कर्मसंयोगे | ६८८ | " | ००४ |
| द्रव्याणाम् क्रियार्थानां | ४८५ | न चोदनाविरोधाद्वि.प्रकृत्यपमाच्च १४४ | |
| द्रव्याणि स्वविशेषेण | ४४१ | न चोदनाकार्यात् | ६१० |
| द्रव्ये चाचोदितत्वात् | २०५ | न तत्प्रधानत्वात् | ०१८ |
| द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात् | ४४० | न तत्र चाचोदितत्वात् | ००५ |
| द्रव्योत्पत्तिमद्योगो स्यात् | ६८० | न तत्सम्बन्धात् | ४३८ |
| द्रव्योपदेश इति चेत् | ११६ | न तदर्थत्वात् लोकात् | ११६ |
| द्रव्योभु चेतुमामर्शः | ४६४ | न तदीयभावि | ६०० |
| द्वादशमं वा प्रकृतित्वत् | ०४८ | न तद्वाक्यं च तदर्थत्वात् | १८८ |
| द्वादशाक्षरं लिङ्गात् स्यात् | ०११ | न तदर्थत्वात्तुल्यत्वात् | ६८९ |
| दिग्ब्रह्मपुत्रं वा | २८० | न तदर्थत्वात् | ००४ |

[illegible]

| सूत्रम् | पृष्ठः | सूत्रम् | पृष्ठः |
|--|--------|--|--------|
| निरूप्य, स्यादर्थनस्य ८९ | | नैकत्वात्तस्य चानधिकरात् ७२८ | |
| नित्या वा स्यादर्थवादा १२१ | | नैकदेशत्वात् ८२५ | |
| निमित्तार्थेन वादेति ६२९ | | नैमित्तिक तु प्रकृतौ ३३० | |
| नियते नार्थवत्त्वात् ७०१ | | नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगात् ६०४ | |
| नियमस्तु दक्षिणमि श्रुति ४०४ | | नैमित्तिकमसुखत्वात् १८६ | |
| नियमार्थे कश्चिद्विधि ६९० | | नैमित्तिके विकारत्वात् १८१ | |
| नियमार्था मुक्तश्रुति १८२ | | नोत्पत्तिसंयोगात् ४०८ | |
| नियमार्था वा श्रुतिः ४८२ | | नोत्पत्तौ हि १८८ | |
| नियमो वा ननिमित्तत्वात् १४२ | | न्यायविप्रतिषेधाच्च ५०० | |
| नियमो वैकल्प्यै चार्थभेदात् ७०५ | | न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनं ४९१ | |
| निरवदानात्, मेव स्यात् २१६ | | न्यायो वा कर्मसंयोगात् ६१० | |
| निरूपे स्यात्तत्संयोगात् ७०६ | | पक्षेणार्थलक्षणेति चेत् १८८ | |
| निर्देशस्य मुक्तार्थत्वम् ६०६ | | पक्षेणेति चेत् १०४ | |
| निर्देशाच्छेयमसौऽन्यै ६०६ | | पक्षे नोत्पत्तिसंयोगात् ४२१ | |
| निर्देशात्, पक्षे स्यात् ६२९ | | पक्षगतावस्तु प्रत्युत्ते ६८० | |
| निर्देशात्, विकल्पे ६६० | | पदकर्मापयोगकम् ४११ | |
| निर्देशात्, विक्षतावपूर्वस्य ४१८ | | पयोदोषात् पक्षगतावे ७०१ | |
| निर्देशात्, स्यादन्यदर्थोदिति ४१४ | | परलक्षितपुत्राकल्पं च ७११ | |
| निर्देशादाऽनङ्गमं स्यात् ७४४ | | परस्तु च, निघामान्यमायं १० | |
| निर्देशाद्वा प्रयाणां ६२९ | | परार्थत्वात् मुक्तत्वात् ८० | |
| निर्देशादान्यदात्मपक्षे ६०४ | | परिभङ्गा १८ | |
| निर्देशादावतिशेते १८० | | परविदिन पञ्चमृत-विद्वत्पक्ष २१० | |
| निर्देशो वाऽनादिनाष्टे ७६४ | | पक्षेनावेदनादीक्षितः ४०८ | |
| निरीतमिति मनुष्यपक्षं ४१२ | | पर्याप्त इति चानाख्या ४०९ | |
| निश्चिदर्थमात्रं ४८२ | | पञ्चावभाषणात् ४४१ | |
| निष्कृष्यवादाच्च ६८१ | | पञ्चमने मन्व मन्वाऽवर्जने ४६१ | |
| निष्कृष्य पक्ष तदावन् १२९ | | पञ्चबोदनावाप्तमदम ७११ | |

| सूत्रम् | पृष्ठ | सूत्रम् | पृष्ठ |
|----------------------------------|-------|----------------------------------|-------|
| प्रतिषिद्धं च दशानां | ५१६ | प्रत्यये ङाङाप्रत्ययवत | ६६७ |
| प्रतिषेधाच्च पूर्वनिर्द्धानां | २८६ | माकृताश्च पुरस्तादात् | ५६६ |
| प्रतिषेधाच्चोऽसम्भवमृथादष्ट | ७१८ | मागपरोधात् | २२५ |
| प्रतिषेधश्चकमत्वात् | ६४५ | प्राज्ञोक्तमूलायाकृत्वा | ५०१ |
| प्रतिषेधोऽप्यत्र साधम् | ७१८ | प्रानरदुवाके च | ४०८ |
| प्रतीयते इति चेत् | ४४४ | प्रान्ताद्योऽपिनि | ७१८ |
| प्रत्यक्षोपदेशाच्च | २५६ | प्रायणाच्च निमित्तस्य | ५५४ |
| प्रत्ययस्यापि दर्शयति | १०७ | प्रायश्चित्त निमित्तेन | १०२ |
| प्रत्ययाच्च | ५०० | प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र | ७१८ |
| प्रत्याय चतिभाव इति | ६२६ | प्रायश्चित्तमापदि स्यात् | ७१८ |
| प्रत्ययस्याभिधयोगात् | ६०९ | प्रायश्चित्तनिधानाच्च | ६५६ |
| प्रधाननाभिधयोगात् | ५१४ | | ७२७ |
| प्रधाने ऋनिस्तत्त्वम् | ६०७ | प्रायश्चित्तमाच्च | १४६ |
| प्रयोगोऽदनाभवात् | ७८ | प्राप्तिक च नोऽकर्तुं | १२१ |
| प्रयोगशार्द्धमिति चेत् | ७१ | प्राप्तमन्त्रमोऽप्यवच्य च | ४७७ |
| प्रयोगस्य परम् | ९० | प्राप्तानुवचन | १०८ |
| प्रयोगान्तर बोधयानुपपत्ति | ७२१ | प्राप्त्यु च पराधिकारित | १०७ |
| प्रयोग पुत्रवत् | ६२५ | प्राप्तलोभ्यर्थयोगात् | ८१ |
| प्रयोगोऽप्यत्राशङ्क्यत्वात् | ७६ | फल च पुरुषार्थत्वात् | ११० |
| प्रत्यक्षत्वात् प्रत्यक्ष | २६१ | फल चाकर्मप्रतिषेधे | ६८१ |
| प्रत्यक्षोऽपि च | ६७२ | फलकामो निमित्तम् | ६९० |
| प्रत्यक्ष वा प्रापकम् | ७०१ | फलवसथो निमित्तिक | २११ |
| " | ७११ | फलनिर्द्देश | ६९४ |
| प्रत्यक्षोऽप्यत्राशङ्क्यत्वात् | ४४० | फलानुत्प्रेक्षानाधाम् | ४८० |
| प्रत्यक्षोऽप्यत्राशङ्क्यत्वात् | ४८१ | फलानुत्प्रेक्षत्वात् | ११४ |
| प्रत्यक्ष | १०७ | फलानुत्प्रेक्षत्वात् निर्द्देशम् | ४०१ |
| प्रत्यक्ष वा निर्द्देशमाशङ्क्यम् | ४८० | फलवत्त्वाच्च दर्शयति | ६६६ |

| सूचक | पृष्ठ | सूचक | पृष्ठ |
|----------------------------------|-------|------------------------------|---------|
| यस्य वा प्रभु स्यात् | ६४० | लिङ्गसमवायात् | ... १०३ |
| याच्चाक्रयकमविद्यमाने | ७७१ | लिङ्गसमाध्यानाभ्याम् | .. १६२ |
| याजमानान् तत्प्रधानत्वात् | ४१२ | लिङ्गाच्च | ... २१० |
| याजमाने समाध्यानात् | ४२० | २०६ ५८९ | |
| याच्यापनयनापञ्चोत्ते | ३६० | लिङ्गाच्चाविशेषवत् | ... ७४० |
| यावन्नोविकोऽभ्यास | १६४ | लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य | ... ७४ |
| यावदुक्त वा कर्मण | १८२ | लिङ्गोपदेशस्य | .. ११२ |
| यूपाद् वा नतमध्वारात् | ४२७ | लोकवदिति चेत | .. ४० |
| येषा नूनपत्तावर्धे स्ते | १११ | लोके कर्मापि देववत् | ... ६४३ |
| येषामुत्पत्तौ स्ते | ११० | लोके मन्त्रिवमात् | .. २१ |
| यैर्द्रव्यं न चिकीर्षते | ११४ | वचन पर | ... ११७ |
| यैर्द्रु द्रव्यं चिकीर्षते | ११४ | वचनाच्च | ११७ |
| योगमिद्विद्वार्थस्य | ४०६ | वचनाधान्याप्यम् | .. ६६८ |
| रक्षणा च लिङ्गदर्शनात् | २०८ | वचनात् दादगादे | .. १०१ |
| रूपान् प्रायात् | ४७ | वचनात् द्विसंयोग | .. ७१० |
| रूपान्यन्नात्र | ७७७ | वचनात् परिश्रानान् | ... ४६० |
| रूपात्रिङ्गाच्च | ७७७ | वचनात् समुच्चय | ... १८६ |
| सूचकमात्रमितरम् | ७७७ | वचनात्तययार्थम् | .. १४६ |
| सूचकार्थाः प्रत्यक्षेण | ७७८ | वचनात् सर्वप्रत्यक्षेण प्रति | ... २०६ |
| लिङ्ग कमसमाध्यानात् | २४३ | वचनाद्दृष्टान्तमध्यमम् | ११८ |
| लिङ्गदर्शनाच्च | १२ | वचनादिनरेषां स्यात् | ४१९ ४१५ |
| १४१ १८० १८१ २०८ २२५ ३६४ | | वचनादिति चेत | २४४ ७१२ |
| २०६ २८८ ४२६ ४७२ ४४६ ४८८ | | वचनादिष्टपूर्वतम् | ४८८ |
| ६१४ ६७२ ७२२ ७४६ | | वचनादर्थविशेष | ... ११० |
| लिङ्गमवशिष्ट सर्वशेषत्वात् | १०४ | वचनादर्थकारस्याधाने | .. ११० |
| लिङ्गविशेषनिर्देशनात् | ६०० | वचनाद्वा शिरोवत् स्यात् | .. ७१६ |
| लिङ्गविशेषनिर्देशनात् समानविधाने | १६६ | वचनाद्वैककाम्य स्यात् | .. ४८४ |

| श्रवम् | पृष्ठ | श्रवम् | पृष्ठ |
|---------------------------|-------|---------------------------|-------|
| ध्वनानि तु च पूर्वान् | ४४८ | विद्याप्रश्ना | ४८ |
| वचने हि चेतनामर्थः | ४६१ | विद्याया धर्मशास्त्र | २०१ |
| वस्तुमयोने | ६८४ | विश्ववचनसमयोगात् | ६२ |
| वस्तुन च तिमयोगात् | ६८५ | विधिकोपशोपदेशे | २५० |
| वर्णान्तरमविकार | २८ | विधिना चैकवाक्यत्वात् | ४१५ |
| वह्निराश्वयोरमन्कारे | ६४ | विधिना त्वेकवाक्यत्वात् | ४९ |
| वशायाभयममवायात् | १२१ | विधिमन्ययादा | ४८४ |
| वशावद्वा गुणार्थं स्यात् | ११८ | विधिमन्त्रयोरैकार्थम् | १२४ |
| वपटकाराच्च कर्तृवत् | २०२ | विधिरप्यकदम्बे | ६०१ |
| वपटकाराच्च भवेत् | २५५ | विधिवा कथोगान्तरात् | २१८ |
| वाक्यनियमान् | ५६ | विधिर्वा स्यादपूर्वत्वात् | ४० |
| वाक्यमेवत्वात् | २१२ | विधिश्चाप्य | ६२ |
| वाक्यमेव मद्भूत | ४१५ | विधिदानार्थक कश्चित् | ४९ |
| वाक्यानाञ्च समाप्तत्वात् | १४० | विधिमन्त्रपूर्वत्वात् | ६१२ |
| वाक्याच्च गुणार्थवत् | ४८८ | विध कक्षापवर्गित्वात् | ४८५ |
| वाभिधानां वा | ०२५ | विधौ च वाक्यभेद स्यात् | ४२ |
| विकार मप्रभयत् | ०५० | विधौ तु वेदमयोगात् | ०४४ |
| विकारान् काममयोने | २८४ | विध्यपराधे च दर्शनात् | ६५५ |
| विकारे तदुयाजानां | ४१२ | विनिवृत्तन मुष्टीनां | ००८ |
| विकारो भोतपणिकत्वात् | ००८ | विप्रतिपक्षौ वा | ५४० |
| विकारो वा प्रकरणात् | १८० | विप्रतिपक्षानामि | ४१४ |
| विलिप्ति प्रलतिधर्मत्वात् | ४४८ | विप्रतिपक्षान् मन्त्राकार | ०५८ |
| विलिप्ते प्रलतिकामत्वात् | ५८५ | विप्रतिपक्ष कर्ण | ४१९ |
| विलिप्ते सर्वार्थं मेव | ४०० | विप्रयोग च दर्शनात् | ४१८ |
| विलिप्ते तस्य कर्मण | ४०१ | विभाज्यत प्रत्यक्ष | ०२१ |
| विद्यानिर्देशाच्च निधेत् | ६२४ | विशोधयति पूर्ववत् | १८६ |
| विद्यापराधे च दर्शनात् | ६५५ | विशोधिता स्वमद्यानात् | ००० |

| सूचकं | पृष्ठं | सूचकं | पृष्ठं |
|----------------------------------|--------|-----------------------------|--------|
| विरोधे च श्रुतिविरोधान् | ४१८ | अपदेशादपठयेत् ... | ४१९ |
| विरोधे तत्रापेक्षया | ६६ | अपदेशादितरेषां स्यात् | ४१७ |
| विहितं कर्मभेदान् | ५६८ | अपदेशाय तद्वत् | ४२३ |
| विहितं निमित्तानुपूर्विकं | ५६३ | अपदेशे च दर्शयति .. | ४८३ |
| विहिते प्रापदर्शनात् | १८४ | अर्थे श्रुतिरन्यथेति | ५१ |
| विहितदर्शनाच्च | १०१ | अवस्था वा अर्थोऽप्येतात् | २४१ |
| विहितप्रत्यक्षे माव .. | १८३ | अवस्था वा अर्थस्य .. | १७१ |
| विहितप्रत्यक्षे श्रुतिनिमित्तान् | ८३१ | अवस्थावास्तुपक्षेत् ... | १११ |
| विहितप्रत्यक्षे प्रत्यक्षे | ८३० | आदेशादानुपूर्विकं | १४१ |
| विहितप्रत्यक्षे श्रुति | २०२ | आदेशादानुपूर्विकं श्रुति .. | ८३० |
| विहितप्रत्यक्षे श्रुति | २११ | आदेशादानुपूर्विकं श्रुति | ७८ |
| विहिते च कारणे निमित्तान् | ५०९ | आदेशे च अर्थपरि | ४७३ |
| विहिते च निमित्तमर्थ | ५०४ | आदेशप्रत्यक्षे | ४६८ |
| विहिते च निमित्तमर्थ | १२ | आदेशप्रत्यक्षे | ११३ |
| विहिते च निमित्तमर्थ | ११७ | आदेशप्रत्यक्षे | ४०३ |
| विहिते च निमित्तमर्थ | २८० | आदेशप्रत्यक्षे | ४४१ |
| विहिते च निमित्तमर्थ | २८ | आदेशप्रत्यक्षे | ११७ |
| विहिते च निमित्तमर्थ | ४१० | आदेशप्रत्यक्षे | ७१ |
| विहिते च निमित्तमर्थ | ४८८ | आदेशप्रत्यक्षे | ४०० |
| विहिते च निमित्तमर्थ | ४१७ | आदेशप्रत्यक्षे | ४०१ |
| विहिते च निमित्तमर्थ | ४६ | आदेशप्रत्यक्षे | ४०१ |
| विहिते च निमित्तमर्थ | ४११ | आदेशप्रत्यक्षे | ४० |
| विहिते च निमित्तमर्थ | ४८० | आदेशप्रत्यक्षे | ४८३ |
| विहिते च निमित्तमर्थ | ४१० | आदेशप्रत्यक्षे | ७० |
| विहिते च निमित्तमर्थ | ४८३ | आदेशप्रत्यक्षे | ४१३ |
| विहिते च निमित्तमर्थ | ४१० | आदेशप्रत्यक्षे | ४८ |
| विहिते च निमित्तमर्थ | ४१० | आदेशप्रत्यक्षे | ८४३ |

भूतम्

पृष्ठ

भूतम्

पृष्ठ

| | | | |
|----------------------------|-----|----------------------------|-----|
| अ नमिन्निक पशौ | ७७८ | सर्वप्रदान सविष | २२६ |
| सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् | १०४ | सर्वमिति चेत् | ५४६ |
| सन्निधाने विशेषात् | ४९१ | सर्वभूतौ प्रवृत्ति | ६५९ |
| सन्निधौ लविभागात् | १८२ | सर्वस्य उक्तकामत्वात् | १६६ |
| सन्निपातश्चेत् | ५६६ | सर्वस्य वैककर्मणात् | ५८१ |
| सन्निपातात्, निमित्तविधात् | ७२८ | सर्वानि लोककार्यत्वात् | ५४८ |
| सन्निपाते प्राधान्यात् | ४५० | सर्वार्थ वा व्याधानस्य | ६०१ |
| सन्निपाते वैगुण्यात् | ७२६ | सर्वार्थत्वात् | ७६० |
| सन्निपात च दृश्य त | ७२८ | सर्वार्थमपकरणात् | २६६ |
| अ प्रत्यामनेत् स्थानात् | ६८८ | सर्वार्था वा समत्वात् | ५९७ |
| अ प्रासात कर्म | २१९ | सर्वे तु वेदसयोगात् | २५९ |
| समन्त, तव दशनम् | १८ | सर्वेभ्यो वा कारणाविशेषात् | ३९८ |
| समवाये चोदना | ५०० | सर्वे वा सर्वसयोगात् | ६५८ |
| समाख्यान च तद्वत् | ७८५ | सर्वेषां तु विधित्वात् | २५४ |
| समानयनम्, मन्थ | ४६० | सर्वेषां भावोऽर्थ | २५१ |
| समाप्त च फले वाक्य | १०८ | सर्वेषां वा अवशिष्टात् | ४२९ |
| समाप्ति पञ्चवृत्तात् | २०४ | सर्वेषां वा चोदना | ५८४ |
| समाप्तिरविशिष्टा | १८० | सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् | ७२६ |
| समाप्तिवच संप्रेक्षा | ९०९ | सर्वेषां वा लक्षणत्वात् | २२५ |
| समिधमानवर्तौ | ५६८ | सर्वेषां वा शेषत्वस्य | ६८० |
| समपु कथ्य युक्त | ५६९ | सर्वेषां वैकजातीय | ५५० |
| अभय वाक्यभेद | १२९ | सर्वेषां वैकमन्त्रात् | २०६ |
| सम्भवात् सयनोत्कर्ष | ५५५ | सर्वेषां वैककर्मणां स्यात् | १०१ |
| सम्भवादर्शनात् | ७१० | सर्वेषां पदविद्यत्वात् | २६१ |
| सर्व्य च प्रयोगात् | ७२ | सर्वेषां विशेषात् | ७६१ |
| सर्व्य च योग्यपदानात् | २८ | सर्व्य मिति चेत् | १११ |
| सम्भवाधिकारिक | ४८ | सर्वेषु वा भावात् | २०६ |

| सूचम् | पृष्ठ | सूचम् | पृष्ठ |
|----------------------------|-------|----------------------------------|-------|
| मूर्ध्वो ममवायात् ... | ६०६ | मौधन्वान्नीचीनत्वात् | ६२१ |
| मम्वर्गं स्यात् | ४०० | मौभरे पुरुषयुते | १६५ |
| महत्त्वमवत्सर ... | ७५७ | मौमिके च छताद्यन्वात् | ४८० |
| माकप्रम्याये विटछत् | २४१ | मृत्तमन्त्रयोक्तुमकार | ११८ |
| माकाङ्क्षन्ते कवाक्यं | १२२ | मृत्तिम् गन्धपूर्वत्वात् | ५२ |
| माप्रोना वेष्टिपूर्वत्वात् | ७२७ | मौमकारिणां वा ततमद्योगात् | २५१ |
| माधुर्याद्भुवाया... | २४३ | मौमविटद्वौ वद्विष्यमाने | ४०१ |
| मानपनीया तूत्कर्षेत् | ४५२ | म्यपतिनिर्णयद स्यात् | ६२२ |
| माद्राज्यमधोगात् | ७१० | म्यपतीष्ट प्रदाजवत् | ७६८ |
| माद्राज्याग्निषोमौघ | ५८६ | म्यपतीष्टवन्नौकिके | ७६६ |
| माद्राज्येषि तथेति | ७०४ | म्यानाद्य पूर्वस्य | २०८ |
| मा प्रकृति स्यात् | ७५८ | म्यानाद्योत्पत्तिसंयोगात् | ५४४ |
| मामान्य तच्चिकीर्षा हि | ६६६ | म्यानाद्य पूर्वस्य | २०६ |
| मामिधेनीस्तदन्वाङ् | २८२ | म्यात् जूडप्रतिषेधात् | ४६२ |
| माघो कर्णद्वैतकदेशेन | २७० | म्यात्तस्य मुञ्चत्वात् | ४५८ |
| माभ्युत्थाने विद्यजित् | ७११ | म्यात् प्रकृतिस्तिष्ठत्वात् | २४४ |
| मारमते च दर्शनात् | ७२७ | म्यात् शुतिसञ्ज्ञके | ६६८ |
| मारमते विप्रतिषेधात् | २०६ | म्यादनित्यत्वात् | २०३ |
| मारुप्यात् | १०२ | म्यादन्यायत्वात् | ६८२ |
| मार्गकाम्यमङ्गकामे | ४०४ | म्याद्योगाद्या हि | ७५ |
| मार्गरूपाय | ४१० | म्याद्वा कथ्येयदर्शनात् | २४८ |
| मा स्तिष्ठादातिं ज्ञे | ४२२ | म्याद्वा कारणाभावात् | २५६ |
| मृत्तवाके च कासविधि | २५२ | म्याद्वा द्रव्यधिकीर्षाया | ४४८ |
| मौमपानानु प्रापय | ७६८ | म्याद्वा प्राप्तिनिमित्तत्वात् | ८२१ |
| मौमयैकेषां | ५८८ | म्यादा प्राप्तिनिमित्तमादत्तहर्म | ६८८ |
| मौमे वचनाद्भव | २४८ | म्यादा यथायथात् | ७२७ |
| मौमामयाद्य पक्षेण | २४६ | म्यादा विधिसदर्थेन | ४८१ |

| सूत्रम् | पृष्ठ | सूत्रम् | पृष्ठ |
|------------------------|-------|-----------------------|-------|
| स्याद्वाम्यं चोर्गति | ३९७ | सामिपप्रदश | ४०५ |
| स्याद्विद्यार्थकान् | ४८१ | सार्धेन च प्रयुक्तान् | ४९८ |
| सकाले स्यात् | ४८२ | सैम तथैव मध्यम् | ४९९ |
| सदामि सुवम् | ४९७ | उरणे तु जुहोति | ४९९ |
| सर्वसायकदेशत्वात् | ४९८ | हारिषोऽनेन वा | ४९९ |
| सर्वस्त्वनेकानिष्टि | ४९९ | हेतुत्वाच्च भूद | ४९९ |
| सर्वतोऽन्वयश्चामि | ५०० | हेतुदर्शनाच्च | ५०० |
| सर्ववत्सामि द्वांशमि | ५०० | हेतुभावमदन्तात् | ५०० |
| सर्वस्थानामु विद्वद्भि | ५०० | हेतुर्वा स्यात् | ५०० |
| सर्ववत्सामि द्वांशमि | ५०० | हेता वा मन्त्रवर्णात् | ५०० |
| सामिकम् प्रतिक्रिय | ५०० | हेतात् | ५०० |
| सामित्वादिनरेणम् | ५०० | होमाभिपवभाषण | ५०० |
| सामिधेनोऽदन्तात् | ५०० | होमाभिपवभाषण | ५०० |
| सामिनो वा तदर्थत्वात् | ५०० | होमास्तु व्यवतिष्ठेत् | ५०० |